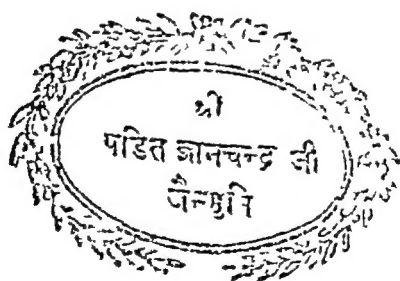


प्राकृत

मुद्रियका

श्री पूज्य नन्द
जैन साहित्य समिति
थादला, (गायवा)



मुनिविनयचन्द्र

IPRAKRIT SOOKTI SARO.

प्राकृत सूक्ति सरोज

प्रथम भाग

अनुवादक

शास्त्र विशारद कविवर्य पण्डित श्री

कृष्णलालजी महाराज के

सुशिष्य

वीरपुत्र- मुनिश्री विनयचन्द्रजी महाराज

संशोधक-

पण्डित वसन्त कुमारजी जैन

प्रकाशक- श्री धर्मदास जैन मित्र मंडल, रतलाम.

द्रव्य सहायक

वि १९९६ | यह पुस्तक सर्वाधिकार सुरक्षित है । | सूरिदास
बी २४६६ १८

राजस्थान प्रेस, हैद्राबाद दक्षिण.

* समर्पण. *



व्याख्यान वाचस्पति शक्ति निवेदन पण्डित मुनि

श्री सौभाग्यमलजी महाराज के

पुनित कर कमलों में

सौ— इस प्रदाता शक्ति विवादा मुनो बग जाता मुक्त मरणी ।

मा— तु समाम गुरु तेज अपका हो कश्चित्प मुनिवरणी ॥

ग्या— ज्ञान प्रचार में कर्क विष में ऐसी बुद्धि मोय दीने ।

मुनि— विनय' का अनुगत इतना यह कर्म्य प्रम्य अपना कीजे ॥१

आ— फकी कृपा कटाक्ष से ही मैं सांसारिक तृष्णा से मुक्त होकर मैंने

यह रत्न तप धारण किये हैं कृपा आपकी कृपा दान से

मेरे हृदय मागस में भक्ति प्रवाह प्रवाहित हो रहा

है उलकी प्रसन्नता में मैं आपके पवित्र

कर कमलों में

यह प्रम्य समर्पण करता हूँ

मन्दीप-वरणरज

विनय



दो शब्द



क्षिण भारतका परम सौभाग्य है कि जैनाचार्य पूज्य श्री धर्मदासजी म की संप्रदायके दक्षिण भारत वेसरी प्र श्री श्री १००८ श्री ताराचन्द्रजी म प रत्न श्री कृष्ण-लालजी म तथा प्रसिद्धवक्ता पं श्री सौभाग्य मुनि जी म प्रभृति ठा १६ मद्रास, बेंगलोर, मैसूर एव हैद्रा-

वाद आदि नवीन क्षेत्रोंमें पधारे और आपही के द्वारा जैनधर्मके माननीय तत्वों का अवर्णनीय शब्दोंमें प्रचार हुआ ।

हर्ष है कि आपही के समीपवर्ती साहित्यप्रेमी वीरपुत्र मुनि श्री विनयचंद्र जी म ने प्राकृत पाठियोंके लाभार्थ उपदेशप्रद गाथाओंका संग्रह तैयार कर विद्यार्थी समाजके लिए महती सुविधा प्रदान की है । प्राकृत गाथाओंके साथ ही साथ संस्कृत छायांकी मदत ब्यावर गुरुकुलके प्रधानाध्यापक प शोभाचंद्रजी भारिल्लके द्वारा मिली है । इसके अतिरिक्त हिन्दी शुद्धि व भाषा भाव वर्णनके संशोधनका गुरुतर भार साहित्यरत्न पं वसन्तकुमारजी जैन 'रवींद्र' न्यायतीर्थ ने वहन किया है । अत आप दोनों सजन कोटिश धन्यवादके भागी हैं ।

प्रस्तुत पुस्तकके प्रकाशनमें सुभाषित संग्रह, वैराग्यशतक, इंद्रिवपराजय तथा गौतमकुलकादि ग्रंथोंसे भी सहायता ली गयी है । अतः उनके लेखकों व प्रकाशकोंके प्रति भी आभार प्रदर्शित किया जाता है ।

अनुवादक मुनिवर इस पुस्तककी आयोजनामें कहातक सफल हुए है इसका निर्णय स्वयं पाठक ही करनेका कष्ट उठावें । सुज्ञेषु किमधिकम् ।

विनीत

धर्मदास जैन मित्र मंडल

रतलाम (मालवा)

— विषयानुक्रमिका —

६ विषय पृष्ठ संख्या

१ शान	३	७ विषयविकार	१३५
२ शीघ्र	१९	८ महिमा	१३६
३ तप	४६	९ धर्म	१४८
४ भाव	५६	१० समा	१५४
५ सखन	७१	११ धन महिमा	१७६
६ पुत्रन	९९	१२ वैद्य	१९०

वीरपुत्र भी विषयविकारकी महापुत्रकी संग्रहीत एवं अनुबाधित पुस्तके

भगवती सुनका चरितानुयोग.

अथ १ रोह भगवती २ काव्यसुनकापुत्र ३ काव्यसुनका हीनो हिन्दी अनुबाधित का मूल्य १) आनेकी तिथि मेत्रिये ।

उत्तराध्ययन सुनका चरितानुयोग

१ कर्तुर्गोप २ कपिल मुनि ३ नमि राजपि ४ हरिकेशी ५ चित्तसंग्रही ६ पारधी राजा ७ मृगा पुत्र ८ अनापी मुनि इत्यादि चरित चरित हिन्दी अनुबाधित पुस्तकपुत्र १२५ से भी अधिक ७) आनेकी तिथि मेत्रिये ।

बोहा पीयूष संग्रह

अक्षरादि अनुक्रमिका मे १ व्याख्यालोपयोगी बोहे संग्रहीत मूल्य १)

हरिगीत सुमन संग्रह

व्याख्यालोपयोगी १२५ हरिगीत सुमनका संग्रह मूल्य १)

नोट—उक्त चर्च पुस्तके पत्राकार से कसमे तथा १८०० सेक पेपरपरछपी हैं ।

काव्य संजीवनी

१२ हरिगीत तथा १ बोहा पीयूष संग्रह तथा पुस्तकपुत्र पुस्तक चरित संग्रह ७) आनेका चरित्रमे मूल्य १)

प्राकृत सूक्ति-सरोज.

* दान *



स अध्रुव एवं अशाश्वत अखिल विश्व में सकल जगजीव सतत सुखाभिलाषा रखते हैं और तदनुकूल सुखप्राप्ति हेतु सतत प्रयत्नशील भी रहते हैं, किंतु भौतिक सुखों के वशी-भूत होकर वे भव्य प्राणी आत्मिक सुख की ओर किंचित भी लक्ष्य नहीं देते हैं जिसके परिणाम स्वरूप नानाविध

कष्टोपार्जन करते हुए अनन्त दुःखोदधि में निमज्जित होकर नरकादि अधमतम योनियों को प्राप्त करते हैं ।

वास्तविक ऐहिक एवं पारलौकिक सुख सम्पदा का साधकतम हेतु एक धर्म ही है । धर्मोक्तुर विहीन प्राणी सतत दुःख पाश से वेष्टित होकर ८४ लक्ष जीव योनियों में पर्यटन करते रहते हैं । उनका समुद्धार करने के उद्देश्य से ही हमारे ऋषि, महर्षियों, पुरातत्वज्ञों, नीति निपुणाचार्यों ने निजशास्त्रों में धर्म के चार अंगों का प्रतिपादन किया है । वे चार अंग १ दान २ शील ३ तप एवं भावना रूप हैं । उक्त अंगों में से दान को ही सर्व प्रथम मुख्य अंग माना है ।

दान की व्याख्या शास्त्र सम्मत इस प्रकार है कि.—

“ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो हि दानं ” अर्थात् अनुग्रह (अनुकम्पा) पूर्वक स्वकीय वस्तु का परहित उत्सर्ग [त्याग] करना ही दान है । अर्थात्—

‘ अनुग्रहार्थं करीयते तद्दत्तमभिधीयते ’ । अतः व्याख्यातृद्वारा अनुग्रह पूर्वक किसी भी प्राणी का जो अनवरत तथा ऐवमिक वस्तु का दान दिया जाय तो वह सफल ही माना गया है । तथापि जो व्यक्ति पात्रपात्र का सम्बन्ध विनियम करके दान देता है वह सविशेष फल प्राप्त होता है ।

अतः प्रकरण में सुपात्र और कुपात्र के लिये हीनमान दान के उक्त में जो उल्लेख तथा प्रतिपादन किया गया है उसका तात्पर्य यही है कि सुपात्र को जो दान दिया जायगा उसका सर्वोत्तम में सविशेष फल मिलेगा और कुपात्र-दत्त दान का अत्याच में सम्य फल मिलेगा । किंतु कुपात्र दत्त वह दान सर्वथा निष्फल कदापि नहीं हो सकता है क्योंकि अनुकम्प्य दृष्टि एवं अनवरत वस्तु का ही प्राधान्य होने से । उमास्त्वष्टि आचार्य ने भी अपने उक्तार्थ सूत्र में लिखा है कि— विमि द्रव्य दत्त पात्र विशेषात्तादृशेण ” अर्थात् विमि द्रव्य दत्ता और पात्र की अपेक्षा से ही दान विशेष सविशेष और अधिकतम फल-वात्स होता है । अतः कुपात्रदत्त दान भी सर्वथा निष्फल न होकर सुपात्र दत्तक अनवरत ही होता है और सुपात्र दान तो सफल ही ही ।

प्रस्तुत दान प्रकरण में सविशेष एवं अविशेष फल की समिश्रित रचकर ही सुपात्र तथा कुपात्र दान का प्रतिपादन किया गया है—

दानाधिकार.

मूल.

दाणेणं फुरइ कित्ती दाणेण य होइ निम्मला कंती ॥
दाणावज्जियहिययो अरिणो वि य पाणियं वहइ ॥१॥

छापा.

दानेन स्फुरति कीर्तिर्दानेन च भवति निर्मला कातिः ॥
दानावार्जितहृदयोऽरेरपि च पाणिं वहति ॥ १ ॥

दोहा.

दान कीर्ति दातार है दान कान्ति दातार ॥
दानी नर अरि भवन भी पानी का भरनार ॥१॥

अन्वयार्थ - (दाणेण) दान के द्वारा (कित्ती) कीर्ति (फुरइ) चारों ओर व्याप्त होती है (य) और (दाणेण) दान से ही (निम्मला) निर्मल (कंती) शरीर काति (होइ) होती है (दाणावज्जिय) दानयुक्त (हिययो) हृदयवाला व्यक्ति (अरिणो) शत्रु के लिये (वि य) भी (पाणियं) पानी (वहइ) भरता है [लाता है]

भावार्थ - दान के द्वारा संसार में भवत कीर्ति स्फुरित होती है और दान से ही निर्मल शरीर काति प्रकट होती है । दानादि धर्म अविहीन व्यक्ति शत्रु के लिये भी जल भर सकता है अर्थात् दानी पुरुष का हृदय इतना पवित्र होता है कि उसके मन में शत्रु प्रति भी द्वेष भावना जागृत नहीं होती है इसीलिये वह शत्रु के यहा पर भी जल भर सकता है ।

मूळ

आइगं सोइगं आणेसरियं मणिच्छिओ विहवो ॥
सुरखीयसपया वि य सुपत्तदाणाइदुमफळाई ॥२॥

अवयव

आरोम्यं सौमाम्यमैश्वर्यं मनीषितो विमव ॥
सुरक्षेयसपदा य सुपात्रदानादिदुमफळानि ॥२॥

बोद्धा

सुरसम्पत्ति स्वामित्व जी सब विद्य ते सौमाम्य ॥
दान इक्ष फळ जानखो वैमव अरु आरोम्य ॥२॥

अन्वयार्थः— (आइगं) आरोम्य (सोइगं) सौमाम्य (आणे-
सरियं) आरेखल, स्वामित्व (मणिच्छिओ) मनोवांछित (विहवो)
वैमव (य) और (सुरखीयसपया) स्वर्गीय सम्पत्ति (वि) जी
(सुपत्तदाणाइदुम) सुपात्रदान कयी इक्ष के (फळाई) मेह फळ हैं ।

भाषार्थः— लक्षण [आरोम्य] सौमाम्य आरेखल स्वामित्व, मनोवांछित
वैमव और सुरक्षेय सम्पदा की प्राप्तिदि सफल सुख साधन सुपात्रदान कयी लक्षण
वस्तु के जसु फळ हैं । अर्थात् दान देने से शक्ति सुखोपयोग वस्तुत्व हो लयते हैं ।

मूल.

एकस्मि जह तलाए धेणुयसप्पेण पाणियं पीय ।
सप्पे परिणमइ विस धेणूसु खीर समुब्भवइ ॥३॥

छाया

एकस्मिन्यथा तडागे धेनु सर्पाम्या पानीयं पीतम् ।
सर्पे परिणमते विष धेनुषु क्षीर समुद्भवति ॥३॥

टोहा.

एक सरोवर वारि को पीते धेनु भुजंग ॥
एक दूध औ विष इतर परिणामो के संग ॥३॥

अन्वयार्थ— (जह) जैसे (एकस्मि) एक ही (तलाए) सरो-
वर में (धेणुय) गाय एवं (सप्पेण) सर्पद्वारा (पाणियं) पानी (पीय)
पिया जाता है किन्तु वह पानी (सप्पे) सर्प में (विसं) विषरूप में (परि-
णमइ) परिणमता है और (धेणूसु) गायों के अन्दर (खीरं) दूधरूप से
(समुब्भवइ) उत्पन्न होता है ।

भावार्थ— यथा एक ही सरोवर में धेनु एवं विषम विषधर द्वारा पय पान
किया जाता है किन्तु वही निर्मल पय मधुर जल पात्र की विभिन्नता के कारण दूध और
जहर रूप में परिणत हो जाता है । अर्थात् धेनु द्वारा पिया हुआ जल दुग्धरूप धारण
करता है और सर्प द्वारा पीत जल विषरूप ग्रहण करता है । यद्यपि नीर एक ही रूप में
है तथापि पात्र के योग्यायोग्य होने से विभिन्न २ रूप में परिवर्तित हो जाता है ।

यूक्त

आइमं सोइमं आणेसरियं यणिच्छिओ विइओ ॥
सुरखोयसंपया वि य सुपचदाणाइदुमफछाइ ॥२॥

अथा

आरोम्यं सोमाम्यमाइय्यं मनीसितो वैमव ॥
सुरखोयसंपया च सुपात्रदाणादिदुमफत्तानि ॥२॥

बोद्धा

सुरसम्पत्तिं स्वामित्वं औ सच विद्य ते सोमाम्य ॥
दानं वृत्तं फलं आमको वैमव अथ आरोम्य ॥२॥

अन्वयार्थ- (आइमं) आरोप (सोइमं) सोमाम्य (आणे-
सरियं) आदेशन, स्वामित्व (यणिच्छिओ) मन्त्रोपाधि (विइओ)
वैमव (य) और (सुरखोयसंपया) स्वर्णव सम्पत्ति (वि) भी
(सुपचदाणाइदुम) सुपात्रदान सभी वृत्त के (फछाइ) भेद फल है ।

आध्याय- अन्वय [आरोप] सोमाम्य आदेशन, स्वामित्व, मन्त्रोपाधि
वैमव और सुरखोय सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये दान दान सुपात्रदान सभी दान
फल के मध्य फल है । अर्थात् दान देने से वाञ्छित सुखोपयोग उपलब्ध हो सके है ।

मूल.

महया त्रि हु जत्तेणं वाणो आसन्नलक्खमधिगिच्च ॥
मुक्को न जाइ दूर इमासंसाए दाणं पि ॥५॥

छाया

महता पि हि यत्नेन वाण आसन्नलक्ष्यमधिकृत्य ॥
मुक्तो न याति दूर अनयाशसया दानमपि ॥५॥

दोहा

अति प्रयत्न ते मुक्त पिण बहु समीप यदि लक्ष ॥
दूर नहीं जावे तथा, जान दान हो दक्ष ॥५॥

अन्वयार्थ - (आमन्नलक्खं) समीपवर्ती लक्ष्य [निशाने] को (अधिगिच्च) ध्यान में रखकर [अधिकार में करके] (महया) महान् (जत्तेण) प्रयत्नो द्वारा (मुक्को) छोड़ा हुआ (चि) भी (वाणो) वाण (दूरं) दूर (न) नहीं (जाइ) जा सकता है (इमा) इसी (आसंसाए) आशंसा [विचार] से (दाण पि) दान भी देना चाहिये ।

भावार्थ - यथा समीपवर्ती लक्ष्य बिंदु को अभिमुख रख कर, महान् प्रयत्नो द्वारा छोड़ा हुआ भी वाण कदापि दूर नहीं जा सकता है, उसी प्रकार सुपात्र को दिया हुआ अल्प दान भी कदापि निरर्थक नहीं हो सकता है ।

मूकः

तद् निस्सीलसुसीले दिर्भन्दाण फलं अफल्यं च ॥
होही परमि सोए पचबिसेसेन तस्स पुण्ण ॥४॥

अर्था

तथा निस्सीलसुसीलम्यां इत्तं दामं फलमफल्यं ॥
नविष्यति परमिन् कोके पात्र बिसेसेण तस्य पुण्यम् ॥४॥

होहा

सद् भावारी बान भी दुपचार को दाम ॥
सफल अफल परलोक में पात्र अपेसा बान ॥४॥

अन्वयार्थ—(तद्) उसी प्रकार (निस्सीलं) निस्सील [दुपचारी] एवं (सुसीले) सुसील [तवावारी] को (दिर्भन्दा) दिग्गुण (दामं) दाम भी फल (अफल्यं) विफल (च) और (पचं) सफल ही क्या क्या है तथा (परमि) न (कोके) कोक में भी (तस्स) वह दाम को (पचबिसेसेन) पात्र बिसेस की अपेक्षा से (पुण्यं) पुण्यका ही (होही) कह होता है ।

भावार्थ— क्योंकि इतनातुसार निस्सील एवं सुसील व्यक्ति को दिया हुआ दाम भी फल अथवा फलान्ना और सन्निवेश फलान्ना ही क्या क्या है, तथा कभी दाम फलीक हो भी क्या पुण्य लक्षण होता है, की कि पात्र बिसेस की अपेक्षा से दिया क्या ही ।

मूल.

महया वि हु जत्तेणं वाणो आसन्नलक्खमद्विगिन्च ॥
मुक्को न जाइ दूर इमासंसाए दाणं पि ॥५॥

छाया

महता पि हि यत्नेन वाण आसन्नलक्ष्यमधिकृत्य ॥
मुक्तो न याति दूर अनयाशसया दानमपि ॥५॥

दोहा

अति प्रयत्न ते मुक्त पिण बहु समीप यदि लक्ष ॥
दूर नहीं जावे तथा, जान दान हो दक्ष ॥५॥

अन्वयार्थ— (आसन्नलक्षं) समीपवर्ती लक्ष्य [निशाने] को (अद्विगिन्च) ध्यान में रखकर [अधिकार में करके] (महया) सहान (जत्तेण) प्रयत्नों द्वारा (मुक्को) छोड़ा हुआ (वि) भी (वाणो) वाण (दूर) दूर (न) नहीं (जाइ) जा सकता है (इमा) इसी (आसंसाए) आशंसा [विचार] से (दाण पि) दान भी देना चाहिये ।

भावार्थ — यथा समीपवर्ती लक्ष्य बिंदु को अभिमुख रख कर, महान् प्रयत्नों द्वारा छोड़ा हुआ भी वाण कदापि दूर नहीं जा सकता है, उसी प्रकार सुपात्र को दिया हुआ अल्प दान भी कदापि निरर्थक नहीं हो सकता है ।

मूल

नो तेसि कुबियं व दूखस्तमसिलं आलोयणं सम्मुहं ॥
नो मिहोइ परं कर्मकबडिया दासिण्यं तेसिं सिरी ॥६॥

छाया

नो तेसां कुपितं दुःखमसिद्धमाकरोत्यति सम्मुहम् ॥
नो मुञ्चति गृहं कर्मकयतिता दासीव तेसां श्री ॥६॥

शब्दा

कुपितं दुःखं वेचो नहीं वाली सम्मुहं आय ॥
गृहं शीमता नहि वसे कर्मका दासी आय ॥६॥

अन्वयार्थ— (तेसिं) वन वाली मनुष्यों के (सम्मुहं) सम्मुह
(कुबियं) कुपित वन हुआ (अन्निहं) समस्त (दुखं) दुःख कर्म
श्री (नो) नहीं (आलोयणं) देख सकता है और (सिरी) कर्मों श्री
(तेसिं) वन वाली मनुष्यों के (परं) यह जो (नो) नहीं (मिहोइ) छोड़ती
है किन्तु (कर्मकबडिया) वरन् दुःख पतिव (दासिण्यं) दासीव
वच आती है ।

भावार्थ— वाली मनुष्यों के सम्म कुपित वन हुआ वरन् दुःख कर्म श्री
है वरन् नहीं देख सकता है । कर्मों वत के वर वच वरानि परितान नहीं वर
कर्मों है वरन् सर्वदा दासीव समीप वच वरन् वरानि वनी रहती है । वरानि वर
है कि वर के वरानि है वर वच वरानि वर वच वरानि है और कर्मों सर्वदा
वरानि में वर वरानि रहती है ।

मूल.

दिन्नं सुहं पि दाणं होइ कुपत्तम्मि असुहफलमेव ।
सप्पस्स जहा दिन्नं खीरं पि विसत्तण उवेइ ॥७॥

छाया

दत्तं शुभमपि दान भवति कुपात्रे अशुभफलमेव ।
सर्पाय यथा दत्त क्षीरमपि विषत्वमुपैति ॥७॥

दोहा

भ्रेष्ठ दान भी पात्र वश निष्फल फल दातार ॥
दिया क्षीर यदि सर्प को विष का हो अघार ॥७॥

अन्वयार्थ — (जहा) जिस प्रकार (सप्पस्स) सर्प को (दिन्नं) दिया हुआ (खीरं) क्षीर (दुग्ध) दान (पि) भी (विसत्तण) विषरूप को ही (उवेइ) प्राप्त करता है उसी प्रकार (कुपत्तम्मि) एकान्त कुपात्र को (दिन्नं) दिया हुआ (सुहं) शुभ (भ्रेष्ठ) (दाणं) दान (पि) भी (असुमफलमेव) अशुभ फल रूप ही (होइ) होता है ।

भावार्थ — जैसे सर्प को पिलाया हुआ मधुर एवं निर्मल दुग्ध भी विषरूप ही परिणमता है, उसी प्रकार कुपात्र (वेद्यादि) को दिया हुआ उत्तम दान भी लाभ प्रदायक नहीं होता है । अर्थात् सर्वथा कुपात्र को कितना भी उत्तम दान दिया जाय तथापि सर्प को दुग्ध पान कराने के समान निष्फल ही है ।

मूल

तुच्छं पि सुपत्तमि च दान नियमेण सुहफलं होइ ॥
अह मावीए दिअं तज पि स्तीरत्तणमुपेइ ॥८॥

आख्या

। तुच्छमपि सुपात्रे तु दान नियमेन सुमफलं भवति ॥
अथा तज्जोत्तमं दानं न तुणमपि क्षीरत्तमुपैति ॥८॥

वार्ता

तुच्छ दान भी पात्र कहा सुम फल का दाताए ।
माहेपी तुज दान भी होय क्षीर आघाद ॥८॥

अन्वयार्थ—(सुपत्तमि) सुपात्र को दिया हुआ (तुच्छं पि) तुच्छ
भी (दानं) दान (नियमेण) नियमपूर्वक (सुहफलं) सुम फल दान
ही (होइ) होता है (अह) ऐसे (मावीए) पात्र को (दिअं) दिया
हुआ (तज) तुज दान (पि) भी (क्षीरत्तर्णं) दुग्धरूप को ही (उपेइ)
प्राप्त करता है ।

भावार्थ — जैसे पेटु की दिया हुआ तुच्छ दान भी बहुत बड़े बल्लभ
तुल्य रूप की ही प्राप्त करता है तबैव सुपात्र की दिया हुआ तुच्छ दान भी उत्तमोत्तम
रूप का प्राप्त ही होता है ।

अनुवादक—पूज्य श्री जगन्नाथजी म की से के श्रीगुरु विनयभक्तजी म की

मूल.

सोहगंगोद्गुणा चयन्ति न गुणाबद्धव्यं तेसिं तणुं ।
जे दाणम्मि समीहियत्थजणणे कुव्वन्ति जत्तं जणा ॥९॥

छाया

सौभाग्यादिगुणास्त्यजन्ति न गुणाबद्धा इव तेषा तनु ।
ये दाने समीहितार्थं जन्ते कुर्वन्ति यत्नं जना ॥९॥

दोहा

मोक्ष प्राप्ति में हेतु जो करे दान में यत्न ॥
सौभाग्यादिक देह गुण कभी न होवें भग्न ॥९॥

अन्वयार्थ — (जे) जो (जणा) मनुष्य (समीहियत्थजणणे) अभिलषित अर्थोत्पत्ति में हेतुभूत ऐसे (दाणम्मि) दानधर्म में (जत्तं) यत्न (कुव्वन्ति) करते हैं (तेसिं) उन दान्ती मनुष्यों के (तणुं) शरीर को (गुणाबद्धव्वं) रस्ती से बंधे हुए के समान (सोहगंगाद्गुणा) सौभाग्यादि गुण (न) नहीं (चयन्ति) छोड़कर जाते हैं ।

भावार्थ — जैसे रज्जु आदि साधनों से बद्ध वस्तु इत उत गमनक्रिया नहीं कर सकती है किन्तु बद्धा पर ही स्थित रहती है, तथैव जो पुरुष इच्छित अर्थ (द्रव्य) की प्राप्ति में हेतुभूत ऐसे दानधर्म में यत्नशील रहता है उसके सौभाग्यादिक गुण कदापि विनष्ट नहीं हो सकते हैं किन्तु सतत गुणगणाधिकारी ही बना रहता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

जीवाणमभयद्वार्णं नो वेह दयावरो नरो निर्व्वं ॥
तस्सेह जीवलोके कुतो वि मयं न संभवह ॥१०॥

अर्था

जीवेभ्योऽभयदानं नो ददाति दयावरो नरो नित्यम् ॥
तस्मेह जीवलोके कुतोऽपि मय न संभवति ॥१०॥

बोद्धा

दयावान नर जीव को अभयदान ही देत ॥
जीवलोके में हर नहीं नहीं भीति को कोत ॥१०॥

अन्वयार्थः— (ओ) को (दयावरो) दयावान् (नरो) मनुष्य
(निर्व्वं) नित्य (जीवाणं) प्राणियों को (अभयद्वार्णं) अभयदान (वेह)
देता है (तस्स) उसके बिने (हह) इस (जीवलोके) जीवलोके में
(कुतो) कहीं पर (वि) भी (मयं) मय (न) नहीं (संभवह)
रहता है ।

अन्वयार्थः— जीवलोके एवं अस्मात् पुन विरक्त प्राणियों को अभयदान
देता है वस्तुतः अस्मि सम्पूर्ण जीवलोके में कहीं पर भी कभी-कभी की संभयना नहीं है
अर्थात् अभयदान देनेवाला व्यक्ति सर्वत्र विरक्तता पूर्ण विचरन कर रहता है जो मय
में कहीं पर ही नहीं का अनुभव नहीं करना पड़ता है ।

अनुवादः—पूण भी भयवान् जी म. की सं. के वीरपुत्र विमलचन्द्रजी म की

मूल.

धम्मत्थकामभेया तिविहं दाणं जयम्मि विक्खायं ॥
तहवि य जिणंदमुणिणो धम्मियदाणं पसंसंति ॥११॥

छाया.

धर्मार्थकामभेदात् त्रिविध दान जगति विख्यातम् ॥
तथापि च जिनेन्द्रमुनयो धार्मिकदान प्रशसन्ति ॥११॥

दोहा.

धर्म अर्थ औ काम से त्रिविध दान प्रख्यात ॥
जिन अनुयायी मुनि कहे धर्म मुख्य विख्यात ॥११॥

अन्वयार्थ - (जयम्मि) जगत् में (धम्मत्थकामभेया) धर्मदान, अर्थदान एवं कामदान आदि भेदों से (तिविहं) त्रिविध (दाणं) दान (विक्खायं) कहा गया है (तहवि) तथापि (जिणंदमुणिणो) जिनेन्द्र मतानुयायी श्रमण गण तो (धम्मियदाणं) धार्मिक दान की ही (पसंसंति) प्रशंसा करते हैं ।

भावार्थ - ससार के सकल शास्त्रों में धर्मदान, द्रव्यदान और कामदान आदि भेदों से तीन प्रकार के दान का प्रतिपादन किया गया है, तथापि जिनेन्द्रमतानुयायी श्रमण गण तो धार्मिक दान की ही निरन्तर भूरि प्रशंसा करते हैं क्योंकि धार्मिक दान ही स्वात्म परात्म कल्याण में साधकतम साधन है ।

ओर से पंडित प्रभर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूल

दाणं सोद्दग्गकरं दाणं आरुग्गकारणं परमं ।
दाणं भोगनिहाणं दाणं ठाणं गुणगणार्थं ॥१२॥

छाया

दानं सौभाग्यकरं दानंमारोग्यकारणं परमं ।
। दानं भोगं निधीन दानं - स्थानं गुणगणानाम् ॥१२॥

बोधा

दान परम सौभाग्य है - कल औपच है दान ।
दान भोग निधि दान ही सकल गुणों का स्थान ॥१२॥

अन्वयार्थ- (दार्थ) दान (सोद्दग्गकरं) सौभाग्यकर है
(दार्थ) दान ही (परमं) परम [समस्त अधिक] (आरुग्गकारणं) कारण
का हेतुमूल है (दार्थ) दान (भोगं) भोगों का (निहाणं) निधान (कोष)
है और (दार्थ) दान ही (गुणगणार्थं) समस्त गुणगणों का (ठाणं)
स्थान है ।

१ ५१

भावार्थ - दान सौभाग्यकारी होने की प्राप्ति में हेतुमूल है । दान ही कारण
का सूत्रम है । दान से ही वैदिक एवं पारमार्थिक छद्म-सामर्थ्यां उत्पन्न होती है
और दान ही समस्त होने का सूत्रोपनिषत्-स्थान साक्षात्कार है । अतएव विषय में सर्वे होने
का मूल कारण यह दानार्थ ही है ।

अनुवादक-पूज्य श्री बर्मदासजी म श्री धर्मवीरजी विषयवन्धजी म. श्री

मूल.

धनसार्थवाहजन्मे जं धयदाणं कयं सुसाहूणं ।
तत्कारणमुसभजिणो तेलुक्कपियामहो जाओ ॥१३॥

छाया ।

धनसार्थवाहजन्मानि यद् धृतदानं कृतं सुसाधुनाम् ।
तत्कारणं ऋषभजिनस्त्रैलोक्यपितामहो जातः ॥१३॥

टोहा.

सार्थवाह के जन्म में दियो धृतादिक दान ।
आदिनाथ त्रिलोक के भये पितामह जान ॥१३॥

अन्वयार्थ — (ऋषभजिणो-) ऋषभ जिनेश्वर ने (धनसार्थवाह-जन्मे) वन्ना सार्थवाह के भव में (सुसाहूणं) उत्तम निर्ग्रन्थों को (जं) जो (धयदाणं) धृतदान (कयं) किया था (तत्कारणं) उसके कारण (परिणाम) स्वरूप वे (तेलुक्कपियामहो) त्रिलोक के पितामह (जाओ) हुए ।

भावार्थ — ऋषभ जिनेश्वर ने धर्मा सार्थवाह के भवे में चारित्र्यसम्पन्न, उत्तम निर्ग्रन्थों को शौद्धिक विशुद्ध भावना से जो धृतदान दिया था, उसके परिणाम स्वरूप वे त्रिलोक के पितामह बने । तात्पर्य यह है कि पूर्व जन्म में दिये हुए दान के प्रभाव से ही ऋषभदेव त्रिलोक वदनीय बन सके हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

दाऊण स्त्रीरदानं तपेण सुसिख्यंगसाङ्गो घनिर्भ ॥
अममणियसक्कारो सो जाओ साखिमहो बि ॥१४॥

अन्वय

दाया स्त्रीरदानं तपसा शोपितांगसाधुम्या घनिक ॥
अममनितसुत्कार सो जातस्त्राभिम्भोऽपि ॥१४॥

वार्त्ता

दायितांग तपवीर को दिया स्त्रीर का दान ॥
शाखिमद्र व मूलके पाया अति सम्मान ॥१४॥

अन्वयार्थ— (तपेण) तपस्यो के द्वारा (सुसिख्यंग) कुबिर्वाय
बने हुए (साङ्गो) उत्तम युनि को (घनिर्भ) अत्यन्त (स्त्रीरदानं)
स्त्रीदान (दाऊण) इकर ही (सो) वह (साखिमहो) शाखिमद्र सेठ
(बि) भी (अममणियसक्कारो) मनुष्यों के द्वारा उत्कार का पात्र
(जाओ) हुआ ।

भावार्थ— तपसा के प्रभाव से स्त्रीर स्त्रीरी एवं अत्यन्त शक्तिशाली युनि
को भेद स्त्रीदान देने से शाखिमद्र सेठ यह समुदाय में महा सम्मान का पात्र बना ।
अतएव शाखिमद्र को या अपनी शक्ति लीद्वय वचनीयता प्राप्त हुई वह केवल दान
पत्र के प्रभाव में ही

मूल.

दाउं सद्धा सुद्धे सुद्धे कुम्मासए महामुणिणो ॥
सिरिमूलदेवकुमारो रज्जसिरिं पाविओ गुरुइं ॥१५॥

छाया

दत्त्वा शुद्धश्रद्धया शुद्ध कुलमापान् महामुनिभ्य ॥
श्रीमूलदेवकुमारो राज्यश्रियम् प्राप्त. गुरौं ॥१५॥

दोहा

श्रद्धा से ऋषि को दिया कुलमापन को दान ॥
राज्यश्री ने ही घरा मूलदेव को जान ॥१५॥

अन्वयार्थ - (सिरिमूलदेवकुमारो) श्री मूलदेव कुमार ने (सद्धा
सुद्धे) पुनीत श्रद्धा पूर्वक (महा मुणिणो) महा मुनि को (सुद्धे) शुद्ध
(कुम्मासए) उठद के बाकलों का दान (दाउं) देकर ही (गुरुइं)
विशाल (रज्जसिरिं) राज्यश्री को (पाविओ) प्राप्त की ।

भावार्थ - मूलदेवकुमार ने हृदय की पुनीत भावना से महातपस्वी, घोर परा-
क्रमी, महामुनि को ऐषणिक एव विशुद्ध उठद के बाकलों का दान देकर, विपुल राज्य
वैभव को प्राप्त किया । तात्पर्य यह है कि पुनीत श्रद्धा एव भावना पूर्वक दिया गया अल्प
दान भी महान् फलदायक हो जाता है ।

ओर मे पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों से सादर समर्पित

मूढ

कई सा न पसंसिज्जइ चन्दनबासा मिणदवाजेण ?
उम्मासियववविओ निवविओ मेण वीरभिणो ॥१६॥

छाया

कय सा न मदास्यत्त चन्दनबास्य मिनेम्वदानेन ॥
पाप्मासिके तपस्तत्तो निवर्त्तितो येन वीरभिण ॥१६॥

होहा

१३

तपस्तत्त पण्मास्य छौं वीर जिनेग्गर वीर ॥
दाज चन्दना ने दिया विस्मृत हे यद्य वीर ॥१६॥

अन्वयार्थ— (उम्मासियववविओ) पण्मास्यपयैव [छत्र
महीने तक] तब से तबे हुए (वीरभिणो) वीर जिनेग्गर (जेण) जिस
वत्तम दाज दाग (मिणदवाजेण) मनुष्य हुए ऐसे (जिणदवाजेण) जिनेग्गर
को दाज वेन म (सा) वह (चन्दनबासा) सती चन्दनबास्य (कई) कितने
(न) नहीं (पसंसिज्जइ) प्रशंसनपात्र नहीं ।

भाष्यार्थ—पण्मास्य कथन करने तक हीने के कारण हीने-सरीटी बने हुए वीर
जिनेग्गर जिस चन्दनबास्य सती में दाज प्राप्त कर सीतुह हुए, क्या कष्ट महासती में
समर में प्रदत्ता नहीं प्राप्त की, जहाँ वीरगय वीर मनुष्य की राज रक्षक वसु सती में
बलवीर एवं गुणवीरिह राम प्रथम उक्त मन्त्र प्रदत्ता नरकगीत प्राप्त थी है ।

भक्त्याह—पूज्य श्री पद्मराजजी म की से के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी म की

* शील *



था सौरभ विहीन कुसुमसंचय, तैल शून्य तिल राशि एव नवनीत रहित दधिमथन महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता है, तथैव शीलविहीन क्षमादि अन्य मानवीय धर्म भी परमादरणीय नहीं हो सकते हैं। किंतु जैसे सुरभि से कुसुम, तैल से तिलराशि और माखन से दधि शोभास्पद एव उपादेय होता है उसी प्रकार शीलधर्म द्वारा ही अन्य सर्व धर्म भी पूजनीय बन जाते हैं। इसी के आदर्श प्रभाव से जटिलतम कार्य भी सरल, दुस्साध्य भी सुसाध्य और दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है। मिथ्याभिप्राहियों 'कों' पूर्ण दर्पमर्दक केवल शीलधर्म ही है।

शील ही जीवन सर्वस्व जीवनौषधि है। शीलतिरिक्त अन्य कोई महत्वपूर्ण वस्तु अखिल विश्व में विद्यमान नहीं है। इसलिये शीलरत्न की जितनी सावधानी से सुरक्षा की जायगी उतना ही भविष्य में भविष्य उज्ज्वल एव गौरवान्वित बन सकेगा। शील के प्रचंड पावन प्रताप से उद्दण्ड तथा अत्यभिमानि व्यक्ति भी नत मस्तक हो जाते हैं। जो सतत, सर्वदा शील का परिपूर्ण यथावत् पालन करता है उसकी नानाविध लब्धियां चेरियां बन कर रहती हैं। उसके कलेवर से ऐसी दिव्य आभा प्रस्फुटित होती है कि जिससे जनसमुदाय अत्यन्ताश्चर्यान्वित हो उठता है। वह मानवीय कृत्य-भारक होता हुआ भी देवतुल्य, वदनीय एवं पूज्य बन जाता है। शील धर्म नरवर्ग एव नारी समाज दोनों के लिये आचरणीय है। यही दोनों का परमाभरण है। इसके बिना शरीर सौंदर्य नहीं है। स्वर्णाभरण तो शरीर की बाह्य सौंदर्य वृद्धि में सहायक रूप होते हैं किंतु शील रूपी आभूषण तो अन्तरंग एव बाह्य उभयात्मक लावण्य वृद्धि करता है।

अंतःशील को ही सारभूत तत्त्व-समझकर, उसका-भक्त्योग, वचनयोग एवं काययोग द्वारा शुद्धरीत्यनुसार यथोचित पालन करना चाहिये। इसका सविशद वर्णन निम्न गाथाओं द्वारा जानना चाहिये —

और से पंडित-प्रवर श्री-सौभाग्यमलजी महाराज के कर-क्रमलों में सादर समर्पित

शीलव्रताधिकार.

मूळ

मेरु गिरिहो जर पम्बयार्ण एराबणो सारबळो गयाणं ॥
सिंहो बळिहो जर सावयार्ण तहेव सीकं पवरं वयाणं ॥१॥

छाया

मेरुगिरिहो यथा पर्वतेषु एरावतः सारबळो गनेषु ॥
सिंहो बळिहो यथा स्वापदेसु तथैव शीकं प्रवरं व्रतेषु ॥१॥

बोद्धा

मूखर में मेरु अचळ पेरवत गळ माहि ॥
बनवर में ज्यो केसरी शीक व्रतो में जोहि ॥१॥

अन्वयार्थ— (अह) जेणे (पम्बयार्ण) पर्वतो में (मेरु) मेरु-
गिरि (गिरिहो) निवास है (गयाणं) इषियों में (एराबणो) एरावत
(सारबळो) बळिहो है (अह) जेणे (सावयार्ण) बनवरो (बंगळी बंग-
लो) में (सिंहो) सिंह (बळिहो) बळिधम्मन है (तहेव) वरी प्रकार
(वयाणं) सर्व व्रतो में (सीकं) शीकव्रत ही (पवरं) अपुत्रम है ।

भावार्थ— कहा कहा में मेरु गिरि प्रवाल है वनों में अत्यन्त बड़ी बळिहो
जड़ मेरु है, विसरक कम अंगुष्ठा में सिंह शक्तिमान्न है, तथैव समस्त व्रतो में शीकव्रत
ही परमावर्ध माना गया है

अनुवादक—पूज्य श्री चर्मदाधारी म की च क नीरपुत्र विनयचन्द्रजी प की

मूल.

जो इहलोए पुरसो सीलं खंडेइ कामरसगिद्धो ॥
सो तत्तताम्रपुत्तलिसमं नरगे आलिगणं देइ ॥२॥

छाया.

य इह लोके पुरुषशील खण्डयति कामरसगृद्धः ॥
स तत्तताम्रपुत्तलीसमं नरके आलिगनं ददाति ॥२॥

दोहा

कामगृद्ध जो नर करे शील महाव्रत खण्ड ॥
तत्तताम्र की पुत्तली से आलिगन दण्ड ॥२॥

अन्वयार्थ = (इहलोए) इस ससार में (कामरसगिद्धो) काम-
भोगों में गृद्ध बना हुआ (जो) जो (पुरिसो) व्यक्ति (सीलं) शीलव्रत
का (खण्डेइ) खंडन कर देता है (सो) वह पुरुष (नरगे) नरक में
(तत्तताम्रपुत्तलिसमं) सुतप्त तावे की पुत्तलिका के साथ (आलिगणं)
आलिगन (देइ) करता है [देता है]

भावार्थ - जो सासारिक क्षणिक काम भोगों में आसक्त होकर उत्तम शील
धर्म का खंडन कर देता है, वह व्यक्ति नरकादि दुर्गति में जाकर सुतप्त ताम्रपुत्तलिका
के साथ आलिगनानुभव करता है ।

ओरसे पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर कमलों में सादर समर्पित

मूल

पद्मा ते चिय पुरिसा जयम्मि जीअ च सुाण सुकयत्थ ॥
ने सुत्तिरमणिरत्ता विरुत्तविता परत्थीसु ॥१॥

अुपा

वन्पास्त एव पुरुषा जगति जीविता येयां सुक्यार्थम् ।
ये सुत्तिरमुणीरक्ता विरक्तविता परत्थीसु ॥१॥

शुद्धा

परमारी ते विरक्त मन मोक्षमार्गि आसक्त ॥
जीवन मी उपकार में धर्म्य मनुज के मंड ॥१॥

भावार्थ—(ने) जो (परत्थीसु) परमारी से (विरक्तविता)
विरक्तचित्त रहते हैं और (सुत्तिरमणिरत्ता) मुक्ति स्वी रमणों में ही आस-
क्त बने हुए हैं (ने) व (पुरिसा) पुरुष (जयम्मि) सत्कार में (चिय)
निश्चय ही (पद्मा) धर्म्य हैं (च) और (त्थीसु) सभी पुरुषों-आ (जीम)
जीवन (सुकयत्थ) परोपकारार्थि सुक्यों में व्यतीत होने से सफल भी हैं ।

भावार्थ—जो साधक परमविद्या से विरक्त चित्तवृत्ति वाले हैं और मुक्ति स्वी
विश्व-मार्गी में मुक्त बने हुए हैं कम महात्मापुरुषों की कीर्ति: फलभार है। तथा जहाँ
व्य जीवन सङ्कीर्ण भी है; क्योंकि वे अपने जीवन की स्वर्ण वस्तुधर्मों की परोपकारार्थि
सुक्तों में ही व्यतीत करने से इसीमें सत्कार के विष्णु धर्मों में नहीं करते हैं ।

अनुवादक—यूय भी पद्मावती म आ स के वारपुत्र विपक्वज्जी म की

मूल.

जा नियक्त मुत्तु सुमिणे वि न ईहए नर अन्न ॥
आवालयभयारिव्व सा रिसीण पि थवणिज्जा ॥४॥

छाया.

या निजकीर्ति भुक्त्वा स्वप्नेऽपि नेहते नरमेवम् ।
'आवालयब्रह्मचारीव' सा ऋषीणामपि स्तवनीया ॥४॥

दीर्घा

पति सिवाय जो इतर का, करे कभी नहि ध्यान ॥
ब्रह्मचारिणी है सती, करते ऋषि भी गाने ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ — ('जा') जो 'महिला' ('नियक्त') निज पति को ('मुत्तु') छोड़कर ('सुमिणे') स्वप्न में ('वि') भी ('अन्न') पर ('नर') पुरुष की ('न') नहीं ('ईहए') इच्छा करती है ('सा') वह स्त्री ('आवालय-भयारिव्व') आवालय ब्रह्मचारिणी सती के समान ('रिसीण') ऋषियों के लिये ('पि') भी [थवणिज्जा] स्तुति करने योग्य है ।

भावार्थ — जो नारी निज पतिपरायणा होकर स्वप्न में भी स्वप्त्यातिरिक्त इतर पुरुष की अभिलाषा नहीं करती है, वह देवी आवालयब्रह्मचारिणी सती सम ऋषि महर्षियों द्वारा भी स्तवनीया एव अर्चनीया होती है । जैसे अखण्ड ब्रह्मचारिणी का ऋषि-गण गुणगान करते हैं, उसीप्रकार पतिव्रता नारी भी ऋषियों द्वारा प्रशंसा का पात्र बनती है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

तादृश्ये पियविरहे बहुसमये बहुमुखाण्यणुसंगे ॥
या नियसीलं रक्खइ महासई सा वि बहुपुञ्जा ॥५॥

छाया

तादृश्ये प्रियविरहे बहुसमये बहुपुनाम्नुपङ्गे ॥
या निबसीलं रक्खति महासती सापि बहुपुण्या ॥५॥

बोझा

पतिविरहा दीबनमधुर हो बसन्त को साज ॥
निज प्रस की रक्षा करे पूजनीय सिरताज ॥५॥

अन्वयार्थ— (तादृश्ये) तदन्वयस्वाये (पियविरहे) पति के विरह में (बहुसमये) बहुत वक्त के अन्त में और (बहुमुखाण्यणुसंगे) बहुत पुरुषों के साथ (संपर्क) होने पर भी (या) जो भी (नियसीलं) निज की (रक्खइ) रक्षा करती है (सा) वह (महासई) महासती (वि) भी (बहुपुञ्जा) बहु पूजनीया है ।

भावार्थ— जो पतिविरह का अनुभव करती तदन्वय में निज की विरह में बहुत वक्त के अन्त अन्त में जब कुछ मन्त्रों की अनुष्ठान भावना होने पर भी निज की दीबनमधुर की उलट रक्षा करती रहती है वह महा सती भी नहीं पूजनीया है क्योंकि सती मर्त्य की पत्नी (कर्तवी) का नहीं काम है, जो निरन्तर अन्त में जो पतिविरह का अनुभव करती है वह अमर ही माननीया है ।

मनुवाक्य—पूज्य श्री बर्मशास्त्री य की छ. के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी म. की

मूल.

हारो भारो रसणावि बंधणं नेउराड निउलाइ ।
शीलरयणाए जीए जुवईए न भूसिय अंगं ॥८॥

छाया

हारो भारो रशनाऽपि ववन नृपुराणि निगडानि ।
शीलरत्नेन यस्या युवत्या न भूषितमङ्गम् ॥८॥

दोहा.

जा नारी के देह पै शील रत्न नहि सोह ।
हार भार नूपुर निगड़ भूषण वधन कोह ॥८॥

अन्वयार्थ - (जीए) जिस (जुवईए) युवती (नारी) का (अंग) अंग (शीलरयणाए) शील रूपी रत्न से (न) नहीं (भूसिय) विभूषित है उसके लिये (हारो) हार (भारो) भार स्वरूप है (रसणावि) कटि किंकिनि (कन्दोरा) भी (बंधणं) बन्धन रूप है और (नेउराइं) नूपुर (क्षाक्षर) आदि आभूषण (निउलाइ) निगड (वधन वेडी) के समान हैं ।

भावार्थ - जिस युवती रमणी का कलेवर शीलरूपी महार्घ (बहुमूल्य) रत्नों से विभूषित नहीं है, उसके लिये कठहार भारभूत है । कटिवधन (मेखला) वधन स्वरूप है और युगल नूपुर निगड (वेडी) मयूख हैं । अर्थात् आभूषणादि षोडश शृंगारों से शृंगारित स्वरूपा कान्ता केवल एक शीलगुणशून्या होने पर कुरूपा एव भारभूता ही मानी जाती है ।

ओर से पडित प्रवर श्री सोभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूक

मा मारी इहमोए सील स्वदेह कामगहगहिया ॥
सा मोहमयपुरिसेण नरए आसिगण देइ ॥७॥

अर्थ,

या मारीहकोके शील सण्डयसि कामगहगहिया ॥
सा मोहमयपुरिसेण नरक आसिगण ददाति ॥७॥

बोद्धा

बिचम-पाहु-मह-अमित हो करे शील को मंग ॥
मित्त करे सा मर्क मे तस मोह नर सेग ॥७॥

अर्थ- (इहमोए) इस संसार में (कामगहगहिया) बिचम
करी यह से प्रकृत होकर (मा) जो (मारी) मारी (सील) बिचम
बर्ग का (मोहमय पुरिसेण) कर देती है (सा) वह (नरक) नरक में (मोह
मयपुरिसेण) तस मोहमय पुरिसेण के साथ (आसिगण) अस्मिन् (देइ)
देती है (करती है)

अर्थ- इस कर्म में जो कर्म बिचम करी यह से प्रकृत होकर, मित्त
सतीत कर्म का करण कर देती है, वह करण में करणदि बिचम के नरक पुरिसेण
मोहमय पुरिसेण के साथ आसिगण करती है। नरक पुरिसेण मारी बर्ग को नरक के साथ
मोहमयपुरिसेण करती है, मित्त करी बिचम पुरिसेण का करण करण करण करण
में तस मोहमय पुरिसेण के साथ आसिगण करे कर मित्त बता है।

अनुवाद-पूज्य श्री चर्मदासजी म श्री के के वीरपुत्र विनयकर्मजी म श्री

मूल.

शील चिय महिलाणं विभूषण शीलमेव सव्वस्स ॥
शील जीवियसरिस शीलाओ न सुदर किंपि ॥८॥

छाया

शीलमेव महिलाणा विभूषण शीलमेव सर्वस्वम् ॥
शील जीवितसदृश शीलान्न सुंदर किमपि ॥८॥

दोहा

महिलागण का शील ही आभूषण सा जान ॥
शील प्राण सर्वस्व है और नहीं कछु मान ॥८॥

अन्वयार्थ— (महिलाण) बियों के लिये (शील) शीलव्रत ही (चिय) निश्चय करके (विभूषण) आभूषण है (शीलमेव) शील ही (सव्वस्सं) सर्वस्व है (शील) शीलव्रत ही (जीवियसरिसं) जीवन (प्राण) सम है और (शीलाओ) शील के अतिरिक्त (किंपि) दूसरी कुछ भी (सुन्दर) सुन्दर वस्तु (न) नहीं है ।

भावार्थ—नारी जाति के लिये शीलव्रत ही आभरण है । शील ही सर्वत्र सर्वदा सर्वस्व है । शील ही जीवनसम आधारभूत है, और शील के अतिरिक्त अन्य कोई भी सुंदर एवं उपादेय वस्तु नहीं है । तात्पर्य यह है कि शील धर्म ही सर्व मारभूत तत्वों का सार है । सासारिक पदार्थ तो कियत् क्षणमात्र के लिये ही बाह्य अप्राकृतिक सौंदर्य रखते हैं जिनका अन्त इसी लोक में हो जाता है किन्तु सती नारी अपने शील के द्वारा उमय लोक में सत्ता एवं प्रतिष्ठा रख सकती है, अत उक्त गुणाविहीना नारी पिशाचिनी तुल्या ही है ।

ओरसे पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

मइसइ विमलं पि कुल हीसिज्जइ पागएणावि जनेण ।
पइइ दुरन्ते नरए पुरिसो परनारीसंगेण ॥९॥

अर्थः

महिम्नयति विमलमपि कुल हेतुते प्राकृतेनापि जनेन ।
पठति दुरन्ते नरके पुरुष परनारीसंगेन ॥९॥

बोद्धा

परनारी के संग हो निर्मल बंधा कर्तव्य ।
विप्लवत हो नर आति से पड़े नरक मित्रोक्त ॥९॥

अन्वयाद्यर्थ— (परनारीसंगेण) पर की की संगति से (पुरिसो) मनुष्य (विमलं) निम निर्मल (कुलं) कुल को (पि) भी (मइसइ) प्रकीर्ण (कर्तव्य) कर देता है और (पागएण) समान्य (छावण) (जयेण) मनुष्यो द्वारा (भावि) भी (हीसिज्जइ) निरस्तार का नाम बनता है तथा (दुरन्ते) दुरात्मा [दुर्विचमकल्प] (नरए) नरक में (पइइ) पड़ता है ।

भाषाया— जो मानव परमात्मा के विनाशपूर्ण में वास्तव होकर निम निर्मल कुल की कर्तव्य कर देता है वह सामान्य व्यक्तियों द्वारा भी कर्तव्यता की प्राप्त करता है तथा अंतर्गतता दुर्विचमकल्प नरकादि क्रमति में कथक नामात्मिक लोचनीय करता है । अतः हीन की ही नीच-निम्नस्त्री समझ कर उचित व्यवहार रखा हेतु अन्वय धीन रहना चाहिये ।

अनुवादक—पूज्य श्री चर्मबादणी म की सं. के वीरपुत्र विधायकजी म. की

मूल.

उच्छिष्ट विष्ट विव परनारिं परिहरन्ति सप्पुरिसा ॥
सेवति सारमेयव्व निंदिया जे दुरायारा ॥१०॥

छाया

उच्छिष्ट विष्टामिव च परनारीं परिहरन्ति सत्पुरुषाः ।
सेवन्ते सारमेया इव निन्दिता ये दुराचाराः ॥१०॥

दोहा.

विष्टावत समझे सुजन परनारी को संग ।
निन्दनीय औ मैथुनी सारमेय को दग ॥१०॥

अन्वयार्थ - (सप्पुरिसा) सज्जन जन (परनारिं) पर नारी को (उच्छिष्ट) उच्छिष्ट [ऐंठ] और (विष्टं) विष्ट के (विव) समान घृणित समझ कर (परिहरन्ति) त्यागते हैं किन्तु (जे) जो (निंदिया) निन्दित एवं (दुरायारा) दुराचारी हैं वे (सारमेयव्व) कुत्ते के समान उसको (सेवति) पुन सेवते हैं ।

भावार्थ:-सज्जन नर परनारी को उच्छिष्ट और विष्टावत् घृणित एवं हेय समझ कर त्याग देते हैं, किन्तु जो निन्दनीय एवं दुराचारी हैं वे श्वानवत् पुनर्पुन उच्छिष्ट वस्तु का ही उपभोग करते रहते हैं । जैसे उच्छिष्टोपभोगी श्लाघनीय नहीं हो सकता है तथैव पररमणी आसक्त पुरुष भी कदापि प्रशसनीय नहीं होता है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

नो वेइ कणगकोहिं अइया करेइ कणयणिजभवण ॥
तस्स न तत्तियपुण्ण जत्तिय बभम्भए परिए ॥११॥

उत्तरा

यो ददाति कज्जककोटिमयया कुर्याति कलकविनमवनम् ।
तस्य न तावत्पुण्यं यावद् ब्रह्मणे कृते ॥११॥

कीटा

कमल द्वेय निर्माण कर कमल कोटि से शान ॥
शीतलनी को पुण्य तो पाते अधिपति जान ॥१६॥

[illegible]

भाषार्थ— जो मन्त्र कौंसी स्त्रीमुखिछात्री की मति समझ जानादि करे हैं तिनि करता रहता है अथवा कलक (स्त्री) के विनाशक वा त्विमान करता है । जो व्यक्ति का भी जाना महात् मन्त्र पुष्प नहीं है जिनका कि जावात्त मन्त्रात्री के प्रत्यक्ष में है । मन्त्री मन्त्रमय में ही सर्वोत्कृष्ट शक्ति विद्यमान रहती है । जो मन्त्रात्री एवं मन्त्रात्री शक्ति के समग्र विषय को कौंसी भी प्रत्यक्ष शक्ति निज मन्त्रिण नहीं रख सकती है ।

अनुवादक—पूज्य श्री भद्रबालाजी म. श्री. ग. क. श्रीगुरु विनयकरजी म. श्री

मूल.

शीलं वरं कुलाओ दारिद्र्यं भव्यं च रोगाओ ॥
विज्ञा रज्जाउ वरं स्वमा वरं सुदृढु वि तवाओ ॥१२॥

छाया

शीलं वर कुलात् दारिद्र्यं भव्यं च रोगात् ॥
विद्या राज्याद्वर क्षमा वर सुष्टोगपि तपसः ॥१२॥

दोहा.

निर्धनता वर रोग ते शील वश ते जान ॥
विद्या भी है राज्य ते तप ते क्षमा प्रधान ॥१२॥

अन्वयार्थ— (कुलाओ) शीलधर्म रहित उच्चकुल में जन्म लेने की अपेक्षा (मील) शीलव्रत ही (वर) श्रेष्ठ है (च) और (दारिद्र्यं) दरिद्रावस्था (रोगाओ) रोग से (भव्यं) भव्य (सुदर) है (विज्ञा) विद्या (रज्जाउ) राज्य की अपेक्षा (वर) उत्तम है और (स्वमा) क्षमा (सुदृढु) यथावदाचरित [भलीभांति आचरण किये गये] (तवाओ) तप से (वि) भी (वर) प्रधान है ।

भावार्थ— शीलविहीन उच्चकुल से तो शीलसम्पन्न नीचकुल ही श्रेष्ठ है । व्याधियों द्वारा ग्रसित होने की अपेक्षा दरिद्रावस्थानुभव करना ही अत्युत्तम है । विद्या राज्य की अपेक्षा परमादर्शभूता मानी गई है और क्षान्ति (क्षमा) धर्मसम्यगाचरित (अच्छी तरह से आचरण किये गये) तपोकर्म से भी परम महत्वपूर्ण है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में मादर समर्पित

मूढ

चित्रमिति न निगृह्याए नारिं वा सुव्यभंकर्य ॥
मकस्वरमिव दददूर्णं दिट्ठिं पटिसमाहरे ॥१३॥

अथवा

चित्रमिति न निर्व्यायेत् नारीं वा स्वल्पकृत्याम् ।
भास्करमिव ददृत्वा दृष्टिं प्रतिस्माहरेत् ॥१३॥

बोद्धा

मूषण्य सुखित नारी को चित्र मिति ये होय ॥
तो ताको निरखै नहीं सूर्य दृष्टिबत् जोय ॥१३॥

अन्वयार्थ—(चित्रमिति) संपुष्ट मिति पर मिश्रित नारी के चित्र को (वा) अथवा (सुव्यभंकर्य) सुव्यभंकर (नारि) की को श्री (न / नहीं) (निगृह्याए) देखे किन्तु (मकस्वरं) सूर्य को (दददूर्णं) देखने के (इय) समान ही (दिट्ठिं) अपनी दृष्टि को (पटिसमाहरे) पीछी हटाने (पीछी केरने)

भावार्थ—छोटी बुद्धि का कारण है कि वह चित्रितनारी चित्रित छतर की के चित्र की ओर तथा कुनारित पर हलन्तुत नारीवाति की ओर भी इष्टिनिपात नहीं करे किन्तु मकंद रजितरजितुन मास्कर की ओर व्यरोधन करने के समान ही इष्टिनिपात को निपात करे । नारी के सूर्य की ओर देखने का प्रयत्न करने पर इष्टिनिपात उदसा पुनः लौट जाती है, यद्यपि हलन्तुत व्यक्ति प्रतीतिवत्, कथानुत एवं लंघनित इष्टिनिपात बने किन्तु नारी की ओर इष्टिनिपात करने का साहस कदापि न करे ।

अनुवाक—मूषण्य श्री धर्मदासजी य की ल के वीरपुत्र विनयकाजी म. की

मूल.

शील वर कुलाओ कुलेण किं होइ विगयसीलेण ॥
कमलाइ कदमे सम्भवन्ति न हु हुन्ति मलिणाइ ॥१४॥

छाया.

शील वर कुलात् कुलेन किम्भवति विगतशीलेन ॥
कमलानि कदमे सम्भवन्ति न खलु भवन्ति मलीनानि ॥१४॥

दोहा.

शील श्रेष्ठ कुल वंश से शील रहित क्या वंश ? ॥
पंक जात पङ्कज हुए (पिण) नहीं कलुष को अंश ॥१४॥

मन्वयार्थ —(शील) शीलव्रत (कुलाओ) उच्चकुल में जन्म लेने की अपेक्षा (वरं) अत्युत्तम है केवल (विगयसीलेण) शीलादि रहित (कुलेण) उत्तम कुल से (किं) क्या लाभ (होइ) हो सकता है ? जैसे कि (कमलाइ) कमल (कदमे) कदम (कीचड) में (सम्भवन्ति) उत्पन्न होते हैं किंतु वे (हु) निश्चय ही (मलिणाइ) मलीन (कदमलित) (न) नहीं (हुन्ति) होते हैं ।

भावार्थ —कुलीन कुल की अपेक्षा शीलधर्म अत्युत्तम है । और शील विहीन प्रकुल से भी किंचित लाभ नहीं है, यथा कमलवृक्ष पंक में ही उत्पन्न होते हैं तथापि कदम (कीचड) जाल (समूह) से दूषित एवं मलीन नहीं होते हैं । अर्थात्— जैसे पकीदुमव सरोरुह (कमल) कीच से अलिप्त ही रहता है तथैव शीलधर्म युक्त कुलीनता ही श्लाघनीया है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महागज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

मूसणराहिया बि सई तीए सीलं तु मण्डर्ण होइ ॥
सीलबिहूणाए पुणो बरं सु मरण महिलियाए ॥१५॥

छाया

मूषणरहितपि सती तस्या शीलं तु मण्डर्णं भवति ॥
शीलविहीनाया पुन न सखु मरणं महिलया ॥१५॥

शब्दा

आमरणों से रहित पिण शीलवती सुखिण्यस्त ॥
शीलरहित नारी अनम मरणो ही भेरस्त ॥१५॥

अन्वयार्थ— (मूसणरहिया) आमरणदि से रहित बनी हुई (बि) भी (बर्त) बती नारी के किये सो (तीए) उसका (सीलं) शीलवर्ण ही (मंडर्ण) आमरण (होइ) होता है (पुणो) किन्तु (सीलबिहूणाए) शील बर्ण रहित (महिलियाए) बी के किये सो (मरण) मरण ही (बरं) भव्युत्तम है ।

भाषार्थ— सती नारी अमरणदि से विपुलिता न होने पर भी शीलवर्ण के आधान स शीलवर्ण ही होती है, किन्तु शीलवर्णहीना कुम्व्य कथिनी के किये ही अशिल पिण में मरण ही भेरस्त है । सती का शील ही पूजा है और नही कुम्व्य के किये पूज्य है ।

अनुवादक—कुम्व्य भी बर्मावासीय बी स के बीरपुत्र विनयचन्द्रजी स की

मूल.

शीलं कुलआहरणं शीलं रूवं च उत्तमं होइ ॥
शीलं चिय पांडित्तं शीलं चिय निरूपमं धम्मं ॥१५॥

छाया

शील कुलभरण शील रूपञ्चोत्तम भवति ॥
शीलमेव पाण्डित्य शीलमेव निरूपम धर्मम् ॥१६॥

टोहा

शील वश शृंगार है शील धर्म सौन्दर्य ॥
शील धर्म पांडित्य है शील धर्म औदर्य ॥१६॥

अन्वयार्थ— (शील) शील ही (कुलआहरणं) कुल का भूषण है और (शील) सदाचार ही (उत्तम) उत्तमोत्तम (रूवं) सौन्दर्य (होइ) है (शील) शीलधर्म ही (चिय) निश्चय करके (पाण्डित्तं) पांडित्य है और (शीलं) सदाचार (चिय) ही (निरूपम) अनुपम (अद्वितीय) (धम्म) धर्म है ।

भावार्थ— शीलव्रत ही कुल-भूषण है और यही सर्वोत्तम सौन्दर्य है । शील में ही अपूर्व पांडित्य है और सदाचार ही अनुपम धर्म है । अर्थात् शील के प्रभाव में ही कुल शोभा, सौंदर्य-वृद्धि, पांडित्य-प्रकर्ष, एवं सद्धर्म प्रवृत्ति होती है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

हस्तपायपदिच्छिन्नं कर्णनासविगप्यम् ।
अवि वाससह नारि वंसयारी विषज्जम् ॥१७॥

छाया

हस्तपादप्रतिच्छिन्नां कर्णनासाविकल्पिताम् ।
अपि वर्षशतां नारी मन्मथारी विवर्जयेत् ॥१७॥

बोधा

हस्त पाद कच्छित्त हुए, कही नासिका होय ।
वर्षेछिद्रि ताको तजे वातवर्षा मी जोय ॥१७॥

अन्वयार्थ— (हस्तपायपदिच्छिन्नं) हस्त एवं पादादि से कच्छित्त और (कर्णनासविगप्यम्) कर्ण एवं नासिका से रहित कही हुई देवी (वाससह) हो वर्ष की (नारि) कुलनारी को (अवि) मी (वंसयारी) मन्मथारी मनुष्य (विषज्जम्) त्याग देवे ।

भावार्थ— श्रीकण्ठवारी दुख की हस्तपादाविकल्पित एवं कर्ण तथा नासिका विहीन कदम्बा नारी की और लक्ष्मीजन करवे का भी ज्ञान कर केना चाहिये, क्योंकि इतिहास करने पर विजयति में कस्तुरीनासि की संवत्सरा रहती है । कल्पे पर हस्त विहीन नगधेना है तथापि नारीनासि निम्नोत्पत्ति की कल्पनी मानी करे है ।

अनुपाद—पूज्य श्री नर्मदासजी म की छ के बीरपुत्र दिनकरजी म, की

मूल.

जहा कुक्कुटपोअस्स निच्च कुल्लओ भय ।
एव खु वभयारिस्स इत्थी विग्गहो भयं ॥१८॥

छाया

यथा कुक्कुटपोतस्य नित्य कुल्लतो भयम् ।
एव खलु ब्रह्मचारिणः स्त्रीविग्रहतो भयम् ॥१८॥

दोहा

कुक्कुट शिष्टु मार्जार को लखै भीति की दृष्टि ।
शीलव्रती भी नारि को लखै मोत की वृष्टि ॥१८॥

अन्वयार्थ - (जहा) जैसे (कुक्कुटपोअस्स) कुक्कुट (मुर्गी)
के बच्चे को (निच्चं) नित्य (कुल्लओ) मार्जार (बिलाल) से (भयं)
भय बना रहता है (एव) उसी प्रकार (वभयारिस्स) ब्रह्मचारी के लिये
भी (इत्थीविग्गहो) नारी-कलेवर (भयं) भय उत्पादक ही है ।

भावार्थ:- यथा कुक्कुट शावक को सर्वदा मार्जार से भय बना रहता है तथैव
ब्रह्मचारी व्यक्ति को भी नारीतन से सतत भयभीत रहना चाहिये, क्योंकि यदि इस
समय में असावधानी एव उपेक्षा करेंगे तो यदा कदा धर्मापात की अवस्थाशका है ।

शुद्ध

सीलं चत्तमविर्त्तं सीलं जीवानां मंगल परमं ॥
सीलं बुद्धगाहर सीलं सुवसाणं कुलमवण ॥१९॥

छाया

शीलमुत्तमं विच सीलं जीवानां मंगल परमम् ॥
सीलं बुद्ध्याहर सीलं सौख्यानां कुलमवनम् ॥१९॥

बोद्ध

शीलधर्मं धनं छेष्टं हि जग जीवों के हेतु ॥
दुर्मगधातक सुख-सदन शीलधर्मं हि केतु ॥१९॥

अन्वयार्थ- (सीलं) शील धर्म ही (जीवानां) लक्षण प्राप्तिवो के
विधे (चत्तमं) उत्तम (विलं) धन है (सीलं) शील ही (परमं) पर
(मंगल) मंगलरूप है (सीलं) शील ही (बुद्धगाहरं) दुर्मात्र-विषय
है और (सीलं) सत्ताचार ही (सुवसाणं) सौख्य का (कुलमवणं)
कुल-सदन है ।

भाषार्थ- जटिल शील में समस्त प्राणीवों के लिये शीलधर्म ही उत्तम रूप
है शील ही परम मांगणिक है शील ही दुर्मान का संहारक है और सत्ताचार
वस्तुतः सौख्य का विषय है । अर्थात् समस्त दुर्गा का अन्वयसाधन एक मात्र शील
ही है ।

अनुवाद-शुद्ध शील धर्मदानवी य की धर्म के वीरपुत्र निम्नवन्तवी न. की

मूल.

शील धम्मनिहाणं शीलं पावाण खडगं भणियं ॥
शील जत्तूण जए अकित्तिमं मंडणं पवर ॥२०॥

छाया

शील धर्म निधान शीलं पापाना खडक भनितम् ॥
शील जन्तूना जगत्यकृत्रिम मडनं प्रवरम् ॥२०॥

दोहा

अघहर्ता है शील ही शीलधर्म निधि मान ॥
नैसर्गिक भूषण ग्रही जग जीवों का मान ॥२०॥

अन्वयार्थ— (शील) शील ही (धम्म) धर्म का (निहाण) निधान [कोष] है (शील) शील ही (पावाण) सचित पापों का (खडगं) विदारक (भणिय) कहा गया है और (शीलं) शील ही (जए) विश्व में (जन्तूण) प्राणियों का (अकित्तिमं) अकृत्रिम [प्राकृतिक, स्वाभाविक] (पवर) श्रेष्ठ (मंडणं) आभरण है ।

भावार्थ— शीलव्रत ही धर्मोपासन का निधान कहा गया है, शील ही सचित पाप का विदारक है और शील ही विश्व में प्राणियों का अकृत्रिम भूषण है । अर्थात् कृत्रिम भूषण से तो क्षणिक सौंदर्य बढ़ता है किन्तु शीलरूपी बहुमूल्य आभरण के धारण करने पर उत्तरोत्तर सौंदर्यवृद्धि होती ही जाती है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूक

पञ्चमस्त्रिभो वि हु असणो सीसपमायेण पाणिय होइ ।
सा जयत जए सीमा नीसे पयहा असपयाडा ॥२१॥

छाया

प्रम्वस्त्रिभोऽपि सहु ज्वलनशीलप्रमायेन पानीयं मवति ।
सा जयतु जगति सीस पस्या प्रकट्य पश-पताक ॥२१॥

बोहा

भीम जसि ज्वाहा ज्वलित हुई नीर सम शीत ।
सीता के पय की ज्वाहा ज्वाह रही है भीत ॥२१॥

भावार्थ— (सीसपमायेण) जिसके शीत बर्म के प्रभाव से (पञ्चमस्त्रिभो) प्रम्वस्त्रि (असणो) जसि (वि) भी (पाणिय) शीतक नीरबद्ध (हुइह) हो जाती है (सा) ऐसी वह (सीमा) सीतारंगी (जयत) जयवती होने (नीसे) जिसकी कि (असपयाडा) बसोपताक (जए) जोर में अक्षयि भी (पयहा) प्रकट है ।

भावार्थ— जिस सीता के सीतारंग के परमपवन प्रभाव से प्रम्वस्त्रि रंगि सिद्धा भी भीरकर शीतलीभूत हो गई वह सीतारंगी जयवती होने; जिसकी कि जो-काम्य अक्षयि भी समान प्रकट रही है । ज्वाहे सीता के नाम के जोरनिभूत होने में अक्षय छादन पक्ष शीत बर्म ही है ।

जगुनादक—पूज्य श्री बर्मरावजी म की सं के वीरपुत्र बिनबचम्वजी म की

मूल.

चालणिजलेण चम्पाए जीड उग्घाडियं द्वारतियं ॥
कस्स न हरेड चित्त तीय चरियं सुभदाए ॥२२॥

छाया

चालनिजलेन चम्पाया ययोद्घाटित द्वारत्रिक ॥
कस्य न हगने चित्तमनीन चरित्र सुमद्रायाः ॥२२॥

टोहा

चम्पापुर के द्वार को चालनि जल से खोल ॥
सती सुमद्रा का चरित्र बहुत अजीब अनोल ॥२२॥

अन्वयार्थ— (जीड) जिस मनी ने (चालणि जलेण) शीलप्रभाव द्वारा चालनी के जल में (चम्पाए) चम्पापुरी के (तियं) तीनों ही (द्वारं) द्वारों को (उग्घाडिय) उघाड़ दिये (सुभदाए) उस सुमद्रा सती का (तीयं) भूत कालीन (चरिय) चरित्र (कस्स) किस व्यक्ति के (चित्तं) हृदय को (न) नहीं (हरेड) हरण करता है ?

भावार्थ— जिस सुमद्रा मती ने निज शीलव्रत के अनुनुमेय प्रभाव द्वारा चालनी के जल में चम्पापुरी के बज्र मन नाटित द्वारत्रय को उघाड़ दिये, उस महासती का अतीत कालीन चरित्र किस महत्त्व व्यक्ति के चित्त को आकर्षित नहीं करता है ? अर्थात् चालनी में जल का स्थिर रहना असम्भव है, किन्तु शील के माहात्म्य से असम्भव कार्य भी सम्भव हो गया और अति दृढ़ जड़ित द्वारों को भी क्षण में ही उघाड़ दिये ।

और से पंडित प्रवर श्री मौभाग्यमलजी मद्रागज के कर-कमलों में भादव समर्पित

मूल

मद् कलावह्ण भीमणरभाम्नि रायचत्ताए ॥
जाप सीसगुणेण छिर्भागा पुण नवाजाया ॥२३॥

उपमा

मद् कलावह्णो भीमणरभ्ये राजचत्ताया ॥
यस्य सीसगुणेन छिर्भागा पुनर्नवाजाया ॥२३॥

बोद्धा

मूय रूपक्ता रानी कला भीमण बन के मरि ॥
छेदितांग नूतन रूप सीस धर्म की सार ॥२३॥

अन्वयाद्यै— (भीमणरभाम्नि) भीमण अरभ्य में (रायचत्ताए)
वरपति द्वारा परित्यक्ता (कलावह्ण) वर कलावह्णी रानी का (मद्)
कल्याण हावे (जाप) विषय (सीसगुणेण) सीस बन के प्रमाण से
(छिर्भागा) छेदितांग अथ (पुण) पुनरपि (नवाजाया) नवन (जाया) हो गये।

साक्षात्— यथापि एवं वरपति विपिन में बरपति द्वारा परित्यक्त वर कलावह्णी
रानी का सर्वत्र वरपति कल्याण हावे, विलम्ब दीव्यत के मावलय से छेदितांग एवं वेदिता
जंग भी पुन नूतन रूप में हो गये । यथापि जंगल छेदितांग द्वारा कलावह्णी की पति
वद कलावह्णी रानी अपने पतिविपिन धर्म के प्रमाण से पुनरपि सर्वांग वरपति हो गई ।

अनुवाद—पूज्य भी कलावह्णी म की छ के वीरपुत्र विषयकन्दजी म की

मूल.

युणिउं तस्स न सक्का सेट्टस्स सुदसणस्स गुणनिवह ॥
जो विसमसकडेसु वि पडिओ वि अखण्डशीलधणं ॥२४

छाया

स्तोतु तस्य न शक्या श्रेष्ठेन मुदर्शनस्य गुणनिवह ॥
यो विषमसकटेष्वपि पातितोऽप्यखण्डशीलवनम् ॥२४॥

टोहा

विषम सकटों में पड़ी रक्खा शील अखण्ड ॥
सेठ सुदर्शन गुणस्तुति कौन कहे वरिखण्ड ॥२४॥

अन्वयार्थ- (जो) जिसने (विषमसंकडेसु) विषम सकटों में (पडिओ) पड़े हुए (वि) भी (अखण्डशीलधण) अपने अखण्ड शील धर्म रूपी धन की रक्षा की ऐसे (तस्स) उस (सुदसणस्स) सुदर्शन (सेट्टस्स) सेठ के (गुणनिवह) गुण समुदाय की (युणियं) स्तुति करने में (न) कोई भी नहीं (सक्का) समर्थ हो सकते हैं ।

भावार्थ - जिसने विषम एवं सकटाकीर्ण विकल पथ में पड़कर भी अपने अखण्डित शीलधर्म रूपी धन की सतत रक्षाकी प्रेसे उस सुदर्शन श्रेष्ठवर्त्य के गुणगणों की स्तुति करने में कौन व्यक्ति समर्थ है ? अर्थात् उस महात्मा जितेन्द्रिय पुरुष के गुणगणों का कथन करने में कोई भी व्यक्ति समर्थ नहीं हो सकता है ।

ओर से पङ्क्ति प्रवर श्री सौभाग्यभलजी महागज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मुख

सम्बोधिं वि वषाणं भगणं आसि कोइ पटिभारो ॥
पक्कघटस्स च कर्णं न होइ सीलं पुणो मग्गं ॥२५॥

अथवा

सर्वेषामपि व्रतानां मग्नानामस्ति कोऽपि प्रतिकरः ॥
पक्कघटस्येव कर्णं न भवति शीलं पुनर्मग्नम् ॥११॥

वादा

प्रतीकार मन मान को आलोचन ही ज्ञान ॥
पक्क घटे के मग्नवत् शील धर्म का ज्ञान ॥२५॥

अन्वयाद्यर्थ—(सम्बोधिं) मग्न सर्व (भगणं) मन [होय ज्ये हुए]
(वषाणं) कर्ण का हो (वि) फिर भी (कोइ) कोई न कोई (पटि
भारो) प्रसिद्ध [आलोचनादि उपाय] (अन्वि) है किन्तु (पक्कघटस्स)
वक्के हुए वक्के की (कर्णं) कर्णित शील के (न) उसका ही (मग्गं) मग्न
[वृत्ति] (सीलं) सात्वत का (पुणो) पुनः (न) कोई भी उपाय नहीं
(होइ) है ॥

साधार्थ— सर्व जनों में दीर्घात ही प्रवृत्ति पर कर्म कल्याण का ज्ञान
है इसी हेतु सर्व जनों में दीर्घात का सर्वत्र ज्ञान का कर्म प्रतीकार के आलोचनादि
उपाय आत्मव्यापनद्वारा प्रतिपादित है, किन्तु जैसे मन का के कर्णित ही ज्ञान का
जुन संवित्त्व कर्णित है तबै कर्णित दीर्घात का कोई भी प्रतीकारोपय नहीं है।

अनुवाद—पूज्य भी कर्मदासजी य श्री छ के श्रीपुत्र विनयचन्द्रजी य की

मूल.

वेयालभूअरक्खसकेसारेचित्तयगइदसप्पाणं ।
लीलाइ दलइ दप्प पालतो निम्मलं शीलं ॥२६॥

छाया

वैतालभूतराक्षसकेसरीचित्रकगजेन्द्रसर्पाणाम् ॥
लीलाया दल्यति दर्पं पालयन् निर्मलं शीलम् ॥२६॥

दोहा.

व्याघ्र, हस्ति अदि, राक्षसी, वैतालादिक गर्व ॥
विमल शीलव्रत जो धरे दर्प चुरै वह सर्व ॥२६॥

अन्वयार्थ- (निम्मलं) दूषणादि रहित निर्मल (शीलं) शीलधर्म का (पालतो) पालन करनेवाला व्यक्ति (वेयाल) वैताल (भूअ) भूत (रक्खस) राक्षस (केसरि) केसरी [सिंह] (चित्तय) व्याघ्र । गइंठ) गजेन्द्र एव (सप्पाण) भीम भुजगों के (दप्प) गर्व को भी (लीलाइ) लीलामात्र में ही (दलइ) विनष्ट कर देता है ।

भावार्थ- जो व्यक्ति निरन्तर दूषणादि विहीन पुनीत शील धर्म का यथावत् रीत्यनुसार पालन करता रहता है, वह वैताल, भूत, राक्षस, सिंह, व्याघ्र, गजेन्द्र एव मयोत्पादक भुजगों के गर्व को भी लीलामात्र में ही नष्ट कर देता है अर्थात् शील के समस्त विषम विषये जन्तुओं का भी प्रभाव नगण्य सा हो जाता है ।

और मे पंडित प्रवर श्री गोमाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

*** तप ***



इस विषय हमों में तब भी अनजाना महसूस होने लगा है। इसकी महत्ता केन पुराणालम्बी बरं दर्शनियों द्वारा ही नहीं बरं गरीबे अविश्व ज्ञानापुराणनिगमात्मकदर्शनों में भी कुछ कम है। इसकी महत्ता बढ़ है। तब धार्मिक एवं मानसिक सम्भावना मिश्रित है जिसे सम्भावना के रूप में माना गया है। इसका क्या क्या नाश करके से निज अन्तर्मुख में अन्तर्मुख दर्शन दिखाना तथा दूसरी आगत होती जाती है।

बैल आगच्छातुं ते तप का प्रियमातुं ये निश्चय किया है । १ आंतरिक तप २ बाह्य तप । आंतरिक तप का सधन आत्मिक परिणामों से है और बाह्य तप आंतरिक कष्टों से संचालित है । आंतरिक तप में निज आत्मा पर ध्यान यदि कोई करता है तो तप आगच्छातुं ते और बाह्य तप में अन्नदान, कर्मभरी, उत्पत्तिमान आदि का प्रयोग किया गया है ।

तपोर्व्वं इत्यादि शब्दवाची कैसे विरक्त एवं महापातक्ये पुनः भी शरणार्थी बनकर आने पर सखी है जो सखी सुखसुखेश्वर किता करणविरक्त सखी है। मति समझ वाचक मत्त करती रहती है। तब के अनुपम मत्त के समझ वाचक मत्त मौलिक सखी का कुछ भी महात्त नहीं है ने तपोर्व्वं अनुपम के समझ विषय ही हो जाती है। तब के शरण ही हम निश्चित करणविरक्त की तब तब कर सखी है। इत्यादि ही नहीं मति अनुपम मत्त की मात्र कान्ते की शक्ति भी तब में ही है।

तब भी वही छविहीन कल्पना होता है जिसका कि निवासा नहीं मिलता हो। निवासा करने के पदार्थों महा कल्पनाक तब भी अगर कल्पतरु ही हो जाता है। ऐतनतिक व सामानिक न्यायानुतिक अन्वयार्थों का हस्त भी तब छटा ही हो सकता है। सकल अर्थिक समन्वय भी वही के पदार्थ प्रत्यक्ष है सुमन्वयार्थक अन्वय नहीं है। उपर्युक्त के लिये उभय काल और उभय पक्ष में मेर ही है। दूरबीन के लीक प्रदीपक एवं वस्तु वही प्राप्त करता है तथा दूरबीन में सकल स्थिति सुखा का वस्तुता करता है। तात्पर्य वही है कि सकल वस्तुत्व समस्त ही ऐसी वही भी अर्थिक निवृत्त नहीं है जो कि तपार्थों के समस्त न्यायानुतिक न हो जाती हो। वस्तु सर्व में सुन्दर कल्प निवृत्त गामाभा काग मावना नाशिवे

भनुषाद-पुष्प की समझनी में ही के कभीपुत्र विनयचन्द्रजी म. की

मूल.

गोवभगवभगविभणित्रंभणिघाताइगुरुअपावाइ ।
काऊण वि कणय वित्र तत्रेण सुद्धो दढप्रहरी ॥१॥

छाया

गोव्रह्मगर्भगर्भिणिब्राह्मणिघातादिगुरुपापानि ।
कृत्वापि कनकमिन तपसा शुद्ध दृढप्रहारी ॥१॥

दोहा.

गो ब्राह्मण अरु गर्भ की, गर्भिणि की कर घात ।
महा गुरुनम पाप को, किये स्पष्ट यह बात ॥ १ ॥
दृढप्रहरी ने कनक सा, तजा सभी मलवर्ग ।
तप से आत्मिक शुद्धि कर पाया वह अवर्ग ॥ २ ॥

अन्वयार्थ - (गो) गाय (वंभ) ब्राह्मण (गवत) गर्भ और
(गर्भिणि घमणि घाताइ) गर्भवती ब्राह्मणा इनके घातादि रूप (गुरुअ)
महा गुरुनम (पावाइ) पापों को (काऊण) करके (वि) श्री (दृढप्रहारी)
दृढ़ प्रहारी (तत्रेण) कठोर तपद्वारा (कणय वित्र) स्वर्ण वस्त्र (सुद्धो)
शुद्ध बन गया ।

मूल.

गोवभगवभगविभणिवंभणिघाताङ्गुरुअपावाइ ।
काऊण वि कणय विव तवेण सुद्धो दढपहरी ॥१॥

छाया

गोत्रह्यगर्भगर्भिणिब्राह्मणिघाताङ्गुरुपापानि ।
कृत्वापि कनकमिव तपसा शुद्ध दृढप्रहारी ॥१॥

दोहा

गौ ब्राह्मण अरु गर्भ की, गर्भिणि की कर घात ।
महा गुरुतम पाप को, किये स्पष्ट यह बात ॥ १ ॥
दृढप्रहरी ने कनक सा, तजा सभी मलवर्ग ।
तप ते आत्मिक शुद्धि कर पाया वह अपवर्ग ॥ २ ॥

अन्वयार्थ - (गो) गाय (वंभ) ब्राह्मण (गडम) गर्भ और
(गविभणि घभणि घाताङ्ग) गर्भवती ब्राह्मणा इनके घातादि रूप (गुरुअ)
महा गुरुतम (पावाइ) पापों को (काऊण) करके (वि) भी (दढपहारी)
दृढ प्रहारी (तवेण) कठोर तपद्वारा (कणय विव) स्वर्ण वत् (सुद्धो)
विशुद्ध बन गया ।

भावार्थ - धेनु, विव्र, गर्भ और गर्भिणी ब्राह्मणी इन सब के घातादिरूपगद्गान
वास्तव पापों का आचरण करने पर भी दृढप्रहारी कठोर तपस्या परम विशुद्धि को
प्राप्त हुआ अर्थात् अथमात्म काया को करने पर भी उस पापमाने तपोज के प्रभाव
से आत्मकल्याण कर लिया ।

और से पङ्क्ति प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-क्रमलों में सादर समर्पित

मूल

देवापि किंकरसं कुर्वन्ति कुम्भप्राद्विरट्टिभार्जं पि ॥
तवमेतपभावेण हरिणसबलस्स ख्व रिमिस्स ॥२॥

अन्वय

देवा अपि किंकरत्वं कुर्वन्ति कुम्भप्राद्विरट्टिभार्जनामपि ॥
तपो मन्त्रप्रभावेण हरिकेशीयस्सप्येव ऋषे ॥२॥

वार्ता

तप ही के माहात्म्य से सुरगण किंकर जान ॥
आति हीन हरिकेशि के दास हुए सब आन ॥२॥

अन्वयार्थ—(तवमेतपभावेण) तप की मन्त्र के माहात्म्य से (देवा)
सुरगण (पि) भी (हरिणसबलस्स) हरिकेशीय नामक (रिमिस्स)
पत्नी-धर के (ख्व) समान (कुम्भप्राद्विरट्टिभार्जं पि) कुम्भ एवं कर्त्ति
मिहीन व्यक्तियों के भी (किंकरसं) पदस्व को (कुर्वन्ति) करते हैं ।

माधार्थ— तप की महामन्त्र के माहात्म्य से सुरगण भी हुए कुम्भप्राद्विरट्टि
जैसे कर्त्ति मिहीन व्यक्तियों का दास्य करते हैं । देवी, हरिकेशीय नामक पत्नी
का श्रौतभा कर्म कुम्भ वा । किन्तु इनके पत्नीत्व से वह निरन्तर सेवा में व्यस्त
रहता था ।

मूल.

अनिआणस्स विहिण्ण तवस्स तवियस्स किं पसंसामो ॥
किज्झइ जेण विणासो निकाइयाणं वि कम्मणं ॥३॥

छाया

अनिदानस्य विधिना तपस तप्तस्य किं प्रशसाम ॥
क्रियते येन विनाश. निकाचितानामपि कर्मणाम् ॥३॥

दोहा

विना नियाणा नियम ते युक्त विमल तप स्तुत्य ॥
कर्म-शत्रु-दल-दलित हो करके निर्मल कृत्य ॥३॥

अन्वयार्थ— (अनिआणस्स) निदान रहित एव (विहिण्ण) निय-
मानुसार (तवियस्स) आचरित (तवस्स) तपोकर्म की (किं) क्या
(पसंसामो) हम प्रशसा करें ? (जेण) जिस तप द्वारा (निकाइयाणं)
निकाचित (कम्मणं) कर्मराशि का (पि) भी (विणासो) विनाश
(किज्झइ) किया जा सकता है ।

भावार्थ— जिस तपोधर्म का नियाणा नहीं किया जाकर यथाविधि आचरण
किया जाता है उसके श्रेष्ठ फल की कल्पना करने में कौन व्यक्ति समर्थ है ? अर्थात्
उमका फलानुमान कोई भी नहीं कर सकता है । इसी सुआचरित तप के द्वारा निका-
चित कर्म-सन्तुष्ट का भी विनाश किया जा सकता है ।

ओर से पंडित प्रवरश्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मुख

किं बहुना मनिपुण म कस्तपि कदापि कस्य नि सुहाई ।
दीसंति मबनमन्थे तस्य तपो कारण चेव ॥ ४ ॥

छाया

किं बहुना मनितेन यत कस्यापि कपमापि कुत्रापि सुखानि ।
इत्यन्त मबनमन्थे तत्र तप कारणं चेव ॥ ४ ॥

बोद्धा

तप का अतिशय क्या कहें ऊँ तहँ ओ सुखमात्र ।
मबनमन्थ ओ सुख मिछे तप का ही फल मान वध॥

अन्वयार्थ— (बहुना) तप के अतिशय (मनिपुण) महारक्षण से (किं) क्या कम है क्योंकि (कस्तपि) किसी भा व्यक्ति के (मबन मन्थे) मबनमन्थ में (कहँ बि) कुत्र भी (कस्य बि) कदा पर भी (के) ओ (सुहाई) सुखादि (दीसंति) बहिर्गोचर होते हैं (तस्य) वा। (तपो) तपकर्म ही (चेव) निश्चय करके (कारण) कारण रूप है ।

भावार्थ— तप का अतिशय महत्त्व कम्य करना व्यर्थ है । इसलिये केवल इती एक शब्द में पूर्ण सन्तोष प्राप्त होगा चाहिये कि— प्रत्येक व्यक्ति ने घर में वा कुत्र भी, कदा पर भी कृष्णसामग्रियों बहिर्गोचर होनी हैं, वे सब तप के ही मारतन्त्र के फल कहली हैं क्योंकि तप के द्वारा ही समस्त कृष्णसामग्रियाँ मिलते हैं ।

अनुवादक—पूज्य श्री परमेश्वरजी य श्री लो के श्रीगुरु रिताचन्द्रजी म की

मूल.

अथिर पि थिरं वक्रं पि उज्जुअ दुल्लहं पि तह मुलहं ।
दुस्सज्ज पि मुसज्ज तवेण संपज्जए कज्ज ॥ ५ ॥

छाया.

अस्थिरमपि स्थिर वक्रमपि ऋजुक दुर्लभमपि तथा सुलभ ।
दुस्साध्यमपि सुसाध्य तपसा सम्पद्यते कार्यम् ॥ ५ ॥

दोहा.

अस्थिर स्थिर, दुर्लभ सुलभ, वक्र सरल, हो जात ।
हो दुसाध्य अति साध्य ही तप प्रभाव की बात ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ.—(तवेण) तपकर्म द्वारा (अथिरं) अस्थिर (कज्ज)
कार्यं (वि) भी (थिर) स्थिर हो जाता है (वक्रं) वक्र (जटिल) कार्य
(पि) भी (उज्जुअं) सरल बन जाता है (दुल्लहं पि) दुर्लभ कार्य भी
(सुलहं) सुलभ हो जाता है (तह) तथा (दुस्सज्ज) दु साध्य (पि) भी
(मुसज्जं) सुसाध्य (संपज्जए) हो जाता है ।

भावार्थ — तप के आर्द्धतीय प्रभाव द्वारा अस्थिर कार्य भी स्थिर हो जाता है,
जटिल कार्य भी सरल हो जाता है, दुर्लभता भी सुलभता का रूप धारण कर लेती है
और दुस्साध्य कार्य भी सुसाध्य हो जाता है । अर्थात् तप के ही प्रभाव में ससार की
समस्त विपदाएँ नष्ट हो जाती हैं और प्रतिकूल कार्य भी अनुकूल बन जाते हैं ।

ओर से पण्डित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

पहलिवस ससन्नपणे बहिऊन गहियपीरनिणदिपत्ता ॥
दुग्गाभिगहनिरओ भऊणओ पासिओ सिद्धो ॥६॥

आवा

प्रतिविषस ससन्नपण्ण इत्ता प्रहितवीरणिनीक्षा ॥
दुर्गाभिगहनिरओऽणुनमाणी सिद्ध ॥६॥

बोहा

पढ मानव इह नारि यों सस जीव को मार ॥
महुँनमाणी वीर ने छी बीसा को चार ॥६॥
दुग्गर दुग्गर तप करे अभिग्रह में संछम ॥
मोक्षस्वाग को गह गया कर कर्मों को मार ॥६॥

अन्वयाय- (पहलिवस) प्रति विषस (सस) छह पुंस और एक बी इस प्रकार मान (सण) मनुष्यों का (बहिऊन) बच कर और (वीर) वीर मनु के समीप (निणदिपत्ता) निनीक्षा को (गहिय) ग्रहण करके (भऊणओ पासिओ) महुँनमाणी (दुग्गाभिगहनिरओ) दुग्गर अभिग्रह में संछम होकर (सिद्धो) सिद्ध हुआ ।

माधार्थ- प्रति विषस छह पुंस और एक नारी सस प्रकार छह मनुष्यों का बच करनेवाला महुँनमाणी जैसा अच्छी व्यक्ति भी वीर मनु के समीप निनीक्षा भेटी कर करे और दुग्गर अभिग्रह को ग्रहण करना हुआ मनुष्य शिकार को प्राप्त हुआ ।

अनुवाक-पुंस भी भगवान्ओं न की त क वीरपुत्र विनयचन्द्रजी म. की

भाव



से आत्मा बिना कण्ठर, जल-विहीन सरोवर, नामिका-
शून्य वदन लावण्य निस्सार है तथैव भावनातिरिक्त दान,
शील एवं तपोधर्म भी निःप्रयोजन ही हैं। जगत् की
सकल क्रियाओं में भावना धर्म ही मुख्य है इसके बिना
प्रवृत्त क्रिया में सम्पन्नभ्युदय एवं साफल्य लाभ कदापि
नहीं हो सकता है। भावना ही जीवन सर्वस्व है और यही जीवनीयधि सजीवनी
वृष्टिका है। इसी के प्रताप में निकृष्ट से निकृष्ट और अनुत्तर से अनुत्तर गति
का बंधन बाध सकते हैं क्योंकि नीति कला विशारदों का सिद्धांत है कि—“ मन
एवं मनुष्याणां कारण बध्नोक्षयो ” अर्थात् शुभाध्यवसायों की पराकाष्ठा से
अनुत्तर शिवसुख लाभ हो सकता है और अशुभ परिणामों की अन्यन्त तीव्रता
से नरकादि अधमतम गति में दारुण विपाकानुभव भी कर सकते हैं।

भावनाविहीन द्रव्य चारपाउंडर मात्र है। जहां द्रव्य एवं भाव दोनों का
सुंदर सामंजस्य है वहां सर्वदा सुख साम्राज्य व्याप्त ही है। भाव अशुभ कर्मरूपी
व्याधि के लिये भेषज स्वरूप है, धर्म-दावानलसतप्त पुरुष के लिये चंदनसम
शीतल है और आधि, व्याधि तथा उपाधि प्रसित जगज्जलधि के लिये नौका-
वत् सहायक है। भावना के त्रिलोकव्याप्त अखण्ड राज्य में प्रविष्ट होने से ही
नंदन मनिहार दर्दुर के भव में आयुस्थिति पूर्ण कर देवरूप में उत्पन्न हुआ।
महा प्रज्ञावत इलायचीपुत्र को जो सहसा केवलज्ञान हो गया वह भावनाओं की
उत्तुंग तरंगों का ही महा प्रसाद है। भावना के बिना अथक एवं महाभागत
प्रयत्न करने पर भी मंत्र तंत्र, यंत्र और उपायनादि की सिद्धि का पान नहीं हो
सकती है। निष्कर्ष यही है कि जगत् की परम प्रवृत्तियों और सिद्धियों का हेतु
भावना अंग ही है। इसका विशेषोद्देश निम्न गाथाओं द्वारा जानना चाहिये —

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलनी महाराज के कंकमलों में सादर समर्पित

मूल

पद्मदिवसं सप्तमणे नक्षत्रं गार्हपत्यवीरजिह्वादिस्त्रा ॥
 बुग्गामिमाह्निरभो अज्जुणभो प्राप्तिभो सिद्धो ॥६॥

अथा

प्रतिदिवसं सप्तमनान् इत्या गार्हपत्यवीरजिनदीक्षा ॥
 बुग्गामिमाह्निरतोष्ठुनमासी सिद्ध ॥६॥

बोद्धा

यद् मानव इह नारि यो सप्त जीव को मार ॥
 मर्त्यनमासी वीर मे की वीक्षा को धार ॥६॥
 बुद्धर बुद्धर तप करे अमिमाह मे स्नेहम् ॥
 मोक्षस्थान को पहु गया कर कर्मों को मार ॥६॥

अन्वयार्थ- (पद्मदिवसं) प्रति दिवस (सप्त) एक पुरुष और एक की इस प्रकार भाग (अणे) मनुष्यों का (नक्षत्रं) बंध कर और (वीर) वीर प्रभु के समीप (जिह्वादिस्त्रा) निजदीक्षा को (गार्हपत्य) ग्रहण करके (अज्जुणभो माहिभो) अर्जुनमासी (बुग्गामिमाह्निरभो) पुरुषपर अमिमाहो में एकत्र होकर (सिद्धो) सिद्ध हुआ ।

भावार्थ- प्रति दिवस यद् पुरुष और एक नारी इस प्रकार सप्त मनुष्यों का बंध करनेवाला अर्जुनमासी वैसा अथवा व्यक्ति जो वीर प्रभु के समीप निज-दीक्षा लेने-कर करके और बुद्धर अमिमाह को धारण करता हुआ अज्जुणर मित्रत्व को प्राप्त हुआ ।

अनुवादक-पूज्य श्री चर्मदासजी व श्री छ. के वीरपुत्र दिनराजजी व श्री

मूल.

सव्वाणवि सुद्धीणं मणुद्धी चेव उत्तमालोए ।
आलिङ्गइ भत्तार भावेणनेण पुत्तं च ॥ २ ॥

छाया.

सर्वासामपि शुद्धीना मन शुद्धिरेवोत्तमा लोके ।
आलिङ्गति भर्तारं भावनान्येन पुत्रश्च ॥ २ ॥

टोहा.

कामिनि का पति पुत्र के सह आलिङ्गन भेद ।
सो मन शुद्धी श्रेष्ठ है नवहि शुद्धि को छेद ॥ २ ॥

अन्वयार्थ — (लोए) नसार में (सव्वाणं वि सुद्धीण) सर्व विध
शुद्धियों में (मणुद्धी) मनोशुद्धि ही (चेव) निश्चय काके (उत्तमा)
उत्तम कही गई है जैसे स्त्री (भत्तारं) निज पति को (च) और (पुत्तं)
पुत्र को (अनेण) अन्य धन्य (भावेण) भाव से ही (आलिङ्गइ) आलि-
ङ्गन करती है ।

भावार्थ — जैसे नारी निज पति को और प्रिय पुत्र को परस्पर विरुद्ध भाव से
ही आलिङ्गन करती है अर्थात् पुत्रका वान्मल्य भाव से और पति का विषयनन्द में मत्त
होकर चुम्बन करती है । यद्यपि चुम्बन ममरूप ही है तथापि नानसिक विकारी एवं
अविकारी भावना से आलिङ्गन भी परस्पर विपरीत भावना का चेतक है इसलिये सर्व
शुद्धियों में मनोशुद्धि-मनो भावना ही प्रधान मानी गई है ।

ओर से पंडित प्रवरश्री श्रीभाग्यमलजी महाराज के का-क्रमलों में सादर समर्पित

मूल

दानतपसीलभावनामेर्षिं चरुषिहो इषह धर्मो ॥
सर्वेषु तेषु भावो महाप्रमाणो मुनेयव्यो ॥३॥

छाया

दानतपसीलभावनामेर्षितुर्विधो भवति धर्मः ॥
सर्वेषु तेषु भावो महाप्रमाणो मन्तव्यः ॥३॥

बोझा

दान शील तप भावना धर्म चतुर्विध होय ॥
भाव धर्म उत्तम कहा सब धर्मों को जोय ॥३॥

अन्वयार्थ— (दानतपसीलभावनामेर्षिं) दान शील, तप और भावना के मोक्षों से (धर्मो) धर्म (चरुषिहो) चतुर्विध (इषह) होता है (तेषु) उन (सर्वेषु) सर्व धर्मों में से (भावो) पुनीत भाव को ही (महाप्रमाणो) महा प्रमाणवन्त (मुनेयव्यो) जगन्नाथ कहिये ।

भावार्थ— दान शील तप एवं भावना के मोक्ष से धर्म चार प्रकार का कहा गया है; किन्तु इन चतुर्विध धर्मों में भावना ही महा प्रमाणीय और उत्तम मानी गई है। क्योंकि समस्त में किन्हीं भी वस्तुओं में धर्म हैं, जहाँ केवल एक भावना ही उत्तम है। भावनाशून्य धर्म सर्वथा शून्यवत् है ।

मूल.

भावो भवोदहितरणी भावो सग्गापवग्गपुरसरणी ॥
भवियाणं मणचिंतिअअचित्तचिंतामणी भावो ॥४॥

छाया.

भावो भवोदधितरणी भाव स्वर्गापवर्गपुरसरणिः ॥
भव्याना मनश्चिन्तिताचिन्त्याचिन्तामणिभाव ॥४॥

दोहा.

भाव भवोदधिनाव है स्वर्ग मोक्षनिश्रेणि ॥
मनोभाव छाता यही चिंतामणि सी श्रेणि ॥४॥

अन्वयार्थः—(भावो) भाव ही (भवोदहितरणी) भव रूपी समुद्र को पार करने के लिये नौकामूत है और (भावो) शुद्ध भावना ही (सग्गापवग्गपुरसरणी) स्वर्ग एवं मोक्ष रूपी नगर में जाने के लिये निश्रेणी (निस्तरणी) वस्तु है (भवियाणं) भव्य जीवों के (मणचिंतिअअचित्तचिंतामणी) मनचिंतित अर्थ को देने वाला अचिंत्य चिंतामणिसम (भावो) भाव ही है ।

भावार्थः—दुस्तीर्ण एवं विषम समार सागर में पारगामी होने के लिये नौका वस्तु आधारभूत भाव ही है । स्वर्गापवर्ग में गमन करने हेतु निश्रेणिरूप शुद्ध मनोभावना ही मानी गई है और भव्य जीवों के मनोगत अर्थ का छाता अचिंत्यचिंतामणि के समान यह भावनारूप धर्म ही है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

भूस

मरुस्त सरिसवस्त य मत्तियमिर्ष च अतरं होइ ॥
 वृष्यस्ययमावस्ययस्त अन्तरं तत्तियं जेय ॥५॥

छाया

मरो सूर्यपस्य च यावन्मात्रं चांतर भवति ॥
 ब्रह्मार्थमावार्थयोरेन्तरं त्वयग्येयम् ॥५॥

होहा

अचल मेव औ सरस मां जितनो अन्तर होय ॥
 द्रव्य भाव में है महा कतनो अन्तर होय ॥५॥

अन्वयाये— (मरुस्त) मरुगिरी में (य) और (सरिसवस्त)
 सरसों में (मत्तियमिर्ष) यावन्मात्र [जितना] (अन्तरं) अन्तर (होइ)
 इतिगोचर होता है (तत्तियं) अतना ही (वृष्यस्ययमावस्ययस्त) ब्रह्म
 और भाव में (अन्तरं) अन्तर (जेय) जानना चाहिये ।

भावार्थ— गिरिपार में और सरसा में जितना अक्षरर इतिगोचर होता है
 उन्ना ही इतरन्तर ब्रह्म और भाव में जानना चाहिये । ब्रह्म तो केवल वास्तविकता
 को प्रकट करता है किन्तु भाव वास्तविक विस्तृत प्राप्ति की ओर ही भाव बाधित करता
 है । अतः ब्रह्म की अर्थात् भाव निरंतर ब्रह्मपूर्ण है और समिद्धि चक्षुषी भी भाव
 रण ही होती है ।

अनुवादक—भूय भी धमरायभी य की ल के बीगुय विवयकनजी म. की

मूल.

दानतवशीलभावणमेवा चउरो हवन्ति धम्मस्स ॥
तेसु वि भावो परमो परमो सहमसुहकम्माणं ॥६॥

छाया

दानतपशीलभावनाभेदाश्चत्वारो भवन्ति वर्मस्य ॥
तेष्वपि भाव परमः परमौषधमशुभकर्मणाम् ॥६॥

दोहा.

दान शील तप भावना धर्म भेद है चार ॥
भाव कर्म दल दलनहित परमौषध है धार ॥६॥

अन्वयार्थ — (दानतवशीलभावणमेवा) दान, शील, तप एवं भाव के भेदसे (धम्मस्स) धर्मके (चउरो) चार प्रकार (हवन्ति) होते हैं (तेसु) उन चारों में (भावो) भाव धर्म ही (परमो) उत्तम है और (असुहकम्माण) अशुभकर्म समुदाय के लिये (परमोसह) परमौषधिरूप है ।

भावार्थ — जैसे व्याधि व्याप्त शरीर हेतु औषध्योपचार ही श्रेयस्कर है तथैव अशुभकर्म पकड़लको विनष्ट करने के लिये दान, शील, तप एवं भावनारूप चतुर्विध धर्मों में से केवल भावनारूप धर्म ही उत्कृष्ट एवं मुख्य औषधिरूप कहा गया है अर्थात् सर्वत्र भाव की ही प्रधानता है । भावद्वारा ही सर्व मिदिया प्राप्त होती हैं ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

दानाणामभयदानं माणाण अहेय केवलं मार्गं ॥
 दानाण सुखकण्ठाणं तद् भाषो सख्यपम्मेसु ॥७॥

उपधा

दानानामभयदानं दानानां यथैव केवलं दानम् ॥
 दानानां सुखकण्ठायाम् तथा भाषा सर्वधर्मेषु ॥७॥

बोद्धा

अभयदानं कथो दानं मां सुखक वदानं मां दानम् ॥
 दानं मां हि केवलं तथा भाषा धर्म मां भाषा ७७॥

अन्वयार्थः— (अहेय) केवल (दानाणामभयदानं) सर्व दानों में
 अभयदान प्रधान है (माणाण) पंचविध शक्तों में (केवलं मार्गं) केवल-
 मार्ग भव है (दानाण) चतुर्विध दानों में (सुखकण्ठाणं) सुखकण्ठ
 उत्तम है (तद्) सभी प्रकार (सख्यपम्मेसु) सर्व धर्मों में (भाषो)
 भाष ही प्रधान है ।

माध्यार्थः— वहा सर्व दानों में अभयदान अत्युत्तम है मतिमानादि पंचविध
 शक्तों में सुखकण्ठ उत्तम कहा गया है और मात्र, ऐश्यादि चतुर्विध दानों में सुख-
 कण्ठ उत्तम है तथा सर्व धर्मों में भाष ॥ उसका मत यह है । अर्थात् सभी में
 अभयदान प्रधान है सुखकण्ठ दानों में सुखकण्ठ और सभी में भाष ही उत्तम
 है ।

मूल.

कम्माण मोहणिज्जं रसणा सव्वेसु इदिएसु जहा ॥
वंभवय वएसु वि तह भावो सव्वधम्मेषु ॥८॥

छाया

कर्मणा मोहनीय रसना सर्वेन्द्रियेषु यथा ॥
ब्रह्मव्रत व्रतेष्वपि तथा भाव सर्वधर्मेषु ॥८॥

दोहा.

मोह प्रबल जिम कर्म मां रसना इन्द्रिय ज्योहि ॥
शील व्रतों मां श्रेष्ठ है भाव धर्म मां त्योहि ॥८॥

अन्वयार्थ—(जहा) जैसे (कम्माणं) अष्ट कर्मों में (मोहणिज्जो) मोहनीय कर्म प्रबल है (सव्वेसु) सर्व (इदिएसु) इन्द्रियों में (रसना) रसनेन्द्रिय प्रधान है और (वएसु) सर्व व्रतों में (वंभवयं) ब्रह्मचर्य व्रत उत्तम है (तह) उसी प्रकार (सव्वधम्मेषु) सर्व धर्मों में (भावो) भाव ही प्रधान है ।

भावार्थ—यथा ज्ञानावगणीयादि अष्टविध कर्मों में मोहनीय कर्म अत्यन्त प्रबल है, श्रोत्रेन्द्रियादि पचेन्द्रियों में रसनेन्द्रिय मुख्य है और ममस्त व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत उत्तम है उसी प्रकार सब धर्मों में भावधर्म ही परमादगणीय है । अर्थात् कर्मों में मोहनीय, इन्द्रियों में रसनेन्द्रिय, व्रतों में शीलव्रत और सर्व धर्मों में भावना न्य धर्म ही मुख्य है ।

ओग मे पंडित प्रवर श्री मौभाग्यमलजी महागज के कर-क्रमलों में सादर नमस्कर्त

भूष

निष्पुणो संशोभो पक्खगेण विणा न होइ जइ रंगो ॥
तइ दावसीमवमावणाभो महसाभो माव विणा ॥९॥

कथा

निष्पुणस्ताम्बूल प्रेक्षकेण विना न भवति प्या रंग ॥
तथा शान्तील्लपमावणा अपक्का माव विना ॥९॥

बोधा

भूने बिना ताम्बूल यथा द्यौक विना क्यो रंग ॥
दान हीछ तप धर्म पे माव विना हे संग ॥९॥

सम्भार्य- (अह) अने (निष्पुणो) भूने से रहित (संशोभो)
ताम्बूल [वाव] और (पक्खगेण) द्यौक (विणा) बिना (रंगो) सम्भ-
मूमि (मैं) नहीं (होइ) सोमिथ होती है (तइ) वही प्रकार (माव
विणा) पुनित मात्र शून्य (दावसीमवमावणाभो) दान हीछ, तप
धर्म मावना को भी (महसाभो) निष्कम ही जानना चाहिये ।

भाषार्य- अने भूने के बिना ताम्बूल और द्यौक बेलनी के बिना मात्र
दान हीमात्र नहीं होती व उमा प्रकार भावना छूट दान हीछ तप धर्म मात्र की
भी निष्क ही जानना चाहिये अर्थात् भावना के बिना बिना हुआ अनेक कार्य
निष्क ही ही जाता है तत्त्वता परिक्षिप्ति की बलगत नहीं होती है क्योंकि वर में
आत्मिक शक्ति का सर्वथा अभाव है

अनुवादक-दृष्ट की वर्मशान्ती म की म के वीरपुत्र विवस्वतः श्री म की

मूल.

मणि मंत ओसहीणं जंतय तंताण देवयाणं पि ॥
भावेण विणा सिद्धि न इ कस्स वि दीसई लोए ॥१०॥

छाया.

मणिमन्त्रौषधीना यत्ततत्राना देवानामपि ॥
भावेन विना सिद्धिर्न खलु कस्यापि दृश्यते लोके ॥१०॥

दोहा

मंत्र तंत्र औ जंत्र भी मणि औषध पर योग ॥
देव सिद्धि सब भाव पै भाव विना है रोग ॥१०॥

अन्वयार्थ— (लोए) इस लोक में (कस्स) किसी की (वि) भी (मणि) मणि (मंत) मन्त्र (ओसहीणं) औषधि (जंतय) यन्त्र (तंताण) तन्त्र और (देवयाण पि) देवोपासनादि की भी (सिद्धि) सिद्धि (भावेण) पुनीत भावना के (विणा) विना (न) नहीं (दीसई) देखी गई है ।

भावार्थ— समस्त विश्व में किसी भी व्यक्ति को मणि, मन्त्र, औषधोपचार, यंत्र, तंत्र और देवोपासनादि की सिद्धि भी पुनीत भावना के बिना दृष्टिगोचर नहीं हुई है । अर्थात् जगत में सम्पूर्ण कार्य भाव द्वारा ही सम्पन्न होते हैं । अतः भाव ही सर्वत्र प्रधान है ।

और से पंडित प्रवर श्री मौभाग्यमलजी महागज के कार्यक्रमों में मादर समर्पित

मूल.

सुहमावनावसेन पतिगर्भदो मुहुत्तमिसे नं ॥
स्वविह्वल कम्मगर्भि संपत्त केवलं नानं ॥११॥

छन्दः

सुहमावनावसेन प्रसन्नचन्द्रो मुहुत्तमिसे नं ॥
स्वविह्वल कर्मगर्भि संपात्तं केवलं ज्ञानम् ॥११॥

श्लोका

सुह मावना भावके अह कर्म कर नात् ॥
कुल क्षण मां जानी मये प्रसन्नचन्द्र मुनि कात् ॥११॥

अन्वयार्थ — (सुहमावनावसेन) सुह मावना के बलीभूत होने के ही (प्रसन्नचन्द्रो) प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने (मुहुत्तमिसे) मुहुत्तमान ने (कम्मगर्भि) महा अहकर्मगर्भि को (स्वविह्वल) हल करके (केवलं नानं) केवल ज्ञान को (ज्ञानम्) प्राप्त किया ।

भावार्थ — मित्र मावना के प्रकार से ही प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के जन्म के द्वारा माव ने अहकर्मगर्भि को विह्वल करके उच्च केन्दमान को प्राप्त किया । यह ही मावना का ही अद्वितीय प्रभाव है जिसके परिणामस्वरूप श्रीकृष्ण प्रसन्नचन्द्र राजर्षि द्वारा बुद्धिमान कर्मज्ञान का विनिर्मुक्त का ही ही अन्त जानी हुए ।

मूल.

भावेण भुवणनाह वंदेउं ददुदुरो वि सचलिओ ॥
मरिऊण अन्तराले नियनामको सुरो जाओ ॥१२॥

छाया.

भावेण भुवननाथ वदितु ददुरोऽपि संचलितः ॥
मृतुवान्तराले निजनामाक' सुरोजात' ॥१२॥

दोहा

ददुर पावन भाव ते प्रभुवन्दन को जाय ॥
काल प्राप्त पथ मां बना देवरूप भइ काय ॥१२॥

अन्वयार्थ — (भावेण) पुनीत भावनाओं से प्रेरित होकर (नदुदुरो वि) मेरेक भी (भुवणनाह) त्रिभुवननाथ वीर प्रभु को (वंदेउं) वन्दन करने के हेतु (सचलिओ) चला किन्तु (अन्तराले) मार्ग मध्य में ही (मरिऊण) मृत्यु प्राप्त कर वह (नियनामको) निजनामांकित (ददुरनामवाला) (सुरो) देव (जाओ) उत्पन्न हुआ ।

भाषार्थ — जानरिब विगुहभावना से प्रेरित होकर नन्दन मनिहार का जीव ददुर के भव में स्त्रिकोनाथ वीर प्रभुको वन्दन हेतु अपने निवानस्थान कूप में से निकलकर मार्ग में जा रहा था किन्तु मार्ग के मध्य में ही अश्व के पाद द्वारा मृत्यु प्राप्त कर शुभ भावना के प्रसंग से निज नामांकित ददुर नामवाले देवरूप से उत्पन्न हुआ ।

भोरसे पडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूत्र

मयवं ईश्वरपुत्रो गुरुण वसंसि जो समाकृष्टो ॥
ददृक्षुः मुनिवरिन्द सुहमावा केवली जायो ॥१३॥

अथा

भगवानिन्द्राविपुत्रो गुरौ वसे य समाकृष्ट ॥
ददृक्षुः मुनिवरिन्द सुहमावात् केवली जात, ॥१३॥

इति

विस्तृत कथाकथं ये प्रभु इत्यादि पुनः ॥
मुनिवर को कथ मावते इत्य कवली सूत्र ॥१३॥

भाष्यार्थ—(मयवं) भगवान् (ईश्वरपुत्रो) इन्द्राविपुत्र (जो)
जो कि (गुरुण) विद्याल (वसंसि) वासवर (समाकृष्टो) कवे हुए थे
(मुनिवरिन्द) मुनिवर (ददृक्षुः) दक्षिण (सुहमावा) सुह मा-
नाओं के प्रदात से (केवली) केवलजायी (जायो) होगये ।

भाष्यार्थ— कथाप्रस्तावक भगवान् (वागी) इत्यादि पुनः मुनिवर को कथ
का सहसा जातिस्मरण बाल प्राप्त किया और उपरोक्त विस्तृत कथाप्रदातों के कर्त्तव्य से
परिलक्ष्य केवलजायी को प्राप्त हुए । अर्थात् मन्त्र मन्त्रोक्त सिद्धि का उपाय इत्यादि बाल
ही है ज्ञानता से ही हम अपने बालमित्र केवल कथन सकते हैं ।

मूल.

हृत्थिमि समारूढा सिद्धिं ददृष्टुण उस्मभसामिस्स ॥
तत्खणं सुहज्जाणेण मरुदेवी सामिणी सिद्धा ॥१४॥

छाया

हस्तिनि समारूढा ऋद्धिं दृष्ट्वा ऋषभस्वामिनः ॥
तत्क्षण शुभध्यानेन मरुदेवी स्वामिनी सिद्धा ॥१४॥

दोहा

आदिनाथकी ऋद्धि लख गजारूढ मरुमात ॥
शुक्ल ध्यान ते त्वरित ही सिद्धशिला मां जात ॥१४॥

अन्वयार्थ — (हृत्थिमि) गजेन्द्रपर (समारूढा) चढ़ी हुई (मरुदेवी) मरुदेवी (सामिणी) स्वामिनी ने (उस्मभसामिस्स) ऋषभ स्वामीकी (रिद्धि) समृद्धि को (ददृष्टुण) देखकर (सुहज्जाणेण) शुभ ध्यान के बल से (तत्खणं) तत्क्षणही (सिद्धा) सिद्धपद प्राप्त किया ।

भावार्थ — हस्तीपर आरूढा मरुदेवी माताने ऋषभस्वामी की चारित्र्यमय अपूर्व तेजपुज रूप ऋद्धिको देखकर शुभध्यान के प्रभाव से तत्क्षण ही सिद्धपद प्राप्त किया । यद्यपि मरुदेवी हस्तीपर स्थित थी तथापि भावनाओं की परकाष्ठा से मोक्षगामी हुई यह सब पुनीत भावना का ही साहाय्य है ।

ओर मे पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करनमलों में मादर समर्पित

मूल

इय दानसीलतर्ब माधणाओ ओ कुणइ सत्तिमत्तिमारो
वेविद्विद्विमहिर्ष अईरं सो लइइ सिद्धीसुई ॥१५॥

अर्थ

इति दानसीलतपो माधनात् य करोति शक्तिभक्तिभार ॥
देवप्रवृत्तमहितमहिर्षे स लभते सिद्धिसुखम् ॥१५॥

वार्ता

भक्ति शक्ति तं जाकरे दान दीछ तप माध ॥
सुरगण पूजित सुखि की सिद्धि हेतु हो माव ॥१५॥

अर्थ—(इय) इत प्रकार (सत्ति) शक्ति एवं (मत्तिमारो)
भक्तिपुत्र इत्यपवाक्य (ओ) ओ पुरुष (माधणाओ) पवित्र माधना पूर्वक
(दानसीलतर्ब) दान दीछ एवं तप का (कुणइ) जाकर करता है (सो)
वह (अईरं) अतिरिक्त में ही (वेविद्विद्विमहिर्ष) सुरगण द्वारा
पूजित होकर (सिद्धीसुई) सिद्धिपुत्र को (लइइ) प्राप्त कर लेता है ।

वार्ता—माधना के अन्तर्लक्षणीय गुणों की जाकर की शक्ति एवं भक्ति
तत्त्व भक्ति सुश्रुतिक माधना से दान दीछ एवं तप का जाकर करना है वह
अतिरिक्त में ही सुखों से पूर्ण होकर अत्यन्त सिद्धिपुत्र की भोजना है ।

मूल.

भाव चिय परमत्थो भावो धम्मस्स साद्वओ भणिओ ॥
सम्मत्तस्स वि वीअं भावं चिय विति जगगुरुणो ॥ १६

छाया.

भावश्चैव परमार्थो भावो धर्मस्य साधको भणित ॥
सम्यक्त्वस्यापि वीजं भावश्चैवेति ब्रुवन्ति जगद्गुरवः ॥ १६ ॥

दोहा.

भाव धर्म साधक कहा परम अर्थ को कूल ॥
जगद्गुरु गुरुदेव सब कहते समकित मूल ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ — (भाव) भावना ही (चिय) निश्चय करके (परमत्थो) परमार्थ स्वरूप है (भावो) भाव ही (धम्मस्स) धर्म का (साद्वओ) साधक (भणिओ) कहा गया है तथा (जगगुरुणो) जगद्गुरु तीर्थंकर (वि) भी (भाव) भाव को ही । चिय) निश्चय पूर्वक (सम्मत्तस्स) सम्यक्त्व का (वीअं) मूलबीज (विति) कहते हैं ।

भावार्थ — वास्तव में भावना ही निश्चयार्थ परमाथ स्वरूप है । भाव ही धर्म का साधक कहा गया है । तांग जिनोबलाथ तीर्थंक्तो ने भी भाव को ही सम्यक्त्व का मूलमय-बीज माना है । तात्पर्य यह है कि भावना का महत्व अकथनीय है । उसी में नफला की कुजी भी विद्यमान है ।

ओग से पण्डित प्रवर श्री सोभाग्यमलजी मरागाज के कर-कसलों में सादर समर्पित

मूल

किं बहुना भाणिपूर्णं तत्त निष्पुणेह भो महासत्ता ! ॥
मोक्षसुहृदीभमूयो जीवानां सुहावहो भावा ॥१७॥

छाया

किं बहुना भाणितेन तत्त निष्पुण्यम् भो महासत्ता ॥
मोक्षसुहृदीभभूतो जीवानां सुहावहो भाव ॥१७॥

बोधा

बहुन कथन से काम क्या तब सुनो भो मय्य ॥
मोक्ष प्रदायक है करो नित्य तन्म कार्यम् ॥१७॥

अन्वयार्थ — (बहुना) मात्र के लक्षण में बहुत अधिक (भाणिपूर्णं) कथन काम से भी (किं) क्या काम है ? इसलिये (भो महासत्ता !) हे मय्य प्राणियो ! (तत्त) तत्त्विक बात को ही (निष्पुणेह) तुम सुनो ! (मोक्षसुहृदीभमूयो) जीवों के लिये (मोक्षसुहृदीभमूयो) मोक्षसुहृद में पून कारकभूत और (सुहावहो) सुखप्रदायक (भावा) भाव ही है ।

भावार्थ — भावना के लक्षण में बहुत अधिक कथन करने से भी क्या काम है ! लक्ष्य कुछ भी काम नहीं । इसलिये हे मय्य जीवो ! लक्ष्य की प्राप्ति पूरे बातों की म समझ केवल तात्त्विकार्थ का ही लक्षण क्या क्योंकि जीवों को मोक्षप्राप्त का अनुभव करने वाला भव ही है भावनामिथिल जन्म कोई लाभ नहीं कि जिनसे इन अनुभव पून का प्राप्त कर सकें ।

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म की से के बी पुत्र विनयचन्द्रजी म. श्री



* सज्जन. *

प्रवृत्ति मार्ग का निरोधक और प्रवृत्ति पथ का अनुगामी, कुत्सित पथ का निंदक एवं अभ्युदय पथ का अनुमोदक, तथा सद्क्रियान्वेषक और प्रवर्तक एवं असद्क्रिया विभेदक तथा निवर्तक ही सज्जन पद को विभूषित कर सकता है। सज्जन व्यक्ति अपनी प्रखर प्रतिभाद्वारा समीपवर्ती दूषित

जुगुप्सित एवं प्रतिकूल बातावरण को भी सहसा अनुकूल बना सकता है। उसकी सुमधुर, रुचिकर, सौजन्य-प्रसून सुरभि से निकटस्थ व्यक्ति ही सुरभित होते हैं अपि तु सुदूरवर्ती जन-मधुकर-निकर सरस मकरन्द पान हेतु सतत कालायित रहते हैं।

सज्जन नर सर्वदा स्वनिंदक व्यक्ति के भी गुण ग्राहक ही होते हैं। उनके निर्मल, निष्कलंक एवं पुनीत अन्तःकरण में निज कट्टर विरोधी के प्रती भी कलंक कालिमा नहीं रहती है। वे अनुपकारी तथा कृतघ्नी पुरुष पर भी उपकारमय सद्भावना ही रखते हैं। उनका एकान्त लक्ष्यगुणों की ओर रहने से चित्तवृत्ति में दूषित भावनाओंके अंकुरित होने की संभावना ही नहीं रहती है। इनका पारस्परिक में भी संबंध एवं प्रेम ग्रथिवंधन इतना दृढ होता है कि कठोर कुलिशके सहस्र दारुण प्रहारोंमें भी वह छिन्नाभिन्न नहीं हो सकता है। कदाचित् विकराल काल की कुटिलता से तथा किसी सविशेष कारण के उपस्थित होने से उस ग्रथिवंधन में शिथिलता एवं विभिन्नता आ भी जाय तथापि भिन्न कमलदण्डी की तबु राशिवत् किंचित् संबध तो अवश्य ही बना रहता है किंतु सर्वथा संबध विच्छेद नहीं हो जाता है।

सज्जन व्यक्ति सर्व अवस्थाओं में सप्रभावी ही रहते हैं। वे संपदावस्था में मत्तमान गजपर आरूढ नहीं होते हैं और विषदकाल में भी खिन्न एवं उदासीन नहीं बनते हैं। सज्जन नर स्ववचन निर्वाहक, निजप्रतिज्ञा पालक ही होते हैं उनको अपनी प्रतिज्ञा निर्वाह हेतु विकट पथमें नानाविध कंटक जालरूप कष्टानुभव भी करना पड़े तथापि वे वचनग्रथ कदापि नहीं हीते हैं। तात्पर्य यह है कि अखिल विश्व के सकल गुण गणाकर केवल सज्जन ही हैं। इसका विस्तृत वर्णन निम्न गाथाओं द्वारा जानना चाहिये—

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कण-कमलों में सादर समर्पित

✽ सञ्जनाधिकार ✽

मूत्र

भवयारपरे वि परे कुर्णति तवयारमुत्तमा नृणं ॥
सुरहेह पैदणदुमो, परसुमुहं छिन्नमामो वि ॥१॥

छाया

अपकारपरेऽपि परस्मिन्कुर्वन्त्युपकारमुत्तमा नृणाम् ॥
सुरमपाठि चक्षुमधुमः परसुमुहं छिन्नमामोऽपि ॥१॥

बोद्धा

नपकाटी मरिचुह पै सञ्जन करे अपकार ॥
कुन्हाटास सुरमित करे जानत पै हो बार ॥१॥

अन्वयार्थ — (भवयारपरे) अपकार करनेवाले उत्तर वाले हुए (वरे)
कत्र पर (वि) भी (उत्तमा) उत्तम मनुष्य को (नृणं) निम्न करने
(तवयार) उपचा ही (कुर्णति) करते हैं (छिन्नमामो) कट्टा खा
हुआ (वि) भी (तदणदुमो) पैर का दूध (परसुमुहं) कुन्हा के मुख
(अपमामो) ओं ठा (सुमहेह) सुनमित ॥ करता है ।

भाषार्थ — यथा छिन्नमाल चक्षुमधुम अपि निम्नी (छत्र) कुन्हा के मुख
मात्र को ही निम्न मनुष्य से उन्नत हो करता है अन्य अपकार करे ॥ उत्तम को
हुए कम निम्नी मरिचुह का भी सञ्जन कर ता उत्तरमण मायमा ही रहने है ।
नन्वे यह है कि सञ्जन नकि नपकाटी का अपकार ही करते हैं, किंतु कन्हे प्री
है अपाति नहीं करते हैं ।

अनुवाक-मूत्र भी भवेत्सञ्जना म ओ स. क वीरपुत्र निमपकट्टी म. की

मूल.

मिस्त्री परोवयारो, सुसीलया अज्जवं पियालवणं ॥
दक्खिण्णविणयचाया, सुयणाणं गुणा निसग्गेण ॥२॥

छाया

मैत्री परोपकारः सुशीलताऽऽर्जव प्रियाऽऽलपनम् ॥
दाक्षिण्यविनयत्यागा सुजनानां गुणा निमर्गेण ॥२॥

दोहा.

परहित मैत्री सुजनता ऋजुता मधुरालाप ॥
विनय त्याग नैपुण्य ते नैसर्गिक हो आप ॥२॥

अन्वयार्थः—(मिस्त्री) मित्रता (परोवयारो) परोपकार (सुसीलया) सदाचारवृत्ति (अज्जवं) सरलता (पियालवणं) प्रेमपूर्वक संभाषण करना (दक्खिण्ण) दक्षता (विणय) विनय और (चाया) त्यागवृत्ति (गुणा) उक्त सर्व गुण (सुयणाण) सज्जन मनुष्यों में (निसग्गेण) नैसर्गिक (प्राकृतिक) ही होते हैं ।

भावार्थ—मैत्री, परोपकार, सुशीलता, ऋजुता, (सरलता) प्रेमपूर्वक वार्तालाप करना (मिष्टभाषण करना) नैपुण्य (दाक्षिण्य चातुर्य) विनय और त्याग ये सर्व गुण सज्जन व्यक्तियों में नैसर्गिक ही होते हैं । क्योंकि सतत गुण-प्राप्तक दृष्टी होने से उनमें दोषोत्पत्ति अमभव है । अर्थात् सज्जन नर विश्व विश्रुतप्राय सकलगुण गणों से समन्वित होकर ही जगत् में जन्म लेता है । उसमें श्रेष्ठ (गन्ना, साठा) रस के मधुरत्व (मिठा-सपन) के समान जनक जननी-सत्कार-जानित सद्गुणोत्पत्ति भी स्वभावन ही हो जाती है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

उदयाम्बि वि अत्वमाने वि, परइ, रक्तसर्प, दिवसनाहो ।
रिद्धीसु भावईसु अ, तुल्यधिय पूर्ण, सप्पुरिसा ॥ ३ ॥

छाया

उदयेऽप्यस्तमानेऽपि धरति रक्तार्ध दिवान्नायः ।
अद्विधापत्तिषु च तुल्या एव नूनं सत्पुरया ॥ ३ ॥

दोहा

बाह्य तरणि की रश्मि ज्यों अस्ताखण की होय ।
सुख दुःख में ज्यों मुग्धन की एकदपता ओय ॥ ३ ॥

अन्वयाय— (दिवसनाहो) जैसे सूर्य (उदयाम्बि) उदय होने लग ही पूर्व (अत्रयमानेवि) अस्त होते हुए भी (रक्तसर्प), तबल तन्मिमा को ही (परइ) धारण करता है वही प्रकार (सप्पुरिसा) सज्जन मनुष्य भी (पूर्ण) विशय करके (रिद्धीसु) अन्वयप्राप्ति, पुण्य के समब (अ) और (भावईसु) आपत्ति के समय (तुल्यधिय) तबल चित्तवृत्ति बन्ने ही होते हैं ।

भावार्थ—जैसे सूर्यस्तमि पश्चात् दिवाकर अस्तमाना है तथा अस्तमान की ओर प्रकाश करते हुए तबलतबल ही भी तन्मिमा की धारण करता है वही प्रकार सर्व-रूप भी सत्ता एवं विषय में समस्तमाधाराक होती है । वे सत्पति में अधिनामी नहीं होते हैं और सत्पति में हीनगुणी भी नहीं होते हैं । सत्पति और सत्पति की, तबल तथा पुण्य को सिद्धि-सत्ताप्राप्ति एवं अधिनामीक जीवन बाद सत्पत्तक उगत वांछिपूर्वक सामना करते हैं । हीमा ही अस्तमाना में अधिनामी और अधिनामिन्-विहीन दोनों वही सत्ता का जीवन प्रेष है ।

अनुवादक—पुण्य भी अमरागामी न, वही ही के धीरपुत्र विनयचन्द्रजी म की

मूल.

परगुणग्रहणं छंदाणुवत्तणं, हिअमकक्कसं वयणं ।
निच्चं सदोसगहण, अमंतमूलं वसीकरण ॥ ४ ॥

छाया.

परगुणग्रहण छन्दोऽनुवर्तेन हितमकार्कश वचन ।
नित्य स्वदोषग्रहण ममन्त्रमूल वशीकरण ॥ ४ ॥

दोहा.

परगुण निज अवगुण लखे सत्पथ का आधार ।
कर्कशता तजि हितु यने वशीकरण को सार ॥ ४ ॥

अन्वाचार्य— (परगुणग्रहणं) परकीय गुणों का ग्रहण करना (छंदा-
णुवत्तणं) विचारपूर्वक प्रवृत्ति करना (हिअं) हितकारी एवं (अकक्कसं)
कठोरता रहित (वयणं) वचन कहना (निच्चं) नित्य (सदोसगहण)
स्वदोष-ग्रहण करना यह (अमंतमूल) विना मंत्र के ही मूल (वसीकरण)
वशीकरण मन्त्र है ।

भाचार्य = परगुणग्रहण, विचार पूर्वक सत्पथ प्रवृत्ति, हितकारी और अकार्कश्य
वचन, तथा सर्वदा स्वदोष ग्रहण यही अमन्त्र मूलवशीकरण मन्त्र है । अर्थात् मन्त्रादि
प्रयोगों के बिना अन्य मानव समुदाय को अपनी ओर आकर्षित कर वशीभूत करने का
उत्तम महामन्त्र अपने दोषों को देखना, दूसरों के गुण लेना, सब से प्रियालाप करना
और हमेशा मन्मागानुयायी होना ही है । विशेषता यह है कि मन्त्र शक्ति तो नष्ट
स्वभावी है किंतु गुण सर्वदा अविनश्यर ही है ।

ओरसे पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

छिज्जव सीसं भट्ठ होउ वन्धनं चयउ सम्बहा लम्पी ॥
पट्टिचपपाळने सुपुगिसाणं, ज होउ त होउ ॥१॥

छाया

छियतु क्षीर्पम्पवा भवतु वधन त्यजतु सर्वथा कम्मी ॥
प्रतिवन्धपाळने सुपुग्गणा पद् भवतु तत् भवतु ॥१॥

बोवा

कारागृह की याचना उत्तमांग का छेद ॥
थंजळ चपला छु छि दे वचनों में सहि मेद ॥१॥

अन्वयार्थ— (सुपुगिसाणं) सञ्जन वरों का (पट्टिचपपाळने)
निज प्रतिष्ठा (क्षीरदुत वधन) के पालने में बाधे (सीसं) मस्तक की
(छिज्जव) छेद विधा जाय (भट्ठ) भजवा (वन्धनं) बन्धन (चयउ)
नी (होउ) हो जाय और (लम्पी) कम्मी भी (सम्बहा) लम्प
(पट्टिचपपाळने) छेदकर कछो जाय (ज होउ) जो कुछ होना हो (त होउ)
वह सब हो जाय तथापि प्रतिष्ठा का दावा उक्त निषेध करते हैं।

भावार्थ—महात्म बुद्ध का कथित निबद्ध हेतु बाधे छीन नी छिज्जव
हो जाय कारागृह में बन्धन । सञ्जन करने पर और कम्मी की सर्वथा लम्प
त्याग कम्प ही जाय वधवा कनी की मज्झिमा ज्ञानात्त उवन्धिवा ही उवादी के प्रतिष्ठा
अ कापि नही रहती । अतः सञ्जन मनुष्य अपने वधवा के निराह और कल्पना
वत् । तत् प्रमत्तिव प्राणा की भी नालि कर वत् है उक्त छिजे प्राणों की लम्प
त्यज वधवा व महत् अधिक है

अनुवादक—पृथ्वी उमागाम्री व की १ क १ पुन विपयवत्तरी म की

मूल.

न हसति परं न युगंति, अप्पयं पियसयाडं च जंपंति ॥
एसो सुअणसहावो, नमो नमो ताण पुरिसाणं ॥६॥

छाया

न हसति परं न स्तुयन्ति आत्मानं प्रियजनानि च जल्पन्ति ॥
एष सुजनस्य भावो नमो नमस्तेभ्य पुरुषेभ्य ॥६॥

टीका

स्वस्तुति पर उपहास तज बोलन कोकिल येन ॥
सुजन गेह में नित रहे वन्दनीय ते जन ॥६॥

अन्वयार्थ—(एमो) यह (सुअणसहावो) सज्जनों का नैसर्गिक स्वभाव है कि वे (परं) द्रमरो को (न) नहीं (हसन्ति) हसते हैं (अप्पय) स्वतः ही अपनी (न) नहीं (युगंति) स्तुति करते हैं (च) और (पिय-सयाड) सदा सब के साथ सैकड़ों शब्दों से प्रिय (जंपंति) भाषण करते हैं (ताण) ऐसे स्वभाववाले उन सज्जन (पुरिसाण) पुरुषों को (नमोनमो) पुनः पुनः नमस्कार है ।

भावार्थ—इतर जनों का उपहास नहीं करना, स्वयमेव स्वगुण स्तुति नहीं करना एवं समस्त जन समुदाय में सर्वदा मित्र भाषण करना यही सज्जन पुरुषों का स्वभाव है ऐसे उत्तम स्वभाववाले गुणी जनों को मुहुर्मुहुः (बारबार) नमस्कार हो । सज्जन व्यक्ति परछिद्रान्वेषी कदापि नहीं होता है वह तो दुःगुणी में भी सतत गुणगणों का ही अवलोकन करता रहता है । यही उनकी मुख्य विशेषता का चोतक है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मुख

अमणता वि मज्झति, सुपुरिस्ता गुणगणेहिं निययहिं ।
किं बुद्धति मणीओ जाओ, सहस्सेहिं विप्पति ॥ ७ ॥

अथा

अमणतोऽपि ह्यप्यन्ते सुपुरुषा निजकैर्गुणगणै ।
किं नृपति मणयो यत् सहस्रैरुपमन्ते ॥ ७ ॥

बोद्धा

स्वानत तं नहिं भावतो मुच्छा गण मित्र मोछ ।
सज्जन की लीं सुज्जनता स्पामाधिक ही तोछ ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ - (सुपुरिस्ता) सज्जन मनुष्य (अमणता) निजगुण कबच न करत हुए (वि) भी (निययहिं) अपने (गुणगणेहिं) गुणगुण के द्वारा (मज्झति) कम बिचे आते हैं जैसे (जाओ) को (मणिओ) मणिओ (सहस्सेहिं) हजारों रूपों द्वारा (विप्पति) प्रमन की (करीही) जाती है तो (किं) क्या (बुद्धति) के निजगुण को करती है ।

भाषार्थ - उत्तम मानव परिचय बिचे सिता ही केवल वास्तविक मानविक गुणों से रहित नृपुंसक मनुष्य नहिं मान बिचे आते हैं । जैसे को मणिओ हजारों रुपयों द्वारा करीही जाती है तो क्या ने अपने गुण का महत्व मुझ से बोलकर प्रमन करती है ? भर्त्ता नहीं । किंतु कभी वैचारिक शक्ति बिधिली कबो कन्दिन कब वास्ति कम देती है । उत्तम यह दे कि मर्यादात्मक मानवता का कदापि नहीं करती है ।

अनुवादक - गुण की वसतागनी म की छ. के बीरगुण नियमक्यजी म की

मूल.

विहल जो अवलंबइ, आवडपडियं जो समुद्धरइ ।
 सरणागयं जो रक्खइ, तिसु तेसु अलंकिया पुहवी ॥८॥

छाया

विहल योऽवलम्बते आपत्ति पातित य. समुद्धरति ।
 शरणागत च रक्षति त्रिभिस्तरल्लुना पृथ्वी ॥ ८ ॥

दोहा

निराधार आधार हो शरणागत को घ्राण ।

विषट् निरापद ही करे भू भूषण भरु प्राण ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (विहल) विहल (दु गों में घबराये हुए)
 पुरुष को (अवलंबइ) अवलंबन देता है (च) और (जो) जो (आवड
 पडिय) आपत्ति में पड़े हुए का (समुद्धरइ) उद्धार करता है तथा (जो)
 जो (सरणागयं) शरणागत की (रक्खइ) रक्षा करता है (तिसु तेसु)
 इन तीनों प्रकार के पुरुषोंद्वारा (पुहवी) यह पृथ्वी (अलंकिया) अलंकृत
 (शोभिता) बनी हुई है ।

भाषार्थ—जो व्यक्ति निगवरम्भी के लिये आलम्बन स्वरूप होता है जो आप
 दाग्रसित को निरापद बनाता है और जो शरणागत को यथावत् सेवा शुश्रूषा एवं रक्षा
 करता है । तात्पर्य यह है कि उपरोक्त त्रिविध व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्य जितने भी
 मानवगण हैं उनका जीवन भूतलपर नितान्त भारत्वरूप ही है । सफल मानव जीवन
 तो केवल उक्त तीनों प्रकार के पुरुषोंका ही मानना चाहिये क्योंकि उनमें उपकारवृत्ति
 सविशेष मात्रा में विद्यमान है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सोभाग्यमलजी महागज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

जेण परो दुमिज्जइ, पाणिवहो जेण भणिएणं ॥
अप्पा पडइ किलेसे, न हु तं जंपन्ति गीयत्था ॥१०॥

छाया.

येन परो दूयते प्राणिवहो येन भणितेन ॥
आत्मा पताति क्लेशे न हि तज्जल्पन्ति गीतार्था ॥१०॥

दोहा

जा चाणी मानस दुखे होय जीव संहार ॥
स्वात्मा भी दुख सागरे कोविड् मुख न उच्चार ॥१०॥

अन्वयार्थ - (जेण) जिस वचन के कथन से (परो) दूसरा व्यक्ति (दुमिज्जइ) दुखी होता है तथा (जेण) जिस वाक्य के (भणिएणं) कहने से (पाणिवहो) प्राणियों का वय होता है और (अप्पा) स्वात्मा भी (किलेसे) क्लेश में (पडइ) पड़ती है (त) उस वचन को (गीयत्था) बहुश्रुती (गीतार्थ पुरुष शास्त्रज) (हु) निश्चय करके (न) कदापि नहीं (जंपन्ति) कहते हैं ।

भावार्थ - जिस भाषण से इतर जन दुखी होते हैं, और जिन वाक्य के कहने से प्राणियों का सहार होता है तथा निजात्मा भी क्लेशसागर में पड़कर कष्टानुभव करती है गीतार्थ शास्त्रज्ञ पुरुष ऐसे शब्दों का उच्चारण स्वप्न में भी नहीं करते हैं । उनके मुख से सर्वदा इतने नम्रतापूर्ण और मधुर शब्द ममूह निकलते हैं कि प्रत्येक सद्दृश्य व्यक्ति का कोमल अन्तःकरण सहसा त्रवीभूत हो जाता है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूल.

मम्मं न उल्लविज्जइ कस्सवि, आलं न दिज्जइ कयावि ।
कमवि न उक्कोसिज्जइ, सज्जनमग्गो इमो दुग्गो ॥ १२ ॥

छाया.

मर्मं न उल्लपेत् कस्यापि आलं न दद्यात् कदापि ।
कमपि नोत्क्रोपेत् सज्जनमार्गोऽयं दुर्ग ॥ १२ ॥

दोहा

असदारोपक मर्मयुत वाणी का संचार ।
तलिये इतर कुपीतपन ये दुष्कर ही धार ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ - (कस्सवि) जो किसी व्यक्ति के भी (मम्म) गुप्त रहस्य को (न) नहीं (उल्लविज्जइ) प्रकट करे [खोले] (कयावि) कदापि (आलं) मिथ्या आरोप [झूठा कलक] (न) नहीं (दिज्जइ) देवे तथा [कमवि] किसी को भी (न उक्कोसिज्जइ) क्रोधित या अपमानित नहीं करते इस प्रकार [इमो] यह [सज्जनमग्गो] श्रेष्ठ पुरुषों का मार्ग [दुग्गो] अति कठिन है ।

भावार्थ - किसी भी व्यक्ति के गुप्त रहस्य [रहस्य पूर्ण बात] को नहीं प्रकट करना, किसी के सिरपर मिथ्या टोपागेना नहीं करना और कदापि किसी के मन में कयाय भाव नहीं उत्पन्न करना इस प्रकार का उत्तम पुरुषों का आचरणीय आचरण वास्तव में दुरुक्तणीय ही है । जीवन पथ को अभ्युदय की ओर ले जाने वाले ये ही साधन मुख्य माने गये हैं । इनका सन्यगाचरण ही क्रमिक आत्मविकास है ।

ओर से पहित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर्म-क्रमलों में सादर समर्पित

मूम

जलहिविभघदिएण वि, निवासिजमइ हरसिरमि चंदेण ॥
अत्यगया तत्यगया, गुणिणो सीसेण बुद्धमंसि ॥१३॥

अथा

जलधविभघदितेनापि निवत्स्यते हरसिरसि चन्द्रण ॥
यत्रगतास्तत्रगता गुणिन शीर्णेण उच्यन्ते (भार्यस्त) ॥१३॥

बोद्धा

वारिधि के लक्ष्य से शिथ सिर यशिका आम ॥
गमन करे अह सुअन मर यदनीय ही मान ॥१३॥

अन्वयार्थ— (जलहिविभघदिएण) पानी से गुच्छ हो जाकर
वि) भी (चंदेण) ससि (चंद्रमा) द्वारा ता (हरसिरमि) महारंज के
नेरप हो (निघसिजमइ) निवास किया जाता है क्योंकि (गुणिणा)
गुणी गुण (अत्यगया तत्यगया) जो कही जान है वही व (सीसेण)
सेरप ही (बुद्धमंसि) प्राप्त किया जाने है । (उच्यते जान है)

भाषार्थ अथा । वि म गुच्छ होने पर भी दम्बीपति (पति) से ता गुच्छ के
नीचे बहने पर ही निवस किया जाता है क्योंकि गुणावन जिस स्थान पर परान्न करने
है वहां ही । नीचे व व वन जान है अर्थात् गुणिना में वह नसमिक
प्रतिमा विधमा । वि से विमन से नीचे पार प्राप्त करते हैं । गुणी कही के
गुण ही कि ॥ १३ ॥ १३ है अतः ॥ १३ ॥ अथ आपुनिक वर मरिच जीव
अथन पुनी । १३३ ॥ १३३ ॥

अनुवादक पुरा नी ॥ १३ ॥ १३ ॥ के नीचे पति निवसपुत्री म वी

मूल.

नियगरूपभावपससेण, लज्जति जे महासत्ता ॥
इयरा पुण अलियपसंसणेण, वि अंगे न मायंति ॥१४॥

छाया.

निजगुरुकप्रभावप्रशसनेनापि लज्जते ये महासत्त्वा ॥
इतरे पुनरलीकशसनेनापि अङ्गे न मान्ति ॥१४॥

दोहा

सुजन सुनी स्तुति वस्तुन और नम्र हो जात ॥
अनुरूप निज गुण सुनी मूढ होय मदमात ॥१४॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (महासत्ता) महात्मा पुरुष होते हैं वे
नियगरूपभावपसंसेण) अपने गौरव के प्रभाव की प्रशंसा से (लज्जं-
ति) लजित हो जाते हैं (पुण) किंतु (इयरा) इतर जन (दुर्जन) तो
(अलीयपसंसणेण) अपनी अमन्य स्तुतिमें भी (अंगे) शरीर में (न)
नहीं (मायंति) समाते हैं ।
(

भावार्थ—सज्जन व्यक्ति तो निज वास्तविक प्रशंसा को सुनकर भी अधोमुख
कर देते हैं किंतु दुर्जन न स्वकीय अथवा गौरव को सुनकर अत्यभिमान से फूल कर
कुपे हो जाते हैं । अर्थात् दुजन अलीक प्रशंसा से भी अभिमानी हो जाते हैं किंतु
सज्जन यथार्थ गुणगारिमांसे भी अभिमानी नहीं होते हैं ।

ओरसे पठित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी मद्भागन के कर-कमलों में मादर समर्पित

मूल

गरुयावराहिनं पिदु अणुकपटीह जे महासत्ता ।
तद्धा जे महासत्ता तहि चिय भूसिया धरिणी ॥ १५ ॥

छाया

गुरुकापराधिनमपि हि अनुकम्पन्ते ये महासत्ता ।
तस्माद्ये महासत्तास्तैरेव भूमिना धरिणी ॥ १५ ॥

बोधा

अपराधी गरु ये ह्या सत्ताव बरकी होय ।
धरणी को भूयज यही जाते भूमित ओय ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—[इह] इस संसार में [जे] जो [महासत्ता] महा
पुरुष हैं वे [गरुया वराहिनोपि] महापराधी पर भी [हु] विभज करके
[अणुकपति] अनुकम्पा [ह्या] ही करते हैं (तद्धा) इस कारण से (जे)
जो (महासत्ता) सत्ता अनुग्रह हैं (तेहि) वहाँसे (चिय) विभज्य
(धरिणी) यह भूमि (भूसिया) विभूषित करी हुई है ।

भावार्थ—सम्भन बन समझती होने से महासत्ताधीश्वर भी विभज्य रहा इति
ही बोध है इस कारण ऐसे सम्भनों से वह धरिणीवैपी विभूषिता करी हुई है ।
तत्पर्य यह है कि मनुष्योंवैपी की सीमा सत्ताधीश्वर की है ।

अनुवादक पूज्य श्री रामदासजी म की से के वीरपुत्र विभवचन्द्रजी म की

मूल.

अभिधानमभणंतो वि य होइ पयडो गुणोहिं सत्पुरिसो ।
छिन्नो वि चंदनतरु किं न कहिज्जइ परिमलेण ॥ १६ ॥

छाया

अभिधानमभणन्नपि च भवति प्रकटो गुणैः सत्पुरुष ।
छिन्नोऽपि चंदनतरु किन्न कथ्यते परिमलेन ॥ १६ ॥

टोहा.

मलयागिरि सुत सुरमितो स्वाभिधान कहि देत ।
सज्जन की ल्यो सुजनता बिना हेत को खेत ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ —(सत्पुरिसो) सज्जन व्यक्ति (अभिधान) अपना नाम (अभणंतो वि) नहीं बताता हुआ भी (गुणोहिं) निजगुणों के द्वारा [पयडो] प्रकट [होइ] हो ही जाता है जैसे [छिन्नो] काटा हुआ [वि] भी [चन्दनतरु] चंदन वृक्ष [किं] क्या [परिमलेण] सुगंध द्वारा [न] नहीं (कहिज्जइ) कहा जाता है ^१ पहिचाना जाता है ?

भावार्थ —महात्मापुरुष अपना परिचयादि दिये बिना ही स्वकीय श्रेष्ठ गुणों के द्वारा स्वतः प्रकट हो जाते हैं, जैसे छेदा हुआ चन्दन द्रुम क्या स्वसुगंध द्वारा “चन्दन” इस अभिधान [नाम] से नहीं कहा जाता है ? अर्थात् कटा हुआ भी चन्दन तरु एकमात्र उसके परिमल गुणमे पहिचान लिया जाता है । तात्पर्य यह है कि सज्जनों की पहिचान उनके गुणों द्वारा ही हो जाती है ।

और मे पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलनी महाराज के कृपामलों से सादर समर्पित.

मूल

सेत्ना चलोते पश्ये मज्जायं सायरा वि मल्लंति ॥
 गुयना तदिं पि काले पटिपन्न नेव सिद्धिंति ॥१७॥

छाया

सौम्यव्यसति प्रकये मर्यानां सागरा अपि मुंचन्ति ॥
 गुञ्जनास्तस्मिन्नापि काले प्रनिपन्नं नैव निधिष्यन्ति ॥१७॥

बोद्धा

प्रकय प्रमेज्जन ते जहा मूधर जावे मेद ॥
 पारिधि छाडे सीम को सुज्जन बाधय तदिं जेद ॥१७॥

अन्वयार्थ—(प्रकये) प्रकय काक में (सेत्ना) पलत भी (मल्लंति)
 विचरित्व हां जाते हैं और (सायरा) सागर (समुद्र) भी (मज्जायं)
 अपनी मपादा को (वि) भी (मेलुति) छोड़ देते हैं किन्तु (तदिं पि
 काले) एक समय में भी (गुयना) सञ्जन जब (पटिपन्नं) स्वपतिव
 को हट दिख्य को (नैव सिद्धिंति) धिक्कि नहीं करते हैं ।

भावार्थ—मन्य काल में प्रबन्ध भाव से निश्चय वृत्त भी निश्चित होकर
 जोर धबाव एवं गंभीरतापि भी अपनी मर्यादा की सीमा से तत्प्रापि निम्न निम्नता में
 प्रसित मज्जन कर तो निज हृदय प्रतीका से कदापि विचित्र नहीं होते हैं । अन्वय
 अन्वय के सकल मज्जीक एवं मर्यादित पदार्थ सब ही निज २ लक्षण का परिचय करे
 किन्तु मज्जन नर निज कार्य निम्न नहीं हो सकती है ।

अनुवाक—पुरुष की धर्मवाचसी म की ध के वीरपुत्र विचयचन्द्रजी व. की

मूक.

फरुसं न भणसि भणिओ हससि हसिऊण जंपसि पियाइं ।
सज्जण ! तुह सहावो न याणिमो कस्स सारिच्छो ॥ १८ ॥

छाया

परुषं न भणसि भणिनो हससि हसित्वा जल्पसि प्रियाणि ।
सज्जन ! तव स्वभावो न जानीमः केन सदृशः ॥ १८ ॥

दोहा.

मूढ करे उपहास पिण कटुवाणी को डोड ।
माखे कोकिळ कांकली उपमा को नहिं ठोड ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ:- (सज्जण !) हे सज्जन तू (फरुसं) कठोर वचन (न) नहीं (भणसि) बोलता है (भणिओ) दूसरों से कठोर वचन कहे जाने पर भी (हससि) तू हंसता ही रहता है और (हसिऊण) हंसकर ही (पियाइ) मधुर वचन (जंपसि) कहता है, इसलिये (तुह) तेरा (सहावो) स्वभाव (कस्स) किसके (सारिच्छो) सदृश है । (यह हम) (न) नहीं (याणिमो) जान सकते हैं ।

भावार्थ - हे सज्जन ! तेरा सज्जन स्वभाव किसके तुल्य है इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं अर्थात् अनुमान द्वारा भी तेरा स्वभाव अनुमेय नहीं है क्योंकि अन्य व्यक्तियों द्वारा पण्य (कठोर) वचनोंसे कहा जाता हुआ भी पुनः कटुक शब्दों द्वारा प्रत्युत्तर नहीं देता है और दूसरों के मर्मभेदी वचनों पर भी हसताही रहता है इसलिये तेरा स्वभाव अशेष नितान्त निचित्र ही है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री मौमाग्यमलनी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

ने पन्ना साण नमो ते गरुया माणिओ धिरारम्मा ।
जे गरुयसमणपरिपल्लिया वि अस्स न पम्पति ॥१९॥

छाया

ने पन्पासोम्पो नमस्ते गुरवो मानिनो स्थिरम्मा ।
ये गुरुक्क प्पसम परिपीडिन्ना अपि अम्हं न प्रार्थयन्ति ॥ १९ ॥

बोद्धा

कसेद्याम्बित ये मानवा नहीं पाचना जाव
मात्र गौरवी जण्य वह बन्धनीय है पाव ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—(जे) जो व्यक्ति (गरुयसमणपरिपल्लिया)
महान् बुद्धान्निष्ठ होनेपर (वि) भी (अथ) वृत्तों से (न) नहीं (पत्थति)
पाचना करते है (ते) वे (जन्ना) बन्ध हैं (ताव) उनके (अमो)
बन्धकार हो (ते) वे ही (गरुया) गौरवहीन (माणिओ) स्वाभिमानी
और (धिरारम्मा) धीर्यादि प्रवृत्त रहित हैं ।

भावार्थ—जो महात्मा बुद्ध विषय विपश्चितों से प्रसिद्ध होने पर भी
अपने सामर्थ्यहीन पुत्रों के लक्ष्य पाचना हेतु दास नहीं बनाते है वे स्वयं है
समस्तबन्धीय है और वे ही गौरवहीन स्वाभिमानी तथा जन्ममयि प्रवृत्त रहित हैं
जबकि विपुलतापिनी से प्रसिद्ध होने पर भी सज्जनजन कैवल्य प्राप्त करने कष्टसे पाचना
नहीं करते है ।

मङ्गलार्थ—पूज्य श्री परमहंसजी व श्री से के वीरपुत्र विनयकण्ठजी म श्री

मूल.

तुग चिय होइ मणो मणसिणो अतिमासु वि दिसासु
अत्थन्तस्स वि रविणो किरणा उद्ध चिय फुरान्ति ॥ २० ॥

छाया.

तुङ्गमेव भवति मनो मनस्विनोऽन्तिमासु अपि दिशासु ।
अस्तमानस्यापि रवेः किरणा ऊर्ध्वमेव स्फुरन्ति ॥ २० ॥

दोहा.

चरम काल रविरश्मियां उर्ध्व ओर देखाय ।
ता सम सज्जन मानहुद सरोरुह विकसाय ॥ २० ॥

अन्वयार्थ - (मणंसिणो) मनस्वियों का (मतिमानों का)
(मणो) मन (चिय) निश्चय करके (अतिमासु) अन्तिम (दिसासु)
दिशामें (जीवनावसानकाल एवं दरिद्रावस्था में भी (तुंग) अत्युदार (ऊँचा)
ही (होइ) होता है, जैसे (अत्थन्तस्स) अस्तगत (रविणो) सूर्य की
(किरणा) रश्मियां (किरणें) (चिय) निश्चय ही (उद्धं) उर्ध्वता की
ओर (फुरान्ति) स्फुरायमान होती हैं ।

भावार्थ - जैसे अस्तगत सूर्य की रश्मियां सबथा उर्ध्वताकी ओर ही स्फुरि-
त होती हैं तथैव मनस्वी पुरुषों का मन अन्तिम दशा (दरिद्रावस्था) में भी उदार ही
बना रहता है । किन्तु मलीन और सकुचित वृत्तिका नहीं हो सकती है क्योंकि सज्जन
नर तो सब अवस्थाओं में समान मनवाले ही होते हैं ।

और से पंडित प्रवर श्री मौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

सातुङ्गो मेरुगिरि मयरहरो ताव होइ बुधारो ।
ता विसमा कञ्जगई आब न भीरा पवञ्जन्ति ॥ २१ ॥

छाया

सातुङ्गो मेरुगिरिर्मकरगृहं तावद् भवति बुधारम् ।
तावद् विसमा कान्तगन्तियात्मन भीरा प्राप्यन्ते ॥

श्लोका

मत्तमेदि भूधरपती इस्तर आब समुद्र ।
बुधर दुर्लभ तब तमक निश्चय करे न मद्र ॥

संक्षेपार्थ—(घीरा) नीर पुत्र (आब) अकटक कर्म में (म)
मही (पवञ्जन्ति) प्रवृत्ति करने हैं (ताव) तबतक ही (मेरुगिरी) मेरु-
पर्वत (तुङ्गा) निश्चय प्रवीत होता है (ता) तबतक ही (मयरहरो)
महासागर (बुधारो) बुधर (होइ) बात होता है (ता) तबतक ही
(कञ्जगई) कर्मगति भी (विसमा) विषम (बुधर) माध्यम होती है ।

भाषार्थ—जब तक भीरु बल सिद्धी कर्म के लिये प्रवृत्ति नहीं करते हैं
तभी तक वह कर्मवति निमग्न प्रतीत होती है । मेरुगिरि और महासागर भी तबतक ही
असुख एवं दुःख का कारण होता है तबतक दुर्लभ कर प्रवृत्ति न की हो । कर्म में
प्रवृत्ति करने पर दुःख भी नष्ट, दुर्लभ भी सुख्य और सुखान्न भी सुखान्न हो जाता
है निमग्न कर्मवति भी मग्न हो जाती है ।

अनुवादक—पूज्य श्री जगन्नाथजी म श्री ८ के श्रीगुरु विनयचक्रजी म श्री

मूल.

मेरुतिणं व सगगो घरगणं हृत्थच्छित्तं गयणयलं ।
वाहलियाइ समुद्रा साहसवंताण पुरिसाण ॥ २२ ॥

छाया.

मेरुस्तृणमिव स्वर्गो गृहाङ्गण हस्ताक्षितं गगनतल ।
वाहलिया समुद्रा साहसवता पुरुषाणाम् ॥

दोहा.

हिमगिरि तृणवतनभसही, करतलवस्तुसमान ।
अमरपुरी घर आगता धीर वीरको भान ॥

अन्वयार्थ—(साहसवताण) साहसी (पुरिसाण) मनुष्यों के लिये (मेरु) मेरुपर्वत (तिण) तृणके (व) समान हैं (सगगो) स्वर्ग (घरंगण) घरके आगन के समान समीपस्थ ही है और (गयणयलं) गगन (आकाश) तल (हृत्थच्छित्त) हाथकी हथेलीपर रखे हुए के समान है और (समुद्रा) समुद्र (वाहलियाइ) क्षुद्र नदीवत् है ।

भावार्थ.—साहसी पुरुषों के अदम्य साहसोत्साहके प्रभावसे विशाल मेरु-गिरि भी तृण सम क्षुद्र, स्वर्ग गृहाङ्गणवत् समीपवर्ता, गगनतल हस्तक्षिप्त द्रव्य सम स्वाधीन और विशाल काय समुद्रक्षुद्र सरितावत् होजाता है तात्पर्य यह है कि सज्जनों के साहस द्वारा असमव कार्य भी समव प्रतीत होता है ।

१ कुल्या—क्षुद्रनदी

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

जोइकखो गिछइ तम तं बिष उगिछइ कज्जममिसेणं
अइवा सुइसहावा हियय कसुस न धारोन्ति ॥२३॥

छाया

ज्योतिष्को गिर्यति तमस्तदेवोत्पुगिच्छति कज्जममिसेण ।
अथवा सुइ स्वभावा इवय कसुप न धारयन्ति ॥ २३ ॥

बोझा

तमनायी बीपकाशिवा उगछे एक कछेक ।
कसुप रहिन तासम सुअन निर्मल छीछ निशक ॥२३॥

अन्वयार्थ — (जोइकखो) प्रतीप (तमं) अथकार को (गिछइ) गिरा देता है (मस केता है) और (तं) उसी तम को (बिष) निबन पृथक (कज्जममिसेणं) कामक के काम से (उगिछइ) पुनः उभर देता है (अइवा) अथवा (कयोकि) (सुइ स्वभावा) निर्मल स्वभाववाले व्यक्ति (हियय) अपन हृदय में (कसुस) कसुप्य (कसिमा) को (न) नहीं (धारोन्ति) धारण करत है ।

भावार्थ — महीन अथकार को निराल जाता है और कसी निर्गन्ध तम व्यक्ति पुनः कामक के मिलते उभर जाता है क्योंकि निर्मल स्वभाववाले व्यक्तियों की वह नेत्रात्मक प्रकृति ही होती है कि वे अपने पवित्र अन्तःकरण में कसिमा (कसुप्य प्रान) को धारण किये हुए नहीं रहते हैं क्योंकि यदि कसिमा को धारण देने से निर्मल हृदय के सजीव होने की सम्भवा रहती ।

अनुवादक—पुण्य श्री वर्मवास्तवी म की छ के वीरपुत्र विनयकरजी म की

मूल.

निंदा कारिजणस्सवि दोसग्गाही न सज्जणो कयावि
कुण्ड सुयंथं वासिं तच्छिज्जन्तो वि मलयरुहो । २४।

छाया.

निन्दाकारि जनस्यापि दोषग्राही न सज्जन. कदापि ।
करोति सुगंध वासिं तच्छिद्यमानोऽपि मलयरुह ॥ २४ ॥

दोहा

निर्मल मानस नित करे, बिछेपी उपकार ।
चानन करे कुठार को, चाहे छंदे छार ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ - (सज्जणो) सज्जन जन (कयावि) कदापि
(निन्दाकारिजणस्सवि) निन्दक व्यक्ति के भी (दोसग्गाही) दोषग्राही
(न) नहीं होते हैं जैसे (तच्छिज्जन्तो वि) कुठार से छेदा जाता हुआ भी
(मलयरुहो) चन्दनतरु (वासिं) कुठार को तो (सुयंथं) सुरभित ही
(कुण्ड) करता है ।

भावार्थ - सज्जन मनुष्य स्वनिन्दक व्यक्ति के भी दोषग्राहक कदापि नहीं
होते हैं प्रत्युत सर्वदा ही गुण ग्राहक ही रहते हैं जैसे कुठारादि प्रहारद्वारा छेदा जाता
हुआ भी चन्दनतरु कुठाराग्रभागको तो सुरभित ही करता है वह स्वसहारक कुठार शत्रु
की और लक्ष्य न देकर केवल निज स्वाभाविक गुण को ही अभिमुख रखकर उसे सुग-
धित करता है । अर्थात् सज्जन अपने शत्रुवर्गिक गुणों को ही ग्रहण करते हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूल

पर महिमा जजणीसमा मन्त्रा धीरो तर्ज व परद्वयं ।
 लोगस्त निययकाञ्च अहिय परिपालणुगुप्तो ॥ २५ ॥

अर्थ

परमहिम्न जननीसमा मन्त्रते धीरस्तृणमिव परद्वयम् ।
 लोकास्त निययकात्म्यधिक परिपालनोपुक्त ॥

बोद्धा

परहाट माता सरित पर धन धूम समान ।
 दिवस अस्त प्रति पाळना हीन हीन को ध्यान ॥

अन्वयार्थ—(धीरा) धीर नर (पर महिमा) वृत्त की की
 को (जजणीसमा) माता के समान और (परद्वयं) परद्वय (धन)
 को (तर्ज) तृण (व) वृत्त (मन्त्रा) मानता है तथा (निययकाञ्च)
 अपने समस्त के (अहिये) अधिकार अस्त में (लोगस्त) सत्ता के हीन
 जीवों की (परिपालण) परिपालना में ही (गुप्तो) जन्मबोध
 रहता है ।

भावार्थ—धीर पुत्र परमात्मा को जन्मोत्पन्न और नर इन्हीं पुत्र
 पुत्र मानते हैं तथा अपने समस्त अधिकार अस्त सत्ता के हीन हीन जीवों की परि
 पालना में ही व्यतीत करते हैं क्योंकि सत्ता में मात्र मान्य एवं प्रति नम्र रहती
 है कि नर हमारे द्वारा परीक्षित ही उत्पन्न होते हैं । यदि पुत्र भी उत्पन्न नहीं हुआ
 तो पुत्र अस्त अस्त केवली भवता है ।

अनुवाद—पुत्र धी धर्मपुत्री म की ही के वीरपुत्र निययकाञ्च म की

मूल.

सत्पुरिसाच्चिय वसण सहन्ति गरुय पि साहसेक्करसा ।
धरणिच्चिय सहइ जण वज्जनिवाय न उण तन्त् ॥ २६ ॥

छाया.

सत्पुरुषा एव व्यसन सहन्ते गुरुकमपि साहसैकरसा ।
धरण्येव सहते जगति वज्रनिपात न पुनस्तन्तु ॥

दोहा

वसहनीय दुःख आपदा सहन करे धर्मान ।
पृथ्वी अशनि प्रहारको सहन तन्तु जान ॥

अन्वयार्थ.—(सत्पुरिस) सत्पुरुष ही (चिय) निश्चय करके (साहसेक्करसा) अपने एक साहस बलसे (गरुय) महान् (वसणं) दुःखों को (पि) भी (सहन्ति) सहन करते हैं (जैसे) (जण) इस जगत् में (धरणिच्चिय) पृथ्वी ही निश्चय पूर्वक (वज्जनिवाय) वज्र के प्रहार को (सहइ) सहन कर सकती है (उण) किंतु (तन्त्) क्षुद्रतंतु (धागा) (न) नहीं सहन कर सकता है ।

भावार्थ—जैसे वज्रके दारुण प्रहार की विषम वेदना के सहन करने का सामर्थ्य केवल भूतल में ही है किन्तु क्षुद्र ततुराशि में वह दृढ सदृष्टि शक्ति नहीं है तथैव मज्जन जनही निज साहस बलसे महान् दुर्गोंको सहन कर सकते हैं किन्तु दुर्गों में यह सामर्थ्य नहीं रहता है ।

और से पंडित प्रवर श्री मौमाग्यनलजी मदागज के ककमलों में सादर समर्पित

मूक

धन्नाते वरपुरिसा ज प्चिय मोक्षूण नियय जुषईओ ।
पव्वइया कयनियमा सिबमयस मणुत्तरं पत्ता ॥२७॥

अथ

धम्मास्ते वर पुरुषा ये सहु मुक्त्वा निजपुषती ।
प्रव्रजिता कृतनियमा सिबमचत्थमनुत्तरं प्राप्ता ॥ २७ ॥

बोद्धा

धम्मइहीछते आर्येणर कनक कयमिनी संह ।
धिय सुक बोद्धा ज्ञानके सुजचार को मांड ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(ओ) ओ आर्य नर (निबयसुईओ) स्वपत्नि-
यां को (मोक्षूण) छोड़कर (पव्वइया) प्रव्रजित हुए हैं (कयनियमा)
निबमादि प्रतिबद्ध हो गये हैं तथा (अयस) अथवा (त्विर वत्तवत्)
(मणुत्तरं) अनुपम (सिब) धम्मावच्छरी मोक्षपथ को (पत्ता) प्राप्त
हुए हैं (ते) व (पुरिसा) उत्तम महापुरुष (निबय) निबवही (धम्मा)
धम्म हैं ।

भावार्थ—जिन धर्म ग्रन्थ मानवीने जिन बलिषीं वर पतिव्रतकर पतिव्रतधर्मी
पत्न्या का छरण गृहण कर लिया है तथा स्वकीय (अपने स्वकीय) में प्रतिबद्ध को
हुए हैं एवं हुन (अस्मिरता रचित) अनुपम भौतिकधर्मोपपन्न को क्षुण्य को है
वेही दुस्कोपम-मानव कीर्ति कयवत्त के पात्र हैं ।

अनुवादक—पूज्य श्री चर्मदासजी म की ४ के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी म की

❀ दुर्जन ❀



दाचार विध्वंसक तथा दुराचार प्रवर्तक सत्पथ विमोचक एवं असत्यपथ धारक मत्क्रिया विभेदक तथा असत्क्रिया न्वेपक, दुर्गुण गण परिवेष्टित मानव ही दुर्जन पद को प्राप्त करता है। दुर्जन जनके सहवास से सुज जन भी अज्ञताको, मित्रवर्ग भी रिपुताको, मृदुल स्वभावी भी

कठोरताको एवं निकलंक भी कलक काल्मिाको प्राप्त होता है। दुर्जन व्यक्ति स्वकीय दूषित प्रज्ञाके कारण सभ्य समुदाय के सद्व्यवहारको भी दुर्व्यवहारमें परिणत कर देता है। साथ ही अपने परम पावन जीवन प्रवाहको अपावन बना देता है। एतदर्थ दुष्ट जन द्विपद धारक होनेपर भी चतुष्पदोंकी श्रेणिसे भी पतित समझा जाता है। दुर्जन जनोका सहवास सत्पुरुषोंके हेतु अपवादोत्पादक एवं संकल्प विकल्प का कारणभूत होता है। यथा ताम्र भाजनान्तर्गत दुग्ध का एव वक समुदाय में मराल का अवाछनीय व अशुद्ध माना जाता है तथैव दुर्जन मडली में सत्पुरुषों का निवास भी विश्व की दृष्टि में संशयजनक समझा जाता है कहामी है कि 'काजर की कोठरी में कैसे हू सयानो जाय काजर की एक रेख लाग पर लागे है'

शास्त्र विशारदोंके कथनानुसार शतपद (शान खजूरा) को कर्णान्तर्गत प्रवेश कर देना उत्तम है भुजंग के मुखान्तर्गत अंगुलिपात कर देना उचित है पचानन के मुखग्र में प्रवेश हो जाना श्रेष्ठ है, सागर में निमज्जित हो पंचत्व को प्राप्त होना सुदरतर है प्रज्वलित बन्दिशिखा में जीवन लीला समाप्त कर देना श्रेष्ठतर है किंतु खलजन सगति कदापि सौख्यप्रद नहीं है। अन्य जीवराशियोंके तो एकागी विष रहता है किंतु दुर्जन जनो के तो सर्वांग में विष व्याप्त रहता है यथा वृश्चिक पुच्छान्तर्गत मक्षिका के उत्तमांग में विषधरके दंतान्तर्गत विष रहता है किंतु " सर्वांगे दुर्जनो विषम् " दुर्जन के तो सर्वांग में विष व्याप्त रहता है।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

दुर्जन जब उपकारियोंके प्रति भी अपकार करनेमें लक्ष्मी जीवन्मय प्रेम समझते हैं। वहाँ तक कि तिनको कुछ पशुपत्ने पर भी मरण पूर्वक वरकछायाँ लीज कर रहते हैं। अतः दुर्जन जब आश्रयवातात्मियोंको पक्ष पक्ष पर कष्टमु-
ग्ध करवाता है यथा भुजंगको पक्ष पक्ष करवाना गरुडोत्पत्ति का कारण होता है तथैव दुर्जनों के प्रति कृत उपकारोंका क्षण भी अपक्षप्रतिसे पूर्ण होता है
संक्षेपमें मत्मात्मी मित्रमात्मी स्वसनी अनुवमात्मी हस्तमात्मी एवं कैटक वरालम्बित
दुर्जन जब ही इस पृथ्वी पर मातृमृत कहे हैं। इसका विशेष निरूपण विम्व
मन्त्रात्मों द्वारा प्राप्त करना चाहिये।

मूढ.

रजति जाव कज्ज कयकज्जा दुज्जणव्व दुमति ।
जे ते कारिमनेहा हा हा धी निग्घिणा पुरिसा ॥ १ ॥

छाया.

रञ्जयति यावत्कार्यं कृतकार्या दुर्जना इव दुन्वन्ति ।
ये ते कृत्रिम स्नेहा हा हा विकृ निर्घृणा पुरुषा ॥१॥

दोहा.

काज होत तक मुदित मन अरिसम तत्पश्चात् ।
स्नेह दृष्टि नित काम सर विककृत त नरजात ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(जाव) जबतक (कज्ज) कार्य है तबतक ही (रंजति) प्रसन्न बने हुए रहते है और (कयकज्जा) कार्य के पूर्ण हो जाने पर (दुज्जणव्व) दुर्जन व्यक्ति की तरह (दुमति) दुख देने लग जाते हैं इस प्रकार (कारिमनेहा) कार्य प्रयोजन से कृत्रीम स्नेह रखने वाले (जे) जो (निग्घिणा) निर्दयी (निष्ठुर) पुरिसा) पुरुष हैं (ते) उनको (हा हा) अरे अरे (धी) पुन पुन धिक्कार है ।

भाषार्थ—जो मनुष्य निजस्वार्थ हेतु ही प्रसन्न चित्त बने हुए रहते हैं और निज स्वार्थ की पूर्ति होजाने पर दुर्जन सम दूषित मन वाले होकर दुख देने लगते हैं इस प्रकार कार्यवशात् कृत्रिम स्नेह रखनेवाले उन निर्दयी एवं निष्ठुर दुर्जन व्यक्तियों को कोटिश भार धिक्कार है । तात्पर्य यह है कि दुर्जन व्यक्ति की प्रसन्नता एवं प्रेम भावना स्वार्थवश कार्य पूर्ण प्रयोजन हेतु ही होती है उसका अन्तःकरण तो सर्वदा निष्ठुरता और माया जालसे ही भरा हुआ रहता है ।

ओरसे पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल.

अलमेव विच्छुआण मुहमेव अहीणं तदय मंदस्स ।
दिट्ठिविय पिसुणाणं सव्वं सव्वस्स भयजणयं ॥ ५ ॥

छाया

अलमेव वृश्चिकानाम् मुखमेवाहीना तथाच मदस्य ।
दृष्टिद्विकं पिशुनाना सर्व सर्वस्य भयजनकम् ॥ ५ ॥

दोहा.

अहिमुख वृश्चिकहंकभौ मूढ दृष्टि द्विक त्रास ।
पिशुनों का सर्वस्व ही भरे मीति को प्रास ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(विच्छुआणं) विच्छुओं के हंक (य) और (अहीणं) सर्पों के (मुहं) मुख (तह) तथा (मदस्य) मन्द-मूढ अज्ञानी पुरुष की (दिट्ठिवियं) दृष्टियुगल (एव) ही (अलमेव) पर्याप्त है किंतु (पिसुणाणं) पिशुनों का तो (सव्वं) सर्वस्वही (सव्वस्स) सब के लिये (भयजणयं) भयोत्पादक है ।

भावार्थ—इस ससार में वृश्चिकों (विच्छुओं) का डक सर्पोंका विष व्याप्त वदन तथा मूढ (अज्ञ) प्राणियों का युगल दृष्टिबिम्बही केवल अन्तःकरण में भयोत्पादक है किंतु पिशुन पुरुषों का तो सर्वस्व ही सर्व जन समुदाय के लिये भयावह है तात्पर्य यह है कि उपरोक्त सकल विकराल जीवों का तो प्रकारांग ही भयजनक है किंतु दुष्टों के तो सम्पूर्ण अवयव ही सर्वदा भयकारी हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

संडीकभो वि पञ्जाहिभो वि चुण्णीकभो वि चुण्णख
जिहाफलंविभो विहु भणेइ दाहं भहो ! पिसुणो ॥ ४ ॥

छाया

सण्डीहोऽपि प्रमथितोऽपि चूर्णीकृतोऽपि चूर्ण मित्र ।
निहाफलंविभोऽपि वि बनयति दाहं भहो ! पिसुन ॥ ४ ॥

बोधा

दुर्गेन जनको ब्रह्म कर रैय बहि से ताप ।
रसना छेड़ी चूर्ण करे जने ताप को ताप ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(संडीकभो) दुर्गे मनुष्य को पीछे १ कर देने पर (वि) भी (पञ्जाहिभो) अग्निमे जीवित बसा दिया जाने पर (वि) भी (चुण्णं) चुन (माह) के (इह) समान (चुण्णीकभो) चूर्ण कर दिया जाने पर (वि) भी भोग (जिहाफलंविभो) निहाल्ली फल-प्रदेक के छेद रिय जाने पर (वि) भी (हु) निधनपुत्रक (भहो) भरे (पिसुणो) वह पिसुप-दुग्ध व्यक्तितो (दाहं) तापको ही (भणेइ) उत्पन्न करता है ।

भाषाया—दुर्गेन का भी निजालको के सन्निह होयने का भी प्रयत्नित बहिजाता में मसीकृत होयने का भी चूर्णन चूरित किया जाने का भी और रसनाय जासको चम्पल होला करने का भी चुन चुन दाह (ताप सेनाप) का ही उत्पन्न है । भर्ता भीतर बर्ष निधन भाषदाता में चम्पल होयने का भी दुर्गेन जल्दी दुर्गेनताय बदिलता कराति नहीं करने ॥ कर्हि होयने ही उत्पन्न हैक संप्रत्यय होली है ।

अनुवाद—दुर्गेन भी धमदातामी य ही के वीरपुत्र विगयचन्द्रमी न की

मूल.

अलमेव विच्छुआण मुहमेव अहीणं तहय मंदस्स ।
दिट्ठिविय पिसुणाणं सव्वं सव्वस्स भयजणयं ॥ ५ ॥

छाया

अलमेव वृश्चिकानाम् मुखमेवाहीना तथाच मदस्य ।
दृष्टिद्विकं पिशुनाना सर्वं सर्वस्य भयजनकम् ॥ ५ ॥

दोहा.

अहिमुख वृश्चिकडंकऔ मूढ दृष्टि द्विक त्रास ।
पिशुनों का सर्वस्व ही भरे भीति को त्रास ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ — (विच्छुआणं) विच्छुओं के डंक (य) और (अहीणं) सर्पों के (मुहं) मुख (तह) तथा (मदस्य) मन्द-मूढ अज्ञानी पुरुष की (दिट्ठिवियं) दृष्टियुगल (एव) ही (अलमेव) पर्याप्त है किंतु (पिसुणाणं) पिशुनों का तो (सव्वं) सर्वस्वही (सव्वस्स') सब के लिये (भयजणयं) भयोत्पादक है ।

भावार्थ — इस ससार में वृश्चिकों (विच्छुओं) का डंक सर्पोंका विष व्याप्त वदन तथा मूढ (अज्ञ) प्राणियों का युगल दृष्टिबिम्बही केवल अन्तःकरण में भयोत्पादक है किंतु पिशुन पुरुषों का तो सर्वस्व ही सर्व-जन समुदाय के लिये भयावह है तात्पर्य यह है कि उपरोक्त सकल विकराल जीवों का तो एकांग ही भयजनक है किंतु दुष्टों के तो सम्पूर्ण अवयव ही सर्वदा भयकारी हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूळ

सक सञ्जगार्थ होसा गुणा य को वन्निर्गं तरइ कोए ॥
नइ नवरं नागराओ होई जीहा सहस्सेई ॥ ६ ॥

छाया

सकसञ्जनपोदोयान् गुणाव को वर्णयितुं तरति स्मेके ॥
वदि नवरं नागरानो हाम्पां निष्ठासहस्राम्पां ॥

व्रीह

बोधपूर्व दुर्गेत मनुष्य अरु सञ्जान गुण रक्त ॥
सहस्र कवी ताको बिरद कहनेमें नहि पाछ ॥

भावार्थ - (कोए) इस अन्तरमें (सक) दुर्गेत बहुष्य के (होसा) बोधोन्म (य) और (सञ्जगार्थ) समझोके (गुणा) गुणोन्मा (वन्निर्गं) वर्णन करनेमें (को) कौन (तरइ) समर्थ हो सकता है [पर पाहुंन सकता है] (नइ) यदि (नवरं) केवल (नागराओ) स्वयं बाल-पाछ-सहस्रनाम भी (हो जीहासहस्सेई) अपनी ही इतना निष्ठाओंसे हुए बोधका वर्णन करे तथापि (न) नहीं पार पा सकता है ।

भावार्थ:- नकिम निम्नो कीन सञ्जोकी गुणरहितता और दुर्गेतके हीन-हृदयका समुल्लास करनी समर्थ है ? यदि स्वयं व्यापारिणि देव मान भी अपनी ही इतना निष्ठाओंसे करके गुणोन्मोन्म समझ करे तथापि वह पार नहीं पा सकता है तत्पर्य यह है कि वह निष्ठासे तो गुणोन्मोन्म वर्णन हीना अर्थात् है ही किन्तु ही इतना निष्ठाओंसे भी नहीं पार पा सकता है ।

अनुवाक-दुर्गेत की वर्णनावली य की सं. के वीरपुत्र विराटपुत्रजी म. की

मूल.

गुणिणो गुणेहि विहवे हि विहविणो होन्तु गव्विया नाम ॥
दोसेहि नवरि गव्वो खलाण मग्गो च्चिय अउव्वो ॥७

छाया.

गुणिनोगुणैर्विभवैर्विभविनो भवन्तु गर्विता नाम ॥
दोषैर्नवरि गर्वो खलाना मार्ग एवापूर्वः ॥

टोहा.

गुणगण को करे गर्व गुणी धनपति धन को गर्व ॥
दुर्जन घट नित शल्य को ताको गर्व अपूर्व ॥

अन्वयार्थ - (गुणिणो) गुणी जन (गुणेहि) गुणोंसे और (विहविणो) ऐश्वर्यशाली (विहवेहि) धनसे (नाम) भले ही (गव्विया) गर्वित (होन्तु) होवें किंतु (खलाणं) दुर्जनोंका (मग्गो) मार्ग तो (च्चिय) निश्चय करके (अउव्वो) अपूर्व ही है जो कि (दोसेहि) दोषोंसे ही (नवरि) केवल (गव्वो) मिथ्याभिमान को धारण करते हैं ।

भावार्थ - गुणीजन चाहे स्वगुणोंके माहात्म्यसे एव वैभवशील चाहे निज ऐश्वर्यके प्रसादसे गर्वित होवें यह शुक्ति सगत है किंतु केवल स्वकीय दोष समूहसे ही गर्व (दर्प) धारण करना ऐसा खलोंका मार्ग तो अतीव विचित्र एव अपूर्व है । तात्पर्य यह है कि मनुष्य यदि निज गुणातिशयसे गर्व करता है तो वह निंदनीय नहीं कहा जा सकता है किंतु गुणविहीन दुर्जनका गर्व तो निवान्त वचनीयताको ही प्राप्त करता है और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलो में सादर समर्पित

मूल

अयचिय बहुसाहो जीविज्झइ सो म्मसाण मच्छमि ।
साहो सो न इसिज्झइ मुयग परिवेडिण वसने ॥ ८ ॥

छाया

अयमेव बहुकामो नीम्यते य सज्जनो मम्ये ।
कामोऽप्यो न इक्ष्यते मुक्ता परिवेष्टिते वस्त्रे ॥ ८ ॥

बोद्धा

अरण्य युगल बेधित नहीं ता सम दुर्जन संग ।
तो पन यदि जीवितव्यता पुण्य किन्हे पहुँचग ॥ ८ ॥

सम्प्रसार्य—(ओ) ओ व्यक्ति (अच्छाज) दुर्जन मनुष्यों के (मच्छमि) मध्य में सहवास में रहने पर भी (जीविज्झइ) जीवित क्या रहता है उसके लिये (अये) जीवित बने रह्य्य रही (चिय) निबन्ध करके (बहुसाहो) बड़ा भारी जीवन व्यय है जिस प्रकार कि (मुयग परिवेडिण) मुक्तों से परिवेष्टित—लपेटे हुए (वसने) युगल वस्त्रों के होने पर भी (ओ) ओ (नइसिज्झइ) सर्वहारा नहीं बसा जाता है (साहो) उस को महान् जीवन लाभ है ।

साधारण्य—जब बरबर मुक्तों से वेष्टित वस्त्र हुएव्यक्त व्यक्ति का मान्य होता रहित न होकर जीवित बना रहना वह महान् पुण्यवत्त का हेतु रूप है उनके दुर्जन के सहवासात् होने पर भी मान्य का विशेषकर पूर्ण निष्कलंक बना रहना वह पूर्ण मणित रूप का ही प्रमाण है । वास्तव्य यह है कि दुर्जन कावत्सरण में रहते हुए भी जो प्रतिकूल वधापुनारी नहीं होता है उसी पुण्यने संसर्ग में अवस्थित काम [जीवन साधन] प्राप्त किया है ।

अनुपाद—पुण्य भी धर्मशास्त्रों में की री के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी व की

मूल.

मलिणा कुटिलगइओ परछिदरया य भीसणा डसणा ।
पयपाणेण वि लालयन्तस्स मारंति दोजीहा ॥ ९ ॥

छाया.

मलिनाः कुटिलगतय परछिद्रताश्च भीषणा दशना ।
पय पानेनापि लालयतो मारयन्ति द्विजिह्वा ॥ ९ ॥

दोहा

कृष्णवर्णि भरुवक्र गति इतर विवर पै दृष्टि ।
पाले अहि पाय पान दे होय मौत की वृष्टि ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ — (मलिणा) मलीन [कृष्णवर्णी] (कुटिल गइ-ओ) वक्रगति वाले (परछिदरया) दूसरों के छिद्रों में ही तत्पर बने हुए (भीसणा) भयकर (य) और (डसणा) डसने वाले ऐसे (दोजीह्वा) सर्प रूपी दुष्टनर (पय पाणेण) दुग्धपान द्वारा (लालयन्तस्स) लालन पालन करने वाले व्यक्तियों को (वि) भी (मारंति) मार डालते हैं ।

भावार्थ — मलीन, कृष्णवर्णी, कुटिलगतिवाले, परछिद्रान्वेपी, भीषण एव डसने वाले द्विजिह्वारूपी दुष्ट मानव दुग्धपान द्वारा यथावत लालन पालन किये जाते हुए भी अनिष्ट जनक ही होते हैं । जैसे सर्प मलीन वक्रगतिवाला विलगवेपक भयकर एव डसने वाला होता है तथैव दुर्जन भी मलीन चित्तवृत्ति वाला कपटी परदोषान्वेपी भयकर एव मर्मभेदी होता है तथा दुग्धपान कराने के समान प्रेमपूर्वक लालित पालित होने पर भी विषसम दारुण परिणामी ही होता है नात्ययं यह है कि सर्प और दुर्जन में सर्वत्र समानता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

धिद्री ताज नराणं जे परमणीय रुचमितेज ॥

सुदिया हनेति सख्यं कुसुनस सग्मापवगग सुह ॥ १० ॥

अथा

धिक् धिक् तेषां नराणां ये परमणीनां सम्पत्ति ॥

सुमिता अस्ति तर्हि कुसुमस्य स्वर्गागर्ग सुखम् ॥

बोद्धा

परम सुन्दरी कामिनी धनिके हो भासत ॥

ते कुछ वर्य अपवर्ग सुख नाश करे यह व्यक्त ॥

अन्वयार्थ - (ओ) जो पुरुष (परमणीय) परमारियों के (रुचमितेज) केवल उपमायके अवलोकनसे हैं (सुदिया) सुमित [वैभव वित्त] हो जाले है (ताज) उन (नराणं) मनुष्यों को (धिद्री) विचार है और यं ही (कुसुनससग्मापवगगसुह) जिस कुल वर्य स्वयं एवं मोक्षके सुखादि (सख्यं) सख्य (हनेति) नाश करते है ।

भाषार्थ - जो हूँ मनुष्य करीब सौंदर्यहीन व्यक्तियों के सम्मानमें अवलोकन करके ही कथातक हो जाले हैं उनकी अनेक विचार है क्योंकि धनिक वित्त कुलमें भासत हीन यं पुत्र वर जिस कुल वर्य यह स्वयं एवं अवलोकन अपर सुखादि धनमें ही निहित कर जाले है जत जनताके प्रति धृति भावना रखना सर्वथा अनुपपन्न है ।

अनुवादक - दृष्ट भी धर्मदासजी म श्री श्री के श्रीगुरु विनयधर्मजी म. श्री

मूल.

अहवा सहावओ च्चिय दोसग्ग हणम्मि वावडमणस्स ॥
अब्भत्थणासएहिं वि न खलस्स खलत्तणं गलइ ॥११॥

छाया.

अथवा स्वभावादेव दोषग्रहणे व्यावृत्तमनसः ॥
अभ्यर्थना शतैरपि न खलस्य खल्व गलति ॥

बोहा.

नीच न त्यागे नीचता चाहे हो सत्संग ॥
किरमिजी में जो सनगया कभी न छोड़े रंग ॥

अन्वयार्थः— (अहवा) अथवा (सहावओ) स्वभाव से ही (च्चिय) निश्चय करके (दोसग्गहणम्मि) दोष ग्रहण करनेमें (वावडमणस्स) लगा हुआ है मन जिसका (खलस्स) ऐसे दुर्जन की (अब्भत्थणा सएहिं) सैकड़ों प्रकारसे प्रार्थना करने पर भी (खलत्तणं) उसकी दुर्जनता (न) नहीं (गलइ) नष्ट हो सकती है ।

भावार्थ — जिस मनुष्यका मन सर्वत्र पर पुरुषके छिद्र (दोष) गवेषणमें ही लगा हुआ है ऐसे दुष्ट मनुजकी शतविधि अभ्यर्थना एवं स्तुति की जानेपर भी उसकी दुर्जनता मुजनताका रूप धारण नहीं कर सकती है अर्थात् परदोष गवेषक दुर्जन नाना-विध सदुपदेशों सत्कारों और मन्मानों द्वारा भी निज प्रकृतिका पारित्याग नहीं कर सकता है ।

ओरसे पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूक

कुटिष्ठत्वं न वृक्षद परच्छिद गवेषमो य कोभीहो ।
पत्तिज्जंतो वि क्वभीहि दुष्कणो सप्य सारिण्यो ॥ १२ ॥

छाया

कुटिष्ठत्वं नोच्छति परच्छिदगवेषकस्य विमिष्टा ।
प्रार्थयमानोऽपि कविभिर्दुर्जन सर्व सद्यः ॥ १२ ॥

बोद्धा

कुटिष्ठत्वेपी यदि नहीं त्यागे कौटिष्ठ्य भंग ।
कवि प्रार्थित दुर्जन ममूक तबे नहीं निज डंग ॥ १२ ॥

अन्ववायै—(परच्छिदगवेषमो) कैसे दूसरे के छिद्र की मर
बना करके वामा (कोभीहो) सर्व (कुटिष्ठत्वं) अपनी कुटिष्ठता को
(न) नहीं (वृक्षद) जोर सकता है उसी प्रकार (क्वभीहि) कवियों के
द्वारा (पत्तिज्जंतो वि) प्रार्थना—स्विकृति की आने पर भी (दुष्कणो) दुर्जन
को (सप्य सारिण्यो) सर्वत्र ही कुटिष्ठ बना रहता है ।

आचार्य—जब परच्छिद गवेषक सर्व कदापि अपनी कुटिष्ठता सर्व कदापि
छा परित्याग नहीं कर सकता है उसी प्रकार कविनीति द्वारा अत्यन्त प्रार्थना किया
बादे पर भी दुर्जन नर अपने बक सब दुर्जनता पूर्ण लम्बावही अविच्छेद ननु तथा अन्य
न्यायों नहीं धारण कर सकता है अपनी किसी भी उपायसे दुर्जन अपनी कुटिष्ठता नहीं
छोड़ सकते हैं ।

अनुवाक—पूज्य भी परमेश्वरी म की स के वीरपुत्र विजयकन्धरी म की

मूल.

दुज्जण सहाए पंडिय निम्मल कव्वंपि लहइ न पइठ ।
जलविन्दुव्व सुतत्ते आयस भाणम्मि पक्खितो ॥ १३ ॥

छाया

दुर्जन सभायाम् पतित निर्मल काव्यमपि लभते न प्रतिष्ठाम् ।
जलविन्दुरिव सुतप्ते आयसभाजने प्राक्षिप्तः ॥ १३ ॥

दोहा

तप्त लोहके पात्र में जलक्षण दशा विचार ।
निर्मल कविका काव्य भी दुर्जन सभा मझार ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(सुतत्ते) सुतप्प (आयसभाणम्मि) लोहे के
वर्तन में (पक्खितो) डाले हुए (जलविन्दुव्व) जलबिंदु के समान
(दुज्जणसहाए) दुर्जनों की सभा में (पंडियं) पड़ा हुआ (निम्मलकव्व
पि) निर्मल काव्य भी (पइठं) प्रतिष्ठा को (न) नहीं (लहइ) पाता है ।

भावार्थ—यथा अनल ज्वाला से सुतप्त लोह भाजन पर प्राक्षिप्त (डाला
हुआ) जलविन्दु तत्क्षण ही विलीन होजाता है तथैव दुर्जन गोष्ठिमें गया हुआ निर्मल
काव्य (साहित्य) भी प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकता है क्योंकि उनको सदसद् साहित्य
की ही परीक्षा नहीं है तथा उनका लक्ष्य बिन्दु एकान्त दोष की ओर होने से वे उसमें
दोषान्वेषण ही करते रहते हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूल

आसज्ज दुक्खेण कविमणस्स अकमत्थणा तमो विइसा ।।
न ह सक्कर रसासित्तो वि चयइ कट्टयसार्थ निम्बो ॥१४

छाया

आसाध्य दुर्जन कविजनस्याभ्यर्पणा ततो विफल ॥
न हि शर्करारसासित्तोऽपि क्षयति कट्टय निम्ब ॥

बोद्धः

कवि करि छठ को छव्य भी ऐसे रसाम्भित गाथ ।
निम्ब सिद्ध रस शर्करा छठ कहबापव साथ ।

अन्वयार्थ— (निम्बो) जैसे निम्ब छठ (सक्कररसासित्तो)
शक्कर आदि मिष्ठ रससे छीना जानेपर भी (कट्टयसार्थ) कट्टय [कवेक] को (न) नहीं (चयइ) छोड़ सकता है (तमो) वही प्रकार (दुक्खेण) दुर्जनको (आसज्ज) अन्वये रखकर (कविजणस्स) कविजनों द्वारा (अकमत्थणा) उनकी प्रार्थना या निवेदन करना भी (विइसा) विफल है ।

भावार्थ— जैसे निम्ब छठ शर्करादि मिष्ठ रसोंसे छीना जाने पर भी निम्ब कट्टयकण्य परिचला करापि नहीं कर सकता है क्योंकि कट्टयका ही वस्तुत्व स्थैर्यनिष्ठ धर्म एवं स्वभाव है उसी प्रकार कविजनों द्वारा दुर्जनकी सृष्टि की धामा भी निष्फल ही है अतएव जैसे निम्बकी छर्करादिरसे छीनना व्यर्थ है उसी प्रकार दुर्जनकी प्रार्थना भी व्यर्थ है क्योंकि वे अपने वैयर्थ्यिक धर्मको सदायः जानते हैं वही वही नहीं मान सकते हैं

अनुवादक—पूज्य श्री धर्महस्ताजी म की सं के बीरपुत्र विनयचन्द्रजी म की

मूल.

अन्न च तस्म कीरइ पढम चिय पत्थणा खल जणस्स ॥
वीहेइ कविजणो जओ मूसओ इव विरालत्तो ॥ १५ ॥

छाया

अन्यच्च तस्य क्रियते प्रथममेव प्रार्थना खलजनस्य ॥
त्रिभेति कविजनो यत मूपक इव त्रिडालात् ॥

दोहा

मूपिक जहा विलाव ते कवि भय शठ ते जान ॥
विघ्न भीति को टारने करे प्रार्थना ध्यान ॥

अन्वयार्थ - (अन्नं च) और भी सुनिये कि (तस्स) उस
(खलजणस्स) दुष्ट व्यक्तिकी (चिय) निश्चय पूर्वक (पढम) सर्व प्रथम
(पत्थणा) स्तुति (कीरइ) की जाती है (जओ) क्योंकि (मूसओ)
मूपक [चूहे] के (इव) समान (कविजणो) कवि लोग भी (विरालत्तो)
दुर्जनरूपी विडाल [मार्जार] में (वीहेइ) भयभीत रहते हैं ।

भावार्थ - यथा मूपिक (चूहे) को सनत विलावका भय बना रहता है
उसी प्रकार सज्जनगण भी सर्वदा दुर्जनोंसे भयभीत रहते हैं इसी हेतु कविजन सर्व प्रथम
दुर्जनोंकी प्रार्थना कर लिया करते हैं जिससे उनके द्वारा कोश बाधा उपस्थित न की जा
सके अर्थात् सज्जोंके पूर्व दुर्जनोंकी प्रार्थना करनेका उद्देश्य यही है कि वे किसी सत्कार्य
में विव्धभूत न बने ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

✽ विषय विकार ✽

कार्णार्थं ह्यर्थं दृष्ट्वा विरक्षा मनुष्याः



पाक फलमाद्यधिक भुज्जहायी, शुष्कत्वं वर्जितभुज्जहायी भवती
विषयसम भयावह एवै बभिरत्वायी विषय विकार है ।
विषयसक्त पुरुष भी अंतर, प्राज्ञ भी अज्ञ सुप्त
सुमी मोहोन्मत्त बन जात है । तथा पुनः-पुनः जन्ममर्त्यों के
नयन के कलाश से प्रहरीत होते रहते हैं । अन्त दुर्गुण

बाह्य व्यक्ति पूर्वापर की बदलाओं का निष्कलुषतत्वात्मा का, स्वजन व्यक्ती का,
एवं मित्रगुण समूह का किंचित् भी स्मरण न करके त्वरित ही अपने आत्मविकार
को दूर कर्मोद्धार को बैठता है ।

वया मनुष्य कर्मकृत्य में ही आसक्त बना रहता है तबैव सत्तायी अन्धा
सहस एवं लक्षितान् कुमरवत् विषयप्रतिमपि विषयवत् पुरुषपुरुष बहिर्लक्ष्यो के
वैयुक्त में ही फँसा रहता है । वह यमकेन प्रचरेत् स्थिति कारीरिक बन्धक ईश्वर
एवं अप्राप्त्य वरजन्म की कदापि संकल्पता प्राप्त नहीं कर सकता है कर्मजन्म
पुरुष ईश्वरता हुआ भी अन्धा सुनता हुआ भी बभिर एवं भीषित भी मृतप्रज्ज
समसा जाता है ।

विद्वान् अमटी जन अहर्निश आर्त्तिक श्वावत्कीर्त्तनायन में ही सम्यक् पतत
है । बाह्य ही एतदर्थ के अपने कर्मानुष्ठान ईश्वरोपसृता, उत्तंगति एवं मम
मर्त्या का भी उपेक्षा कर महिमा प्रीति में अपने जीवन के कर्मवर्तुषो
स्थापित कर रहते हैं । मरमत्तजन निरंतर त्याग तप सेवा तथा आत्मोन्नति से
पृथक् ही रहते हैं । अत ऐसा जब तापवर्चक विषय विकार अर्थात् अनात्म
वीर्य भक्षणीय कर्म हरएक नर पुंषयो के अन्ते विषयपरित्याग है ।

प्रस्तुत विषय पर धर्मिष्ठ कर्मन निम्नमात नावान्त्रो ह्यत उक्त
करमा बाह्ये ।

अनुवाक—पुरुष भी कर्मवर्त्तायी व की व के वीरपुत्र विनयवन्त्रजी म की

मूल.

विसया विसं व विसमा विसया विसानरव्व दाहकरा ।
विसय पिसाय विसहर वाघाणसमा मरण हेऊ ॥ १ ॥

छाया.

विषया विषमिव विषमा विषय वैश्वानर इव दाह करा ।
विषया पिशाचविषधरव्याघ्रैः समा मरण हेतु ॥ १ ॥

दोहा.

विषवत् विषय विकार ये, बन्हि तापसम जान ।
विषधर व्याघ्र पिशाचसी होय मृत्यु की खान ॥ १ ॥

अन्वयार्थ— (विसया) विषयभोग (विसं) विषके (व) समान (विसमा) भयंकर विषम हैं (विसया) विषय (विसानरव्व) अभिवत् (दाहकरा) दाहको करनेवाला है और (विसय) विषय (पिसाय) पिशाच (विसहर) विषधर [सर्प] एवं (वाघाणसमा) व्याघ्रके समान (मरण-हेऊ) मृत्युका हेतुमूत है ।

भावार्थ— विषय विकार विषवत् कटुक एवं दारुण फलदायक हैं विषय प्रज्वलित अग्निवत् दाहोत्पादक हैं और विषय ही पिशाच सर्प एवं व्याघ्रके समान मृत्युके हेतुमूत हैं अर्थात् सांसारिक समस्त अनिष्टकी खान विषय ही हैं ।

मूढ

मुग्धमे मज्जामि सावय विसयसुहृद दारुणं मुजेऊण ॥
 चवस्ततदिबिस्ससियं पिय मणुयसं भगुरं तइय ॥ २ ॥

अर्थ

ते हे मज्जामि भ्रातृक ! विषयसुखं दारुणं मत्वा ॥
 चपलतद्विद्विस्सितमिव मनुष्यत्वं भगुरं तया च ॥

वार्ता

भ्रातृकवर ! ये विषय मुक्त चपल तद्विस्सिता ज्ञान ॥
 मानवीय जीवन मयिद दारुण दुःखकी ज्ञान ॥

साम्बन्धार्थ— (सावथा) हे भ्रातृको ! (विसयसुहृदं) विषय-
 सुखको (दारुणं) मरण-दारुण (मुजेऊणं) जान करके (मुग्धमे) मुग्ध
 लोकोको (मज्जामि) मैं कहता हूँ कि यह (चवस्ततदिबिस्ससियं) चपल
 विषयके प्रकाश सम बतल है (तइय) तब (मणुयसं) मानवीय जीवन
 (पिय) मी (भगुरं) सुगमगुर है ।

सावथा—हे भ्रातृको तब लोकोको मरण-दारुण ही है मुग्धमे कहत
 है कि यह विषय मुक्त चपल चपलके प्रकाश सम समिक है तथा मानवीय जीवन भी
 चपल-जैसी है ऐसा ज्ञान-ज्ञान सतत विस्मय-मय लक्षण बनता जाविये । क्योंकि इसी
 वाक्यमें हम जानिये मनुष्य मानसिक गति-गतिमें पतित-मय करता है ।

मूल.

सुयणसमागमसोक्खं चवलं जोव्वणं पिय असारं ॥
सोक्खनिहाणमि सया धम्मंमि मइं दढं कुणसु ॥ ३ ॥

छाया.

- सुजनसमागमसौख्य चपल यौवनमपि चासार ॥
सौख्यनिधाने सदा धर्मे मतिं दृढा कुरु (युग्म) ॥

दोहा.

स्वजन समागम सुख चपल यौवन भी निस्सार ॥
अक्षय सुख दातार जो धर्मवृद्धि दृढ धार ॥

अन्वयार्थ - (सुयणसमागमसोक्खं) स्वजनोके समागमका सुख (चवलं) चपल है और (जोव्वणं) यौवन (पिय) भी (असारं) असार है इसलिये (सोक्खनिहाणंमि) सुखके अप्रत्यक्ष कोष [भंडार] ऐसे (धम्मंमि) धर्ममें (सया) सदा (मइं) मतिको (दढं) दृढ (कुणसु) कर ।

भावार्थ - स्वजन परिजन स्नेही एवं बहुवर्गका समागम क्षणिक सुखदायी है और तरुणावस्था भी क्रमशः व्यतिक्रान्त होती जा रही है इसलिये अपूर्व सुखकी प्राप्ति में विशेषहेतुरूप धर्ममें ही मदद निज मतिको पुष्ट करना चाहिये अर्थात् विषय भावना का त्यागकर धर्ममें प्रयत्नशील होना ही अग्र्यस्तर है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमल्लजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

सूक्त

दुस्तस सुह ति मसइ जीवो विसयामिससु भणुरक्तो ।
पुणरनि बहु विनदितो न मुणइ आस परिगळन्तं ॥४॥

छाया

दस सुखमिति मन्यते जीवो विषयामिषन्नुरक्तः ।
पुनरपि बहु विनदितो न मनुत आपु परिगळन्त ॥ ४ ॥

बोद्धा

विषयामिव अनुरक्ततर दूख में ही सुख भाव ।
भागों में आसक्त-मह नहि मळपाय् ज्ञान ॥ ४ ॥

अन्वयाद्यर्थ - (विषयामिससु) विषयवत्त्वी भाव में (भणुरक्तो)
अनुरक्त बना गया (जीवो) प्राणी (वफखी) दुःख को (मुहं) सुख ही है
(नि) इन्हीं प्रकार । मसइ) मानता है किंतु (पुणरनि) बरतबार मोपे में
ही (बहु) कल (विनदितो) आनन्द बरकर (परिगळन्तं) कल्प हर्षों
है (आस) अपनी आपुव को (न) नहीं (मुणइ) मानता है ।

माधार्थ - विषयामिव [विषयवत्त्वी ज्ञान] में अत्यन्त तर दुःखराज
मित्र का पाम सुखवत् ही मानता है और एसा अत्यन्त ही पुनःपुनः कर्तव्य अत्यन्त
बना रहता है किन्तु वह न । किन्ति विषय प्रभाव से जीव बोधी हुई मित्र वस्तु के परी
मान का नहीं । तथा । यदि विषय न न मये ही बालि है इन बातकी निरपी
विचार का अन्त है ।

अनुवादक - दूख ही प्रसन्नता ही न ही में के जीवपुत्र विषयवत्त्वी म. श्री

मूल.

जह कमले व्व महुयरो आसत्तो तहय कामगयचित्तो ।
महिलाणुरागरत्तो किं न कुणइ साहसं पुरिसो ॥ ५ ॥

छाया

यथा कमले इव मधुकर आमक्त स्तयैव कामगत चित्त ।
महिलानुरागरक्तः किञ्च करोति साहसं पुरुष ॥ ५ ॥

दोहा

विषयगृद्ध मधुकर मधुर कमल कुसुममें वन्द ।
नारी के अनुराग में गृद्ध मनुजको फन्द ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(जह) जिस प्रकार (कामगयचित्तो) विषयभोग में गृद्ध चित्तराला (महुयरो) मधुकर (भ्रमर) (कमले) कमल में ही (आसत्तो) आसक्त बना रहता है (तहय) उसी प्रकार (महिलाणुरागरत्तो) स्त्री के अनुराग (प्रेम) में फंसा हुआ (पुरिसो) मनुष्य भी (किं) क्या ? (साहसं) साहस (न) नहीं (कुणइ) करता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार मधुकर (भ्रमर) कमल वृन्द में ही आमक्त बना रहता है उसी प्रकार विषय भोगों में गृद्ध बना हुआ विषयी व्यक्ति भी महिला के अनुराग में ही फंसा रहता है प्रेम पाशसे बंधा हुआ वह आशक्त पुरुष कौन से साहस पूर्ण कामों को नहीं कर सकता है अर्थात् जटिलतम कार्यों को भी सहसा कर डालता है ।
ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूळ

हरिहर चतुराणन चवसूर इंदाइणो वि जे देवा ।
नारीजे किंकरण करति पिबि विसपतन्हा ॥ ६ ॥

अव्या

हरिहर चतुराणन चन्द्रसूर्येन्द्रोदयेऽपि ये देवा ।
नारीणां किंकरात् कुर्वति विभिन्ना विषयं वृत्त्याम् ॥ ६ ॥

बोद्धा

हरिहर चतुराणन प्रभृति इन्द्र चन्द्र जी सुर ।
नारी के हों वास ये बिह्वतमम्माय दूर ॥ ६ ॥

भावार्थ—(हरि) विष्णु (हर) महेन्द्र (चतुराणन)
ब्रह्मा (चंद्र) चन्द्र (सुर) सूर्य और (इंदाइणो) इन्द्रादि (जे) जो
(वि) भी (देवा) देवता हैं व सन (नारीजे) की के (किंकरण)
वास्तव को (करति) करते हैं इसलिये (विसपतन्हा) इस विषय वृत्त्या
को (बिह्वी) वास्तव विवक्षित है ।

भावार्थ—ब्रह्मा विष्णु महेन्द्र चन्द्र सूर्य और इन्द्रादि जो भी देवा हैं
वे सब तभीसे वास्तव की स्तुति करते हैं इसलिये इस विषय वृत्त्या ही कारण
विषय है क्योंकि महेन्द्रादि इन्द्रादि की शक्त व महत्वात्मी केन्द्र कीर्तन
करते हैं ।

भगवत्पद—वृत्त्या भी चमत्कारी न की के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी न की

मूल.

जह कच्छुलीकच्छु कहुयमाणो दुह मुणइ सोक्ख ।
मोहाउरा मणुस्सा तह कामदुह सुह विंति ॥ ७ ॥

छाया.

यथा कच्छमान् कच्छ कण्डूयमानो दुःख मन्यते सौख्यम् ।
मोहातुरा मनुष्यास्तथा काम दुःखं सुखं विदन्ति ॥ ७ ॥

दोहा

खुजली वाला मनुज ज्यों, खुजले पा अति पीर ।
तद्दुख को फिर भी सदा, सुखका माने तीर ॥
कामी त्यों इन भोगको हैं जो दुख के मूल ।
सुखद मोद करी गिने, समझे नहीं निज भूल ॥
पर ये हैं विपरीत ही, परिणामों के धाम ।
जग जलनिबिके मल हैं, भटकावे सब ठाम ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ — (जह) जैसे (कच्छुली) खुजली वाला व्यक्ति (कच्छु) खुजली को (कहुंयमाणो) खुजालता हुआ (दुहं) तज्जनित दुख को (सोक्खं) सुखरूप ही (मुणइ) मानता है (तह) उसी प्रकार (मोहाउरा) मोहमें आसक्त बने हुए (मणुस्सा) मनुष्य भी (कामदुहं) विषय विकार के दुख को (सुह) सुखरूप ही (विंति) मानते हैं ।

भावार्थ — यथा खुजली वाला व्यक्ति खुजली को खुजालता हुआ तज्जनित दुखको सुखरूप ही मानता है तथैव मोहातुर मनुष्य भी वैषयिक दुखों को सुखरूप ही मानता है किंतु जेमे खान खुजा लेनेका परिणाम विपरीत ही होता है वैसे ही विषय सुखोंका फल भी अनिष्टकारी ही है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूल.

मं नत्थि तं पसोयइ अं विज्जइ त न पिच्छइ पयत्थं ।
अइइ अहो अपुण्ण तिमिर मिहिरेग्गमे मयणो ॥ ८ ॥

अर्था.

यो नास्ति तं प्रलोक्यते यो विद्यते त न पश्यति पदार्थम् ।
अइइ अहो ! अपूर्ण तिमिर मिहिरेद्गमे मयनः ॥ ८ ॥

वाङ्म.

छात्रे कथम ओ नास्ति हि अस्तीये नहि प्याम ।
सुखोदय की वान्तिमें अरे ! तिमिर की काम ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ — (मयणो) कामदेव (अं) ओ (पयत्थं) वस्तु
(नत्थि) विद्यमान नहीं है (तं) उसको तो (पसोयइ) देखता है और
(अं) जो (विज्जइ) विद्यमान है (तं) उसको (न) नहीं (पिच्छइ)
देखता है (अइइअहो) अरे ! अहो (मिहिरेग्गमे) सुखोदय होनेपर भी
(अपुण्ण) यह तो अपूर्ण ही (तिमिरं) अन्धकार बना हुआ है ।

भावार्थ — कामदेव के प्रेम वशसे कंसा हुआ मनुष्य विद्यमान वस्तु
निमित्त भी अन्धकार नहीं करता है और जो अविद्यमान है उसकी इत्थि कर करता है
यह तो एक अन्ध ही मोक्षान्धकार भ्रम है जो कि सुखोदय होनेपर भी भिन्न नहीं
होता है ।

मुल.

ता लज्जा ता माणो ताव य परलोय चितणे बुद्धी ।
जान विवेयजियहरा मयणस्ससरा पटुप्पन्ति ॥ ९ ॥

छाया.

तावल्लज्जा तावन्मानस्तावच्च परलोक चिन्तने बुद्धि ।
यावन्न विवेकजीवहराणि मदनस्य शरासि प्रभवन्ति ॥ ९ ॥

दोहा.

लज्जा और परलोक तब, तबलों गौरवभान ।
जबलों मति में नहीं लगे कामदेव को बाण ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(ता) तभीतक (लज्जा) लज्जा रहती है (ता) तभीतक (माणो) स्वाभिमान रहता है (य) और (ता) तबतक ही (परलोय चितणो) परलोक चिंतन में (बुद्धी) बुद्धि प्रवृत्ति करती है (जा) जबतक कि (विवेयजियहरा) जीव के विवेक को हरनेवाले (मयणस्स) कामदेव के (सरा) बाण (न) नहीं (पटुप्पन्ति) प्रभाव दिखाते हैं—असर करते हैं ।

भावार्थ —मसारमें मनुष्य तभीतक लज्जा रख सकता है तभीतक स्वाभिमान रख सकता है और तभीतक परलोक के परमार्थ चिन्तन की ओर बुद्धि प्रवृत्ति करती रहती है जबतक कि जीवके विवेक का हर्ता हम कामदेव के बाणों का हृदय में प्रभाव नहीं होता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महागज के करकमलों में सादर समर्पित

मूछ

सह्यं कामा विस कामा कामा आसीविसोवमा ।
कामे पस्वेवमाणा अकामा नति दुग्गई ॥ १० ॥

अव्या

शत्यं कामा विष कामा कामा आसी विपोवमा ।
कामान् प्रार्थयमानाआकामा पाम्ति दुर्गतिम् ॥ १० ॥

होहा

कंदक या विपके सरिस, जीवनमाही काम ।
भोगों को ये कामना दुर्गति की हो चाम ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(कामा) कामभोग (सल्लु) कंदक अव्या वल के समान दुखद है (काम) कामभोग (विस) विषय जीवन माही है (काम) विषयका (आसीविसोवमा) आसी विष सर्व की तरह दुखदायक है और (कामे) विषय भोगोंकी (पस्वेवमाणा) इच्छा करन पर (अकामा) विष ही विषय बाणना संवन किये वह जीव (दुग्गई) दुर्गति को (अति) प्राप्त करता है ।

भाषाार्थ—ये विषयवील कामना दुखद ॥ विषय जीवन विमाही है माही विषय [सर्व] सम सर्वकार है इसलिये वो अज्ञान कामवील की प्राप्ति हेतु विरत लक्ष्म में अभिप्राय दिया है वह व्यक्ति जो दुर्गति में गमन करता है तो फिर वो अन्ध प्रवृत्ति अनुसर करता है उसके जिसे करना ही क्या है । अर्थात् विषयवील । भवभोगमें अन्ध ही प्राय उत्पन्न होता है ।

अनुवादक—पुण्य श्री भगवान्जी म की छ के वीरपुत्र विनयकरजी व की

मूल.

विसयसुहेसु पसत्तां अबुहजणं कामराग पडिवद्ध ।
उक्कामयन्ति जीव धम्माओतेण ते कामा ॥ ११ ॥

छाया.

विषयसुखेषु प्रसक्तमबुधजन कामराग प्रतिबद्धम् ।
उत्कामयन्ति जीव धर्मात्तेन ते कामा ॥ ११ ॥

दोहा.

विषयगृह्य हो अबुध नर प्रेम पाश में बद्ध ।
धर्म मार्ग से च्युत करे काम शब्द परसिद्ध ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(विसयसुहेसु) विषय विकारों में (पसत्तां)
आसक्त बने हुए (अबुहजणं) अज्ञानी एवं (कामराग पडिवद्धं) विषय
मोह में फंसे हुए (जीव) जीवको (धम्माओ) धर्ममार्ग से (उक्काम-
यन्ति) विपरीत प्रवृत्ति करवाते हैं (तेण) इस कारण से (ते) वे (कामा)
काम कहलाते हैं ।

भावार्थ—विषय विकारों में आसक्त बने हुए अज्ञानी एवं विषय जनित
मोह पाशमें फंसे हुए प्राणियों को उत्तमोत्तम धर्म मार्गसे विपरीत प्रवृत्ति कराने वाला
होने से ही यह “ काम ” इस अभिमानसे सम्बोधित होता है अर्थात् विषय का काम
इसीलिये अभिधान (नाम) रक्खा गया है कि यह जीवोंको धर्म विपरीत न्याय
विरुद्ध एवं सतपथसे शून्य मार्गपर ले जाता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

छहो सुक्को अ दो छहा गोसया महिआमया ।
दोबि भारहिआ कुड़े जो छहो सोऽत्य सम्मह ॥ १२ ॥

छया

मार्द्र सुक्को दो क्षिप्तो गोस्यो मुत्तिकमयो ।
क्षय्यापतितो कुड़ेये, य मार्द्र सतत्र क्षाति ॥ १२ ॥

कोडा

मार्द्र सुक्को गोसे कमय कैंको मिति जाय ।
सुक्को तुरंत भूमि पर, मार्द्र तहां थिप जाय ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ — (छहो) गीका (अ) बीर (सुक्को) सूया (दो)
ऐसे दो (महिआमया) मिठी के बम दृष्ट (गोसया) गोसे (छहा)
कैंके जाय ता (कुड़े) मिटिका पर (भारहिआ) क्षय्यपर अर्थात् पड़नेपर
(दो बि) अब दोनोमे से (जो) जो (छहो) मार्द्र गोस्य है (सोऽत्य)
बह बहापर (मिटिका पर) ही (क्षाति) थिपक जाता है ।

साधारण — मार्द्र जब सुक्को ऐसे मिट्टी के दो गीसे कमजोर बरि मिटिका
पर पड़े जाय ता की कसा गोस्य है वह मिटिका की लगेकर भूमिपर गिर जायया
किन्तु अ १ गोसे क दोनो से वह जसी मिटिका कमजोर रह जाता है ।

[देवभाग नाम की गाथा में उक्त करें]

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी म की से क बीरपुत्र विनयचन्द्रजी म की

मूल.

एव लगति दुस्मेहा जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लगति जहा सुक्के उ गोलए ॥ १३ ॥

छाया

एव लगन्ति दुर्मेवस ये नरा कामलालसा ।
विरक्तास्तु न लगन्ति यथा शुष्कस्तु गोलकः ॥ १३ ॥

दोहा.

आर्द्र गोल सम दुष्टधी विषयों में आसक्त ।
शुष्क वही संसार से रहे सदा हि विरक्त ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार (जे) जो (नरा) मनुष्य (दुस्मेहा) दुष्टमति वाले और (कामलालसा) कामलालसामें आसक्त बने रहते हैं वे भी (लगति) गीले गोले की तरह संसार में फस जाते हैं किंतु (सुक्के) जो शुष्क-सूखे हुए (गोलए) गोलेके (जहा) समान (विर-त्ता उ) भोगों से विरक्त रहते हैं वे (न) नहीं (लगति) संसारमें फसते ।

भावार्थ—नथैव जो दुष्टबुद्धि मानव कार्तिकस्थानवत् विषय विकारों में मदोन्मत्त बने हुए रहते हैं वे आर्द्र गोले की तरह संसाररूप कीच में फस जाते हैं । और जो मासारिक विषय भोगों से सर्वथा विरक्त चित्तवाले हैं वे शुष्क मट्टि के गोले समान संसार के विषय भोगों में नहीं चिपकते हैं ।

मूल

बबलेओ होइ भोगेसु अमोगी नो बछिप्यइ ।
मोमी ममइ ससारे अमोगी विप्पमुचई ॥ १४ ॥

व्याख्या

उपर्येयो भवति भोगेषु अमोगी नोपबिप्सते ।
भोगी भ्राम्यति ससारे अमोगी विप्रमुष्यते ॥ ११ ॥

टीका

जीव भोगते छिप्त हो अमोगी जन नहीं छिप्त ।
समें भोगीमज बन बिषे अमोगी कर्म विमुक्त ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(भोगेसु) भोगों द्वारा बहसा (बबलेओ)
केपसं छिप्त (होइ) हो जाती है और (अमोगी) अमोगी पुरुष (नो)
नहीं (बछिप्यइ) कर्मों से छिप्त होता है (भोगी) भोगी जीव (ससारे)
संसार में (ममइ) पर्यटन करता रहता है और (अमोगी) अमोगी जीव
(विप्पमुचई) कर्मबन्ध एवं संसार से विमुक्त हो जाता है ।

भाषार्थ—जी व्यक्ति निरासक्त होने कच्ची अज्ञाना पर्यटन कर्मों से
छिप्त होती जाती है और किसी निरासक्त वास्तविकों में अज्ञातकि है कच्ची अज्ञाना
कर्मों से छिप्ती होती जाती है जीव जीव जगुनसिक्क संसार में पर्यटन करता रहता है
और अमोगी जीव निरासक्त अज्ञाने जगुन विमुक्त हो मोक्षप्राप्त हो प्राप्त हो जाती है ।

मूल.

क्षणमिदमुक्त्वा बहुकालदुक्त्वा पगामदुक्त्वा अणिगामसोक्त्वा
ससारमोक्त्वस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा
॥१५॥

छाया.

क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखाः प्रकामदुःखा अनिकाम सौख्याः ।
ससार मोक्षयोर्विपक्षभूता खनिरनर्थाना तु कामभोगा ॥ १५ ॥

दोहा.

क्षणिक सुखद औ दुख बहू अरिस्सम बाधक जान ।
बहु दुख, सुख परिणाम कम अति अनर्थ की खान ॥१५॥

अन्वयार्थ - (कामभोगा) विषय भोग (खणमेत्तसुक्खा)
क्षणिक सुखद हैं किंतु (बहुकालदुक्खा) चिरकाल तक दुखदायी हैं (पगा-
मदुक्खा) विषय भोगों में दुख बहुत परिणाम में (अणिगामसोक्खा)
और सुख अल्प परिणाम में है तथा (संसारमोक्खस्स) संसार से मुक्त
होने के लिये (विपक्खभूया) शत्रुवत् विघ्न पहुचाने वाले हैं एव (अण-
त्थाणउ) महान् अनर्थों की (खाणी) खदान हैं ।

भाषार्थ - ये वैषयिक सुख क्षणिक सुखद हैं किन्तु चिरकाल पर्यंत दुःखदायी
हैं इन विषय विकारों में दुःख अत्यधिक परिमाणमें रहा हुआ है और सुख अल्पमात्रमें
ससार सागर को पार करनेके लिये ये शत्रुवत् विघ्नकारी हैं और महान् अनर्थों की
खान हैं ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-क्रमलो में सादर समर्पित

मूढ

सख्य विस्मयिष्य गीय सख्य नई बिडंबना ।
सख्ये आमरणा मारा सख्ये कामा दुहावहा ॥ १६ ॥

काया

सर्वे विलपित गीत सर्वे नृप बिडम्बना ।
सर्वाप्यामरणानि भर सर्वे कामा दुःखावहा ॥ १६ ॥

बोधा

गीत राग कावित्व औ अभिनय मुपजदास ।
बदन र पद औ मार हैं, दुखनों का आमास ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(सख्य) सख (गीय) तत्परात्मिका (विस्मयिष्य)
विस्मययत् इ तथा (सख्य) सख (नई) गदक बेदकादि (बिडंबना)
बिडंबना स्वस्व है (सख्य) समस्त (आमरणा) आमृषण औ (माय)
भारतमृत है और (सख्ये) सर्व (कामा) विषय मोन (दुहावहा)
दुःखावहाक ही है ।

भावार्थ—सर्व रागरात्मिका विस्मययत् है तथा समस्त गदक बेदकादि
बिडम्बनात्मक है समस्त आमृषणस्व स्वस्व है और समस्त कायपीन दुःखावहाक ही है
भारत केम रागरात्मिकों नाटककारिकों और यमराज्यादिकों लक्ष्म्याय औ तत्पराय नहीं है
किन्तु बाकावहा मात्र व उनी प्रकार विषय औ गच्छन दुःखावहाक ही हैं ।

अनुवादक सूत्र औ धर्मदासजी म की स क वीरपुत्र विजयचन्द्रजी म की

* अहिंसा *



न वचन एव काया इन त्रिविध योगों में किसी को भी ध्रिक्गणपूर्वक कष्ट न पहुचाना ही अहिंसा का वास्तविक लक्षण है। कोई प्राणों के अव्यपरोपण अर्थात् अनतिपात को ही अहिंसा कहते हैं किंतु सूक्ष्म दृष्टि से सांगोपांग मनन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि प्राण अव्यपरोपण को ही अहिंसा नहीं कहते हैं प्रत्युत प्राणियों को किंचित्मात्र भी किलामना नहीं पहुचाना ही अहिंसा है।

अपने प्रतिपक्षी के प्रतिकार का उत्तम साधन अहिंसा ही है। सकल बाह्य साधन विहीन व्यक्ति केवल एक अहिंसारूपी आंतरिक शस्त्र विशेषद्वारा सब पर विजय प्राप्त कर सकता है।

हिंसा चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण कराने वाली और अहिंसामुक्ति पथपर लेजाने वाली है हिंसाके मार्ग से प्रवृत्ति करने वाला मनुष्य भले ही क्षणिक विजय प्राप्त कर ले किंतु स्थायी विजय कदापि नहीं पासकता है।

वैसे तो सर्व मतानुयायी येन केन प्रकारेण अहिंसा का प्रतिपालन अवश्यावश्य करते हैं किंतु जैन-धर्म में जितना सूक्ष्म विचार पूर्वक वर्णन किया गया है उतना अन्य धर्मों में नहीं अन्य धर्मों की अहिंसा तो पशु या मनुष्य पर्यंत ही सीमित है किंतु जैन दर्शन विशारद रीतिसे एवं अप्रतिबन्धरूप से अहिंसा का प्रतिपादक है।

अहिंसा में प्रच्छन्न चमत्कारिक शक्ति का अनुभव वे ही कर सकते हैं जो तीक्ष्ण करवाल पर चलने लायक अहिंसा धर्म का पालन करने में समर्थ हैं।

[इसका विस्तृत विवेचन निम्न गाथाओं द्वारा ज्ञात करें।]

सूक्त

मेरुगिरि कण्ठयदाण धमाण भो वेह कोटिएसीओ ।
इक्कं च इण्ह जीव न सुट्ठि तेन दाणण ॥ १ ॥

अर्थ

मेरुगिरि कनकदाम धान्यामां यो ददासि कोटिरासि ।
एकं च हन्ति जीव न सुटति तेन दानेन ॥ १ ॥

बोद्धा

प्राणी लज्जकर धाम हैं कनक मेरु भी धान्य ।
हिंसा के उस पापमे क्षमी न जुड़े मांस्य ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(ओ) ओ व्यक्ति (मेरुगिरिकण्ठयदार्थ) मेरु सर्व
विहता स्वर्ग दान तथा (धमाण) धान्य के (कोटिरासीओ) करोड़ों
हथों का दान (वेह) देता है किन्तु (इक्कं) एक (जीव) प्राणी को
(इण्ह) मारता है वह मनुष्य (तेन) उस दान द्वारा हिंसाशक्ति प्राप्त
(न) नहीं (सुट्ठि) मुक्त हो सकता है ।

भाषाया—ओ व्यक्ति मेरु गिरि केने विहता स्वर्ग सर्वों को दान दे देता
है तथा धान्य की कीरि गति को तीन बीज जन हेतु विनिर्भर करता है किन्तु वह प्राणी
के प्राण का हान करता है तो वह महात्मा की दुष्प्र नी उस हिंसा क्षमि पक्षे क्या
सि मुक्त नहीं होसकता है क्योंकि वह प्राण हरणकर चाप महा सर्वधर क्या क्या है
विमये निरुप दाना महत्त्व नहीं है नन नर्ष दाता ये प्राणीत्व की ही महापाप प्राण-
क प्राण हरणकर करना पापिने

अनुवादक—दुष्प्र श्री धर्मशायणी म की सं के नीरगुन निमदधन्यजी न की

मूल.

कल्याणकोटिजणणी दुरन्तदुरियाइ विग्घनिद्ववणी ।
संसारजलहितरणी इक्का चिय होइ जीवदया ॥ २ ॥

छाया.

कल्याण कोटि जननी दुरन्त दुरितादिविघ्न निष्ठापिनी ।
संसार जलधितरिणी एकैव भवति जीवदया ॥ २ ॥

दोहा.

कोट्टी सुख उत्पादिका करे पाप गण दूर ।
भव जलनिधि की नाव है जीव दया मन चूर ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(कोटि) करोड़ों सुखों को (जणणी) उत्पन्न करने वाली (दुरन्तदुरियाइविग्घनिद्ववणी) दुरन्त पापादि विघ्नों को दूर करने वाली (संसार) संसाररूपी (जलहि) सागर के लिये (तरणी) नौका-नावके समान (इक्का) एक (जीवदया) जीवदया ही (चिय) निश्चय (होइ) है ।

भाषार्थ—सकल संसार में समस्त सुखों की जननी दुरत पापादि विघ्न विदारिका एक जीवदया ही है ऐसी अहिंसारूप नौका द्वारा हम अगाध एवं दुस्तर संसार सागरको अविलम्ब ही पार कर सकते हैं अर्थात्—सासारिक समस्त दुःख जाल से विमुक्त होने का यदि कोई उपचार है तो केवल एक जीव रक्षारूप धर्म ही है इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उत्तम साधन नहीं है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मुख

किं ताए पडियाए पयकोहीए पिसालमूयाए ॥
न इशिय न नाय परस्स पीडा न कायज्जा ॥ ३ ॥

अथवा

किं तेम पठित्तेन पयकोज्जा पसाळमुतेन ।
पडियन्न ज्ञात परस्य पीडा न कर्त्तव्या ॥ ३ ॥

बोहा

नहीं मारना पकड़ने जो नर जानत नहिं ।
कोटि पक्षों का पठन भी है पकड़ के नार ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(पसाळमूयाए) पकड़-मुत्ते के समान (ताए)
जब निश्चय (पयकोहीए) कराई पक्षों को (पडियाए) पकड़ देने से भी
(किं) क्या समझ है (ज्ञ) बिन्दु ने कि (परस्य) दूसरे को (पीडा)
पीडा (न) नहीं (कायज्जा) पड़नाही कश्चिने (इशिय) इनसे से पर को
(न) नहीं (नार्य) माना है ।

भावार्थ—जिसने कपीडा न कर्त्तव्या इस शब्द का अर्थ समझ
कर मान ली किता और न कश्चिने में परिणत किया इस अर्थ कि वह अपने अपने
चारण होना पसन्द (भूता मिलान इत्यादि के समान बहाना निरर्थक ही है त्यों कि
जिसने मनुष्य धर्म सिद्धांत और ज्योतिष की नहीं पडियाए तो उसके चरित में ही क्या
मान है नास्तिक बलवा बधाले मान ही निरर्थक है ।

अब से शक्ति प्रदत्त श्री श्रीगणेशाय नमः के कर-कर्मों में चार बर्ग

मूल.

सर्वे जीवा वि इच्छन्ति जीविजं न मरिज्जिउ ।
तम्हा पाणिवहं घोरं निगंथा वज्जयन्ति णं ॥ ४ ॥

छाया.

सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति जीवितु न मर्तुम् ।
तस्मात्प्राणिवध घोर निर्ग्रन्था वर्जयन्ति नु ॥ ४ ॥

टोहा.

सर्वे जीव जीवन चहे मृत्यु चहै नहिं कोय ।
अस्तु साधु जन प्राणिवध त्यागे सब विधजोय ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(सर्वे) संसार के समस्त (जीवा) जीव (जीविजं) जीवित रहने की (इच्छन्ति) इच्छा रखते हैं किंतु (मरिज्जिउं) मृत्युकी (न) इच्छा नहीं करते हैं (तम्हा) इस कारण से (निगंथा) निर्ग्रन्थ जन (घोरं) भयंकर पापमय (पाणिवहं) प्राणिवध—हिंसा का (वज्जयन्ति णं) त्याग करते हैं ।

भावार्थ—अखिल जग जीव राशि मतत सर्वज जीवनाभिलाषा रखते हैं कोई भी प्राणी कदापि मरणाकांक्षा नहीं करता है क्योंकि अपना जीवन सबको बल्लभ है इस हेतु श्रमण निर्ग्रन्थ घोर एव स्निग्ध बधनरूप प्राणी वधका सर्वथा परित्याग करते हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूक

दुष्टं मूकं बहिरं चैव चक्षुर्हीनम् ।
बुद्धिं च बुध्मगं भीमहिंसाफलं नेय ॥ ५ ॥

अथा

स्निहस्तं मूकं बहिरं चैव चक्षुर्हीनम् ।
बुद्धिं च बुध्मगं भीमहिंसाफलं नेय ॥ ५ ॥

बोधा

बंजो बहिरो मूकवर चक्षुहीन बुध्म द्वार ।
बुध्मग्वारि फल कहे भीमहिंसा फल के द्वार ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(दुष्टं) बंजल—बंजाल (मूकं) मूक
प्रेमापन (बहिरं) बहिरापन (चक्षुर्हीनम्) चक्षुर्हीन (बुद्धिं)
बुद्धी भवस्था तथा (बुध्मगं) बुध्मग (नेय) वे सब निधन ही
(भीमहिंसा फल) भीमहिंसा के फल (नेय) जानने पाविये ।

आचार्य—मूक मानी समुदाय भीमहिंसा के निधन एवं फल वास्तव फल
स्वयं बंजल मूक बहिरा चक्षुर्हीन बुद्धिवाक्ता तथा बुध्मग्वारि बुद्धी की मात्र
करते रहते हैं वास्तव नहीं है कि समार्ये मिलने भी वास्तव बुध्म निधन हैं वे
प्रमाणों पात्रों द्वारा ही बलवान् होते हैं ।

मनुष्य—पूज्य भी भयंकर भी य की सं के वीरपुत्र विनयकनारी म. की

मूल.

ददृष्ट्वा प्राणिनिवहं भीमे भवसागरम् दुःखतः ।
अविसेसा अणुकप दुहावि सामर्थ्यो कुञ्जा ॥ ६ ॥

छाया.

दृष्ट्वा प्राणिनिवहं भीमे भवसागरे दुःखार्तम् ॥
अविशेषादनुकम्पा दुहितेऽपि सामर्थ्यं कुर्यात् ॥ ६ ॥

दोहा.

भीमभवोनिधि माहिजे दुःख मे जो संतप्त ।
ता प्राणी को वच लजि हो अनुकम्पा सक्त ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(भीमे) भयंकर (भवसागरम्) भवसागर में (दुःखतः) दुःखसे व्याकुल बने हुए (प्राणिनिवह) प्राणियों के वध को (ददृष्ट्वा) देख करके (सामर्थ्यो) शक्त्यानुसार (दुहावि) दुखी अवस्था में भी (अविसेसा) सामान्यरूप से (अणुकपं) अनुकम्पा—दया ही (कुञ्जा) करनी चाहिये ।

भावार्थ—प्रत्येक मानव समाज का कर्तव्य है कि.—भीषण भवसागर में दुखों से व्यग्र बने हुए प्राणी समुद्राय को देखकर सामर्थ्यानुसार दुखितावस्था में भी सामान्यत अनुकम्पा करनी चाहिये क्योंकि मनुष्य होने के नाते से दयादि सत् कार्यों द्वारा अहिंसा धर्म का पालन करना परम कर्तव्य होजाता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मुख

ओ जीवन्तु फाँट करेह स्वणमित्तपप्पणोतिर्त्ति ।
छेमणमेयणपमुहं नरयदुहं सो धिरं । सहइ ॥ ७ ॥

छाया

यो जीवन्तु कृत्वा करोति क्षणमप्यमात्मनस्तृप्ति ।
छेदनमेदम प्रमुक्त मरकतु सं साधिरं कर्मते ॥ ७ ॥

बोधाः

मत्स्य काष्ठ लुब्धमान के हमें प्रापिकों प्राप ।
मरक माँहि धिरकाष्ठतक छिन्न मित्रे नहि पाव ॥ ७ ॥

अम्बयार्थ—(ओ) ओ मनुष्य (जीवन्तु) जीवन्ति (फाँट) करे (कणमित्त) क्षणमात्र के किये (अप्यणो) अपनी (तिर्त्ति) तृप्ति लेलो (करेह) करता है (सो) वह व्यक्ति (धिर) निरालस-वरी (छेमण) छेदन (मेयण) मेधनादि (मुहं) मुक्त (नरयदुहं) मरक के बुद्धों से (सहइ) प्राप्त करता है ।

भावार्थ—जी शक्ति प्रापियों के प्रापिकों लेकर करे, कर्मिक रहना उस कामनाके कर्तव्य होकर नाशगति करता है वह जिसके निरालस वर्तु छेदन करे वह एकव्यक्ति मरक २ परमेश्वर नाशक बुद्धों का अनुभव करता रहता है मरक ओ जीवन्ति में ही मरक लेकन रहता है अथवा निराल के मरक लव मरक के बुद्ध ही रहते हैं

अनुवाद—मुख भी चर्मवासजी म. जी से के वीरपुत्र विनयपत्रजी म. ७

मूल.

दिज्जाहिं जो मरन्तस्स सागरतं वसुन्धरं ।
जीविय वावि जो दिज्जा जीवियं तु स इच्छइ ॥ ८ ॥

छाया.

दद्याद् यदि प्रियते सागरान्ता वसुन्धराम् ।
जीवित यापि यदि दीयते जीवित तु स इच्छति ॥ ८ ॥

दोहा.

चरम काल के जीवको देवे पृथ्वीदान ।
निज जीवन अर्पण करे चाहे केवल छान ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(जो) जो मनुष्य (मरन्तस्स) आसन्न मृत्यु वाले व्यक्ति के लिये (सागरत) सागरांत (वसुन्धर) पृथ्वी को भी (दिज्जा) दान में दे देवे (वा) अथवा (जो) जो (जीवियं) अपना जीवन भी (दिज्जाहिं) अर्पण कर देवे तथापि (स) वह मृत्यु प्राप्त व्यक्ति तो (जीविय) जीवित रहने की ही (इच्छइ) इच्छा करता है ।

भावार्थ—मरणशय्यामनासीन व्यक्ति के लिये यदि कोई सागरान्त पृथ्वी का भी दान करदे अथवा प्रिय जीवन भी अर्पण कर देवे तथापि वह मरणामन्न व्यक्ति तो जीवित रहने की ही सतत अभिलाषा करता रहता है उस को अपने प्राणों के अतिरिक्त दूसरी कोई बहुमूल्य वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती है इसलिये वह द्रव्यकी ओर भी नहीं देखता है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महागज के क-कमलों में सादर समर्पित

मूक

स्वयमित्तमुक्कसकखे जीवे निहजति ते महापावा ।
हरिपदणवणसंद दहति ते छारकज्जम्भि ॥ ९ ॥

अथा

क्षणमात्र मुक्कसकपात् जीवान् विहजति ते महापावा ।
हरिपदनवणसंघं दाहयति ते क्षार कर्णत् ॥ ९ ॥

बोद्धा

अधिक मुखों के मर्ये ओ करे जीव संहार ।
बन्दन वन को राख के हेतु ही करे उबार ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(ओ) ओ (महापावा) महापातका (कर्णमिह)
क्षणमात्र (मुक्कसकखे) मुक्क के किये (जीवे) जीवोंका (निहजति)
वन करते हैं (ते) वे व्यक्ति (छारकज्जम्भि) राख के किये (हरिबन्ध
वणसंघं) हरित वाननिवे वन के वनसंघ को (दहति) जलते हैं ।

भाषार्थ —जी वापात्मा अल्प रत्ना तुल्य जलपाती प्राणियों के प्रत्यक्ष
हमल करत हैं उन्हें परितान पुरुषाते हैं वे प्रत्यक्षके विभिन्न जेठ पुरुषान् वाननिवे
बन्दन के वन संघ को जलते हैं किसी राख के किये जेठ करण को जलनेवाला व्यक्ति
निम्ना वं ही पाप वनता है इसी प्रकार अन्य जग हेतु महापातकी हमने पाप पुन
भी प्रकृतनीय नहीं ही लपटा है ।

अनुवादक—पृथ्वी जी धर्मदासजी म की री के वीरपुत्र विनयधरजी म की

मूल.

जीवदयाए रहिओ जीवो अनं करइ जो धम्म ।
आरुहइ छिन्नकण्ण सो खरमेरावण मुत्तु ॥ १० ॥

छाया.

जीवदयया रहितो जीवोऽन्य करोति यो धर्मम् ।
आरोहति छिन्नकर्णं सखरमैरावत मुक्त्वा ॥ १० ॥

दोहा

अन्य धर्म को आचरे जीव दया को छोडि ।
कान कटे खर पे चढे पेरवत गज मोडि ॥ १० ॥

अन्वयार्थ —(जो) जो (जीवो) प्राणी (जीवदयाए) जीव-
दयासे (रहिओ) रहित बने हुए ऐसे (अन्न) अन्य (धम्म) धर्मका
(करइ) आचरण करता है तो (सो) वह व्यक्ति (मेरावण) श्रेष्ठ एरा-
वण हाथी को (मुत्तु) छोडकर (छिन्नकण्ण) कटे कान वाले (खर) गधे
पर (आरुहइ) चढता है ।

भावार्थ —जो प्राणी जीवदयाविहीन अन्य धर्म का आश्रय ग्रहण करता है
वह व्यक्ति श्रेष्ठ परावण हाथी का परित्याग कर छिन्नकण्ण वाले रासभपर आरूढ होने
की आकांक्षा रखता है अतः प्रणतिपातरूप असद्धर्म को ग्रहण करना उचित नहीं है ।

मुख

इत्थं परप्याने अप्यार्णं भो करइ सप्यार्णं ।
अप्याण दिवसाणं कएण नासेइ अप्यार्णं ॥ ११ ॥

अथवा

इत्था परात्प्यानं मात्प्यानं यः करोति सप्राणम् ।
अत्प्यानां दिवसानां कृते नाशयत्पारमानम् ॥ ११ ॥

इतिहा

प्राणवान् मुख को गिनेहमै हतर के प्राण ।
अस्य दिवस मुखस्य ते करे आसमा हान ॥ ११ ॥

भावार्थ—(ओ) जो व्यक्ति (परप्याणे) दूसरे जीवों के प्राण को (इत्थं) नाश करके (अप्यार्णं) अपर्ण को ही (सप्यार्णं) प्राप्तवान् (करइ) सिद्ध करता है वह (अप्याण) बोले ही (दिवसाणं) दिवसोंमें (कएण) पाण्डित्य द्वारा (अत्प्याणं) अपना भी (नासेइ) नाश कर जाता है ।

भावार्थ—जो सकल प्राणी जगत्प्राणीयों को पीड़ित करके अपने शरीर का स्वार्थ कर अल्पिक मुख हेतु प्राण सृष्टि करते हैं वे अप्य दिवसाणं ही तन्मित्र धन कर्मा हान निवृत्तताका दूर्जोत्पत्ति में सम्मिलित होजाते हैं अर्द्धि करीब प्रत्येक व्यक्ति को तो सगल सुखके बदले मुख प्राण का ही अनुत्पन्न करना पड़ता है ।

अनुवाक—पृथ्वी धर्मदासजी म की छे क बीरपुत्र विभवचन्द्रजी न की

मूल.

भवजलाहितरीतुलं महल्लकल्लाणदुमअभयकुलं ।
संजणियसग्गांसिव सुख समुदयं कुणह जीवदय ॥ १२ ॥

छाया.

भवजलाधितरीतुल्या महत्कल्याण द्रुमाभय कुल्याम् ।
सञ्जनितस्वर्गशिवसौख्यसमुदया कुरु जीवदयाम् ॥ १२ ॥

दोहा.

अभयदान भव नाश है कल्प वृक्ष कल्याण ।
स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति में जीव दया को ध्यान ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ — (भवजलहि) संसाररूपी समुद्र के लिये (तरीतुलं) नौकातुल्य (महल्लकल्लाणदुमअभयकुलं) महान् कल्याणकारी कल्पवृक्ष सदृश अभयदान तथा (संजणियसग्गांसिवसुख समुदय) उत्कृष्ट स्वर्ग एवं मोक्ष सुख को प्रकट करने वाली ऐसी (जीवदय) जीवदया (कुणह) करो ।

भावार्थ — हे मनु्य जीवो ! यदि तुझे अगाध एवं विस्तीर्ण ससार जलनिधि से पार पहुचने की तीव्राभिलाषा है तो नौकातुल्य एवं महान् कल्याणकारी कल्पवृक्ष सदृश आनन्ददायक इस अभयदानरूप धर्म का आश्रय ग्रहण करो क्योंकि जगत में स्वर्ग एवं अपवर्ग के मकल सुखों को प्रगट करने वाली केवल जीवदया [अहिंसा] ही है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में मात्सर समर्पित

मूक

मुक्त्वस्थीहिं करेयब्धो धम्मो जीवदयाममो ।
आइ जीवो अहिंसंतो जमो अमरणं वय ॥ १३ ॥

कुर्या

मोक्षार्थमिच्छाम्यो धर्मो जीवदयामम ।
वाति जीवोऽ हिंसम् पतोऽमरणं पदम् ॥ १४ ॥

बोद्धा

अपवर्गमिच्छापि को जीव दया आधार ।
आ नहि मारे जीव को मिछे अमर पद द्वार ॥ १५ ॥

भावार्थ—(मुक्त्वस्थीहिं) मोक्षार्थमिच्छाम्यो को (जीवदया
ममो) जीवदयामम (धम्मो) धर्म का ही (करेयब्धो) आश्रय करना
चाहिये (जमो) क्योंकि (अहिंसंतो) हिंसा नहीं करने वाला (जीवो)
जीव (अमरणं) अमरण मोक्ष (पदं) पदस्वात्म को (आइ) प्राप्त
करता है ।

भावार्थ—मोक्ष की प्राप्ति के लिये हमें अपने लक्षण धर्मों लक्षण की लक्षण
जीवदया (अहिंसा) धर्म धर्म का ही आश्रय करना चाहिये क्योंकि लक्षणधर्म धर्म-
तामों ने इसी की लक्षण पद प्रदान धर्म लक्षण दिया है की जीव दयामम आधार
अनुप्राप्ती होता है वह अहिंसा ही अमर पद वह अमर विहीन विनियम का अनुप्राप्त
कर सकता है अतः ही मोक्षप्राप्त एक लक्षण के लिये ही धर्म विनियम है ।

अनुप्राप्त—पुण्य की धर्मप्राप्ती न की है के जीवपुत्र विनियमधर्म न की

मूल.

जो कृणुइ परस्स दुह पावइ तं चेव अणंतगुण ।
लब्धमिति अंबयाइं न हि निंबतरुम्मि ववियम्मि ॥ १४ ॥

छाया.

यः करोति परस्य दुःख प्राप्नोति तदेवानंतगुणम् ।
लभ्यन्ते आम्ना न हि निम्बतरौ उसे ॥ १४ ॥

बोद्धा.

कृप खैन जो और के तस खाई तैयार ।
निम्ब वृक्षके आम्रफल कैसे होय विचार ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(जो) जो व्यक्ति (परस्य) दूसरों के लिये (दुहं)
दुःखका उपाय (कुणइ) करता है वह (तं) उस दुःख से भी (चेव)
निश्चय करके (अणंतगुणं) अनन्त गुणाधिक (पावइ) दुःख प्राप्त करता
है क्योंकि (निंबतरुम्मि) निंबके वृक्षको (ववियम्मि) बोनपर (अंबयाइं)
आम्रफल (न) नहीं (लब्धमिति) मिल सकते हैं ।

भावार्थ—जो व्यक्ति पर प्राणियों को दुःख में डालने के प्रयत्न करता
रहता है वह उस दुःख से भी अनन्त गुणा अधिक दुःख प्राप्त करता है क्योंकि दुःखों के
उपायों का परिणाम भी दुःख ही होता है जैसे निम्ब वृक्षके बोनपर आम्रके फल उप-
लब्ध नहीं होते हैं तथैव दुःखों से सुखाकांक्षा रखना निरर्थक ही है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

* धर्म *



१ २ ३ ४ ५

ध ध सुसुत एवं अतुत आरम कतिथो; का विद्यास हो
वही धर्म है। सकलस्वाधर तथा अंगमस्य अगत मे एक
धर्म ही सारपरिचित तत्त्व है। इसी के अमनुस्य प्रमत्तता
हम क्रमिक आत्मानुभव कर सकते हैं। अन्य सकल

मौलिक तथा पौनवृत्तिक परार्थ तो कुछ विभेदी और ऐहिक ही हैं किंतु धर्म
अनन्तर एवं सर्वदा सत्य ही अनुगमन करने बाध्य है नीतिशास्त्रोंका कहना है कि—

एक एक सुदुस्सर्मा मिथनेप्यनुयाति यः ।

शरीरेण समं नाशे सर्वे मम्यसि गच्छति ॥

बड़ा धर्म है बड़ा मानवता का मोह वही है धर्म में व्यक्ति पंथिका भेद
अवांछनीय ही है धर्म कठिनायक स्यसि की अंगुली पकड़कर लड़े नीतिमान
पर पुनः प्रसन्नप्रति करता है कमस्पी विद्यास एवं सचय तद्वर' की अतिव
छाया का सुखानभव करने में मेवभाव बोधक कोई बात नहीं रहती। जैसे कुछ
अचय दल एवं नीकधर्म पर अमेवभाव रखता हुआ समान रूपसेही छाया का
प्रसार करता है उसी प्रकार धर्म भी अमेवभाव का पोषक है।

अस धर्म में मेवभाव है वह धर्माभास है। धर्म के प्राबल्य से ही
मनुष्य की पहिचान होती है और वह धर्म ही मानवता एवं पशुताकी विभि-
न्नता का सूचक है नीतिज्ञ पुरुषोंन तो धर्म हीन पुरुषों को सर्वथा पशुत्व
ही कहा है।

जिमान धम का पात्र कर जामा उसन सर्वस्व नह कर जान है और
जिहम धम की रक्षा की है उनन गवस्व रक्षा की है तथाहि—

धमार्थ काम माक्षाणां पाणा संस्थितिहेतवः ।

नाभिप्राता वि न हने नक्षिना कि न दक्षित ॥

इन सम्बन्ध में विज्ञाप बचन विम्व गाथाओं द्वारा जानना चाहिये।

अनुवादक—पृथ्वी भी नमशासनी म का से प कीरपुत्र विम्वचन्द्रजी म की

मूल.

धम्मेण कुलप्पसूई धम्मेण य दिव्वरूपसंपत्ती ।
 धम्मेण धणसमिद्धी धम्मेण सुवित्थडा किन्ती ॥ १ ॥

छाया

धर्मेण कुलप्रसूति धर्मेण च दिव्यरूप सम्पत्ति ।
 धर्मेण धन समृद्धि धर्मेण सुविस्तृता कीर्ति ॥ १ ॥

दोहा.

वंश प्रसूति रूप धन सम्पत्ति औ ऐश्वर्य ।
 शुभ्र कीर्ति समृद्धि है होय धर्म गांभीर्य ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(धम्मेण) धर्म से (कुलप्पसूई) कुलपरंपरा चलती है (य) और (धम्मेण) धर्म से (दिव्वरूप संपत्ति) दिव्यरूप तथा सम्पत्ति प्राप्त होती है (धम्मेण) धर्म से (धणसमिद्धि) धनादि समृद्धि-ऐश्वर्य मिलता है तथा (धम्मेण) धर्म से ही (किन्ती) कीर्ति (सुवित्थडा) सुविस्तृत—सर्वत्र व्याप्त होती है ।

भावार्थ—धर्म के प्रसाद में ही कुलपरंपरा चलती रहती है और धर्म से ही दिव्यरूप अर्द्ध सम्पत्ति एवं विपुल श्रद्धा प्राप्त होती है । धर्म से ही सासारिक ऐश्वर्य सुख प्राप्त होते हैं तथा धर्मद्वारा ही समस्त विधर्म निवृत्तक निर्मल कीर्ति व्याप्त होती है ।

ओर से पटित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

सूक्त

धम्मो यमसमंजसं ओसहयसकं च सम्बुद्धसत्ताम् ।

धम्मो वसमपि विपुलं धम्मो ताणं च सरणं च ॥ १ ॥

छाया

धर्मो मङ्गलमस्तुकं यौपयमस्तुल्यं सर्वं दुःखनाशम् ।

धर्मो वसमपि विपुलं धर्मं ज्ञाणञ्च शरणञ्च ॥ १ ॥

श्लोका

धर्म ही मङ्गल भेद है दुःखौपय है धर्म ।

जन्म मरण को बन्ध धर्म है ज्ञानमृत है धर्म ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—(धम्मो) धर्म ही (मङ्गलं) बख्शीय (मङ्गल)
मेमल है (च) और (सङ्गं बुद्धार्थं) सर्व दुखों की (मङ्गलं) अदुःख
भाव (ओसह) औपय है तथा (धम्मो) धर्म (विपुलं) समुप्योभ
विपुल-वसमपि (वसमपि) बन्ध है (धम्मो) धर्म ही (ताणं) ज्ञान
च) एवं (सरणं) शरणमृत है ।

मन्त्रार्थ—धर्म ही बख्शीय अलङ्करी है और सर्व दुखों से निवृत्त होने
के लिये अमोघ अल्प है धर्म मानवीय जीवन में अद्वितीय अलङ्करी है और धर्म ही
विपदा के समय बाल बन्ध अलङ्करी है ।

अनुवक्तव्य—बुद्ध भी धर्मदासजी म की क. के वीरपुत्र विमलचन्द्रजी व की

मूल.

किं जपिण्ण बहुणा ज ज दीसइ समत्थ जियलोए ।
इन्द्रियमणाभिराम त तं धम्मफल सव्वं ॥ ३ ॥

छाया

किं जस्पितेन बहुना यद्यद् दृश्यते समस्त जीव लोके ।
इन्द्रिय मनोऽभिराम तत्तद् धर्मफल सर्वम् ॥ ३ ॥

दोहा.

इन्द्रिय मन की मोदता वस्तु दिसे जग मांहि ।
और कथन से लाभक्या धर्म ही की है सांहि ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(बहुण) बहुत अधिक (जपिण्ण) बोलने से भी
महत्ता बताने से भी (किं) क्या लाभ है (समत्थ) इस समस्त (जिय-
लोए) जीवलोकमें (जं जं) जो जो (इन्द्रियमणाभिरामं) इन्द्रिय एव
मनको प्रसन्न करने वाली वस्तु (दीसइ) दृष्टिगोचर होती है (तं तं) वह
(सव्वं) सब (धम्मफलं) धर्म का ही फल है ।

भावार्थ—पाठको ! धर्म के सम्बन्ध में विशेष प्रशंसा करना अनुपयुक्त है
इसलिये केवल इस एक ही वाक्य में सर्व सारांश जान लेना चाहिये कि समस्त जीव
लोक में इन्द्रिय एव मन को अभिराम (सुन्दर) प्रतीत होने वाले जो २ पदार्थ दृष्टि
गोचर होते हैं वे सब धर्म के प्रसाद से ही उपलब्ध कर सकते हैं ।

आरसे पंडित प्रवर श्री श्रीभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

भीममि मरणकाले मोक्षार्ण दुःखस्यऽपिहस्यपि ।
अस्य देह सयण धम्मोच्चिय होह सुसहायो ॥ ४ ॥

अर्था

भीमे मरणकाले मुक्ता दुःख समुपार्जितम्पि ।
अर्थो देह स्वयन धर्म एव भवति सुसहायः ॥ ४ ॥

बोद्धा

देह स्वयन धर्म छोड़ के परम काळ के माय ।
जीव सहायक धर्म है जो मिल साथे जाय ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(भीममि) भयंकर (मरणकाले) मरणकालमें
(दुःखस्यऽपिहस्यपि) दुःखों के उपाश्रय कान बाने (अर्थे) धर्म (देह)
छोड़ एव (सयण) स्वयन्निद्राओं को (मोक्षार्ण) छोड़कर (धम्मोच्चिय)
धर्मही विषय करने जीव को (सुसहायो) सुसहायक (होह) होगा है ।

भावार्थ—जीव मरण समय में दुःखोपाश्रित धर्म छोड़ एव स्वयन स्वेही
कम्पुभी का परिणाम कर सकाही ही परलोके क्या जाता है किन्तु केवल धर्म ही
जो दुःखराक्षार्थे जगत् का धर्म सहायक होता है तत्पर्यं धर्म ही कि लंगर में धर्म
सम्पन्न स्वार्थरूप ही भवति है स्वार्थ प्राप्त हीनेछ मरण करने जानि है किन्तु लंगर
नहयता वरान अनेकाना धर्म ही है

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मदासजी न की क के श्रीगुरु विनयकम्पनी न की

मूल.

पावेइ य सुरलोय तत्तो वि सुमाणुसत्ताणं धम्मो ।
तत्तो दुक्खविमोक्ख सासयसोक्खं लहुं मोक्खं ॥ ५ ॥

छाया.

प्राप्नोति च सुरलोक ततोऽपि सुमानुष्यत्वं धर्मात् ।
ततो दुःखविमोक्षं शाश्वतसौख्यं लघु मोक्षम् ॥ ५ ॥

बोद्धा.

देवलोक हो धर्म से तदनन्तर नर देह ।
दुःख सागर से मुक्त हो जाय मुक्ति के गेह ॥ ५ ॥

मन्वयार्थः—(धम्मो) धर्म से जीव (सुरलोयं) सुर लोक को (पावेइ) प्राप्त करता है (य) और (तत्तो) वहांसे च्युत होकर (सुमाणुसत्ताणं) श्रेष्ठ मानव देह पाता है (तत्तो) पश्चात् (दुक्खविमोक्खं) दुःखों से मुक्त होकर (सासयसोक्खं) शाश्वत सुख वाले (मोक्खं) मोक्षको (लहुं) शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करता है ।

भावार्थ — धर्म के महात्म्य से ही जीव सुर लौकिक सुखों को प्राप्त कर सकता है और आयुस्थिति पूर्ण होनेपर वहां से च्युत होकर भी उत्तम मानव देह को ही धारण करता है तदनन्तर समस्त दुःखों से मुक्त होकर शाश्वत सुख वाले मोक्षपद को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर सुखानुभव करता है ।

ओम् से पंडित प्रवर श्री श्रीभाग्यमलजी महाराज के कर-कर्मजों में सादर समर्पित

मूल

धर्मेण स्रष्ट जीवो सुरमानुसपरमसौख्यं माहर्ष्यं ।
 दुःखसहस्रवास पावह नरय अहर्मेण ॥ ६ ॥

छाया

धर्मेण कर्मते जीव सुरमानुपपरमसौख्यं माहर्ष्यम् ।
 दुःखसहस्रवास प्राप्नोति नरकमधर्मेण ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मानव सुरगति सुख मिष्टे धर्म तत्त्वसेवा
 पाप करण ते नरक हो बहु दुःखों का स्थान ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(जीवो) जीव (धर्मेण) धर्म से (सुर) देव
 देवभी एवं (मानुस) मनुष्य धर्मवी (परमसौख्यं) परम सुख
 (माहर्ष्यं) महान्न को (पावह) प्राप्त करता है और (अहर्मेण) अधर्म
 से (दुःखसहस्रवासं) हजारों दुःखों के स्थान वाली (नरय) नरकस्थिति
 को (स्रष्ट) प्राप्त करता है ।

७

भावार्थ—मानवी धर्म के प्रसार से ही देव धर्मवी एवं मनुष्य धर्मवी
 मौलिक सम्पत्ति की प्राप्ति करता है और अधर्माचरित शक्तियोंवाला ही सदा दुःख उत्पन्न
 करने नरकस्थिति मनो में गान्धापीय कलमुक्त करता है अर्थात् धर्म से सुख पाता है और
 पापप्रिया से अर्थात् दुःख उठाया करता है ।

मूल.

मेहेण विणा वुट्ठी न होइ न य वीयवज्जियं सस्सं ।
तह धम्मेण विरहिय न य सोक्ख होइ जीवाणं ॥ ७ ॥

छाया

मेधेन विना वृष्टिर्न भवति नच बीजवर्जितं शस्यम् ।
तथा धर्मेण विरहितं नच सौख्यं भवति जीवानाम् ॥ ७ ॥

बोधा.

जलधर विन नहिं वृष्टि हो बीज बिना नहिं धान्य ।
धर्म बिना नहिं सुख मिले ओर न होवे मान्य ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(मेहेण) मेघके (विणा) विना (वुट्ठी) वृष्टि (य) और (वीयवज्जियं) बीज के बिना (सस्सं) धान्य (न) नहीं (होइ) होता (तह) वैसे ही (धम्मेण) धर्म से (विरहियं) रहित (जीवाणं) जीवोंको (सोक्खं) सुख (न) नहीं (होइ) प्राप्त होता है ।

भाषार्थ—जैसे मेघ के बिना वृष्टि और बीज के बिना धान्योत्पत्ति होना असंभव है तथैव धर्मविहित जीव के लिये सुख प्राप्ति भी अत्यन्त दुष्कर है अर्थात् मेघ से वृष्टि और बीजसे अन्न उत्पन्न होता है उसी प्रकार धर्म से सुखलाभ होता है ।

ओरसे पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूढ

धनधो धनस्थिपार्थं कामस्थीण च सङ्घकामकरो ।
सगमापवर्गसगमहेतु विजयेसिन्धो धर्मो ॥ ८ ॥

काम्या

धनदो धनार्थिनां कामार्थिनां च सर्वकामकर ।
स्वर्गापवर्गसगमहेतु विजयेसिन्धो धर्म ॥ ८ ॥

बोद्धा

धन मोक्षुष को द्रव्य हे कामार्थी को काम ।
स्वर्ग मोक्ष मे हेतु हे धर्म लक्ष को मान ॥ ८ ॥

अन्वयाय—(धनस्थिपार्थं) धनार्थियों को (धनधो) धन
रत्न धाम (च) और (कामस्थीणं) कामार्थियों कि (सङ्घकामकरो)
सर्व अनिष्टावा दूर करने वाला (सगमापवर्गसगमहेतु) लगे तथा मोक्ष से
विलक्षण करने में हेतुमूल (विजयेसिन्धो) विजयप्रपन्नि (धर्मो)
धर्म ही है

भाषाया—धनार्थियों को दान प्राप्ति में मुख्य हेतुका काम की दृष्टि
रखने वालों की काम प्राप्ति में लाभप्रद और स्वार्थिकों की प्राप्ति में निमित्तपर केवल
विजय प्रपन्नि धर्म ही है क्योंकि धर्म के द्वारा कोई अन्य लाभ प्रिय अनिष्टावा
नाशवान् को दुर्ति में लक्ष्य नहीं है ।

अनुवाद—द्रव्य की धर्मप्राप्ति में ही न के योग्य विजयप्रपन्नि न ही

मूल.

धम्मो चेवेत्थसत्ताणं सरणं भवसायरे ।
देव धम्मं गुरुं चेव धम्मत्थी य परिक्रवण ॥ ९ ॥

छाया.

धर्मधैवात्र सत्त्वाना शरण भवसागरे ।
देव धर्मं गुरुचैव धर्मार्थी च परीक्षयेत् ॥ ९ ॥

शोभा.

पार करन भव जलधिको धर्म सत्त्व तू जान ।
गुरुगुरु ही है धर्म मम धर्मार्थी तू मान ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(एत्थ) इस (भवसायगरे) संसार सागर में (सत्ताणं) जीवों के लिये (धम्मो) धर्म ही (चेव) निश्चय करके (सरणं) शरणभूत है (य) और (देव) देव (धम्मं) धर्म (चेव) तथा (गुरुं) गुरुको ही (धम्मत्थी) धर्मार्थी (परिक्रवण) कहा गया है ।

भावार्थः—इस अगाध समार समुद्र को तिरने के लिये एक धर्म ही वाण एव शरणरूप है और यथार्थ देव धर्म तथा गुरु की परीक्षा करने वाला ही धर्मार्थी कहा गया है तात्पर्य यही कि धर्मरूपी नौका बिना समारसागर कदापि नहीं बिरा जा सकता है और धर्मार्थी पदका अधिकारी भी वही है जो कि मन्त्र देव गुरु एव धर्म की यथावत् परीक्षा करता है ।

शोर से पण्डित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महागज के कठकमलों में सादर समर्पित

मुख

बाबत्तरीकसार्पडिया पि पुरिस्ता अर्पडिया चेव ।
सम्बकसाण पवरे के धम्मकसं म जानमि ॥ १० ॥

कथा

हासपति कस पण्डित्ता अपि पुरिया अपण्डित्ता एव ।
सर्व कत्ताना प्रवरे ये धर्मकत्ता म जानमि ॥ १० ॥

बोद्धा

सर्व कत्ताकोविद् ममुक्क धर्मकत्ता वनमिह ।
कत्ता बहोत्तरविद् मी भवामी है विद् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (पुरिस्ता) मनुष्य (सम्बकसाणं)

सर्व कत्ताओं में (पवरे) उत्तम ऐसी (धम्मकसं) सर्व कत्ताओं (म) यहाँ
(जानमि) जानते हैं व (बाबत्तरीकसार्पडिया) बहोत्तर कत्ताओं के
ब्रह्मा पंडित भी (अपेडिया) अपण्डित मुख (चेव) ही है ।

भावार्थ—विद्वत् मनुष्यने बहोत्तर कत्ताओं में सिपुल्ला प्राप्त की है किन्तु
एक धर्मकत्ता ॥ इच्छा नहीं जान की गी कत्ता बहोत्तर कत्ताओं का ब्रह्मा सिद्ध
ब्रह्मा की अपण्डित का ही वीर्य है जहाँ धर्मकत्ता विद्वत् व्यक्ति बहोत्तर कत्ताओं
जानने वाला होने का ही मूल ही समझा जाता है ।

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मरत्नजी म. की से के वीरपुत्र विमलचन्द्रजी म. की

मूल.

लङ्घुण माणुसत्तं जस्स न धम्मं सया हवइचित्तं ।
तस्स किं करयलत्थं अमयं नट्ठं चियं नरस्स ॥ ११ ॥

छाया.

लङ्घ्वा मानुषत्व यस्य न धर्मे सदा भवति चित्तम् ।
तस्य किल करतलस्थममृतं नष्टमेव नरस्य ॥ ११ ॥

दोहा

मानव भवको प्राप्तकर धर्म में न हो चित्त ।
करतल गत पीयूषवत् व्यर्थ गयो नरचित्त ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(माणुसत्तं) मनुष्यत्व को (लङ्घूण) प्राप्त करके
(जस्स) जिसका (धम्मं) धर्म में (सया) सदा (चित्तं) चित्त (न)
नहीं (हवइ) होता है (तस्स) उस (नरस्स) मनुष्य का (करयलत्थं)
हथेली पर रखा हुआ (अमयं) अमृततुल्य नरतन भी (चियं) निश्चय करके
(नट्ठं) नष्ट होजाता है ।

भावार्थ—अत्यन्त दुर्लभ उत्तम मानव जीवन को प्राप्त करके भी जिसका
निरन्तर धर्म में चित्त तल्लीन नहीं रहता है उसका मनुष्यत्व हथेलीपर रखे हुए अमृतके
समान व्यर्थ ही प्रतिक्षण व्यतीत हो रहा है जैसे हथेलीपर रखा हुआ अमृत बिन्दु
रूपमें टपककर व्यर्थ चला जाता है वैसे ही अमृततुल्य मानवदेह धर्म के बिना निरर्थक
व्यतीत हो जाता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

श्रुति

जीवदयाई दमिज्जइ ईदियवग्गो दमिज्जइ सपाणि ।
सत्थं वेव वविज्जइ यम्मस्स रहस्स भिज्जेव ॥ १२ ॥

भाषा

जीव दयायां दमेत इन्द्रियवर्गो दाम्प्येते सहाणि ।
सत्यमेव कथयेत धर्मस्य रहस्यमिदमेव ॥ १२ ॥

बोद्ध

जीव दयामे जो रमे इमे इन्द्रिय वर्ग ।
सत्य बचन भित बखीरि बही जमे अपवर्ग ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(जीवदयाई) जो अनुपम जीवदया ने (दमिज्जइ) दमन करता है । (सपाणि) हमेसा (ईदियवग्गो) इन्द्रिय के समूह को (दमिज्जइ) दमन करता है तथा (सत्थं) साथ बचन ही (वेव) विचार करके (वविज्जइ) उन्वयारण करता है (यम्मस्स) वर्यका (भिज्जेव) यही (रहस्स) रहस्य है

भाषार्थ—जो व्यक्ति सत्य जीवदयामें रमन करना रहना है निज इन्द्रिय काय दमन का उत्तम विचार प्रणय करता है तथा सर्वदा धर्म सत्य वाचन का ही उन्वय करता है वही धर्म का बचाने वाला कहा जा सकता है और धर्म का ही वही वास्तविक रहस्य है

अनुवादक बुद्ध जी वर्मदासजी व जी व के वीरपुत्र विमलकन्दजी व जी

मूल.

शीलं न हु खडिज्जइ न सवसिज्जइ समं कुसीलेहिं ।
गुरुवयणं न खलिज्जइ जइ नज्जइ धम्मपरमत्थो ॥ १३ ॥

छाया.

शील नहि खण्डयेत् नच सवसेत् सम कुशीलै ।
गुरु वचन न खलेत् यदि ज्ञायते धर्म परमार्थ ॥ १३ ॥

दोहा

धर्म तत्त्व परमार्थ विद् शील करे नहि भंग ।
नहि टाले गुरुवचन को करे कुशील असंग ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ—(जइ) यदि (धम्म) धर्म के (परमत्थो) पर-
मार्थ को जो (नज्जइ) जानता है वह (सील) शीलव्रतको (न) नहीं
(खडिज्जइ) खडित कर सकता है (कुसीलेहिं) शिथिलाचारियों के
(समं) साथ (न) नहीं (सवसिज्जइ) रहता है तथा (गुरुवयणं)
गुरुवर्यों के वचन को (न) नहीं (खलिज्जइ) टालता है ।

भावार्थ.—जो भ्रष्टगुणयुक्त व्यक्ति धर्म के परमार्थ तत्त्वको जानता है वह
उक्तशील धर्म का कदापि खडन नहीं कर सकता है शिथिलाचारियों के सहचर्य की
भी इच्छा नहीं रखता है एवं गुरुवर्ग के सदुपदेशरूप वचनका उल्लंघन भी नहीं
कर सकता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

धम्मो बधु सुमित्रो य धम्मोय परमो गुरु ।
मुक्त्वमगो पयद्वाण धम्मो परमसदिणो ॥ १४ ॥

अवयव

धर्मो बधु सुमित्रश्च धर्मश्च परमो गुरु ।
मोक्षमार्गो प्रवृत्तानां धर्म परम स्वन्दन ॥ १४ ॥

टीका

धर्मबन्धु भौ मित्र है धर्मगुरु मतांद ।
मोक्ष मार्ग के ही छिने सम्मति कवितार ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ - धम्मो) धर्म ही (बधु) बधु (य) और
(सुमित्रा) सच्चा मित्र है (धम्मो) धर्म ही (परमो) धर्म से बड़ा
(गुरु) गुरु है (धम्मो) धर्म ही (मुक्त्वमगो) मोक्षमार्ग की ओर
(पयद्वाण) प्रवृत्ति कराने वाले के छिने (परमसदिणो) भेद रूप के
समाप्त है ।

साधारण्य - धर्म ही बधु एवं सच्चा स्नेही है धर्म ही परमोत्तम गुरु है और
मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्ति कराने के छिने धर्म ही उत्तम एवं ॥ समाप्त
है छिने बन्धुर्भाव एवं स्नेही जन आपत्ति में तत्कालक हीरो है धुम्भ्य सत्य प्रत्येक
होते है इसी प्रकार धर्म ही आपत्तियों महात्मक समाप्तिकरणक हीरो है ।

मूल.

विद्वीताणनराण विज्ञाणे तद् गुणेषु कुसलत्वं ।
सुहसच्चधम्मरयणे सुपरिक्खं जे न याणन्ति ॥ १५ ॥

छाया

विधिक् ! तेपा नराणाम् विज्ञाने तथा गुणेषु कुशलत्वम् ।
शुभसत्यधर्मरत्ने सुपरीक्षा ये न जानन्ति ॥ १५ ॥

दोहा

बहु विज्ञानी कुशल नर बहु शास्त्रोंका विद्वान् ।
नहीं धर्म को पारखे तो सब विध है अनभिज्ञ ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ — (जे) जो मनुष्य (सच्चधम्मरयणे) श्रेष्ठ एव
सच्चे धर्मरूपी रत्न की (सुपरिक्खं) श्रेष्ठ परीक्षा (न) नहीं (याणन्ति)
जानते हैं (ताण) उन (नराण) मनुष्यों के (विज्ञाणे) विज्ञान को
(विद्वी) धिक्कार है तथा (गुणेषु) गुणों की (कुसलत्त) कुशलता
धिक्कार है ।

भावार्थ — जो मानव श्रेष्ठ एव यथार्थ धर्मरूपी रत्न की यथावत् परीक्षा
नहीं जानता है उनके ज्ञानका तथा गुणों की निपुणता को बारम्बार धिक्कार है भावार्थ
यही कि धर्माकुर विहीन व्यक्ति चाहे महान् विद्वान् और समस्त गुण युक्त हो
तथापि वह सर्व कुशलता पाखण्डमात्र है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महागज के कर-कमलों में सादर समर्पित

* क्षमा *



परायी व्यक्ति का प्रतीकन करने में समर्थ होना ही प्रतीकन न करना ही क्षमा है जबकि घातघर्षमान वैरमान एवं क्रोध भावना का निर्दोष ही क्षमा की हठ परीक्षा है जिसके पुनित करण्यको ये क्षमास्पी बल सुबोमित हो रहा है उसका दुर्जन व्यक्ति भी कुछ लज्जित नहीं कर सकता है ।

क्षमा और पुरुषों का बन्ध है । वह कपड़ों एवं कुञ्जरों का नहीं अपहर के प्रतिकार करने का सामर्थ्य न होनेपर जो क्षमा की जाती है वह और की परिपोषिका नहीं कही जासकती है प्रसुत वह जो कबलता और असामर्थ्य की परिचायिका है ।

क्षमा के भाग पायावन् कठोर हृदय वाले व्यक्ति की भावना जलमय हवीभूत हो जाती है । क्षमामें महत्त्वमान एवं प्रच्छन्नकम दो एक देसी कन-त्कारिक क्षति ही हुई है कि जिससे उसके समस्त प्रत्येक प्रवक्तृत्व को नष्ट मस्तक होना पड़ता है ।

क्षमा की प्रथम कमलका विमोच करने में समर्थ है । यही स्वभाव बगकी नि धेनी है । तब हीक पुरुष शत्रु और मित्र पर समान मैत्रीभाव रखता है इसका पवित्र भक्त कथ्य गबक निर्मित स्वच्छ है । गबता है इसलिये क्षमा को प्रत्येक सम समझकर तबतक प्रवृत्तिवतु उद्यमशील होना चाहिये ।

(इस क निब विमोच विवचन निम्न पात्राओं द्वारा कथ है !)

अनुक १-पुरुष भी धममानजी म की म के शीगुन विमवचनजी म की

मूल.

कोहस्स निग्गहणं खती जीवो य सजमो भणिओ ।
खंती गुणाण मूलु खती धम्मस्स सव्वस्म ॥ १ ॥

छाया

क्रोधस्य निग्रहणं क्षान्तिर्मीवश्च सयमो भणित ।
क्षान्तिर्गुणानां मूलं क्षान्तिर्मेस्य सर्वस्वम् ॥ १ ॥

दोहा.

क्रोध शत्रु का दमन कर क्षमा धर्म तू मान ।
जीव दमन संयम कहा सर्व गुणों की खान ॥ १ ॥

अन्वयार्थ — (कोहस्स) क्रोध के (निग्गहण) निग्रह-दमन को (खंती) क्षमा कहते हैं (य) और (जीवो) जीव के निग्रह को (सजमो) संयम (भणिओ) कहा गया है (खंती) क्षमा धर्म ही (गुणाण) सर्व गुणों का (मूलं) मूल है तथा (खती) क्षमाही (धम्मस्स) धर्म का (सव्वस्सं) सर्वस्व है ।

भावार्थ — क्रोध के क्लृप्ति पाणिमों को निग्रह करना ही क्षमा है और मनका निग्रह करना ही संयम कहा गया है क्षमा धर्म ही सकल गुणों में प्रधान गुण है और यही धर्म का मारभूत तत्त्व है अर्थात् क्षमा धर्म के प्राप्त होनेपर अन्य गौण धर्म सहसा इस के अनुगामी हो जाते हैं अतः क्षमा ही समस्त गुणों का मूल मूलरूप है ।

मूल

कामो य कायिणीज यथा, गुणरूपसंपयाकलिमो ।
मणदृभो सपञ्जइ, भाणवडिच्छो स्वमाधम्मे ॥ १ ॥

छाया

कामस्य कामिनीनां मर्त्ता गुणरूप सम्पदाकस्ति ।
मनोयिता सम्पद्यते आह्ला प्रसाधक क्षमाधर्मे ॥ १ ॥

बोधा

गुण सम्पत्ति युक्त पति मिळे तदनुकूल हो सम्य ।
मन इच्छित अनुराग मय क्षमाधर्म माहात्म्य ॥ १ ॥

अन्वयात् — (क्षमाधर्मे) क्षमा धर्म से (कामिणीज) किबो
को (कामो) इ-अनुयाः (गुणरूपसंपयाकलिमा) गुणरूप तथा सम्पत्ति
से युक्त (मय) जो (मनोयित्वा) मन करन वाली (भाणवडिच्छो)
आभाषावक (मर्त्ता) पति (स्वपञ्जर) प्राप्त होता है ।

भावार्थ — क्षमा धर्म का व्यवसायन करने से मर्त्य पति को मनोयि-
ति सम्पत्तिप्राप्त हो । जो क्षमाधर्म मय पति गुणरूपसम्पत्ति प्राप्त करने वाला
और अनुकूल पति मय होता है मर्त्य को भी जो धर्म मय से उत्तीर्ण सम्पत्ति
प्राप्तिसे मिलता है वह क्षमा धर्म का ही महान् प्रसाद समझना चाहिये ।

अनुवादक—पू. ब. श्री रामायणी म. की १ के वीरपुत्र विजयचन्द्रजी म. की

मूल.

सयलकलाकुसलाओ, निम्मलकुलसील पुन्नकलियाओ ।
लब्धमति लच्छिनिलया, महिलाओ खंतीधम्माओ ॥ ३ ॥

छाया

सकलकला कुशलो, निर्मल कुलशीलपुण्यकलिता ।
लभन्ते लक्ष्मीनिलयाः, महिला क्षान्ति धर्मात् ॥ ३ ॥

दोहा.

कला विशारद कुलवती, शीलवती मतिमान ।
गृहलक्ष्मी सी कामिनी, मिले बहुत धीमान ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ — (खंतीधम्माओ) क्षमाधर्म से मनुष्य (सयलक-
ला) सर्व कलाओं में (कुसला) कुशल चतुर और (निम्मलकुलसील
पुन्न) निर्मल कुलशील एव पुण्यसे (कलियाओ) युक्त (लच्छिनिलया)
लक्ष्मीके गृह के समान ऐसी (महिलाओ) स्त्रियों को (लब्धमति) प्राप्त
करते हैं ।

भावार्थ — क्षमा धर्म के अनुपम प्रभाव से ही मनुष्य सर्व कलाकुशला
निर्मल कुलशील परिपूर्णा पुण्यशाली और लक्ष्मी के तुल्य त्री को प्राप्त कर सकता
है अर्थात् यदि हम मनोवांछित गृहकला कोविदगृहिणी चाहते हैं तो क्षमा धर्मका ही
अवलम्बन लेना चाहिये ।

मूल

वरमवयसयणवणवमसपया हुंति स्वतीपम्माओ ।
मणुषाण मणुयजम्मो इच्छिय मोगण संपत्ती ॥ ४ ॥

उपमा

वरमवयस ययन धन धन्य सम्पत्ते मवसि क्षाप्ति मवसि ।
मनुमानां मनुजजम्मनि इच्छियमोगानां संपत्ति ॥ ४ ॥

बोद्धा

बेष्ठमवयस धर्म सम्पत्ता वीर्या मोग महान ।
श्रमा धर्म ते अग मिठे इच्छित सब सामान ॥ ४ ॥

प्रत्ययार्थ- (स्वतीपम्माओ) जमा धर्म से (वरमवयस) बेष्ठ
मवयस (स्वयण) बेष्ठ कप्या (धन्यवयस) वय वयस वय (संपत्ता) संप
वसि (हुंति) णप होती है और (मणुषाण) मनुष्यों को (मणुजजम्मो)
इस मवयस धर्म से (इच्छिय मोगेण) इच्छित मोग मोग (स्वसि)
संपत्ति भी मिलती है

मायार्थ- जमा धर्म के फल से ही निम्नमन कप्य कप्या पुण्य वय
वयस वय मनु मवयस प्राप्त होती है इसके अनिष्टिक मनुष्य सम्पत्ती समस्त वीर्यावीर्य
वीर्य सब सामग्री प्राप्त कर सकता है वास्तव में सब सामग्रीक वय मवयस वय
वयस वय कारण वयवयस ही है ।

मनुष्यक मनुष्य वी रमवयस वी वी स के वीर्युष वियवयस वी वी

मूल.

खंतीए गुणसमेओ मन्निज्जइ माणवो विरूवो वि ।
जइ नदिसेणसाहू पसंसिओ तियसनाहेण ॥ ५ ॥

छाया.

क्षान्त्या गुण समेतो मन्यते मानवो विरूपोऽपि ।
यथानन्दिषेणसाधु प्रशंसितस्त्रिदशनाथेन ॥ ५ ॥

दोहा

विकृत नर सुंदर बने क्षमा धर्म आधार ।
नन्दिषेण मुनि इन्द्रते हुए प्रशंसित सार ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(खंतीए) क्षमाधर्म से (विरूवो) कुरूप (माणवो) मनुष्य (वि) भी (गुणसमेओ) गुणयुक्त (मन्निज्जइ) जाना जाता है (जइ) जिस प्रकार (नदिसेणसाहू) नन्दिषेण मुनिकी (तियसनाहेण) इन्द्रके द्वारा भी (पसंसिओ) प्रशंसा कही गई ।

भावार्थ—क्षमा धर्म के आदर्श प्रभावसे लावण्य हीन व्यक्ति भी सौन्दर्य शील एवं सद्गुणी माना जाता है यथा नन्दिषेण नामक मुनिवर्य विकृतांगी होनेपर भी केवल क्षमाधर्म के प्रसाद से ही देव नायक इन्द्र द्वारा भी प्रशंसित हुए अर्थात् क्षमागुण में आकर्षित होकर स्वयं शक्र भी निज मुखारविंद से प्रशंसा करने लगा ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मुख

न पि तं करोइ माया नैव पिता नैव वेधयज्जो य ।
उपकारं जह संती सुसेविया सख्य जीवाणं ॥ ६ ॥

छाया

नापि तं करोति माता नैव पिता नैव वाग्धयज्जमख ।
उपकारं यथा क्षान्ति सुसेविता सर्व जीवानाम् ॥ ६ ॥

बोधा

जन्मक जन्मनि पुनः वेधुज्जम नहीं करे उपकार ।
समा धर्म के आचारे हो जग भूतोच्चार ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(जह) मिल उपकार (जीवाणं) प्राणियों का (सुसेविय) सुसेविका (संती) कर्मात्म (उचकारं) उपकार (करोइ) करता है (तं) वैसा उपकार (माया) माता (नैव) नहीं कर सकती है (पिता) पिता (नैव) नहीं कर सकता है (य) और (वाग्धयज्जमो) वाक्पद जन्म (धि) भी (न) नहीं कर सकते हैं ।

भाषार्थ—विश्व जन्म कर्मात्मकी परिचारिका (सेविका) सख्य जब भीष्टे की तब मन से सेवा सुकसा और उपकार करती है बिना उपकार व ही मिल जन्मों का सुकरी दे नहीं पिता कर सकता है और न वाक्पद जन्मों का सुकरी दे नहीं सख्य धर्म सिद्धि में एक कर्मात्म ही मुख्य साधन सक्षम है ।

अनुवादक—दृश्य भी वर्गेवासजी य की छ के नीरुज विनयकन्दजी न की

मूल.

सर्वेऽपि गुणा खंतीइ वज्रिया नेवदिति सोहगं ।
हरिणक कलविहूणा रयणी जह तारयइहावि ॥ ७ ॥

छाया

सर्वेऽपि गुणा क्षान्त्यावर्जिता नैव ददति सौभाग्यम् ।
हरिणाक कलाविहीनो रजनी यथा तारकाद्यापि ॥ ७ ॥

दोहा

क्षमा रहित गुणगण भी नहीं शोभा को पाय ।
उडुगण युतपिण शशि बिना रजनी ज्यो देखाय ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(खंतीइ) क्षमाधर्म से (वज्रिया) रहित बने हुए (सर्वे) अन्य सर्व (गुणा) गुण (सोहगं) शोभा को (नेव) नहीं (दिति) प्राप्त होते हैं (जह) जैसे (तारयइहावि) तारक समुदाय से युक्त भी (रयणी) रात्रि (हरिणककलविहूणा) कलाविहीन चन्द्रमामे शोभा नहीं देती है ।

भाषार्थ—जिम प्रकार सकल तारक मढली से सुशोभित रजनी चन्द्र के बिना रमणीय प्रतीत नहीं होती है उसी प्रकार मनुष्य में सकल गुण गण विद्यमान हो किन्तु एक क्षमाधर्म नहीं हो तो वे समस्त गुण भी शोभास्पद नहीं होते हैं यथात्तारक मढली में चन्द्रप्रभा ही मुख्य है तथैव ममस्त गुणों में क्षमा गुणही प्रधान है क्षमातिरिक्त अन्य गुण समुदाय की शोभा नहीं है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

नयनविह्वलं वयन कमलविह्वलं च सरवर जडय ।
न य सोदह तह सतीए विह्वलं माणुस छोए ॥ ८ ॥

अर्थः

नयनविह्वलं वयनं कमल विह्वलं सरवरं यथा च ।
न य सोमते तथा क्षम्या व्यसो मानुषो ज्ञेये ॥ ८ ॥

बोझ

छोचन विन आनन जहा पैकन विन टाकन ।
सुमा विवा नरवेह वै नही रहे कहू जाव ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थः—(छोए) इस सेतारमें (जह) जिस प्रकार (नयन विह्वलं) चैन के बिना (वयनं) मुख (च) और (कमलविह्वलं) कमल के बिना (सरवर) छतेवर (न) वही (सोदह) बोझा देता है (तह) जैसे ही (सतीए) कामके (विह्वलं) बिना (माणुस) मनुष्य सोमते वही प्रसन्न कर सकता है ।

मन्त्रार्थः—जिस प्रकार जलतीला करन बिबिर् भी बोझा नहीं आकर सकता है और कमलछते छतेकर क्षम्याही इति नोकर होता है वही प्रकार क्षमाशील करन रहित व्यक्ति भी इस सेतार में करानि कर्मनीय नहीं हो सकता है किन्तु जैसे बोझाकरा सब और कमलछता छतेकर सुन्दर प्रतीत होता है वही क्षम्याय मनुष्य की सीमा है ।

अनुवादक—वृज्य श्री बर्मदासजी म श्री ल के वीरपुन विनयकरजी म. की

मूल.

खतिदयादमजुत्तो जो मणुओ होइ जीवलोगम्मि ।
सो जसकिन्ती पावइ कल्याण परंपरं विउलं ॥ ९ ॥

छाया.

क्षान्तिदया दम युक्तो यो मनुजो भवति जीवलोके ।
स यशः कीर्तिं प्राप्नोति कल्याण परम्परा विपुलाम् ॥ ९ ॥

दोहा.

दया क्षमा इन्द्रिय दमन आदि गुणो से युक्त ।
धवल कीर्ति फैले विपुल होवे सत्वर मुक्त ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ —(जीवलोगम्मि) इस जीव लोकमें (जो) जो मणुओ) मनुष्य (खंतिदयादमजुत्तो) क्षमा दया इन्द्रिय दमन आदि गुणों से युक्त (होइ) होता है (सो) वह मनुष्य (विउलं) विपुल बहुत अधिक (कल्याणपरंपरं) कल्याण की परंपरा एवं (जसकिन्ती) यश कीर्तिको (पावइ) प्राप्त करता है ।

भावार्थ —इस जीव लोकमें जो व्यक्ति क्षमा दया इन्द्रियदमन यदि मुख्य मुख्य गुणों से युक्त होता है वह विपुल कल्याण परंपरा को और धवल यश कीर्ति को प्राप्त करता है अर्थात् प्राप्ति का एक मात्र साधन क्षमा है इसीसे हम स्वात्मपरात्म कल्याण कर सकते हैं और अपने नाम को सर्वदा के लिये चिरस्मरणीय बना सकते हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूल

इहमोए परसोए सुहाण सम्भाण कारण संती ।
सम्हा मिणाण आप्पा कायट्ठा मुक्खफलहेत्तु ॥ १० ॥

अर्थ

इहलोके परलोके सुखानां सर्वेषां कारण क्षान्ति ।
तस्माज्जिमानामाहा कर्त्तव्या मोक्ष सफलहेतु ॥ १० ॥

टीका

इहलोक परलोक में क्षमा सुखों का मूल ।
मुक्ति प्राप्ति में हेतु जो जिन बाधों मत भूख ॥ १ ॥

भावार्थ—(इहलोके) इस लोक में तथा (परलोके) परलोक में (सम्भाण) सब (सुहाण) सुखों का (कारण) मूल कारण (संती) क्षमा ही है (सम्हा) इसलिये (आप्पाफलहेत्तु) मुक्ति प्राप्ति में हेतुमूल (जिणाण) जिनयोगों की (आप्पा) आहा को ही (कायट्ठा) स्वीकार करनी चाहिये ।

भावार्थ—मनुष्य जन्म में बहिर्य एवं पारमार्थिक भित्तों की मूल्य प्राप्त-लाभर हाने है उस सब का बन्धन कल कारण एक मात्र क्षमा ही विवेक की भी रही भोजन है जोर क्लेशों की सभी क्षमाओं की अनुपम विनम्र की प्राप्ति हेतु मात्र है अर्थात् पौरुषार्थिक एवं सामाजिक वन्य मूल्य क्षमाओं में ही है ॥ १० ॥

अनुवादक—पूज्य श्री धर्मरामजी म का मे उ बीशुत्र विनयभक्तजी म की

मूल.

खंती सुहाणमूल मूल धम्मस्स उत्तमा खती ।

हरइ महाविज्जा इव खंती दुरियाडं सवाडं ॥ ११ ॥

छाया.

क्षान्ति सुखाना मूल मूल वर्मस्योत्तमा क्षान्तिः ।

हरति महाविद्या इव क्षान्ति दुरितानि सर्वाणि ॥ ११ ॥

दोहा

क्षमा सुखों का मूल है दया धर्म का मूल ।

धिद्यावत् हरलेत सब पापों का जो शूल ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ —(खती) क्षमा (सुहाणमूलं) सर्व सुखों का मूल है और (धम्मस्स) धर्म का (मूलं) मूल (उत्तमा) उत्तम (खती) क्षमा ही है तथा (खती) क्षमा (महाविज्जा) महाविद्या की (इव) तरह (सवाडं) सर्व (दुरियाडं) पापों को (हरइ) हर लेती है ।

भावार्थ —सकल सुखों का मूल कारण एक क्षमाधर्म ही है और धर्म का मूल भी क्षमागुण ही कहा गया है यही क्षमागुण महाविद्या की तरह समस्त पापराशि को हर लेता है अर्थात् क्षमागुण में कुछ ऐसी अनुपम शक्ति विद्यमान है जिससे वह मनुष्य को धर्म प्रवृत्ति की ओर आकर्षित कर सकल दुष्कृत पकजाल को विनष्ट कर देता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

※ धन महिमा ※



धुनिक वातावरण एवं मतिविधिसे जनश्रेष्ठ कर यह बात बतर्कसिद्ध की जा सकती है कि अनेक महत्त्व पूर्ण लोकनिष्ठकार्य अल्पमात्र के शिवात्कर यम भी संसार में अपना मुख्य स्थान रखता है क्योंकि इसके सफल से ही व्यक्तिगत व्यक्तिगत कल्याण होता है और इसके विपरीत

जनान्तरसे उस व्यक्ति का व्यक्तिगत हीन एवं अनुपयोग हो जाता है।

सम्प्रति तो जनशक्ति ही एक ऐसी प्रबल शक्ति है कि जिसके सुप्त भाव से प्रभावान्वित होकर असंभव एवं दुष्कर कार्य भी सहसा कुछ ही क्षणों में सम्भव होजाता है। जनशक्ति से अनाहूत एवं अल्प शोकर कल्याणीय वास्तवमात्र को अंगीकारकर सदा पूजनीय इतिसे मान्य करते हैं।

सकल सांसारिक एवं ऐहिक सुख सामर्थ्यों को हस्तगत करने का एकमात्र साधन जन ही है कहा भी है कि—“जनान् वन्द्यान्नेको भवान् भवति पण्डितः” अर्थात् जन से ही मुख्य वन्दन्य माना जाता है और इन्हीं से ही पण्डित पदको एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है तथा जन से ही सर्व वस्तुत्व मान्यको प्राप्त होता है तत्पर्य-यह है कि जन में ही यह संजीवनी शक्ति रही हुई है निर्मल विप्राय एवं गुरु मान्यो के हृदयमें नवीन प्रान्तों का संसार कर केगवती स्फूर्ति उत्पन्न कर रही है।

यद्यपि धन क्षमतावाला तथा मातृमान है किन्तु अतिपथ स्वार्थों से विरोधात्मक होने से अपनी महत्त्वपूर्ण विशेषता रखता है। वरन्नेक हेतु पुण्य संसार का साधन भी बन हो सकता है जन केवल ऐहिक सुखोंका साधन नहीं माना गया अपितु पारलौकिक सुखों का भी साधन है।

(हम सम्बन्धका विशेष स्पष्टीकरण निम्न गाथाओं द्वारा जानना चाहिये :)

अनुवादक—दृष्ट मी धनवादी म का स क बीगुन विवदकश्री य. की

मूल.

जाइ रूपं विज्जा तित्ति गच्छन्तुकन्दरे विवरे ।
अत्योच्चियं परिवद्दु जेण गुणा पायडा हुन्ति ॥ १ ॥

छाया

जाति रूप विद्या त्रीण्यपि गच्छन्तु कन्दराया विवरे ।
अर्थ एव परिवर्धतु येन गुणा प्रकटीभवन्ति ॥ १ ॥

दोहा.

जातिरूप विद्या सभी अद्रि गुहामें जाय ।
वर्धमान जब सम्पदा सगुण प्रकट हो जाय ॥ १ ॥

अन्वयार्थ — (जाइ) जाति (रूपं) रूप एव (विज्जा) विद्या (तित्ति) ये तीनों ही (कन्दरे) पर्वत की (विवरे) गुफामें (गच्छन्तु) चले जायें किंतु (अत्यो) धन ही (उच्चियं) निश्चय पूर्वक (परिवद्दु) बढ़ता हुआ होना चाहिये (जेण) जिस से (गुणा) सर्व गुण (पायडा) प्रगट (हुन्ति) हो जाते हैं ।

भावार्थ — जातिरूप एव विद्या ये तीनों ही पर्वत की कन्दराओं में चले जायें अर्थात् उत्तम जाति अष्ट कुल एव प्रकाश पावित्य भी प्राप्त न हो किन्तु द्रव्यराशि उत्तरोत्तर जिसके पास वृद्धिगत होती रहती है उसके समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं अर्थात् अर्थ प्राप्ति में ही ससारके समस्त गुण निबधमान हैं ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूल

त्रिगुणमपिगुणहृद रम्यहीनपिरम्म

जडमपि मह्यंतं मद्सत्तपि सुरं ।

अकुसमपि कुलीन तं पर्यपंतिसोभा,

नवकमसदृशच्छीन पलोपहृशच्छी ॥ १ ॥

क्या

त्रिगुण मपि गुणाख्य रम्यहीन मपि रम्यं,

जडमपि मतिमन्त मन्दसत्त्वमपि शूरम् ।

अकुसमपि कुलीन त प्रत्यस्पन्ति कोका,

नवकमन्दमच्छीय प्रलोकपतिरम्यम् ॥ १ ॥

कोहा

कमल नयन कमला रूपा कुमति सुमति करिवेत ।

अगुणि गुणी रमणीयता भीर कुक्षिन् को खेत ॥ २ ॥

सम्बन्धार्थ - (अ) जिस पुरुष को (नवकमलसदृशच्छी) गरीब

कमल प्रभ के समान नयनवाली (कुक्षिन्) कन्या (पलोपर) देखती है
 (तं) उस व्यक्ति को (त्रिगुणमपि) गुण रहित होने पर भी (गुणहृद)
 गुण सम्पन्न (जडमपि) कुक्षिन् को (रम्यं) रमणीय स्वरूपवाला (अज
 मपि) मह्यंत को (मह्यंतं) बुद्धिमान (मद्सत्तपि) शक्तिहीन को
 (सुरं) प्रगल्भी और (अकुसमपि) अकुलीन को (कुलीनं) कुलीन एवं
 प्रकार (सोभा) सौधा के साथ (पर्यपन्ति) कहल है ।

भाष्यार्थ - जिस व्यक्ति के नाम अन्तर्यामि प्रभु परित्याग्ये निव्याज है

उमका समारम्भ ॥ त्रिगुणी होने पर भी गुणमन्त्र कन्या को गुणर स्वरूपवा
 यनवाली अ विमल शक्तिविहीन अ पुरुष और अकुलीन को कुलीन कहते हैं ।

अनुवादक - गुण भी समान ही म की गे के त्रिगुण नियमप्रगती न की

मूल.

सुचिय सुहडो सो चैव पण्डिओ सो विदत्तविन्नाणो ।
जो निअमुअदंडजियलच्छीड उवज्जए किंत्ति ॥ ३ ॥

छाया

सुचित्त सुभट स चैव पण्डित. सोऽर्जितो विज्ञान. ।
यो निज भुजदण्डार्जित लक्ष्म्या उपार्जयेत् कीर्तिम् ॥ ३ ॥

दोहा.

जो कमला संचित करै निज भुजबल आचार ।
ते नर कोविद सुभट अरू अमित ज्ञान भण्डार ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ —(जो) जो व्यक्ति (निअमुअदंडजियलच्छीड)
अपने बाहुबल से लक्ष्मी का उपार्जन करके (किंत्ति) कीर्ति को (उवज्जए)
प्राप्त करता है (सो) वही (सुचिय) बलवान (सुहडो) सुभट (योद्धा)
है और (सो) वही (पण्डिओ) पंडित है तथा (विदत्तविन्नाणो)
उसीने ज्ञानोपार्जन भी किया है ।

भावार्थ —जो मनुष्य स्वत ही निज भुजदण्ड बलसे लक्ष्मीका उपार्जन
करके जगतमें निजबल यश पताका फहराता है वही महा शूरवीर है वही पंडित है ।
तथा उसीने ज्ञानोपार्जन का श्रेय भी प्राप्त किया है अर्थात् अपने बाहुबल के द्वारा जो
द्रव्य सचय करता है वही समार में गण्यमान्य एवं प्रतिष्ठित बन सकता है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूढ

नगणतिकुलं न गणति पावयं पुण्यमपि य न गणति ।
इस्तरिण्य हि मत्ता तद्देव परलोयमिहलोय ॥ ४ ॥

छाया

नगणयन्ति कुलं न गणयन्ति पापक पुण्यमपि च न गणयति ।
पश्येयं हि मत्तास्तथैव परलोकमिह लोकम् ॥ ४ ॥

बोहा

मदोन्मत्त गङ्गा तुल्य हो आको धन अमिमान ।
पुण्य पाप परलोक इह कुल को नहीं कहू भाग ॥ ४ ॥

भावार्थ—(इस्तरिण्य हि) नमसे (ऐश्वर्यसे) (मत्ता)
मदोन्मत्त बने हुए व्यक्ति (न) व तो (कुलं) कुलछे (गणति) गिनते
है (न) न (पावयं) पापको (गणति) गिनते हैं (य) और (पुण्य
मपि) पुण्यको भी (न) नहीं (गणति) गिनते हैं (तद्देव) उन्ही मांसे
(परलोयमिहलोय) परलोक को तथा इह लोक को भी नहीं गिनते हैं ।

भावार्थ—बन्ने मरति मदोन्मत्त बने हुए व्यक्ति न तो कुलको गिनते हैं
न पाप को भी देखते हैं न पुण्य को और इति कहते हैं और न दृष्टीयुक्त एवं परलोक
को गनते हैं अर्थात् मदोन्मत्त पुण्य सतत अपने अपने पक्ष में ही मत्त बना रहण
दे उक्त को इति अपने कुल पाप पुण्य एवं इह परलोक की ओर कानि नहीं करते हैं ।

अनुवादक—पुण्य भी बर्मेदासजी म की रं के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी म की

मूल.

वचइ मित्रकलत्ते नाविक्खए मायापियसयणे य ।
मारेइ धधेव विहु पुरिसो जो होइ धणलुद्धो ॥ ५ ॥

छाया.

वचयति मित्रकलत्रे नापेक्षते मातृपितृस्वजनाञ्च ।
मारयति बान्धवानपि हि पुरुषो यो भवति धनलुब्धः ॥ ५ ॥

दोहा

धन लोभी धन लुब्ध हो वंचै सुहृद् औ नार ।
जनक जननि सुत स्वजन सब एकै घाट उतार ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ — (जो) जो (पुरिसो) मनुष्य (धणलुद्धो) धन का लोभी (होइ) होता है वह (मित्रकलत्ते) अपने मित्र कलत्र (भार्या) को (वंचइ) ठगता है (य) और (मायापियसयणे) माता पिता तथा स्वजनो को भी (नाविक्खए) नहीं देखता है (धधेव विहु) और बाध-वों को भी (मारेइ) मार देता है ।

भावार्थ — जो मनुष्य धनलुब्ध होता है वह अपने मित्र एवं कलस स्त्री को वंचने में भी सकुचित नहीं होता है अपने जनक जननी तथा स्वजन जनों की ओर भी किंचिद् दृष्टिपात नहीं करता है और धन हेतु बांधव जनों का वध करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है अर्थात् अर्थ लाभ हेतु सकल जगजीव महान अधमतम कृत्यों के करने में भी सकुचित नहीं होते हैं ।

ओरसे पण्डित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूक

मा बिहो ता पुरिसस्स होइ आणापडिच्छओ सोओ ।
गळिओदक धनं विष्णुळावि दूर परिचयइ ॥ ६ ॥

अथा

यावन् विभवस्तावत्पुरुषस्य भवति आङ्गाप्रतीक्षुको कोक
गळिनोदक धनं विष्णुपि दूर परिचयति ॥ ६ ॥

शोदा

धन हे जब मी धनपति पृथित ईषा समाव ।
गामिनि वारिद को तत्रे वारि हीन ज्यों जान ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(मा)—जबतक (बिहो) धन पड़ा है (ता)
तबतक ही (पुरिसस्स) मनुष्य की (आणापडिच्छओ) आशा प्रतीक्षक
(आणापामक) सोओ संसार (होइ) होता है जैसे (गळिओदक) जल
रहित (धनं) मकखो (विष्णुळावि) विघट (विध्वंस) की (दूर) दूर
से ही (परिचयइ) त्याग करती है ।

भावार्थ—जबतक मनुष्य के धन हल रहता है तबतक सम्पूर्ण संसार
उन्हीं आशाओं प्रतिपादक बना रहता है किन्तु जिसके पास हलराशि नहीं है उसका
धन मायामय भी निरन्तर धन बरित्वाय धन देता किन्तु जल्द धन की वारिमिहीन
स्थिति उत्पन्न रहता भी त्याग देती है तबसे रहिणी की भी आकाश मदान त्याग देता
है तबसे धन हीनता सुख लीपवर्ती बने रहने है और निर्धनी हीनेतर स्थान देने है ।

अनुवादक—पुरुष की सम्पत्ति की म की छ के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी म की

मूल.

वणिआणं वणिज्जम्मि माहणाण मुहम्मि य ।
खत्तिआणं सिरी खग्गे कारूण सिप्पकम्मसु ॥ ७ ॥

छाया.

वाणिजा वाणिज्ये ब्राह्मणानाम् मुखे च ।
क्षत्रियाणा श्री खड्गे कारूणा शिल्पकर्मसु ॥ ७ ॥

दोहा

वणिक् के व्यापार में द्विजवर मुख में मान ।
क्षत्रिय कुल के अस्ति वस्त्रे शिल्प २ की खान ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ — (वणिआणं) वणिकों (बनियों) की (सिरी)
लक्ष्मी (वणिज्जम्मि) व्यापारमें (य) और (माहणाण) ब्राह्मणों की
लक्ष्मी (मुहम्मि) मुहमें (खत्तिआणं) क्षत्रियों की लक्ष्मी (खग्गे) खड्ग
(तलवार) में एवं (कारूणं) कर्मशील व्यवसायियों की लक्ष्मी (सिप्प-
कम्मसु) शिल्पकर्म में ही है ।

भावार्थ — वणिकों की लक्ष्मी वाणिज्य व्यवसाय में ब्राह्मणों की लक्ष्मी
मुखमें, क्षत्रियों की लक्ष्मी खड्ग में, और शिल्पकला विशागदों की लक्ष्मी शिल्पकर्म में
ही है । अर्थात् चतुर्वर्णीय लोगों के द्रव्योपाजन के उपरोक्त मुख्य साधन हैं जिनके
द्वारा आखूट द्रव्य संपादन कर सकते हैं अर्थात् वैश्य व्यापार से ब्राह्मण वेदादि शास्त्र
वाचन से, क्षत्रिय समरांगण में युद्ध करके और शिल्पी शिल्पकला द्वारा द्रव्योपाजन
कर सकता है ।

ओर से पण्डित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-धमलों में सादर समर्पित

मूळ

पुरिसेण माणवण बज्जिएण अप्पंतजिण्णाविहवेण ।
ते देसा गंतव्या भत्थ सवासा न हीसन्ति ॥ ८ ॥

छाया.

पुरुषेण मानवमवर्जितमापन्त भीर्य विभवेन ।
तेषु देशेषु गन्तव्या यत्र सवासो न दृश्यन्ते ॥ ८ ॥

शब्दा

मान सम्पदा रहित नर जो होवे भति हीन ।
इतर देश ही भेय है सहवासी के भीन ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(माणवणबज्जिएण) मान वचसे रहित बने हुए
अवर्जितजिण्णाविहवेण) अन्त भीन वैभव (वधायीन) वल्ले (पुरिसेण)
पुरुष को (ते) उन (देसा) देशोंमें (गंतव्या) वल्ले जमा करिदे (ज्ञाय)
ज्यापर कि (सवासा) अपने सवासी लोग (न) नहीं (हीसन्ति)
बिबाध देने हो ।

भावार्थ—सम्मानरूप संपत्ति से निहीन एवं वैभव रूप व्यक्तिों के लिये
उन देशों का मानव प्रवास करना ही भयानक है क्योंकि वहाँ कि अपने तरहकी एवं लगे
ही पुरुषों का मानमय नहीं हो क्योंकि लक्षित व्यक्तिों के मानमय से अन्यमानव
करना बहता है जिसमें सग्न व्यवसाय से सम्बन्ध होता रहता है ।

अनुवाद—पुरुष भी वर्जयामात्री न. की ल के वाग्युन विनयपत्रजी म की

मूक.

किं तीए सिरीए सुंदरी वि जा होइ अन्नदेसम्मि ।
जाइ न मिस्तेहिं समं जा यं न दिट्ठा अमित्तेहिं ॥ ९ ॥

छाया.

किं तथा भ्रिया सुन्दर्यपि या भवत्यन्यदेशे ।
याति न मित्रैः समं या च न दृष्टाऽमित्रैः ॥ ९ ॥

दोहा.

कामिनि की कमनीयता मित्र मैत्री को त्याग ।
वर्धित नित हो शत्रुता घन युत फूटै भाग ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(तीए) इस (सिरीए) लक्ष्मीसे (किं) क्या काम है ? (जा) जिससे (सुन्दरी) अपनी परम सुन्दरी नारी (अन्नदे-सम्मि) अन्य देशमें (होइ) होवे और (मिस्तेहिं) मित्रों की भी (समं) संगति (न) नहीं (जाइ) प्राप्त होने (य) तथा (अमित्तेहिं) अपने शत्रुसे भी (जा) जो लक्ष्मी (न) नहीं (दिट्ठ) देखी जावे ।

भावार्थ—उस लक्ष्मी के सचय करने से क्या काम है जिस से हमें अपनी परम सुन्दरी नारी का विरह दुख सहना पड़े मित्र मङ्गली के सहवास से भी विरक्त होना पड़े और निज वैभव के अत्युत्कर्ष को स्वशत्रुगण भी अवलोकन नहीं कर सकते अर्थात् जिस से परदेश में रहकर नारी का वियोग एवं मित्रका वियोग सहना पड़े और अपनी लक्ष्मी का वैभव शत्रुगण भी निजचक्षुओं से नहीं देख सके ऐसे उस धन के सचय से कुछ भी काम नहीं है ।

ओरसे पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमल्लजी महाराज के कर-कमलो में सादर समर्पित

मूळ

किं तीए सिरीए पीबराए छमाए गेहनिहिमाए ।
विष्कुराए जए म जओ मियेक किरणुज्जहा किती ॥१०॥

अवधे

किं तया शिपा पीबराए छमाए गेह निहिमा ।
विष्कुरति यया म य तो मुगाककिरणोज्जहा कीर्ति ॥१०॥

होहा

जा पन ते गही छुअ यथा जम्ह रहिम सौ होय ।
पुधुकाहुल गृह में गही ध्येय ध्येय में बोध ॥ १० ॥

अन्वयात्—(पीबराए) पृथुष (बहुत बरिच स्पृष्ट) (छमाए)
बकी हुई और (गेहनिहिमाए) एह में पायी हुई (तीए) बसे (सिरीए)
सफ्तीसे (किं) क्या नाम है ? (जओ) मिलसे (जए) अवस्थमें (मिये)
ककिरणुज्जहा) कभकिरणवत् सज्जक (किती) कीर्ति (म) नहीं
(विष्कुराए) कैकरी है)

आचार्य—दुष्कण्डर (निष्क) और एह में गही हुई बस अन्धी है
क्या नाम है मिलने दक्षिणमुख क् पक्ष यथा तीर्थ एवं जन्म जारी न ही बने ।
अन्धी शिष्क सफ्ती के लक्षण करने का जेब केवल लक्षा ही है कि सर्व-सर्व मित्र
कीमिलाय कराली रहे क्योंकि वह वह केतु ही आन्धिक आन्धिक की परीक्षा
का है ।

अनुवादक—दुष्क भी नवेदात्तजी न की छ. के बीरपुत्र विनयकन्तजी न. की

मूल.

तायविदत्ता लच्छी नूणं पुत्तस्स होइ सा भइणी ।
होइ परस्स परित्थी सय विदत्ता तओ जुत्ता ॥ ११ ॥

छाया.

तातोपार्जिता लक्ष्मी नूनं पुत्रस्य भवति सा भगिनी ।
भवति परस्य परस्त्री स्वयमर्जिता ततो युक्ता ॥११॥

दोहा.

जनकोपार्जित पुत्रके भगिनि कमला होय ।
परदारावत् इतर के खुद कमलाको जोय ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(तायविदत्ता) पितासे उपार्जन की हुई (लच्छी) लक्ष्मी (नूणं) निश्चय ही (पुत्तस्स) पुत्र के लिये (भइणी) भगिनीवत् (होइ) होती है और (परस्स) दूसरे मनुष्यों के लिये (परित्थी) परस्त्री वत् (होइ) होती है इसलिये (सय) अपने पुरुषार्थ से (विदत्ता) उपार्जन कर (तओ) तत्पश्चात् (जुत्ता) भोग करना ही युक्त है ।

साधार्थ—निज जनक द्वारा उपार्जित लक्ष्मी निश्चय ही पुत्र के लिये भगिनीवत् होती है और वह भगिनी भी परनारी ही होती है और परस्त्री मातातुल्य है अतः निज बाहुबलद्वारा पुरुषार्थ करके द्रव्योपार्जन करना ही उपयुक्त है अर्थात् पिता के द्वारा पैदा की हुई लक्ष्मी पुत्र के लिये बहिन है बहिन परनारी है परनारी माता है इसलिये निज पुरुषार्थ द्वारा ही अर्थोपार्जन करना आवश्यक है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूल

अणवरयदेन्तस्स वि नुहन्ति न सायरे वि रयणाई ।
पुण्णकस्सएण सिञ्चइ न हु खण्छी चायमोएण ॥ १२ ॥

अर्था

मनवरत ददतोऽपि नुहन्ति न सागरेऽपि रत्नानि ।
पुण्यक्षयेण क्षीयते नहि क्वचित्स्यागमोगाम्याम् ॥ १२ ॥

श्लोका

एसाकर दे एल गय पय नही निधि हो कर्क ।
दाम मोग यन नही घटे पुण्य कर्क दे कर्क ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(अणवरयदेन्तस्स वि) अनिमल (निमल)
रत्न रहने पर भी (सायरे) सागर में (रयणाई) रत्न (न) नहीं (नुहन्ति)
समस्त होते हैं इसी प्रकार (खण्छी) कसभी भी (पुण्यकस्सएण) पुण्य
क्षय होने से (सिञ्चइ) नष्ट हो जाती है किन्तु (चायमोएण) त्याग एवं
मोक्ष से (न) नहीं नष्ट होती है ।

भावार्थ—अपरिधित रत्नाकर द्वारा निर्मल मयूर परिचाय में महामैत्रय
मुख्य प्रकारि का दाम बिना जाने पर भी गंभीरता और अन्वय में कल्पि मुक्ता
नहीं जाती है परन्तु अन्वय इति की ओर ही प्रवृत्ति होती रहती है तथा लैन
नहीं जो मनवरत दानादि त्याग पर्यवृत्त नष्ट नहीं होती है किन्तु पुण्यक्षय की
हीना के क्षय ही क्षय होती है

अनुवाद—पुण्य भी परमेश्वरजी से की है के बीरबुज विवचनप्रती य की

मूल.

जस्सत्थो तस्स सुहं जस्सत्थो पण्डिओ य सो लोए ।
जस्सत्थो सो गुरुओ अत्थविहूणो य लहुओय ॥ १३ ॥

छाया

यस्यार्थस्तस्य सुख यस्यार्थः पण्डितश्च स लोके ।
यस्यार्थं स गुरुकोऽर्यविहीनश्च लघुकश्च ॥ १३ ॥

दोहा.

सम्पत्ति में ही सुख वसे सम्पत्ति में पाण्डित्य ।
सम्पत्ति से माहात्म्य हो निर्धन अकृत कृत्य ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ — (लोए) संसार में (जस्सत्थो) जिसके पास धन है । (तस्स) उसको (सुहं) सुख है । (रस्सत्थो) और जिस के पास सम्पत्ति है (सो) वही (पण्डिओ) पांडित है (जस्सत्थो) जिस के पास अर्थ है (सो) वही (गुरुओ) बड़ा है (य) और (अत्थविहूणो) जो निर्धन है वह (लहुओ) छोटा है ।

भावार्थ — जिस व्यक्ति के पास प्रभूत द्रव्य मचित है वही सुखी है जिस के पास सम्पत्ति है वही पंडित है जिसके पास धन है वही गौरवशील महापुरुष है किंतु जिस के पास द्रव्य नहीं है वह एकान्त अधमतम प्राणी माना गया है अर्थात् मकल सांसारिक सुखों का मूल कारण एक धन ही है इसी से मनुष्य का सौन्दर्य एव गौरव बढ़ता है और निर्धन व्यक्ति को पदे २ अपमान एव आपदाएँ सहन करनी पड़ती है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

* देवम् *

—: देव फलति सर्वत्र :—

स हि गगनविहारी कल्पय-ध्वंसकराय ।
 दद्यात्तत्करायै श्योतिषां भव्यभायी ॥
 विभुरपि शिष्ययोगाद्भ्यस्तेराहुष्यासौ ।
 विहितमपि कथ्यते प्रोक्तितु कस्तमर्थः ॥



काय मन्त्र में विचार करनेवाला व्यक्तिविशेष राशिमें
 विहीन करीबान्न मार्तण्ड एवं एक ब्रह्म जीवित रसिषों
 को धारण करनेवाला सम्पूर्ण ब्रह्मों के बीच जीवनेवाला
 मन्त्र श्री देव की प्रवक्तृता से या मन्त्रसत्ता के सम्मुख
 निष्कल होने से राहुके द्वारा मत्ता भवता है तो इतर साध-
 न मन्त्र की तो बात ही क्या है । अस्तु यह विहित है कि मन्त्र में लिखे
 हुए को असम्भव-सम्भव बुझन-सुझन दुर्लभ-सुलभ हैं बते हैं और देव कुनै
 रहा तो सकल सुकल सुकल हैं बते है ।

वस्तुतः भाम्य की अतुल्यता ही सम्पूर्ण सुखों की उत्पत्ति है
 जीवन की समझने की प्रमा समन्वित चरित्र है । मन्त्र विना सुख प्राप्ति
 असम्भव है अस्तु भाव्य ही सब सु कल्पितानी ब्रह्मत्व है ।

रवि निशाकरयोर्ग्रहपीडित राज्ञः भुञ्जन् विहंगमः पश्यतम् ।
 मतिमताश्च विष्णुः कथं दृष्टिमानो विधिराहो ब्रह्मवामितिमेमति
 कवि की उक्त उक्ति से भाम्य की प्रवक्तृता सुख प्रकरेण देव है ।
 अतः इसका विशेष विशेषण भाम्य गाथाओं से जाने—

अनुवादक—भाम्य श्री ब्रह्मसूत्रादी न की से के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी न की

मुक्त.

जं चिय विहिणा लिहियं तं चिय परिणमइ सयललोयस्स ।
इय जाणिऊण धीरा विधुरे वि न कायरा हुन्ति ॥ १ ॥

छाया.

यदेव विधिना लिखित तदेव परिणमते सकल लोकस्य ।
इति ज्ञात्वा धीरा विधुरेऽपि न कातरा भवन्ति ॥ १ ॥

दोहा.

विधिने जीवों के लिये लिखा वही है सत्य ।
जान धीर नर नहीं करे दुःख में भी अपकृत ॥ १ ॥

अन्वयार्थ—(विहिणा) ब्रम्हाने (जं) जो कुछ भी (चिय) निश्चय ही (लिहियं) लिख दिया है (तं) वही (चिय) निश्चय से (सयल लोयस्स) समस्त ससार के जीवों के लिये (परिणमइ) परिणमन होता है (इय) ऐसा (जाणिऊण) जान करके (धीरा) धैर्यवन्त पुरुष (विधुरे) वियोगावस्था में (वि) भी (कायरा) कायर (न) नहीं (हुन्ति) होते हैं ।

भावार्थ—भाग्य के द्वारा जो कुछ भी ललाटपट्टपर लिख दिया जाता है वही सकल ससारियों को अनुभव करना पड़ता है । इस प्रकार कर्म की विचित्र गति को जानकर धीर पुरुष प्रिय विरहादिक विपदावस्थामें भी कायर नहीं होते हैं क्योंकि वे यह विचारते हैं कि इस ससार में दैव चक्र का परिवर्तन होता ही रहता है अतः संयोग और वियोग जनित दुःख क्षणिक ही है इसलिये हर्ष और शोक करने की क्या आवश्यकता है ।

ओर से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलों में सादर समर्पित

मूला

वापण पसेण परक्कमेण मत्तोसहाइ छुतीहिं ।
विठसेहि वि कविहि वि य न तीरए अक्काहा काळं ॥ ५ ॥

अन्वया

वाचा बलेन पराक्रमेण मंत्रीयधादि शुक्तिभि ।
विठ्ठिरपि कविभिरपि य न तीर्यतेऽन्यथा कर्तुम् ॥ ५ ॥

बोद्धा

वाणी बल औ मौपची मंत्र पराक्रम ज्ञान ।
प्रका भव हो कल्पना मिटै न साची जान ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ—(वापण) वाणी से (पसेण) बल से (परक्कमेण) पराक्रम से (मत्तो) मंत्र से (ओसहाइ) मौपचादि (छुतीहिं) शुक्तियों से (विठसेहि) बुद्धिमानों से एवं (कविहि) कवि कल्पनाओं से (वि) भी (अक्काहाकाळं) सेवहार के निपटीत करने में कोई (न) नहीं (तीरए) धमर्ष है ।

भाषार्थ—वाचान्त महाशक्तिगत विनयशून्यता, मंत्रीयधादि इति वा ४ शिष्टम् अस्मिन् ये नौर अस्मि कल्पनाओं से भी वाच के निपटीत कार्य नहीं बिना वास्तवता है अर्थात् वैभिक शक्ति के समक किसी भी महान् शक्ति का सामर्थ्य नहीं बन सकता है ।

अनुवाक—पूज्य श्री चर्मदासजी य जी के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी य जी

मूक.

जा उण कस्सइ चिंता केसु विसा नूण दुहफला ।
होअव्वमहोअव्व च अन्नहा कुणइ नो चिन्ता ॥ ६ ॥

छाया.

या पुनः कस्यचिच्चिन्ता केष्वपि सा नून दुःखफला ।
भवितव्यमभवितव्यञ्चान्यथा करोति नो चिन्ता ॥ ६ ॥

दोहा.

वस्तु लखि चिन्ता करे दुखपद निहचैजोय ।
भावी ही भावी रहे अभावि भावि ना होय ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ — (कस्सइ) किसी भी मनुष्य को (केसु) किन्ही पदार्थोंपर (जा) जो (वि) भी (चिन्ता) चिन्ता होती है (सा) वह चिन्ता (नूण) निश्चय करके (दुहफला) दुःखदायी है क्योंकि (चिन्ता) चिन्ता (होअव्वमहोअव्व) भावी-होनहार तथा अभावी अहोनहार को (अन्नहा) अन्यथा (विपरीत) (नो) नहीं (कुणइ) कर सकती है ।

भावार्थ — किसी भी पुरुष के हृदय में किन्ही पदार्थों के सम्बन्ध में जो चिन्ता समुद्भूत होती है वह एकान्त दुःख परिणाम वाली ही है क्योंकि जब चिन्ता होनहारको अहोनहार और अभावी को भावी करने में सर्वथा असमर्थ है तो कायक्लेश सहनकर चिन्ताद्वारा क्लेशगाल करने से क्या लाभ है अर्थात् चिन्ता करने पर भी होनहार के विपरीत कदापि नहीं हो सकता है इसलिये चिन्ता करना नितात निर्मूल है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के करकमलों में सादर समर्पित

मूला

सीयति सम्बसत्वा ई एत्य न कर्मति मन्ततम्वा ई ।
अविदुषहरजन्मि य विहिमि किं पोहस कुच ॥ ७ ॥

अथवा

सीदन्ति सर्वे साक्षाणि अत्र न सम्प्राप्ति मन्ततम्वाणि ।
अविदुषहरणे य विधौ विनियोगं करोतु ॥ ७ ॥

बोधा

विधिरसक विधि के छिये क्यों करते हैं पुनर्वाप्य ।
मन्त तन्म और व्यास सब होते हैं विपक्षार्थ ॥ ७ ॥

अन्वयात्—(अविदुषहरजन्मि) अत्र के अनुपपत्ति ऐसे
(विहिमि) माय के छिये (पोहस) पुनर्वाप्य (किं) क्यों (कुच)
करते हो क्योंकि (एत्य) वहां पर (इस के समझ) वो (सम्बसत्वाई)
सर्व साक्षाणि (सीयति) विपक्ष हो जाते हैं और (मन्ततम्वाई) मन्ततम्वाणि
की शक्ति भी (न) नहीं (कर्मति) पक्ष सफवी है ।

भावार्थ—अत्र ही है अत्र (यत्र) विपक्ष ऐसे सब विधि के छिये
सर्व में पुनर्वाप्य क्यों करते हो ? क्योंकि इस विपक्ष शक्ति के अनुपपत्ति साक्षाणि विप-
क्षी सत्त्व अन्वयार्थिक की विपक्ष मन्त हो जाते हैं और मन्ततम्वाणि की नहीं की
वहापक्ष नहीं पक्ष सफवी है । अत्र द्वैतार्थार्थिक शक्ति सम्यक् है ।

अनुपपत्ति—पूज्य श्री बसवम्तजी म की ध के वीरपुत्र विनयचम्पूजी म की

मूल.

ज जेण पावियव्वं सुहमसुह वावि जीवलोयम्मिं ।
तं पाविज्जइ नियमा पडियारो नत्थि एयस्स ॥ ८ ॥

छाया.

यद्येन प्राप्तव्यं सुखमसुखं वाऽपि जीवलोके ।
तत्प्राप्यते नियमात् प्रतिकारो नास्ति एतस्य ॥ ८ ॥

दोहा

स्वेपार्जित शुभ अशुभ का फल भोगे खुद जाय ।
फल भोगे विन जीवका नहीं प्रति कारो जाय ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ —(जीवलोयम्मि) इस जीवलोकमें (जेण) जिस व्यक्ति द्वारा (जं) जो (वि) भी (सुहं) शुभ पुण्य (वा) अथवा (असुहं) अशुभ पापकर्म (पावियव्वं) प्राप्त किया जाता है (वाधा जाता है) (तं) उसका फल (नियमा) नियमपूर्वक-विपाकोदय होनेपर (पाविज्जइ) भोगना ही पड़ता है कारण की (एयस्स) कर्मोंका (पडियारो) फलभोगने के सिवाय प्रतिकार-दूसरा उपाय (नत्थि) नहीं है ।

भावार्थ —इस जीवलोक में जीव के द्वारा जिन शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका अनुभव किया जाना चाहिये नियम से वह उन्हीं को प्राप्त कर अनुभव करता है क्योंकि कृत कर्मोंका फल भोगने के अतिरिक्त अन्य कोई अपर प्रतीकारोपाय दृष्टिगोचर नहीं होता है अर्थात् जो जीव जैसे शुभाशुभ कर्मों का बधन करता है नियम से उनका विपाकानुभव अवश्य ही करना पड़ता है ।

ओरसे पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलो में सादर समर्पित

मूल

सा सा दासा संबद्ध इत्यं गदिकण बीसमई अत्य ।
सा सा तदिति तुष्ट नरस्त दिव्ये पराहुते ॥ ९ ॥

छाया

या या सासा सम्पत्ते हस्ते प्रहृष्टा विम्वते यत्र ।
सा सा तदिति शुभ्रति नरस्त दैवे परामृते ॥ ९ ॥

बोद्धा

आ दासा सम्बद्ध हो जहाँ से आ विम्वत ।
तब तब हो वह तब आ दैव हिरये में आन ॥ ९ ॥

भावार्थ— (नरस्त) नरुप के (दिव्ये) माय के (परा-
हुत) विपरीत होने पर वह (आ आ) जिस जिस (दासा) दासा
(सम्बद्ध) सम्बद्ध सेता है और (इत्यं) दास ॥ (गदिकण) गदिकण
(बीसमई) जहाँ जहाँ पर (विम्वत) विम्वत सेता चाहता है (सा सा)
वही दासा (तदिति) तदिति इस प्रकार दास करती हुई (तुष्ट)
तुष्ट जाती है ।

भावार्थ—देवके दासा सम्बद्ध प्राप्त हुए विम्वत २ दासा का सम्बद्ध
दास दासा है और दासके दासा का वह विम्वत सेता है वह २ दासा सम्बद्ध ही
नर नर इस प्रकार । दासा ही नर नर है इनविषे दासापर दैविक दास की ही
प्रभाव प्राप्त होती है दासके सम्बद्ध नरुप नरुप ही दास और विम्वत दासा है
किन्तु दासा के दासा में दासिक दासा ही दासा है नर उससे दास सम्बद्ध दास
दास म म दासा है ।

अनुवाद—तुष्ट या परामृती म की म के दासुप विम्वतनारी म की

मूल.

जं नयणेहिं न दीसइ हियएण वि जं न चितियं कहवि ।
तं तं सिरम्मि निवडइ नरस्स दिव्वे पराहुत्ते ॥ १० ॥

छाया

यन्नयनाभ्या न दृश्यते हृदयेनापि यन्न चिंतित कदापि ।
तत्तच्छिरसि निपतति नरस्य दैवे पराभूते ॥ १० ॥

दीहा.

लोचन ते लेखा नहीं नहीं हिरदै में आन ।
मावी हो मस्तक गिरे दैव प्रबलते जान ॥ १० ॥

अन्वयार्थ — (नरस्स) मनुष्य के (दिव्वे) भाग्य-कर्म के पराहुत्ते) विपरीत होने पर (ज) जो बात (नयणेहिं) नेत्रोंद्वारा (न) नहीं (दीसइ) देखी हो और (ज) जिसका (हियएण) हृदय से (वि) भी (कहवि) कभी (न) नहीं (चितियं) चिंतवन किया हो (त तं) वह २ बात (सिरम्मि) सिरपर (निवडइ) आपटती है ।

भावार्थ — दैव की वक्रता से हत प्रयत्न बने हुए पुरुष ने जिनका नेत्रों द्वारा स्वप्न में भी अवलोकन नहीं किया है और मनद्वारा जिसका कभी चिन्तवन ही किया वे आपदाएँ और विपदाएँ सिरपर अकस्मात् आपटती हैं अतः अचिंतित आपदाओं का आना यह दुर्दैव का ही कारण है ।

और से पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलोंसादर समर्पित में

मूळ

अइ विसइ विसमविधरे छपइ उदहिं करेइ बबसायं ।
तहयि इ फळ न पाबइ पुरिसे दिव्ये पराहुत्ते ॥ ११ ॥

छाया

एहि विद्यति विसमविधरे अक्षयत्पुदधिं करोति व्यवसायम् ।
तथापिहि फळे न प्राप्नोति पुरुषो देवे परामृते ॥ ११ ॥

होहा

विषम शुद्धा प्रविष्ट हो जाय वयोमिच्छि पार ।
फिर भी नहीं व्यवसाय में काम देव ही जार ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ—(विद्यते) देखके (पराहुत्ते) विपरीत होनेपर (पुरिसे)
मनुष्य (अइ) एहि (विसमविधरे) विषम सर्वत्र अत्र-युक्त में भी
(विसइ) प्रयत्न करे और (उदहिं) समुद्र को (छपइ) अक्षय (व्यवसाय)
व्यापार भी करे (तहयि) तथापि (फळ) सफलता (न) नहीं (पाबइ)
प्राप्त है ।

सावधानी—इसभाषी पुनः यदि निम्नलिखितश्लोकों में भी यन्त्रि हीनाय
अथवा कौशिकिण्य कल्पक कर अक्षय्य हैतु महात्माएय अथवा भी कर उपायि मान्य
की निरीक्षणके कारण बराबर साफल्य काम नहीं कर सकता है क्योंकि इन्द्रियैव ही
इसमें महान् बाधक हीनता ॥ अतस्मिन् कथनाः अत्यन्त कठिने कर भी अवीर्य सिद्ध
नहीं हो सकता है ।

अनुवादक—युज्य भी बर्धवास्तवी य की ही के वीरपुत्र विनयचन्द्रजी न की

मूल.

खण्डिज्जह विहिणा ससहरो सूरस्स वि अत्थमणं ।
हा दिव्व परिणहए कवलिज्जह को न कालेण ॥ १२ ॥

छाया.

खण्ड्यते विधिना शशधरः सूर्यस्यापि अस्तमनम् ।
हा ! दैव परिणत्या कवलीयते को न कालेन ॥ १२ ॥

दोहा.

विधिते शशखण्डित इए अस्ताचल हो सूर ।
विधि परिणति ते काल भी भस्से भीम हो क्रूर ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—(विहिणा) विधि-भाग्यसे ही (ससहरो) चन्द्रमा (खण्डिज्जह) खण्डित—कला रहित किया जाता है और (सूरस्स) सूर्य का (वि) भी (अत्थमणं) अस्तावस्था हो जाती है इसलिये (हा) अरे (दिव्वे) भाग्य के (परिणहए) विपरीत होजाने पर (कालेण) काल के द्वारा (को) कौन (न) नहीं (कवलिज्जह) भास का पात्र बनता है—भक्षण किया जाता है ।

भाषार्थ—विधिकी कुटिलतासे षोडशकलाशोमित शशी भी खण्डित [कलारहित कर दिया जाता है प्रचंड तेजधारी सूर्य भी अन्तमें अस्ताचल की ओर गमन करता है वास्तव में भाग्य के विपरीत होने पर कौनसी महानशक्ति विकलकाल द्वारा भास पात्र नहीं बनता है जब की भास्कर जैसे प्रचंड तेज धारियों को भी काल वश भास होना पड़ता है । तो सामान्य प्राणियों की तो गणना ही क्या है ।

ओरसे पंडित प्रवर श्री सौभाग्यमलजी महाराज के कर-कमलोसादर समर्पित मे

हम्मारे—<अरमाकं >अप० अम्हार >हम्मारे (यह 'ओ कारंत' प्रयुक्ति ओ संबद्ध संज्ञा 'दुरिष्ठ' (प० व०) के साथ सवधी में पाई जाती है। राजस्थानी की प्रयुक्ति का आदिम रूप है) (तु० राज० 'म्हारो छोरो म्हारा छोरा')।

दूरिष्ठा—दो स्थानों पर दीर्घाकरण तथा 'त' का द्वित्व छन्दोनिर्वाह के लिए हुआ है। कर्मकारक प० व०।

संहारो—अनुज्ञा प० पु० प० व० (संहारतु > संहारत > संहरो—संहारो)।

निस्स (विस्स) छंद—

पिअ विस्स पुअं सगणेण जुअ।

छद्द वण्ण वम्मो कल अट्ठ वम्मो ॥४३॥

४३ हे प्रिये, जहाँ हो सगण हो, प्रत्येक चरण में छ' वण्ण तथा आठ मात्रा घरी हों, वह निस्स छंद है। (।।।।।।)

वि—कल—<कला यहाँ 'कला' का छन्दोनिर्वाह के लिए 'कठ' कर दिया गया है।

जहा,

पिअ भवि पिआ गुणवत्त सुमा।

वणमुत्त घरा वट्ट सुक्खफरा ॥४४॥

(विस्स (का))

हरण—

नयमक प्रिया (पत्नी), गुणवान् पुत्र, घनशाली घर, (य सब) यह सुखकारी होते हैं।

विगोहा छंद—

अकरारा जे छआ पाअ पाअ द्विआ।

मत्त पपादुणा पिण्णि जोहा गणा ॥४५॥

४५ विष—B विम। निस्स—C विस्स। पुअं—A पुव। कल वट्ट वम्मो—B वम्मो C का कल वट्टा।

४६ सुखवत्त—सुखवत्त। सुमा—A सुमा। वणमुत्त A B परम। सुक्ख—A सुक्ख, B सुक्ख, C सुक्ख।

४७ वि—C वि। पाअ द्विआ—A वामद्विआ।

४५. जहाँ प्रत्येक चरण मे छ अक्षर स्थित हों, तथा पाँच की दुगुनी (दस) मात्रायेँ हों तथा दो योद्धागण (रगण) हों (उसे विज्जोहा छद्द समझो) ।

टि०—दुणा—< द्विगुण (हि० दुगुना, रा० दूना) ।

जहा,

कंससंहारणा पविस्संचारणा ।

देवईडिंभआ देउ मे णिब्भआ ॥४६॥

(विज्जोहा)

(विमोहा ?)

४६ उदाहरण —

कंस को मारने वाले, पक्षी गरुड पर संचरण करनेवाले, देवकी के पुत्र मुझे (अभय) प्रदान करें ।

टि०—णिब्भआ—छन्दोनिर्वाह के लिए दीर्घीकरण, कर्म ए० व० ।

चतुरंसा छद्द.—

ठउ चउरंसा फणिवह भासा ।

दिअवर कण्णो फुलरसवण्णो ॥४७॥

४७ (जहाँ) द्विजवर (चार लघु) तथा कर्ण (दो गुरु) छ वर्ण हों, उस चतुरंसा छद्द की स्थापना करो—ऐसा फणिपति पिंगल कहते हैं । कुछ टीकाकार इसका अर्थ यो भी करते हैं:—“... ”फणिपति भाषित चतुरंसा की स्थापना करो ।”

टि०—ठउ—< स्थापय, आज्ञा म० पु० ए० व० ।

जहा,

गउरिअकंता अभिणउ सता ।

जइ परसण्णा दिअ महि धण्णा ॥४८॥

४६ संहारणा—C. सघारणा । डिंभआ—C. डिंभआ, K. डिंभग्रा, N. डिम्भआ । णिब्भआ—C. लल्लिआ, C. K. णिम्भआ, N. णिम्भग्रा ।

४७ चउरसा—C. चउवसा ।

४८. गउरिअ^०—C. प्रतौ एतत्पद न प्राप्यते, K. गवरिअकंता । अभिणउ—N. अभिनठ ।

४८. उदाहरण—

(तण्डव) अभिनय में रस (भयथा साण्डव अभिनय से भांत) गौरीपति (महादेव) प्रसन्न हों, वो आकाश और पृथ्वी दोनों धन्य हैं ।

॥ —गहरिभक्तता— < गौरीकांठ 'गौरी' < गहरि, समास में धीब में 'अ' का आगम संभवता छन्दोनिर्वाह के लिए हुआ है अथवा यह "गौरिका" का रूप है । 'कांठ' के प्रथमाक्षर के सानुस्वार हाने के कारण उसके 'आ' को 'अ' बना दिया गया है, क्योंकि ऐसा करने से शब्द के अक्षरभार (सिंथेटिक वेन्) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । (तु० रा० ० फ्त) 'आ' छन्दोनिर्वाह के लिए है ।

अभिषट् सता—((१) अभिनये सम्, (२) अभिनय भांत । म० मा० आ० में अभिनय > अभिषट् > अभिषट् रूप होंगे । यह रूप अद्यतत्सम है । 'संठा' < सम् वचमानकालिक कृदन्त रूप 'संत' का वीर्यकृत रूप ।

परसज्जा < प्रसज्ज—'प्र' में 'अ' वर्ण का मध्य में आगम होने से 'पर' रूप, 'आ' छन्दोनिर्वाहार्थ वीर्यकरण की प्रवृत्ति है ।

अज्जा < अज्यौ (*अज्या*) कर्ताकारक व० व० रूप ।

अथा वा,

सुमज्जर्जदो विदुग्गणकदो ।

ममरसवण्णो स अअह कण्हो ॥४९॥

[चतुरंसा]

४९. अथवा दूसरा उदाहरण यह है —

समस्त भुवन के आनंद स्वरूप, त्रिभुवन के मूक, भस्म के समान नील कृष्ण की जय हो ।

विष्णो—कण्हो—< कृष्णः, वर्णविपर्यय (ष्य > ष्ह) (हि० कान्ठ) ।

मंथान छन्द—

कामावजारेण अद्वेण पाएण ।

मथा दहा सुद्ध मंथान सो बुद्ध ॥५०॥

४९ सुमज्जर्जदो—O नम्रणमुर्जदो । विदुग्गण—A B विदुग्गण । कण्हो—C K. कण्हो ।

५. कामावजारेण—A B कामावजारेण । दहा—A बुद्ध ।

५०. जहाँ कामावतार नामक छद् (चार तगणों का द्वादशाक्षर छद्) का आधा एक चरण मे हो (अर्थात् दो तगण तथा छ' अक्षर हो), शुद्ध दस मात्रा हों, उसे मथान (छन्द) समझो।

टिप्पणी—बुद्ध—<बुध्यम्ब, अनुज्ञा म० पु० ए० व०।

जहा,

राजा जहा लुद्ध पंडीअ सो मुद्ध।

कित्ती करे रक्ख सो वाद उप्पेक्ख ॥५१॥

[मंथण = मंथान]

५१. उदाहरण —

जहाँ राजा लोभी तथा पण्डित मूर्ख हो, वहाँ अपनी कीर्ति की रक्षा करो (कीर्ति को हाथ मे रखो) तथा वहाँ के वाद (शास्त्रार्थादि) की उपेक्षा करो।

टिप्पणी—जहा—<यत्र, पंडीअ < पंडित > पडिओ > पंडिउ > पडिअ। (यहाँ 'इ' का दीर्घीकरण पाया जाता है।)

लुद्ध—<लुब्ध, मुद्ध <मुग्ध।

कित्ती—<कीर्तिः।

रक्ख, उपेक्ख—<रक्ष, उपेक्षस्व, अनुज्ञा म० पु० ए० व०।

शखनारी छद्—

खडावण्णवद्धो भुअंगापअद्धो।

पआ पाअ चारी कही संखणारी ॥५२॥

५२. जहाँ भुजगप्रयात छद् के चरण के आधे छ वर्ण प्रत्येक चरण मे प्राप्त हों (भुजगप्रयात में प्रत्येक पाद में चार यगण होते हैं, अतः जहाँ दो यगण हों), तथा सम्पूर्ण छन्द मे चार चरण हो, वह शंखनारी (छन्द) कही गई है। (। S S । S S)

टिप्पणी—खडा—अर्धतत्सम रूप। तद्वत् रूप 'छ'-छद् आदि होते है वस्तुतः यह संस्कृत 'पट्' के अर्धतत्सम रूप 'खड' का दीर्घीकृत रूप

५१ राधा—B. राजा। पंडीअ—C. पंडित। रक्ख—C. यत्प। उप्पेक्ख—B उपेक्ख।

है। इस सम्यन्त्र में इस बात का संकेत कर दिया जाय कि परवर्ती हिन्दी कविता में सत्सम 'प' का 'ख' के रूप में जो सञ्चारण पाया जाता है, उसका यीन प्रा० पै० के इस उदाहरण में देखा जा सकता है।

*पमदो < पवाध, परवर्ती संयुक्ताक्षर के पूर्व के दीर्घस्वर का ह्रस्वीकरण।

पमा—<माता, कुछ टीकाकार इसकी व्याख्या भी 'पादे' करते हैं, किन्तु मेरी समझ में यह 'माता' ही हानी चाहिए। माता > पमा (तु० हि० 'पाया' जो वस्तुतः 'पामा' का य-भ्रुतियुक्त रूप है)। इसी का छन्दोनिर्वाहार्थ 'पमा' रूप बन गया है।

कही—<कथिता > कहिमा > कहिम > कही। (तु० हि० 'कही') परमवाच्य भूतकालिक कृन्त का स्त्रीलिंग रूप।

वहा

गुणा जस्स सुदा यह रुममुदा।

धरे विच जग्गा मही तासु सग्गा ॥५३॥

[संज्ञायारी = संज्ञानारो]

५३ उदाहरण—

जिस व्यक्ति के गुण सुदृढ़ हों, पत्नी रूप से सुन्दर हो, घर में धन जगाता हो (विद्यमान हो), उसके लिए पृथ्वी भी स्वर्ग है।

दिप्पजी—धरे < गृहे। डॉ० पाटुर्न्या के मत से यह 'प' विभक्ति चिह्न संस्कृत 'पि' का अपरिवर्तित रूप न होकर प्रा० मा० का *पि का ध्वनिक विकास है। इस तरह इसे हम म० मा० मा० 'महि'—'महि' का ही सरलीकृत रूप कह सकते हैं। उनके मत से यह विकास यों हुआ है—

मारोपीय *पृषो पि > प्रा० मा० आध *गृह पि 7 म० मा० मा० *गरह पि, *धरपि > धरहि 7 *धरह > धरे (goharh) 7 धरे। (तु० बंगाली धरे)। (दे० लक्षिव्यक्तिप्रकरण (मूमाका) § ४०)।

तासु—<सस्य 7 तस्स > तास 7 तासु; समानीकृत संयुक्ता-

५३ जग्गा—C जग्गो। तासु—A तासु। सग्गा—O सग्गो।

क्षर के पूर्व से स्वर को दीर्घ बनाकर उसका सरलीकरण, जो आ० भा० आ० भापा की खास विशेषताओं में एक है ।

सग्गा—< स्वर्गः, पदादि संयुक्ताक्षर व्यंजन के 'स' का लोप, रेफ का 'ग' के रूप में सावर्ण्य, म० भा० आ० रूप होगा 'सग्गो' । उस क्रम से आ० भा० आ० या प्रा० पै० का अवहट्ट रूप होना चाहिए 'सग्ग' । 'सग्गा' रूप इसी का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घीकृत रूप है । (इस संबंध में इतना संकेत कर दिया जाय कि हिंदी, राज० का 'सरग' शब्द तद्भव न होकर अर्धतत्सम है, तद्भव शब्द 'सग्ग' का हिंदी रा० में कोई प्रचार नहीं है ।)

मालती छंद.—

धअं सर वीअ मणीगुण तीअ ।

दर्ई लहु अंत स मालइ कंत ॥५४॥

५४ (पहले) ध्वज अर्थात् आदि लघुत्रिकल गण (15), (फिर) दो शर अर्थात् दो लघु, फिर एक मणिगुण (अर्थात् गुरु) तथा फिर अंत में एक लघु देना चाहिए, हे प्रिये, वह मालती छंद है । (15॥15)

टिप्पणी—धअ—< ध्वज, 'अ' छन्दोनिर्वाहार्थ प्रयुक्त अनुनासिक है । (ध्यान दीजिये यह नपुसक रूप नहीं है ।)

दर्ई—इसकी व्याख्या तीन प्रकार से की गई है (१) देयः (२) दीयते, (३) दत्त्वा ,

जहां,

करा पसरत वहू गुणवंत ।

पफुल्लिअ कुंद उगो सहि चंद ॥५५॥

[मालइ = मालती]

५५ उदाहरण —

हे सखि, चन्द्रमा उदित हो गया है, नाना प्रकार के गुणों से युक्त (उसकी) किरणें फैल रही हैं, (और) कुंद पुष्प फूल उठे हैं ।

टिप्पणी—पसरत—< प्रसरन्त, वर्तमानकालिक कृदन्त प्रत्यय का

५४. मणीगुण तीअ—A मणी गुण व्रत । दर्ई—C रई ।

५५ उगो—C उगू ।

यत्मानकालिक क्रिया में प्रयोग (प्रसरत्त 'सन्ति इति शेष'), टीकाकारों ने इसे 'प्रमृताः माना है, आ गलत है।

गुणयन्त—< गुण + वत (सकृत् तद्धित प्रत्यय 'वतुप्' का विकास)। पकुस्लिङ्ग-कर्मवाच्य (भाववाच्य) भूतकालिक कृदन्त का भूतकालिक क्रिया के अर्थ में प्रयोग।

उगो—उद्गत > उगामो > *उगो > उगो कर्मवाच्य (भाववाच्य) भूतकालिक कृदन्त रूप। (हि० उगा, राक्ष० उगो, प्रयोग—'चंद्रमा उगो क नै' (चन्द्रमा उगा या नही) ?)

दमनक छंद—

दिग्भवर किम्भ मणहि सुपिअ।

दमणअ गुणि फखिवइ मणि ॥५६॥

५६ त्रिजवर (चतुर्लघुक गण, ।।।।) करके फिर प्रिय (छद्युद्वात्मक गण) कहो, इसे दमनक (छंद) समझो, ऐसा फणिपति विंगल कहते हैं।

(।।।।।—दमनक छंद में इस प्रकार दो नगण होते हैं।)

दि०—किम्भ—< कृत्वा; पूर्वकालिक कृदन्त प्रत्यय।

मणहि—< मण, अनुशा म० पु० ए० ब० 'हि' तिङ् विभक्ति।

गुणि—< गणय; अनुशा म० पु० ए० ब० 'इ' तिङ् विभक्ति।

जहा,

कमलणभसि अमिअवअणि।

वरुणि घरणि मिलइ सुपुणि ॥५७॥

[दमणक = दमनक]

५७ उदाहरण—कमल के समान नेत्रोंवाली (सुवर), अमृत के समान मधुर वचन वाली वरुणी पत्नी सुपुत्र से ॥ मिली है।

५६ दिग्भवर—B दिग्भर। सुपिअ—A सुपिअ।

५७ कमल—N. कमलणवणि। अमिअ—C अमिअ मणि। सुपुणि—

A सुपुणि, O सुपुणि B पुणि।

टि०—तरुणि, घरणि—अप० मे प्रायः प्रा० भा० आ० के स्त्रीलिङ्ग दीर्घ ईकारात् का ह्रस्वीकरण कर दिया जाता है। (दे० भाषाणीः सन्देशरासक § ५३।)

मिलइ— \angle —मिलति; वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व०।

सुपुणि— $<$ सुपुण्येन, 'इ' करण कारक ए० व० का चिह्न।

सप्ताक्षर प्रस्तरा, समानिका छंद —

चारि हार किञ्जही तिणि गंध दिज्जही।

सत्त अक्खरा ठिआ सा समाणिआ पिआ ॥५८॥

५८ (आरंभ मे एक गुरु फिर एक लघु के क्रम से) चार गुरु (हार) तथा तीन लघु (गंध) दिये जायें। (जहाँ) सात अक्षर स्थित हों, वह समानिका नाम प्रिय छंद है। (S | S | S | S)

टिप्पणी—किञ्जही, दिज्जही (क्रियते, दीयते)। पिशेल ने इसी पद्य के 'दिज्जही' का वास्तविक रूप 'दिज्जहि' माना है, तथा इसे कर्मवाच्य प्र० पु० व० व० का रूप माना है। (दे० पिशेल § ५४५ पृ० ३७४)। इस प्रकार इनका वास्तविक रूप 'किञ्जहि-किञ्जहि', 'दिज्जहि-दिज्जहि' होगा। इसीको छंदोनिर्वाह के लिए 'इ' को दीर्घ बनाकर 'किञ्जही—दिज्जही' रूप बने हैं। इस संबंध में इतना सकेत कर दिया जाय कि अवहट्ठ में पदांत अनुनासिक प्रायः लुप्त होता देखा जाता है।

ठिआ $<$ स्थिता (अक्षराणि स्थितानि), कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत व० व० रूप।

जहा,

कुंजरा चलंतआ पव्वआ पलंतआ।

कुम्मपिट्ठ कंण धूलि सर भंण ॥५९॥

[समाणिआ = समानिका]

५९. उदाहरण — किछी राजा का एक टीकाकार के अनुसार कर्ण (संभवतः कलचुरिनरेश कर्ण) के सेना प्रयाण का वर्णन है :—

५८ किञ्जही—A. किञ्जहि, B किज्जिही। दिज्जही—A. दिज्जहि।

५९ पव्वआ—N पव्वला। पिट्ठ—C. पिठ्ठी।

हाथी चलते हैं, (घो) पचत गिरने लगते हैं, कूम् की पीठ बौने
धनी है, पूछ ने सूय को डँक सिमा है ।

दि —चलंतन्ना, चलंतन्ना—यत्मानकालिक कृत 'अंत' के व०
व० रूप । (चलन्त चलन्तः) ।

कंपए, मंपए—(कम्पित, मंपित) (आच्छादित) । वमवाच्य
(मायवाच्य) मूतकालिक कृत । 'ए', सुप् पिमलि के लिए वे०
मूमिका ।

सुवास छं—

मणठ सुवासठ लहु सुविसेसठ ।

रचि खउ मचह म लहह अतह ॥६०॥

६० आरम्भ में लहु मचहों के द्वारा विशेषतः चार मात्रा की रचना
कर अंत में भगण प्राप्त हो, छं सुवास छं कहो । (॥६॥)

दि —मचठ—आज्ञा म० पु० ए० व० 'उ' तिह् विभक्ति
यह वस्तुता लुह घातु रूप के साथ कर्ता ए० व० के 'उ' बिह् का
प्रयोग है ।

रचि— \angle रचयित्वा—पूर्वकालिक क्रिया रूप ।

लहह—कुछ टीकाकारों ने इसे 'लमति' तथा 'लम्यते' माना है,
कुछ ने पूर्वकालिक रूप । संभवतः यह वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व०
का रूप है, लहह < लमते ।

बहा,

गुरुजबमचठ बहु गुमसुचउ ।

असु बिप्र पुचठ स इ पुषमचउ ॥६१॥

[सुवास]

१ सुवासठ—A सुवासठ, O सरसठ । लहु, विशेषतः—A लहु
विसेसठ, C लहुगुसेसठ N सुविसेसठ । रचि—O सरह । बह—N चउ ।
म लहह—N मगलह । अतह—O अकतह ।

२ गुमसुचउ—(1) गुमतगठ । असुविप्र—3 अरु विप्र, C गिठ, N.
विप्र । पुषमचउ—C N पुषमचउ ।

६१. उदाहरण—

जिस व्यक्ति के गुरुजनो की भक्त, गुणयुक्त पत्नी (वधू) हो, तथा जीवित रहनेवाला पुत्र (वाले पुत्र) हो, वही पुण्यशाली है ।

टि०—जसु— \angle यस्य $>$ जस्स $>$ *जास-जस $>$ जासु-जसु ।

करहच छंद —

चरण गण विष्प पढम लइ थप्प ।

जगण तसु अंत मुणहु करहंच ॥६२॥

६२. (प्रत्येक) चरण में पहले विप्र गण (चार लघु वाले मात्रिक गण) स्थापित करो तथा जिसके अन्त में जगण (मध्य गुरु वर्णिक गण) हो, उसे करहंच छंद समझो । (||||S)

टि०—लइ—पूर्वकालिक क्रिया रूप ।

थप्प— \angle स्थापय, निजंत के अनुज्ञा म० पु० ए० व० का रूप ।

जहा,

जिवउ जइ एह तजउ गइ देह ।

रमण जइ सो इ विरह जणु होइ ॥ ६३ ॥

[करहंच]

६३ उदाहरण —

कोई पतिव्रता कह रही है .—

यह मैं जाकर अपने देह का त्याग करती हूँ । यदि फिर कहीं जीऊँ (मेरा फिर से कहीं जन्म हो), तो मेरा पति वही हो, उससे मेरा विरह न हो ।

टिप्पणी—जीवउ $<$ जीवामि $>$ म० भा० आ० जीवामि-जीवमि-जिवामि-जिवमि $>$ * जिवविँ $>$ *जिवउइ $>$ जिवउँ ।

तजउ $<$ त्यजामि $>$ म० भा० आ० तजामि-तजमि $>$

*तजविँ $>$ *तजउँइ $>$ तजउँ ।

ये दोनों वर्तमानकालिक उ० पु० ए० व० के रूप हैं ।

६२ मुणहु—N मुणइ ।

६३ जिवउ—C जिअउँ । तजउ—C, तजउँ । जइ—C, जोइ ।

जणु—B जिणु, C जिणि ।

गइ < गत्वा (*गम्य = *गप्य) ७ गइअ > गइ । पूर्वकासिक क्रिया रूप ।

शीपरूपक छंद —

सत्ता दीहा आणेही बण्णा ती गा माणेही ।

चाउहाहा मघाणा सीसारुओ छदाणा ॥ ६४ ॥

४६ सात दोष मखरों को जानो, तीन कर्ण (त्रिगुण चतुष्कसगज) तथा अत में एक गुरु समझो, चीरह मात्रा हों, यह शीपरूपक छंद है । (५५५५५५५) ।

टिप्पणी—आणेही, माणेही < आनीहि, मन्यस्व, म० पु० प० व० । यह रूप 'हि' को दीर्घ कर बनाया गया है ।

चाउहाहा < चतुदश > 'चउदह' को छन्दोनिर्वाह के छिप 'चाउहाहा' कर दिया है । इसके अन्य रूप—चाइह (हेमचंद्र < १०१), चाइस चउइस (छन्दोनिर्वाहार्थ रूप 'चउइस') । ये सब जैनमहा०, मघमा० रूप हैं । प्रा० पै० में इसके चउदह (११२१ ११४) चारिदह, दहचारि' रूप भी मिलते हैं । 'चउइस' (जैनमहा०, मघमा०) की भौति पिशेख ने 'चाउहाहा' (प्रा० पै०) को छन्दोनिर्वाहार्थ (मेट्री कौशा Mētrī Kōṣha) स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है, पर यह रूप 'मेट्री कौशा' ही है, इसमें कोई संदेह नहीं । दे० पिशेख ५ ४४१ ।

बहा,

चंदा कुंदा ए कासा हारा हीरा ए हंसा ।

जे जे सेता बण्णीआ सुग्हा किछी जिण्णीया ॥ ६५ ॥

[सीसरूपक = शीपरूपक]

६५. छदाहरण —

कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा कर रहा है—

चंद्रमा, कुंव कास, हार हीरा और हंस) संसार में जितने भी—

६४ सीसारुओ—N सीसारुओ ।

६५. सेता—N सेता । बण्णीआ—O बिरिज्या । सुग्हा—O सुगहारी ।

श्वेत पदार्थ वर्णित है, तुम्हारी कीर्ति ने (उन सबको) जीत लिया है ।

टि०—तुम्हा—< तव, 'तुम्ह' (पिञ्जेल § ४२१) का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घाकृत रूप ।

चण्णीया, जिण्णीया—(वर्णिता, जिता) प्राकृत में 'जि' धातु को 'जिण' आदेश हो जाता है । कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त पु० व० च० के रूप चणिआ, जिणिआ होंगे । छन्दोनिर्वाहार्थ द्वितीयाक्षर को 'इ' ध्वनि को दीर्घ बना दिया है ।

अष्टाक्षरप्रस्तार विद्युन्माला—

विज्जूमाला मत्ता सोला, पाए कण्णा चारी लोला ।

एअं रूअं चारी पाआ, भत्ती खत्ती णाआराआ ॥६६॥

६६ विद्युन्माला छंद में सोलह मात्रा तथा चार कर्ण (गुरुद्वय) अर्थात् आठ गुरु होते हैं । इस प्रकार इसमें चार चरण होते हैं । नागराज ने इसे क्षत्रिय जाति का माना है । (SSSS SSSS)

(इस पद्य के 'भत्ती खत्ती' का कुछ टीकाकार 'भक्त्या क्षत्रियः क्षत्रियजातिनागराज जल्पतीति शेषः' अर्थ करते हैं; अन्य टीकाकार 'भत्ती' का '(नागराजेन) भण्यते' अर्थ करते हैं तथा 'खत्ती' को 'क्षत्रिया' से अनूदित कर विद्युन्माला का विशेषण मानते हैं । (क्षत्रिया जातिरिति कश्चित्—दे० प्रा० पै० की विश्वनाथकृत टीका, वि० इ० स० पृ० १७१ । हमने इसी अर्थ को मान्यता दी है ।)

सोला—< षोडश, (दे० पिञ्जेल § ४४३ । अर्धमागधो, जैनम० में इसके सोलस, सोलसय रूप मिलते हैं । प्रा० पै० में सोलह रूप भी मिलता है । पिञ्जेल ने 'सोला' रूप का संकेत करते समय प्रा० पै० के इसी पद्य का हवाला दिया है ।) तु० हि० सोलह, रा० सोळा । (प्रा० प० रा० सोल, दे० टेसिटोरी § ५०) ।

एअं रूअं—प्राकृतीकृत (प्राकृताइज्ज) रूप । प्रा० पै० की भाषा में तपुसक का तत्त्वतः अभाव है, अतः इन छुटपुट नपुंसक के उदाहरणों को अपवाद ही मानना होगा । या तो यह प्रवृत्ति छन्दोनिर्वाहार्थ

अनुनासिक के प्रयोग का संकेत करती है, या यह देश्य भाषा में सङ्कृत की गमक खाने की चेष्टा कही जा सकती है।

अथा,

उम्मत्ता जोहा बुक्कता विप्पक्खा मज्जे लुक्कता ।

णिक्कता जंता धावता णिम्मती किची पार्वता ॥ ६७ ॥

[विष्णुन्माळा]

६७ व्याख्यान —

कोई कवि युद्ध का वर्णन कर रहा है — उम्मत्त घोड़ा, परस्पर एक दूसरे पक्ष के घोड़ानों से मिलते हुए, विपक्ष के बीच में छिप कर (घुस कर) (उनको मारकर) निकलते हुए शत्रुसेना के प्रति खाते हैं व शौकते हैं, घना (संसार में) निर्भात कौरि को प्राप्त करते हैं।

टिप्पणी—जोहा < घोधा ।

बुक्कता, लुक्कता, णिक्कता, जंता, धावता, पावता—ये सभी वर्तमानकालिक कृत के व० व० रूप हैं।

प्रमाणिका छंद —

सह गुरु निरतरा पमाणिमा अठक्करा ।

पमाणि वृक्ष किञ्जिए णराय सो मणिज्जए ॥ ६८ ॥

६८. एक छंद के बाद क्रमशः एक एक गुरु हो, वह जाठ भरकर का छंद प्रमाणिका है। प्रमाणिका को द्विगुण कर दोबारा, उसे नाराय छंद कहिये। (नाराय में एक एक छंद के बाद एक-एक गुरु होता तथा प्रत्येक चरण में १६ अक्षर होते हैं।)

(प्रमाणिका — 15151515) ।

टिप्पणी—वृक्ष < द्विगुणिता (द्वि० गुणने, रा० वृष्णा) ।

किञ्जिए, मणिज्जए (कियते, मण्यते) कर्मवाच्य रूप ।

६७ उम्मत्ता—B N उम्पता । मज्जे—B मम्मे, O मम्मे ।

णिम्मती—O, K. किर्माती ।

६८ पमाणिमा अठक्करा—B अठक्करा, O पमाणि अठक्करा ।

N पमाणि अठक्करा । किञ्जिए—A, B, N किञ्जिए, O K. किञ्जिए ।

मणिज्जए—A. मणिज्जिए ।

जहा,

णिमुंभसुं भखंडिणी गिरीसगेहमंडिणी ।

पअंडमुंडखंडिआ पसण होउ चंडिआ ॥ ६६ ॥

[प्रमाणिका]

६६. उदाहरण :—

निशुंभ तथा शुभ का खंडन करने वाली, महादेव के घर की सुसज्जित करनेवाली (महादेव की गृहिणी), प्रचंड मुंड नामक दैत्य का खंडन करनेवाली चंडिका प्रसन्न हो ।

टिप्पणी—होउ < भवतु । अनुज्ञा प्र० पु० ए० व० ।

मल्लिका छंद .—

हारगंधवंधुरेण दिट्ठ अट्ठ अक्खरेण ।

वारहाइ मत्त जाण मल्लिआ सुछंद माण ॥ ७० ॥

७० जहाँ क्रमशः एक एक गुरु के बाद एक एक लघु के बंध, तथा आठ अक्षर के साथ बारह मात्रा समझो, वहाँ मल्लिका छंद मानो ।

(मल्लिका—S I S I S I S I)

टिप्पणी—जाण—माण । अनुज्ञा म० पु० ए० व० ।

जहा,

जेण जिणु खत्ति वंस रिट्ठि मुट्ठि कैसि कंस ।

वाणपाणि कट्टिएउ सोउ तुम्ह सुक्ख देउ ॥ ७१ ॥

[मल्लिका]

७१ उदाहरण :—

जिन (परशुराम) ने क्षत्रिय वंश को जीता तथा सहस्रार्जुन के हाथ काटे, तथा जिन (कृष्ण) ने अरिष्ट, मुष्टिक, केशी तथा कस को

६६. पअड चंडिआ—C. पचडचड खडिए पसणि होहु चडिए ।

७०. हारगंधवधुरेण—C. हारवधवधएण । वारहाइ—C. वारहाई, N. वारहाहि । मल्लिआ—A B. मल्लिका ।

७१ जिणु—A जिणू । रिट्ठि मुट्ठि—C रिट्ठि मुट्ठ, K. रिट्ठि मुट्ठि । सोउ—A B N. सोउ, C K. सोइ । सुक्ख—A. सुक्ख, B. N. सुक्ख, C. K. सुम्म ।

जीता तथा पाणामुर के हाथ फाट, ये (परशुराम और कृष्ण) ऊँचे
मुख प्रदान करें।

टिप्पणी—अिण्यु < अित्, कर्मवाच्य भूतकालिक वृद्धं प्रत्यय 'य' (< प्रा० मा० आ० 'न'), 'व' कटाकारक (कर्मवाच्य कर्म कारक) ए० व० का चिह्न।

कटिपठ— \langle कर्षिता \rangle कटिजा-कटिप ७ कटिपठ ।

इसमें एक साथ कता य० व० 'य' प्रत्यय तथा 'ह' (कता कम
य० व० का अपभ्रंश का सुप् सिह) पाया जाता है। संभवतः 'ह' का
प्रयोग छन्दानिषादाय हुआ है।

ਜੁਗ ਚੰਦ—

उत्तरायणमणि तुगो पदमरस सुरगो ।

गणेश श्रवण पदो गुरु श्रवण पदो ॥७२॥

७२. हे धर्मस नेत्रों पाखी मुंदरि, पदले हा मगनों मे सुख छ मुंदर
छपु दो, तथा बाद में हा गुण हो, यह गुण नामक छंद हे ।

(१०१-११११११) ।

॥ —कुगा' : सुरगो, यद्या, पसिद्या; य शब्द प्राकृतिकृत रूप है।

यदा

रमलममरजीको सभलसुमणदीयो ।

इतिमतिमिरटिषा उभय तरपिषिषा ॥७३॥

[५८]

५२ कदाहरण—

कमल तथा भय (अथवा कमल में लिखे भयों) का जीवन
समय गुजरान का सौख्य सुखदिवस है। अथवा दे गमूद का माता
कर लिया है किंतु है। है। है।

॥—उमर—मर्यादा, अनमर्यादा म० पु० अ० अ० ॥

ક્રીષા શીષા દિશા વિશા—યે નવ જગાં જાગત દુઃખ ૩૫

01 17-1 17 1 0(4)-1 171 171-1

5/10/11

01 44-11, 62 180-10 1001-11, 1001-11, 1001-11

७७. उदाहरण —

जिसके गले में मुण्डमाला की कंठी (गले का हार) है, हाथ में सर्प स्थित है, जिसने व्याघ्रचर्म को बख्क बना रखा है, वह सिंह पर स्थित चण्डिका (मेरी) रक्षा करे ।

टिप्पणी—गला—<गले, यह अधिकरण ए० व० के अर्थ में प्रयुक्त शुद्ध प्रातिपदिक रूप 'गल' का दीर्घाकृत रूप है । अथवा इसे 'गलक' (गल + क) > गलअ-गलउ > गला के क्रम से 'आका-रात' पुल्लिङ्ग शुद्ध प्रातिपदिक रूप भी माना जा सकता है । (तु० हि० गला) ।

कंठिआ—<कठिका, (तु० हि० राज० कंठी) ।

वग्घछाला—<व्याघ्रचर्म, 'छल्ल' शब्द देशी है, इसीसे 'छाल' का विकास हुआ है (हि० छाल) । 'छाल' के पदांत 'अ' को छन्दो-निर्वाहार्थ दीर्घ बना दिया गया है ।

किआ < कृत (कृत) > किअ, 'अ' छंदोनिर्वाहार्थ दीर्घ बन गया है ।

वासणा < वसन, कुछ टीकाकारों ने 'किआवासणा' को समस्त पद (कृतवसना) माना है, जो गलत है । अन्य टीकाकारों ने 'व्याघ्रचर्म कृतं वसनं' व्याख्या की है । यह व्याख्या ठीक जान पड़ती है । 'वासणा' में छन्द के लिए एक साथ दो दो स्थानों पर 'अ' का 'आ' के रूप में दीर्घाकरण पाया जाता है ।

पाउ < पातु, अनुज्ञा म० पु० ए० व० ।

सारंगिका छंद .—

दिअवर कण्णो सअणं, पअ पअ मत्तागणणं ।

सुर मुणि मत्ता लहिअं सहि सरगिक्का कहिअं ॥ ७८ ॥

७८ हेसखि, जहाँ प्रत्येक चरण में एक द्विजवर (चतुर्लघ्वात्मक गण), फिर एक कर्ण (द्विगुर्वात्मक गण), फिर अंत में सगण (अंतगुरु वर्णिक गण) हो, इस ढंग से जहाँ प्रत्येक चरण में मात्रा की गणना हो, तथा शर (पौंच) और मुनि (सात) अर्थात् १२ (५ + ७) मात्रा हो, उसे सारंगिका छंद कहा जाता है । (सारंगिका—IIII, SS, IIS)

रिप्यी—सद्यर्ण, गणर्ण, छद्दिर्ण, कद्दिर्ण पातुत नपुंसक क रूप नहीं हैं। यह अनुस्वार केवल छन्दोनिर्वाहाय तथा संस्कृत को गमक छाने के लिए प्रयुक्त किया गया है।

सरगिक्का—‘एक’ प्रति में इसका ‘सरंगिक्का’ पाठ मिलता है। किंतु यह पाठ छन्दोनिर्वाह की दृष्टि से ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें एक मात्रा पढ़ आती है। संभवतः यही कारण है, ‘सरंगिक्का’ का विकास ‘सरंगिक्का’ हुआ है। प्रा० पै० के हस्तलेखों में प्रायः अनुनासिक का संकेत छुप्त कर दिया जाता है। अतः इसका ‘सरगिक्का’ रूप मिलता है। जैसे एक प्रति (A प्रति) ने ‘सारंगी’ पाठ रख कर इस भ्रमजन को मिटाने की चेष्टा की है। हमने बहुसंख्य पाठ ‘सरगिक्का’ ही लिया है, जिसे ‘सरंगिक्का’ का रूप समझते हैं।

अथा,

हरिणसरिस्ता णमणा कमलसरिस्ता वज्रणा ।

शुभ्रचयचित्ताहरिणी विमसहि विह्वा तद्वी ॥ ७६ ॥

[सारंगिक्का]

७६. उदाहरण —

हे विमसहि, (मीने) हरिण के समान नेत्रवाली, कमल के समान शूलवाली, युक्तों के चित्त का अपहरण करनेवाली उस तद्वी की देखा ।

रिप्यी—सरिस्ता < सरह > सरिस > सरिस्ता (द्वित्व तथा दीर्घाकरण की प्रवृत्ति) (रात्रि सरीसो—सरह) ।

‘चित्ताहरिणी’ < ‘चित्ताहरिणी’—इसमें ‘जा (चित्ता) छन्दो निर्वाहार्थ प्रयुक्त हुआ है ।

पाइत्ता छद् :—

कुंती पुत्ता शुभ्र सद्दिर्ण तीण रिप्यो शुभ्र कद्दिर्ण ।

अंते हारो अह कणिर्ण त पाइत्ता कणिमभिर्ण ॥ ८० ॥

७६. सरिस्ता—A सरह । कमलसरिस्ता—O कमलापिताता ।
हरिणी—A C हरणी । विह्वा—O K विहा ।

८०. तीण—B O तीमे । शुभ्र—A B शुभ । अह—B अरि ।
त पाइत्ता ‘मभिर्ण’—O पाइत्ता कअठ कद्दिर्ण N पाइत्ता कणिमभिर्ण ।

८०. जहाँ प्रत्येक चरण में आरंभ में दो कुन्तीपुत्र अर्थात् कर्ण (गुरु-द्वयात्मक गण) हो, इसके बाद विप्र (चतुर्लघ्वात्मक गण) तथा अंत में हार (गुरु) हो, उसे पिगल के द्वारा भणित पाइत्ता छद् (समझो)।

(पाइत्ता —SSSS, IIII, 5)।

टिप्पणी—जणिअं < जनित > जणिओ < जणिउ > जणिअ। इसी 'जणिअ' को छदोनिर्वाहार्थ 'जणिअं' बना दिया गया है।

जहा,

फुल्ला णीवा भम भमरा दिट्ठा मेहा जलसमला।

णच्चे विज्जू पिअसहिआ आवे कंता कहु कहिआ ॥८१॥

[पाइत्ता]

८१. उदाहरण :—

हे प्रियसखि, कदम्ब फूल गये हैं, भौरे घूम रहे हैं, जल से श्यामल मेघ दिखाई दे गये हैं, विजली नाच रही है, कहो प्रिय कब आयेंगे ?

टिप्पणी—समला < श्यामला > सामला > सावँला (अप०)। वस्तुतः इस मध्यग 'म' का विकास 'वँ' होता है। 'समला' (सावँला) को छन्दोनिर्वाह के लिए 'समला' बना दिया है। (तु० राज० सौवँलो, ब्रज० सौवरो) इस संबंध में इतना संकेत कर दिया कि 'वँ' के नासिक्य तत्त्व (नेज़ल एलिमेंट) का प्रभाव पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वरों पर भी पाया जाता है। प्रा० पै० के सावँला (वर्तनी, सामला) का उच्चारण सौवँला (S^u & w 1 &) रहा होगा, यह उच्चारण आज भी राज० में सुरक्षित है।

णच्चे < नृत्यति वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व०।

आवे < आयाति, भविष्यत् के अर्थ में वर्तमान कालिक प्रयोग—आगमिष्यति—(आयास्यति) प्र० पु० ए० व०।

कंता < कात, छदोनिर्वाहार्थ पदात 'अ' का दीर्घीकरण।

कहु < कथय, अनुज्ञा म० पु० ए० व०।

कहिआ < कदा।

८१ फुल्ला—O फुल्लो। णीवा—A. णीपा। जलसमला—C. °समरा, N जलसमरा। कहु—N, सहि। कहिआ—B. सहिआ।

बहुलिआ—वधू + टी + का (वधूटिका) > अप० बहु + डी (ली)
+ आ (बहुडिआ), बहुलिआ-बहुलिया; इसमें एक साथ दो दो
स्वार्थे प्रत्यय पाये जाते हैं । (तु० बहुरिया (कवीर)) ।

बिंब छंदः—

रश्मि फणि बिंब एसो गुरुजुअल सन्वसेसो ।

सिरहि दिअ मज्झ राओ गुणह गुणिए सहाओ ॥८४॥

८४ जहाँ सिर पर (पदादि में) द्विज (चतुर्लघ्वात्मक गण), मध्य में
राजा (मध्यगुरु चतुष्कल; जगण) तथा शेष में दो गुरु दिये जायें,
गुणियों के सहायक फणी (पिंगल) इसे बिंब कहते हैं (फणी ने इस
बिंब छन्द की रचना की है), इसे गुणो (समझो) । (बिंबः—
॥११, ॥१५, ॥१९) ।

टिप्पणी—सिरहि—< गिरसि, सिर + हि, अधिकरण कारक
ए० व० ।

गुणहि—अनुज्ञा म० पु० व० व० ।

जहा,

चलइ चल चित्त एसो णसइ तरुणत्तवेसो ।

सुपुरुसगुणेण बद्धा थिर रहइ कित्ति सुद्धा ॥८५॥

[बिंब]

८५. उदाहरण—

यह चञ्चल धन चला जाता है, तरुणत्व का वेप (यौवन) (भी)
नष्ट हो जाता है, अच्छे पौरुष गुणों से (गुण रूपी रस्सी से) बाँधी
हुई शुद्ध कीर्ति स्थिर रहती है ।

टिप्पणी—तरुणत्त—< तरुणत्वं (दे० पिशेल § ५६७, त्व > त्त,
तु० पुमत्त < पुंस्त्व), रुक्खत्त (रुक्षत्व) मणुयत्त (मनुजत्व),
भट्ठित्त (भर्तृत्व) ।

८४ रश्मि—C. रहम । जुअल—A. जुवल । सिरहि—C. सिरसि । मज्झ—
C K मज्झ ।

८५. चलचित्त—B. चलि चित्त । तरुणत्तवेसो—B. तरुणत्त° । सुपुरुस—
A. B. सुपुरिस । बद्धा—C. णद्धा ।

चोमर छंद—

जसु आइ इत्य विभ्राण सह मे पओहर जाण ।

पमणेइ णाअणरिंद इम माणु चोमर छंद ॥८६॥

८६ जिसके आदि में इस्त (गुरुसं सगण) समझो, तब वा पयोधर (जगण) जानो, नागों के राजा पिंगळ कहते हैं कि इस तरह चोमर छन्द मानो । (चोमर ॥८५॥८६॥८७॥) ।

विप्यजी—आइ—<आही ।

विभ्राण—वि + जानीहि जाण < जानीहि, माणु < मम्यत्स (मानय), ये सब आज्ञा म० पु० ए० व० के रूप हैं ।

अहा,

चलि धूअ कोइत्तसाव महुमास पवम माव ।

मण मज्झ धम्मह साव गहु कंत अस वि आव ॥८७॥

[चोमर]

८७. उदाहरण—

कोई विरहिणी सली मे कह रही है—

(हे सलि,) कोयळ के वक्रे आम की ओर आकर बसंत समय में पंचम का गान कर रहे हैं । मेरे मन को कामदेव तपा रहा है, म्रिय अभी तक नहीं छोटा है ।

वि०—चलि—< चलिस्वा; पूर्वकाठिक क्रिया रूप ।

कोइत्तसाव—< कोकिळसावा; कर्ताकारक व० व० में प्रातिपदिक का प्रयोग ।

साव—< गायति; वर्तमानकाठिक प्र० पु० व० व० गुरु माणु का प्रयोग ।

मण मज्झ—कुछ टीकाकारों ने 'मनोमज्जे' माना है, कुछने 'मनो मम' अर्थ किया है, इसमें बूसरा अर्थ ठीक जँचता है ।

मज्झ—< मम (वं पिशेळ ५४१५, ५४१८) ।

८६ जसु—A जसु । विभ्राण—A विभ्राण । मे—N व । जाण—A, B जाण । अरिंद—O अरिंद । इम—O एम । माणु—K, O, जाण ।

८७ मज्झ—K मज्झ । मज्झ—N मज्झ ।

ताव—< तापयति; णिजंत क्रिया रूप, '√तव+णिच्+०
(शून्य तिङ्) = ताच्+० = ताव, णिजंत का वर्तमानकालिक प्र० पु०
ए० व० ।

अज्जु—< अद्य > अज्ज > अज्जु; (हि० आज) ।

आव—< आयाति, वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व० 'शून्य
विभक्ति' या शुद्ध धातु रूप ।

रूपमाला छंदः—

णाआराआ जंपे सारा ए, चारी कएणा अंते हारा ए ।

अट्टाराहा मत्ता पाआए, रूआमाला छंदा जंपीए ॥८८॥

८८ (जहाँ प्रत्येक चरण में) चार कर्ण (गुरुद्वयात्मक गण)
तथा अत में हार (गुरु) हों अर्थात् जहाँ नौ गुरु हों, तथा अठारह
मात्रा हो, यह उत्कृष्ट रूपमाला छंद कहा जाता है, ऐसा नागराज
पिंगल कहते हैं ।

(रूपमाला—SSSSSSSSS)

दि०—जंपे—< जल्पति, वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व० ।

अट्टाराहा—< अष्टादश, ('अट्टारह' का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत
रूप, 'अट्टारह' के लिए दे० पिञ्जेल § ४४३) ।

जंपीए—< जल्प्यते, कर्मवाच्य वर्तमान प्र० पु० ए० व० ।

जहा,

जं णच्चे विज्जू मेहंधारा पंफुल्लाणीपा सदे मोरा ।

वाअंता मंदा सीआ वाआ, कंपंता गाआकंताणा आ ॥८९॥

[रूपमाला]

८९. उदाहरण —

किसी विरहिणी की उक्ति है ।

'विजली नाच रही है, मेघाधकार (फैल गया है), कदव फूल

८८ उपे—N जप्ते । अट्टाराहा—N अष्टादश । छंदा—C. छंदो ।

जंपीए—A. जंपाए, C. जप्पू से ।

८९ पफुल्ला—C. पफुल्लो । सदे—C. सदे । वाअता—C. वीअता ।

मदा—C मत्ता ।

गये हैं, मोर क्षण्य कर रहे हैं, शीतल पवन मंद मंद चल रहा है; इस लिये मेरा शरीर काँप रहा है, (हाय) प्रिय (अभी तक) नहीं आया ।

दि०—मेहंघारा—<मेघांधकार> 'पदांश आ' छन्दोनिर्वाहाय है ।

पंपुल्ल—<पंपुल्ला> पंपुल्ला, इसी 'पंपुल्ला' में छन्दोनिर्वाहाय अनुस्वार का समावेश कर 'पंपुल्ला' बना दिया गया है । यह कर्मवाच्य-भाववाच्य भूतकालिक कृत रूप है ।

सहे—<सह्यायंते, वर्तमानकालिक प्र० पु० व० व० ।

धार्मता—<धाम्त (वर्तमानकालिक कृत रूप, व० व०) ।

कंपंता—<कम्पत् (गार्त्रं=गात्रा) वर्तमानकालिक कृत व० व० (कंपंत) का छन्दोनिर्वाहाय विहित रूप ।

आ—<आयात्>आओ >आआ >आ (हि० आया, जो वस्तुतः 'आ आ' का ही भुविभुक्त रूप है; रा० आओ) ।

वशाक्षरप्रत्यार, संयुताच्छं—

जसु आइ इत्य विआणिओ सह धे पओइर आणिओ ।

गुरु अंत पिंगल जंपिओ सह छंद संयुत धप्पिओ ॥६०॥

९० हे सखि, जिसके आवि में (प्रत्येक भाग में) इस्त (गुर्वंत सगण) इसके बाद दो पओइर (मध्यगुरु सगण) तथा अंत में गुरु हो, वह पिंगल द्वारा वक्त संयुता छन्द है । (संयुता—॥S 1S1, 1S1, S ॥)

विप्यनी—विआणिओ—<विद्यात, आणिओ <द्यात, जप्पिओ <जप्पिर्व ।

धप्पिओ—<स्थापित, कर्मवाच्य भूतकालिक कृत रूप ।

अहा,

सुह आहि सुदरि अप्पणा, परितन्जि दुज्जणधप्पमा ।

विअसंत केअइसंपुठा ण हु ए वि आविअ वप्पुदा ॥६१॥

९ असु—A अह । सह—B तह O सोह N छह ।

६१ सुह—B, तहु । परितन्जि—K परितेजि । संयुता—N संयुता ।

आ—K, बिहु । धप्पि—K एहु । आविअ—A आवह, K, आविह । वप्पुदा—O N वसुदा ।

९१. उदाहरण—

कोई सखी नायिका को स्वयं अभिसरण करने की सलाह देती कह रही है —

हे सुन्दरी, तू स्वयं ही दुष्ट व्यक्तियों के द्वारा स्थापित व्यवस्था (कुलीनाचरण) को छोड़कर अपने आप ही (उसके समीप) जा, ये केतकी के फूल फूल रहे हैं और वह बेचारा अभी भी नहीं आया है।

टिप्पणी—तुह—<त्वं; मूलतः 'तुह' म० भा० आ० में सम्प्रदान-सम्बन्ध कारक ए० व० रूप है (दे० पिशेल § ४२१ पृ० २९७) वैसे प्राकृत में 'तुह' का प्रयोग कर्म कारक ए० व० में भी मिलता है (वही § ४२० पृ० २९८)। कर्ताकारक ए० व० में अपभ्रंश में इसका रूप 'तुहुँ' मिलता है (पूर्वी अप०) (तगारे § १२० ए)। तगारे ने भी 'तुह' शब्द का संकेत सम्प्रदान-संबन्ध-अपादान कारक ए० व० में किया है (वही § १२० ए, पृ० २९६) अवहट्ठ काल में आकर सचवाले रूपों का इतना अधिक प्रसार हुआ है कि वे कहीं कहीं कर्ता-कर्म में भी प्रयुक्त होने लगे हैं। अथवा इसका विकास सीधे 'तुहुँ' से भी माना जा सकता है। अवहट्ठ में कर्ता कारक ए० व० 'उ' के लोप का प्रभाव यहाँ पड़ा जान पड़ता है तथा 'तुहुँ' > तुहु > तुह के क्रम से इसका विकास हुआ है।

जाहि—<याहि, अनुज्ञा म० पु० ए० व०।

अप्पणा—<आत्मना, प्रा० में 'अप' (आत्मन्) शब्द के करण ए० व० में 'अप्पण' (म०, अर्धमा०, जैनम०, शौ०), अप्पेण, अप्पेणं (अर्धमा०), अप्पणेणं (अर्धमा०), अप्पणेण (म०) रूप मिलते हैं (दे० पिशेल § ४०१)। प० अप० में इसके अप्पे, अप्पि, अप्पु (?) अप्पा-ए, अप्पुणु, अप्पण्ण, अप्पणें, तथा पूर्वी अप० में अप्पहि (दोहाकोष) रूप मिलते हैं। 'अप्पण' रूप सम्बन्ध कारक में मिलता है (दे० तगारे § १२९ ए)। इसी 'अप्पण' का 'आ' वाला रूप 'अप्पणा' है।

परितज्जि < परित्यज्य, पूर्वकालिक क्रिया रूप।

विग्रसंत केग्रइसंपुडा—प्रायः सभी टीकाकारों ने इसे समस्त पद 'विकसत्केतकीसपुटे' (काले प्रावृषि इति शेष) का रूप माना है। एक टीकाकार ने 'विकसंतु केतकीसंपुटा' अर्थ किया है। ये दोनों अर्थ गलत हैं। मैं इसका अर्थ 'विकसंतः केतकीसपुटा' (संति) करना

टीक समझता हूँ, तथा 'विअसत' को समस्त पद का अंग नहीं मानता, न इसे अनुज्ञा प्र० पु० य० य० का रूप ही। यस्तुत' यह यवमान पाठिक क्रिया के लिए यवमानक्रांतिक कृत्य का य० य० के अर्थ में शुद्ध प्रातिपदिक प्रयोग है।

आयिअ < आयात > आइओ > आइअ से 'व' भुक्ति पाठा रूप 'आविअ' यनेगा।

यत्पुहा—देसी छन्द (अर्थ 'पराक, वेणरा'), (पू० राज 'भापडो' न० वापुरो)।

चंपकमाला छंद —

हार ठवीजे काहसदुज्जे कुतिअ पुचा ए गुरुजुचा।

हरथ फरीजे हार ठवीजे चंपअमाला छंद कहीज ॥६२॥

९२ वहाँ पहले हार (गुरु) स्थापित किया जाय, इसके बाद वा काहल (छन्द), फिर गुरुमुक्त कुंठीपुत्र (कर्म अर्थात् द्विगुरु गम), फिर हस्त (संगत) किया जाय और अंत में पुनः हार (गुरु) स्थापित किया जाय उसे चम्पकमाला छंद कहा जाता है।

(चंपकमाला—SISSSISS)।

द्विपवी—ठवीजे करीजे, कहीजे (स्थाप्यते, क्रियते, कर्म्यते), कर्मवाच्य रूप।

अथा,
ओगरमत्ता रमअपचा, गाइक विचा दुदसजुचा।
मोइणिमच्छा मालिधगच्छा, दिज्जइ फंता खा पुमवता ॥६३॥
[चंपकमाला]

६३ पदादरण —

केले के पत्ते में दूध से मुक्त ओगर का मात तथा गाय का घी,

६२ ठवीजे—O ठवीजे। हत्य—C कर। करीजे—O, ठवीए।
ठवीजे—C करीजे। कहीजे—C सुप्रीजे।

६३ ओमा—A ओगर। दुद—O K, दुध। सजुचा—A
मुज्ज, O मुज्जुल, N. मुज्जुल। मालिध—B K मालिध। पुमवता—
O पुमवता।

मोहणि मत्स्य (विशेष प्रकार की मछली) तथा नालीच के गुच्छे का साग प्रिया के द्वारा दिया जाता है और पुण्यवान् व्यक्ति खाता है ।

टिप्पणी—^०भत्ता, पत्ता, ^०जुत्ता, धित्ता, ^०मत्ता इन सभीमें छन्दो-निर्वाहार्थ पदांत 'अ' को दीर्घ बना दिया गया है ।

रम्भग्रपत्ता < रम्भापत्रे, यहाँ 'पत्त' (पत्ता) का अधिकरण ए० व० के अर्थ में शुद्ध प्रातिपादिक प्रयोग है ।

गाइक धित्ता (गाय का घी) 'क' के लिए दे० परसर्ग ।

दिज्जड ∠ दीयते, कर्मवाच्य रूप ।

खा < खादति—वर्तमान प्र० पु० ए० व० के लिए शुद्ध धातु का प्रयोग ।

सारवती छंद :—

दीह लहू जुअ दीह लहू, सारवई धुअ छंद कहू ।

अत पओहर ठाइ धआ, चौदह मत्त विराम कआ ॥६४॥

६४ जहाँ प्रत्येक चरण में क्रम से दीर्घ के बाद दो लघु, फिर दीर्घ के बाद एक लघु तथा अंत में पयोधर (जगण) तथा फिर ध्वज (।S) स्थापित कर चौदह मात्रा पर विराम किया जाय, उसे सारवती छंद कहो ।

(सारवती —S।S।S।S)

टिप्पणी—कहू (कहु) < कथय—आज्ञा म० पु० ए० व०, पदांत 'उ' को छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ कर दिया है ।

ठाइ < स्थापयित्वा—पूर्वकालिक क्रिया ।

कआ < कृत > कओ > कअ (पदांत 'अ' का दीर्घाकरण) ।

जहा,

पुत्त पवित्त बहुत्त धणा. भत्ति कुटुम्बिणि सुद्धमणा ।

हक्क तरासइ भिच्च गणा को कर वब्बर सग्ग मणा ॥६५॥

[सारवती]

६४ धुअ—A धुव । ठाइ—N. ठान । चौदह—C. चउदह, N चोदह ।

६५ हक्क—C हक्के ।

६४ उदाहरण —

पुत्र पवित्र हो, (घर में) बहुत धन हो, पत्नी पवित्र मनवासी
सथा भक्त (पवित्रता) हो, नौकर हौक (डाट) से ॥ डरते हों, तो
यहवर कहता है, स्वर्ग की इच्छा (मन) कौन करे ?

टिप्पणी—तरासह < अयस्वसि ।

हक्क < हकारेण (हौक), करण ए० व० ।

कर < करसु—अनुशा, प्र० पु० ए० व० ।

सगा < स्यर्ग—अधिकरण ए० व० ।

सुसमा छंद —

कण्णो पढमो हत्थो शुभल्लो, कण्णो विअल्लो हत्थो चउथो ।
सोला कलमा हक्का वल्लजा, एसा सुसमा दिक्का सुसमा ॥६६॥

९६ जहाँ प्रत्येक अरण में पहले कण (द्विगुणगण), दूसरे हस्त
(गुर्वत सगण), तीसरे कर्ण (द्विगुण गण), तथा चौथे हस्त (गुर्वत सगण)
हो तथा सोलह मात्रा हों, (विनमें) छ वल्लय (गुद) (तथा चार
छप्पु हों), यह प्राणों के समान प्यारा (असुसमा) सुसमा छंद है ।

(सुसमा —SSA|SSSA|S) ।

टिप्पणी—पढमो < प्रथमः, विअल्लो < वृत्तीयः, चउथो < चतुर्थ ।

बहा,

मोहा कविला उवा विअल्ला, मज्जे पिअल्ला नेवा शुभल्ला ।
हक्का वअप्पा दंता विरल्ला, केसे विविआ साका पिअल्ला ॥६७॥

[सुसमा]

६७ उदाहरण —

अिसकी मौदि कपिल (भूरी) हों, छछाट ऊँचा हो, दोनों नेत्र भीष
में पीछे हों, पदन सज्जा हो, तथा बौत विरल हों, कस्तूर प्रिय कैसे जी
सकता है ?

९६ शुभल्लो—A शुभल्लो O शुभल्लो । चउथो—O चउथो ।

सुसमा—A सुसमा ।

६७ कविला—O कविला । विअल्ला—A विअल्ला, B विअल्ला,
O K विअल्ला । मज्जे—K मज्जे । नेवा—O नेवा । विरल्ला—O
विरल्ला । केसे—A B केसे । विविआ—O विविआ ।

॥ उदाहरण—

हे प्रियसखि, (मैंने) शरत् के चन्द्रमा के समान मुखपाखी,
विकसित कमल के समान बदन वाली, मदमत्त कुंजर के समान गति
वाली तरुणी को देखा ।

टिप्पणी—मङ्गल—<मदगल (पु० हि० मीगल 'हाथी') ।

विट्पिप्प—<एटा स्त्रीलिङ्ग कर्मवाच्य भूतकालिककृत्यन्त का प्रयोग ।

एकादशाक्षर प्रस्तार, षष्ठ्यु छन्द —

गील सरुअह एह करीजे, तिष्णी मआगण अरथ मणीजे ।

सोलह मत्तह पाअ ठवीजे, दुग्गुरु चत्तहि वधु कहीजे ॥१००॥

१०० जिसके प्रत्येक चरण में तीन भगण कहे जायें, तथा अन्त में
दो गुरु स्थापित किये जायें और सोलह मात्रा हों, उसे वधु (नामक
छन्द) कहा जाता है । इस नीलसरोरुह भी कहा जाता है (अथवा
ऐसा नीले बालों वाले विंगल ने कहा है) ।

टिप्पणी—करीजे—(क्रियते), कहीजे (कथ्यते) ठवीजे (स्थाप्यते)
मणीजे (मण्यते), ये सब कर्मवाच्य रूप हैं ।

अर्थ—<यत्र ।

मत्तह—<मात्रा, 'ह' अप० में मूलतः संवर्ध करक की सुप् विभक्ति
है, जिसका प्रयोग धीरे-धीरे अन्य विभक्तियों में भी होने लगा है ।
कर्त्ताकारक व० व में इसका प्रयोग संवर्धरासक में भी मिलता है—
'अमुहसणि अमुहह णहु पवेसि' (२१), अमुधरवेस, अमुधा न खल्ल
प्रवेसिन') दे० संवर्धरासक (भूमिक्) § २१ । (१) इसका प्रयोग
प्राचीन मैथिली में देखा गया है, जहाँ इसके 'अह-आह' रूप
विशेषण तथा कर्मवाच्य भूतकालिक कृत्यन्त के व० व में पाये जाते
हैं । कहसबाह बेताछह (= कीटसा बेताछा)', 'अनेक ऋषिकुमार
वसुअह (वर्णरत्नाकर) । डॉ. आर्दुर्ग्या ने इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा०
आ० 'स्य' से मानी है, जो मूलतः अप० में सम्बन्ध करक ए० य०

१ नील—O नील । सरुअह—O सरोवर । करीजे—B करीजे ।
अर्थ—N अर्थ । मणीजे—O परीजे, B करीजे, K. करीजे । पाअ—O
पाठ । कहीजे—A. करीजे, O सुगिजे, K मणीजे ।

का रूप था । धीरे-धीरे यह संबंध व० व० मे तथा अन्यत्र भी प्रयुक्त होने लगा । (दे० वर्णरत्नाकर (भूमिका) § २६) ।

जहा,

पंडववंसहि जम्म धरीजे, संपन्न अज्जिअ धम्मक दिज्जे ।

सोउ जुहिट्ठिर संकट पावा, देवक लिक्खअ केण मिटावा ॥१०१॥

[वधु]

१०१ उदाहरण—

जिसने पांडववंश में जन्म धारण किया गया, संपत्ति का अर्जन करके उसे वर्म को दिया, उसी युधिष्ठिर ने संकट प्राप्त किया, दैव के लेख को कौन मिटा सकता है ?

दिप्पणी—पंडववंसहि—< पांडववंशे, अधिकरण ए० व० ।

धरीजे—(ध्रियते), दिज्जे (दीयते) कर्मवाच्य रूप ।

अज्जिअ—< अर्जयित्वा, पूर्वकालिक क्रिया रूप (अज्ज + इअ) ।

धम्मक—< धर्माय, 'क' सम्प्रदान-संबंध का परसर्ग, दे० भूमिका ।

पावा—< प्राप्त कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त रूप 'पाआ' का व-श्रुतियुक्तरूप (पाव् आ) ।

देवक लिक्खअ—< दैवस्य लिखितं, 'क' संबंध का परसर्ग दे० भूमिका ।

केण—केन, मिटावा, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त का 'व-श्रुति' वाला रूप । (मिटाव् आ) (हि० मिटाया, पू० रा० मटायो) ।

सुमुखी छंद —

दिअवर हार लहू जुअला, वलअ परिट्ठिअ हत्थअला ।

पअ कल चोदह जप अही, कहवर जाणइ सो सुमुही ॥१०२॥

१०१ जम्म-B. जन्म । धरीजे-A. B धरिज्जे, C करीजे । धम्मक-दिज्जे—A. धम्मके दिजे, C धम्म धरीजे । सोउ-C सोइ । जुहिट्ठिर-C. जुधिट्ठिर, K जुहुट्ठिर । देव-C दइअ, A B. दैवक । लिक्खअ-A B N. लेक्खअ, C लेक्खल ।

१०२ परिट्ठिअ-C पविट्ठिअ । चोदह-A B चौदह, C चउदह, K चउदह, N चौदह । जाणइ—A. जाणह, B. जाणहि, K. वल्लहि । सो-K. C. हो ।

पाप मणा—(१) पापात् मनः (परिहर) ; (२) पाप मनः परिहर ।

दोधक छंद—

चामर काहल जुग ठवीजे, हार लहू जुअ तत्थ धरीजे ।

कण्णगणा पअ अंत करीजे, दोधअ छंद फणी पभणीजे ॥१०४॥

१०४. चामर (गुरु), तथा दो काहल (दो लघु) को स्थापित करना चाहिए, तब एक हार (गुरु) तथा दो लघु को दो चार धरना चाहिए, प्रत्येक पद के अन्त में कर्ण गण (गुरुद्वयात्मक गण) करना चाहिए—इसे फणी (सर्पराज पिंगल) दोधक छंद कहते हैं ।

दोधक छंद— $SIISIISS = ११$ वर्ण ।

दि०—^०जुग— $<$ ^०युगं, द्वित्वप्रवृत्ति ।

ठवीजे— \angle स्थाप्यते, धरीजे \angle ध्रियते, करीजे \angle क्रियते, ये तीनों कर्मवाच्य रूप हैं ।

पभणीजे—यह भी कर्मवाच्य रूप ही है, यद्यपि, टीकाकारों ने इसे कर्तृवाच्य रूप 'प्रभणति' माना है । तुक मिलाने के लिए इसे कर्मवाच्य रूप में प्रयुक्त किया गया है । इसका संस्कृत रूपान्तर "दोधकं छन्दः फणिना प्रभण्यते" होना चाहिए ।

जहा,

पिंग जटावलि ठाविअ गंगा, धारिअ णाअरि जेण अधंगा ।

चंदकला जसु सीसहि णोक्खा, सो तुह संकर दिज्जउ मोक्खा ॥१०५

[दोधक]

१०५. उदाहरण—

जिन्होने पीली जटा में गंगा स्थापित की है, जिन्होंने अधर्माग में

१०४ चामर—B. चामल । धरीजे—C करीजे । अत्त—C अतर । करीजे—C. दीजे । दोधअ छंद—N. दोधक छन्दह णाम करीजे, C ^०फणीस भणीजे ।

१०५ ठाविअ—N धारिअ । धारिअ—C. ठाविअ । णोक्खा—B. चोक्खा । तुअ—A B तुह । दिज्जउ—A. दीज्जउ । मोक्खा—A. साक्खा, B, N. सोक्खा ।

जहा,

रंडा चंडा दिक्खिदा धम्मदारा,
मज्जं मंस पिज्जए खज्जए अ ।
मिक्खा भाज्जं चम्मखंडं च सज्जा,
कोलो धम्मो कस्स णो भादि रम्मो ॥१०७॥

१०७ उदाहरण—

चंडा (कोपवती) मंत्रानुसार दीक्षित रंडा ही जहाँ पत्नी है; (जहाँ) मद्य पीया जाता है, और मांस खाया जाता है, भिक्षा भोजन है तथा चर्मखंड शैय्या है, वह कौल धर्म किसे अच्छा न लगेगा ?

यह उदाहरण कर्पूरमंजरी सट्टक से लिया गया है, वहाँ यह प्रथम यवनिकातर का २२ वाँ पद्य है, इसकी भाषा प्राकृत है ।

टि०—पिज्जए—(पीयते), खज्जए (खाद्यते), कर्मवाच्य रूप ।

दमनकछंद —

दिअवरजुअ लहु जुअल, पअ पअ पअलिअ वलअ ।

चउ पअ चउ वसु कलअं, दमणअ फणि भण ललिअं ॥१०८॥

१०८ जहाँ प्रत्येक चरण में दो द्विजवर (अर्थात् दो बार चतुर्लधात्मक गण, आठ लघु) फिर दो लघु तथा अंत में एक गुरु (इस प्रकार १० लघु तथा एक गुरु) प्रकटित हों, जहाँ चारों चरणों में (मिलाकर) चार और आठ अर्थात् ४८ मात्रा हो, फणिराज पिगल उस ललित छंद को दमनक कहते हैं । (दमनक—|||||||S=११ वर्ण)

टि०—पअलिअ—< प्रकटितं, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त रूप ।

कलअं—< कला (छंदोनिर्वाहार्थ अनुस्वार) ।

१०७ दिक्खिदा—C दिक्खिआ । अ—K आ । मिक्खा—C मिया ।
सेज्जा—C. सज्जा । कोलो—C. कोणो ।

१०८ दिअवर—B. दिजवर । लहु—B लघु । फणि भण ललिअ—C.
भण फणि भणिअ ।

जहा,

परिखअससहरवअणं विमलकमलदलणअण ।

विदिअअसुरकुलदलख, पखमह सिरिमहुमहण ॥१०६॥

[हमनक]

१०६. सदाहरण—

पूर्ण चन्द्रमा के समान मुलवाले, विमल कमलपत्र के समान नेत्र वाले, असुर कुल का वधन करनेवाले, भीमघुसूदन (कृष्ण) को प्रणाम करो ।

दि०—पखमह—प+✓जम+ह, आद्या म० पु० ष० ष० ।

सेनिका छंद—

ताल णदए समुहत्तरभा, जोहलेण छंद पूरभा ।

गारहाई अक्खराईआणिभा, णाअराअर्जपएअ सेणिभा ॥११०॥

११० जिस छंद में ऋमहा ताल, नन्व, समुद्र तथा सूय (ये चारों गुणादि त्रिकल 'ज' के नाम हैं) हों तथा अंत में जोहल (रगज) से इस छंद को पूरा किया गया हो तथा म्यारह अक्षर जानो,—नागरज विंगल ने इसे सेनिका छंद कहा है ।

(सेनिका—ऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽ) ।

जहा,

सुत्ति पत्तिपाअ भूनि कंप्पिभा,

टप्पु सुदि खेह घर मंप्पिभा ।

गोडराअ मिण्णि माण मालिआ,

कामरूअराअवदि खोडिआ ॥ १११ ॥

[सेनिका]

१ ॥ परिअअ —C पभतिअ । विदिह—O वदिअ । विदि—

Δ वि ।

११ गारहाई—N. गारहाइ । अक्खराई—B अक्खराणि, N. अक्खराइ । आणिभा—C अणिमो । अर्ज पद सेणिभा—A एअ, O अएअ, N अमि एअ सेणिभा ।

१११ टप्पु—C टप्पि । गोडराअ—A B N गोडराअ, C. K. गोलराअ । वदि—C वधि । खोडिआ—C K. खोडिअ, N खेडिआ ।

१११. उदाहरण :—

पैदल सेना के चरणों से पृथ्वी एकदम कॉप उठी, (घोड़ों की) टापो से उड़ो धूल ने सूर्य को ढँक दिया, (उस राजा ने) गौडराज को जीत कर उसके मान को समाप्त कर दिया; तथा कामरूप-राज के बंदी को छुड़ा दिया ।

टिप्पणी—कंपिआ (= कंपिअ का दीर्घ रूप अथवा 'स्वार्थे क' का रूप *'कंपितिका' (भूमिः) से), कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत ।

कंपिआ (= झंपिअ—आच्छादितः, छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप) । कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत ।

मोलिआ (- मोटित), छोडिआ (मोचितः, √ छोड देशी धातु है), इनमें भी छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ स्वर पाया जाता है—वास्तविक रूप 'मोलिअ' 'छोडिअ' होगा ।

जिणिण < जित्वा, पूर्वकालिक क्रिया रूप ।

मालती छंद :—

कुंतीपुत्ता, पंचा दिण्णा जाणीआ,

अंते कंता एक्का हारा माणीआ ।

पाआ पाआ मत्ता दिट्ठा बाईसा,

मालती छंदा जंपंता णाएसा ॥ ११२ ॥

११२. हे प्रिय, जहाँ प्रत्येक चरण में पाँच कुंतीपुत्र (गुरु) दिए हुए समझो, तथा अंत में एक हार (गुरु) माना जाय, प्रत्येक चरण में २२ मात्रा देखी जाय, नागेश पिंगल इसे मालती छंद कहते हैं ।

टिप्पणी—दिण्णा < दत्ता ।

जाणीआ, माणीआ—ये वस्तुतः 'जाणिअ, माणिअ' के छंदोनिर्वाहार्थ (मेत्रि काज्जा) विकृत रूप हैं । इस तरह ये मूलतः कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप हैं ।

जंपंता = जंपंत, यह वर्तमानकालिक कृदंत रूप है :—

सं० जल्पन् > जंपंतो > जंपंत का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप है ।
णाएसा (= णायस) < नागेशः ।

११२. कंता—C कण्णा । दिट्ठा—C. दिण्णा । बाईसा—C. बाइसा ।
छंदा—C. माल ।

बहा,

ठामा ठामा इत्यो जूहा देवसीआ,

णीला मेहा मेरु सिंगा पेक्सीआ ।

धीराइत्या अगो खग्गा राजता,

णीला मेहा मज्झ विज्जु णच्चता ॥ ११३ ॥

[माछी]

११३ व्याख्यान —

स्थान स्थान पर हाथियों के झुंड दिखाई पड़ रहे हैं जैसे मेढ के शृंग पर नील मेघ दिखाई पड़ रहे हों, वीरों के हाथों के अग्र भाग में खड्ग सुसोमित हो रहे हैं जैसे नील मेघों के बीच बिजली ताप रही हो ।

विष्णु—ठामा ठामा (= ठाम ठाम) 'स्थाने-स्थाने' अधिकरण एक वचन ।

देवसीआ (देविसीमा < इष्ट), पेक्सीआ (पेक्सिमा < प्रेक्षितं) अथवा इन्हें व० व० रूप भी माना जा सकता है, किन्तु फिर भी धीरे 'ई' छन्दोनिर्वाहार्थ ही है ।

राजता—(= राजत अथवा व० व०), णच्चता (= जर्जत, छन्दोनिर्वाह धीररूप), ये दोनों वतमानकाविक कर्तव्य रूप हैं ।

इन्द्रवज्रा छन्द—

दिज्जे तम्मारा लुभला पयसु, अंते अरेंदो गुरु जुग सेस ।

जपे फलिदा घुम इदवज्जा, मचा दहा अह समा सुसज्जा ॥ ११४ ॥

११३ देवसीमा—B देसीमा O पेक्सीमा । जीजा—O पय । सिंगा—C सिगे । परसीमा—O देसीमा । राजता—O जर्जता N रज्जता । जीजा अच्युता—O विष्णु मेहा मज्झे वण्णता ।

११४ दिग्गे—B दिग्गे व राजा, O दिग्गेह दीप लुभला पयसु । पयसु—A पयसु N पयसु । फलिदा—B फलीदा, O अरिंदो । घुम—B घुम । मचा—C मचा ।

११४. प्रत्येक चरण में दो तगण दिये जायँ, अंत में जगण तथा दो गुरु हो, फणींद्र कहते हैं कि यह इंद्रवज्रा छंद है, तथा इसमें दस ओर आठ (अर्थात् अठारह) मात्रा प्रत्येक चरण में होती है ।

(इन्द्रवज्रा—SSISSIISISS=११ वर्ण)

टि०—दिज्जे—< दीयते (कर्मवाच्य), अथवा इसे 'दद्यात्' (विधि प्रकार) का रूप भी माना जा सकता है ।

पएसु—< पदेपु; 'प्राकृत' विभक्ति 'सु' अधिकरण व० व० ।

जपे—< जल्पति, वर्तमान प्र० पु० ए० व० ।

जहा,

मंतं ण तंतं णहु किंपि जाणे,

झाणं च णो किंपि गुरुप्पसाओ ।

मज्जं पिआमो महिलं रमामो,

मोक्खं वजामो कुलमग्गलग्गा ॥११५॥

[इन्द्रवज्रा]

११५. उदाहरण —

न मैं मंत्र ही जानता हूँ, न तंत्र ही, न ध्यान ही करता हूँ, न कोई गुरु की कृपा ही है । हम मद्य पीते हैं, महिला के साथ रमण करते हैं तथा कुल (कौल) मार्ग में लगे रह कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

यह पद्य भी कर्पूरमरी सट्टक का है । वहाँ यह प्रथम यवनिकांतर का २२ वाँ पद्य है । इसकी भाषा भी प्राकृत है ।

टि०—जाणे—(जानामि), वर्तमान उत्तम पु० ए० व० ।
पिआमो (पिवाम.), रमामो (रमाम.), जामो—(याम), वर्तमान उत्तम पु० व० व० (प्राकृत रूप) ।

११५ जाणे—C जणं । मोक्खं—B मोख । वजामो—K. वजामो, N. च नामो ।

उपेन्द्रवज्रा छंद

शरैद एवका तन्मणा सुसज्जा,
पमोहरा कण्ठ गणा मुणिज्जा ।
उर्विदषज्जा फणिराभदिक्का
पदति छेजा सुहवण्णसिद्धा ॥११६॥

११६ उपेन्द्रवज्रा—

जहाँ आरम्भ में एक नरैद (जगण) सुसज्जित हो, फिर पमोहर (जगण) हो तथा अंत में कर्ण गण (दो गुरु) ध्यानना चाहिए। यह फणिराज पिंगल के द्वारा दृष्ट छुमवर्णों से युक्त उपेन्द्रवज्रा छंद है, इसे विदग्ध व्यक्ति पढ़ते हैं।

उपेन्द्रवज्रा—।।।।।।।।।।=११ वर्ण।

टि —मुणिज्जा—टीकाकारों ने इसे (१) ज्ञायते—ज्ञायते, (२) ज्ञाय के द्वारा जनूयित किया है। इस प्रकार यह कर्मवाच्य रूप प्रतीत होता है, किंतु इसे क्रिया रूप मानने पर 'मुणिज्ज' अथवा 'मुणिरजे' रूप होना चाहिए। संभवतः 'सुसज्जा' की तुल्य पर 'मुणिरजे' को 'मुणिज्जा' बना दिया है। या 'मुणिज्ज' को वस्तुतः कर्मवाच्य का 'स्टेम' है, छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ कर दिया है। अथवा इसे संस्कृत 'मनीसर' > म मा० भा० इज्ज का रूप भी माना जा सकता है इसका सं० रूप 'मननीया' (छेजा) मानना होगा।

दिक्का—(= दृष्ट) सिद्धा (= सृष्ट), छेजा < छेका ।

अथा,

सुधम्मपिप्पा गुणमंत पुत्ता, सुकम्मरत्ता विणम्मा कलत्ता ।

विमुददेहा धणमंत येहा कुणंति के बम्बर सग्ग येहा ॥११७॥

[उपेन्द्रवज्रा]

११७ उदाहरण—

धर्मवित्त गुणवाम् पुत्र, सुकर्मरत्त विनयशीलपत्नी; विमुद वेद धनयुक्त घर हो, तो बम्बर कहते हैं, स्वर्ग की इच्छा कौन करेंगे ?

११६ नरैद—A.B. नरिद । कणिराज— —O फणिराज । सुहवण्ण सिद्धा—C सुहवण्णसिद्धा ।

११७ कलत्ता—O करत्ता, K. कलत्ता ।

टि०—कलत्ता, देहा, गेहा, रोहा आदि शब्दों में छन्दोनिर्वाहार्थ पदान्त अ वा दीर्घ रूप पाया जाता है ।

उपजाति छंद—

इंद उर्विदा ऐक्क करिज्जसु, चउअगल दह णाम मुणिज्जसु ।

समजाइहिं समअक्खर दिज्जसु, पिंगल भण उवजाइहि किज्जसु ११८ [अडिल्ला]

११८ इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवजा को एक करना चाहिए, इसके चार अधिक दस (अर्थात् चौदह) नाम (भेद) समझो, समान जाति वाले वृत्तों के साथ समान अक्षर दो, पिंगल कहते हैं—इस प्रकार उपजाति (छंद की रचना) करनी चाहिए ।

टि०—उर्विदा—/ उपेन्द्रा > उवेदा > उविदा ।

करिज्जसु, मुणिज्जसु, दिज्जसु, किज्जसु—ये चारों विधि प्रकार के म० पु० ए० व० के रूप हैं ।

चउ अक्खरके पत्थर किज्जसु, इंद उर्विदा गुरु लहु बुज्जसु ।

मज्झहिं चउदह हो उवजाइ, पिंगल जंपइ कित्ति बोलाइ ॥११९॥ [अडिल्ला + पज्झटिका]

११९ चार अक्षरों का प्रस्तार करो, इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा के गुरु लघु समझो (अर्थात् इन्द्रवज्रा में आद्यक्षर गुरु होता है, उपेन्द्रवजा में लघु), मध्य में चौदह उपजाति होती हैं—ऐसा कीर्ति से वेल्लित पिंगल कहते हैं ।

टि०—अक्खरके—'के' परसर्ग (सम्बन्ध कारक का परसर्ग) है ।

जहा,

बालो कुमारो स लमुंडधारी, उप्पाअहीणा हउं ऐक्क णारी ।

अहणिसं खाहि विसं भिखारी, गई भवित्ती किल का हमारी ॥१२० [उपजाति]

११८ एतत्पद्य—C प्रती न प्राप्यते । उवजाइहि—A उपजाइ कहि ।

११९ उविदा—B उर्वेदा । गुरु लहु बुज्जसु—C लहु गुरु दिज्जसु, A बुज्जसु ।

१२० उप्पाअ—C. उप्पाअ, K. उप्पाउ । अहणिस—C. अहणिस । खाहि—C खासि । विस—A विश, C विख । गई—C गतिर्भविस्ती, N गइ ।

१२० सदाहरण—

पावती शिव से अपनी स्थिति का वर्णन कर रही हैं —

कुमार (स्वामी कार्तिकेय) बालक है, साथ ही छ' मुँह बाछा है,
मैं अपायहीन अकेली नारी हूँ, और (तुम) मिस्सारी (बन कर) रात
दिन विष का मक्षण करते रहते हो; कृपाओ यो सही, हमारी क्या
बधा होगी ?

प्रि —हूँ—उत्तम पुरुषवाचक सधनाम इसकी उत्पत्ति निम्न क्रम
से हुई है—मा० मा० आ० अहम् > म० मा० आ० अहकं ('क'
स्वार्थ) > परवर्ती म० मा० आ० हकं, हलं, हर्षं > अप० हल्ल-हल
(अननुनासिक रूप) (अख० हौं, शु० हूँ) ।

खादि—√ ला + हि, वर्तमान म० पु० ए० व० ।

मिस्सारी—<मिष्ठा-कारिक>* मिस्सा-आरिभ >* मिस्सा-
रिभ >* मिस्सारी > मिस्सारी ।

मविस्ती—मवित्री ।

हमारी—*अस्म-कर > अम्हअर >* अम्हार > हमार 'हमारी'
'हमार-हमार' का स्त्रीलिङ्ग रूप है ।

किन्ही बायीं माला साक्षा, ईंसी माया आमा बाला ।

अदा भदा पेम्मा रामा, रिखी बुखी तख्ख नामा ॥१२१॥

[विद्युन्माळा]

१२१ सपत्न्या के चौदह भेदों के नाम —

कीर्ति, वाणी, माळा, छाळा, ईंसी, माया, आमा, बाळा, आर्त्रा,
भद्रा, प्रेमा, यमा बुद्धि अद्धि—ये उनके नाम हैं ।

हावशास्त्र प्रसार विद्याभर छंद —

चारी कण्णा पाए दिण्णा सञ्जासारा,

पाआर्यते दिज्जे फंता चारी हारा ।

छण्णावेमा मत्ता गण्णा चारी पाआ,

विन्माहारा अंपे सारा नाआराआ ॥१२२॥

१२२. जहाँ प्रत्येक चरण मे चार कर्ण (गुरुद्वय, अर्थात् आठ गुरु), तब अंत मे चार गुरु (द्वार) दिये जायें, जहाँ चारो चरणो में छानवे मात्रा हों, नागराज उसे विद्याधर छंद कहते हैं ।

दिप्पणी—दिण्णा < दत्ता, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत ।

दिज्जे—कर्मवाच्य रूप ।

छण्णावेश्रा < पण्णवतिः (प्रा० पै० मे इसका 'छण्णवइ' रूप भी मिलता है । दे० १-९५ । दे० पिशेल § ४४६ । अर्धमा० 'छण्णउई') ।

(विद्याधर :—ssssssssss=१२ वर्ण) ।

जहा,

जासू कंठा वीसा दीसा सीसा गंगा,
णाआराआ किज्जे हारा गोरी अंगा ।
गत्ते चम्मा मारु कामा लिज्जे कित्ती,
सोई देओ सुक्खं देओ तुम्हा भत्ती ॥१२३॥

[विद्याधर]

१२३. उदाहरण —

जिनके कंठ में विष दिखाई देता है, सिर पर गंगा है, नागराज को हार बनाया है, तथा गोरी अंग में है, जिनके शरीर पर गज चर्म है, जिन्होंने कामदेव को मार कर कीर्ति प्राप्त की है, वही देव तुम्हें 'भक्ति' के कारण सुख दें ।

दिप्पणी—इस पद्य में छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घस्वरांत की प्रवृत्ति बहुतायत से है ।

दीसा (= दीस < दृश्यते, कर्मवाच्य रूप । 'दीस' केवल धातु रूप है । सविभक्तिक रूप 'दीसइ' होगा) ।

भुजगप्रयात छंद :—

धओ चामरो रूअओ सेस सारो,
ठए कंठए मुद्धए जत्थ हारो ।

१२३. जासू कंठा वीसा दीसा—N. वीसा कण्ठा वासू दीसा । कंठा—C. कंठे । गोरी—B गोरी । गत्ते—K. गते । गत्ते चम्मा—C. गल्ले चाम । सोई—C सोऊ । देओ सुक्ख देओ—N देऊ सुक्ख देओ, K. देऊ सुक्ख देऊ । तुम्हा—C अह्मा ।

१२४ वीस—N. वीस । एतत्पद्य C. प्रती न प्राप्यते ।

षष्ठ्यर्थं किञ्जे तथा सुद्वेह,
भुजगापञ्चाश पण बीस रेह ॥१२४॥

१२४ हे मुग्धे, जहाँ ध्वज (आदिषु प्रिकल, 15), तथा चामर (गुह), इस प्रकार चार गण, प्रत्येक चरण में स्थापित किये जाय (अथवा जहाँ चार गण 155 हों), विंगल में इसे समस्त छद्मों का सार कहा है तथा यह वैसे ही गले में स्थापित किया जाता है जैसे हार, इस सुद्वेह पाठे छद्म का भुजगाप्रपात कहा जाता है—इसमें प्रत्येक चरण में २० मात्रा होती हैं ।

भुजगाप्रपात 155 155 155 155 = १२ वण, २० मात्रा ।

टिप्पणी—‘आ’ पाठे शब्द ‘धमो, चामर’ आदि प्राकृतीकृत रूप हैं । भुजगापञ्चाश, ‘वेह, रेह’—छन्दोनिपादाथ ‘अनुस्वार’ का प्रथम ।

अदिगण चारि पसिद्धा सातद्वेहण विंगलो मण्ड ।

तोयि सभा बीसगल मणासखा समग्गाइ ॥१२५॥

[गादा]

१२५ (भुजगाप्रपात छंद में) चार अदिगण (वण) प्रसिद्ध हैं (इस छंद के) गादा चरणों में (अथवा चार छंदों में मिलाकर) सब कुछ बीस अधिक तीन गी (तीन गी बीस) मात्राएँ होती हैं—गंगा विंगल कहते हैं । (इस गादा वरु छंद में $३२० + ४ = ३२४$ मात्रा होती ।)

उदा

महा मण माभग पाण टपोमा,

तदा निगग पाणा कण्ठग धरीमा ।

सुभा पाण माहा पण्ठा ममागा,

महा गामरी कामरागण मणा ॥१२६॥

[भुजगाप्रपात]

१११ मण्ड—॥ १११ मण्ड ॥ १११ मण्ड ॥ १११ मण्ड ॥ १११ मण्ड ॥

१११ मण्ड—॥ १११ मण्ड ॥ १११ मण्ड ॥ १११ मण्ड ॥ १११ मण्ड ॥

१२६. इस सुंदरी के चरणों में अत्यधिक मदमत्त हाथी स्थित है (यह मदमत्त गज के समान गति वाली है), तथा कटाक्ष में तीक्ष्ण चाण धरे हुए हैं, इसकी भुजाएँ पाश हैं, भौंह धनुष के समान हैं,—अरे यह सुंदरी तो कामदेव रूपी राजा की सेना है।

टि०—ठवीआ—< स्थापितः (= ठविअ का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप, निजंत का कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत)।

धरीआ—< धृता. (= धरिआ; व० व० रूप, 'इ' का छन्दो-निर्वाहार्थ दीर्घ रूप)।

धणूहा—< धनु (अर्धतत्सम रूप 'धनुह' का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप, अथवा तद्भव 'धनु' + 'ह' (स्वार्थ) = धणुह का विकृत रूप)।

लक्ष्मीधर छंद —

हार गंधा तहा कण्ण गंधा उणो,

कण्ण सदा तहा तो गुरूआ गणो।

चारि जोहा गणा णाअराआ भणो,

एहु रूएण लच्छीहरो सो मुणो ॥१२७॥

१२७ जहाँ हार (गुरु) तथा गंध (लघु) हों, फिर कर्ण (दो गुरु) तथा गंध (लघु) हों, तथा कर्ण (गुरुद्वय) तथा शब्द (लघु) हो, तथा अंत में तगण एव गुरु हो—जिस छंद के प्रत्येक चरण में (इस प्रकार) चार योधा गण (रगण) पड़े, नागराज कहते हैं, वह लक्ष्मीधर छंद है, ऐसा समझो।

टि०—भणो—(भण का तुक के लिए विकृत रूप) < भणति।

मुणो—आज्ञा, म० पु० ए० व० (हि० मानो)।

जहा,

भंजिआ मालवा गंजिआ कण्णला,

जिणिआ गुज्जरा लुंठिआ कुंजरा।

धणूहा—N धनूहा, B धणूहा। सेणा—A सणा, १२६—C. १२२।
भुजंगप्रयात—K भुजगपयात।

१२७. लच्छीहरो—B लच्छीधरो।

१२८ कण्णला—C. N काणला। जिणिआ—N. निज्जिआ। गुज्जरा-

षगला भगला मोडिमा मोडिमा,

मेष्यया कपिषा कित्तिभा यप्पिभा ॥१२८॥

[छद्मसीधर]

१२८ कोई कवि किसी राजा का वर्णन कर रहा है —

उसने माध्य देश के राजाओं को भगा दिया (इस विषय),
कर्णाटदेशीय राजाओं को मार दिया, गुजरातदेशीय राजाओं को जीत
लिया तथा हावियों को छूट लिया, उसके ऊपर से बंगाल के राजा भग
गये, अजिंठा के राजा ध्वस्त हो गये, म्लेच्छ काँप उठे तथा (इस
प्रकार उसने) कीर्ति स्थापित की।

४६ —मञ्जिष्ठा—(मन्त्रा), गञ्जिष्ठा (=गञ्जिष्ठा), विष्णिष्ठा (विष्ठा), छुठिष्ठा (छुठिष्ठा) मोडिष्ठा (मोडिष्ठा), कपिष्ठा (कपिष्ठा) कर्मवाच्य मृतकालिक कृत्य व० व० ।

भगवत्—कर्मवाच्य मू० कर्त्तृत्वं च० च० 'छ' प्रत्यय (वे० मुमिका) ।

अपिच्य— \angle स्वापिता; कमवाच्य भु० कृत् स्त्री० ए० व० ।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'भंगछा' को कुम्भ रूप में मानकर देस नाम का पाषाण माना है, ये मगछा (= भागछा) का अर्थ 'भागछपुर' करते हैं। (वे० हिप्पी काव्यभारा पृ० ३६८)

बोटक छय -

सगथा धुञ् चारि पलंति जही, भण सोलह मत्त विराम कही ।
सह पिंगस्त्रिभ मणिष्य ठविअ, इह तोटअ छव वरं रह्यं ॥१२६॥

१९६. वहाँ चार सगण पक्षें तथा सोलह मात्रा पर विराम (चरण समाप्त) हो, पैगणिकों ने उचित कहा है, यह भेद तोटक छन्द (पिंगल ने) बनाया है (तोटक—॥५॥५॥५॥५॥—१९ वर्ण)

N कुकुवा । कुंभरा—A कुम्भरा । कृत्तिषा—N शुद्धिषा । बंगला—N
कडुका । मंगला—N मङ्गल्य । मोदिष्य—N ओदिष्य । मोदिष्य—O
मुदिष्य N मोदिष्य । मण्डपा—A मिण्डप्य । कविषा—N कविष्य ।
१२८—C १३५ ।

१२६. पुन—N वपुन K पुन । जही—B. जिही । मज—N मज ।
विगजिप—N विगजप । रहुषी—N रविषी ।

टिप्पणी—पलंति—(=पडंति) <पतंति ।

जही—<यत्र । कही < कथित. > कहिओ > कहिअ > कही
(ध्यान रखिये यह स्त्रीलिंग रूप नहीं है) ।

‘पिगलिग्रं, भणिग्रं, उचिग्रं, चरं, रइग्र’—में छन्दोनिर्वाहार्थ
अनुस्वार है ।

जहा,

चल गुज्जर कुंजर तेज्जि मही, तुअ वव्वर जीवण अज्जु णही ।
जइ कुप्पिअ कण्ण णरेंदवरा, रण को हरि कोहर वज्जहरा ॥१३०॥

१३०. उदाहरण —

हे गुर्जरराज, हाथियों को छोड़कर पृथ्वी पर चल, वव्वर कहता
है, आज तेरा जीवन नहीं (रहेगा), यदि नरेन्द्रो मे श्रेष्ठ कर्ण कुपित
हो जायँ, तो युद्ध में विष्णु कौन हैं, शिव कौन हैं, और इन्द्र कौन हैं ?

टिप्पणी—चल—आज्ञा म० पु० ए० व० ।

कुंजर—<कुंजरान्, कर्म व० व० में प्रातिपदिक का प्रयोग ।

तुअ—<तव (दे० पिशेल § ४२१ पृ० २६७) ।

कुप्पिअ—<कुपितः (= कुपिअ, द्वित्वप्रवृत्ति छन्दोनिर्वाहार्थ) ।

रण—<रणे, अधिकरण कारक ए० व० में प्रातिपदिक का प्रयोग ।

तेज्जि—<त्यक्त्वा, पूर्वकालिक रूप ।

सारंगरूपक छंद —

जा चारि तक्कार संभेअ उक्किट्ठ,

सारंगरूअक्क सो पिंगले दिट्ठ ।

जा तीअ वीसाम संजुत्त पाएहि

णा जाणिए कंति अण्णोण्णभाएहि ॥१३१॥

१३१ जहाँ चार तकार (तगण) का उत्कृष्ट संबंध हो, पिंगल ने
उसे सारंगरूपक के रूप में देखा गया है, जहाँ प्रत्येक चरण में तृतीय

१३०. गुज्जर—N. गुज्जर । कुंजर—A. कुञ्जर । तेज्जि—C. तज्जि ।
तुअ—B रुह । कुप्पिअ—C कोप्पिअ, N कोपह ।

१३१ उक्किट्ठ—C उक्किट्ठ । दिट्ठ—C टिठ्ठ । पाएहि—C. पाएहि ।
कंति—A. कित्ति, C वत्ति । अण्णोण्ण—C. अण्णण । भाएहि—C. भाएण ।

भस्तर पर धवि (विभाम) हो, उस छंद की कति किसी से नहीं जानो जा सकती । (सारगकूपक — $SSSSSSSSSS = १२$ वर्ण)

दिप्पनी—उपिकट्टु—< उक्तुर्धु ।

वीसाम्—< विभाम, > विस्सामो > विस्सामु > वीसाम ।

जाणिए—जायते (प्राकृतरूप आत्मनेपदी) ।

ब्रह्मा,

रे गोह थक्कंतु ते हत्थिज्जहाइ,
पत्तहि शुम्भत्तु पाइक्कत्तुहाइ ।
कासीस राजा सरासारम्मगेण
की हत्थि की पत्ति की वीरवग्गेण ॥१३२॥

[सारगकूपक]

१३२ हे गोहराज, तुम्हारे हाथियों के सुण्ड आराम करें, तुम्हारे पैरों सिपाहियों की सेना छोटकर बने, कासीश्वर राजा के नामों की वृष्टि के आगे हाथियों से क्या, पैरों से क्या, वीरों से क्या ?

दिप्पनी—थक्कंतु—(= आम्भन्तु), शुम्भत्तु (शुम्भताम्), अनुशा म० पु० व० व० ।

पत्तहि—(= पत्ति) < परावर्त्य, पूर्वकाक्षिक क्रिया 'ठ' का छन्दोनिर्वाहार्थ द्वित्व ।

मौक्तिकनाम छंद —

पभोहर चारि पसिद्ध ताम,
ति पैरह मत्तह माप्तिअदाम ।
य पुग्गहि हारु य विज्जइ अंत,
मिह सम भग्गल जप्पण मत्त ॥१३३॥

१३३ गोह—A गोह O गठह । थक्कंतु—K थक्कंति । ज्जहाइ—A B ज्जहाइ, O ज्जहाई । शुम्भत्तु—A शुम्भत्तु N शुम्भंत्तु, O. थक्कंत्तु । पाइक्कत्तु—A B. पाइक्कत्तु, C पाइक्कत्तु N पाइक्कत्तु ।

१३३ ताम—A B. ताम । पुग्गहि—N पुग्गहि । हारु—A N हार ।

१३३. जहाँ चार पयोधर (जगण) प्रसिद्ध हो, (प्रत्येक चरण में) तीन और तेरह (अर्थात् $३ + १३ = १६$) मात्रा हो;—वह मौक्तिकनाम छंद है, यहाँ आदि में या अंत में हार (गुरु) नहीं दिया जाता; यहाँ (सोलह चरणों में) दो सौ अधिक छप्पन ($२०० + ५६ = २५६$) मात्रा होती हैं। (इस प्रकार एक छंद में $२५६ - ४ = ६४$ मात्रा होती हैं।)

टिप्पणी—जाम < यरिमन्, टिज्जइ < दीयते । कर्मवाच्य रूप ।

(मौक्तिकद्वयम—१॥१॥१॥१॥ = १२ वर्ण) ।

जहा,

कआ भउ दुच्चरि तेज्जि गरास,
खणे खण जाणिअ अच्च णिसास ।
कुहूरव तार दुरंत वसंत,
कि णिद्दअ काम कि णिद्दअ कत ॥१३४॥

[मौक्तिकदाम]

੧੩੪. ਉਦਾਹਰਣ .—

किसी विरहिणी की दशा का वर्णन है । -

भोजन (ग्रास) छोड़ कर उसकी काया दुबली हो गई है, क्षण क्षण में निश्वास ज्ञात होता है, कोकिला की तार ध्वनि के कारण यह चसंत दुरत (हो गया है), क्या काम निर्दय है अथवा कात (पति) निर्दय है ?

टिप्पणी—कआ (= काआ) < काया, छन्दोनिर्वाहार्थं ह्रस्वी-
कृत रूप ।

भउ < भूता, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त रूप ।

गरास < ग्रास, 'अ' ध्वनि का आगम ।

१३४ मड—C. मअ, N भनु । दुध्वरि—C N. दुध्वर । तज्जि—
N तज्ज । अच्छ—C. दीह । दुरंत—C. दुरन्त । वसंत—C. वसन्त ।
कंत—C कन्त ।

मोदक छद् —

सोटअ छद् विरीअ ठविज्जसु,
मोदअ छंदअ णाम करिन्जसु ।
चारि गणा भगणा सुपसिद्धउ,
पिंगल जंपइ किप्पिहि लुद्धउ ॥१३५॥

१३४ सोटक छद् को विपरीत (छल्टा) स्थापित करना चाहिए, यथा इस छंद का नाम मोदक करना चाहिए, इसमें चार भगव प्रसिद्ध हैं, कीर्तिलुब्ध पिंगल ऐसा कहते हैं ।

टिप्पणी—विरीअ < विरीते (= विपरीत) ।

(मोदक = अ॥ अ॥ अ॥ अ॥ = १२ वर्ण)

अर्था,

गज्जठ मेह कि अंबर सावर,
फुल्लउ णीव कि पुल्लउ मम्मर ।
एक्कउ बीअ पराहिण मम्मइ,
की लउ पाठस कीलउ मम्मइ ॥१३६॥

[मोदक]

१३६ उदाहरण :—

कोई बिरहिणी कह रही है :—

बावळ गरलें, भाकाळ श्यामळ (हो), कय कूळें, मयबा भौरें
बोळें इमारा बीअ मकेळा ही पराधीन है, इसे या तो बर्षों मरु छे छे,
या कामदेव छे छे ।

टिप्पणी—गज्जठ < गज्जठु, पुल्लउ < पुल्लउ, पुल्लउ, √ पुल्ल
वेलीभातु + उ, ये सब अनुदा प्र० पु० ए व० के रूप हैं ।

सावर (= सावर) < श्यामळ > सामळो > सावर > सावर ।

पराहिण (= पराधीन) < पराधीन, उम्होनिबांशाथ बीपे 'ई'
का हस्तीकरण ।

१३५. सोटअ — A सोटअ N सोटअ । विरीअ — N विरीअ ।

उविज्जसु — N उविज्जसु । मोदअ जंपअ — N मोदअजंपअ ।

१३६ सावर — O N सावर । पुल्लउ मम्मर — O मम्मर मम्मर ।

एक्कउ — O एक्कउ । बी लउ — A बी लउ ।

तरलनयनी :—

णगण णगण कह चउगण,
सुकइ कमलमुखि फणि भण ।
तरलणअणि सव करु लहु,
सव गुरु जवउ णिवरि कहु ॥१३७॥

१३७. हे कमलमुखि; जहाँ नगण, नगण इस प्रकार चार गण हो (अर्थात् चार नगण हो), सुकवि फणी कहते हैं उस तरलनयनी छंद में सव वर्णों को लघु करो तथा समस्त गुरुवाले भेदों का निराकरण करके उसे (तरलनयनी छंद) कहो ।

(तरुणनयनी—॥॥ ॥॥ ॥॥ ॥॥ = १२ वर्ण)

टिप्पणी—णिवरि—<निवार्य, पूर्वकालिक क्रिया ।

जहा,

कमलवअण तिणअण हर, गिरिवरसअण तिसुलधर ।

ससहरतिलअ गलगरल, वितरउ महु अभिमत वर ॥१३८॥

[तरलनयनी]

१३८. उदाहरण —

कमल के समान नेत्रवाले, गिरिवरशयन, त्रिशूलधर, चन्द्रमा के तिलक वाले, त्रिनेत्र शिव, जिनके गले में गरल है, मुझे अभीष्ट वर दे ।

टिप्पणी—तिसुलधर—(= त्रिसूलधर, अर्धतत्तमस रूप 'ऊ' का ह्रस्वीकरण छन्दोनिर्वाहार्थ) ।

वितरउ—अनुज्ञा प्र० पु० ए० व० ।

महु—<मह्य (दे० तगारे § ११६ ए०, पृ० २०९) ।

१३७ गण—N गुण । सुकइ—A. सूकइ । जवउ—A अवउ । कहु—A. कह । C. प्रतौ “तरलणअणि सर सव लहु स गुरु जअण णिवरि कहु” इत्येतत् उत्तरार्धे प्राप्यते ।

१३८. तिणअण हर—A. तिण हर । तिसुलधर—C तिसूलधर । ससहर—B. ससधर । गलगरल—A B N गलगरल, C. मअणदम, K पलअकर । वितरउ—C N. वितरहि । महु—N महि । अभिमत—B. अहिमत ।

सुन्दरी छन्द—

णगण चामर गंधमुआ ठवे,
चमर सल्लजुआ जइ संभवे ।
रगण ऐक्क पअंतहि छेक्खिआ,
सुमुहि सुदरि पिंगलदेक्खिआ ॥१३६॥

१३९ हे सुमुक्खि जइ कम्मअ नगण, चामर (एक गुठ), गंधमुग (दो छपु) स्थापित किए जायें, चया फिर चामर (एक गुठ), सल्लमुग (दो छपु) हों, चया अन्त में एक रगण छिन्ना जाय, उसे पिंगल ने सुन्दरी नामक छन्द (के रूप में) देखा है ।

(सुन्दरी ॥१३६॥१३७॥१३८॥ = १२ वर्ण)

इसी को संस्कृत छन्दशास्त्र में 'द्वुवचिह्नवित' कहते हैं—'द्वुवचिह्न-
न्वितमाह नमो भरो' ।

हि —ठवे—< स्थाप्यते; संभवे < संभवति (संभवइ > संभवे)
(वैकल्पिकरूप 'सहोइ' होगा) ।

छेक्खिआ—< छिन्नित', ऐक्खिआ < दृष्ट = * दृष्टित' ये दोनों
बलुव 'छेक्खिअ', 'ऐक्खिअ' के छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप हैं ।

अहा,

वइह दक्खिण मारुअ सीअला रवइ पंचम कोमल कोइला ।

महुअरा महुपाज वइसरा, ममइ सुवरि माइव समवा ॥१४०॥

[सुंदरी]

१४० व्याकरण—

कोई सली कसदांतरिता नायिका को समायी कह रही है—

१२६. सल्ल—O सल्ल । ऐक्क—B एक । ऐक्खिआ—O ऐक्खिआ ।
ऐक्खिआ—O ऐक्खिआ ।

१४ मारुअ—A माइअ । सीअला—A सिअला । रवइ—K.
यवइ । वइसरा—O माइसरा । ममइ—N यवइ, O यवइ । सुवरि—A
सुवरि । माइव—B. माइव । समवा—B समरा । महुअरा—O महु
माइव N समममाइरा ।

शीतल दक्षिण पवन धह रहा है, कोयल कोमल पंचम स्वर में
कूक रही है। मधुपान के कारण अत्यधिक शब्द करते भौंरे घूम रहे
हैं, (सचमुच) वसंत उत्पन्न हो गया है।

टि०—वहूसरा—<बहुस्वराः।

त्रयोदशाक्षर प्रस्तार, माया छदः—

कण्णा दुण्णा चामर सल्ला जुअला ज

बीहा दीहा गंधअजुग्गा पअला तं।

अंते कंता चामर हारा सुहकाआ

बाईसा मत्ता गुणजुत्ता भणु माआ ॥१४१॥

१४१. जहाँ प्रत्येक चरण में दुगने कर्ण (दो गुरुद्वय अर्थात् चार
गुरु), फिर चामर, दो शल्य (लघु) तब दो दीर्घ (गुरु) तथा दो गंध
(लघु) प्रकट हों, पद के अन्त में सुदर चामर तथा हार (दो गुरु)
हों, तथा बाईस मात्रा हो, उसे शुभशरीर एवं गुणयुक्त माया छन्द
कहो। (माया —SSSSS॥SS॥SS=१३ वर्ण)

टि०—जं—<यत्र, त < ता।

पअला—<प्रकटिता।

जहा,

ए अत्थीरा देखु सरीरा घर जाआ,

वित्ता पुत्ता सोअर मिचा सबु माआ।

काहे लागी वज्जर वेलावसि मुज्जे,

एक्का किच्ची विज्जइ जुत्ती जइ सुज्जे ॥१४२॥

[माया]

१४१ बीहा बीह—C. दीहा बीहा, N बीहा°। पअला—C. पल्लिआ
(=पतिता.)। तं—B ज। कंता—C कण्णा। सुकाआ—A सहकाआ।
भणु—A भणू।

१४२. देखु—N. देख। सरीरा—K. शरीरा। सोअर—B सोहर।
मित्ता—A मित्त। वेलावसि—C N वोलावसि। मुज्जे—C N. मुम्मे।
विज्जइ—C विज्जहि। सुज्जे—C N सुम्मे, A. स्रम्मे, B. स्रजे।

१४० सदाहरण—

देख, यह शरीर अस्थिर है, घर, बाया, वित्त, पुत्र, सहोदर, मित्र सभी माया है। बन्धन कहता है, तू इसके लिए मायाबन्ध मुक्त होकर क्यों विवस्त्र कर रहा है; यदि तुझे सूझे तो तू किसी मुक्ति से कीर्ति (प्राप्त) कर।

दि — अस्थीरा—(= अस्थिर < अस्थिर, छन्दोनिर्वाहार्थ रूप)

वैपक्ल—अनुष्टु म० पु० पं० ब० ।

सरीरा, वित्त, पुत्र, मित्र—(छन्दोनिर्वाहार्थ प्रातिपदिक का दीर्घरूप मधवा इहै 'आ' वाले व० ष० रूप भी माना जा सकता है, जैसा कि एक टीकाकार ने इहै व० ष० रूप माना है ।)

काहे लागी—लागी' सम्प्रदान का परस्मै इसकी व्युत्पत्ति सं० 'लग्न' से है ।

वेलावसि—< विवस्त्रयसि; मधवा वेलापवसि (नाम वातु का निर्जंत रूप), वर्तमान म० पु० पं० ब० ।

किन्नाइ—कर्मवाच्य ।

सुज्जे—वर्तमानकाळिक प्र० पु० पं० ब० (हि० सूजे) ।

तारक छंद—

छइ भाइ छइ शुभ पाय करीजे,

गुरु सखजुमा मगवा सुअ दीजे ।

पअ अंतहि पाइ गुरु शुभ दिज्जे,

सहि तारअ छंदइ याम मणिज्जे ॥१४३॥

१४३ यहाँ प्रत्येक चरण के आरम्भ में दो छन्द स्थापित कर एक गुरु तथा दो शब्द (छन्द) किये जाय तथा दो मगज दिये जायें, तथा चरण के अंत में दो गुरु किये जायें—इे सक्ति, इस छंद का नाम तारक कहा जाता है ।

१४३ गुरु सखजुमा दीजे—N गुरु सखजुमा गुरु सखजुमा हे, O गुरु सखजुमा सुअ दीजे । पअ अंतहि—N पअअन्त हि O. पअ अंतहि । तारअ छंदइ—N तारअछंदइ । नाम—O याम । मणिज्जे—N मणिज्जे । १४३-१ १४ ।

टि०—करीजे, दीजे, किज्जे, भणिज्जे—कर्मवाच्य रूप ।

अंतह—< अंते, अधिकरण ए० व० ।

छंदह—< छंदस, सबध ए० व० ।

जहा,

णव मंजरि लिज्जिअ चूअह गाछे,

परिफुल्लिअ केसु णआ वण आछे ।

जह ऐत्थि दिगंतर जाइहि कंता,

किअ वम्मह णत्थि कि णत्थि वसंता ॥१४४॥

[तारक]

१४४. उदाहरण :—

आम्र वृक्ष ने नई मंजरी धारण कर ली है, किंशुक के नये फूलों से चन पुष्पित है, यदि इस समय में (भी) प्रिय विदेश (दिगत) जायेगा, तो क्या कामदेव नहीं है, अथवा वसंत नहीं है ?

टिप्पणी—लिज्जिअ, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत ।

चूअह गाछे < चूतस्य वृक्षे—‘ह’ संबंध कारक ए० व० का चिह्न ।

गाछे—देशी शब्द (राज० ‘गाछ’), ‘ए’ करण कारक ए० व० का चिह्न ।

केसु < किंशुकं > किंसुअ > केसुअ > केसु ।

आछे < अस्ति (गुज० छे, पूर्वी राज० छै), सहायक क्रिया ।

जाइहि > यास्यति, भविष्यत् कालिक क्रिया प्र० पु० ए० व० ।

णत्थि < न + अस्ति = नास्ति ।

णआ (=णअ), कंता (=कत), वसता (=वसंत) छन्दो-निर्वाहार्थ पदांत स्वर का दीर्घीकरण ।

कद छद —

धआ तूर हारो पुणो तूर हारेण,

गुरु सद किज्जे अ एक्का तआरेण ।

१४४ णव—C. ठवि । मजरि—A. मज्जरि । लिज्जिअ—A. किज्जिअ ।

गाछे—N. गाच्छे । केसु णआ—A.B. केसू णआ, C. केसुअआवण । ऐत्थि—C. एत्थि । किअ—C. कि । णत्थि—N. णच्छि । १४४—C. १४१ ।

१४५ धआ—N. धजा । गुरु तआरेण—C. गुरु काहला कण्ण एक्केण

कईसा कला कंदु जंपिज्ज णाएण

असो होइ चो अगगला सव्व पाएण ॥१४५॥

१४५ जहाँ प्रत्येक चरण में कमल-पत्र (छप्पादि त्रिकल, 15), मूय (गुवादि त्रिकल 31), द्वार (गुरु), पुनः द्वार (गुरु) के साथ सूर्य (31) हो, तथा अंत में एक तगण के साथ गुरु तथा छन्द (छप्पु) किये जायें—कवीश भाग (पिंगल) ने कहा है कि इस कव नामक छन्द में सप्त चरणों में चार अधिक अस्सी अर्थात् चौगसी मात्रा होती हैं।

(कव—1551551551551=१३ वर्ण)

त्रि—किज्जे—<क्रियते, कर्मवाच्य रूप।

जंपिज्ज—<जल्प्यते, घासु के कर्मवाच्य शब्द मूल अ० पु० प० प० में प्रयोग।

वेइ सुअंगम अत सहु तेरह वण्ण पमाण।

चठरासी अउ पाअ कल कंद छंदु वर बाण ॥१४६॥

[बोहा]

१४६ अंत में सुअंगम (गुरु) तथा छप्पु तेरह वर्ण प्रमाण से तथा चारों चरणों में ८४ मात्रा होने पर कव छन्द जानो।

दि०—वेइ—<वत्सा, पूर्वकाञ्चिक क्रिया।

अठरासी—<चतुरासीति (अधमा० अठरासीई, चौरासीई, चौरासी, जैनमहा० अठरासीई, चुरासीई, दे० पिछेछ ५ ४४६) (दि० चौरासी, पू० राज० चौरासी)।

अहा

ण र कंस जाणेहि हो ऐसक वाला इ,

हऊँ देवईपुच तो पंसकालाइ।

पाएण। कईसा—४ कपला। कंदु—० छंदु। चो—A. चउ, B चो।

१४५—० १४२ N १५२।

१४६ A B C प्रतिपु निर्णयतागरतंकरणे च न प्राप्यते।

१४७ हो—B N हो ० इड। बाबाइ—०. बाबा N बाबाइ।

तहा गेण्हु कंसो जणाणंदकंदेण

जहा हत्ति दिट्ठो णिआणारिचिंदेण ॥१४७॥

[कंद]

१४७ उदाहरण —

‘हे कंस, यह न समझ कि मैं एक बालक हूँ, मैं तेरे वंश का काल देवकीपुत्र हूँ ।’ इस प्रकार कहकर जनानंदकंद श्रीकृष्ण ने कंस को इस तरह पकड़ा कि वह अपनी स्त्रियों के द्वारा मारा हुआ देखा गया ।

टिप्पणी—जाणेहि—वर्तमान म० पु० ए० व० ।

हउं—उत्तमपुरुष वाचक सर्वनाम (दे० भूमिका) ।

गेण्हु < गृहीतः, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत ।

ह त्ति < हत इति (= हअ त्ति) । छन्दोनिर्वाह के लिए ‘अ’ का लोप ।

दिट्ठो < दृष्टः ।

णिआणारिचिंदेण < निजनारीवृन्देण । ‘णिआ’ में आ का दीर्घाकरण छन्दोनिर्वाहार्थ ।

पंकावली छंद :—

चामर पढमहि पाप गणो धुअ,

सल्ल चरण गण ठावहि तं जुअ ।

सोलह कलअ पए पअ जाणिअ,

पिंगल पभणइ पंकअवालिअ ॥१४८॥

१४८ जहाँ प्रत्येक चरण में पहले चामर (गुरु), फिर पापगण (सर्वलघ्वात्मक पंचकल), फिर शल्य (लघु), फिर दो चरणगण

हउं—K. मुहे । देवई—A. B देवइ । गेण्हु—A. गण्हु, K. गण्ह, N गेह । हत्ति—N. ह त्ति, K हति । दिट्ठो—C. K. दिट्ठो । चिंदेण—A. वृन्देण ।

१४८ गणो—A. B. गणा । धुअ—B धुव । जुअ—A. B. जुव । पए पअ.—N. पआपअ, B पअप्पअ । सोलह—A. सोल । पभणइ—B. पमणिअ । १४८—C. १४४ ।

(भगज) की स्थापना करो; प्रत्येक चरण में सोछह कला समझी जायें, पिंगल (उसे) पंकावली (छंद्) कहते हैं ।

(पंकावली — $5A||1115A|5A = 12$ धर्म)

दिप्पची—पहमहि < प्रथमे ।

ठायहि < स्थापय, निखंथ आत्ता म० पु० ए० ब० ।

आणिअ < शाधा, कर्मवाच्य भूत काविक कृत रूप ।

पंकावलीअ (= पंकावलिम्) < पंकावली, कम ए० ब० छन्दोनिर्वाहार्थ विरुद्ध रूप ।

बहा,

बो अण अणमठ सो गुणमठ,

जे कर पर उअआर हसंतठ ।

जे पुण पर उअआर विरुज्जठ

तासु मणणि कि ण यक्कड धम्मतु ॥१४६॥

[पंकावली]

१४६ उदाहरण —

वही व्यक्ति ने जन्म लिया है (वहीका जन्म सफल है), वही व्यक्ति गुणवान् है, जो हंसते हुए दूसरे का अपकार करता है और वह जो परोपकार के विरुद्ध है, उसकी भी वीक्ष क्यो न रही ?

दिप्पची—कर < करोति, वर्तमान म० पु० ए० ब० में छुट्ट बाहु का प्रयोग ।

हसंतठ < हसन्, वर्तमानकाविक कृत रूप ।

विरुज्जठ < विरुज्ज; कर्मवाच्य भूतकाविक कृत रूप ।

तासु < तस्य > तस्स > तस्सु > तासु ।

यक्कड < विघ्नतु; टीकाकारों ने इसे वर्तमानकाविक रूप 'विघ्नति' माना है, जो गलत है, वस्तुतः यह आत्ता म० पु० ए० ब० रूप है ।

१४६ अण—O N अण । अणमठ—A B अणमठ । गुणमठ—

C गुणमठ । उअआर—A B K उअआर । हसंतठ—O हसन् ।

विरुज्जठ—O K विरुज्जठ, A विरुज्जठ, B विरुज्जठ । तासु—A

तासु, B C N तासु, K तासु । यक्कड—A B यक्कड, N यक्कड

O यक्कड, K यक्कड । पंकावली—A B पंकावली, N, पंकावली, K, पंकावली ।

चतुर्दशाक्षरप्रस्तार, वसततिलकाः—

कण्णो पइज्ज पढमे जगणो अ वीए,

अंते तुरंग सअणो य अ तत्थ पाए ।

उत्ता वसततिलआ फणिणा उकिट्ठा,

छेआ पढंति सरसा सुकइंददिट्ठा ॥१५०॥

१५०. जहाँ प्रत्येक चरण में पहले कर्ण (दो गुरु) पड़े, फिर जगण तथा इसके अंत में तुरंग (सगण) तथा सगण (अर्थात् दो सगण) और यगण पड़ें,—फणिराज पिंगल के द्वारा कथित सुकवियों के द्वारा चट्ट छद् वसंततिलका को सरस विदग्ध व्यक्ति पढ़ते हैं ।

टिप्पणी—पइज्ज—कर्मवाच्य धातु का शुद्ध मूल रूप । (पत् + य > पअ + इज्ज) (वर्तमान ए० व० रूप 'पइज्जइ', 'पडिज्जइ' होगा) । तत्थ < तत्र ।

(वसंततिलका •—SS'SI||S||SIS=१४ वर्ण) ।

जहा,

जे तीअ तिल्लचलचक्खुतिहाअदिट्ठा,

ते काम चंद महु पंचम मारणिज्जा ।

जेसं उणो णिवडिआ सअला वि दिट्ठी,

चिट्ठंति ते तिलजलंजलिदाणजोग्गा ॥१५१॥

[वसंततिलका]

१५१. उदाहरण •—

उस नायिका ने जिन लोगों को अपने तीक्ष्ण तथा चंचल नेत्रों के रत्रिभाग से भी देखा है, उन्हें कामदेव, चंद्रमा, वसंत और कोकिला

१५०. पइज्ज—A. ठविज्ज । पढमे—C. पढमो । अ वीए—C. ठविज्जे । सअणो—C. सगणो । यअ—K जअ । तत्थ—N. तच्छ । फणिणा उकिट्ठा—C फणिराउदिट्ठा, K °उकिट्ठा । पढति—K पढति । C N °दिट्ठा ।

१५१. °हाअ°—K. °हाव° । जेसं—C. जेसु । णिवडिआ—A. णिविडिआ, B N. णिवडिआ, C K णिवडिदा । चिट्ठंति—C वट्टन्ति । °जलंजलि—A. °जरुजली ।

का पंचम स्वर सीमा ही मार डालेंगे । और जिन लोगों पर उसकी पूरी दृष्टि पड़ गई, वे तो तिलप्रसोदछि देने के योग्य हैं (वे तो मरे ही हैं) ।

टिप्पणी—तीक्ष्ण < तस्या (वे० विभेद ५ ४२५ पु० ३००) ।

मारण्यज्ञा < मारणीया (इग्न < सं० बनोयर्) ।

जेष्ठ < येषां । निबन्धिता < निपदिता ।

चिह्नंति < चिह्नंति ।

(यह पद्य कपूरमहारी के द्वितीय अवनिकार का पौचमो पद्य है, मापा प्राकृत है ।)

चक्रपद् छन्द —

समगिअ चरण गण पलिअ मुहो,

संठविअ पुणवि दिअवरजुअछो ।

अं करअल्लगण पअ पअ मुणिओ,

अककपअ पमअ फणिअह मणिओ ॥१५२॥

१५२ वहाँ आरंभ (मुख) में, चरण गण (भगण) गिरे, वैसे कह कर पुन दो द्विअवर (दो बार सर्वलक्षणत्मक चतुर्मासिक) को स्थापित कर, प्रत्येक चरण के अंत में करअल्ल गण (सगण) समझा आय, फणिपति के द्वारा कथित वर छंद को चक्रपद् कहे ।

(चक्रपद्—A B C D E F G H I J K L M N O P Q R S T U V W X Y Z = १५ वर्ण) ।

टिप्पणी—संमगिअ < संमग्य, पूर्वकाळिक क्रिया ।

संठविअ < संस्थाप्य, पूर्वकाळिक क्रिया ।

पलिअ < पठितः, कर्मवाच्य मूलकाळिक कर्तृत्व रूप ।

मुणिओ < मठ (वास), मणिओ < मणितः, कर्मवाच्य मूलकाळिक कर्तृत्व ।

पमअ—आज्ञा म० पु० ५० व० (प + √ मण + =)

१५१ पञ्चिअमुहो—O. एतत्पद् म प्राकृते । करअल्लगण—A करअल्ल

गण, O. करअ सगण । चक्रपद्—A मणिओ—B चक्रपद्म मणु, N

चक्रपद्म मणु, O. फणिअह मणिओ ।

जहा,

खंजणजुअल णअणवर उपमा
 चारुकणअलइ भुअजुअ सुसमा ।
 फुल्लकमलमुहि गअवरगमणी
 कस्स सुकिअफल विहि गढु तरुणी ॥१५३॥

[चक्रपद]

१५३. उदाहरण :—

जिसके नेत्रों की श्रेष्ठ उपमा दो खंजन हैं, तथा सुंदर कनकलता के समान दोनों हाथ हैं, प्रफुल्लित कमल के समान मुखवाली, गजवर-गमना, वह रमणी विधाता ने किसके पुण्य के लिए गढ़ी है ?

दिप्पणी—विहि < विधिना, करण ए० व० के अर्थ में प्रातिपदिक का प्रयोग ।

गढु < घटिता > घडिआ > घडिअ > घडु > गढु । प्राणता (aspiration) का विपर्यय (Metathesis) ।

पचदशाक्षरप्रस्तार, भ्रमरावली छंद —

कर पंच पसिद्ध विलद्धवरं रअणं

पभणंति मणोहर छंदवरं रअणं ।

गुरु पंच दहा लहु एरिसिअं रइअं,

भमरावलि छंद पसिद्ध किअ ठविअं ॥१५४॥

१५४ जहाँ पाँच कर (गुर्वंत सगण) प्रसिद्ध हो, तथा इस प्रकार सुंदर रचना की गई हो,—इसे मनोहर श्रेष्ठ छन्दोरत्न कहते हैं—पाँच गुरु तथा दस लघु इस प्रकार रचना की जाय, इसे (पिंगल ने) प्रसिद्ध भ्रमरावली छन्द बनाकर स्थापित किया है ।

१५३ खंजण°—C. खंजणउ° । सुसमा—A सूसमा, B. एतत्पदं न प्राप्यते । कस्स—C तुम्ह । सुकिअ—A सुकिअ । विहि—C. विहु । गढु—B. गढ K गडु ।

१५४ पसिद्ध—B सिद्ध । विलद्ध—C. तिलद्ध । रअण—C. वअण । रइअ—C. लविअ । ठविअं—N. ठइअम् ।

(भमरायली - ॥५॥५॥५॥५॥५ = १५ यण)

टिप्पणी—रक्षणं—<रक्षन्; रक्षर्ण < रत्न (स का छोप अ का आगम) ।

परिसिद्धं—<पसादरा>पआरिस—पआरिसिद्धं>परिसिद्धं ।

विश्वं—<वृत्त, ठयिर्ण <रथापिर्ण, कमवाच्य भूतकालिक कुरम्भ रूप ।

जहा,

तुम् देव दुरिचगणाहरणा चरणा

जह पावउ चंदकलामरणा सरणा ।

परिपूजउ तेजिअ सोम मणा मवणा

सुह दे मह सोकविणासमणा समणा ॥१५५॥

[भमरायली]

१५५ कदाहरण—

हे चन्द्रकला के आभूषणवाले देव, हे शिव, यदि मैं पापों के समूह का अपहरण करनेवाले तुम्हारे चरणों को शरण रूप में प्राप्त करूँ, तो छोम में मन तथा परवार छोड़कर सदा आपकी पूजा करूँ, हे दोनों के शोक का निवारण करने में मनवाले, हे शांति देनेवाले (समन), मुझे सुख दो ।

टिप्पणी—मरणा सरणा मणा मरणा समणा समणा—इन सभी में छन्दोनिर्वाहार्थ पदान्त स्वर को दीर्घ बना दिया गया है ।

पावउ—<पाप्नोमि, वर्तमानकाल उत्तम पु० ए० व० (दि० पाऊँ)

परिपूजउ—<परिपूजयामि, वर्तमान उत्तम पु० (दि० पूजँ) ।

तेजिअ—त्यक्ता, पूर्वकालिक क्रिया रूप ।

दे—<देहि, माह्ला म० पु० एक व० (√दे+०) ।

मह—<महं ।

१५५. तुम्—B तुह । परिपूजउ—B परिपूजउ, O परिपूजउ । तेजिअ—O तेजिअ । मरणा—O मरणा । सुह दे मह—A सुह दे मह, O सुह देह । सोक—O, शोक । १५५—O १५१ ।

सारंगिका छंदः—

कण्णा दिण्णा सत्ता अंते एक्का हारा माणीआ,

पण्णाराहा हारा सारंगिकका छंदा जाणीआ ।

तीसा मत्ता पाए पत्ता भोईराआ जंपंता

छंदा किज्जे किच्ची लिज्जे सूणी मत्था कंपंता ॥१५६॥

{५६. जहाँ प्रत्येक चरण में पहले सात कर्ण (गुरु द्वय) अर्थात् १४ गुरु दिये जायें तथा अन्त में एक हार (गुरु) समझो; (इस तरह) पन्द्रह गुरु (होने पर) सारंगिका छन्द जाना जाता है । भोगिराज (सर्पराज पिंगल) कहते हैं, इसमें प्रत्येक चरण में तीस मात्रा होती हैं, इस छन्द की रचना करो, कीर्ति प्राप्त करो, (इसे) सुनकर (श्रोता वा) मस्तक काँपने (झूमने) लगता है ।

(सारंगिका—SSSSSSSSSSSSSSSS=१५ चर्ण, ३० मात्रा)

दिप्पणी—माणीआ—<मत (=‘माणिअ’ का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप)।

जाणीआ—<ज्ञातः (=‘जाणिअ’ का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप)
ये दोनों कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त के रूप हैं ।

जंपंता—<जल्पन् (=जपंत का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप)
वर्तमानकालिक कृदत रूप ।

किज्जे, लिज्जे—विधि प्रकार म० पु० ए० व० ।

सूणी—< सुणिअ < श्रुत्वा, पूर्वकालिक रूप, छन्दोनिर्वाहार्थ ‘उ’ का दीर्घ रूप) ।

कंपंता—<कम्पमानं (=कंपत छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप) ।

जहा,

मत्ता जोहा वड्ढे कोहा अण्पाअण्पी गव्वीआ

रोसारत्ता सव्वा गत्ता सल्ला भल्ला उट्ठीआ ।

१५६ माणीआ—C पाईआ । पण्णाराहा—B पण्णाहीरा । सारंगिका—C सारंगिकका । पाए पत्ता—C पाएँ पाएँ । छंदा—C चो छंदा । किज्जे—C विज्जे । मत्था—K. मंथा । १५६—C १५२ ।

१५७ वड्ढे—C दिठ्ठे, K. बठ्ठे, N वट्ठे । अण्पाअण्पी—C. अण्पा-

हत्थीजूहा सज्जा हुआ पाए भूमी जंपता

लेही देही छोडो ओडो सध्या घरा जंपता ॥१५७॥

[सारंगिका]

१५७ सदाहरण—

क्रोध से बड़े हुए (अत्यधिक क्रोधवाले) मस्त योद्धा महामरिका (एक दूसरे की होड) से गर्वित होकर—रोप से मिनके सारे अंग साख हो छूटे हैं—शस्त्र तथा भाओं को छूटाये हैं। हाथियों के मुँह सन्न गये, उनके पैरों से धृष्वी काँप रही है, और सभी शूर वीर चिन्मत्ता रहे हैं—“छो, दो, छोड़ दो, ठहरो ।”

द्विपदी—उध्वीया— = गर्विभा < गर्विता कर्मवाच्य भूत० छन्दः व० व०, इ का दीर्घाकरण छन्दोनिर्वाहार्थ ।

उद्धीया— = उद्धीभा कर्मवाच्य भूत छन्दः व० व०, ‘इ’ का दीर्घाकरण छन्दोनिर्वाहार्थ ।

छेही—(= छेहि), देही (= देहि), छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घाकरण । इन दोनों पदों में दीर्घाकरण के कई स्थल हैं ।

चामर छंद—

चामरस्स बीस मत्त तीणि मत्त अगगला,

अह्र हार सत्त सार ठाह ठाह भिम्मला ।

आह अंत हार सार कामिणी मुभिज्जण,

अक्खरा दहाह पंथ पिंगले मणिज्जण ॥१५८॥

१५८ हे कामिनि चामर छंद में प्रत्येक चरण में तीन अधिक बीस मात्रा (अर्थात् २५ मात्रा होती हैं) तथा स्थान स्थान पर आठ हार (गुरु) तथा सात सार (लघु होते हैं) ;—इसमें दस और पौष (पन्त्रह) अक्षर (होते हैं), ऐसा पिंगल ने कहा है ।

अये । सज्जा— ० सज्जा । उद्धीया— ० उद्धीभा, N उध्वीया । पाए— ० पाए । छोडो— ० छोडो ।

१५८, बीस— ० बीस । तीणि— ० तीणि । अह्र— ० अह्र । ठाह ठाह— ० ठाह ठाह । मुभिज्जण— ० मुभिज्जण ।

टिप्पणी—ठाइ ठाह—< स्थाने स्थाने ।

कामिणी—= कामिणि, संवोधन ए० व० छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घाकरण ।

मुणिज्जए—< मन्यते, भणिज्जए < भण्यते ।

(छन्दोनिर्वाहार्थ पादात में गुरु के लिए आत्मनेपदी का प्रयोग ।
प्रा० पै० की भाषा में मुणिज्जइ, भणिज्जइ रूप होने चाहिए ।)
(चामर —SISISIS·SISIS=१५ वर्ण, २३ मात्रा)

जहा,

भक्ति जोह सज्ज होह गज्ज वज्ज तं खणा,

रोस रत्त सव्व गत्त हक्क दिज्ज भीसणा ।

धाइ आइ खग्ग पाइ दाणवा चलंतआ,

वीरपाअ णाअराअ कंप् भूतलंतआ ॥१५६॥

[चामर]

१५९ उदाहरण—

योधा लोग एक दम सुसज्जित हो रहे हैं, उस समय रणवाद्य गर्जन कर रहे हैं, रोष के कारण समस्त शरीर में रक्त हुए योद्धाओं के द्वारा भीषण हॉक दी जा रही है, दौड़कर, आकर, खड्ग पा कर, दैत्य चल रहे हैं, तथा वीरों के पैर के कारण पृथ्वीतल (पाताल) में शेषनाग काँप रहा है ।

टिप्पणी—गज्ज < गर्जति, वर्तमानकालिक प्र० पु० ए० व० ।

वज्ज < वाद्यानि (हि० वाजा) ।

दिज्ज < दीयते, कर्मवाच्य रूप है, अर्थ होगा 'योद्धाओं के द्वारा हॉक दी जा रही है ।' टीकाकारों ने इसे कर्तृवाच्य 'ददाति' से अनूदित किया है, जो गलत है ।

धाइ (धाविअ < धावित्वा), आइ (< आइअ), पाइ (< पाइअ < प्राप्य), पूर्वकालिक रूप ।

चलंतउ < चलन्, वर्तमानकालिक कृदंत रूप ।

१५९ गज्ज—C. णज्ज । हक्क दिज्ज भीसणा—C दीह विज्जु भीसणा ।
चलतआ—C चलन्तओ, N चलतउ । भूतलतआ—C भूतलतओ, N.
भतलतउ. K भतलतगा ।

निशिपाल छंद —

हारु धरु विणि सरु इणि परि विगणा,

पस गुरु दुण्ण लहु अत्त गुरु रगणा ।

एत्थ सहि चदमुहि योस लहु आणआ,

कव्ववर सप्प भण छद्द निशिपालआ ॥१६०॥

१६० प्रत्येक चरण में कमल एक हार (गुरु) तथा तीन सर (छपु) (देकर) इस क्रम से तीन गणों की स्थापना करो, अंत में रगण करो इस तरह पाँच गुरु तथा इसके दुगुने (पस) छपु (प्रत्येक चरण में) हों, हे चंद्रमुखि, हे सखि, यहाँ बीस मात्रा छाओ (अर्थात् यहाँ प्रत्येक चरण में ५ गुरु + १० छपु = २० मात्रा धरो); कविवर (अथवा कव्य की रचना करने में श्रेष्ठ) सर्पराज (विगल) कहते हैं कि यह निशिपाल छंद है ।

(निशिपाल — ५॥५॥५॥५॥५॥ = १५ वर्ण) ।

टिप्पणी—इणि < अनया ।

एत्थ < अत्र ।

वहा,

सुग्ग भव मूमि पल उट्ठि पुणु उगिआ,

सग्गमण सुग्ग हण ओह णहि भगिआ ।

धीर सर तिक्ख कर कण्ण गुण अपिआ,

इत्थ सह ओह दह चाठ सह कप्पिआ ॥१६१॥

[निशिपाल]

१६१ व्याहरण — मुख का वर्णन है —

मुख में पोछा धृष्टी पर गिरते हैं फिर उठ कर (मुख करने में)

१६ वच—O वर । सव—O, सर । इणि—K हिरि । कव्ववर—O कव्वमव ।

१६१ सुग्ग—O K सुग्ग । पल—K, पड । उट्ठि पुणु—O, पुणु उठि N, उट्ठि पुण, K उट्ठि पुण । अपिआ—O अतिक्रम । इत्थ—K, पस । ओह—O ओह । चाठ—O ठाँव सर अपिआ N पास सर अपिआ ।

लग गये हैं, स्वर्ग को इच्छावाले (वीर) सङ्ग से (शत्रु को) मार रहे हैं, कोई भी नहीं भगा है, वीरो ने तीक्ष्ण बाणों को धनुष की प्रत्यंचा को कान तक खींच कर अर्पित कर दिया है, इस तरह वणों को मार कर दस योद्धा पैरों साथ काट दिये हैं ।

(कुछ टीकाकारों ने 'वीर सर' के स्थान पर 'वीस सर' पाठ लिया है, तथा 'इत्थ' के स्थान पर 'पत्थ' (पार्थ.) पाठ माना है । इस तरह वे इसे अर्जुन की वीरता का वर्णन मानते हैं और अर्थ करते हैं.— 'अर्जुन ने एक साथ धनुष की प्रत्यंचा कान तक चढ़ा कर बीस बाण फेंके तथा दस योद्धाओं को मार गिराया ।')

टिप्पणी—जुज्झ < युद्धे, अधिकरण ए० व० ।

उट्टि < उट्ठिअ < उत्थाय, पूर्वकालिक क्रिया रूप ।

लग्गिआ < लग्ना, भग्गिआ (= भग्गिअ) < भग्न (छंदो-निर्वाहार्थ तुक के लिए पदांत स्वर का दीर्घाकरण), अपिआ < अर्पिताः ।

कप्पिआ < कल्पिता, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त रूप ।

मनोहस छंद —

जहि आइ हत्थ णरेंद विण्ण वि दिज्जिआ,

गुरु ऐक्क काहल वे वि अंतह किज्जिआ ।

गुरु ठाइ गंध अ हार अंतहि थप्पिआ,

मणहंस छंद पसिद्ध पिंगल जंप्पिआ ॥१६२॥

१६२ जहाँ प्रत्येक चरण के आरम्भ में हस्त (सगण), तथा दो नरेन्द्र (जगण) दिये जायँ, फिर एक गुरु स्थापित कर, अंत में फिर गंध (लघु) तथा हार (गुरु) स्थापित किये जायँ, वह पिंगल के द्वारा प्रसिद्ध मनोहस छंद है ।

(मनोहंस — ॥१६२॥ १६२ = १५ वर्ण)

१६२. जहि—C नहि, N निह । आइ—B आहि । दिज्जिआ—A. दिजिए, B. दिजए । अंतह—C. N. तक्कह । अंतहि—C अंतह । जंप्पिआ—N नप्पिआ । किज्जिआ—A B किजिए ।

मिण्णभी—अहि—< यस्मिन् । विमित्रा < वेया, क्रिमित्रा
< करणोया ।

ठाह—< स्थापयित्वा । अपिआ < स्थापिता, जपिआ (= जपिम
< जप्पितं (छन्दोनिर्वाहाय 'अ' का दीर्घाकरण) ।

जहा,

अहि फुल्ल केसु असोअ चपअ मज्जुला,
सहआरकेसरगणल्लुद्धउ मम्मरा ।

वह दन्त दक्षिण धाउ माणह मंजणा,
मज्जुमास आबिअ लोअलोअणरअणा ॥१६३॥

[मनोमंस]

१६३ उदाहरण—

हे ससि, किंशुक, असोक, चम्पक, और मज्जुल (बेतस) फूल गये हैं,
औरे आम के केसर की सुगन्ध के छोमी (हो गये हैं), (मानिनियों
के) मान का मंजन करनेवाला चतुर दक्षिण पवन वह रहा है; लोक-
लोचनों को प्रसन्न करनेवाला मज्जुमास (वसंत) आ गया है ।

हि —फुल्ल—< फुल्लानि । मम्मरा < भम्मरा कर्ता व० व० ।

माणह मंजणा—मानस्य मंजन ; 'ह' संवध कारक ए० व० का
प्रत्यय; मंजणा (= मज्जण) में पदांत 'अ' का छन्दोनिर्वाहाय
दीर्घाकरण ।

अपिअ—< आयात (= आह्वान का अ-भूतियुक्त रूप) ।

जपिआ—(= जपजपिआणरज्ज) छन्दोनिर्वाहाय पदांत 'अ' का
दीर्घाकरण) ।

मासिनी उद—

पडम रससहितं मासिणी णाम युत्त,
अमर सिअ पसिद्धं बीअ ठाणे निवद्ध ।

१६३ केसु—३ किशु । मंजणा—C मंजुला N मंजुल्य । सहआर—B.
सदकार । मासता—N मम्मत्त्व । लोचन—C. लोचन । आबिअ—B आबिआ ।

१६४ लहितं B लहितं । युत्तं—A युत्तं । अमर—A अमर, N परम ।
पसिद्धं—A B निवद्धं । बीअ ठाणे निवद्धं—A B 'पसिद्ध', O. प्रियत्तं,

सर गुरुजुअ गंधं अंत कण्णा सुबद्धं,

भणइ सरस छंद चित्त मज्झे णिहित्त ॥१६४॥

१६४. जहाँ पहले दो रस (सर्वलघु त्रिकल) हो तब दूसरे स्थान पर तीन चामर (गुरु) निबद्ध हो, अन्त में क्रमशः शर (लघु), दो गुरु, गध (लघु) तथा कर्ण (दो गुरु) हो, उसे (पिंगल) मालिनी नामक छंद कहते हैं, यह सरस छन्द (सहृदयो के) चित्त में बसा हुआ है ।

(मालिनीः—॥॥ ॥ SSSISSISS = १५ वर्ण)

टि०—सहितं—(=सहित तत्सम रूप का छंदोनिर्वाहार्थं द्वित्व) ।

णिहित्तं—(णिहितं, अर्धतत्सम रूप का छंदोनिर्वाहार्थं द्वित्व)

वृत्तं—वृत्तं ।

चित्त मज्झे—<चित्तमध्ये (=चित्ते) 'मज्झे' अधिकरण का परसर्ग ।

जहा,

वहइ मलयवाआ हंत कंपंत काआ

हणइ सवणरंधा कोइलालावंधा ।

सुणिअ दह दिहासुं भिंगभकारभारा

हणइ हणइ हंजे चंड चंडाल मारा ॥१६५॥

[मालिनी]

१६५. मलयवायु वह रहा है, हाय शरीर काँप रहा है, कोयल का आलाप कानों के रंध्र में मार रहा है, दसो दिशाओं में भौरों की गूँज सुनाई देती है, हे सखी, अत्यधिक क्रोधी, चण्डाल के समान निर्दय, कामदेव मारे डालता है, मारे डालता है ।

टिप्पणी—सुणिअ—टीकाकारों ने इसे 'श्रूयते', 'श्रूयते' से अनुदित किया है, वस्तुतः यह कर्मवाच्य भूतकालिक कृदंत रूप 'श्रुता' है ।

N. वीअ ठा मोणिबद्धम् । कण्णा सुबद्धं—A. B. °णिवद्धं, N. °णिवद्धं, C. °सुणिद्धं । छंदं—A. B. कज्जो । मज्झे—C सठे, K. मभ्जे, N. मज्जे । णिहित्तं—C णिवद्धं ।

१६५. हंत कंपंत—C. हन्त कंपन्ति । सवणरंधा—C सरसवधा । सुणिअ—A. सुणिअ । दिहासुं—C दिसाअ, N. दिसेसु । चंड—C. हंत ।

विसेसु < विसासु, 'सु' प्राकृत में अविकरण व० व० का अन्त्य है।

हंजे—सस्त्री को संशोधन करने के लिए प्रयुक्त होता है।

शरम छंद —

मणिम सुपिम गण सर लहु सहियो,

तह दिअवर जुअ करअल सहियो।

चउ चउकल गण पम पम मुणिमो,

सरह सुपिम कह फणिवह मणिमो ॥१६६॥

१६६ जहाँ प्रत्येक चरण में पहले सुपिम गण (विछात्वात्मक गण) को कह कर, सर (एक छन्द) तथा छन्द दे, तथा दो करण (चतुस्रज्वात्मक गण) छिये जायँ, इस प्रकार प्रत्येक चरण में चार चतुष्कल गण ($४ \times ४ = १६$ मात्रा) समझे जायँ,—इ प्रिय, उसे पञ्चपति के द्वारा भणित शरम छंद कहो।

(शरम — ||||| ||||| ||| S = १५ चरण)।

विषयी—सहियो ($\sqrt{\text{छह} + \text{इम}}$) (कर्मवाच्य भूतकालिक क्तव) < छव्य । सुपिमो < मतः, मणिमो < मणितः।

अथा,

सरल क्रमसदल सरिसठ गमणा,

सरअसमअससिसुसरिस बयणा।

मअगलफरिवरसअससगमणी

क्रमण सुफिअफल विदि गहु तरुणी ॥१६७॥

[शरम]

१६६ सुपिम—A सुपिम C अ पिम। लहु—B B लर। सर लहु सहियो—C पमगण सहियो। तह—N सहियो—N. तह रिहु करअल पम पम सहियो। मुणिमो—C मुणिमो। कह—O गण।

१६७ सरिसठ—O N सरिसठ। सुसरिस—A सुसरिस। मअमअ—O. मअमअ। विदि—O विदि। गहु—C गठ।

१६८ णरँद—A B. णरिंद । चक्क—N वे वि । चऊ सवीसए—
A B. चऊ सवीसए, N. चतूसवीसए । हार—N हार । बट्टए—C वट्टए,
N. वट्टए । पसिद्ध ... अट्टए—N. पसिद्ध ए णराउ जम्पु गन्धवट्टअट्टए ।
१६९ मत्त कोह—C N सत्तुखोह । रण्ण—C O. वम्म । सल्ल—

पहारवारधीर वीरवग मज्ज पडिआ

पअट्ठ ओठ पंत दत्त सेण सेण मंडिआ ॥१६६॥

[मारण]

१६९. उदाहरण —

सेनाप्रयाण का वर्णन है —

कृपाण धाण, धारुण, माळे, चाप, चक्र और मुद्गर के साथ शस्त्र से
मत्त रणकर्म में वृद्ध, पोछा खल रहे हैं, (ये वीर) शत्रु के प्रहार को
रोकने में वीर तथा वीरों के बग में पंडित हैं । (इन्होंने) अपने ओठ दाँवों
से काट रखे हैं, — ऐसे योद्धाओं के चलने से सेना सुशोभित हुई है ।

विग्रही—चलंत < चलन्त, वर्तमान कालिक कृपंत कर्ता ४० व० ।

मत्त कोह—टीकाकारों ने इसे 'क्रोधमत्ता' समस्त पद माना है;
समवत' यह 'समासे पूर्वनिपातानियमात्' का प्रभाव है । मेरी समझ
में मत्त तथा कोह अलग अलग शब्द हैं, मैं इनका संस्कृत अनुवाद
'मत्ता क्रोधेन' करना ठीक समझता हूँ । एक में कर्ता ४० व० में
प्रातिपदिक का प्रयोग है, अथवा करण ५० व० में ।

पअट्ठ < प्रहृष्ट, कर्मवाच्य भूतकालिक कृपंत रूप ।

सेण < सेना, (स्त्रीलिङ्ग अकारंत शब्द) ।

मंडिआ < मंडिता; कर्मवाच्य भूतकालिक कृपंत स्त्रीलिङ्ग ।

[नीछ]

धीलसकम्प विज्जानहु मचह बाहसही,

पंचठ मग्गय पाय पभासिम एरिसही ।

अंत ठिआ बहि हार सुप्पिन्त्रह हे रमणी,

बापण अग्गसत्तिण सज्जा पुज्ज मत्त सुवी ॥१७०॥

० सेल्ल । पाय—० चाप । पहार—N. पहारपोरमावधारमावणा-
पडिआ । पंत दत्त—N. दत्त दत्त ० दत्त दत्त ।

१७ धीलसकम्प—A B N धीलसकम्प, O. K धील सिसेत्त ।
बाहसही—० वे निच्छी । पंचठ—N. पञ्च । बापण—O. बामण । पुज्ज—
A B पुज ।

१७० हे सुन्दरि, नील छंद के स्वरूप को जानो, (यहाँ) वाईस मात्रा होती हैं, तथा इस प्रकार (प्रत्येक) चरण में पाँच भगण प्रकाशित हो, पदांत में द्वार (गुरु) समझा जाय, तथा (चार छंद या सोलह चरणों में) वाचन अधिक तीन सौ मात्रा समझी जायँ ।

(नील .— $||S||S||S||S||S||S=16$ अक्षर, २२ मात्रा) (सम्पूर्ण छंद की मात्रा $३५२ \div ४ = ८८$ मात्रा (२२×४)) ।

टिप्पणी—विग्राणहु = वि + √आण (= √जाण) + हु आद्या ।
म० पु० व० व० ।

मत्तह < मात्रा, 'ह' मूलतः संबंध ए० व० का प्रत्यय है, जो कर्ता व० व० में भी प्रयुक्त होने लगा है, दे० भूमिका ।

पश्चासिअ < प्रकाशिता, ठिआ (= ठिअ) < स्थित. (छंदो निर्वाहार्थ पदांत 'अ' का दीर्घाकरण) ।

मुणिज्जइ < मन्यते, कर्मवाच्य रूप ।

वाचण < द्वापञ्चागत > वाचणं > वाचण (हि० रा० वाचन) ।
(पञ्चागत के म० भा० आ० में 'पण्ण' 'वण्ण' दो रूप मिलते हैं, दे० पिञ्जेल § २७३, § ४४५) ।

जहा,

सज्जिअ जोह विवड्ढिअ कोह चलाउ धरू,

पक्खर वाह चलू रणणाह फुरंत तणू ।

पत्ति चलंत करे धरि कुंत सुखगकरा

कण्ण णरेंद सुसज्जिअ विंद चलंति धरा ॥१७१॥

(नील)

१७१ उदाहरण —

अत्यधिक प्रवृद्ध क्रोध वाले योद्धा सज गये हैं, वे (क्रोध से) धनुष चला रहे हैं, फुरकते शरीर वाला सेनापति (रणनाथ) सजे हुए

१७१ विवड्ढिअ—C विवड्ढिअ, K. विवड्ढिअ । चलाउ—B चलाइ ।

पक्खर—C. N. पक्खर । वाह चलू—A. वाह चल, C धार धलू, N वाह

चमू° । रणणाह—C N णरणाह । फुरंत—N फुलन्त । चलत—C पलत ।

कण्ण—N पुण्ण ।

(पालर वाले) थोड़े से जा रहा है । पदाति (पैदल सिपाही) हाथ में माले लेकर तथा सुंदर सस्रंगों से युक्त होकर चले जा रहे हैं । राजा कर्म के सुसम्पन्न होकर चलने पर पृथ्वी चलने (उगमगाने) लगती है (भयवा पर्वत उगमगाने लगते हैं) ।

दि०—सम्पन्न—<सम्पन्ना, कर्मधाच्य भूतकाळिक कृतवका प्रयोग ।

विषद्विचक्रोद—<विचर्दितक्रोधा, कर्ता व० ध० ।

चलाइ—✓ 'चल' का पित्तव रूप ✓ 'चला' होगा, उसी में 'च' जोड़ दिया गया है किया पद 'चलाइ' होना चाहिए, जो केवल एक हस्तलेख (B) में पाया जाता है ।

चलु (= चलु)—<चलित (छन्दोनिर्वाहाय पदांत 'च' का बोध)

फुरत तप्—<फुरतन्, फुरंत, वर्तमानकाळिक कृतव ।

चलंत—<चलन्त ('पत्त्य' का विशेषण) वर्तमान काळिक कृतव ।

घरि—<घरिष<घृत्वा (* धार्य) पूर्वकाळिक क्रिया रूप ।

सुसम्पन्न—<सुसम्पन्न पूर्वकाळिक क्रियारूप ।

चलाति—<चलति, वर्तमानकाळिक कृतव का अधिकरण प० व० रूप ।

चलति—यहाँ ठीकाणों ने 'चलति' का अनुवाद '(घरा) चलति' किया है । यदि इसे समापिका (फाइनिट) क्रिया माना जाता है तो अनुस्वार को छन्दोनिर्वाहार्थ मानना होगा तथा सस्वम 'चलति' (छन्दोनिर्वाहार्थ सानुस्वाररूप 'चलति') प्रा. पै० की भाषा में अपभ्रंश स्वरूप होगा भयवा इसे असमापिका क्रिया का वर्तमानकाळिक कृतव रूप मान कर लीङ्ग रूप (चलंत+इ, (लीङ्ग प्रत्यय) मानना होगा जो घरा का विशेषण है । एक चीसरा मत यह भी हो सकता है कि इसको समापिका क्रिया के वर्तमान व० व० का रूप माना जाय, तथा इस तरह संस्कृत अनुवाद किया जा सकता है—'घरा' पबता चलति बोधायते इत्यर्थः । मेरी समझ में पिछली दो व्युत्पत्तिवाँ ठीक होंगी ।

चञ्चला छन्द—

दिजिए सुपण आइ ऐकक तो पओहराइ,

हिण्णि रुअ पंच चक्क सव्वलो मणोहराइ ।

अंत दिज्ज गंध वंधु अक्खराइ सोलहाइ,

चंचला विणिम्मिआ फणिंद एउ वल्लहाइ ॥१७२॥

१७२. जहाँ प्रत्येक चरण के आठि में रगण दिया जाता है, तब एक जगण ह', इस क्रम से पाँच मनोहर सव्वल चक्र (गण) दिये जायँ, अन मे गंध वर्ण (लघु अक्षर) दिया जाय तथा सोलह अक्षर हों,—
इमे फणीन्द्र ने वल्लभा (प्रिय) चंचला छन्द बताया है ।

(चचला —SISISISISISISI = १६ वर्ण)

टि०—दिजिए—विधि रूप (हि० दीजिये) ।

हिण्णि—<अनया, पदादि मे 'प्राणता', हिण्णि = ह इण्णि
(= इण्णि) ।

जहा,

कण्ण पत्थ दुक्कु लुक्कु सूर वाण संहएण,

वाव जासु तासु लग्गु अन्धकार संहएण ।

एत्थ पत्थ सट्ठि वाण कण्णपूरि छट्ठएण,

पेक्खि कण्ण किञ्चि धण्ण वाण सव्व कट्ठिएण ॥१७३॥

[चचला]

१७२ दिजिए—C. N दिजिआ । पओहराइ—A पओहराइ, C. N. पओहराइ । हिण्ण—C. कण्ण । चक्क—N वक्क । मणोहराइ—C. N. मणोहराइ । दिज्ज—C किज्ज । वंधु—C वध, N वण्ण । अक्खराइ सोलहाइ—C अक्खराइ सोहराइ, N अक्खराइ सोलहाइ । विणिम्मिआ—K. विणिम्मिआ फणिंद—N. फणिंदु । एउ—C N एहु । वल्लहाइ—C N. वल्लहाइ ।
१७२—C. १८६, N. २०६ ।

१७३. पत्थ—C पथ्य । दुक्कु—C दुक्क । संहएण—C सघएण ।
जासु तासु—C N जाहु ताहु । लग्गु—B. C. लग्ग, N लग्गु । संहएण—C ससएण । सट्ठि—साठि । छट्ठएण—N छट्ठएण । पेक्खि—C. पेक्ख ।

१७३ उदाहरण—

कोई कवि कर्ण तथा अर्जुन के युद्ध का वर्णन कर रहा है—

कर्ण तथा अर्जुन (पार्थ) युद्ध के छिप एक दूसरे से भिड़ गये, पाणों के समूह के द्वारा सूय छिपा लिया गया, अम्बकार के समूह ने जिस किसी के पाव छगा दिया (अथवा अम्बकार समूह में भी शत्रु भेधी होने के कारण उन्होंने एक दूसरे को पाव छगा ही दिया), इसी अवसर में अर्जुन ने साठ बाणों को (यन्त्र में चढ़ाकर) कान तक खींचकर छोड़ दिया, उन्हें देखकर यक्षस्वी कर्ण ने सभी बाणों को काट दिया ।

टि — दुपकु — < ङीकिसा, छुपकु < निछोन ।

छडपण, कडपण—इन दोनों के 'मुछा' 'कर्सिता' अनुवाद् किये गये हैं । पर यह 'ण' समस्या बन गया है । 'छडप' 'कडप' को तो 'य' बाढे कर्ता व० व० रूप मान सकते हैं जो प्रा० पै० की मापा में अपवाद रूप में कुछ मिल जाते हैं, पर 'ण' के साथ ये रूप किस प्रकार के होंगे ? इन्हें करण प० व० के रूप तो माना नहीं जा सकता है । सम्भवतः 'संहपण' 'संहपण' की तुल्य मिळाने के लिए यह 'य' प्रयुक्त हुआ है । यदि इन्हें 'कडप ण', 'छडप ण' रूप माना जाय तो कुछ समस्या सुलझ सकती है तथा इन्हें 'मुछा' न्तु 'कर्सिता' न्तु से अनूदित किया जा सकता है । इसका संकेत कोई संस्कृत टीकाकार नहीं देता ।

ब्रह्मरूपक छंद —

सो सोम्राण वडे विजुडे विजुडे यासट्ठाणो,
सुज्जाणो णाओ कडुडावे कण्ठट्ठे ईसट्ठामो ।
छंदु गार्मतो पुत्तो पंतो सव्वे सो सम्माणोओ,
बम्हाण रुअं अओ एसो सोम्राणं वक्खाणीओ ॥१७४॥

कडपण—B. कडपण O कडपण K. कडिटपण । १७४—C १९९
N २७ ।

१७४ वडे—N कव्वे । विजुडे—O विजुडे N विमोडे । विठुडे—
C. विजुडा, K. विजुडे । यासट्ठामो—O इसट्ठामो K. यासट्ठामो
N इसट्ठामो । सुज्जाणो—N सुज्जाण । णाओ—O णाओ N णाओ ।
कडुडामो—O कडुडामो A B K. कडुडामो, N. कडुडामो । इसट्ठामो—

१७४. जो (ब्रह्म) लोगों के विविध में, विद्युत्स्थान (दौंता) में तथा नामिका स्थान में रहता है, जो छद्म का गान करनेवाले सभी लोगों के द्वारा सम्मानित है, यह सुन्दर हम के समान गति वाला, ब्रह्मरूपक छद्म आठ कर्ण (आठ गुरुद्वय अर्थात् सोलह गुरु) के द्वारा जानी पिंगल (नाग) ने बताया है, इस छद्म का मैंने लोगों के लिए वर्णन किया है ।

ब्रह्मरूपक — SSSSSSSSSSSSSSSSS = १६ वर्ण ।

टिप्पणी—चट्ट < वट्ट < वर्त्तते ।

छन्दुट्टावे = छन्द + उट्टावे ।

जहा,

उम्भत्ता जोहा उट्टे कोहा आत्था ओत्थी जुम्भन्ता,
मेणक्का रंभा णाहं दंभा अप्पाअप्पी जुम्भन्ता ।
धावता सल्ला छिण्णो कंठा मत्था पिट्ठी पेरन्ता,
णं सग्गा मग्गा जाए अग्गा लुद्धा उद्धा हेरन्ता ॥१७५॥

[ब्रह्मरूपक]

१७५ उदाहरण —

ऋद्ध उम्भत्त योद्धा उठ उठ कर एक दूसरे से लड़ते तथा अपने आपकी दम्भ से मेनका तथा रंभा का पति समझते हुए, भाले से कटे

C. सारत्ताणो, N सारट्टाणे । वुत्तो कंतो—N कण्णा वुत्तो । कतो . .
सग्माणोओ—C सत्त्व सेसो णाम भणीओ । वग्हाण—B वग्माण, C.
वभाणो, N वहाणो, K वहाण । रुथ—B रूप, C. N रुओ । लोभाण—
B लोअण, N लोकाण । यक्खाणीओ—A वक्खाणिओ । १७४—C १७०,
N २०८ ।

१७५ उट्टे—A उठे, C उट्टे । आत्था ओत्थी—B. ओत्था ओच्छी,
C ओत्था ओत्थी, N. उप्पाउप्पी । जुम्भन्ता—A. C जुम्भन्ता । णाहं—C.
साहे, N णाहे । वुम्भन्ता—A. C वुम्भन्ता । सल्ला—C. सटा । छिण्णो—
C छिण्णे, N छिण्णा । पिट्ठी—C पिट्ठी । पेरन्ता—C णच्चन्ता, N.
सेक्खन्ता । ण सग्गा—N संमग्गा । मग्गा—N भग्गा । १७५—C. १७१,
N २०६ ।

सिरवाले योद्धा मस्तक को पीछे गिरा कर लीकते हुए स्वर्ग की इच्छा से ऊपर जाते हुए ऊपर (मेनकाविको) बैठ रहे हैं।

टिप्पणी—भोल्या भ्रातृ < अथाय अथाय।

वमा < वमात् = वम, अपादान में प्रातिपदिक का प्रयोग। पश्चात् 'अ' का उद्योनिर्वाहार्थ दीर्घाकरण। अथवा इसे प्रा० का 'मा' सुप् प्रत्यय वाळा अपादान रूप भी माना जा सकता है।

अप्या अप्यी < आत्मानं आत्मान।

शुष्मता (*युष्यन्त = युष्यमानाः), शुष्मता (*युष्यन्त = युष्यमानाः)।

पेरता < पासयंतः। हेरता ✓ हेर (देखी धातु) + अत व० व० रूप।

सप्तवक्त्राक्षर प्रस्तार, पृथ्वी छंद —

पञ्चोदर सह दिठभा सहअ इत्य ऐक्यो दिवा,,

पुणो वि सह सठिभा सहअ गध सज्जा किभा।

पलवि वलभा जुभा विमल सह हारा ठणो

षठक्कल्लभ बीसभा पुहविषाम अदो मुणो ॥१७६॥

१७६ जहाँ प्रत्येक चरण में आरम्भ में पञ्चोदर (जगण) हो, तब एक हस्त (सगण) दिवा जाय फिर इसी तरह जगण-सगण रख जाय, तब एक गध (छपु) सजाया जाय फिर दो वल्लभ (दो गुद), विमल सध (एक छपु) तथा हारा (एक गुद) पक्के; इस प्रकार प्रत्येक चरण में चार अधिक बीस मात्रा (२४ मात्रा) हों इसे पृथ्वीनामक छंद समझो।

पृथ्वी — ISI, IIS, ISI IIS, ISS IS = १७ वर्ण।

दि — दिभा — < दत्त।

सज्जा किभा — < सज्जीकृत।

१७६ दिठभा—C K दिठभा। ऐक्यो—A B ऐक्य। पुणोवि—

B पुणोपि। सज्जा—C ऐक्यो N सज्जो। पलवि—C पलव।

बीसभा—N बीसभा। मुणो—O मणो। १७६—C १७९ N २१७।

जहा,

झणज्झणिअणेउरं रणरणंतकंचीगुणं,
 सहासमुहपंकअं अगुरुधूमधूपुज्जलं ।
 जलंतमणिदीविअ मअणकेलिलीलासरं,
 णिसामुहमणोहरं जुअइमंदिरं रेहइ ॥१७७॥
 [पृथ्वी]

१७७ उदाहरण —

झणझण शब्द करते भूपणो वाला, हास्ययुक्त मुखकमल वाला, अगुरु की धूप से सुगन्धित, मणि दीपकों से जाज्वल्यमान, मदनकेलि का लीला सरोवर, रात्रि के आरम्भ के समय मनोहर युवतिमंदिर (युवतियों का महल) सुशोभित हो रहा है ।

टि०—इस पद्य की भाषा प्राकृत है । इस पद्य में नपुसक कर्ता ए० व० के अ वाले रूप मिलते, जो प्रा० पै० की भाषा में अपवाद रूप हैं ।

मालाधर छंद —

पढम दिअ विप्पआ तहअ भूवई थप्पिआ,
 चरण गण तीअओ तहवि भूवई दीअओ ।
 चमर जुअ अगला विमल गंध हारुज्जला

भणइ फणिसेहरा गुणहु छंद मालाहरा ॥१७८॥

१७८. जहाँ प्रत्येक चरण में पहले विप्र (सर्वलघु चतुष्कल), तब भूपति (जगण) स्थापित किया जाय तीसरे स्थान पर चरण गण (भगण) तथा फिर भूपति (जगण) दिया जाय, फिर दो चामर (गुरु), एक विमल गंध (लघु) तथा एक उज्ज्वल हार (गुरु) हो—सर्पों के जेखर (सर्पश्रेष्ठ) पिंगल कहते हैं, इसे मालाधर छंद समझो हैं ।

१७७ झणज्झणिअ—B झणझणिअ, K झणझणिअ । जेउर—C N भूषण । कचीगुणं—K काचीगुण । धूपुज्जलं—C धूमुज्जल । °दीविअ—C. दीपअं । लीलासरं—C °कीलासर । णिसामुह°—C णिसामुह° । जुअइ—B N जुवइ । रेहइ—K राजते । १७७—C १७३, N २१८ ।

१७८ एतत्पद्य—A. प्रतौ न प्राप्यते । तह अ—N तहवि । भूवई—N. भूवइ । तहवि—B N तहअ । फणिसेहरा—B फणिसारआ, N फणिणहरा ।

(माळाधरा—IIIIISISIIISISIS = १७ वण)

टि —विप्यभा—(=विप्यभ) < विप्रक (पदांत अ का छन्दो-
निर्वाहार्थ दीप) ।

फणिसेहरा— = फणिसेहरा ।

अथा,

वइइ मलआणिला विरदिचेउसतावणा,

रअइ पिक पंचमा विअसु केसु फुस्ला वणा ।

तरुण तरु पेस्तिआ मठसु माहवीवस्तिआ

वितर सहि णेतआ समअ माहवा पचआ ॥१७८॥

[माळाधरा]

१७९. उदाहरण—

मळयानिछ वह रहा है, बिरदियों के चित्त को संतारित करने
वाला कोकिल पंचम स्वर में बोल रहा है, किन्तु क बिकसित हो गए हैं
वन फूट गया है, वृक्षों में नये पक्षी आ गए । माघवी छटा मुकुटित
हो गई है, हे सखि, नेत्रों को विस्तारित करो, देखो, वसन्त का समय
आ गया है ।

टिप्पणी—माहवा—<माघवा (पदांत अ का छन्दोनिर्वाहार्थ
दीर्घीकरण)

पचअ—<प्राप्त-क (स्वार्थे क) (=पचअ पदांत अ का छन्दो-
निर्वाहार्थ दीर्घीकरण) ।

अष्टादशाक्षर प्रस्तार मजीरा छंद—

कुसीपुत्ता तिण्णा दिण्णउ मंथा संठवि ऐक्का पाण,

ऐक्का हारा दुज्जे ककणु गधा सठवि जुग्गा लाए ।

चारी हारा भग्गाकारउ पाप्पा अतदि सज्जीमाए,

सप्पाराभा सुद्धावामउ जपं विंगल मंजीरा ए ॥१८०॥

१७९. लतावना—B लतावना । रअइ—B रअइ, N वुअइ । तरुण—
B तरुण । पेस्तिआ—C N पक्षिआ । मठसु—B मठसु, N मअसु N
मठुर । वितर B विपय । माहवा—B माघवा । १८—C १७९ N १९ ।

१८—पक्षी हारा जुग्गे—C हारा हण दिग्गे, N हारा हण जुग्गा ।

१८० जहाँ प्रत्येक चरण में मस्तक पर (आरंभ में) तीन कुन्तीपुत्र (कर्ण, गुरुद्वय) दिये जायँ, फिर क्रमशः एक पाद (भगण), एक हार (गुरु), दो ककण (गुरु), तथा गघ (लघु) का युगल (अर्थात् दो लघु) स्थापित कर, सुदर (भव्याकार) चार हार (गुरु) चरण के अत मे सजाये जायँ,—शुद्धकाय सर्पराज पिंगल ने इसे मंजीरा छंद कहा है ।

(मंजीरा .—SSSSSSS||SSS||SSSS = १८ वर्ण)

टि०—मंथा—< मस्तके, मस्तक ७ मत्थअं ७ मत्थउ ७ मंथा, अनुस्वार अनुनासिक ध्वनि म के कारण है, यह पराश्रय अनुनासिकीकरण (डिपेंडेंट नेजेलाइजेशन) का उदाहरण है ।

जुगालाए—< युगल के अर्धतत्सम 'जुगल' का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप ।

सज्जीआए—< सज्जिता, सज्जिआ का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप । 'ए' वाला अंश तुक के लिए पाया जाता है ।

सुद्धाकाअउ—< शुद्धकायक, सुद्ध के अन्तिम अक्षर की स्वर ध्वनि का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घीकरण ।

जहा,

गज्जे मेहा णीलाकारउ सद्दे मोरउ उच्चा रावा,

ठामा ठामा विज्जू रेहउ पिंगा देहउ किज्जे हारा ।

फुल्ला णीवा पीवे भम्मरु दक्खा मारुअ वीअंताए,

हंहो हंजे काहा किज्जउ आओ पाउस कीलंताए ॥१८१॥

[मंजीरा]

ककणु—C कणा । लाए—C पाए, N बाए । हारा—C हारउ । सज्जीआए—C सठीआए । सुद्धा—C. मुद्धा । १८०—C. १७६, N २२७.

१८१ णीलाकरउ—C णीलाकाअउ (= नीलकाया) । मोरउ—A. B C. मोरा । उच्चा—A उचा । रेहउ—A B. रेहह । किज्जे—A कीज्जे, C किज्जउ । पीवे—C. भम्मे, N वोल्ले । भम्मरु—C भमरा । हंहो हंजे—K हजे हजे । काहा—C. काहे । °कीलतार—C. °की अता ए (= प्रावृट् आगता किं (वा) अन्तोऽयं), N आरु पाउस कील ताए (= आगता प्रावृट् तावत्) । १८१—C. १७७, N. २२८ ।

१८१ सदाहरण—

भीछे मेघ गरज रहे हैं, मोर ऊँचे स्वर में झग्न कर रहे हैं, स्थान स्थान पर पीछे देह वाली बिजली सुशोभित हो रही है (मर्षों के द्वारा बिजली का) हार (धारण) किया जा रहा है कर्षण फूट गये हैं, मौँरे बोल रहे हैं, यह चतुर वायु बल रहा है हे सखी, बता क्या करें, वर्षाशतु क्रीडा करती आ गई है ।

दि —गज्जे— \angle गज्जति । टीकाकारों ने इसे व० व० माना है 'मेघा' गजन्ति' । या तो यहाँ 'जाती एकवचन' माना जा सकता है, अथवा 'मेघा' को व० व० रूप मानने पर उसके साथ 'गज्जे' ए० व० क्रिया का प्रयोग वाक्यरचनारूपक विशेषता को शोधित करता है । ध्यान देने की बात तो यह है कि इसका विलेपण 'जीलाकारत्' भी ए० व० में ही है ।

काहा— \angle किं,

किज्जे— $<$ क्रियते (= किज्जइ γ किज्जे) कर्मवाच्य रूप,
किज्जत् $<$ क्रियताम् (अथवा विधि का रूप) ।

कीलताए— $<$ कीलन् = कीलन् का छन्दोनिवाहान विकृत रूप ।

कीलाचक्क (कीलाचक) छन्द —

अ इदासणा ऐकक गुण्णा मुहावेहि पाएहि पाए

अ वण्णा दहा अट्ट सोहे सुदंढा मुठाए मुठाए ।

दहा तिप्पि गुण्णा अहा सम्बला होइ मत्ता मुपाए,

फण्णिदा मणंता किलाचक्क अदो णिवद्धाह जाए ॥१८२॥

१८२, यहाँ प्रत्येक चरण में एक इन्द्रासन (यगण) ही सुशोभित हो तथा यहाँ सुंदर छप्पु अक्षर बाढे (यगण में आचक्षर सदा छप्पु हावत है) अठारह अक्षर स्थान स्थान पर (प्रत्येक चरण में) सुशोभित हों

१८२ मुहावेहि—C मुहावेहि N मुहावेहि । अ वण्णा दहा अट्ट सोहे सुदंढा—C वण्णा " सोहे दंढा मुठाए N दहा अट्ट वण्ण मुहावेहि दंढा । सुदंढा—A सुदंढा । सम्बला—A B तंढा । होइ—A होति B होति । मुपाए—B मुठाए । किलाचक्क—B किलाचक्क, N किला चन्द । मणंता—A मणंता B मत्ता । १८२—C १७८ N १२६ ।

जहाँ सुंदर चरण में दस की तिगुनी (तीस) सबल मात्रा हों—फणीन्द्र कहते हैं, वह क्रीडाचन्द्र (क्रीडाचक्र) छंद निबद्ध होता है ।

(क्रीडाचन्द्र .—(छ यगण) ISS ISS ISS ISS ISS ISS = १८ वर्ण) ।

टिप्पणी—सुहावेहि \angle गोभायते (सुहावेइ के अंतिम स्वर की सप्राणता (एस्पिरेशन) । 'सुहावेइ' वस्तुतः णिजत का रूप होगा । प्रा० पै० की भाषा का वास्तविक रूप 'सुहावइ' होना चाहिए ।

जहा < यत्र ।

जहा ।

जहा भूत वेताल णच्चत गावंत खाए कवंधा,
सिआ फारफेक्कारहक्का रवंता फुले कण्णरंधा ।
कआ दुइ फुट्टेइ मंधा कवंधा णचंता हसंता,
तहा वीर हम्मीर संगाम मज्जे तुलंता जुमंता ॥१८३॥

१८३. उदाहरण —

जहाँ भूतवेताल नाचते हैं, गाते हैं, कवंधों को खाते हैं, शृगालियों अत्यधिक शब्द करती चिल्लाती हैं, तथा उनके चिल्लाने से कानों के छिद्र फूटने लगते हैं, काया टूटती है, मस्तक फूटते हैं, कवंध नाचते हैं और हँसते हैं—वहाँ वीर हमीर संग्राम में तेजी से युद्ध करते हैं ।

टिप्पणी—णच्चत, गावत (नृत्यन्, गायन्), वर्तमानकालिक कृदंत रूप ।

खाए < खाअइ < खादयति ।

दुइ < दुटति, फुट्टेइ < स्फुटति ।

तुलंता < त्वरयन् ।

जुमंता < युद्ध्यमान (* युद्ध्यन्) वर्तमानकालिक कृदंत ।

१८३ जहा—C जहाँ, N जहाँ । भूत—C. भूत । कवंधा—N. कक्कन्वा । रवंता—N चलन्ती । दुइ—N दुइ । तहा—C. N. तहाँ । मज्जे—A. B C. मज्जे, N मज्ज । जुमंता—A जुमंता, B जुमंता, C. जुलंता, N जुलन्ता, K जुमता । १८३—C १७६, N २३० ।

चर्चरी छव—

आइ रगण हस्य काइल साल दिज्जहु मज्जभा,
सह हार पल्ल विण्ण वि सम्बलोअहि पुज्जिभा ।
चे वि काइल हार पूरहु सख ककण सोइभा,
पाअराअ मणत सुंदरि चचरी मणमोइभा ॥१८४॥

१८४ अहाँ प्रत्येक चरण में आरंभ कमल रगण, हस्त (रगण), काइल (छव), साल (गुरु छव रूप त्रिकल डा) देना चाहिये, मध्य में सख (छव), हार (गुरु) दो बार पढ़ें, अंत में दो काइल (छव) एक हार (गुरु), तथा फिर सुंदर राख (छव) तथा ककण (गुरु) हों,—नागराज कहते हैं, हे सुंदरि, यह मन को मोहित करने वाला चचरी छंद है ।

(चचरी —डाडा।डा।डा।डा।डा।डा।डा = १८ वर्ण) ।

वि —दिज्जहु—विधि प्रकार (आप्तेटिव) का म० पु० व० व० ।

पल्ल—< पल्ल (जयवा पल्लव) वतमानकालिक कर्तव्य ।

सम्बलोअहि—< सर्वलोकैः, 'हि' करण व० व० ।

पुज्जिभा—< पुज्ज (कुछ टीकाकारों ने इसे 'चर्चरी' का विशेषण माना है —'पुजा' (बीछिग), अन्य ने इसे विण्ण वि' का विशेषण माना है—पुज्ज' (पु० नपुं रूप) ।

पूरहु—< पूरयत, आज्ञा म० पु० व० व० ।

अहा,

पाअ येउर मज्जमक्कइ हससइसुसोइभा,
धूरधोर यणग णअइ मोत्तिदाम मणोइरा ।
वामदाहिण धारि भाअइ तिमसवप्पसुकडवसुभा,
काहु पाअर गेहमडणि एहु सुंदरि पेस्सिभा ॥१८५॥
[चचरी]

१८५ हस—C मत्त । मज्जभा—A मज्जभा B मज्जभा N मज्जभा । पुज्जिभा—A पुज्जिभा B पुज्जिभा C पुज्जिभा । चे वि—A देवि । मण—A, B मण । १८५—C १८ N २३१ ।

१८५. चर्चरी—B चर्चरी । सुंदरि—A सुंदरि । पूर—

१८५. उदाहरण.—

(इसके) पैरों में नूपुर, हंस के शब्द के समान सुन्दर शब्द कर रहे हैं, मनोहर मुक्ताहार स्थूल स्तनाग्र पर नाच रहा है (अथवा मुक्ताहार स्तनाग्र पर थोड़ा थोड़ा नाच रहा है), इसके तीखे चक्षुःकटाक्ष वायें और दाहिने बाण की तरह टौंड रहे हैं, किस सौभाग्यशाली पुरुष के घर को सुशोभित करने वाली यह सुदरी दिखाई दे रही हैं ?

टि०—भंभृणक्कइ—< झणझणायते, ध्वन्यानुकृति (ओनोमेटोपो-इक) क्रिया, वर्तमान प्र० पु० ए० व० ।

थूरथोर—(१) स्थूलेस्थूले, (२) स्तोकं स्तोकं ।

काहु—< कस्य ।

पूरिस—< पुरुष, असावर्ण्य का उदाहरण, जहाँ परवर्ती 'उ' को 'इ' बना दिया गया है ।

पेक्खिआ—< प्रेक्षिता (=प्रेक्षितिका), कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त स्त्रीलिंग रूप, वस्तुतः 'प्रेक्षिता' से प्रेक्षिता > पेक्खिआ > पेक्खिअ अप० में होगा, इसका आ वाला रूप स्वार्थे क वाले रूप से विकसित हो सकता है, अतः हमने इसकी व्युत्पत्ति कोष्ठक में 'प्रेक्षितिका' से सकेतित की है) ।

एकोनविंशत्यक्षर प्रस्तार, शार्दूलसट्टक छंद —

मो सो जो सत तो समंत गुरवो एऊणविंसा वणो,

पिंडोअ सउ वीस मत्त भणिअं अट्ठासी जोणी उणो ।

जं छेहत्तरि वण्णओ चउ पओ वत्तीस रेहं उणो

चोआलीसह हार पिंगल भणे सट्ठल सट्ठा मुणो ॥१८६॥

A.B. यूल, C थोर थोर, N. थोल थोल । धारे—K बाण, A.B. वालि कडक्खिआ—K. वटक्खिआ । काहु—N. वाहि । णाअर—C पुरस, N. पूरिस । एहु—N एह । पेक्खिआ—C देक्खिआ, N पेक्खिआ । १८४—C. १८१, N २३२ ।

१८६. सततो समंत—C सततीस मत्त । एऊणविंसा वणो—A. B एऊणविंसावणो, C एटणविंसाउणो, K एऊणविंसाउणो, N एगूणविंसा वणा । बीस—B विस, N बीस । अट्ठासि जोणी ऊणो—C अट्ठासि जोणिणुणो,

फैले हुए फगो से सॉस लेने के कारण क्षीण हो गए थे, अब शीघ्र ही विरहिणियों के निःश्वास का सम्पर्क पाकर शैशव काल में ही मानो तारुण्यपूर्ण हो गए हैं ।

यह कर्पूरमंजरीसदृक के प्रथम जवन्तिकातर का २० वाँ पद्य है । भाषा प्राकृत है ।

टि०—दरिद्रत्तणं—<दरिद्रत्वं, सिसुत्तणे < शिशुत्वे (दे० पिशेल § ५६७) । 'त्तण' की उत्पत्ति पिशेल ने बौद्धक प्रत्यय 'त्वन' से मानी है ।

शार्दूलविक्रीडित का द्वितीय लक्षण —

पत्थारे जह तिण्णि चामरवरं दीसंति वणुज्जलं,
उक्किट्ठं लहु विण्णि चामर तहा उट्ठीअ गंधुगुरो ।
तिण्णो दिण्णसुगंध चामर तहा गंधा जुआचामरं
रेहतो धअपट्ट अंत कहिअं सद्दूलविक्रीडिअं ॥१८८॥

१८= जिस छन्द के प्रसार में उज्ज्वल वर्ण वाले (अथवा वर्णों के कारण उज्ज्वल) तीन चामर (गुरु) दिखाई देते हों, तथा फिर से उत्कृष्ट लघु तथा चामर (गुरु) हों, तब गंध (लघु) तथा गुरु उठे हों, तब तीन गन्ध (लघु) दिये जायें, तब तीन गुरु हों, तथा फिर एक लघु तथा दो गुरु हों, अन्त में ध्वजपट्ट (लघ्वादि त्रिकल १५) सुशोभित हों, तो उसे शार्दूलविक्रीडित कहा जाता है ।

टि०—चामरवरं, वणुज्जलं, उक्किट्ठं, चामरं, कहिअं, सद्दूलविक्रीडिअं—ये सब प्राकृत रूप हैं, जो नपुसक ए० व० में पाये जाते हैं । प्रा० पै० की भाषा में °अ वाले रूप अपवाद स्वरूप हैं ।

रेहतो—< राजन्, वर्तमानकालिक कृन्त रूप ।

१८८ जह—C तह । वणुज्जल—A वणुज्जल B वणुज्जल । उक्किट्ठ—C तथेअ, N तच्चेअ । उट्ठीअ—N उट्ठेअ । गंधुगुरो—N गधगुरे । सुगंध—A सुगंध । तिण्णो—N तिण्णे । गंधाजुआ—N गंधाअवे । रेहतो—N रेहन्ता । धअपट्ट—C धअपट्ट, N फणिवण्ण । कहिअं—N. करणे । °सद्दूलविक्रीडिअं—C अंत करणे सद्दूल सट्ठा मुणो N. °सद्दूलसट्ठा मुणे । १८८—C. १८४, N २४० ।

१८६ अहाँ प्रत्येक चरण में कमश भगण, सगण, जगण, सगण, ठगण, खगण तथा गुरु हों, (इस प्रकार) १६ वर्ण हों, तथा सम्पूर्ण छन्द में १२० मात्रा कही गई हैं, इनमें ८८ मात्रा योनि है, (अर्थात् ८८ मात्रा गुर्वक्षरों की है, भाव यह है यहाँ ४४ अक्षर गुरु होंगे—शेष छन्द), यहाँ चारों चरणों में ७६ वर्ण हों तथा (इनमें) १२ छन्द (रेखा) अक्षर हों, ४४ गुरु हों, इस पिंगल कवि ने शादूखसट्टक छंद समझा है।

दि०—एकव्ययिमा—८ एकोनविंशति, (निजयसागर प्रति में 'पगूजविंसा' पाठ है, पिसेख ने इसी पाठ का संकेत किया है—पिसेख पृ० ११३)। इसके अन्य रूप ये हैं—'एगूजवीस' (अधमागवी), अठवथीसई मऊवथीसं (अधमा०, जैनमहा०) वे० पिसेख ५ ४४४। (हि० सन्नीस, राज० जगवीस)।

छेहचरि—८ पदसप्तति, (जैनमहा० 'छावचरि' पिसेख ५ ४४६)। (शादूखसट्टक—SSS||SIS||SSS||SSIS= (६ वर्ण))

अथा,
जे लंका गिरिमेइसाहि खलिमा समोअखिम्भोरई
फारुफुरलफण्याबलीकवलये पचा दरिदचण।
ते एहि मलमाणिछा विरहिणीणोसाससंपक्किणो
जादा सति सिमुत्तणे यि बहला सारुण्यपुण्या विम ॥१८७॥
[शादूखसट्टक]

१८७ सदाहरण—

मलयपक्ष के ये पवन आ लंका के पर्वत से स्तब्धित हो गए थे और आ सम्भाग के कारण यकी हुई सर्पिनियों के अपने बड़े और

N अट्ठावि बोथी पुग। वण्णको—C वण्णयो। अड—O अउड वधी—
C पभा। चाणवीसह—C वम्भलीतह A चौआथीतह B चौआथीतह।
सादूखसट्टकमुने—C सारुण्य ये तहक, N सारुण्यतहा मुने। १८९—
(१८२ N २१८।

१८७ मेइसाहि—C मेइसागु। खलिमा—१ लयीमा। फारुफुरल—
A फारुफुर। बहि—A इहि C एहि, N इहि। सीमाव—१
नितव। १८७—C १८७ N २१६।

फैले हुए फणों से सौंस लेने के कारण क्षीण हो गए थे, अब शीघ्र ही विरहिणियों के निश्वास का सम्पर्क पाकर शैशव काल में ही मानों तारुण्यपूर्ण हो गए हैं ।

यह कर्पूरमंजरीसदृक के प्रथम जवनिर्कांतर का २० वाँ पद्य है । भाषा प्राकृत है ।

टि०—दरिद्रत्तणं—<दरिद्रत्वं, सिसुत्तणे < शिशुत्वे (दे० पिशेल § ५६७) । 'त्तण' की उत्पत्ति पिशेल ने वैदिक प्रत्यय 'त्वन' से मानी है ।

शार्दूलविक्रीडित का द्वितीय लक्षण —

पत्थारे जह तिण्णि चामरवरं दीसंति वणुज्जलं,

उक्किट्ठं लहु विण्णि चामर तहा उट्ठीअ गंधुगुरो ।

तिण्णो दिण्णसुगंध चामर तहा गंधा जुआचामरं

रेहंतो धअपट्ट अंत कहिअं सद्दूलविक्रीडिअ ॥१८८॥

१८८. जिस छन्द के प्रसार में उज्ज्वल वर्ण वाले (अथवा वर्णों के कारण उज्ज्वल) तीन चामर (गुरु) दिखाई देते हों, तथा फिर से उत्कृष्ट लघु तथा चामर (गुरु) हों, तब गंध (लघु) तथा गुरु उठे हों, तब तीन गन्ध (लघु) दिये जायें, तब तीन गुरु हों, तथा फिर एक लघु तथा दो गुरु हों, अन्त में ध्वजपट्ट (लघ्वादि त्रिकल १५) सुगोभित हो, तो उसे शार्दूलविक्रीडित कहा जाता है ।

टि०—चामरवरं, वणुज्जलं, उक्किट्ठं, चामरं, कहिअं, सद्दूल-विक्रीडिअं—ये सब प्राकृत रूप हैं, जो नपुसक ए० व० में पाये जाते हैं । प्रा० पैं० की भाषा में °अ वाले रूप अपवाद स्वरूप हैं ।

रेहंतो—<राजन्, वर्तमानकालिक कृन्दत रूप ।

१८८ जह—C तह । वणुज्जल—A. वणूज्जल B वणुज्जल । उक्किट्ठ—C तथ्थेअ, N तच्चेअ । उट्ठीअ—N उट्ठेअ । गंधुगुरो—N गधगुरो । सुगंध—A सुगंध । तिण्णो—N तिण्णे । गंधाजुआ—N गंधाअवे । रेहंतो—N रेहन्ता । धअपट्ट—C धअपट्ट, N फणिवण्ण । कहिअं—N. करणे । °सद्दूलविक्रीडिअ—C. अंत करणे सद्दूल सट्टा मुणो N °सद्दूलसट्टा मुणे । १८८—C. १८४, N २४० ।

अथा,

अ धोभ्रवणलोललोअणजुअ लवालअगग मुह,
 इत्यालविअकेसपल्लवधए धोलति ज विंदुपो ।
 ज एअक सिअअवल णिवसिदं त ण्हाणकेलिदिठ्ठा,
 आणीदा इअमन्नुदेअकअगणी ओईसरेणामुणा ॥१८६॥
 [शाबूलविकीरित]

१८६. अवाहरण —

इस सुवरी की नाँलों का अजन घुला हुआ है और इसलिये इसको नाँलें छाल हैं, मुँह पर अलकें बिलारी हुई हैं उसने हाथ से अपने नाँलों को पकड़ रक्खा है और नाँलों से पानी की बूँदें टपक रही हैं इसका शरीर केवल एक ही वस्त्र से ढँका है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भोगीश्वर (भैरवानन्द) ने स्नान करीब के बाद ही इस अपूर्व सुवरी को यहाँ उपस्थित कर दिया है ।

यह भी कर्पूरमंजरी सटुक के प्रथम अष्टावक्रांतर का २६ वाँ पद्य है । भाषा प्राकृत है ।

चन्द्रमाळा छंद —

अवि दिमवरजुमल मन्म करमल करहि
 पुण वि दिमवरजुमल सन्म जुहमवा करहि ।
 सरसगण विमल अह शिट्ठविअ विमल मह
 तुरिअ कह सरमवा चदमल कह सह ॥१८७॥

१८७— अवि — O N ओज° । पल्लव — O पल्लव । इत्याल विअ° — N इत्यालविअ° । धोलति — K धोलति । सिअअवल — C N सिअअवल । ण्हाण — C णाण° N ण्हाण° । केलिदिठ्ठा — K केलिदिठ्ठा । O N केलिदिठ्ठा । इअमन्नुदेअकअगणी — K इअमन्नुदेअकअगणी । १८८— O १८८, N २४१ ।

१८ — मन्म — A मन्म, O मन्म । करहि — N करहि । जुहमवा — N करमल । अह — N अहि । शिट्ठविअ — N मुण्णि ठवह मन गर । तुरिअ कह — N विमल मह । सह — N सोह । सरसगण सह — C सरस गण विमलमह ओह मुधि बहहि । विमलमह ठर अकह चदमल कह सह ॥ १ — C १८७ N २४१ ।

१९० हे बुधजन, आरंभ मे द्विजवर युगल (चतुर्लव्वात्मक गणद्वय, आठ लघु) स्थापित कर, मध्य में करतल (सगण) करो, फिर आठ लघु (द्विजवरयुगल) सजाओ, जहाँ निर्मल सरस गणों की स्थापना की जाय, विमलमति वाले आशुकवि (त्वरितकवि) सर्पराज (उरग-पति) पिंगल ने उसे चन्द्रमाला छंद कहा है ।

(चन्द्रमाला — |||||||||S||||||| = १९ वर्ण) ।

टिप्पणी—ठइवि < स्थापयित्वा, णिजंत का पूर्वकालिक क्रिया रूप ।

करहि < कुरु, √ कर + हि, आज्ञा म० पु० ए० व० ।

चंदमल < चन्द्रमाला, छन्दोनिर्दाहार्य 'मा' के 'आ' का ह्रस्वीकरण, वास्तविक रूप 'चन्दमाल' होना चाहिए ।

कहइ < कथयति, वर्तमान प्र० पु० ए० व० ।

जहा,

अमिअकर किरण धरु फुल्लु णव कुसुम वण,

कुविअ भइ सर ठवइ काम णिअ धणु धरइ ।

रवइ पिअ समअ णिक कंत तुअ थिर हिअलु,

गमिअ दिण पुणु ण मिलु जाहि सहि पिअ णिअलु ॥१६१॥

[चंद्रमाला]

१६१. उदाहरण :—

कोई सखी नायिका को अभिसरणार्थ प्रेरित कर रही है —

अमृतकर (चन्द्रमा) किरणों को धारण कर रहा है वन में नये फूल फूल गए हैं, क्रुद्ध होकर कामदेव वाणों को स्थापित कर रहा है, तथा अपने धनुष को धारण कर रहा है, कोयल कूक रही है, समय भी सुंदर (नौका) है, तेरा प्रिय भो स्थिरहृदय है, हे सवि, गए दिन फिर नहीं मिलते, तू प्रिय के समीप जा ।

टिप्पणी—भइ < भूत्वा ।

ठवइ < स्थापयति, धरइ < धरति ।

१६१—धरु—C. धरइ, N धर । फुल्लु णव कुसुम वण—C फुल्लु णव कमल-णु, N फुल्लवट्टुकुसुमवण । धणु धरइ—C. N धरइ धणु । समअ—C. समअ अ । कंत—N कित । हिअलु—N. हियलु । मिलु जाहि—C मिल जाहि, N मिल जाहि । सहि—C सहिअ । १६१—C. १६४, N २४३ ।

पिक—ऐसी शब्द 'णीक', राज० नोको (= मच्छा) ।

द्विजसु < *द्वय-सु ('सु' स्वार्थे) ।

गमिष्य < गतानि (= गमितानि) ।

धवलाछन्दः—

करिअ असु सु गुण सुअ विमलमइ मरिअसे,

ठइअ ठइ रमणि सरसगण पअ पअ पसे ।

दिअगण चठ चठपअहि मण फणिवइ सही

कमल गण सरसमण सुमुहि धवलअ कही ॥१६२॥

१९२ हे सरस मन वाली, हे सुमुनि, हे रमणि, जिस छंद के प्रत्येक चरण में पढ़नेवाले सरस गण वाले चार द्विजगण (चार बटुजल) स्थापित कर अन्त में कमल गण (सगण) चारों चरणों में किया वाम, उस छन्द को निमलबुद्धिवाले फणिपति ने पूष्पीतल पर धवल कहा है ।

(धवला — ||||, ||||, ||||, ||||, ||5 = १९ वर्ण)

हि—करिअ—कर्मवाच्य रूप 'क्रियते' ।

<क्रियते> करिअइ > करिअ ।

ठइअ—<स्थापयित्वा, पूर्वकालिक क्रिया रूप (✓ ठा + इअ) ।

पसे—पठितान्, 'प' कसो कर्म व० व० का विभक्ति बिह है ।

सही—(हि० राज० सही) ।

धवलअ—<धवलकं ।

बहा

तरुण तरुणि तवइ धरणि पवण वइ खरा,

लग णहि खल वइ मरुवस अणविअणहरा ।

१६१ करिअ—अर्थ—O पसइ असु सु गुण सुअ विमल मइ मरिअसे
N कइ असु सुनि सुवइ । रमणि सरसगण—O रमण गति सगण । पअहि—
O पअ N पअहि । सही—O मही । कमल गण—O कर अमल
तरुण तरुणि पवण वइ खरी ।

१९१ तवइ—तप । वइ—A पइ । दिअइ चअइ—O पसइ
कोसइ । वअइ—O कोसइ । इअ—O इमे एकवि ।

दिसइ चलइ हिअअ डुलइ हम इकलि वहू,

घर णहि पिअ सुणहि पहिअ मण इछइ कहू ॥१६३॥

[धवला]

१६३ उदाहरण —

कोई स्वयंदूती पथिक से कह रही है —

तरुण (मध्याह्न) सूर्य पृथ्वी को तपा रहा है, — तीक्ष्ण पवन चल रहा है, पास में पानी भी नहीं है, लोगों के जीवन का अपहरण करने वाला यह बहुत बड़ा मरुस्थल है, दिशायें भी जैसे घूम रही हैं, हृदय डोल रहा है, और मैं अकेली बहू हूँ, प्रिय घर पर नहीं है। हे पथिक, सुन, कहीं तेरा मन (ठहरना) चाहता है क्या ? (अथवा हे पथिक, सुन अपने मन की इच्छा को कह ।)

टि०—लग—<लग्नं (समोप में) । एक टीकाकार ने इसे मैथिली प्रयोग माना है—‘लग इ [ति] निकटवाचको मिथिलादेशीय ।
—दे० कलकत्तासंस्करण पृ० ५४३ ।

हिअअ—<हृदय ।

डुलइ—<दोलायते (मूलतः नाम धातु), √डुल+इ वर्तमान प्र० पु० ए० व०, हि० डोलना ।

इकलि—<एकला, (एकल से स्त्रीलिंग रूप) ।

सुणहि—<शृणु ।

इछइ कहू—(१) इच्छा कथय, (२) इच्छया कथय, (२) इच्छति कुत्र । एक हस्तलेख ने ‘इछल कहू’ पाठ माना है, जहाँ तीसरी व्युत्पत्ति नहीं मानी जा सकती । हमने ‘इच्छति कुत्र’ वाला अनुवाद ठीक समझा है, वैसे कोष्ठक में अन्य अर्थ का संकेत भी कर दिया गया है ।

शभु छद—

अवलोग्रा णं भणि सुच्छंदं मण मज्जे सुखं सवुत्तं,

सुपिअं अंते ठवि हत्था दिज्जसु कुंतीपुत्तं संजुत्तं ॥

गण अग्गा दिज्जसु एअं किज्जसु अते सत्ता हारा जं

इअ वत्तीसा णिअ मत्ता पाअह छंदो संभू णामा अं ॥१६४॥

१६४ भणि—N भण । सुच्छंदं—C. N. ए छद । सुपिअं—C. सुपिअ । हत्था—C N. हत्थो । दिज्जसु—C. दिज्जहु (उभयत्र) ।

१६४ यह जोमन छंद है, ऐसा कह कर, मन में सुल का अनुभव कर तुम (इसे) देना । इस छंद के आरंभ में कुन्तीपुत्र (गुरुद्वयसमक गण) से मुक्त हस्त (सगण) देकर इस तरह फिर गणों की रचना करो, फिर सुप्रिय (लघुद्वय) स्थापित करो, चरण के अंत में सात बार (गुरु) की स्थापना करो, इस प्रकार जहाँ बत्तीस मात्रा प्रत्येक चरण में हो वह शंभु नामक छंद है ।

(शंभु—सगण, दो गुरु (कर्ज), सगण, दो गुरु, दो लघु (सुप्रिय), सात गुरु = ॥ ५, ५५, ॥ ५, ५५, ॥, ५५५५५५ = ३२ मात्रा, १९ वर्ण) ।

॥ —भवलोभा अं = अवलोकाय ननु ठवि < स्थापकित्वा; पूर्वकाक्षिक क्रिया ।

द्विचतु क्रिचतु—विधि प्रकार के मध्यम पुरुष ५० व० के रूप ।

पाचह—< पावेपु, अधिकरण ५० व० का रूप ६०, मूमिका ।

जहा,

सिअबिट्ठी किज्जह जीआ लिज्जह वात्ता पुक्का कंपता,
 धह पच्छा धामह लग्गे काज्जह सग्गा दीसा रूपता ।
 जह ज्जहा रुसह बिचा हासह अमी पिक्की यप्पीआ,
 कर पाआ संमरि किज्जे मिचरि अप्पाअप्पी लुक्कीआ ॥१६५॥
 [शंभु]

१९६. उदाहरण—

ठह की पर्पा (महावट) हो रही है, जीव लिया जा रहा है बच्चे और बड़े बाड़े के मारे काँप रहे हैं पछौंह हवाएँ चल रही हैं, शरीर के छगती हैं, सब दिशाएँ (जैसे) भूम रही हैं । यदि आका रुट होता है

बलोता विन—O 'बम्, N बलीता वमम् । वाचह—O पाचहि, N. मुज्ज । 'वामार्थ—O 'वामो N लंभुवमेव ।

१९५. विरुद्धि—O रिट्ठा । किज्जह—N विरिज्ज । जीआ—C जीआ । वात्ता—A वात्ता । पच्छा—N पच्छा । लग्गे—N लग्गे । जह—C जह, N जह । ज्जहा—N जज्जह । रुसह—O N. रोसह । हासह—C होह N हो लह । पिक्की—O पक्के, B पेहे । संमरि—C सम्मरि । विरुद्धि—C विरुद्धि ।

तो हे सखि, चिन्ता होती है, आग को पीठ की ओर स्थापित किया जाता है, हाथ और पैरों को सिकोड़ कर अपने आप को किसी तरह छिपाया जाता है ।

टि०—सिअविट्टी—< शीतवृष्टिका > सीअविट्टिश्रा > सीअविट्टिअ > सीअविट्टी ।

यहाँ छन्दोनिर्वाहार्थ प्रथमाक्षर की दीर्घ ध्वनि 'ई' को ह्रस्व कर दिया गया है ।

किज्जइ, लिज्जइ—कर्मवाच्य के रूप ।

वाअह—< वाताः, कर्ता व० व० में 'ह' विभक्ति, दे० भूमिका ।

काअह—< काये (अथवा कायेपु) अधिकरण के लिए 'ह' विभक्ति, जो अधिकरण ए० व० व० व० दोनों में पाई जाती है, दे० भूमिका ।

संभारि—< संभार्य (अथवा संभाल्य) पूर्वकालिक क्रिया रूप । (हि० संभालना, राज० समाळवो (-*सम्हाळवो) < सं० सम्भालयति) ।

भित्तिरि—< अभ्यन्तरे, क्रियाविशेषण (हि० रा० भीतर) ।

विंशत्यक्षरप्रस्तार, गीता छंद —

जहि आइ हत्थ णरेंद विण्ण वि पाअ पंचम जोहलो,

जहि ठाइ छट्ठहि हत्थ दीसइ सइ अतहि णेउरो ।

सइ छंद गोअउ मुद्धि पीअउ सव्वलोअहि जाणिओ,

कइसिद्धिसिद्धउ दिट्ठ दिट्ठउ पिंगलेण बखाणिओ ॥१६६॥

१६६. हे मुग्धे, जहाँ आरम्भ में हस्त (सगण) तथा दो नरेन्द्र (जगण), तत्र पाद (भगण) (दिये जायँ) तथा पौंचवौं गण जोहल (रगण) (हो), जहाँ स्थान पर हस्त (सगण) तथा अन्त में शल्य (लघु) तथा नूपुर (गुण) दिखाई दें, वह छंद सब लोगोंने अच्छा (नोका) समझा है, कवि सृष्टि के द्वारा निर्मित, दृष्टि (कविवृष्टि अथवा छन्द-शास्त्र) के द्वारा दृष्ट, उस छंद को पिंगल ने गीता (छंद) कहा है ।

१६६ जहि—C. जइ, N जँहिँ । विण्ण वि—N वि ट्ठवि । पंचम—C. पचइ । जोहलो—C. तोमरो । छट्ठहि—C. जहिँअट्ठहि, N. जँहिँ ठाइ छट्ठहि । दीसइ—C. दिस्सइ । सइ—A B सल्ल । सइ—A B. सोइ, C.K. सुइ ।

(गीता:—115, 151 151, 151 151 151, 151 = २० वर्ष)

दिप्यही—जहि—<यस्मिन्, ठाह <स्थाने ।

झट्टहि—<पठे; 'हि' अधिकरण ए० व० की विभक्ति ।

दीसह—<दृश्यते, कर्मवाच्य क्रिया रूप ।

णीछट—हि० नीका, रा० नीको ।

सोअहि—<'सोके', करण व० व० की विभक्ति 'हि' ।

वखाणिओ—व्याख्यान ।

✓ बखान नाम घातु है, जिसका विकास सं० 'व्याख्यान' से है ।

बहा,

बह फुल्ल केअह पारु वर्षअ चूममअरि वजुला,

सव दीस दीसह बेसुकाणअ पाणभाउल मम्मरा ।

बह पोम्मगअ विषअ बधुर मद मद समीरणा,

पियकेळिकोसुकलासलंगिमसमिमा तरुणीवजा ॥१६७॥

[गीता]

१९७ व्याख्यान—

बसन्त ऋतु का वर्णन है

केतकी, सुन्दर चम्पक, आलमंजरी तथा बंसुल फूल गये हैं, सब विसाओं में किशुक का वन (पुष्पित किशुक) बिखारि दे रहे हैं; और—मौरे (मधु के) पान के कारण व्यस्त (मस्त) हो रहे हैं, पद्म-सुगन्ध युक्त (विबन्धु) तथा भागिनिवों के मानमंजन में बह (बंधुर) मंद मंद पवन बह रहा है, तरुणियों अपने पति के साथ कछिकोसुक तथा छाम्यमगिमा (छाम्य छंगिमा) में व्यस्त हो रही है ।

हि—दीस—<दिशि, अधिकरण ए० व० में सूत्यविभक्ति रूप ।

दीसह—दृश्यते, कर्मवाच्य रूप ।

१६७ बह—O N बहि । फुल्ल—A B फुल्ल । चूम—O चुम ।
बहुआ—A B बहुआ । पोम्म—A पम्म, CN पंमकपु । कोतक—A.
B C कोतक, N कोठक । तरुणीवजा—C तरुणीवजा । १६७—O
२ N २५४ ।

वाउल—<वातुला, कर्ता व० व० (भम्मरा का विशेषण)

(हि० वावला, पू० राज० वावळो) ।

पाम्म—<पद्म >पउम >पाम्म ।

लगिग्रा—<लग्ना, कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त, √ लग + इअ ।

गंडका छंद :—

रगणा पलतआ पुणो णरेंद कंतआ सुळक्कएण,

हार ऐक्क मंतही सुसद् पाअ अंतही सुसक्कएण ।

गंडआ गणेहु ए सुवण्ण सख बीसए फणिंद गाउ,

तीस मत्त पाअ पत्त हार तीअ भाअए सुसद् आउ ॥१६८॥

१८९. जहाँ प्रत्येक चरण में पहले रगण पड़े, फिर सुंदर नरेंद्र (जगण) पड़े, इस तरह छ. गण हो, (अर्थात् एक रगण फिर एक जगण, फिर एक रगण, जगण, फिर एक रगण, एक जगण पड़े), चरण के अंत में एक हार (गुरु) दो, तथा फिर सुंदर शब्द (लघु) अपने शक्ति के अनुसार दो । इसे गंडका छंद गिनो (समझो), इसमें संख्या में बीस वर्ण होते हैं, प्रत्येक चरण में ३० मात्रा होती है, इसमें तीसरा भाग (३ वर्ण) अर्थात् दस वर्ण हार (गुरु) होते हैं, शेष लघु होते हैं ।

(गण्डका .— SIS, ISI, SIS, ISI, SIS, ISI, S, I = २० वर्ण, ३० मात्रा = १० गुरु + १० लघु = ३० मात्रा) ।

टिप्पणी—अंतही = अंतहि, छन्दोनिर्वाहार्थ पदांत 'इ' का दीर्घ-करण । <अते । अधिकरण ए० व० का रूप 'हि' विभक्ति ।

माअए < भागेन (= भागकेन) करण ए० व० 'ए' विभक्ति ।

१६८ सुळक्कएण—C. सुळंदएण । हार—A. B. हार । मंतही—N. दिज्जही । अंतही—N. किज्जही । ए .. गाउ—N एहु वक्कसङ्कसङ्कले फणिन्द गाउ । बीसए—C. ककणे । पाअ—A. B पाउ । °माअएण°—N. °भागए सुसद् । १६८—C २०१, N २५५ ।

जहा,

साव बुद्धि साव सुद्धि साव दाण साव माण साव गच्च,
 जाव जाव इत्य णच्च विज्जुरह रग णाह ऐकक दम्भ ।
 ऐत्य अत्त अप्प दोस देव रास होइ ण्ह सोइ सम्भ,
 कोइ बुद्धि कोइ सुद्धि कोइ दाण कोइ माण कोइ गच्च ॥१६६॥
 [गंङ्गा]

१६६ उदाहरण —

बुद्धि सभी तक है, सुद्धि सभी तक है, दान सभी तक है, मान सभी तक है और गर्व भी सभी तक है, सब तक कि इतना में विजली को देखा के समान अकेला द्रव्य माया करता है। यदि वही द्रव्य अपने दोष से या वैचरोप से नष्ट हो जाता है, तो बुद्धि क्या है, सुद्धि क्या है, दान क्या है, मान क्या है, और गर्व क्या है ?

टिप्पणी—साव < सावत्, जाव < यावत् ।

विज्जुरेह < विज्जुरेहा । अपभ्रंश में स्त्रीलिङ्ग आकारांत शब्दों में अकारांतता पाई जाती है, वे० भूमिका ।

एकविंशत्यक्षर प्रस्तार, अक्षरा छत्र —

वे कण्ठा गंधहारा वल्लभ दिभगणा इत्यहारा पलता,
 ऐककल्ला सल्ल कण्ठा वमपमसहिआ कण्ठा अंत कता ।
 बीसा ऐककगला ज पलह लड्ड गुरु बारहा होइ दीहा,
 पिंडा वत्तीस अग्गा सउ फणि मणिआ सदरा होइ सुद्धा ॥२००॥

१६६ बुद्धि—A B. सुद्धि । सुद्धि—A B. बुद्धि । साव जाव—A B जाव । इत्य—इत्य—O साव साव इत्य णच्च सच्च विज्जु रग एकक दम्भ N जाव जाव इत्य सल्ल णच्च सच्च विज्जुरेह एकक दम्भ । वेव—A वेव । १६६—O २ ९, N २५५ ।

२ पलता—O पलता । ऐककगला—O एककगला N एककगला । वमपम—N वमपम । वल्लभा—O वल्लभा । बीसा—गुरु—N बीसा एककगला पलह लड्ड गुरु । बारहा—N बारहा । सुद्धा—O N सुद्धा । २ —O २ ९ N २५५ ।

२००. जहाँ प्रत्येक चरण में आरंभ में दो कर्ण (दो गुरुद्वयात्मक गण अर्थात् चार गुरु) हों, फिर गंध (लघु) तथा हार (गुरु) हो, तब हस्त (सगण) तथा हार (गुरु) पड़े, तब अंत में एक शल्य (लघु) तथा कर्ण (दो गुरु) हों, जिसके साथ ध्वजगण (लघ्वादि त्रिकल १५) हो, तथा फिर सुंदर कंकण (गुरु) (पड़े), जहाँ एक अधिक बीस (इक्कीस) वर्ण हों, जिनमें १२ दीर्घ हों (६ लघु) तथा सब कुल बत्तीस अधिक सौ (१३२) मात्रा हों, वह पिंगल के द्वारा कथित सुंदर स्रग्धरा छंद है ।

(स्रग्धरा :—SSSSISSIIIISSISSISS = १२ गुरु + ९ लघु (२१ वर्ण) = ३१ मात्रा, कुल छंद ३३ × ४ = १३२ मात्रा) ।

जहां,

ईसारोसप्पसादप्पणदिसु बहुसो सग्गंगाजलेहिं,
आमूलं पूरिदाए तुहिणकरकलारुप्पसिप्पीअ रुदो ।
जोण्हामुत्ताहलिल्लं णदमउलिणिहित्तग्गहत्येहिं दोहिं,
अग्घं सिग्घं व देत्तो जअइ गिरिसुआपंकेरुहाण ॥२०१॥

[स्रग्धरा]

२०१. उदाहरण.—

शिवजी के मस्तक पर गंगा को देखकर कुपित पार्वती की ईर्ष्या तथा रोष को शान्त करने के लिए उनके पैरों पर बार बार गिरते हुये तथा अपने झुके मस्तक पर रखे दोनों हाथों के अग्रभाग के द्वारा गंगा जल से पूर्ण चन्द्रकला रूपी सीप से चन्द्रमा रूपी मोती से युक्त अर्घ्य को पार्वती के चरणों के प्रति अर्पित करते भगवान् शंकर की जय है ।

टि०—इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है ।

नरेन्द्र छंद —

आइहि जत्थ पाअगण पअलिअ जोहल अंत ठवीजे,
काहल सद गंध इअ मुणिगण कंकण अंत करीजे ।

१०१ जोण्हा—C. जोहा, N. जोह्ला । णदमउलिणिहित्त—N णदसिउ णिहित्तं अग्गहत्येहि । व देत्तो—A वे देत्तो, B व देत्तो, K व देत्तो, N. वअन्तो । २०१—C. २०४, N २६२ ।

२०२. आइहि जत्थ—C. गण पअलिअ, N. आइहिं जत्थ । इअ—N.

सह एक मेरि चहु खरवइ कुक्कइ सख सुमन्वा,
चामरजुग अंत बहि पमलिअ एहु शरदंड कच्चा ॥२०२॥

२०२ मरेंद्र छंद —

जहाँ प्रत्येक चरण के आरंभ में पादगण (भाग) पड़े, फिर जोड़क (रगण) रखा जाय, तब सात कादल, सख, गंध (य सय एक छपुगण के नाम हैं) दिये जायें अर्थात् सात छपु हों, तब ककण (गुरु), मरी (छपु), किया जाय, तथा चार में नरपति (जगण) चले तथा सुमन्व शंस (छपु) फूँका जाय, जहाँ अंत में चामरजुग (दो चामर, दो गुरु) प्रकटित हों, यह मरेंद्र नामक काव्य (छंद) है।

(मरेंद्र—आ, आ, ॥॥॥॥, आ॥आ॥आ = २१ वर्ण)

अथा,

कुलिअ वेसु चप तह पमलिअ मखरि तेज्जइ चूआ,
दक्खिण वाठ सीअ भइ पवइइ कप विमोइणिहीआ ।
केअइ धूलि सज्ज दिस पसरइ पीअर सज्जइ भासे,
आठ वसंत काइ सहि करिअइ कंत ण वक्कइ पासे ॥२०३॥

[मरेंद्र]

२०३ अष्टाहरण — कोई विरहिणी वसंत का वणन कर रही है —

किंशुक मूख गया है, अल्पक प्रकटित हो गये हैं आम और छाड़ रखा है, दक्षिण पयग सीतल होकर खड़ा रहा है, विपोगिनी का हृदय कँप रहा है, केतकी का पराग सब दिशाओं में फैल गया है तब कुछ पीछा बिसाई दे रहा है, हे सखि, वसंत आ गया है, क्या किया जाय, प्रिय तो समीप है ही नहीं।

पग। अंत N आई। मेरि—A मेरी। चसु—A. B चत। कुक्कइ—C कुक्कु, N पूरु। शरदंड—A C. शरिदंड। कच्चा—A B छड़ा। २२—O २ ५, N २६१।

२ १ कुलिअ—A B कुलिअ। वेसु चप—C. वपनेसु। पमलिअ—O विमोइण। तेज्जइ—N तेजिअ। सीअ—O सीअस। सज्ज दिस—O दिसे दिने। पीअर—B पीवर। आठ—O आठ। काइ—O आई। सहि B सति। ककिअइ—N करिअड। २०३—C २ ५ २६४।

टिप्पणी—तेज्जइ—< त्यजति ।

होत्रा—<(= हिआ) < हृदय > हिअअ > हिआ, कर्ता ए० व० ।

ग्राउ—< आयात, कर्मवाच्य (भाववाच्य) भूतकालिक कृदन्त रूप ।

काइ—< किं (दे०—किमः काइक्वणौ वा, हेमचंद्र ८०४.३६७ । साथ ही राज० कोई (उ० कोई) ।

थक्कइ—< स्थगयति अथवा तिष्ठति ।

पासे—< पाउर्वे (हि० रा० 'पास') ।

द्वाविगत्यक्षरप्रस्तार, हंसी छंद—

विज्जूमाला आई पाए तिअ दिअगण तह बहु गुणजुत्ता,
अंते कण्णा सुद्धा वण्णा भण फणिवइ कहवर गुणजुत्ता ।
जं वत्तीसा मत्ता थक्के पअ पअ पअलिअ लहु गुरु सोहा,
एसो हंसी णामा छंदो सअल विवुहअण किअ मण मोहा ॥२०४॥

२०४. जहाँ प्रत्येक चरण में आरम्भ में विद्युन्माला (आठ गुरु) हैं, फिर बहुगुणयुक्त तीन द्विजगण (अर्थात् तीन बार चार लघु, १२ लघु हों), अंत में शुद्ध वर्ण कर्ण (गुरुद्वय) हो, गुणयुक्त कविवर फणिवति (गिंगल) कहते हैं, जहाँ प्रत्येक चरण में वत्तीस मात्रा हों, जिनमें लघु तथा गुरु की शोभा प्रकटित हो, यह हसी नामक छंद है, जिसने समस्त विद्वानों के मन को मोहित कर लिया है ।

(हंसी —SSSSSSSS, |||||, SS=२२ वर्ण, ३२ मात्रा) ।

टिप्पणी—थक्के < थक्कइ, वर्तमानकालिक क्रिया प्र० पु० ए० व० ।
किअ < कृतं ।

जहा,

णत्ताणंदा उग्गे चदा धवलचमरसम सिअकरविंदा,
उग्गे तारा तेआहारा विअसु कुमुअवण परिमलकंदा ।

२०४ आई—N पाए । कहवर—C कविवर । गुणजुत्ता—C. गुण-
जुत्ता । थक्के—C हत्य । लहुगुरु—N गुरु लहु । एसो ... छंदो—
N एसा ... छंदो । २०४—C २०७, N. २६७ ।

२०५. सम—C. कर । विअसु—C. विअस । मासे—N. मासा ।

टिप्पणी—तेज्जइ—< त्यजति ।

होआ—< (= हिआ) < हृदय > हिअअ > हिआ, कर्ता ए० व० ।

आउ—< आयात, कर्मवाच्य (भाववाच्य) भूतकालिक कृदन्तरूप ।

काइ—< कि (दे०—किम. काइकवणो वा, हेमचंद्र ८०४-३६७ । साथ ही राज० काँइ (उ० काँई) ।

थक्कइ—< स्थगयति अथवा तिष्ठति ।

पासे—< पार्श्वे (हि० रा० 'पास') ।

द्वाविगत्यक्षरप्रस्तार, हंसी छंद —

विज्जूमाला आई पाए तिया दिअगण तह बहु गुणजुत्ता,
अंते कण्णा सुद्धा वण्णा भण फणिवइ कइवर गुणजुत्ता ।
जं बत्तीसा मत्ता थक्के पअ पअ पअलिया लहु गुरु सोहा,
एसो हंसी णामा छंदो सअल विबुहअण किअ मण मोहा ॥२०४॥

२०४. जहाँ प्रत्येक चरण में आरंभ में विद्युन्माला (आठ गुरु) हों, फिर बहुगुणयुक्त तीन द्विजगण (अर्थात् तीन बार चार लघु, १२ लघु हों), अतः मं शुद्ध वर्ण कर्ण (गुरुद्वय) हो, गुणयुक्त कविवर फणिवति (पिंगल) कहते हैं, जहाँ प्रत्येक चरण में बत्तीस मात्रा हों, जिनमें लघु तथा गुरु की शोभा प्रकटित हो, यह हंसी नामक छंद है, जिसने समस्त विद्वानों के मन को मोहित कर लिया है ।

(हंसी .—SSSSSSSS, |||||, SS = २२ वर्ण, ३२ मात्रा) ।

टिप्पणी—थक्के < थक्कइ, वर्तमानकालिक क्रिया प्र० पु० ए० व० ।
किअ < कृत ।

जहा,

णत्ताणंदा उग्गे चदा धवलचमरसम सिअकरविंदा,
उग्गे तारा तेआहारा विअसु कुमुअवण परिमलकंदा ।

२०४ साई—N पाए । कइवर—C कविवर । गुणजुत्ता—C. गुण-
जुत्ता । थक्के—C. हृथ । लहुगुरु—N गुरु लहु । एसो ... छंदो—
N. एसा ... छंदो । २०४—C २०७, N, २६७ ।

२०५. सम—C. कर । विअसु—C. विअस । भासे—N भासा ।

मासे कासा सन्धा आसा मधुर पयण लहु लहिअ करता,
इथा सवूद् फुल्ला बंधू सरअ समय सहि हिअअ हरता ॥२०५॥
[इत्थी]

२०५ व्याहरण —

सरत् चतु का धर्जन हे —

नेत्रों को आनवित करनेवाला घबल चामर के समान श्वेत किरणों
आला चन्द्रमा लग आया है, तेजायुक्त तारे लग गये हैं, सुगंध से भरे
कुसुम झिल गये हैं, सब विशाओं में काश सुशोभित हो रहा है, मधुर
पयन मद् मद् गति से बढ़ रहा है, हंस शब्द कर रहे हैं, बंधूक पुष्प
फूल गये हैं, हे सखि सरत् चतु हृदय को हरता है ।

शिरजी—विष्णु < विकसितं (कुसुमवर्न का विक्षेपण) कर्मवाच्य
भूतकालिक कर्तृत्वं रूप ।

सवूद् < सन्धायंते । (पश्चात् 'ऊ' ध्वनि समस्या है, क्या यह
'सवूद्' < सन्धिता (कर्मवाच्य भूतकालिक कर्तृत्वं रूप) का छन्दो-
निर्वाहाय विकृत रूप है ?)

हरता (= हरत का छन्दोनिर्वाहार्थ धीरे रूप) < हरत् (अस्ति'
इति छेप) । वर्तमानकालिक क्रिया के छिपे वर्तमानकालिक कर्तृत्वं
का प्रयोग ।

अथोबिस्तस्वक्षरस्तार, सुंदरी छंदः—

जहि आइहि इत्था करअछ तत्था पाअ लहु शुण कण्ण गण्णा,
ठवि चामरमा काइलजुअ लंका सरल पहिस्तइ बे वि मणा ।
पअ अंतहि सक्को गण पमबिज्जे सेइस वण्ण पमाण किमा,
इअ मत्तहि पोमावइ पमबिज्जे वण्णहि सुंदरिआ मणिआ ॥२०६॥

२०६ अहाँ प्रत्येक धरण में चारंस में हस्त (सगण), सब करतल

आसा—B लय । लहु—N. लह । सरल—B सहस्र । २ ५—C.
२ ८, N १६८ ।

२ ६ अहि—N बहि । पहिस्तइ—O पहिस्तम । मणा—O
गणा । इअ—N ऐहु । मत्तहि—O मत्त । पोमावइ—O पठमवइ ।
२ ६—C. २ ८, N २०१ ।

(सगण) तत्र पाठ (भगण), तत्र दो लघु तथा कर्ण (दो गुरु) स्थापित करके क्रमशः चामर (गुरु), कादल युग (दो लघु) तथा वंरु (गुरु) हो, तत्र पहले शल्यद्वय (दो लघु) के बाद पादात में शक्रगण (पट्कल का चौथा भेद, ५॥५) हो, इस प्रकार तेईस वर्ण प्रमाण किये हो, यह छंद मात्रावृत्त में पद्यावती तथा वर्गिक वृत्त में सुदरी कहलाता है ।

टिप्पणी—पभणिज्जे < प्रभण्यते । कर्मव च्य रूप ।

मत्तहि < मात्राभिः (स्त्रोलिग), वण्हि < वर्ण दोनो करण व० व० के रूप हैं ।

आइहि सगणा वे वि गण तिज्जे सगणा अंत ।

भगणा सगणा कण्ण गण मज्झे तिण्णि पलंत ॥२०६ का॥

[दोहा]

२०६ क (सुन्दरी छंद में) आदि में दो सगण हो, अन्त में, तीन सगण हों, तथा मध्य में क्रमशः भगण, सगण तथा दो गुरु होये हैं ।

(सुदरी, ॥५,५॥,॥५,॥५,५५,॥५,॥५,॥५,=२३ वर्ण, ३२ मात्रा)

जहा,

जिण वेअ धरिज्जे महिअल लिज्जे पिट्ठिहि दंतहि ठाउ धरा ।

रिउवच्छ विअरे छल तणु धारे वधिअ सत्तु सुरज्जहरा ॥

कुल खत्तिअ तप्पे दहमुह कप्पे कंसिअ कैसि विणासकरा,

करुणा पअले मेछह विअले सो देउ णराअण तुम्ह वरा ॥२०७॥

[सुंदरी]

२०७ उदाहरणः—

जिन्होंने वेद धारण किया, पीठ पर पृथ्वीतल धारण किया, दोंतों पर पृथ्वी स्थापित की, शत्रु के वक्षःस्थल को विदीर्ण किया, छल से (मानव या वामन) शरीर धारण कर शत्रु को बँधा तथा उसके राज्य

२०६ क पत्तपद्य—A C N प्रतिपु न प्राप्यते ।

२०७ सत्तु सुरज्जहरा—N सत्तुपआल धरा । तप्पे—N कप्पे । कप्पे—C. कप्पे, N कट्टे । मेछह—N मेच्छह । णराअण—C णराअण, N. णराअणु २०७—C. २१०, N २७२ ।

का अपहरण किया, क्षत्रियकुल को संतप्त किया, वसुमुखों (राजपूतों के वसुं मुखों को) काटा, कंस तथा बेशी का विनाश किया, (बुढ़ाबतार में) करुणा प्रकटित की, तथा (कलिक रूप में) ग्लेश्मों को विदलित किया, ये नारायण तुम्हें बर दें।

३ —परिज्जे, सिज्जे—< प्रियते, छाद्यते (०नीयते)।

टोकाकारों ने इनका अनुवाद 'धृत' (धेह), गृहीतं (गृहीतव्यं) किया है, किंतु ये कृत्य रूप न होकर कर्मवाच्य क्रिया के तिङन्त रूप हैं।

ठाठ—स्वारिता, 'ठ' कर्मवाच्य मूलकादिक कृत्य रूप वे० भूमिका।

विष्मरे—< विचारतं (रिपुवधं), घारे < घृता (तनु)

तप्ये—< तापितं कप्य < कल्पितं (कल्पितानि, मुक्तानि)।

पद्मसे—< प्रकटिता, विमले < विद्विता।

ये सभी कर्मवाच्य मूलकादिक कृत्य रूप हैं जिनमें ०ए विग्रह पाया जाता है, संभवतः यह कर्त्ता व० व० के विकारी रूपवाले २ चिह्न से सज्ज है।

कुल क्षत्रिय—इसकी व्युत्पत्ति दो तरह से मानी जा सकती है। या तो इसे (१) क्षत्रियकुल मानकर अपभ्रंस समास में पूर्वनिपात वाले नियम की अवहेलना कहा जा सकता है, जो अपभ्रंस की खास विशेषता है, या (२) कुछ क्षत्रियाणां, मानकर 'क्षत्रिय' का संयोजक कारक व० व० में शून्य-विमलित (शून्य प्रातिपदिक) वाक्य प्रयोग माना जा सकता है। संस्कृत टोकाकारों ने दोनों तरह का अनुवाद किया है। मैं द्वितीय व्युत्पत्ति के पक्ष में हूँ।

अनुविश्वस्य च प्रस्ताव, शुर्मिका छंद —

शुमिलाह पमासउ वण्ण विसेसहु दोस फणिदह चारुगणा,
मण्ण मत्त वरीसह जाणह सेसह अट्ठह ठाम ठई सगणा।
गण अण्ण ण दिज्जह किचि सहिज्जह सग्गह दोस अणेअ वही,
अह तिण्णि विरामहि पाअह पाअह ता दह अट्ठ चउदहरी ॥२०८॥

१ ८ पमासउ—B पमासउ, C पमासउ, N पमासउ। विसेसहु—
B विसेस, C. विसेसहि। दोस—C वीस। चारुह—C चारिम।

२०८. फणीन्द्र पिंगल दुर्मिला को प्रकाशित करते हैं, यहाँ विशिष्ट वर्ण दिखाई देते हैं, सुंदर गणवाली ३२ मात्रा जानो, तथा आठ स्थान पर सगण होते हैं; इसमें अन्य गण नहीं दिया जाता, प्रत्येक चरण में १०, ८ तथा १४ मात्रा पर कीर्ति प्राप्त करे, (ऐसा न करने पर) अनेक दोष लगते हैं ।

(दुर्मिला .—॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५=२४ वर्ण, ३२ मात्रा, १० मात्रा, ८ मात्रा तथा १४ मात्रा पर यति) ।

टिप्पणी—दोस < दीसह < दृश्यते, कर्मवाच्य क्रिया के मूल रूप (स्टेम) का प्र० पु० ए० व० में प्रयोग ।

जहा,

पहु दिज्जिअ वज्जअ सिज्जिअ टोप्पर कंकण बाहु किरीट सिरे,
पह कण्णहि कुडल जं रइमंडल ठाविअ हार फुरंत उरे ।
पह अंगुलि सुदरि हीरहि सुंदरि कंचणविज्जु सुमज्झ तणू,
तसु तूणउ सुंदर किज्जिअ मंदर ठावह बाणह सेस धणू ॥२०६॥

[दुर्मिला]

२०९. उदाहरण .—

किसी राजा के युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय की सज्जा का वर्णन है :—

ठाम—C, ठाह । तिण्णि—C तीणि । विरामहि—C विसामहि । पाअह पाअह—C, पाअहि पाअहि । चउदह ही—C, चउदह री, N. चउदह मत्त सही । २०८—C, २११, N २७७ ।

२०६ सिज्जिअ—N. सज्जिअ । फुरत—N लुरत्त । सुदरि—N सुदरि । सुमज्झ—N सुसज्ज । तूणउ—N दूणउ । किज्जिअ . . बाणह—N तावअ णाअअ त खण सुन्दर ।

C. प्रतौ एतत्पद्यस्य निम्न पाठांतर प्राप्यते ।

पहु दिज्जअ टोप्पर मत्थअ कंकण बाहु किरीट सिरे
पहि कण्णहि कुडल लव्वह गडल बाह्व अर तुरत उरे ।
पअंगुलि सुदरि हीरहि सुदरि कचणरज्जु ससज्ज तणू
तसु तूणउ सुन्दरि णावअ पावहि त खणु सुदरि सेस धणू ॥

२०९—C, २१२, N २७८ ।

रामा (प्रभु) ने रणवाद्य (के बजाने की भाषा) से वा,
(लवण प्रभु ने बज—हीरों) से युक्त टोप का सिर पर सजाया तथा
हाथ में कंकण एवं सिर पर किरीट धारण किया, रविमंडल के समान
कुण्डलों को दोनों कानों में पहना तथा वक्षस्थल पर आम्बुस्यमान
हार स्थापित किया, प्रत्येक अँगुली में हीरों की मुँदरी धारण की, तथा
स्वर्णविष्णु के समान सुंदर शरीर को सुसज्जित किया ।

किरीट छंद—

ठावहु आहहि सककगणा सह
सल्ल विसज्जहु वे वि तहा पर,
पेउर सदसुअ सह पेउर
ए परि वारह मअ गणा कर ।
काइलसुगल अत करिज्जसु ए
परि चोविस वअ पआसहु,
वत्तिअ मअ पअप्पअ सेक्खहु
अहु मआर किरीट विसेसहु ॥२१०॥

२१० किरीट छंद का अक्षर्य—

आरम्भ में एक सक्कगण (जाड) स्थापित करो, उसके बाद दो
शब्द (लघु) दो उसके बाद एक लघु (गुरु) तथा बाद में दो शब्द
(छप्पु) तथा फिर एक लघु (गुरु)—इस परिपाटी से बारह गर्जों
रचना करो । अंत में दो छप्पु (दो आहल) करना चाहिए, तथा इस
प्रकार १४ वर्जों को प्रकाशित करो । प्रत्येक चरण में ३२ मात्रा
हिसो, तथा किरीट छंद को आठ मकर से विधिष्ठ बनाओ ।

(किरीट छंद—जा X ८) ।

टिप्पणी—ठावहु—स्थापयत (√ ठाव + हु, भाषा म० पु० व० प)

आहहि—< आहो, (आह + हि, सप्तमी ए० व०) ।

२१ मअ—N सक्क । चोविस—C चव्विस, B N चोवित्, K

चोवित् । वत्तिअ—C पत्तीत । सेक्खहु—M सेल्ल । मआर—N अमार ।

२१ —C. २११, M २०६ ।

२१२. शाल्हर छंद का लक्षण :—

हे रजनीप्रभुवदने (चन्द्रमुखि), हे कमलदलनयने, हे मनोहरणि,
जिस छंद में एक कर्ण (SS) पहले पड़े, तत्र चतुर्लघु (द्विज) गणों
को स्थापित कर गुर्वन्त चतुर्मात्रिक गण (सगण ॥S) को स्थापित
करे, उसे शाल्हर कहते हैं। इस छंद के प्रत्येक चरण में ३२ मात्रा
स्थापित करे, तथा अंत में करतल (=सगण) प्रकटित होता है, और
मध्य में द्विजगण (सर्वलघु चतुर्मात्रिक गण) हो। यह छंद मात्रा एवं
वर्णों से सुललित (सुंदर) होता है। यहाँ छः सर्वलघु चतुष्कल
किये हैं, ऐसा कविदिनकर (कविश्रेष्ठ) भुजगपति पिंगल कहते हैं।

(शाल्हर SS, |||| × ६, ||S = २९ वर्ण, ३२ मात्रा) ।

जहा,

जं फुल्लु कमलवण वहइ लहु पवण,
भमइ भमरकुल दिसि विदिसं ।
भंकार पलइ वण रवइ कुइलगण,
विरहिअ हिअ हुअ दर विरसं ।
आणंदिअ जुअजण उलसु उठिअ मण,
सरसणलिणिदल किअ सअणा ।
पल्लइ सिसिररिउ दिअस दिहर,
भउ कुसुमसमअ अवतरिअ वणा ॥२१३॥

[शाल्हर]

२१३ शाल्हर छंद का उदाहरण :—

कोई कवि वसन्त का वर्णन कर रहा है :—आज वन में सरस-

पञ्चलिउ—N वअलिअ । दिअविलअं—N दिअगणअ । पए—C. पअ
२१२—C २१५ N २८६ ।

२१३ कुइल—A B कोइल, C कोकिल, K. कुहिल । विरहिअ —
C विरहिहिआतव्यव विरस, N. विरहिअगणमुह अइविरसम् । पल्लइ—C.
N पल्लट्टि । उलसु—A B हुलसि । दिअस—N दिवस । दिहर—N.
दिघर । अवतरिअ—N. अवयविअ । २१३—C २१६, N. २६० ।

को छोड़कर भाई एवं पत्नी (सुन्दरी) को साथ ले घन चढ़े गये, तथा भिन्नेनि विराध को मारा एवं कर्बण (नामक राजस) का हनन किया, जिन्हें समुमान मिळे, जिन्हें बाळि का वध किया तथा सुमीष का निष्फेणक राज्य दिया और समुद्र बौधकर रावण का नाश किया, वे रावण तुम्हें निर्भय (अभय) प्रदान करें ।

दिप्यन्ती—वप्यह—< वप्या (वप् + ह पठ्ठी ए० व०) ।

ठक्कि—< ठक्कि, सिरि—सिर + ए, सप्तमी ए० व० ।

जिजि—< जेत ।

सिम्भिज्ज—सं० नीता, यह कस्तुतः कर्मवाच्य रूप 'सिम्भिज्ज' से भूतकालिक कृन्त रूप है । √ सिम्भिज्ज + इम (= इमा) स्त्रीलिंग रूप ।

तन्निज्ज—< त्यक्ता, √ तेज्ज + इम, पूर्वकालिक क्रिया रूप ।

सगिगि—< छन्ती (= छन्त), √ छमा + इम, भूतकालिक कृन्त √ छमा धातु सं० के भूत० कर्म० कृन्त 'छन्त' से विकसित हुआ है ।

मिळ्ळिज्ज—(= मिळ्ळि) < मिळ्ळि (√ मिळ + इम भूत० कर्म० कृन्त); छन्तोनिर्वाहार्थ 'छ' का द्वित्व ।

सुम्मीवह—< सुमीवाय, 'ह' यहाँ सम्प्रदान (संवच) का चिह्न है ।

साक्षर छन्द—

कर्णक पडम दिम सरस सुपथ

धुअ पअहि पलह तह ठअम वर ।

सत्तलूर सुमणि मणहरणि रमणिपहु

वमणि कमसदलणअणि वरं ।

वत्तीसह कस्त पथ ठवह पमलिठ

तह मह करमस्त दिम पिसुणं ।

मत्ता वण सुलसिअ छउ चठकल

किअ कइ दिणअर मण सुअअपप ॥२१२॥

२१२. सुपथ—O N पथ । ठअह—O N ठक्कि । वरं—N वर । कस्तपथ—O मत्ता मह, N. मह पठ । छवह—O N ठक्कु ।

२१२. शालूर छंद का लक्षण :—

हे रजनीप्रभुवदने (चन्द्रमुखि), हे कमलदलनयने, हे मनोहरणि, जिस छंद में एक कर्ण (ऽऽ) पहले पदे, तब चतुर्लघु (द्विज) गणों को स्थापित कर गुर्वन्त चतुर्मात्रिक गण (सगण ॥ऽ) को स्थापित करे; उसे शालूर कहते हैं। इस छंद के प्रत्येक चरण में ३२ मात्रा स्थापित करे, तथा अंत में करतल (=सगण) प्रकटित होता है, और मध्य में द्विजगण (सर्वलघु चतुर्मात्रिक गण) हो। यह छंद मात्रा एवं वर्णों से सुललित (सुंदर) होता है। यहाँ छः सर्वलघु चतुष्कल किये हैं, ऐसा कविदिनकर (कविश्रेष्ठ) भुजगपति पिंगल कहते हैं।

(शालूर ऽऽ, ॥॥ × ६, ॥ऽ = २९ वर्ण, ३२ मात्रा) ।

जहा,

जं फुल्लु कमलवण वहइ लहु पवण,
 भमइ भमरकुल दिसि विदिसं ।
 भंकार पलइ वण रवइ कुइलगण,
 विरहिअ हिअ हुआ दर विरसं ।
 आणंदिअ जुअजण उलसु उठिअ मण,
 सरसणलिणिदल किअ सअणा ।
 पल्लइ सिसिररिउ दिअस दिहर,
 भउ कुसुमसमअ अवतरिअ वणा ॥२१३॥

[शालूर]

२१३. शालूर छंद का उदाहरण :—

कोई कवि वसन्त का वर्णन कर रहा है :—आज वन में सरस-

पद्मलिङ—N वअलिअ । दिअविलअ—N दिअगणअ । पण—C. पण
 २१२—C २१५ N २८६ ।

२१३. कुइल—A B कोइल, C कोकिल, K. कुहिल । विरहिअ —
 C विरहिहिआतअरु विरस, N. विरहिअगणमुइ अइविरसम् । पल्लइ—C.
 N पल्लट्टि । उअसु—A B. हुलसि । दिअस—N दिवस । दिहर—N.
 दिघर । अवतरिअ—N. अवअविअ । २१३—C २१६, N. २६० ।

कमल वल के बिछौनेपाछा पसन्त आ गया है, कमलधन प्रफुल्लित हो गया है, मन्द मन्द पथन वह रहा है; दिशाओं और विविधाओं में भौरे घूम रहे हैं, बन में शकार (भीरों की गुंजार) पड़ रही है, फोफिससमूह बिरहियों के सामने कठोर स्वर में बूक रहा है सुबक आनन्दित हो चठे हैं, मन तेजी से चलसित हो चठा है; शिशिर कण्डू खौट गया है, और दिन बड़े हो चठे हैं।

प्रस्तारोत्तीर्णं वष्युत्ता, त्रिमंगी —

सव पञ्चहि पढम मण दहज सुपिअ
गण भगणा सह श्रंता गुरुलुगा इत्य पलंता ।
पुण बि अ गुरुलुअ ललुलुअ वलअ
लुअल कर अपह णाभा कराराआ सुंदरकाआ ।
पअ पअ तलहि करहि गअगमणि ससि
वअशि वालिस मचा शुत्ता एहु णिरुत्ता,
गुणि गण भण सव पअ वसु रस लुअ सअ
पअला त्रिमर्मगी सुहर्मगी सज्जनसंगी ॥२१४॥

२१४ त्रिमंगी छंद का छंदपा—हे गजगमने, हे ससिचदने। समस्त पक्षों में पहले वस प्रियगण (छयुहयस्मक गण, ॥) करो, अन्त में भगण (॥) हो, तब दो गुरु (॥५५॥) तथा एक इत्य (सगण ॥५५॥) पढ़े, तब फिर दो गुरु, दो छयु, तथा दो गुरु करो। (इस तरह प्रत्येक चरण में १४ वर्ण हों)। सुन्दर शरीर वाले कविराज माग करते हैं कि इस प्रकार चरण को ४२ मात्रा से युक्त करो। इस प्रकार समस्त छन्द के चारों चरणों में १६८ मात्रा पढ़ें, वह शुभ वर्गों वाली, सव्रतों की प्रिय, त्रिमंगी है।

(त्रिमंगी—॥ × १० + ५॥ + ५५ + ॥५५ + ५५ + ॥ + ५५ = १४ वर्ण ४२ मात्रा कुल वर्ण १६८, मात्रा १६८)।

२१४ वरण—N वह, B वह वसु, O वह वसु विमपल। पलंता—O. भलंता। करहि—N करि। वालिस—N, वालिस। गुणि गण भण—N गणि भण। ललुअ सअ—N एस सअ। २१४—O २१०, N २००।

जहा,

जअइ जअइ हर वलइअविसहर
तिलइअसुंदरचंदं मुणिआणंदं सुहकंदं ।

वसहगमण करतिसुल डमरुधर
णअणहि डाहु अणंगं रिउभंगं गोरिअधगं ॥

जअइ जअइ हरि भुजजुअधरु गिरि
दहमुहकंसविणासा पिअवासा सुंदर हासा ।

वलि छलि महि हरु असुरविलअकरु
मुणिअणमाणसहंसा सुहभासा उत्तमवसा ॥२१५॥

[त्रिभंगी]

२१५ त्रिभंगी छन्द का उदाहरण—

साँपो का कंकण धारण करने वाले, सुंदर चन्द्रमा के तिलक वाले, मुनियों के आनंद, सुखकन्द, वृषभवाहन (वृषभगमन), हाथ में त्रिशूल तथा डमरु धारण करने वाले, शिव की जय हो, जय हो, जिन्होंने नेत्र से कामदेव को जला डाला तथा शत्रु का भंग किया और जो पार्वती को अर्धांग में धारण करते हैं। हाथों पर पर्वत धारण करने वाले रावण तथा कंस के विनाशक, पीतांबरधारी, (क्षीर) सागर में निवास करने वाले, पृथ्वी में वलि को छलनेवाले तथा दैत्यों का नाश करने वाले

२१५ वसह—A B. वरद । डाहु—N दाहु । गोरि—C N. गौरि । सुंदर—
हासा—N. साअर वासा । हसु—N हलु, C छलिअ महिअ अर । मुणि
वंसा—C मुणिअणमाणसहंसा पिअउत्तिमवसा । २१५—C २१८, N २८८ ।

निर्णयसागरसंस्कारो २६१ सख्यक निम्नपथ प्राप्यते । एतद्व्यक्षितं वर्तते ।

अथ सवैया छंदः—

छदइ मत्तइ पदमहि दिज्जइ मत्त एअत्तिअ पाए पाअ
सोलहपञ्चदहहि जइ किज्जइ अन्तर टाए टाइ ।
चोवीसा स मत्त भणिज्जइ पिङ्गल जम्पइ छन्दमु सार
अन्त अ ल्हअ ल्हअ दिज्जहु णाम सवैया छन्द अपाग ॥ (२६१)

नि० मा० स० पृ० २२६

मुनियों के मानसहंस, सुभक्तसिवासे, उत्तम बंस में उत्पन्न हरि (विष्णु) की जय हो, जय हो ।

सक्त वर्णपूतों की अनुक्रमणिका

सिरि १, काम २, महु ३, मही ४, सारु ५, ताली ६, पिआ ७, ससी ८, रमणा ९, जाया पंचाल १०, मइद ११, मंदर १२, कमल १२, तिण्या १४, घारी १५, शगालिआ १६, संमोहा १७, इरीअ १८, हंसा १९, अमका २०, सेता २१, तिल्ला २२, विज्योहा २३, तह खठरसा २४, मबाआ २५, संखयारी २६, मालती २७, दमयाअ २८, समाणिआ २९, सुवासठ ३०, करइची ३१, ता सीसा ३२, बिज्जुमाला ३३, पमाणी ३४, मलिआ ३५, तुगा ३६, कमला ३७, दीसा महालच्छी ३८, सारंगिका ३९, पाइचा ४०, कमला ४१, बिब ४२, तोमर ४३, रुजमान्ता ४४, संजुपा ४५, चपअमान्ता ४६, सारबई ४७, सुसमा ४८, अमिअगई ४९, बंधु ५०, तह सुइही ५१, बोवअ ५२, सासिया ५३, दमयाअ ५४, सेणिआ ५५, मालती ५६, तह इंदवज्जा ५७, उबिंदवज्जा ५८, उवनाह ५९, विआइर ६०, अर्पंगा ६१, लच्छीहर ६२, तोलअ ६३, सारग ६४, मोचिअदाम ६५, मोदअ ६६, तरलअअणि ६७, तह सुदरि ६८, माया ६९, तारअ ७०, कहु ७१, पकावली ७२, वसंततिलआ ७३, चक्कवच ७४, ममरावति ७५, ज्वा सारंगिका ७६, चामर ७७, तह निसिपाला ७८, मणईस ७९, मालिणि ८०, सरहो ८१, जराठ ८२, नीलु ८३, तह चचला ८४, तक्कइ बभारुअक जुचा ८५, पुइची ८६, मालाहरा ८७, मवीरा ८८, आशहु, फीलाचदा ८९, चर्चरी ९०, तह सव्दला ९१, बिअ सव्दला ९२, आशहु, चंदमाला ९३, चवलंगा ९४, समू ९५,

गीआ ६६, तह गंडक्का ६७, सद्वरआ ६८, शरिंदउ ६९,
 हंसी १००, सुंदरिआ १०१, दुम्मिला १०२, मुणहु, किरीट
 छंदा १०३, तह वे सालूरा १०४, विअ तिभंगी १०५, कइ
 पिंगल भणिअ पंचगल सउ सव्वा जाणहु धरकड
 मुण हव्व ।

टिप्पणी—निर्णयसागर प्रति में ६१-६२ दोनों को एक ही संख्या
 में 'सद्दूलासट्टअ (६१)' माना है, तथा वाद में 'सवैआ (१०५)'
 छंद जोड़कर १०५ की संख्या पूरी की गई है। कलकत्ता प्रति में
 'दोधक (५२)' को 'वंधु' से अभिन्न मानकर उसे 'दोधक ५०'
 लिखा है। इस तरह वहाँ १०४ संख्या होती है। 'कइ पिंगल ...'
 इत्यादि वाक्य कलकत्ता प्रति में नहीं है। कलकत्ता संस्करण की एक
 संस्कृत टीका भी संख्या १०४ ही मानती है—'चतुरधिकशतं
 वृत्तं जल्पति पिंगलराजः ।' (कलकत्ता संस्करण पृ० ५६३)

वड़ौदा से प्राप्त हस्तलेख (०) के अनुसार पाठान्तर

मात्रावृत्त प्रकरण

१. पदम—पदम । जअइ—जअई ।

२. जिण्णो—जिणो ।

५ इहिकारा—इहिआरा । असेस, सविहास—असेस वि सविहास ।

६ माणहिँ—माणहि । काई—काइ । करिए—करिअए ।

७ सहज—सहजे । तुहु—तुहुँ । °हदहिँ—°हदहिँ । उल्हसत—उहसत ।

८ वण्णो—वणो ।

९. छोडि—छोटि । तई—तइ । इथि—इरिथि । णदिहिँ—णइ । चाहहि—चाहसि ।

१० तेम ण .तुला—तेम ण तुला ।

११ कव्व—कव्व । °खग्गहिँ—°खग्गहिँ । जाणेइ—जाणेई ।

१२ छप्पच°—छपच° ।

१३. भेआ अट्टाइ—भेओ अट्टाइ । डगणस्स पच भेआ—°भेओ ।
वे—वे ।

१४ हेठ्ठाणे—हेठ्ठाणे । गुरुलहू—गुरुलहु ।

१५. कलिचदो—किणी अधो । छमत्ताण—छमत्ताइ ।

२३ रसिअरतज्ञर्ग—रसिअमवज्ञर्ग ।

२४ गममरय—गममरण । रमय—रमण ।

२५ गोबालो—गोबालो । नककपह—नककपह । पअररयपअ—पअ
हररयपअ ।

२६ पमाउह—पमाउह ।

२७ सुअरह—सुअरह । कुअर—कुअर । गमअर—गमअर । लपेन—
लपेन ।

२८ सुअरय—सुअरय ।

२९ पारक—पारक । एहु—एहु ।

३० ठाईक—ठाईक । एसाह—एसाह ।

३१ असेसेहि—असेसेहि । होवि—होवि । कयअसाह—कयअसाह ।

३२ (अय वर्यहसाना गसा) वमा—वमा ।

३३ अलो—अलो । इदठ—इदठ ।

३४ वगल—वगल । अयसिउठ—अयसिउठ ।

३५ विरकअ—विरकअ । वगल—वगल । उहदेउसाह—उहदेउ ठप
पह । रअह—उअह । अगेक—अगेक । रिहि—रिहि ।

३६ (अय गमअमविचार) रिह—रिह । बुहि—बुहि । न मापते । विअर
—विअर । विअर—विअर । अय मिअ मिअ—मिअ । वणु वणु—वण
वणु । फल—फल ।

३७ कयअ विह मई विलाअर—कयअय विह विलाअर । अयअरि—
अयअरि । विह मरि विलाअर—विह म विलाअर । वरिउ अय विलाअर—
वरिउ अय विलाअर । वरिउ—वरिउ । वण—वणु । वअअर वण—
वअअर वण ।

३८ (अय माआ उहिष्ट) आणहु—आणहु । आणहु—आणहु ।

३९ (अय माआनष्ट) पुअर—पुअर । मिअरि—मिअरि । उअ
रल—उअरल ।

४० अय अय—अय । लोअरल उअ लोअरल—पुअर उअ पुअर ।

४१ (अय वर्यानामुहिष्ट) पुअर अय—अय पुअर । पुअर—पुअर ।

४२ (अय वर्याना नष्ट) उअमागहि—उअमागहि । उअ—उअ ।
मिअरल—मिअरल ।

४३ (अय वर्याना) अउठ—अउठ । अउठ—अउठ । अउठ—अउठ ।
अउठ—अउठ ।

४५. (अथ वर्णपताका) अक—अके । पत्थरसख—पत्थरसखे ।

४६. (अथ मात्रामेख) कोट्टा—कोठा ।

४७. उवरल—उअरल । बुज्झहु बुज्झहु—बुज्झउ बुज्झउ ।

४८ (अथ मात्रापताका) ले—लइ । लोप—लोपे । आणहु—जाणहु ।
पेतिणि लोपे—तिणि लोपे । गाव—गावहु । मिलाव—मिलावहु ।

४९ (अथ वृत्तस्य लघुगुरुज्ञान) पूच्छल—पूछल । वण्ण—अक ।
मेटाव—मेटाव । जाणिव्वउ—आणिव्वउ ।

५० (अथ सकलप्रस्तारसख्या) सहस्साई—सहस्साइ । वाआलीस—वाआ-
लिस । समगाई—समगाइ ।

५१. चउअण्ण—चउण । सत्तावणी—सत्तावण्णी । उग्गाउ—उगाहहु ।
कल—कला । किज्जइ—दिज्जइ । सिंहिणी—सीहिणी । अगल—अग्गा ।
खय—खिंय ।

५२ वीसाई—वीसाइ । जुअलाई—जुअलाइ ।

५३ किंती—कीती । जाव . —जाव अ अप्प ण देसेई ।

५४. अट्ठारहेहिँ—अट्ठारहेहि ।

५५. जिविज्जइ—जिविज्जिअ । अणुणिज्जइ—अणुणिज्जिअ । कआवराहो—
किआवराहो । अग्गी—अग्गी ।

५६. छुट्ठ—छुट्ठ ।

५७. मत्ताई—मत्ताइ ।

५८ रेहाई—रेहाइ । लच्छी—लछी ।

५९ तीसखराहिँ—तीसखराहि । लच्छी—लछी । णामाई—णामाइ ।

६०-६१. रिद्धी—अरुद्धी । धाई—राई । विसा वासीआ—विसाअ वासीआ ।
सिही अ हसीआ—सीही हसीआ ।

६२ वी—विय । अहिवरलुलिअ—अहिवरलुलिअ । चउत्थए—चउपव्वा ।

६३ णाअक्केहिँ—णाअक्केहि ।

६४ भणिआ—भणिआ । वेसी—वसि ।

६५. पआसेइ—पआसेई ।

६६ मत्ताई—मत्ताई । पच्छिम—पछिम । दलेण—दलेहि । जपिअ—
भणिअं ।

६७ तुग्ग—तुम । घणु अ—घणुइ ।

६८. तीसति—तीसति । खे—खेह । उग्याहो—उगाहो । मर्तगो—मर्तगो ।

६९. सोख्य—सोख्य । पेस्लामि—पेस्लामि ।

७०. छिदिनी—छिदिनी ।

७१. मेस्दुसरीर—मेस्दुसरीर । पेस्दुह—पेस्दुह । पुम्ह—पुम्ह । हम्मीरो—हम्मीरो ।

७२. (सोहिनी कहा) ईदं अ सुखिं अ—ईदं अ सुखिं अ ।

७३. उचरह—उचरह ।

७४. हणुमा—हणुमा । नामकएवहिवां—नामकएवहिवां ।

७५. विव—विव । मअन्—मअन् । बोहणु—बोहणु । मअगाह—मअगाह ।
मोअह—मोअह । सताह—सताह ।

७६. बह—बह । लहुअयवि—लहुअयवि । वि दि—वि दि । बह—बह ।

७७. जेता जेता जेता जेता—जेता जेता जेता ।

७८. एआरह—एआरह ।

७९. मीमर—मीमर । मंहुक—मंहुक । मकह—मकह । मअगाह—
मअगाह । पओह—पओह । बह—बह । अहिवर—अहिवर । बह—
बह ।

८०. बह—बह । विआरि—विआरि ।

८१. बासु—बासु । बदि पाह—पाह बदि ।

८२. अस्ता—अस्ता । दीसति—दीसति । बरहिआ—बरहिआ ।
पआरह—पआरह ।

८३. विमति—विमति ।

८४. बरि—बरि । लह—लह । विम गुरह—गुरह ल वेम । बह—बह ।
एआरह—एआरह ।

८५. विमह—विमह । उपरि—उपरि ।

८६. हलीआ—हलीआ । गामाह—गामाह ।

८७. अय गुरह—अय अ गुरह आरि होह ला हली ।

८८. अंतर गुरह—गुरह अंतर । हा ते—होह । पुगह—पुगह । बह—
बह । बह—बह ।

८९. रद—रद । पुलिअ—पुलिअ । विह—विह । हम्मीर—हम्मीर ।
गअहुरेअसे—गअहुरेअसे । विमह बह—बह विमह । पुसे—पुसे ।

१४७ मतिवर—मल्लवर । चलिअ—वलिअ । हम्मीर—हवीर । पाअ-
मर—गअमरे । आण—अणु । दरमरि . —दमलि दमसु विप्पकल ।

१४८. न प्राप्यते ।

१४९ मत्त चारि—चारि मत्त । गणह—गणअ ।

१५० दिज्जहु—दिज्जहि ।

१५१. मालवणअ—मालउराअ । रिउगणह—रिउगण ।

१५२ दिज्जइ—दिज्जिअ । तिणि—वे वि । तहँ—ताहि । लइ—लए ।

१५४. वइ—कहु । एक्कइ—एक्कलु ।

१५५ दाणव—दाणउ । देव—टैउ ।

१५६-१५७ न प्राप्येते ।

१५८, णव—णउ । जिम—जेम । रगण—रअण ।

१५९. णव—णउ । तत्थ—तरणि ।

१६०. अहि . —महि ललइ अहि पलइ गिरि चलइ । मुअल . —भल
जिविअ उट्ठए । घुमइ—चलइ ।

१६१- सह—हस ।

१६२. लहु—वहु । कुहर—गुहर । कह—कत ।

१६४. णव—णउ । अतए कण्णो—अतक्कण्णो । सेसपि—सेसग्गि ।

१६४ णव—णउ ।

१६६. गणअ—मलअ ।

१६७ अतह दिज्जइ—अतहि ठिआ ।

१६९ सेवक्—सेवक । जइ—जण ।

१७०. जमक्—जमअ ।

१७१ गुणवति—गुणमति ।

१७२ एहु—एम ।

१७३ पढम दल—पअ पअ ।

१७४. छाअण—छाएण । विमल—निविड । वित्तक्—वित्तक्कं ।

१७६ सुअम—सुअल ।

१७७ ग्यारह—रुद्ध ।

१७८ लोलइ—लूलइ ।

१७९ हिअअतले—हिअअरए ।

१८०. दिअ—दिग । लोरहिँ । गरहि । सरवरु—सरअरु । जमल—कमल ।

दलाय । सतिहर—ससहर । हर—अर । दुरित वर—हरठ दुरित वर
दितठ अमद्यवर । ११ - १११ ।

१११ मय—जय ।

११२ मरडो—म/हटो ।

११४ दंमोडो ठहंमो—दंमो ठहंमो हो । बलिअंको—बलिअंगो ।

११६ डेरठ ओइ—डेरठ अ हटठकसरहि हो । पिगधु कहिअ—पिग
अ ।

११७ होइ—तोइ । ठलालहि—ठलालठ । कइ—कए । परि—
अठ ।

११८ मंछ—मच ।

११९ मावता—वावता । बाव—गाइ । वावता—बावता । कपले—
कपले । पाकिअ—पहया ।

१२ कइ—कइ ।

१२५ कइ—कइ । पाई पाई—पाअ पाई । परमहिअ—परमहिअ ।

१२६ के—तो । मअ—मए । पलाठ—रठ ।

१२७ मयकहु—गल लुइ ।

१२८ मिहि—इहि । दिअठ—दिअठ । लिण्ड—लिण्ड । मिहि—
मिहि । अणु अणिअ—अणु अणिअ अम्महि के अणिअ ।

१२९ जेहा—जहा ।

१३ एक—एक, एक—एक ।

१३१ १३२ कठकोलाकइता लखशोराहरयेम माअनेते ।

१३३ लछी—छा । पूरकहु—छठकहु । इअ—इहु ।

१३४ बरिइ—बरिइ । इम—इम । राअसेअ—राअसेअ ।

१३५ मुलिअ—मुलिअ । मुलिअ—मुलिअ । राअरिल—राअरिल ।
मयोमपठर—मयोमठर । किम—के । इम—इम ।

१३४ पडमावती—पडमावती । पओहर—पओहर । मओहर—मओहर ।
गने—गुने । १३४—१३५ ।

१३५ परिअ—परिअ । मंगु—मंगु । पिड—टिडा । मम—मम ।
बोअ—बोअ । १३५—१३६ ।

१३६ अमक—अमक । अइ पणिअइ दोहा—अइ पणि अहु दोहा ।

२०६. धणेषा—धणेष । वस हि^०—जासु देआवा । देव—देउ । हो तसु
भग—होत सुभग । २०९—१९८ ।

चर्णवृत्त प्रकरण

१. दीहा वीहा—गौहा वीहा ।

३. सुम्भ—सूह ।

८. रखो—रखो ।

१० सुम्भ—सुम्भ ।

११. कण्णो—कण्णा । तिव्वण्णो—तीवण्णा ।

१२. तुम्हाण अम्हाण—अम्हाण तुम्हाण । रक्खे—रक्खो ।

१५. यो—गो । जणीओ—अणीओ ।

२०. सघारि—संहारि ।

२२. स क्त—सुक्त ।

२८. इण्णो—इण्णो । पुत्तो धुत्तो—पुत्ता धुत्ता । जुत्तो—जुत्ता ।

२९. वि—स ।

३०. सुम्भ—सुम्भ ।

३१. गगाणिआ—गगालिआ ।

३२ पसण—रसणि । फुरतआ—फुरततो ।

३३, हारा—हारो । सारा—सारो ।

३४. तल्लोक्का—तिल्लोआ । सोक्ख—सुक्ख । देऊ—देउ ।

३५. हारीअ छदो—हारीअ बधो ।

३६ भत्तिभत्ता—भत्तिजुत्ता । धम्मेकचित्ता—धम्मेकचित्ता ।

३७ पिंगल—पिंगले ।

३८. मइ—महु । चलावे—डोलावे ।

३९ गुण—भण । भण—गुण ।

४२. इमारो—सहारो । सहारो—इमारो ,

४३ तिल्ल—डिल्ल ।

४५ पचा—पच ।

४६ णिम्भआ—णिम्भआ ।

४८ न प्राप्यते ।

४९ भुअणअणदो—णअणअणदो । ^०कदो—^०वदो । कएहो—कहो ।

५१ पढीअ—पडित्त ।

१८२ मस—सस ।

१८५ रासपन—रासपन । वर—वसे । मासप—मासप ।

१८६ दिग्गय—दीर्घय ।

१८७ न प्राप्ते ।

१८८ विगुलिमा—विगुलिमा । मम्मह—वम्मह । किगीरह—कीसी
सह । पाउ—माठ ।

१८९ यदि शिम्भ—शिम्भ यदि । कल—यस ।

१९० दिग्गय—दीर्घय । मस—मस । महरव—महरव । पले—परे ।
जन्मन—जन्मन । हमीर—हमीर ।

१९१ विगुलेय—विगुलेय । पमाविमो—रसाविमो ।

१९२ उतर—उतर । अंग—अंग ।

१९४ अडवि—अडवि ।

१९५ मयमस—मयमस । सुलपर—सुलपर । चमसे—चमसे ।

१९७ न प्राप्ते ।

१९८ इप्यि हीया—इप्यि हीया । मालव—मालव । रासा—रासा ।

१९९ पुस्तु वि—वि । करि—करि । चरि—चरि । अंत नगय—
मस पमहि ।

२ मिम—मिम ।

२ १ इलम—उरल । कल—कल । रिगए—रिगए । चकल—चकल ।
पकिम—पकिम । मरह—मरह ।

२ २ मुनि—दिम । मय—मय । चरि—उवि । परिठह—परिठवि ।

२ ३ सगनाई—सगना ।

२ ४ कुरि—कुर कुर कुरि कुरकि ।

हमिर —हमीर व कले रस चलिमा ।

२ ५ मेरिह—मेरिह । सुदव—सुदव । विपतिम—विपतिम । विम—
वेम । हव —हव हव गव । सविमव—सविमव । चालीस—चालीस ।

२ ६ यव—यव । मयवहपरि—मयवहपरि ।

२ ७ विमि—विमि । करे—करे । हव चरे—होति मर । करे मर —
करे मर मुमय मर । मुम—मुम । यववह—यववह । पयवह—पय-
वह । मय —मयमीतिहव । २ ७—१९६ ।

६०. पिंगल—पिंगले । सह—सोइ । छुद—छुदु ।

६१. सपुडा—सपुला । णट्टु—णिट्टु । आविअ—आइहि ।

४२ ए गुरुजुत्ता—हारसजुत्ता । करीजे—करिज्जे । ठवीजे—ठविज्जे ।

कहीजे—करिज्जे ।

६३ पुणवता—पुणमंता ।

६४ चोदह—चउदह ।

६५ हक्क—हक्के ।

६६ पदमो—पअलो । चउथो—यअलो ।

६७. भोहा—भउहा । केसे—कइसे । ताका—ताको ।

६९. °सुधाअर—सुहाअर । विअअ°—विमल° । मअगल°—मअगअ° ।
दिट्ठअ—दिट्ठउ ।

१०० कहीजे—करीजे ।

१०१ पडव—पडठ । धरीजे—करीजे । धम्मक दिज्जे—धम्म करीजे ।
मिटावा—मेटाआ । १०१—१०० ।

१०२ जप—जपु । कइवर जाणइ—कइअणवा लहिहो ।

१०३ अरवसउ—अउसउ ।

१०४ छुद फणी पभणीजे—छुदु फणिदे भणीजे ।

१०५ धारिअ—ठाविअ । तुइ—महु ।

१०६ विसज्जे—विसज्जो । गणिज्जे—मुणिज्ज । मुणिज्जे—भणिज्ज ।

१०७ खज्जए—खज्जिए ।

१०८. परिणअ°—यअलिअ° ।

१११ टप्पु—टप्पे । जिणिण—जीणि । वदि—वध ।

११२ दिट्ठा—दिण्णा ।

११३. णीला—गाइ ।

११६ सुहव्वणविट्ठा—°सट्ठा ।

११९ उवजाइ—उअजाइ ।

१२०. बालो कुमारो—बाल कुमारः । विसं—विख । भवित्ती—भवित्री ।

१२२ छुणावेआ—छेणावेआ ।

१२३ गोरी—गारी । तुम्हा भत्ती—उम्मा भत्ता ।

१२६ पास—फास । भोहा—भउहा ।

१२८ लुठिआ—लूलिआ । मोड्डिआ—मुड्डिआ ।

१३०. मही—देही । रण—रणे ।

५९ बझो—बझा । *पझझो—पझझा । ५९-५९ ।

५४ मझी—मझि । ५४-५४ ।

५५ ठझो—ठझू । ५५-५५ ।

५६ गुझि—गुझ ।

५७ धरझि—धरझी ।

५८ पिझा—पिजा ।

५९ म्झप—झपिप ।

६ म झहइ अंठह—भगव करंठह ।

६१ पुणबंठठ—पुण्मंठठ ।

६२ मुण्डु—मणिम ।

६३ विरठ—विमठ । मइ खे इ—मइ खेइ । मणु—मणि ।

६४ तुम्हा—तुम्हा ।

६५ गाझाराझा—विजझाराझा ।

६७ ठममत्ता—ठममत्ता । थिम्मंठी—थिम्मंठी ।

६८ पमाथिझा झठकमरा—पमाथि म्झठ झकस्तय । धराम—धराम ।

६९ पसपण—पसपिण ।

७० सोठ तुम्ह—सोइ देठ ।

७१ *झीनो—झीनो । *झीनो—झीनो । ७१-७१ ।

७२ मरिंझो—मरिंझो । इम—इम ।

७३ छ मझइ—विजझइ ।

७४ थिंझं—थिंझं ।

७५ गझा—गझो ।

७६ धरगिकका—उरगिकका ।

८० पाइत्ता पथिमथिअं—पाइत्ताकमठ थिंझं ।

८१ अस्तममता—अस्तममता । कहु—कहि ।

८४ थिरहि—थिरथि ।

८५ मिर रहइ—रहइ मिर ।

८६ थारिं—थारिं । इम—इम । मणु—मान । छंइ—छंइ ।

८७ काव—काव । गाव—गाव । पम्पइ—पम्प । पाव—पाव ।

पाव—पाव । म्पव—म्पव । ८७-८७ ।

८८ कझामाझा—कझामाझि । मपीप—मपीप ।

८९ पंझुला—पंझुला । मीवा—मीवा ।

जहा, पर जोएहा उण्हा गरलसरिषो चदणरसो,
णदक्खारो हारो मलअपवणा देहदवणा ।
मिलाणी वार्णली जलदिव जलदा तणुलदा,
वइठ्ठा ज दिठ्ठा कमलवअणा दीहणअणा ॥१७८॥

सिहरिणी

दिअपिअ गुरु गवक्खणा लअारा ठवीआ तहा,
पुणवि चमर दुण सदा सुसज्जा करीआ तहा ।
तह वि अ णिअ दुण वका वि सखावि हारा दिए,
कमलवअणि मोत्तिहारा फणिअ भणिआ पिए ॥

जहा, अमिअवभिअ चदविममुही पेक्खत्तिस्सा जहा,
विमलकम फुल्ल ओल्ला अणेत्ता फुरता तहा ।
दसण विततिसुद्ध कुन्दा कणीआ धरीआ जहा,
अहरविमलअु फुल्ले सरिस्सा करीआ तहा ॥१८०॥

मोत्तिहार

१८०. लाए—जाए । १८०—१८१ ।

१८१ उच्चा—उठ्ठा । हारा—हावा । १८१—१८२ ।

१८२. ज वण्णा—तरडा ।

१८३. णच्चत—गाच्चत । फारफेक्कार^०—फेरफक्कार^० । जुभंता—

जुलता ।

१८४. धारि—वालि । णाअर—गूरिस ।

१८६ चोआलीसह मुणो—एआलीसह णाम पिंगल कई सद्दूल सो
सट्ठो । १८६—१८७ ।

१८९. अत रुहिअ सद्दूलविककीडिअ—अतकरणे सद्दूल सट्ठा मुणो ।

१९०. ठइवि—ठइ ।

१९१ वणु घरइ—वरइ धणु ।

१९३ जणजिअणहरा—जणजिउणहरा । हम—हमे ।

१९५ बुद्धा—वृद्धा । रुसइ—रोसइ । थप्पीआ—थक्कीआ ।

१९७ जह—जहि ।

२०० मुद्धा—सुद्धा ।

२०२ इअ—एम । फुक्कइ—फुक्कु ।

२०३ चप—चद ।

१३४ लेखि—लेख । लयो लग—लयो लयो ।

१३५ लंघ—लंघ । विरीझ—विबरीझ ।

१३६ सावर—सामर । एक्कठ—एक्कल । अम्मह—अम्म ।

१३७ गलगल—पललगर । वितरउ—वितरहि ।

१४ ममह—गवहि ।

१४४ गव—गवि । आहहि—आह ।

१४५ पए पअ—पआपअ ।

१४६ अय—अह । उअआर—उअआर ।

१४७ बिट्ठति—बट्ठति ।

१४८ लङ्गी—रङ्गी ।

१४९ देव—देव ।

१५० बड्ठे—उड्ठ । उड्ठिआ—उड्ठिआ ।

१५१ लीमि—तिमि ।

१५२ दिव्व—दीव ।

१५३ मड—मल । उदिठ पुण्णु—पुण्णु उडि । बीर सर—बीर सर ।

१५४ कुल्ल—कुल्ल ।

१५५ सविसउअअना—सरिअअअअना । गड्ठ—तिड्ठ ।

१५६ अक्क—वे वि । हार—हार ।

१५७ रअअअ—अअअअ । पअअअ—अअअ ।

१५८ नीलसल्ल—नीलसल्ल । मुणो—अणी ।

१५९ कुरव—पण्णल ।

१६० दिविअ—दिव्वआ । तो—हो । दिविअ—एअन ।

१६१ डुअड्ठ लुअड्ठ—डुअड्ठ लुअड्ठ । आव—आठ । अहिअअ—अड्ठअन ।

१६२ विअड्ठे नात्तणो—विअड्ठो इअड्ठणो । इअड्ठणो—आत्ताणो ।

१६३ आरणा—आ मल्ला । पेरेता—पेरेता । पुण्णुआ—अड्ठो ।

१६४ योउर—मूतण । धूमधूमअअ—धूमधूमअअ ।

१६५ रअअ—अअ । १६६—१६७ ।

अत्र पपकपुप्यमधिकं प्राप्यते]

अद्या कणा कणा सुविअअअअ गंधवलाध

उणो हारो अरी उअअ अरणे अंत अमर ।

इहा सदा अला अअड्ठ अड्ठअ अणी

अनीराआ अवि अमलमुदि एता विहरिणी ॥१७७॥

परिशिष्ट

(प्राकृतपैंगलम् की संस्कृत टीकायें)

परिशिष्ट (१)

रविकर उपनाम श्रीपति कृत पिंगलसारविकाशिनी टीका

[मात्रावृत्त प्रकरण]

श्री गणेशाय नमः ॥ ॐ नमो महेश्वराय ॥

गौरीकल्पलताविभक्तवपुष श्रीकंठकल्पद्रुम

भक्तानामचिरादभीष्टफलद नत्वा सता प्रीतये ॥

वेदे वृत्तमदीपयद्ग्रथितवान् यो वृत्तरत्नावली

श्रीमत्पिंगलनागराजरचना व्याख्याति स श्रीपतिः ॥१॥

तर्काभियोगरणकर्कशता मतौ चेत्सूक्तिः कुतोऽत्र (१ य) मधुरा मधुरा न मत्रे ।

दृष्ट यतोऽस्ति सुकुमारशिरीषपुष्पे वृन्त निसर्गकटिन खलु चित्ततोऽपि ॥२॥

टीकाऽस्ति पिंगलग्रये यद्यप्यन्या पुरातनी ।

विशेष तदपि ज्ञात्वा धीराः पश्यत मत्कृतिं ॥३॥

इमा छन्दोविद्या सदयहृदयः प्राह गिरिशः

फणीन्द्राख्यातः स गरुडभिषा पिंगल इति ।

द्विजस्यास्य स्नेहादपठदथ शिष्योऽतिमुमतिः

स्वकाता सत्रोध्य स्फुटमकथयत्सोखिलमिदं ॥४॥

१ इहाथात. सुमतिस्ता विद्यामधीत्य छन्दोग्रथ साधारणजनोपयोगार्थम-
पभ्रशेन चिकीर्षुस्तस्य विघ्नविघातद्वारा समाप्तिकाम स्वगुरोः पिंगलाचार्य-
स्योत्कीर्तिनरूप शिष्टाचारपरिप्राप्तं मंगलमादौ कुर्वन्नाह ।

जो विविद् इति—

प्राकृता नाम देवी वाक्तद्भुव प्राकृत विदुः । अपभ्रष्टा च या तस्मात्सा
त्वपभ्र शसंजका ॥ तिष्ठते च सुप्रते च समाप्ते तद्वितेपि च । प्राकृतादल्पभेदैव
अपभ्रष्टा प्रकीर्तिता ॥ देशभाषा तथा केचिदपभ्रश विदुर्बुधाः ॥ तथा, सस्मृते
प्राकृतेवापि रूपसूत्रानुरोधतः । अपभ्रश स विज्ञेयो भाषा या यत्र लौकिकी ॥

यो विविधमात्रासागरपार प्राप्नोति विमलमतिरेल । प्रथम भाषातरटो नाग
स पिंगलो जयति ॥ अस्यायमर्थः । स नागः पिंगलो जयति उत्कर्षेण वर्त्तता

(बर्द्धता) । एतेन तदधीनसमृद्धे रात्मना समृद्धिमाशंसमानेन नारायणीना गुरु
इति दोषे न स्यात् । स च यो विमलमतिर्देहं यथा स्यादेवं विविधमात्रातम
पारं प्राप्नोति । अपि संभावनायां अथवागरे इति प्रांथः । विविधमात्रा गुरुत्वं
क्या चेन्न वागरे बुद्धिरेवमात् । मात्रासंज्ञेनात्र कर्णस्यापि ग्रहणं तस्य मात्रार्थ
तत्वात् । तस्य हि, एकमात्रो भवैतन्मलो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते । त्रिमात्रस्तु प्लुतो
शेषो व्यक्त्वं चार्थमाश्रितं ॥ निर्मलबुद्ध्या अनायासेन गुरुत्वाप्युक्तमात्रावर्गसमुत्पत्त्य
पारं सीरं च (१) शेषकत्वं गत । इह ग्रंथे आद्यौ मात्रासंज्ञेनान्मात्राया एव
प्राधान्यादत्रोपस्थात इत्यन्ये । प्रथममाद्यौ मात्रातरङ्गः मात्रा लौकिकप्रप्रयोग
मात्रा एव तरङ्ग नौबरेव च । तथा मात्राकल्पिते विंगत एव आद्यकविदिति
प्रसिद्धमेव । मात्रामापाशब्दयोः हस्तत्वं । पादप्रतिनी तरङ्ग नौरिति हापयती ।
तथा च प्रसिद्धिः । बुधसंयोगकस्य पुरस्तात् प्रयोगवचनेन प्रत्यक्षप्रतिबन्धनात्
एकदेकत्र लिलितं द्वितीयस्थाने दृश्यते तदेव गुरुत्वात् विंगतो मोक्षस्य इति
स्ववत्साप्य (वा) भवितुमशक्यस्तारं कृत्वा समुद्रे निर्मम्य पारं गत्वा आत्मानं
रक्षितवान् । ततो ह्येत्येवमन्तरमपि । विंगतो अपरिति । यो विमलमतिर्देहं यथा स्वा
देवं विविधमात्रावागरेमपि प्राप्ता नानाविधमात्रैव वागरे इत्युमानपूर्वपदा कर्मचार्य
एव उपमानानि सामान्यवचनैरिति समासः । अथवाविबुधमशक्यतया मात्रावाग-
रयोः साम्यं । कर्मवृत्ता वागो जात अर्थवृत्तहेन । अपिशब्दात् ब्राह्मण्यजन
(व्याज) वैपरी मित्रुक्त शेषनागत्वेन ज्ञाता । जी च इति शब्दं यथा राक्षी
राक्षी । तर्हि वागरेपारं कर्म प्राप्त इत्याह । प्रकर्म माप्यतरङ्ग आद्यौ प्रयोगवचनमेव
तरङ्ग नौबरेव च उच्यते ॥

१ ननु गुरुत्वाप्युक्तमात्रावागरे चो गुरुः को कस्युत्पत्त्याह दीर्घ इति दीर्घः
संयुक्तपरो विबुधस्तु पाठित्वभरयति स गुरुर्भवे द्विमात्रो अन्वो सगुर्भवति गुरु
एककता । अथमर्था । स गुरुर्भवति त्रिमात्रकः द्विमात्रो मात्राद्वयवृत्ताः श्रीद्वयो
लौकनीया बन्धोदात्ताश्च । बन्धविषु चेत्यनुस्मरः । स च दीर्घो इत्येतरः । तेन
प्लुतोपि गुरुः । आकाशदिक्प्रपत्ति संभवराशि गुरुशि । अपरः यथा विबुधो
कर्त्ते गुरुः । संयुक्तः परो यस्येति बहुव्रीहिः । यथा गुरुत्व इत्यत्र पञ्चमस्य गुरुत्वं ।
विबुधो विबुधा वा पुन इति समासादनुस्मरकितर्दशेग्रहणं । वितर्गतस्यापञ्चरो
अंभवाद्यदिगिष्य नोक्त । संयुक्ते तत्राप्युपकृष्यति । पाठित्व भरयति, च शब्दो
विश्वकर्मा । तेन पादति वैदित्यशेषं विधिः । उक्तादन्वो कर्म एकमात्राकृतो वा
पञ्चमात्रो वा समुभवति । स चैककस्यमद्यः । कर्म सिध्यत्यमित्याह । गुरुः
तरङ्गे दंडाभर इति यत्नः ॥

२ उदाहरणेन स्पष्टीकरोति मार्ग इति उपनोदकात् । हे मात्राः तं संयुक्तं

कामयमाना सा गौरी गर्हित्व (? ग्रहित्व) करोति । वरगुणरहित पतिमिच्छ-
तीत्यर्थः । त क यो देवमात्राख्यप्रसिद्धो रूपेण सोदयेण हेयो विरूपाक्षत्वात् ।
हीनोऽकुलिनो अलक्ष्मजन्मत्वात् । जीर्णो जरातुरो रोगादिना कठस्थितविपत्वादेति
शेषः । महावृद्ध इत्यर्थः । कदाचिद् ब्रह्मणोप्याद्यत्वात् ॥

४. गुरोरपवादमाह कथंवि इति । कुत्रापि सयुक्तपरो वर्णो लघुर्भवति
दर्शनेन लक्ष्यानुरोधेन । यथा उदाहरति परिस्खलति चित्तधैर्ये । तरुणीकटाक्षे
निवृत्त सगत । उद्वत्वादित्युत्त्व । परिल्लसद् इत्यत्र सयुक्तपरतया गुरुत्वे गाथालक्ष-
णविरोधापत्तेः ॥

५. गुरुताविकल्पमाह इहिश्रारा इति । इकारहिकारौ बिंदुयुक्तौ, एओ
शुद्धौ वर्णमिलितावपि लघू । रहव्यजनसयोगे परतः । अशेषमपि सविभाप ।
एतदशेष सविभाप सविकल्प लघु भवति यथासन्निवेशं लघु गुरु च भवती-
त्यर्थः । एतत् कतमत् इकारहिकारौ सानुस्वारौ ए ओ इत्येतौ अचौ शुद्धौ केवलौ
चकारादौ मिलितावपि च लघू भवतः । रह इत्येताभ्या इत्भ्या यः संयोगस्तस्मिन्
परतः पूर्वमक्षर च अथवा परत्र पदाते अशेषमपि सविकल्प गुरुत्वमापद्यते ।
सिंहिणी छदः ।

६. उदाहरति यथा माणिणि इति । सखी वदति । मानिनि, मानैः किं
फल, एष यदि चरणे पतित कातः । एओ जे इति वारेंद्री भाषा । एष यदीत्यर्थः ।
अत्रार्थोत्तरन्यासः । सहजेन भुजगमो यदि नमति तदा मणिमत्रौ किं कुरुतः ।
तावन्मानः प्रकर्तव्यो यावत्पादानतो भवेदिति भरते मानकालः प्रियप्रणिपातपर्यंतः
कथितः ।

७ रहव्यजनसयोगे यथा उदाहरति, चेउ इति । हे चेतः, सहजेन त्व
चचलसुन्दरि(? री) हृदये बलत् सत् । खुल्लणा इति देशीयभाषा अज्ञे वर्तते ।
हे अज्ञ पदमपि न ददासि क्रीडसि पुनस्तलसत् । वैकल्मिकी विभाषा ।

८ अपर विशेषमाह, जह इति । यदि दीर्घोपि च वर्णो लघुनिहया
पठितो भवति सोपि लघुः । वर्णोपि त्वरितपठितो यदि तदा द्वौ श्रीनपि वर्णानेकं
जानीत । गाथा छदः ।

९. उदाहरति अरेरे इति । हे कृष्ण, क्षुद्रा नाव वाहय संचाल्य दुःख न देहि ।
त्व अस्या नद्या सतार्य यत्प्रार्थयसि तद्ग्रहण । नाविकुक्षुद्धया रे इति संबोधनं
युक्त । प्रथमप्रतीके लघुनिहया एतत् लघुत्व । द्वितीयप्रतीके ङगमगेत्य-
नुकरणशब्दार्थोयमकारगकारमकाराणा त्वरितपठितानामेकवर्णता ।

१० किमनेन परिश्रमेणेत्यत आह । जेम न इति । यथा न सहते कनक-
कुला तिलतुलनामर्द्धाङ्गेन इत्य न सहते श्रवणतुला अपच्छद् छदोभगेन । यथा

अनन्तरा स्वभावादेशोमपदिशि समेवावतिष्ठते एकत्र तिलमात्रगुह्यस्यापि विस्मा
मभवति । इत्थं समेनैव प्रकरेण सम्मानां भवन्त्यानां सुदोर्मणेन चातमप्यर्थो न
सहते । अनन्तरातिप्रविद्धा । सुदोर्मिशुद्धकथितं कृत्वा चञ्चनमनोरंजनतामा
स्यादिति पूजादिना मुक्तीभवति । सुदोऽध्ययनप्रवृत्तौपाविक्रमेत् ।

११ सुदोऽध्ययनं विना न ह्यतिरिति न केवलं सुदोर्मणेन भवन्तुभ्यमानिह
फलं मन्त्रोत्प्रेक्षेति कथितं, अत्रापि इति । अत्रापि सुमानां मध्ये कथं न पठति
तद्यप्यनिर्दिष्टं भुवाप्रशान्तकृतेन शीर्षे चिह्नितं (न) ज्ञानाति । तद्व्यपिनीनोऽन-
र्थातृत्वात् । सुदोर्मिशुद्धकथितं कृत्वा चञ्चनमनोरंजनतामा
स्यादिति पूजादिना मुक्तीभवति । सुदोऽध्ययनप्रवृत्तौपाविक्रमेत् ।

१२ मात्रायाः प्राधान्याद्यदौ मात्रागणनवस्थां करोति, दृष्टव्य इति । मध्ये
अक्षराणां क्वाक्षराणि गणमेश भवति । ते ते दृष्टव्याः । ए एव क्वाक्षरं
क्षपणव्यसंज्ञक भवति । कुत्र संकेतिताः पदपञ्चमिहिक्रमास्तु । तथा च
पदकृताः द्वावा ए एव क्षमायाः, पञ्चकृताः द्वावा ए एव पगवाः क्वाक्षर-
जगवा ए एव क्वावाः त्रिकृताः द्वावा ए एव तगवाः, द्विकृताः शगवा ए
एव दगवाः । गावा क्षमाः ।

१३ तेषां गणनां त्रिकृता मेवा भवतीत्याह द्वावा इति । द्वावा पदकृता
तमकृतादौमेवो भवति । त्रिकृता मेवा भवतीति बहुव्रीहिः । द्वावास्तु पञ्चकृतात्मक
स्यादौ मेवा भवति । त्रिकृतास्तु क्वाक्षरात्मकस्य पञ्च मेवा भवति । द्वावे त्रिक-
लात्मके क्वा मेवाः स्तुः । शगवास्तु द्विकृतात्मकस्य द्वौ मेवो भवतः । एतेषां
मेवाः प्रसारसंख्यादृष्टाः । गावा क्षमाः ।

१४ प्रसार एव कथं द्यतव्य इत्यनेनावमेव्या गावा मात्रागणनवस्था
भ्येन प्रसारं प्रसीति । पदम इति । प्रथमगुणेरवात्वातेषु परिरक्षायम आरभ
हुह्या । सहासी सहसी पंक्तिः उद्घृतं शुद्धं लघुं देहि । अत्रापि सर्वलघुपदैर्
प्रस्तारे भवति आद्यलघुह्या अमूर्तं कृत्वा नम वा प्रथमो शुद्धस्यावस्थास्तु
स्थापयित्वा यद्येपरि तत्तारोपं वारं वारं शिखेत् । उद्घृतं पूर्वस्थाने तावद्वारो शुद्ध
प्रसारसंख्यां पूरयेत् मात्राप्रस्तारे पदमा क्वाया अपूर्णे लघुं क्वावाप्येन अपूर्णे
शुद्धं देहि । वाक्ता वाक्ताः क्वावाः प्रस्तारवधित्वाप्येन क्वाया सर्वत्र पूरयेत् ।
पूर्वपूर्वस्थाने शुद्धं गुरोः शिख्याः । एका क्वा चोद्घृतं गुरोः पूरयाने लघु-
लोकाः । कर्गप्रसारः प्रसारोदरेष्वपि संभवति । तथाहि, एकगुरोरपस्थाने एका लघुं
पदादिति । एवं कर्गप्रसारः तत एकाकवर्षद्वयो एतेषु प्रस्तारमपोषाः क्रमेण
दिगुनीटस्य पूरादिति तत्र गुरुमप्यद्वयं तत्र लघुं द्यादित्येवं प्रसारद्वयः ।

१५. अथ पट्कलप्रस्तारे गणाना नामानि, हर, इति । हरः १ शशी २ शरः ३ शक्रः ४ शेषः ५ अहिः ६ कमल ७ ब्रह्मा ८ किण्वध ९ ध्रुव १० धर्मः ११ शाली १२ चरः १३ एते त्रयोदश इष्टदेवता षण्मात्रे प्रस्तारे जाताना त्रयोदशगणाना जातव्याः । एतदीयत्वेन एतान्येव नामानि तेषां गणाना वेद-
ज्यानि । प्रयोजनमग्रत एव हि । ते ते शब्दाः प्रत्येक ज्ञेयाः ।

१६. पचकलप्रस्तारे गणाना नामानि, इद्रासण इति । इद्रासनः १ अपरशूरः २ चापः ३ हीरश्च ४ शेखरः ५ कुसुमः ६ अहिगणः ७ पापगणः ८ ध्रुव निश्चित पचकले गणे कथिताः, अर्थाद्देवताः ।

१७. चतुःकलाना गणाना नामानि, गुरुजुग्र इति । गुरुयुगः कर्णः १ गुर्वेत करतल २ गुरुमध्यः पयोधरः ३ आदिगुरुर्वसुश्चरणः ४ विप्रः सर्वल्लघुभिः ५ ।

१८ अथ त्रिकलाना त्रयाणानामेकैकया गाथया नामानि, धञ्ज इति । लघु-
कालत्वेन आदौ लघु विन्यस्य त्रिकलप्रस्तारे प्रथममेतानि नामानि हे पंडिताः
जानीत यूयमित्यर्थः । नामान्यस्य ध्वज चिह्न चिरचिरालयः तोमर तुन्दुरपत्रं चूत-
माला रस वासः पवनः वलय लघुकालत्वेनेति विषमकलप्रस्तारे प्रथमतो
लघुल्लेखनीय इत्यभिप्रायः पिंगलः स्फुटीचकार ।

१९. मध्यगणस्य नामानि, सुर इति । सुरपतिः पटहः ताल करतालः आनंदः
छद्मः निर्वाण ससमुद्रः । कथं समुद्रेण सह वर्तत इति ससमुद्रः ।

२०. अथातगणस्य नामानि, भावा इति । अस्य त्रिलघुगणस्य इति नाम कवि-
वरः पिंगलो भणति भावः १ रस २ ताडव ३ नारी ४ कुलभावि (मि)
नी ५ एतन्नामपचक त्रिलघुगणस्येत्यर्थः ।

२१ द्विकलप्रस्तारे गुरुल्लघुयुगं च भवति तत्र गुरोर्नामानि णेडर इति । अनेन
गुरोर्नामानि भवति, नूपुर १ रसना २ आभरण ३ चामरं ४ फणी ५ मुग्धा ६
कनक ७ कुडलक ८ चक्र ९ मानस १० वलय ११ हारावलीति १२ ।

२२ लघुयुगरूपगणस्य नामानि, णिश्च इति । द्विलघोर्गणस्य समासकवि-
दृष्ट संक्षेपकविदृष्ट नाम, निजप्रियः १ परमप्रियः २ सुप्रियः ३ । समासकविः
पिंगलः अल्पाक्षरेण प्रचुरार्थप्रतिपादकत्वात् । अथ यद्यपि चतुर्मात्राप्रस्तारे प्रति-
गणमेकैकानि कथितानि नामानि तावता शास्त्रव्यवहारो न स्यादिति पुनः प्रति-
गणमेकैकया गाथया फणिराज प्रतिगणं भणति ।

२३ सुरअलग्र इति । तस्य चतुःकलप्रस्तारेण व्यक्तीकृत्य कथितस्येत्यर्थः । कर्ण-
समानेन यथापूर्वं कर्ण इति नाम तथा तत्समानेनैव नामसमूहेन लक्षितोऽयं गणः ।
सुरचलक गुरुयुगल रसिकमनोलग्न मनोहरणं सुमति लघित लहलहित ।

२४ गुर्वेत्यगणस्तैतानि नामानि, कर इति । करः १ पाणिग्रहणं २ हस्तः
३ बाहुः ४ मुखद्वारः ५ ग्रहणं ६ व्यथानिः ७ गन्धामरणं ८ रत्नं ९ नाना-
भूषणमरणानि ।

२३. मध्यगुरुगणस्थैतानि नामानि, भुवः इति । भूपतिः १ अक्षपतिः २
नरपतिः ३ गवपतिः ४ वसुधाधिपः ५ राजा ६ गोपालः ७ अयो नाविकः ८
अश्वर्त्ता ९ पथेवरः १० पवनः ११ नरैन्द्रः १२ ।

२६ गुणादिगमस्तेषां नामानि, पञ्च इति । पञ्चः १ पाञ्च २ चारुपुगल ३
अनरं प्रकृष्टावति गंडः ४ कलाम्बुः ५ पात ६ पित्तमहः ७ इहना ८ मृपुरा ९
रत्नं १ कंचपुरासेन ११ ।

२७ अथ चतुर्लोकगणस्यैवानि नामानि, कर्म इति । यस्मै ईदृशि विप्रः १ द्वितीये श्वरः २ पञ्चवर्तिशस्वरेण द्विवारः ३ चरमे चतुर्थे पादे भवति पशुकेन (१ न) लघुकेन (१ न) ।

२८. पञ्चकालानां प्रत्येकं नामानि, सुनरेद इति । सुनरेदः १ अहिः २ कुम्भः
३ गजवरदंती ४ अय मेघः ५ ऐरावतः ६ तारापतिः ७ गगनं ८ हंसा ९
सहस्रः ।

२६ मन्त्रस्तुतस्य पञ्चकमगणविशेषस्य नामानि पश्चिन्त इति । मन्त्रस्तुते
 गणे एतानि नामानि विवक्ष्यन्ति । एतानि कानि पक्षी १ विरलाः २ मृगैः ३
 शिष्य ४ वरुणः ५ पद्मा ६ अमृतं ७ ओहलं ८ सुवर्णः ९ पद्मगायनः १
 गच्छति ।

३ पुनः पञ्चकलागणमात्रस्य नामानि षड् इति । षड्विंशतिपरमैना-
नामिवापुत्रवाचकैः शब्दैः पञ्चकले गणो भवति । पञ्चकले संक्षेपेणैकं षट्
कले संक्षिपति । गणप्येति, गण १ रथ १ दुरंग ३ पदाति ५ भाग्या षट्त्वं
त्रिभुवनं गच्छन् ब्रह्मीति ।

११-१२ अथगुरोर्द्विकल्पस्तारे कथितान्यपि नामानि शुक्लपुनामकम्पन
यस्तान्ने स्मरत्यपि, तद्वत् इति । तद्वत्प्राणपुरकेभ्योऽपि भवति गुरुभेदाः । गुरोना-
मानि भवन्तीत्यपः । अस्तुतस्तु शेषनामस्य सहस्राननन्त्यात्पुनरुक्तिर्न दोषात् ।
तपोनामानि चर इति शब्दो मेरुः तडा काहलः अन्ये च ये आपुषामिषापिनः
प्राणाः कलकलदया रूपरत्नावत्यशारथ कुसुमवाजिनश्च ये शम्भास्तेनैवमुच्य-
यानीत् ।

११ अथ वर्यंगत्र, गीति इति । गी भगवन्निगुका नो नगन्त्रिकान् लघुगुरोरी
यथो लघुगुरो वगन्त्रे शुक्रगुरो भगन्त्रे वगन्त्रे मध्यगुराः । रगन्त्रे मध्यगुरा तगन्त्रे
मनस्त्रगुरा तगन्त्रेदि चरितलघुकेन मन्त्रीत्ययः ।

३४ अथ गणानां देवता आह, पृथ्वी १ जल २ शिखी ३ वातः
४ गगन. ५ सूर्य. ६ चन्द्रमा ७ नाग. ८ एता अष्टगणे इष्टदेवता यथासंख्य
मगणादितः पिंगलेन कथिताः ।

३५ अथ गणानां मित्रामित्रादिकं निरूपयति, मगणेति । मगणनगणौ मित्रे
भवतः । यगणभगणौ भृत्यौ भवतः । जगणतगणौ उदासीनौ भवतः । अत्र-
शिष्टौ सगणरगणौ अरी भवतः ।

३६ अथ गणानां फलानि, मगणेति । मगणः ऋद्धिं स्थिरस्कधत्व च ददाति ।
यगणः सुखसपदं ददाति । रगणो मरणं सपादयति । जगणः खरकिरणं सनाप
विसर्जयति । तगणः शून्यं फलं कथयति । सगणः स्वदेशादुदासयति । भगणः
अनेकमगलं स्थापयति । पिंगलकविर्भाषते, यावत्काव्यं गाथा द्विपदी च जानासि
तत्र यदि नगणं प्रथमं भवति तदा तस्य ऋद्धिः बुद्धिः सर्वं स्फुरति रणे दुस्तरं
तरति । तत्र यदि नायकस्य क्रियते तदा तत्कृतं मदभद्रफलं । देवतानां क्रियते चेत्तत्र
न गणविचारः ।

३७ अथ कवित्वादौ गणद्वयविचारे फलान्याह, मित्ते इति । कथमपि ग्रन्थादौ
मदो गणो भवति तदा तद्रक्षार्थं गणद्वयविचारः क्रियते । यदि मित्रगणान्मित्रगण
एव भवति तदा ऋद्धिं बुद्धिं च ददाति । यदि मित्रगणात् भृत्यगणो भवति तदा
स्थिरस्कधत्वं युद्धे निर्भयत्वं च ददाति । यदि मित्रगणादुदासीनगणो भवति तदा
कार्यवधो न भवति । यदि मित्रगणाच्छत्रुगणो भवति तदा गोत्रजा बाधवाश्च
पीडयते । यदि भृत्यगणान्मित्रगणो भवति तदा सर्वं कार्यं भवति भृत्यगणाद्भृत्य-
गणे च सर्वं वशमा भवन्ति । यदि भृत्यगणादुदासीनगणो भवति तदा धनं
नाशमाप्नोति । यदि भृत्यगणाद्वैरिगणो भवति तदा आक्रन्दो भवति नायको
विनश्यतीत्यर्थः ।

३८, यदि उदासीनगणान्मित्रगणो भवति तदा कार्यवधः कथयति । यदि
उदासीनगणात् भृत्यगणो भवति यदि उदासीनगणात् उदासीनगण एव भवति तदा
न मद्रं न भद्रं सामान्यमेव फलं भवति । यदि उदासीनगणात् शत्रुगणो भवति
तदा गोत्रजा अपि शत्रवो भवति । यदि शत्रुगणात् मित्रगणो भवति तदा गृहिणी
नश्यति । यदि पुनः शत्रुगणादुदासीनगणो भवति तदा धनं नश्यति । यदि शत्रु-
गणात् शत्रुगण एव भवति तदा नायको नाशमाप्नोति ।

३९ अथ मात्रावृत्तानां उद्दिष्टं निरूपयति, पुञ्च इति । तत्र पटुलप्रस्तारे
एको गुरु द्वौ लघू पुनरेको गुरुस्त्रिवेवमाकारो गणः कुत्रोत्तीति प्रश्ने कृते तदाकार
गणं लिखित्वा पूर्वयुगलसमानाको देयः पूर्वोक्तमेकीकृत्य तत्संख्याकोप्रे देयः
इत्यर्थः । तत्र च आदिकल्याय प्रथमोको देयः द्वितीयकल्याय पूर्वमेकैव कनस्ति पूर्व

देयः । मध्यशून्यकोष्ठेषु तदीयतदीयशिरस्थकोष्ठद्वयाकसमानाको देयः ।
एवमन्यत्रापि पूरणीयकोष्ठानामुपरि स्थिताः द्वयमेकीकृत्य पूरण विधेय । वर्णमेरो
चतुरन्तरप्रस्तारे प्रथम चतुर्गुरुगणोस्ति ततस्त्रिगुरवश्चत्वारो गणास्ततो द्विगुरवः षट्
गणास्तत एकगुरवश्चत्वारो गणास्तत सर्वलघुरेको गणोस्तीति स्फोरितमस्ति । एव
पञ्चान्तरादावपि ।

४५. अथ वर्णस्ताका, उद्दिष्टा सगि इति । तत्र चतुरन्तरे सर्वगुरवः कुत्र
स्थानेस्ति, त्रिगुरवः कुत्रास्ति, द्विगुरवः कुत्रास्ति, एकगुरवः कुत्रास्ति, सर्वलघुः
कुत्रास्तीति प्रश्ने पत्तिक्रमेणाका धारणीया उद्दिष्टा सरीति । तत्र षोडशाका-
पूरयितव्या । प्रथमपक्ष्यध स्थिता पूर्वोक्तेनापराकमेकीकृत्य भरण कुर्यात् ।
प्राप्तमक पूर्वोक्तस्य परभागे स्थापय । यदि प्रथमपक्ष्यपूर्वोक्तेन भरण न भवति तदा
द्वितीयपक्ष्यपूर्वोक्तेनापि पूरणीय । एव यावता षोडशाप्यका लभ्यते तावत्कर्तव्य ।
एवमन्यत्रापि बोद्धव्य । चतुरन्तरप्रस्तारे द्वितीयतृतीयपञ्चमनवमस्थानेषु गुरवो-
गणाः चतुर्थषष्ठसप्तमदशमैकादशत्रयोदशस्थानेषु द्विगुरवः । अष्टमद्वादशचतु-
र्दशपञ्चदशस्थानेषु एकगुरवः । प्रथमस्थाने चतुर्गुरुः, षोडशस्थाने चतुर्लघुः ।
एव पञ्चान्तरादावपि ज्ञेय ।

४६ अथ मात्रामेरुः, दुइ दुइ इति । पूर्ववत्प्रश्ने द्वे द्वे कोष्ठे समे लिखि-
तव्ये प्रथमे द्वय, द्वितीये त्रय, चतुर्थे त्रय, पञ्चमे चत्वारि अका । कोष्ठशब्देनात्र
कोष्ठपक्षिरूप लक्ष्यते । द्वे द्वे कोष्ठपक्षी समे लिखितव्ये इत्यर्थः । एककलाया
प्रस्तारे न भवतीति द्विकोष्ठैवादिपक्षिरपि एव कोष्ठपक्षिषु अघोध क्रमेण
लिखितासु सर्वत्र अत्यकोष्ठे प्रथमाको देयः । ततः उपात्यकोष्ठेषु एकाकादश-
अ क्रमेण द्वात्रिंशत्पर्यन्तमका देया । ततश्च सर्वेषां प्रथमकोष्ठे एक, ततो द्वय,
तत एक, तत त्रय, पुनरेक, ततश्चत्वारि, तत एक, तत पञ्च, तत एक, तत षट्
इति क्रमेण एकाक्रेण मिलिता अका देया । एवमाद्ये अत्ये उपात्ये कोष्ठके प्रपूर्णे
मध्यस्थितशून्यकोष्ठकेषु पूरणीयकोष्ठशिरोंकेन तच्छिरःकोष्ठस्थपरकोष्ठाकमेकी-
कृत्याका देया । एव सर्वत्र ज्ञेय ।

४८ अथ मात्रापताका, एकक लोपे इति । अमुकगणः कुत्रास्तीति प्रश्ने
पूर्वयुगलक्रमेणाके दत्ते शेषाकेऽग्रिमाके पूर्वोक्तमेकैकक्रमेण लोपयित्वा एकगुरव
जानीहि । एतावता एतदुक्त प्रथमाकशेषाके लोपयित्वा अवशिष्टशेषाकसदृश-
प्रस्तारस्थाने एकगुरव जानीहि तथा द्वितीयाकशेषाके लोपयित्वा अवशिष्टशेषाक-
सदृशप्रस्तारस्थाने एकगुरव जानीहि । एवमेकं गुरुमानीय अनन्तरमेकातरितमक-
द्वयमेकीकृत्य शेषाके लोपयित्वाऽवशिष्टशेषाकसदृशप्रस्तारस्थाने द्विगुरव जानीहि ।
एवमकत्रयमेकीकृत्य शेषाके लोपयित्वाऽवशिष्टशेषाकसदृशप्रस्तारस्थाने त्रिगुरव जानीहि ।

अनीदि । एवं चतुष्टयगुणादिकमानेत्सम् । यो पतिरि यो पररि
मेतावहु, अस्यावमथा । प्राप्यते स हारको भवति स च परास्न स ह गुरुमवति
एतावदेतत्तुक्तं भवति । हारकोऽः छन्निहितपुरारिक्तात्नेन तह गुरुमवति ।
अभ्येऽष्टा लयवो भवति । तेन खयते, प्रस्तारा एतद्गुरुद्विगुणद्वयेऽस्मिन् खाने
एवमाभराः संतीति व्याख्यातं ।

४६. अथ अमुकपद्विधं नति गुरुत्वं नति च लयत्वं संतीति प्रश्ने कृते
लघुस्यताय एषा प्रक्रिया पुष्पल्ल इति । पुष्पल्लदश कृता कृता छंदोऽक्षरसंख्यां
तत्र हृदेत् । अक्षरिधेरनैगुं च जानीत । गुरो जाते परिशिष्टान् लघून् जानीत ।

५. अथ छंदःसंख्या, अक्षराख्या इति । अक्षरिधरि (१ पद्विधरि) छ छ-
राद्यानि ततः छतदश छदस्यानि ततो द्विचत्वारिंशत्संख्यं ततस्त्रयोदश त्रयोदशसंख्यं
सुत्रोऽत्र पद्विधरिचत्वारिंशत्संख्यं ततस्त्रयोदशमेव ।

५१. अथ गायामप्रकरणं । तत्र गातृप्रवृत्तीनां उद्देशं रघुसंज्ञया करोति, होह
इति । अतुल्यं चाद्यमात्रो गातृ भवति १ गायता च छतपंचाशत्मात्रा २ तत्र
विगाद्य पद्यवृत्त्य क्रिस्ते छतपंचाशत्मात्रा भवतीत्यर्थः । द्वितीयाद्यं लक्षणं प्रथमाद्यं
प्रथमाद्यं लक्षणं द्वितीयाद्यं ३ उद्देशाच्च पद्यमात्रं ४ गाद्विधा (१ म्वा) द्विपद्यि
मात्रा दीयते ५ तत्रैव पद्यवर्ते सिद्धिनी द्विपद्यिमात्रैव भवति परंतु उच्छराद्यं
लक्षणं प्रथमाद्यं प्रथमाद्यं लक्षणं उच्छराद्यं भवतीत्यर्थः । प्रथमस्योच्छराद्यलक्ष-
णानि छतस्त्रयोदश संख्यं चतुश्च द्वि मात्रा भवति ।

५२. अथैषां विशेषलक्षणमप्याह, पुष्पल्ले इति । पूर्वाद्यं उच्छराद्यं च छाधिक-
विधति मात्रा भवति । अथ परब्रह्ममध्ये ब्रह्मे मध्ये मन्त्रेण भवति । शर मेव इति
लभ्ये नाम ।

५३. एषा चहो इति । चहोः चहं हारः तावत् कर्षं प्रकटयकेयते चहं चरत्स
चर भेदा श्रीर्षि र्शक्ति व्याप्मानं (न) निदर्शयति । तस्यां चतुर्विधां तु चहं
चापि भवति नीयते इत्यथा ।

५४. अथ गायता पद्यमिति । प्रथमं छतपंचाशत्मात्रा विधाय । द्वितीये
अक्षराद्यमात्रासु । त्रया प्रथमचरणे विधाय त्रया तृतीयचरणे विधाय । रोपे
चतुर्थे चरणे पंचाशत्मात्राभिर्विधुक्ता गायता ।

५५. अथ केनेति । मानिनीप्रकोषात् लक्ष्मीचर्चनं । येन विना न जीवते
छुनीमते स कृतापराधोपि । मातेपि मगरादे मग कप्य कस्य न कस्य
मोऽस्मिन् ।

५६. अथ संख्यां कर्षं च उद्देशनिष्पन्नमेवाह, सप्त गण इति । अत्र चतुःक्षता
छत गण भवति दीर्घता दीर्घ इति मात्राद्वयोपलक्षणं द्विचत्वारिंशत् इत्यथा । अथ

षष्ठो गणो जगणो भवति । नगणो लघुर्वा चतुर्लघुर्वा गणो भवतीत्यर्थः । एतेन सर्वलघुरपि गाथा भवतीति ज्ञापित । अत्र विपमस्थाने प्रथम-तृतीय पञ्चमस्थाने जगणो न भवति तदा गाथाया उत्तरार्द्धे षष्ठ गण लघुरूपमेव जानीत । षष्ठो गण- एकलघुरूपो भवतीत्यर्थः ।

५७. अथ गाथासंक्षेपमाह, सत्त्वाए इति । सर्वस्या गाथायां सप्तपञ्चाशन्मात्रा भवति पूर्वार्द्धे त्रिंशन्मात्राः उत्तरार्द्धे सप्तविंशतिर्मात्रा भवति इति ।

५८. अथ गाथासु सर्वगुरुर्गाथा कथ्यते, सत्तार्हसा इति । सर्वस्या गाथाया सप्तविंशतिर्गुरवो यस्या राजते सा गाथाना मध्ये लक्ष्मीरायाता त्रिंशदक्षरा ।

५९. अथ गुरुहासक्रमेण नामभेदानयनप्रकारमाह, तीसकखरेति । त्रिंशद- क्षरा लक्ष्मी. ता सर्वे वदति च विख्याता । एकैकगुरुहासेन एकैकवर्णवृद्ध्या एकैक- नाम भवति ।

६०-६१. ततस्तान्येव नामानि स्फोरयन्नाह, लच्छो इति । लक्ष्मी १, ऋद्धिः २, बुद्धिः ३, लज्जा, ४, विद्या ५, क्षमा ६, देही ७, गौरी ८, रात्रि ९ चूर्णा १०, छाया ११, काति ११, महामाया १३, कीर्ति १४, सिद्धा १५, मनोरमा १६, गाहिनी १७, विश्वा १८, वासिता १९, शोभा २०, हरिणी २१, चक्री २२, सारसी २३, कुररी २४, सिंही, २५, हसी २६ ।

६२ अथ पाठप्रकार दर्शयति, पदम इति । प्रथमपद हसपदवन्धर पठ्यते, द्वितीय सिंहविक्रमवत् द्रुत पठ्यते, तृतीय गजव्रलुलित सलील पठ्यते, चतुर्थ अहिलुलित यथा सर्पाणा शेषे चाचल्य तथाऽवसाने चचल पठ्यत इत्यर्थः ।

६३. अथ गणभेदेन अवस्थाभेदमाह, एक्के जे इति । एकेन नायकेन कुलीना भवति । नायको जगण. । द्विनायका सगृहिणी भवति । नायकहीना रडा भवति. बहुनायका वेश्या भवति ।

६४. अथ लघुभेदेन जातिमाह, तेरह इति । त्रयोदशमिलंषुभिर्विप्रा, एकविंशत्या क्षत्रिया भणिता, सप्तविंशत्या वैश्या, शेषा शूद्री भवति गाथा ।

६५ गणभेदेन दोषमाह, जा पदम इति । या प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तम स्थाने गुरुमध्या जगणयुक्ता भवति सा गुर्विणी गुणरहिता गाथा दोष प्रकाशयति । अथ च अन्यापि गुर्विणी नायिका गुणरहिता विशिष्टगुणरहिता अशक्यादि- दोष प्रकाशयति इति ध्वनिः ।

६६ अथ विगाथा, विगाहा इति । विगाथाप्रथमदले सप्तविंशति मात्रा पश्चिमदले त्रिंशन्मात्रा इति भणित पिंगलेन नागेन । प्रवर्तिता गाथैवेत्यर्थः, सट्टवनिकापि तादृश्येव ।

६७ यथा परिहरति । अचिन्मानिनी प्रबोधयती वर्षाः समागता इति कथयति मीययते च । हे मानिनि, मानं परिहरणीहि, नीपत्य कुतुमानि पर । तव हृते लखदयो निष्कण्डवयः कामो गुटिश्चपनु लटिकां पृच्छति अति निश्चित ।

६८. अयेव्राण, पुम्पडे इति । पूषादे उचरादे च त्रिशम्भाया भवति । हे मुम्पो संमन्त्रिता कथिता यव स एव उद्गातो हूतः पिंगलनाम्नेन दद्याः यदि माया वज्रैरे भूत इति ।

६९. यथा सोढव इति । अथिभिन्नानुगगातिरात्रं वेदिकौ कथयति । यत्न नाम भुत्वा अमु नवने वणदि व्याप्नोति, मय कथय वीर वेदिकेस्त्वस्य मुखं यथेष्टं प्रेषिष्ये । दर्शने सति नेत्रचोरनदम् वारि आकितस्फुटीत्वरः ।

७० अथ गाहिनीर्षिहिन्धौ, पुम्पडे इति । पूषादे त्रिशम्भायाः त्रिंशत् प्रभवति हे मुम्पो गुरु उचरादे आत्रिशम्भाया एषा गाहिनी । विपरीता हिनि मन्त्रिता सर्व निरिच्छत । सिद्धिन्माः पूषादे आत्रिशत् उचरादे त्रिशदिति मेदः ।

७१ यथा, ईकीये मुखसमये चरणपतिता पत्नी प्रबोधयन्नाह, मुच्यहि इति । हे मुचरि पादं मुच, अयं इतिवा मुमुक्ति लङ्, कल्पयित्वा लङ् इतिवा स्नेह्युत्तरीं प्रक्षयामि मुखं वन्दे तव ईकीय ।

७२ सिद्धिौ कथा । अथिद्विक्रमादित्यं स्तौति चरितम् इति । नयति कनकस्य वृष्टिं त्वयते मुम्पो दिवानिद्यं आग्रहः । निराहं साहसको निदति ईदं च त्वयै विदं च । ईदो कलं वयति अयं च मुख, त्वयै दिवैव त्वयैदं च दिवानिद्यं मिति निदायामाशयः ।

७३ अथ स्तंभकं, अठमत्त इति । अनुर्मन्त्रिता अग्रगणा भवति पूषादे उचरादे च तमस्याः । आत्रिशम्भायाः पूषादे एवमुचरादेमपि यव तत् स्तंभकं जानीहि । पिंगलः प्रभवति हे मुम्पो बहुसंभेदः ।

७४ यथा सेनुर्यवणाय, वं वं इति । यं यं अन्नपति विरिं एविरयवक परिपश्यन्तं इनुम्पन् । तं तं लीलाया मलो वामकरोत्थितं रचयति समुद्रे ।

७५. अथैतस्य सर्वगुरुतरण एवैवगुडहातेन नामभेदमाह नवरसीर्षिता भेद इति । शंभु १ मद्रः २ शैव ३ शरणा ४ शिवा ५ मद्रा ६ पारका ७ वारव ८ नीला ९ मन्तः १० तालक ११ शेलर १२ शर १३ गगना १४ शरमा १५ विमति १६ सीरनगर १७ नर १८ सिन्धा १९ स्नेहना २० मन्गल २१ मील २२ मुखसति २३ कुंभ २४ कलाय २५ शरी २६ जानीहि । शरमा २७ शेष अस्त्यने शयिभरं जानीहि इति अत्रानिद्यतिप्रकारं स्तंभकं भवति ।

७६. अथानयनप्रकारमाह, अष्ट इति । अष्टौ यत्र लघवो भवति स नष्ट इति जानीहि । सखीति सगोधन । तत एको गुरुस्तुट्यति लघुद्वय वर्द्धते तथा तथा नामानि जानीत ।

७७ यथा चद्रा इति । चद्रः कुदः काशः हागः हीरः त्रिलोचनः कैलाशः इत्यादयः यथावत् श्वेतास्तावत्सर्वे तत्र कीर्त्या जित ।

७८ अथ द्विपथा, तेरह इति । प्रथमपादे त्रयोदश मात्राः द्वितीयपादे एकादश मात्रा देहि । द्वितीयाद्धे प्रथमतस्त्रयोदश पुनरेकादशेति द्विपथालक्षण-मेतत् । अन्वर्था चेष सज्ञा । द्वौ पथानौ यस्या सा द्विपथा एतदग्रे व्यक्ती भविष्यति ।

७९ यथा सुरतरु इति । सुरतरुः सुरभिः स्पर्शमणि. एते वीरेश्वरस्य न तुल्याः । सुरतरुः कठिनाग, सुरभि पशुः, चिंतामणिः प्रस्तरः, तेनास्य साम्य न ।

८०. मेदमाह, भमर इति । भ्रमरः १ भामरः २ शरमः ३ श्वेनः ४ मङ्कः ५ मर्कटः ६ करमः ७ नरः ८ मरालः ९ मदगध १० पयोधर ११ चल- १२ वानरः १३ त्रिकलः १४ कच्छपः १५ मत्स्य १६ शार्दूलः १७ अहिवर १८ व्याघ्रः १९ विरालः २० श्वानः २१ उन्दुरः २२ सर्पः २३ एतत् प्रमाणेन एको गुरुस्तुट्यति द्वौ लघू वर्द्धते तथा तथा नामानि जानीत ।

८१. द्विपथाविशेषमाह, छत्रौष इति । षड्विंशत्क्षरो भ्रमरो भवति । तत्र द्वात्रिंशति गुणो भवति चत्वारो लघवः । तत एको गुरुस्तुट्यति द्वौ लघू भवतस्तस्य नामानि वर्द्धते ।

८२ यथा जा अद्वग इति । यस्यार्द्धांगे पार्वती शिरसि गगा वसति । यो लोकाना वल्लभः पादौ वदे तस्य ।

८३ अथ जातिमाह, बारह इति । द्वादशावधिलघुभिर्विप्रा ब्राह्मणी भवति । तथा द्वाविंशतिभिल्लघुभिः क्षत्रिया भणिता । द्वात्रिंशल्लघुभिर्वैश्यः । या इतरा सा शूद्री भवति ।

८४ गणमेदोषमाह, जिस्सा इति । यस्या प्रथमे तृतीये च चरणे जगणा दृश्यते पादपादेषु । चाढालगृहस्थिता सा द्विपथा दोष प्रकाशयति ।

८५ उट्टवनिकाप्रकारमाह, छक्कल्लु इति । आदौ षट्कलण. ततश्चतु- कलः । ततस्त्रिकलः । अनेन प्रकारेण विषमयो. प्रथमतृतीययोरित्यर्थः । सदा पादयोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तु षट्कलः । ततश्चतु. कलः । अत्रे एककलः ।

८६. अथ उक्कच्छा, दिअवर इति । द्विजवरगणयुगल धारय । द्वौ चतुर्लंघु- गणावित्यर्थः । पुनरपि त्रयो लघव प्रकटा । अनेन विधिना विहितानि त्री-

पदानि । शोमये सत् स्रुदाः बधा यशी यशौ । एतत् स्रुदाः स्रुतं स्रुतं हे मृग-
नमने । एतदस्य स्रुतात्मकं च भवति हे गङ्गामने ।

८० मया विमुह इत्यादि सुकटं । अथ स्रुति श्रुतिविशेषः ।

८१ मेदमह आश्रम्य इति । आश्रम्य सर्वसमुद्रम्यं उक्तमनामहं
इति लोहगिण्यादीनामप्ये सारं, लोहगिण्यादयस्तस्य मेदमहोपां सारं मुबमित्यर्थः ।
आनयन्मन्त्रमाह । गुरवो ब्रूते विगुणं लवणस्तु इति । तथा तथा नामानि
जानीहि । तथा च जलपानुत्पेन लवणमप्युक्तिः । अत्र नामानुत्पेन अत्राप्युक्तिः
निरुक्ते । तेन अग्रे नामानि भवति । प्रत्येकं जलपानुत्पेन विगुणस्तु इति ।
एतावता सर्वेषां लघूनां ह्यस्यपर्यन्तं बोद्धव्यमिति ।

८२ अयं नामानि लोहगिणी इति । लोहगिणी १ इतिनी १ रेखा १
ताला ४ कपो ५ गंभीरा ६ कला ७ कलाकला ८, उदकवाया अग्रे
नामानि ।

८३ तासां स्वस्वमाह लोहगिणी इति सर्वसमुद्रलोहगिणी । यत् यत्वाये
गुरवः सा इती । तत्र यथा यथा यत्वाये गुरवो ब्रूते तथा तथा नामान्यपि ब्रूते
अत्रापि स्रुतं स्रुतं उक्तं नामैव ।

८४ अयं रोला, पत्रम इति । अग्रे अत्रापि स्रुति मात्रा भवति, तत्र निरंतरं
न भवति किंतु अंतरांतरं गुरुबुद्धि भवति । पित्तोऽयमत्र रोफनामा, स रोला लोरो
ब्रूते । एतदस्य गुरवो भवति तेन रोलास्रुतो भवति । एतदस्यैकस्मिन् बुद्धि
गुरो अत्राप्युक्तं नाम रोफते ।

८५ यथा यथा इति । यथायथा बुद्धिः यथा, तदर्थं सर्वेषु लोहगिणी
लुप्तः कर्मस्य पुत्रोऽयमिति मेदमहस्य च विरा ब्रूते अत्रापि इतीकोर
अत्रापि गङ्गामनाम, अत्रापि इति अत्रापि स्रुतं स्रुतं स्रुतं स्रुतं ।

८६ अयं नामानि भगवतीस्रुतं अहं कुं (६) इति । कुंदा १ कृतवता १
मेव १ ताता ४ कलाकला ५ कोकितः ६ कला ७ कला ८ कला ९ कला १०
१ गन्धर्वः ११ स्रुताकला, रोफे मयति मागयतो ब्रूति यथायथा । इति
लोपनिहृत्यमाह स्रुताकला स्रुतनामा एतावता नाम्ना यदियमेव स्रुतिरुक्तं
न रोपायेत्यर्थः । अत्राप्यहं रोफ इति । यत् यत्वाये यथायथा यति । एतद
भिरुक्तं स्रुतिरुक्तं । एतावता एतावता गुरवो इति स्रुतं । एतावति मुरके
यत्वाये प्रत्येकं नामानि भवति प्रत्येकं स्रुतं स्रुतं ।

८७ अयं गङ्गाना, दह स्रुत इति । हे गङ्गानाः अयं यथायथा स्रुतं स्रुतं यथा
मया । तथा इति स्रुतं स्रुतं । यथायथा स्रुतं स्रुतं स्रुतं स्रुतं । एता

दृश च द्वितीय पदमलकुरुत, भणति पिंगलः । गधानानाम रूपकं भवति पङ्क्तिजनचित्तहर ।

६५. एतदेव लक्षणातरेण द्रढयति द्विपथा छदसा, दह सत्त इति । सप्तदशाक्षराणि प्रथमपदे सस्थापयत, द्वितीये अष्टादशाक्षराणि मात्राया तु यथा सुखमिति ।

६६ यथा कण्ठ इति । कर्णे चलति कूर्मश्चलति कीदृशः अशरणशून्यः । कूर्मे चलति मही चलति कीदृशी भुवनभयकरणा । मह्या चलत्या महीधराश्चलति । ततः सुरगणाश्चलति । हेतुमाह चक्रवर्तिचलने त्रिभुवन चक्रवच्चलतीत्यत्र कः सदेहः ।

६७. अथ चतुपदी, चउपइया इति । चतुःपदीछद. फणीद्रो भणति । यत्र चतुर्मात्रिकाः सप्तगणा भवति पादात् सगुह कृत्वा त्रिंशन्मात्राः धृत्वा एतावता षोडशपदैरशीत्यधिकचतुःशतानि ४८० मात्रा निरुक्ताः । तत्र विशेषमाह छदश्चतुष्टयेन लिख्यते एव न क्रियते । पदचतुष्टयेनैक छदः तादृशछदसश्च तुष्टयमित्यर्थः । दाढ्यमाह को जानाति एन भेद न कोपीत्यर्थः । कविः पिंगलो भाषते छदः प्रकाशयति । हे मृगनयने अमृतमेतत् ।

६८ यथा जसु सीसहि इत्यादि सुकर ।

६९ अथ घात (घत्ता), पिंगलकह इति । पिंगलकविना दृष्टं छद. उत्कृष्ट घात (घत्ता) इति नाम सख्यामाह द्विषष्टि मात्राः कृत्वा । चतुर्मात्रिका. गुणा. द्वौ पादौ भण त्रीन् त्रीन् लघून् अत्रे धृत्वा । एतावतैतदुक्त भवति लघुत्रया धिक चतुष्कलगणसप्तक भवति ।

१००. एतदेव द्रढयति, पदम इति । प्रथमदशसु विश्रामः । द्वितीये दशसु तृतीये त्रयोदशसु विरतिः । घातो (घत्ता) द्विषष्टिमात्रिको भवति ।

१०१ यथा रणदक्ख इति । रणे दक्षो हतः, कुसुमधनुः कामो जितः, अंधकस्य गधमभि न रक्षितवान्, य. स शंकरो रक्षतु । कीदृश, असुराणा भयकर, येन च गौरी नारी अर्द्धांगे धृता ।

१०२ अथ घातानद, सो घत्तह इति । स घातकुले सारः कीर्त्या अगरः इति नागराज. पिंगल* कथयति, यत्र एकादशसु मात्रासु विश्रामो भवति यस्य नद इति नाम भवति, पुनरपि सप्तसु मात्रासु विश्राम । तत्तत्त्रयोदशसु मात्रासु विश्रामो भवति ।

१०३ यथा जे वदिअ सिर गग इत्यादि सुकर ।

१०४ अथ षट्पदप्रकरण छप्पअ इति । हे छदोविदः षट्पद छदो जानीत अजरसयुक्त उत्तमाक्षरयुक्त एकादशसु कलासु विगति । तत. पुनस्त्रयोदशसु

११९ अयानकमप्रकारमाह, चतुष्कलित इति । काव्ये चतुर्गुणपरिगु
गुरवः । उपलब्धो पद्विगुणतिगुरवः ततो गुणस्तुत्यति साधुद्वयं ब्रह्मते तैव एकस्तति
प्रस्तारविस्तारो भवति । नाम्नामिति शेषः ।

१२ नामधेयानयनप्रकारमाह, भवे इति । तर्वा मिलित्वा यद्यन्तः कथा
भवति तावदीप्यन्त्यं तत्राप्येकं शब्दं त्वम् इति पञ्चकलस्य नाम ईदम् प्रमायेन
नामानि भवति । तथाहि अत्र द्विपञ्चाशदधिकमोक्षार्तं मात्रा भवति । तत्रार्थे
त्यक्ते पदम्प्रतिरवतिष्ठते तत्रापि पञ्चमु त्यक्तेषु एकस्ततिरवतिष्ठते ।

१२१ तत्रापि मुक्त्वा प्रकारमाह, अवयव इति । अवयवनाम्नि छन्दसि पदके
द्विपञ्चाशति ८२ अवयवनि भवति । तत्र समति ७ गुरवः द्वादश १२ सन्त्यः ।
रविशब्देन द्वादश रेखाशब्देन शब्दः एकैकं गुणद्वयं इत्यति द्वौ द्वौ शब्दभेदे
एवमन्यत्रापि ।

१२२-२३ तन्मेव नामान्माह, अवयव इति । अवयव १ विषय २ वक्तिः ।
कर्त्तृ ४ वीर ५ वेत्ता ७ ब्रह्मन्ताः ७ मर्त्यः ८ इति ९ इरा १ ब्रह्मा ११
ईश १२ चन्द्रः १३ सुशुभकरः १४ शालः १५ सिद्धः १६ शायुताः १७ कूर्मः
१८ क्रोडिकाः १९ काः २० कुम्भः २१ मदनः २२ मस्तकः २३ तारंग २४
शेषः २५ शाकना २६ पयोधरः २७ उता कुम्भः २८ कमल २९ वारता ३
अमरः ३१ शरमा ३२ वंगला ३३ एतान् संस्थाप्य कल्पते, शब्द ३४ सुद्वयः ३५
तारता ३६ उत्तरः ३७ इति पदपदानामानि परिगण्य कथयति । मेवः ३८ मकर
३९ मयः ४० सिद्धिः ४१ बुद्धिः ४२ कलता ४३ कमलाकृत ४४ वक्ता ४५
मलयः ४६ प्रका ४७ कण ४८ शक्ता ४९ हृत्ता ५० व्यक्ता ५१ मेवाकृत
५२ प्रीत्या ५३ गवता ५४ शरीर ५५ सूर्यः ५६ शम्भु ५७ मरः ५८ दुरागः
५९ मनोहरः ६० गमानः ६१ इन्द्र ६२ मया ६३ हीरा ६४ अमरः ६५ शेषः
६६ कुसुमाकृत ६७ ततो वीपा ६८ शक्ता ६९ कृता ७० शम्भु ७१ । पदव्युत्पत्त्या
नागराका परिगण्य कथयति पदपदस्य एकस्ततिर्नामानि । छन्दस्यः प्रत्ययः कल्पा
कथयति इति पदपदप्रकरणं समाप्तं ॥

१२४ अथ पञ्चमटिका चतु मय इति । अनुमतिप्रमाणं गन्तव्यं चतुर्गुणाने
कुर्वत । पञ्चमे पयोधरं वर्णं स्थापयित्वा एवं पञ्चगुण्येन चतुर्गुणं १४ मात्रा
भवति । कुम्भप्रमाणमाह । इदं भुक्ता ह्यनुपचरमाः प्रसिद्धतेऽमृतं क्षरीरत्वपैः ।
इति अनुमतिः पाठैः पञ्चमटिकाकुम्भो भवति । एतावतेऽनुक्तं पौड्यामात्राभिरे
(क) शब्दराजः, तथाविधवर्णचतुष्टयेन एकं कुम्भः, तथाविधकुम्भद्वयेन एका
पञ्चमटिका इति ।

१२५ यथा ने गीर्वाण इत्यादि सुफर ।

१२६. अथ अलिल्ला, सोलह इति । यस्य पादावली षोडशमात्रा,
अत्र द्वे यमके भेद कलयतः । कलीवलीकामधेनुः । इल्लडिल्लौ स्वार्थे इति इत्यत्र
प्रयोजकः । अप्रयोजकवाचकादौ प्रत्ययः । इहिजेराः पादपूरणे इति ह प्रत्ययः ।
प्रायो लोप इति प्रायोवचनादावपि ककारलोपः । अत्र पयोधरो जगणो न भवति ।
कीदृशः अलिल्लह अप्रयोजकः अप्रयोजकवाचकादलशब्दात् इल्लप्रत्ययो ह
प्रत्ययश्च । अस्मिन् छदसि जगणो प्रयोजक इत्यर्थः । अते सुपियगणो लघुद्वया-
स्नकगणो भवति एतच्छ्रदोऽलिल्लानाम भण ।

१२७ यथा, जहि आसार इत्यादि सुकर ।

१२८ अथ पादाकुलक, लहु गुरु इति । यत्र लघुगुर्वोर्नियमो नास्ति तदा
सर्वे गुरवो निरतरलघवो वा क्रियतामित्याशक्याह, पदे पदे उत्तमा रेखा अत-
रातरा लघवो वा भवति । कीदृश छदः, सुकविपिंगलस्य कठामरणरूपमल-
करण अत्यन्तानुरागा(त्) कर्णोद्वेगेण ग्रैवेयकत्वेन वृतमिति प्रसिद्धिः । सर्पाणां कंठे
चलयाकारा रेखा भवति इति । अनेन प्रकारेण षोडशमात्राक पादाकुलक
भवति ।

१२९ यथा, सेर एक्क इति सुकर ।

१३०. अथ रड्डा, पदम इति । प्रथम पचदशसु मात्रासु विरतिः, द्वितीय-
पदे द्वादशसु, तृतीयस्थाने पचदशसु, चतुर्थे एकादशसु, पचमे पदे पचदश-
मात्रासु । एवमष्टाधिकषष्टि मात्रा पदपंचके पूर्य । एतदग्रे दोहाछदो दातव्य ।
एतच्छ्रदो राजसेन इति प्रसिद्ध रड्डेति भण्यते ।

१३१. उट्टवनिकाप्रकारमाह षट्पदच्छ्रदसा, विसम इति । विषमे पदे त्रिकल
सस्थापय । ततश्चय पदातयश्चतुष्कलगणा । अत्रापि प्रथमे नरेंद्रो जगण
किं वा विप्र । अत्रविषमपदे अते लघुद्वय । समपादे पदातित्रयं चतुष्कलत्रय-
मित्यर्थः । एतस्याते सर्वलघुरेको गणः । चतुर्थचरणे एकलघुत्यक्ता एकादश कला
इति यावत् । यद्वा चतुर्थं चरणे एक लघुमाकृष्य गृहाण तेनैकादशकलाश्चतुर्थ-
चरण इति । एव पचपदोड्डवनिका कृत्वा वस्तु इति नाम पिंगलः कथयति ।
तदनंतर दोषहीन द्विपथाचरण सस्थाप्य राजसेन इति प्रसिद्ध रड्डा भण्यते ।

१३२. (१३४) मम इत्यादि सुकर ।

१३३ (१३५) एतन्नानामाह, करही इति । करभी १ नंदा २ मोहिनी ३
चाखसेनी ४ तथा भट्टा ५ राजसेन ६ तालक. ७ हे प्रिये तानि सप्त वस्तुनि
निष्पन्नानि निश्चलानि भवतीत्यर्थः ।

१३४.-१, ७ (१३६-१४३) प्रकारमाह, पदम इति । प्रथमतृतीयपचम-
पदेषु त्रयोदश मात्रा यत्र भवति, द्वितीयचतुर्थयोरेकादश मात्रा यस्या सा करभी

१ । प्रथमसूतीर्षणमपदेयु चतुर्दश मात्रा भवति, द्वितीयचतुर्षोरेकदश
 सा नन्दा १ । प्रथम सूतीर्षणमपदेयु ऊनविंशतिमात्रा, द्वितीयचतुर्षोरेकदश
 सा मोहिनी १ । विषमपदे पंचदश मात्रा, समे एकदश यस्यां सा चन्द्रोदरी ४ ।
 विषमपदे पंचदशमात्राः समे द्वादश यस्यां सा मन्ना ५ । विषमे पदे पंचदशमात्राः,
 समपादमध्ये द्वितीये द्वादश, चतुर्थे एकदश यस्मिन् चराचरेन १ । विषमे
 षोडशमात्रा, समे द्वादश एकदश वा सा तालकिनी ७ । इति मन्वरीमेष्टा ।
 रङ्गाप्रकर्ण समाप्तं ।

११५. (१४४) अथ पद्मावती, भण्ड इति । पद्मावती भक्त्या, यत्र स्थाने
 स्थाने चतुर्मात्रिक्य उच्यते गणाः । भुवं निभितं । ते के गण्य भवतीत्यत आह कस्य
 ऽऽ करत्ता ॥५ विमा ॥॥ चरणः ५॥ एते गणा पाते भवति । कीदृशा
 उक्त्याः । अत्र यदि पयोधरे काला पतति तदा विमिर्षं पद्मावती मनोहर ।
 किं च यत्र कालः पतति तदा नायकगुणं पीडयति । न केवलं नायकगुणं
 पीडयति किंतु पितरमपि संज्ञावयति । अविमुह्यत्यपि । अथमेव कर्तव्यम् आह ।
 अत्र कुरुति मयं काला आङ्गलाचरितं व्याचरति मंदफलं इदमस्मिन् । अथ च
 पद्मावती पद्मिनी नामिका भल । यस्या स्थाने स्थाने चतुर्मात्रा ब्रह्मब्रह्मिदृश
 कस्य उच्यते गण्य उदनायिक्यसु गण्यत इत्यर्थः । पद्मिनी च अतिचतुष्टया
 तुल्यत इति प्रतिज्ञा । भुवं निभितं । सा कस्य चतुर्मात्रिक्य । कर्म क्षत्रियाः ।
 करत्तो वैरक । विमो ब्राह्मणः । चरणः राज्ञः । एवंस्मेव चतुर्मात्रिक्यं यस्याः
 उक्त्या । यदि तस्याः पयोधरे कालः पतति तदा विमिर्षं मनोहर, अपितु न
 मनोहर । सा च तथा नायकगुणं पीडयति, पितरं संज्ञावयति यस्तस्यामभिप्रेत्य
 अविमुह्यत्यपि ।

११६ यथा मम भगिन्म वंगा इत्यादि सुखं ॥

अेत्य अोरनी उपर्युपरीत्यैः ॥

११७ अथ कुंडलिका, बाह्याकलस्य इति । अग्रे दोहाकलं पठित्वा तत्र
 कस्यस्य कस्यस्य निवृत्तं । एतेन दोहाकलं पश्यत्यनेनार्द्धं कस्यस्य कस्यस्यैवार्द्धं
 भवति, हे कुंडलिका पीडितकन कुंडलिकाकर्तुरो जानीहि । कीदृशं उक्तासेन संयुक्तं ।
 उक्तास्तमस्तुलाः । उक्तास्तमे संयुक्तं पठेदिति पाठिक्ये विरोधः । अरमप्याह
 तच्छ्रुति ममकं तस्यै । भिन्नश्रुतीनामेकनामभिषयो परस्परं । पदानां वा
 पुनर्वादो ममकं तस्मिन्नाद्यत । इति तस्यै । केन पदेनेति आह उक्तासेन संयुक्त इति ।
 उक्तास्तमस्तुलास्तुलास्तुला इति लोके प्रथितम् । अथमाद्यक, परावृत्त्य विहाय
 लोकिभ्यः निवृत्तार्तिना पदेन ममकं कुर्यादित्यर्थः । अथ च ममकमनु
 म्यमेवाह । स च कर्मावृत्तिरिति । अनुप्रासादप्रपञ्चावृत्तिरेव इत्यनेन तेनास्तंवार

अधिनयमकमेजेत्यने । अत्र च चतुश्चत्वारिंशदधिकशत मात्रा भवति । सुक्रीना
दृढवधुः पिंगलः कथयति । अथ गुणालकागे कथयति । यस्यास्तनौ शरीरे भूषण-
शोभा इति । भूषणमलंकारः शोभा फातिगुण इति शेषः । द्वित्रचनस्य बहुवचन-
नित्यं, तेन भूषणशोभे यस्यास्तनौ हास्यं कुर्वति ('त') । कियत्सख्याकगुणशोभ-
इत्याह । चतुश्चत्वारिंशन्मात्राः । प्राकृते पृथपातानियमः । तेन व्यञ्जितेनापि
मात्रागन्देनान्वयः । श्लेषप्रसादादिगुणा अलंकाराः । ता कुटलिका जानीत,
पठित्वा पुनरपि पठ । आद्यताभ्यां भिन्नं न पठ्यते । एकयमकं कृत्वा पठ्यत
इत्यर्थः ।

१३८ उक्तमेव द्रव्यति, पदमहि इति । प्रथमं दोहायाश्चत्वारि पदानि ततः
पञ्चचतुष्टयं काव्यस्य देहि, अनेन प्रकारेण कुण्डलिकाऽष्टपदा भवति, पदे पदे
यमकं कुरुत ।

१३९ यथा दोल्लेत्यादि सुकर ।

१४०. अथ गगनागः, पञ्च पञ्च इति । गगनागं स्थापय किं कृत्वा ज्ञात्वा ।
किं भूतं मात्राविभूषितम् । अत्र शरेण ५ अधिका विशतिर्मात्रा भवन्ति । किं
भूता लघुगुरुशेषिता मिलिता इत्यर्थः । उट्टवनिताप्रकारमाह, प्रथमं चतुर्मात्रिको
गणः । ततः परं यथा सुखं गणा प्रकाशिता । कला अक्षराणि भवतीत्याह विंशत्य-
क्षराणि पदे लभते । हे प्रिये इति पत्नीसंघोधनं । गुरुः प्रकाशितः ।

१४१ उक्तमेव द्रव्यति, पदमहि इति । प्रथमे च चतुष्कलो गणः । ततः
परं यथासुखं गणा भवन्ति । अत्र हारं गुरुं विसर्जय देहि । विंशत्यक्षराणि पञ्च-
विंशतिर्मात्रा भवति ।

१४२ यथा भजिअ इत्यादि सुकर ।

१४३. अथ द्विपदी, आह इति । छन्दोद्वयेन लक्षयति, आदिगं इदुगणः
षट्कलो गणो यत्र भवति । ततो धनुर्द्वयगणद्वयं चतुष्कलगणद्वयं देहि । ततः
पदादिद्वयमेव चतुष्कलगणद्वयमेव स्थापय । वि (विधः) विचित्रसुदरं यथा
स्थापेव ।

१४४ सरस्वत्या प्रसादं गृहीत्वा तत्र छन्दसि पृथिव्या कवित्वं कुरुत ।
हे कविजना, अत्र मधुकरचरणपट्कलं देहि । एव प्रकारेण हे बुधवना, द्विपदीं
भणत ।

१४५. एतदेव प्रकारातरेणाह, छक्कल इति । पट्कलं स्थापय चतुष्कलान्
पञ्च स्थापय, अन्ते एकं हारं गुरुं धृत्वा द्विपदीछन्दं कुरुत ।

१४६. यथा दाण्ड देउ इत्यादि सुकर ।

१४० अथ लंका, पुनः परि इति । पुनः निमित्तं नव विप्रगणान् पूजा हे
कममनयने । पुनश्चनमना सुखयति यत् सुन्द । यथा शशी राज्ञौ शोभते । पुन-
रपि विरतिः भवति हे गङ्गामने । यथा प्रथमपदे नव द्विजस्य तस्य
द्वितीयपदेपीत्यर्थः । कमनोः पदयोः पदयोः परमयो रगण इति कश्चिर्भवति । एत-
त्सुन्दरं स्मर । कीदृशं मनोहरं ।

१४८ एतदेव ब्रूयति, विदु दत्त इति । दत्तद्वयेपि नव विप्रगणाः स्मरति ।
इति बोद्धव्यं रगणं स्थापय । एवं सति लंकाहृदयि एतद्वत्परिश्रमता भवति
गमास्तु दत्त ।

१४९ यथा मरि कलह इति सुन्दरं ।

१५० अथ शिला, सविबभूवि इति । स्य शिला, स्य स्य यस्यां शयिबदने
हे गङ्गामने, पदे पदे यत् द्विजगणाः सर्वलस्यभ्युत्थनगत्याः पयोधरोऽस्तै । तत्
प्रथमता विविधस्तद्वत् प्रथमस्य द्विजगणेन अभिर्क्षं द्वितीयादौ कस्या । द्वितीयस्य
तत्तत्तुल्यविरागति कगण इत्यर्थः ।

१५१ तस्य ब्रूयति मत्त अडाइस इति । प्रथमस्ये अडाविरति मात्रा-
द्वितीयस्ये आत्रिरात् । पादसि लघुर्यस्याः सा शुद्धा शिला इति जानीहि ।

१५२ यथा कुशिम महु इत्यादि सुन्दरं ।

१५३ अथ माता पदम इति । प्रथमपदे हे शयिबदने, नव ६ द्विज
गणवत्तुल्यविरागतिगत्याः एतदा । पुनरपि तया रगणं स्थापय । इति कर्मो द्वि
शुक्लानो भवति । विगङ्गागो भवति माताह्वयः । रोपादमस्य हृदये
गायत्र्या ।

१५४ संक्षेप्ताह, पदम इति । प्रथमे भवति नव ९ विप्रगणाः । ततो रगणे
भवति । गायत्र्यमते दत्ता माताह्वयः कुश्व ।

१५५ यथा बरिष कल इत्यादि सुगमं ।

१५६ अथ कुलिभाता कुलिभाता इति । कुलिभाता लोरो भवति ।
यदि कर्तते इत्यर्थः । पदे पदे यति विशुद्धं कुलुमगमं स्थापय पंचवक्त्रे प्रदारे य
कुलुमगमः । तत्तत्तुल्य इत्यर्थः ।

१५७ तस्मैव ब्रूयति बोद्धव्यता इति । द्विपार्श्वयोपरि पदेय माया
स्थापय । अशाशमात्रात् उपरि विरतिद्वयं पालारिशम्भाया भवति; अश्वेचाय
माया इत्यर्थः । एतावत्त कुलिभाताह्वयः तत्तुल्यमित्यर्थः ।

१५८ तथा राभा शुद्ध इति सुगमं ।

१५९ अथ लोप्यं लोप्यं इति । सा लोप्या यस्यां लोहा विरपिद्य शिवा ।
पदे पदे वमर्द्धं यस्यां व्याख्याय मागयत्रः कल्पति । यमकमाद्युपपादाः ।

१६०. यथा सो माणिअ इत्यादि सुकर ।

१६१. अथ हाकली, सगणा इति । सगणभगणा यत्र भवन्ति, चतुर्दश मात्राः पदे पतति । विरतौ वक्रौ गुरु. सस्याप्य । एव हाकलिरूपकं कथित ।

१६२. उपमहरति, मत्त इति । पदे पदे चतुर्दश मात्रा पतति एकादशभिर्वर्णः उत्तरादौ मात्रास्तथैव अन्तराणि पुनर्दश ।

१६३ यथा उच्च इत्यादि सुगम ।

१६४ अथ मधुभार, जमु इति । यस्य शेषे एक. पयोधर पतति । द्वौ चतुर्मात्रिकौ गणौ भवत । एष मधुभार. ।

१६५. यथा जमु चट इत्यादि सुगम ।

१६६ अथ आभीर, रुद्ध इति । एकादश मात्रा दीयते । अन्ते पयोधरो जगणो दीयते । एतदाभीरच्छट पिंगलराजो जल्पति ।

१६७ यथा मुदरि इति सुगम ।

१६८ अथ टडकल, कुतअइ इति । कुतवर चतुर्दश हयवर गजराज एते चतुर्मात्रिका एव । तत पट्पटो भ्रमर पणमात्र इत्यर्थ । तत. पदाति-द्वय चतुर्मात्रिकद्वय द्वात्रिंशन्मात्रा पदे सुप्रसिद्धा भवति । एतच्छ्रुदो जानीत । बुधजनानां हृदये चित्तेऽनुरक्त न कदापि चेतसि त्यजतीत्यर्थ । कियत्यो मात्रा भवन्तीत्याह । विंशत्यधिकशत । कीदृशं पदाम्रकलासुपूर्णे अस्मिन् छंदसि द्वात्रिंशत्कलात्मक पद तस्याग्र चतुर्थभाग. अष्टौ तेन सपूर्णे । एतावताऽष्टाविंशत्यधिक-शत १२८ कला भवतीत्यर्थ । एतादृशरूपकं फणिना भुवने जगति भाषित किं नाम तदित्याह । टडकल इति निरुक्त गुरुसयुक्त । यच्छ्रुदः पिंगलिका मनसा जपन्ति ।

१६९ यथा राअह इत्यादि सुगम ।

१७० अथ दीपकं, सिर देह इति । शिरसि चतुर्मात्रिक देहि, अन्ते एक लघु कुरु । तयोर्लघुचतुर्मात्रिकयोर्मध्ये एक दत्त पञ्चकल देहि इति शेषः । तच्छ्रुदो दीपकं जानीत ।

१७१. यथा जमु हत्थ इत्यादि सुगम ।

१७२ अथ सिंहावलोक, गण विष्प इति । पदे पदे विप्रगणौ गृत्वा भणित सिंहावलोकं छन्दोवर । हे गुणिगणा, मनसा बुध्यध्व नागो भणति । यत्र जगणो न भगणो न कर्णगणो भवति ।

१७३ उपसहरति, विष्प इति । विप्रगणसगणौ द्वौ गणौ अत्र अन्ते हार गुरु विसृज । पश्चात् धृत्वा कवित्व कुरु । पदाते यदेवाक्षर तदेवाग्रिमपदादौ कुरु । प्रस्तारे षोडशमात्रा भवतीत्यर्थः ।

१७४ यथा ह्यु इत्यादि मुगमं ।

१७५ अय पञ्चगमा, अथ इति । अथ प्रथमं पञ्चाशो गणा परे परे दृश्यते । पञ्चमाक्षरचतुर्माशो वा गणो न कृपते । अति एषैकं लघुं च स्मृत्वा स्मृत्वा स्यात्पञ्च पञ्चाशिकृत्यप्रथमं कृत्वा अन्ते लघुं ततो गुर्बं स्थापयेत्यर्थः । हे मुग्धे मनोहरे, पञ्चगमपञ्चन्दो निश्चक्षणमुत्कृष्टं शोभते ।

१७६ उपसंहरति, पञ्च पञ्च इति । आद्यो परे परे गुह्यमेव विगता कथं इति । पञ्चकनिर्घातस्त्वृद्धं पञ्चगमं दृष्टं तत्र मात्राणामेकविंशतिभवनम् ।

१७७ यथा नञ्च इत्यादि मुगमं ।

१७८ अय सीताश्ली । नञ्च लुपति लघौ गुरौ निबभो नास्ति । अस्मिन् स्थाने गुह्यरिक्तादि निबभो नास्तीत्यर्थः । अक्षरेणपि न निबभो पठ्यति अक्षरपि भवन्ति इति निबभो नास्ति । अथ विपमे समेपि वा स्थाने कणः पठति । एवं यत्र लुपति कुत्रापि न निबभः । न गुरौ न लघौ नाक्षरे नापि च विपमे समे वा स्थाने कणपठते निबभः । यथा उदण्डप्रवर्गमेव विपमे समे कुत्रापि न निबभः, सोपि प्रवरति दिक्षु दिक्षु च अगाम्ये गम्येपि । अथो गणद्वयचतुष्पत्ताः पठन्ति निरन्तरमेकैकक्रमः । अन्ते प्रुर्बं निमित्तं कणः पठति । कथंमूला कंतो मनोहरो गताः । कथमयमनियतफलं कृत्वा इत्यर्थक्यम् । परिपठति प्रवरति विविचप्रक्षरेण शोभया हेलाय सीताश्लीलुपः । परेषु शान्तिरसमाप्तास्तु विरामकर् । अक्षमाश्रयः । लघो गुरौ अक्षरे गणाद्यो न निबभः । केनापि प्रक्षरेण शान्तिरमाप्ताः । शोभे सगमस्तास्तु यथा कर्तव्यम् ।

१८० यथा धर क्का इत्यादि मुगमं ।

१८१ अय हरिगीता, गण चारि इति । चत्वारो गणा पञ्चकक्षाः संस्वार्यतां द्वितीयस्थाने पञ्चकं कुरुत । पठति गुर्बं कुरुत चर्चनेन मुलादृष्टं तमाक्षरं । कक्षानां संख्यामात्रं दश स्थापयित्वा ततो दश कृत्वा ततो दशमानम् कुरु इत्यर्थः । पठन्तानां दशरात्राधिकशतं मात्राः १११ पञ्चदशमे भवन्ति । अत्राक्षस्य दक्षिणा गतिश्चास्ति तेनैकैकमवति । परे तु अक्षविंशतिर्मात्रा भवति । एवं हरिगीता क्षुद्रा प्रसिद्धा कृत्वा जानीत । विगमेन व्याख्यानमुक्तं ।

१८२ उक्तमेव ब्रूयति, बीए इति । द्वितीयस्थाने पञ्चकं संस्वार्य पञ्च कक्षान् चतुरो गणान् दश । दशरात्राधिकशतं मात्रा भवति । मानसं गुर्बं अति स्थापयत ।

१८३ यथा गम गमदि इत्यादि मुगमं ।

१८४ अय त्रिमंगी फर्म इति । प्रथमं दशानु विधामः । ततोऽनु विधामः । ततो पदसु विधामः । अति यत्र गुह्यं शोभते । तत्पञ्चदश त्रिमंगीकमे

स्थितेनान्वयः । महीतल यन्मोहयति । सिद्धेः कवित्वसिद्धेः सरोवर भवति ।
वरतरुण लुदसि इति शेषः । दोषमाह । यदि पयोधरो जगणः पतति तदा किमिदं
मनोहर अपितु न सुन्दर । जगणो न भवतीत्यर्थः । यदि जगणयुक्त भवति तदा
यस्य क्रियते तस्य क्वेवरपि कलेवर इति । एतादृश त्रिभगीलुदः सुखाय आनदाय
भवति । इति भणति भर्णीद्रो विमलमतिः ।

१८५ यथा सिर किञ्जिअ गग इत्यादि सुगम ।

१८६ अथ दुर्मिला, तीस इति । यत्र द्वात्रिंशन्मात्राः एतद्वच्यमाण-
लक्षणयुक्ताः । बुधजनरान् पिङ्गलो भाषते, हे नरा इति सन्बोधन । यदि विश्रा-
मस्त्रिषुस्थानेषु एतादृशवच्यमाणेषु भागेषु । अपरमप्याह पदे पदे कर्णगणो दृश्यते ।
यतिस्थानमाह । तत्र प्रथमः दशसु विश्राम, द्वितीयोऽष्टसु, तृतीयः चतुर्दशसु
कृतनियमः । यत् एतादृश लुदस्त्रिभुवनवच्च यदि बुध्यते तदा दुर्मिलको
भवति ।

१८७ यथा जे किञ्जिय इत्यादि सुगम ।

१८८ अथ हीर, णाअ इति । नागः प्रभणति हीरनामक लुद इति चतुर्थपद-
शेषस्य योजय । यत्र त्रय पट्कला गणा अत्रे रगण स्थापय । षट्कलेपि नैत्यमाह ।
हार गुरु स्थापयित्वा हे सुप्रिये शोभने काते विप्रगणैः सर्वलघुचतुष्कलगणैः साद्वल
सहित । कलासख्यामाह त्रीन् कृत्वा द्वय कुरु । अकस्य वामतो गतिरिति गुणिते
त्रयोविंशति कला पदे भवति । एतावतीमात्रा पदे लेखय । दाढ्यमाह । को
जानाति, न कोपि जानातीत्यर्थः । दर्पेण भणति हीरनामक लुदः । कीदृशं सुकवि-
दृष्ट । सुकविना पिङ्गलेन दृष्ट ।

१८९ सन्नेपेणाह, हार सुपिअ इति । हारो गुरुः सुप्रियो द्विलघुगण ।
तथाविधगणद्वय विप्रगणो वा हारानन्तर यत्र एव भिन्नशरीर संबद्धशरीर अत्रे
जोहल रगण स्थापय । त्रयोविंशतिमात्राभिर्हीरनामकं लुदो भवति ।

१९० यथा धिक्क इत्यादि सुगम ।

१९१ अथ जलधर, पअ पदम इति । पदे प्रथमे पतति यत्र शृणु
कमलमुखि । दशसु १० वसुषु ८ पुनरपि वसुषु ८ विरतिः कृता सर्वत्र पदे
द्विजगणो दीयते । ततः परं सगणो दीयते । श्रीकण्ठपतिर्भणति । कथंभूत शोभनः
कविवर । दश विगुणा कला कुरु । पुनरपि युगल सस्थापय । अंकतो यथा ३२
अनेन प्रकारेण चतुरश्ररणान् सस्थापय । अथ यदि कथमपि मध्ये गुरु तदा न
परिहर । एकेन द्वयेन वा गुरुणा न परिहरणीयमित्यर्थः । बुधजनमनोहरं जल-
धरच्छुद्ध ।

१९२ सन्नेप माह, वत्तीस इति । द्वात्रिंशन्मात्रा भवन्ति । अन्ते सगण

संस्थापय । तथै लपय क्रियते । यदि गुदः क्रियते, तदा एषो न किन्तु द्वौ गुक पादे भवता ।

१६३ यथा गुर इत्यादि व्यक्तमुक्तये सुगम ॥ १६३ ॥

१६४ अय मदनपदं, विभ इति । प्रिये मयामि हृद इति शेष । मनोहरं मनःप्रियं पयोधरं वगैरे मेलायिता, हे सुमनो, एतच्छब्दादर्थं ध्वन्यर्थं वा सुत्वयति । मनः स्थिरं मुख स्थिरेण मनसा कस्य पार्यत इत्यर्थः । यदि रागोऽनुरागो कर्तव्ये तां ध्वनियमिति अनुसर । हृदयोऽस्य ध्वनियमिति । सर्वथास्माराह्वय सर्वो मणिर । यथा हृदये परस्परं शत्रुं स्तुतिरति सर्वथा रमणार्थं मति । उद्यमि कामकारमाह । द्वौ शब्दौ लघु प्राकृत्य संस्थाप्य गुरंग वक्ता, तयो रम्यमया प्रव रन्ति, नव चतुष्कलगणा प्रसपन्ति चरापा । इति गुरुं लज्जोद्वय कर्ममूर्तं गुरुं हरं भेद । यदि वागुरं कृत्वा वाक्यानीमूय निरूप्यते । तदा द्यगुबभुव । अत्र सर्वो पादचतुष्टये चत्वारिंशच्चतु कला गणा भवति । एवं मदनपदं भवति ।

१६५ संक्षेपेण उक्तं विवरीकरोति चे हि इति । हे मन्त्रे विवृति संस्थाप्य अंते गुरुं कुरु । मध्ये च नव चतुष्कलगणान् कृत्वा मदनपदं कुरुत ।

१६६ यथा चेहि कंस इत्यादि सुगम ।

१६७ अय मयद्वय एव हृद इति । हे सुगच्छये विवद्वन्मेतच्छब्दः विंगल नागो व्यस्यति । विभास्यति दशसु मन्त्रेषु । पुनर्याचरेण । पुनर्य्याचरेण । अत्र व्यद्वयश्चेन मात्रा उच्यते । मात्राद्वयेऽस्य हृदसः कथनात् । उद्यमिका प्रश्नमाह । अद्वौ पद्व्यो गणः । उता पंच चतुष्कलगणा । इति गुरुं कुरु च देहि । एषो गुरुदेवो लघुरन्ते भवति । पौनराधिक्या यत्तं मात्रा ११६ भवति सर्वेषां । एवं मयद्वयनाम सर्वो भवति ।

१६८ यथा कद इत्यादि सुगम ।

अत्र पूर्वोक्तार्था नामानि कथयति तं गाह इति । गाह १ गग्रा २ विगाहा ३ वगगाहा ४ गाहिनी ५ सिद्धी ६ सर्व्वार्थ ७ योहा ८ उक्तकक्षा ९ योहा १ गन्धाना ११ चतुष्कलिका १२ वाता १३ यस्तान्त्र १४ इति सुगम । पदपद १५ पञ्चमिका १६ अस्तिरुता १७ पादाकुला १८ नवपदी १९ पञ्चपदी २ कुम्भ लिका २१ गमनामः २२ द्विपदी २३ सर्व्व २४ चित्ता २५ मात्रा २६ सुविद्याना २७ लोहापू २८ हाक्ली २९ मनुमार ३ आमीर ३१ सर्व्वकला ३२ दोष ३३ विद्यासोका ३४ पञ्चगमा ३५ लीलापदी ३६ हरिगीता ३७ विमंगी ३८ उता बुर्मिला ३९ हीरा ४ कलावर ४१ मदनपद ४२ मयद्वय ४३ इति नवचत्वारिंशत् सर्व्वदिति भवति ।

इति पिंगलप्राकृतशिक्षायां टीक्ष्णया मात्रावृत्त्यविवेका समाप्ता ।

[वर्णवृत्त प्रकरण]

अथ वर्णवृत्तानि । तत्रैकाक्षरपादत समारभ्यते ।

१. सी सा इति । श्री । यत्र गुरु ।

२. यथा गौरी रक्ततु त्वामिति शेषः ।

३. अथ कामः, दीहा इति । द्वो दीर्घौ य. स कामोभिराम ।

४. यथा जुष्मे इति । युद्धे तुभ्यं शुभं ददातु ।

५. अथ मधुः, लहु इति । लघुद्वयं यत्र तत् मधुनाम छुद ध्रुवं निश्चयेन ।

६. यथा हर इति । मम मलं हरो हरतु ।

७ अथ मही, लगो इति । लघुगुरुयत्र सा मही नाम कथिता ।

८ यथा, सती उमा रक्ततु त्वा ।

९ अथ सारु, सारु इति । सारुरेप । यत्रादौ गुरु । द्वितीयो लघुः ।

१०. यथा संभु इति । शम्भुरेप शुभं ददातु ।

११ अथ ताली, ताली इति । ताली जायते । यत्र गुरुः कर्णो द्विगुरुगुणः त्रिभिर्वर्णैर्जायते इत्यर्थः ।

१२ यथा अह्माण इति । अस्मान् युष्मान् । चडेशो रक्ततु स ।

१३ अथ प्रिया, हे पिए इति । प्रियाछन्दो लिख्यते । हे प्रिये इति सन्बोधन । त्रिभिरक्षरैः । अक्षराणि किं रूपाणीत्याह । रे रगणरूपाणि ।

१४. यथा सकुरो इति । शकर. शिव शंकर. कल्याणकर । पावनः पवित्र-ताहेतु. न अस्मान् पातु रक्ततु ।

१५ अथ शशी, ससी णो इति । शशी छन्दो भवति । किं भूत यगणेन नीत यगणसहित कर्णोद्रेण भणित ।

१६ यथा भवानी इति । भवानो हसती दुरित हरतु ।

१७ अथ रमण, सगणो इति । रमणच्छन्दो भवति । हे सखि सगणेन कथित ।

१८ यथा ससिणो इति । शशिना रजनी पत्या तरुणो शोभते इति शेष ।

१९ अथ पचालः, तक्कार इति । तकारस्तगणो यत्र दृष्ट स पचाल उत्कृष्ट ।

२० यथा सो इति । स ददातु सुखानि, सद्दत्त दुःखानि ।

२१ अथ मृगेंद्रः, नरे द इति । नरेन्द्र जगण स्थापय, मृगेंद्रनामक छुदः कुरु ।

२२ यथा दुरंत इति । दूरे कंठाः दुरंतो वसंताः ।

२३ अथ मंदरा, ओ अहि इति । यत्र ओ मयाक स मंदरा । हे सति किं भूताः सुपराः ।

२४ यथा सो हर इति । स हरस्तत्र संकटं संहरतु ।

२५ अथ कमलं, कमला इति । कमल प्रमत्त हे सुमुखि किं भूत । नमस्तेन कश्चित् । यथा रमणे इति रमणस्य गमने विदेशगमने कस्या मनः अपि तु न कस्या अतीत्यर्थः ।

२७ अथ तीर्णं यथा चारि इति । चतुर्मिथो कक्षा यत्र तैरेव द्वौ कर्णौ द्विगुणे यत्र तं तीर्णं व्यतीत ।

२८ यथा कम्प इति । कनी मायावती पुत्रो धूतः । एवं जाता क्रियतां पुच्छ । त्वागे यत्नः क्रिस्तामिन्वर्तः ।

२९ अथ भारी, यथा चारि इति । हे सुगन्धे, स्तुर्कर्मैर्धारी भवति । तस्या संवरंतया द्वौ गुह मक्ता ।

३० यथा दैठ इति । देवदेवः शिवाः शुभं वदातु, यस्य शीर्षे इंदुः दृष्टः ।

३१ अथ नगाक्षी पयोदरो इति । यत्र पयोधरो अगणो भवति । किं भूतः गुरुधरो गुर्वेष्टः । नगाय्यो नाम लुब्धो व्यपते ।

३२ यथा सरस्वई इति । सरस्वती मसम्ना भवतु । कश्चित् अस्नाकं स्फुरतु तत् ।

३३ अथ संमोहा संमोहा इति । संमोहानामकम्पं लुब्धो दृष्टं तत् । शुचि धूमिन्वा । यत्र कर्मद्वानंतरं हारो गुहा पदे पञ्च गुरोरो भवतीत्यथा, कीदृशं धुवने सारसूत ।

३४ यथा ठहंका इति । ठहंका ठहामा चञ्ची दुर्गं दुरितविनाशिनी प्रेक्षोन्मत्तं तुलं मे मोक्षं च ददातु ।

३५ अथ हारीतक्या अहहि इति । अहश्चक्रे च हार्म्यां गुरुम्यां संपुच्छ । मत्पे पक्षे गन्धो लघुर्मस्य स हारीतक्याः ।

३६ यथा आ भति इति । या भतिमुक्ता चर्मैर्ध्विषा भवति । ता नाटी यस्या प्रेमभ्रजनं क्युरिति शेषः ।

३७ अथ इंठा, पिंगले इति । पिंगलीन इंठा दृष्टा भगवो कृत्वा सदा । कर्णगात्रो द्वितीयः । इतो व्यपते । प्रथममत्र भगवत्कतो द्विगुस्मय इत्यर्थः ।

३८ यथा छे इति । स मम कंठा दूरे प्राहृद् आगता चैता कंठे ।

३९ अथ कमलं, सुफिअ इति । तत् यमकं जानीत । यत्र सुमित्रो द्विगु-
र्नयः कीदृशः तत्रो रससंपूर्णः । इति सुष्यत् । तदाः शरन्नगणो संभवति ।

४० यथा पञ्च इति । पञ्चो बहवि संवत्सरो इति मन्यते ।

- ४१ अथ शेषः, चाराहा इति यत्र द्वादश मात्राः । त्रयः कर्णगणा मन्त्रेति ।
देव द्रव्ययति, हारपट्कस्य गुरुपट्कस्य वधक शेषराजच्छन्दः ।
४२. यथा उद्दामा इति, सुगम ।
४३. अथ डिल्ला, पिअ इति । प्रिये डिल्लानामल्लदः किं लक्षण सगणेन
उक्त, पट्कर्णात्मक. पादः यत्राष्टौ फलाः स्थिता ।
- ४४ यथा पिअ भत्ति इत्यादिसुगम ।
- ४४ अथ द्वियोधा अक्षरा इति । द्वियोधा उक्ता यत्र पट् अक्षराणि पादपादे
स्थितानि । द्विगुणाः पञ्चमात्रा. यस्या भवति । दशमात्रा इत्यर्थः ।
४६. यथा कस सपारणा इत्यादि सुगम ।
४७. अथ चौरसा, चउ इति । कणिपतिना पिंगलेन भाषिता चौरसा स्थापय ।
यत्र द्विजवर. चतुल्लघुगणान् । ततः कर्णो द्विगुणगणो भवति । कीटशी ।
स्फुटशरसवर्णो व्यक्तपङ्क्त्यामित्यर्थः ।
४८. अथ णअण इति सुगम ।
- ४९ अथ मयाना, कामा इति । तत् मयाननामक छन्द. बुध्यस्व ।
कामावतारस्य अर्द्धेन पादेन भवति । कामावतारोऽग्रे वक्ष्यमाणो विंशति-कलार-
चितपादः । शुद्धा दश मात्राश्चात्र भवति ।
- ५० यथा राआ इत्यादि सुगम ।
- ५१ अथा शंखनारी, पढा इति । पडिम्बर्णैरक्षरैर्यद्वा मुनगप्रयातपदार्द्धाः
भुगगप्रयातपदार्द्धेन मन्त्रतीत्यर्थः । भुनगप्रयातमग्रे चतुर्भिर्गणैर्भविष्यति ।
तदर्थेन यगणद्वयेण भवति पदचतुष्टय यत्र, सा शंखनारी कथिता ।
५२. यथा गुण इति सुगम ।
५३. अथ मालती, धञ्ज इति । हे काते सा मालती । सा का यस्या आदौ
ध्वजः । ततो द्वौ शरौ । ततस्तृतीय मणिं जानीहि, अन्ते लघु रचयित्वा ।
५४. यथा करा इति सुगम ।
५५. अथ दमनक, दिअ इति । दमनकं जानीहि कणिपतिः पिंगलो मणति ।
यत्र द्विजवरश्चतुर्लघुगणाः प्रथम क्रियते । ततः सुप्रियो द्विलघुगणो भण्यते ।
- ५६ यथा कमलणअणि इति सुगम ।
५७. अथ समानिका, चारि इति । हे प्रिये सा समानिका कथिता । यत्रा-
तरा चत्वारो हारा गुरुवः क्रियन्ते, त्रयो लघवो दीयन्ते सप्तभिरक्षरैरासिता ।
५८. यथा कुञ्जरा इत्यादि सुगम ।
- ५९ अथ सुवास, मणइ इति । मणामि सुवास लघुसु विशेषः । आदौ
चतुमन्त्रिक विरच्य अन्ते भगणः क्रियते ।

३१ मया गुरुत्वा इत्यादि सुगम ।

३२ अय कर्तृत्वा, परण गम इति परमे प्रथमे विप्रश्चतुर्लुगन्तु-
स्यान्ते । तस्यांते अगण्य मय च कर्तृत्वा मन्वते ।

३३ मया विप्रश्च इति । यदि यथा श्रीर्न त्वम्यमि गत्वा देह तीर्थे इति
शेष रमणे शेषि शेषि भवतु निर्गुणः सगुणो वा । परन्तु निरुद्धो मा भवतु ।

३४ अय शीर्षकम्, सत्ता इति । तत् शीर्षकम् नाम लुङ् । मय सत्
शीर्षा गुरुत्वा कर्तृत्वा । तैरेव मयः कर्तृ विगुरुत्वा इति गुरु एवं कर्तृत्वा
मात्रा भवति ।

३५ मया चत्ता इति सुगम ।

३६ अय विद्युत्मात्रा, विष्णुमात्रा इति । विद्युत्मात्रा योऽयमिर्मात्रमि-
र्भवति । ताभिरेव पदे लोकार्थवत्त्वात् कर्मण्य विगुरुत्वा गम्य
भवन्ति । एवं रूपकानि क्तवति पदानि सत्या । अविभवति अनौत्वेति
शेष । विद्युत्मात्रा ।

३७ मया उम्माद्य इति सुगम ।

३८ अय प्रमाणिक्य, लङ् इति । लङ् गुरु निरन्तरो क्तो वा लङ्
गुरुनिरन्तर प्रथम लङ्गुनिरन्तरं गुरुर्भवति इत्यर्थः । अय प्रमाणिकाऽऽद्य
अष्टादशपटित्वा प्रमाणिक्य कचनाकसरे एवं लङ्गुनिरन्तरमपि कचयति । यदि प्रमा-
णिक्य विगुरुत्वा क्रियते तदा नाराची मन्वते । नाराचकुन्दोप्यग्रे वचयति ।

३९ मया गिम्माद्य इत्यादि सुगम ।

४० अय मस्तिष्क्य, हार इति । मस्तिष्क्यकुन्दो अनौत्ति । अस्तिष्क्येऽहं
किं मूढे हारो गुरुत्वा लङ्गुनिरन्तरमपि कचयति । एवं लङ्गुनिरन्तरं । तत्
दायकमात्रा भवतीति अनौत्ति ।

४१ मया केन कित्तुविम्वरा । तन के इत्याह विविधविम्वरेण
कृता । यत्न वाह्य कर्तृता येनातो द्वयं शुभं ददातु ।

४२ अय दुगा तरल इति । हे तरलनयने दुष्टाकुलो भवति प्रथम गणे
गुरुत्वा शोभन । नगत्तुगुलैर्न वयः । अनन्तर गुरुत्वाभित्तवः ।

४३ मया कम्पलमरवीक लङ्गुनिरन्तरं तापित्तिमिर-दिम्भः लङ्गु-
तत्तिमिम्भ ।

४४ अय कम्पल पठम इति । एवं प्रकरोय कम्पल भवति । यत्न प्रथम
परणे विप्रश्चतुर्लुगन्तु भवति । द्वितीय तथा नरेन्द्रो अगण्य । तत्
शेष गुरुत्वा इति ।

४५ मया विप्रश्च इति सुगम ।

७५. अथ महालक्ष्मी, दिष्ट इति । हे मुग्धे, महालक्ष्मी जानीहि यत्र योधा रगणो द्रष्ट । या नागराजेन पिगलेन रचिता पादे मायादेन पञ्चदश-
कलाङ्गिन्ना मित्यर्थ ।

७६. यथा मुटमाला इत्यादि मुग्ध ।

७७. अथ सारङ्गिना, दिष्ट इति । हे सखि सारङ्गिका कथिता । या द्विज-
रश्मिर्लुगण । ततः सगण एव प्रकारेण यत्र पदे मात्राणां गुणान् । शरा
पत्र मुनिः सप्त ७ एताभिर्मात्राभिलष्या द्वादशमात्राभिर्गुणित्व्यर्थ ।

७८. यथा हरिण सरिरसा इत्यादि मुग्ध ।

७९. अथ पाइत्ता, कुन्तीपुत्ता इति । पाइत्तारूपकं कथितं तत् । यत्र
कुन्तीपुत्रद्वयं दिगुगणद्वयं भवति । तृतीयगणे त्रिप्रश्नतुल्यगुणो भवति ध्रुव
निश्चितः । अन्ते ह्यग्रे गुरुर्जातः ।

८०. यथा कुल्ला इति । प्रकुल्ला नीपा । भ्रमति भ्रमग । दृष्ट्या जल
श्यामला । नृत्यति विद्युत् प्रियसहिता । आगमिष्यति कातः सखि कदा ।

८१. अथ कमला, सरस इति । हे रमणि, यत्र सरसी द्वौ द्विजवरगणौ चतुर्लक्ष-
गणौ । सगण प्रतिपदे । चतुर्लक्षगणद्वयात् गुरुरिति यावत् । एव दशकला यत्र
भवति सा कमला ।

८२. यथा चल इति । चचलकमलनयना खलति स्तननिवसनं यस्या ।
हसति परनिकटे । असती ध्रुव वधूटी ।

८३. अथ विंजा, रद्वि इति । एषा कणिना त्रिंश रचिता, यस्या सर्वशेषे गुरु
युगलं गुरुद्वयं । शिरसि प्रथमं द्विजवरश्चतुर्लक्षगणं । मध्ये राजा जगणः ।
गुणनाकः एव स्वभावा विन्नेत्यर्थः ।

८४. यथा चल इति । चलति चल चचल वित्तमेतत् । नश्यति तरुणत्ववेषः
सुपुरुषगुणेन बद्धा स्थिराऽवतिष्ठते कीर्तिः । तस्मात्कीर्तिरुपाजनीयेति भावः ।

८५. अथ तोमर, जसु इति । प्रभणति नागनरे द्वौ नागराज । एव जानीहि
तोमरच्छदः । यत्रादौ हस्तचतुष्कलो गणो विजायते । ततो द्वौ पयोधरौ जगयौ
जानीहि ।

८६. यथा चलि इति । चलित्वा चूते कोकिलशाव मधुमासे पञ्चम गायति ।
न खलु कातोऽप्याप्यायाति ।

८७. अथ रूपमाला, णाव । रावा इति नागराजो जल्पति सार । चत्वारः
कर्णा द्विगुरवो गणा यत्र श्रुते हारो गुरुः । यस्या पादे अष्टादश मात्रा भवति तत्
छन्दो रूपमाला इति जल्पितः ।

८८ यथाच न वच्चे इति । यथा नृत्यति किमुत् । मेघोपध्वर, प्रपुष्पिता
नीपा, शम्भुवर्ते मयूरा, वीरवर्ते मेधा शीता वाता, कपवै कप, कर्तो नावाता ।

८९ अथ संयुक्ता वसु इति । तत् शब्दा संयुक्तनामक स्थापित । मल अरौ
इत्योन्तगुः चतुष्कलागले विज्ञातः । ततो पादद्वयं विज्ञायते । गुरुरते मस्य विज्ञाते
न चक्षितः ।

९० यथा द्रुह इति । त्व याहि सुन्दरी आम्भना परित्वत्र गुरुर्न स्थापना ।
विक्रयति कैतकीर्तपुट निम्नतमेवागमिष्यति वराणोऽनुकम्प ।

९१ अथ चंपकमाळा, हार इति । चंपकमाळा शब्द इति द्रव्यते । वर
हारे गुरो प्रथमं स्थाप्यते । ततो कादम्बर्यं लघुद्वयं । ततो कुन्तीपुत्रो द्विगु
वर्गम् । गुरुसंयुक्तः । ततो इत्योन्तगुरुः चतुष्कलागला विज्ञाते । ततो हारे
गुरो स्थाप्यते ।

९२ यथा ओगारमच्छ इत्यादि सुकरं ।

९३ अथ सरस्वती, वीह इति । पुर्व निश्चितं सरस्वतीनाम कुरं कश्चित्
वरा वीर्षो गुरुः । ततो लघुद्वयं ततो वीर्षः । ततो लघुरेकः । अते परोपरो वरः ।
ततो ध्वज अदिसप्तस्विकलागला । एवं चतुर्दशमभा मवति ।

९४ यथा पुत्र इत्यादि सुकरं ।

९५ अथ सुवमा, कणो इति । एषा सुवमा कुरसि दद्या । वर प्रथमं कथा
प्रकृतः । द्वितीयो इत्योन्तगुरुश्चतुष्कलागला । तृतीयः कर्तः । चतुर्थः पुनरुद्धः । पदे
पोडश कला मवति । ताम्र चट् वल्लभा गुरोः ।

९६ यथा मठश इत्यादि ।

९७ अथ अमृतगति दिग्बर इति । अमृतगतिर्मुखं कश्चित् वर दिग्बरश्च
द्वलवर्गमस्ततो हारे गुरो प्रकथितः । पुनरपि तथैव कृतः दिग्बरश्चतुर्दश गुरु-
रित्यर्थः । एवं तति कथ्यो लघुवो द्वौ गुरु वर मवति ।

९८ यथा लय इत्यादि सुकरं ।

९९ अथ वसु नील इति । वसु विपते । किंमूतः । नीलत्वस्त्वम् । यथा
नीलनामकं कदम्बायैव अथ वसो मगना मवति । गुरुद्वयं अते कुरु । पोडश
मात्रा पदे पदे स्थाप्यते ।

१०० यथा पंडठ इत्यादि सुकरं ।

१०१ अथ सुमुखी, दिग्बर इति । सुमुखी कश्चिन्नवस्तथा मवति । पत्ता
दिग्बरश्चतुर्दशगुल्लगतो लघुद्वयं । ततो वल्लभं गुरुं परित्याप्य । ततो इत्योन्त-
गुरुश्चतुष्कलागला । पदे चतुर्दश कलायात्र अदिना विंगलौन ज्ञेयताः ।

१०२ यथा मार इत्यादि सुकरं ।

१०३. अथ दोधकः, चामर इति । दोधकछदः कर्णोद्रेण कथित । यत्र च प्रथम चामरः गुरुरनतरं काहलयुग लघुद्वय स्थाप्यते । ततो हारो गुरुस्तत्त्रे लघुद्वय ध्रियते । पदाते षर्णगणो द्विगुरुगणः ध्रियते ।

१०४. यथा पिंग इत्यादि सुकर ।

१०५. अथ शालिनी, कण्ठो इति । सर्पराजेन पिंगलेन सा शालिनी भण्णिता । यत्र द्वौ कर्णौ द्विगुरुगणौ तत एको हारो गुरुर्विसृज्यते । तत शल्यो लघुरेकस्ततः कर्णौ द्विगुरुगणः, ततो गध एको लघुस्ततः कर्णौ द्विगुरुगणो ज्ञायते । पादे विंशति रेखाः कला गण्यते ।

१०६. यथा रडा इति । रडाचडादीक्षिता धर्मदारा मद्य मास पीयते खान्त्रे च । भिक्षा भोज्य चर्मखण्डं च शैव्या कौलो धर्मः कस्य नो भाति रम्यः ।

१०७ अथ दमनकः, दिअवर इति । फणिमणित दमनकं भण्यते । यत्र द्विजवर द्विजयुग चतुर्लघुगणद्वय भवति । ततो लघुद्वय भण्यते पदे पदे वलय गुरु परिस्थापय अत्रे इति शेषः, चतुःपदे चतुर्वसुकल द्वादशकलमित्यर्थः ।

१०८ यथा पअलिअ इत्यादि सुकर ।

१०९. अथ सेनिका, तालणद इति । नागराजेन पिंगलेन जल्पिता एषा सेनिका । यस्या तालो गुरुर्नदो लघुः समुद्रसख्यस्थाने स्थानचतुष्टये । ततो योधगणेन रगणेन पूर्णा, शेषे रगणो भवतीत्यर्थः । अत्र एकादशाक्षराणि जायते ।

११० यथा भुत्ति इत्यादि सुकर ।

१११ अथ मालती, कुती इति । नागेशो मालतीनाम छदो जल्पति । यत्र कुतीपुत्रा कर्णगणाः पच ज्ञायते । अत्रे शेषे कातः सुदर एको हारो गुरुर्ज्ञायते । पदे द्वाविंशतिर्मात्रा भवति ।

११२. यथा ठामा इति । स्थाने स्थाने हस्तीशूथा प्रेक्ष्यते । यथा मेघा मेघशृगे दृश्यते । वीरहस्ताग्रे खड्गा वर्तन्ते यथा विद्युन्मेघमध्ये नृत्यति ।

११३ अयेंद्रवज्रा, दिज्जे इति । पर्णोद्र इद्रवज्रा जल्पति ध्रुव निश्चित । यत्र हीरकयुगल पदेषु दीयते हीरक इति पचकलगणस्य नाम । अत्रे तदनतर नरेंद्रो जगण । तत शेषे पदावसाने गुरुद्वय । पदे मात्राश्चाष्टादश सख्या भवति । समानाधिका इत्यर्थः । सुसज्जिता शोभनीकृत्य सज्जिता लिखिताः ।

११४ यथा तत इति । तत्र मत्र न किमपि जाने, ध्यानं च न किमपि गुरुप्रसादात्, मध्य पिबामि महिलां ममामि, मोक्षं च यामि कुलमार्गलग्न इति कस्यचिद् योगिनो वचन ।

११५ अथोपेंद्रवज्रा, णरेंद्र इति । फणिराजेन उपेंद्रवज्रा दृष्टा छेका विद-

गवास्ता पठति । शुभाक्षरनिबद्धा इत्यर्थः । यत्र एको नरैर्द्वौ बगान् अन्तरं होमन-
निमित्तकागच्छः ततः पयोचरो बगम् । ततः कर्षगन्धो द्विगुर्भयो होमते ।

११६ यथा सुषम्न इति । येषां धर्मैश्च विज्ञातं गुणवतः पुत्राः स्वधर्मनुरक्तं
विनीतं कर्म्म निशुद्धो देहः । निमुक्तं यत् । एतादृशाः कैः क्वरा मूर्खाः स्वर्गं
लोहं कुर्वन्ति ।

११७ अय उपधाति, चठ इति । चतुरक्षरस्य प्रसारं कुट् । ईदृजज्ञाया ठर्-
दृजज्ञायाश्च बहुगुणं ज्ञनीहि । मध्ये सर्वगुणसकलपुण्यधर्मैश्च चतु-रा उपधातयो
मर्षति । सिंगलो अस्पर्ति किमिति व्याकुलीभवति क्व ।

११८ यथा वास्तु कुम्भार इत्यत्र पदद्वयमिदं ब्रज्यायाः लक्षणेन पदद्वयमुपेक्ष-
ज्जाया लक्षणेन । अर्पेस्तु मुञ्चत्वात्न लिखितः ।

११९ तासां नामानि किञ्ची इति । श्रीति १ रात्री २ माता ३ शाता ४
हली ५ माया ६ काया ७ वाता ८ म्रदा ९ मठा १ प्रेमा ११ यमा
१२ आदि १३ कुम्भ १४ इति तस्या नामानि ।

१२ अय विद्याधरः प्यारी इति । नागराजः विगच्छे विद्याधरनामध्वरो
अस्पर्ति । किं भूतं लक्ष्मणं इति सारं उत्कृष्टं । यत्र अस्वारः कर्म्म द्विगुरथे गच्छ
वादे दद्याः लक्ष्मणेन भवति । पदति रोप अस्वतो हारं गुरथे दीयते । एवं सति
पदचतुष्टये पञ्चवर्ति माया मर्षति प्राप्ताः पर्यस्ताः ।

१२१ यथा वाह कंठा इत्यादि मुक्तरं ।

१२२ अय मुर्खप्रपातं, चञ्चे इति । मुर्खप्रपातं कुर्वी भवति । यत्र चञ्च
अद्विष्टावृत्तिरुक्तो गच्छ । लक्ष्मणमरं गुरथेन । एवं प्रक्षरेण ययचतुष्टयं । लक्ष्मण
रोपे गुरथः एतच्छब्दश्चतुष्टयेन कृत्यं योदृशपक्षमभिमित्यर्थः । गुरथेन । अस्त
पदे विद्यति माया मर्षति ।

१२३ अदिगम् इति । चञ्चारि अदिगम् अद्विष्टावृत्तिरुक्तो गच्छ । प्रतिज्ञाः
योदृशमिच्छत्येऽपि पिप्सा कथयति । श्रीणि यस्तानि विद्याधरिभ्यः मया मर्षति ।
श्रीदृशानि संख्या समग्रानि ।

१२४ यथा महामत्त मार्तण इत्यादि मुक्तरं ।

१२५ अय लक्ष्मीधरः, हार इति । एवं कपेय लक्ष्मीधरो सतः यत्र हारो
गुरथः, लक्ष्मी गच्छो लघुः लतः वर्णो द्विगुरथः लतः पुनर्गन्धो लघुः, लतः वर्णो द्विगुर
यतः लतः यतः लघुः, लतस्तकारस्तग्नः सतो गुरथमर्षति । लक्ष्मीनिवायाः प्रक्षरा-
भारमाह । अस्वारो योदृशगच्छः अय मर्षति । नागराजः विगच्छो दधति ।

१२६ यथा मञ्जिमा इत्यादि मुक्तरं ।

१२७ अय लोचनं लग्नं दृष्टम् इति । इह लक्ष्मीधरः विगच्छेन रचितं योग्यं

स्रोटकनाम छदो भणित यत्र ध्रुव निश्चितं चत्वारः सगणाः पतति । गणे पदे षोडशमात्रासु विरामकर ।

१२८. यथा चल गुञ्जर कुजर इत्यादि सुकर ।

१२९. अथ सारगः, जा चारि इति । तत्सारगनामक रूपक पिङ्गलेन दृष्टं । यत् चतुस्तकारसंभेदेन उत्कृष्ट विभक्तमित्यर्थः । यत् पदे विश्रामत्रयेण युक्त । न ज्ञायेत षातिरस्य छदसोऽन्योन्यभागेन ।

१३०. यथा रे गोड इत्यादि सुकर ।

१३१. अथ मौक्तिकदाम, पञ्चोहर इति । मौक्तिकदाम छदो भवति । यत्र चत्वारः पयोधरा जगणाः प्रसिद्धाः त्रयाधिकास्त्रयोदशमात्रा यत्र भवति । षोडश मात्रा भवतीत्यर्थः । न अत्र पूर्वं प्रथम हारो गुरुनं वा अत्रे । अत्र षट्पञ्चाशदधिका. शतद्वय मात्रा भवति ।

१३२. यथा कआ भठ इत्यादि सुकरं ।

१३३. अथ मोदकः, तोडव इति । मोदकच्छन्दसो नामानि जानीत । यत्र स्रोटकच्छन्दसो विपरीता गणा स्थाप्यते । तत्र सगणचतुष्टयं प्रसिद्धं भवति सगणो यदि विपरीत क्रियते तदा भगण एव भवति । कीर्तिलुब्धः पिङ्गलो जल्पति ।

१३४. यथा गज इत्यादि सुकर ।

१३५. अथ तरलनयनी, णगण इति । सुकत्रयः कमलानि तत्र रविः सूर्यः फणि पिङ्गल तरलनयनी भणति यत्र चत्वारो नगणा भवति । सर्वे लघव एवात्र भवति । गुरुर्यत्नादपि नात्र निरूप्यते ।

१३६. यथा कमलनयन इत्यादि सुकर ।

१३७. अथ सुन्दरी, णगण इति । हे सुमुखि पिङ्गलेन सुन्दरी कथिता । यत्र नगणञ्जिलघुर्गण, ततश्चामर गुरु, ततः शल्ययुगल लघुद्वय भवति । अत्र एकौ नगणः पदाते दृष्टः ॥

१३८. यथा वह इत्यादि सुकर ।

१३९. अथ माया, कणा दुण्णा इति । माया भणिता । यत्र द्वौ कर्णौ द्विगुरुगणौ ततश्चामर गुरुस्ततः शल्ययुगं लघुद्वय, ततो द्वौ दीर्घौ गुरु ततो गन्धद्वय लघुद्वय प्रपद्यते । अत्रे शेषे चामर गुरुरनन्तः हारो गुरवः शोभनकाया सुन्दर शरीराः । यत्र गुणयुक्ता छन्दोयुक्ता द्वाविंशतिर्मात्रा भवति ।

१४०. यथा ए अथीरा इत्यादि सुकर ।

१४१. अथ तारका, दुइ इति । हे सखि तारकनाम्न. छन्दसो नाम भण्यते । पदे आदौ लघुद्वय स्थाप्य ततो गुरुस्तदनन्तरं शल्ययुत लघुद्वय च । ततोपि गुरुलघुद्वयमेव दीयते । पदात प्राप्य गुरुद्वय क्रियते ।

१४२ यथा जवमन्तरि हत्यादि मुगम् ।

१४३ अथ कम्, पञ्चा इति । कभीयेन पिगलेन नागेन कलाममेन कन्दो
अस्तिपत् । पञ्च आदिकमुद्रिकतो गन्धः । तत्तत्सूर्यमादिगुद्रिकताः । उद्ये हागे
गुद्रिकतो गुद्रिकतरं अहसो लघुस्ततः कर्षो द्विगुद्रिकताः । उद्ये लघुतो लघुरेको
वन्नादि सक्तो च पञ्चगुद्रिके चतुर्गुद्रिके असीतिमात्रा मन्ति ।

१४४ यथा क रे कंस हत्यादि मुगम् ।

१४५ अथ पञ्चावली, चामर इति । पिगलो नागा पञ्चवली मन्ति । यत्र
प्रथमे चामरमेको गुद्रः । तत्र चो वरग्य पञ्चवली गन्धः । ततः शस्त्राण्य एक लघु-
रन्ता तत्तत्तरणहर्ष आदिगुद्रिके तुष्यलगावन्तं स्थाप्य । प्रतिपद् वेदरा मात्रा अन्ते ।

१४६ यथा लो क्का हत्यादि मुगम् ।

१४७ अथ कंसवलीका, कन्धो इति । कणिना पिगलेन कंसवलीकं गन्धं
कुन्द उक्तं । किं मूलं उक्तं । किरन्ता सरसा रसवहिता कुन्द इदं मन्ति । शुभरा
शुभावर । यत्र प्रथमे गन्धे गणी द्विगुद्रिकताः प्रकटः द्वितीये गन्धे अयम्
तृतीये द्वे रस्यरन्तुष्काः, ततः सगण, उद्ये वरग्य पादे वरग्ये मन्ति ।

१४८ यथा कश्चित् कामपि नाविका इत्यादि मुगम् । कक्षापं चोपस्ति वे लीम
इति । ये तस्यास्तीक्ष्णकल्लव्यलुम्बितागच्छा ते अयमर्चद्रमधुपञ्चममारणीयाः, एते
पुनः पठिता सक्त्यापि इष्टिः कर्तव्यः ते विलक्ताः विलिखन्त्येभ्यः । ते मृषा यत्र
मन्तीरकाद्यः ।

१४९ अथ अक्षपदं, संमन्त्रिण इति । अक्षपदनामवेवं कुन्दो मन्ति । कनि-
पिना पिगलेन पञ्चमन्त्रि । तत्र अक्षपदे प्रथमं वरगल्य आदिगुद्रिके तुष्यलगावन्तं
प्रकटयित्वा । उद्ये द्विवरगल्यगुगलं चतुर्गुगलहर्षं संस्थाप्य, तत्र करतल-
गन्धोन्मगुद्रिके तुष्यलगावन्तं प्रतिपाद्योपे अस्तः ।

१५० यथा कंका हत्यादि मुगम् ।

१५१ अथ अमरावली चर पञ्च इति । अमरावलीनाम कुन्दः प्रविष्टः ।
कीदृशं पञ्चकैरन्तगुद्रिके तुष्यलगावन्तं प्रविष्टं क्कात् प्रविष्टं मन्ति । किं मूलं मन्तीरं मुगम् । कुन्दीरं कुन्दमेकं । रत्नं रत्नवत् । यत्र पञ्च
गुद्रिके इत्ये लघुमे मन्ति । एतादृशमेव बोधितं ।

१५२ यथा कुम्भ देह इति । यत्र देवगुद्रिकगन्धे वरणी यदि प्राप्नोति ।
अन्तःकलामरणी शरणी । अन्तःकलामरणी हस्तेन वरगल्य नक्ता अन्तःकलाकर
मन्ति । एतादृशी कर्षो प्रविष्टास्ति लोसेन । तेन पुष्पेन प्रविष्टास्ति शोड
विनाशमनकं यमन ।

१५३ अथ छरगिच्छ, कणा इति । छरगिच्छकुन्दो अस्ति, मोगीरुच्छ पिङ्गलो

जल्पति । यत्र सप्त कर्णा द्विगुरवो गणा दत्तास्तदते शेषे एको हारो गुरुर्दत्तः । पच-
दश हारा गुरवो यत्र पदे त्रिशन्मात्रा भवन्ति । एतच्छ्रन्दश्चतुष्टयेन कृतेन कृत्वा
कीर्तिर्गृह्यते । यः शृणोति स शिरःकप करोति ।

१५४. यथा उम्मन्ता जोहा इत्यादि सुकरं ।

१५५. अथ चामरः, चामरस्स इति । चामरस्य छन्दसस्त्रयाधिकविंशति मात्रा
भवति तासु अष्ट हारा गुरवोऽन्तरातरा भवन्ति । सप्त सारा लघवो निर्मलाः । अत्र
चादौ अते च गुरु. सारः ज्ञातः । हे कामिनि पचदशाधिकैरक्षरैरेतच्छ्रद्धो भवतीति
पिंगलेन भण्यते ।

१५६. यथा भृत्ति जोह इत्यादि सुकर ।

१५७. अथ निशिपालः, हार कर इति । सर्पपिंगलो निशिपाल भणति
काव्यमना, अत्र हारो गुरुः क्रियते । ततस्त्रयः शरा लघवः एव प्रकारेण गणत्रय
कुरु, अते शोण न कुरु । एव पचगुरव. द्विगुणास्तेषा लघवो दश सख्या
भवति । हे चद्रमुखि सखि अत्र विंशति सख्या लघूना जानीहि ।

१५८ यथा जुष्म मड इत्यादि सुकर ।

१५९ अथ मनहस, जहि इति । मनोहसनामक छंद. प्रसिद्ध पिंगलेन
व्याख्यात यत्रादौ हस्तो गणोन्तगुरुचतुष्कलगणो भवति । ततो द्वौ नरैर्द्वौ जगणौ
दीयेते । ततः एको गुरुः दीयते । तत. काहलद्वय लघुद्वय क्रियते ततो गुरुं
स्थापयित्वा गधो लघुदीयते, ततोन्ते गुरु. स्थाप्यते ।

१६०. अथ जहि फुल्लु इति सुकर ।

१६१. अथ मालिनी, पदम इति । मालिनीनाम छंदो भण, किं भूतं
रससहित षड्भि. कलाभि इत्यर्थः । द्वितीयस्थाने निबद्ध. ततः शरो लघुः ।
ततो गुरुद्वय ततो गन्धो लघु । ततोन्ते कण्ठो द्विगुरुर्गणो यत्र निबद्धः । सरसे
सहिते इति नायिकासबोधन । कीदृशा चित्तपदे निबद्धा लिखितामित्यर्थः ।

१६२ यथा वह इति । वहति मलयवातः हत कपते कायः इति श्रवणरध्रं
कोकिलालाम्रघ, श्रूयते दशसु दिक्षु भृगुशंकारभारः । इति हंति हवे चेष्टि चंड.
प्रचण्डश्चाढारूपो मारः ।

१६३ अथ शरभ, भणिअ इति । फणिशतिना पिंगलेन शरभनामक छन्दो
भणित । यत्र सुप्रियगणो द्विलघुर्गण प्रथम भणित । ततो रसगणेन पट्कलसर्व-
लघुगणेन सहित ततो द्वौ करतलौ द्वौ चतुष्कलगणौ पदे लघो. प्रकारान्तरमप्याह
चत्वारः चतुष्कलगणा प्रतिपद जाताः । हे सुप्रिये गणय जानीहि ।

१६४ यथा तरल इत्यादि सुकर ।

१६५. अथ नाराच, णरेंट इति । नाराचनामक प्रसिद्ध छंद पिंगलेन

अस्मिन् । अथ मर्त्यो जगताः समस्तो मिश्रितः तदा सुपर्णचक्रं मण्यस्तुपुपञ्चको
गणो हस्यते पुनरेकमेव जगताः मण्यस्तुपुपञ्चको हस्यते, पंचमे स्थाने परात्मिन्ने
मण्यस्तुपुपञ्चकगणो भवति । अति हारो दुर्भवेति । पञ्च चतुर्यध्वनिरिति भाषा
भवति । अथ हारश्चाह यथा स्यादेवं तार उत्कृष्टा पठति ज्ञायते, अथ यथा
सप्तमोऽथो नपञ्चो गुरमोऽथो ।

१६६ यथा पञ्चत जोह इत्यादि मुक्तरं ।

१६७ अथ नीला, नीला इति । हे रमणि नीलारवकम्बं ज्ञानीहि । इति
तिमिर्मात्रमि पञ्च मन्त्रा पदे प्रकटिता अथ धराहरोन लक्षणेन अन्ते हारो
गुरुः रिपताः मन्त्राणि द्विपञ्चाशद्विचित्रतन्त्रमन्त्र भवति । एतेनैतत्तु
सुन्दरमृद्वेनैतत्तुदं कर्तव्यं नैकमिति ।

१६८ यथा लम्बिम जोह इत्यादि मुक्तरं ।

१६९ अथ पञ्चधा, विचित्र इति । पञ्चधा पञ्चोद्वेज विमलेन दुर्लभ
निर्मिता कृता अथ सुपर्णचक्रं मण्यस्तुपुपञ्चको गणो दीयते । तदा एषः पञ्चोद्वेज
कमलः । एवं प्रकटरेण रत्नकमलपञ्चपञ्चयथा भवति लक्ष्ममनोहरा । अन्ते मन्त्रो
लघुः दीयते । पञ्चमिरक्षरेभवेति ।

१७० यथा कमल पञ्च इत्यादि मुक्तरं ।

१७१ अथ ब्रह्मकम्बं, जो लोकाय इति । ब्रह्मकम्बोद्वेजो कर्तते । हे विमले,
इत्यन्तरं सर्वगुरुत्वात् । शुभरपि इत्युक्ताये दक्षो भवति । लघु कृत्वा तत्तं नाम
मन्त्रोद्वेजोद्वेजोद्वेजो । कर्तव्यमेतत्तुपुपञ्चको । कर्तव्यमेतत्तुपुपञ्चको ।
अप्यमि कर्तव्यमेतत्तुपुपञ्चको । अन्तर्मिर्हिगुरुकमलेतिमित्यर्थः । तारतं केद्वेज
सुन्दरि, गीवते कर्तं सुन्दरं कर्तं सुन्दरं लम्बिमोद्वेजो लम्बिमोद्वेजो । ब्रह्मकम्बं
नाम । अथ य जो लोकाय कर्तव्यमेतत्तुपुपञ्चको । हे विमले इति
स्वितः सुन्दो माया कर्तव्यमेतत्तुपुपञ्चको । अन्तर्मिर्हिगुरुकमलेतिमित्यर्थः ।
तारतं केद्वेज । सुन्दोद्वेज गान् कर्तव्यमेतत्तुपुपञ्चको । लम्बिमोद्वेजो लम्बिमोद्वेजो ।
ब्रह्मकम्बं प्रकटयित्वा व्याख्याति ।

१७२ यथा उम्भता जोह उद्वेजो जोह इत्यादि मुक्तरं ।

१७३ अथ पृथ्वी, पञ्चोद्वेज इति । पृथ्वीनाम ज्ञाने ज्ञाने अथ पञ्चोद्वेज
जगताः प्रथमं स्वितः लोको हस्तस्तुपुपञ्चको दीयते । पुनरपि जगतां गुरु-
स्तुपुपञ्चको स्थापितः तदा एषो मन्त्रो लघुः दीयते । ततो कलत्रद्वयं गुह्यं
पठति । लो विमलविशिष्टं शब्द पञ्चो लघुः । ततो हारो गुरुः पठति ।
चतुर्यध्वनिरिति कृताव्याज भवति ।

१७४ यथा जगन्मन्त्रिभ इति । जगन्मन्त्रिभमात्रमूलं स्मरणं विगुणं

सदासमुद्रमुखपवनः अगुरुभूपधूमोज्ज्वल ज्वलन्मणिदीपकं मदननेलिनीजासरः
निशागुरुमनोहर मुखाद्या राजते शोभते ।

१७५. अथ मालाधरः, पद्म इति । फणिधरः फणिभेद्यो भगति मालाधरछन्दो
जानीदि । यत्र प्रथम विप्रश्चतुर्लघुगणो दीयते ततो भूपतिर्द्वयः स्याप्यते । ततो
यश्चरण आदिगुरुश्चतुष्फलगणः ततोपि भूपतिर्द्वयः प्रदत्त चामरद्वयाधिक
गुरुद्वयाधिकं यथा स्यादेवं विमलो गधो लघुस्ततो हारो गुरुः स्याप्यते ।
उज्ज्वल छन्द इत्यर्थः ।

१७६. यथा वहइ इत्यादि मुकर ।

१७७. अथ शिलरिणो, घञ्चा कणा इति । हे कमलमुखि एषा शिलरिणी
नाम छन्दः, यत्र आदौ घञ्, ततो द्वौ षणौ, ततः सुप्रिययुगल लघुद्वयात्मक
गणद्वय, ततो गधो लघुरेकः, ततो गुरुः पुनरपि हारः, ततश्चतुश्चरणे नारी इति
त्रिलघोर्नाम श्रुते च चामर गुरुः । सप्तदश वर्णा नवैव लघवः अष्टौ फणिना
गुरवः, फणिराज पिंगलो जल्पति ।

१७८ यथा परं जोण्डा उण्डा इत्यादि मुकर ।

१७९. अथ मुक्ताहारः, दिअपिअ इति प्रथम विप्रः । ततः सुप्रिय लघुद्वयं
ततो गुरुः, ततो गधो लघुः, ततः षणौ द्विगुरुगणः, ततः लकारो लघुः
स्थापित ततः पुनश्च गुरुयुग ततो लघुः ततो गुरुयुगल शर लघुः ततो हार
एकः । हे कमलमुखि मौक्तिकहार फणिपतिर्मणति हे प्रिये ।

१८०. अथ अमिअ इत्यादि सुगम ।

१८१. अथ मजीरा, कुंतीपुत्रा इति । सर्परानः पिंगलः शुभकायः शुद्धशरीरो
ध्रुवामव्यभिचारिणी मजीरा जल्पति । यत्र त्रयः कुंतीपुत्रा द्विगुरुगणा एकस्मिन्
पादे चरणे मस्तके प्रथमे स्थाप्यन्ते दीयते, ततो हारो गुरुः, ततो हस्तोत्तगुरुश्च-
तुष्कल गणः, ततः षण्णद्वय गुरुद्वयं, ततो गधद्वय लघुद्वय, चत्वारो हारा
चत्वारो गुरवः पादा यत्र सज्जन्ते । कीदृशः पिंगलः मव्याकारः ।

१८२. यथा गज्जे मेहा इत्यादि सुगम ।

१८३. अथ क्रीडाचन्द्रः, जे इदासण इति । फणीन्द्रः पिंगलः क्रीडाचन्द्र-
नामकं छन्दो भणति । निबद्धं निबद्धमि छन्दो ग्रथो यत्र । इद्रासण पञ्चकलगणः पर
पादे भवति नान्यो गणः । सुखयति सुख ददाति । तत्राष्टादशसख्यास्तरडा अक्षराणि
स्थाने शोभते । यत्र कलाश्च दशत्रिगुणास्त्रिंशत्सख्या भवति । एतेनैतदुक्तं भवति ।
अष्टादशभिरक्षरैर्यत्र त्रिंशन्मात्राः कार्यी इति ।

१८४. यथा जहा भूत वेताल इत्यादि सुगम ।

१६३ अथ धवलाग., कर इति । हे युवति विमलमते एतच्छ्रुदः श्रुत्वा महीतले रस करोति कविरिति शेषः । किं कृत्वा पदपदतले सगण सख्याप्य रमणेगिरे हे रमण सभोगस्तस्य गिरे । यत्र चत्वारो द्विजगणाश्चतुर्लघुगणाः पाञ्चतुष्ट्येपि इति धवलागनाम छन्द फणिपतिर्भणति । कीदृशः सरसमनाः शशिवदने हे इति सवोधन । पुनः कीदृश धवलैर्यतिभिर्लक्षित । अथवा सरिस इति पाठः तथा धवलैर्यतिभिः सदृशं समानमिति ।

१६४. यथा तरुणतरणि, इत्यादि सुगम ।

१६५ अथ शंभुः, अवलोआसु इति । इदं छन्दः शंभुनामक अवलोकय । यत् श्रुत्वा मनसि सुख भवति । अत्र चतुष्कलगण चतुष्टयानतर सुप्रिय द्विलघुगण स्थापय प्रथम हस्तमंतलघुचतुष्कलगण देहि । ततः कुन्तीपुत्रो द्विगुरुगणो योजितः । एवमेवाग्रे पुनर्गणद्वय देहि । अत्रे गुरुचतुष्कलगणादनंतर द्विगुरुगण एव पुनर्दीयतामित्यर्थ । सुप्रियगण इति प्रथममुक्त । ततः सप्त द्वारा सप्त गुरवो प्रदीयन्ता । एव पदे द्वात्रिंशन्मात्रा भवति ।

१९६ यथा सिअविट्ठी इत्यादि सुकर ।

१९७ अथ गीता, नहि इति । हे मुग्धे एतच्छ्रुदो गीतानामक गीतं । सकललोकैः परिगृहीत । कविसृष्टिसृष्ट यदा कवीनां सृष्टिः कृता तदैव तदपि, कवि-जनानामिदमतिग्राह्यमित्यर्थः । दिष्टया भाग्येन दृष्ट पिंगले व्याख्यात । यत्र छन्दसि आदौ हस्तोत्तगुरुचतुष्कलगणः । पञ्चगणो यत्र जोहलो रगणः । तस्याते हस्तो गण अतगुरुचतुष्कलगण । ततः शब्दो लघुः ततोऽंते शेषे नूपुर गुरुः ।

१९८ यथा नहि फुल्लु वेअइ इत्यादि सुकर ।

१९९. अथ गडकः, रगण इति । एव गडकनाम छन्दो गणय । अतिसक-टमेतच्छ्रुद फणीद्रो गायति । यत्र छन्दसि प्रथमं रगणः पतति । पुनः नरैद्रो जगणः कात सुदर । एवमेव रगणजगणाभ्यां गणषट्कं कुरुत । तत एक हार मत्रयस्व । ततः शोभनः शब्दो अत्रे देयः । एव सति त्रिंशन्मात्राः पादे प्राप्ता भवति । एतासा मात्राणां तृतीयभागो हारो गुरुः । दश गुरवो दश लघवः भवतीत्यर्थः ।

२००. यथा ताव बुद्धि इत्यादि ।

२०१. अथ स्रग्धरा, कण्ठ इति । स्रग्धरा फणिना पिंगलेन शुद्धा भणिता । यस्या द्वौ कर्णौ गुरुगणौ, ततो गधो लघुः, ततो हारो गुरुः, ततो द्विजगणः, ततो हस्तः अतगुरुः चतुष्कलगणः, ततो हारो गुरुः, तत एकः शल्यगणो लघुः, तत कर्णौ द्विगुरुगणः, ततो ध्वनगण आदि लघुत्रिकलगणः, ततः ककणगणो

१८१. अथ चर्चरी, आह रगण इति । हे सुन्दरि नागराका चर्चरी मयि । किं भूता मनोमोहना वा भूषा मनो मोहमाप्स्यति । वन आदौ रगणा । उखे हस्योन्त गुणचटुष्कलग्न । उखे आहसो कपु । उखे मध्ये ताल आदिगुणिकगणं हेरे । उखे पयो कपु हरी गुण्य स्मान्दये पतति सर्वलोकनिबुद्धा उखल्लोक शता चर्चरीस्वर्गः । उख आहसद्वयं कपुद्वयं उखे गुण । उख शलं कपु उखेपि कर्चयं गुणं पूरय ।

१८२. यथा पद्म योऽर इत्यादि सुगम ।

१८३. अथ शार्ङ्गशारङ्गं, मे खे खे इति । विंग्रहकवि शार्ङ्गशारङ्गं कृतवान् । वन मौ मण्य, खः सगता खे सगता, उता सगता, उखल्लग्न एव खेते गुणयति । अनेकेनविश्वस्यपि मयि । तत्र पिङ्गा शरीरं खल्लस्येकस्य कला विश्वस्यपिङ्गस्यकला मयि । तत्रापि मागमाह । योनिरद्याशीति योनिर्ग म्मस्थानं कलायाः स च गुहरे । अस्मर्षः । गुह्रमयेव कला उद्याशीति ८८ वन कृतस्यविर्षः । अस्मर पादा द्वारिषत् रेखा एव गन्धर्वाभासः सपुनि कथयित्वा परिषेपात् गुह्रकलां कथयति । एकवचनारिषत् नाम संक्षयप्रभं गुरवो मयि । एतेन शार्ङ्ग इति संक्षयं वयो गुरवः ।

१८४. यथा वे लंघ इति । वे लंघागिरिमेतल्लाता स्तलिताः सम्प्रेम-
स्तिनारगीकुलस्यजलसीकलनेन वरिष्ठं प्राप्ता इदानीं मल्लानिहा विरिष्णो-
निष सर्वर्षिणः कथा शिशुरत्येपि भवति बहलाख्यास्त्वया इव ।

१८५. तस्यैव लङ्घप्रीतामाह पयारे इति । शार्ङ्गशारङ्गं वानीदि । वन प्रसारे ठङ्गनिष्कर्षा नीति कामयनि भेदनि वयो गुरवो मयि । कर्णेनोन्त लानि हरयते । तथा हो लम् उतरवामरं गुहः, तथा पुनर्गन्धो लम्, उखल्लग्न गन्धा लम्, तथा नीति कामयनि वयो गुरवोपि उखे गन्धो लम्, उखे हे वामरे हो गुह योमेते । अथपि आदिस्युभिक्तो गण इत्यर्थः ।

१८६. यथा वं योर्ध्व इति । यदीर्घावनयोर्ध्वं लोचनमुगलं लंघास्यार्धं मुक्तं हस्ताकृष्टे केरपस्तकवचने वृन्ति यद्विन्दता, परेण सिचवाक्चलं विवर्ति-
कमने स्तान्त्रेविस्त्रिषा अनीता योयेश्वरेषीया अद्भुतैकजननी ।

१८७. अथ चन्द्रमाका ठङ्गि इति । उरगकवि विपत्तो विमलमयि-
जनसमिति चन्द्रमाका कथयति । वन द्विष्वरमुगलं स्थापयित्वा मध्ये कटलं
केतुगुण्यगुण्यगणं कुह । उखे विवद्वरगलं कुह । मध्ये कटलमण्य
मध्ये यो कटल्लोङ्गुवचगुण्यगणो भूता तस्मात्पुनर्गुण्यगुण्यं कुर्वित्वः । यत्र
विमलं सगद्यं भूषा मय्ययेतो गतिं व्यापयति माय्य मनो पाटीस्वर्गः ।

१८८. यथा अमिष इत्यादि सुगम ।

२११ अथ किरीट*, ठावहु इति । किरीटनामकं छंदो निगोपय । यत्र आदौ शक्रगणः पट्क्लृगणः प्रथम स्थाप्यते । ततः शल्यद्वय विसर्जय लघुद्वय देहि । ततो नृपूरः गुरु । ततः शब्दद्वय लघुद्वयं कुरु । तथा नृपूरं गुरुः । एवमेव द्वादशगणान् कुरु, गुरुणा लघुद्वयेनेति अत्रैकाहल्युगलं लघुद्वयं स्थापय । एवंप्रकारेण चतुर्विंशति वर्णान् प्रकाशय । पदे पदे द्वात्रिंशन्मात्रा लेखय । अष्टौ भगणा भवति ।

२१२. यथा वप्पअ भत्ति इत्यादि सुगम ।

२१३. अथ द्वितीय त्रिभगी, सब पअहि इति । त्रिभगी भण, किं भूता शुभागी सज्जना सामानिका । यत्र सकलपदेषु प्रथम दशसु प्रियगणा भण्यते । ततः कातो हस्त आदिगुरुः चतुष्कलगण, ततो गुरुद्वय, ततो वलयरूपो गणो गुरुः, ततो द्विलघुगण, ततो द्विगुरु, हे गजगामिनि शशिमुखि करसयुक्ता मात्राद्वय-संयुक्ताश्चत्वारिंशन्मात्रा यत्र पदे भवति । गणयित्वा भण्यते । सकले छंदसि अष्टपञ्चव्यधिकशत मात्रा भवति ।

२१४ यथा नअइ इत्यादि सुकर ।

२१५ अथ सालूरः, कण्ठेक इति । सालूरनामक छंदो भवति । प्रथम कण्ठे द्विगुरुगण एको दीयते । सरसपद ध्रुवमेतच्छ्रद्धः परिपतति । तत्र यदग्रे वक्ष्य-भाष्य तत्तदस्थाप्य सुवर शोभनाना मध्ये वर श्रेष्ठ, हे सुभणिते हे मनोहरे हे रजनी-प्रभुमुखि हे कमलनयने द्वात्रिंशन्मात्रा स्थापय । तस्याते विलये करतलगण पदे देहि । मात्रावर्णसुललितं मध्ये पट्चतुष्कलगणान्सर्वलघुगणान् कुरु इति कवि-दिनकरः भुजगपाद कथयति ।

२१६. यथा जं फुल्लू इत्यादि सुकर ।

प्रक्षेपशंकानिराकरणाय उक्तानां छंदसानामानि संगृह्य कथयति सिरिकाम इति । श्रीः १ काम. २ मधु ३ मही ४ सार. ५ ताली ६ प्रिया ७ शशी ८ रमणः ९ इति जानीत, पंचालः १० मृगेंद्रः ११ मदरः १२ कमलं १३ तीर्णा १४ घारी १५ नगाणी १६ समोहा १७ हारीतबंध १८ हंसः १९ यमकं २० शेष २१ तिल्ला २२ द्वियोधा २३ ततः चौरसा २४ मथाना २५ शंख-नारी २६ एतत्पर्यंतं छंदोमिलितेत्यर्थः, मालती २७ दमनकः २८ समानिका २९ सुवास. ३० करहच ३१, ततः शीर्षरूपकं ३२ विद्युन्माला ३३ प्रमाणिका ३४ मल्लिका ३५ तुगा ३६ कमला दृष्टा ३७ महालक्ष्मीः ३८ सारंगिका ३९ पाहत्ता ४० कमला ४१ बिंबा ४२ तोमर ४३ रूपमाला ४४ संयुक्ता ४५ चपकमाला इति जानी-हि ४६ सरस्वती ४७ सुप्रमा ४८ अमृतगति ४९ वन्धु ५० सुमुखी ५१ दोषकः ५२ शालिनी ५३ दमनक. ५४ सेनिका ५५ मालती ५६ तथा एका इन्द्रवज्रा ५७ उपेन्द्रवज्रा ५८ एतज्जानीहि । विद्याधरः ५९ तथा भुजगप्रयात ६० लक्ष्मीधरः

गुरुः, यत्रैवाधिकविशति लघुगुरु मयता । एव द्वादश गुरवाः । पिङ्गः उक्त
रलोकार्थकशास्त्रो द्वाविंशदधिकपञ्चतस्रस्यो भवति ।

२ ९ यथा ईसा इति । ईर्षोरोपराजप्रणतिषु बहुशो स्वर्गमागच्छेत्तस्मै
पुष्टिष्यति हरिनन्दनशारङ्गपुष्पाब्जा ब्रह्म क्थेयनामुक्तापञ्चार्दे नतमोक्षिनिदिताम-
हस्ताम्ना अर्धे शीघ्र इतिदिन भवति गिरिपुत्रपादपङ्कजैरहयोः ।

२ १० अथ नरेन्द्रा, आहृदि इति । एतन्मर्त्यनामकं ज्ञेयं । यत्र आशौ पञ्च
गण आरिगुहपञ्चभूषणगण प्रचाराः । अन्तरं जोहको रण्य रथाप्यते । अहस
शब्दगणप्रभृतिर्लक्षणोनाम । ते च सप्त शतम्भाः । उत अङ्गो गुरुः । उत सप्त
एको लघुः । उतो नरपतिर्भवन्मा, उत शङ्को लघुः, उतो गुरुद्वयं । अथ च
यदि नरेन्द्राजपति उवा प्रथमं पञ्चतस्रो भवति । उतः अहसशब्दो भवति । उतः
सुगन्धारिस्तुल्यैरभ्यो भवति । उतो मुनिगणा ब्राह्मणा पति । उतः अङ्गमापन्नं कर्म
विशोक्तते । एका मेरी शब्दाप्यते । पूर्वैरे शङ्का । उतश्चात्तरादयं प्रचरप्यते ।

२ ११ यथा कुशिलम्ब इति इत्यादि शुभम् ।

२ १२ अथ ईश्वरी विष्णुमात्मा इति विष्णुमात्मा अहरीप्यते । एतन्मर्त्ये द्विकल्प
मस्तुल्लभगुणः श्रीहर्याः बहुगुणपुष्पाः । अतो कर्म द्विगुण्यताः । श्रीहर्याः शुद्धतर्कः ।
भवति अथि विगता, श्रीहर्याः अविपतिः अविपत्ति, पुनः श्रीहर्याः शुभपुष्पाः । यत्र
द्वाविंशत्माया भवति, श्रीहर्याः पञ्चपञ्चदशितुल्लभपुष्पाः । एतद् ईश्वरीनाम्
सुदः सप्तपञ्चकनमनोहराभ्यो ।

२ १३ यथा खेलाब्जा इत्यादि शुभम् ।

२ १४ अथ सुन्दरी, अहि इति । एभिर्मात्रभिः पञ्चाक्षरीं पिङ्गो भवति । एभि
कर्म सुन्दरीसुन्दरी भवति । यत्र अहरी इत्येतत्पुङ्गुः पञ्चपञ्चतस्रः, उत अहसोऽन्त
गुरुपञ्चतस्रः एव, उत पादगणा अरिगुहपञ्चभूषणगणा उतो लघुद्वयं ।
कर्मपञ्च द्विगुण्यताः । उतश्चात्तरं शुभं स्थापय । उत अहसद्वयं लघुद्वयं ।
उतो कर्म गुरुः, उतः सप्तपञ्च लघुद्वयं । पक्षे शङ्काभ्यो भवन्ते । प्रबोनि-
शतिर्भवेत्तत् प्रमाणसिद्धिः ।

२ १५ यथा अहिः येन अहिः इत्यादि शुभम् ।

२ १६ अथ सुमित्रा सुमित्रा इति । सुमित्रा प्रचरप्य । कर्मन् विरोधः ।
पञ्चद्वेन पिङ्गोऽन्यथा यथा स्यादेवं गण्य दृष्टा । द्वाविंशत्मायाभिर्मन्त्रिणा वाक्त्
अरोपं तस्मै ज्ञात्वा । अहसु स्थानेषु लग्नं स्थापय । अन्यो गन्धे न भिद्यते । श्रीर्ति
र्भवते । अन्योऽप्यगन्धे ब्रह्म भिद्यते तदा अनेकाप्यारेण रूपेण सगति । यतो यतो
भवति परे दशतु अहसु तत्पञ्चदशतु ।

२ १७ यथा लघु विविधज इत्यादि शुभम् ।

परिशिष्ट (२)

श्रीलक्ष्मीनाथभट्ट विरचित "पिङ्गलप्रदीप" समाख्या व्याख्या,

प्रथमः परिच्छेदः

गोपीपीनपयोधरद्वयमिलच्चेलाञ्जलाकर्षण
 क्षैलिव्यापृतचारुचञ्चलकराम्भोज मज्जकानने ।
 द्राक्षांमञ्जुलमाधुगीपरिणमद्वाग्विभ्रम तन्मना-
 गद्वैतं समुपास्महे यदुकुलालम्य विचित्र महः ॥

लम्बोदरमवलम्बे स्तम्भेरमवदनमेकदन्तवरम् ।

अम्बेक्षितमुखकमल य वेदो नापि तत्त्वतो वेद ॥

गङ्गाशीतपयोभयादिव मिलद्भालाक्षिकीलादिव
 व्यालक्ष्मेलजफूत्कृतादिव सदा लक्ष्म्यापनादिव ।
 स्त्रीशापादिव कण्ठकालिमकुहूषानिव्ययोगादिव
 श्रीकण्ठस्य कृशः करोतु कुशल शीतद्युतिः श्रीमताम् ॥

विहितव्या मन्धेऽपि दत्तानन्देन बाह्मय देहम् ।

शब्देऽर्थे सदेहव्याय वन्दे चिर गिर देवीम् ॥

भट्टश्रीरामचन्द्रः कविविबुधकुले लब्धदेहः श्रुतो यः
 श्रीमान्नारायणाख्यः कविबुद्धमणिस्तत्तनूजोऽजनिष्ट ।
 तत्पुत्रो रामभट्टः सकलकविकुलख्यातकीर्तिस्तदीयो
 लक्ष्मीनाथस्तनूजो रचयति रुचिर पिङ्गलार्थप्रदीपम् ॥

श्रीरामभट्टतनयो लक्ष्मीनाथ समुल्लसत्प्रतिभः ।

प्रायः पिङ्गलसूत्रे भाष्यं विधाति ॥

जलौकसा तुल्यतमैः सौः किं

सता परानन्दनमन्दिराणां

॥ १ सोयः ॥ २ चारंग ॥ ३ मोक्षिण्यम ॥ ४ मोक्ष ॥ ५ तरलननी ॥ ६
मुंदरी ॥ ७ लो माया ॥ ८ चारंग ॥ ९ कं ॥ १० पंचाक्षरी ॥ ११ वरुणवित्तक
॥ १२ कं ॥ १३ अमराक्षरी ॥ १४ चारंगि ॥ १५ चामरा ॥ १६ निरिपला
॥ १७ मनोहरा ॥ १८ मासिनी ॥ १९ चारंग ॥ २० नारायण ॥ २१ नीला ॥ २२ लो पंच
॥ २३ बानीत ॥ २४ मकरपुष्प ॥ २५ पुष्पी ॥ २६ मालापर ॥ २७ शिखरिणी ॥ २८ मुक्ताहार
॥ २९ मंथरी ॥ ३० श्रीरामचंद्र ॥ ३१ चरणी ॥ ३२ चारुं ॥ ३३ बानीदि ॥ ३४ चामरा
॥ ३५ चक्रांग ॥ ३६ चंद्रा ॥ ३७ गोता ॥ ३८ गंधका ॥ ३९ सुगंधा ॥ ४० मरुता ॥ ४१ हरी
॥ ४२ सुन्दरी ॥ ४३ सुमिता ॥ ४४ इति बानीदि ॥ ४५ किरित्तका ॥ ४६ अक्षर
विमंथी ॥ ४७ साधुरा ॥ ४८ इत्येव पञ्चविंशत्यक्षरं इति सिद्ध इति नाम्ना
प्रतिष्ठा कर्त्तव्या वक्ष्यते ।

सन्मित्रभार्यविप्रविप्रियया विंगलसारविप्रयिन्या वर्णवृत्तं नाम द्वितीया परि
च्छेदः समाप्तः ।

विंशत्यारविन्दशिख्येण केनां मनः सुखिनां । न हस्ति रविहरयितादि
 रुचिरवर्धमारो ॥ १ ॥ आसीच्छीशुलगाणि सुविधिविबुधसामाविभामभूमि
 स्तत्पुत्रो भूमिदेवांडुवन्नतर्धभिन्नप्रप्रायरोऽभूत् । तस्मादासीमभूमीकलवमुदिदि
 तान्तवर्ध्वीतप्रदानं पुत्रः साक्षात्पुत्रारिगुणगणहरितो होरविः पंडितोऽभूत् ॥ २ ॥
 पद्मेदयस्तस्य पुत्रो भवद्वितीयादितो मिभमीमेष्टवरोऽभूत्तनुः क्षरितवर्णः क्षत्रगुणगणः
 कुमदिहोऽतिनिष्ठः । (आत्मनस्मात्) पवित्रो हरिहर सुधवि () साधु व्यवहार
 यद्विषां नित्योपकारद्विहमतिप्रियता भीरुविहागुलोऽप्रि ॥ ३ ॥ तेनोदकपानं कृत्वा
 विषयं दीशानिमामहगुणेन तदा । क्षिपामसीषा वरमुपदेव प्रमादनीयेत इति
 मयादा ॥ ४ ॥ सागरमुत्तारितोऽननसादरननाबल्ललरत्ना । मधुगुणाहर
 -होदरानुरक्तानां हरिर्भवति ॥

परिशिष्ट (२)

श्रीलक्ष्मीनाथभट्ट विरचित "पिङ्गलप्रदीप" समाख्या व्याख्या.

प्रथमः परिच्छेदः

गोपीपीनपयोधरद्वयमिलञ्चेलाञ्जलाकर्षण-

क्षेत्रेलिव्यापृतचारुचञ्चलकराम्भोज प्रनन्कानने ।

द्राक्षाभञ्जुलमाधुरीपरिणमद्वाग्विभ्रम तन्मना-

गद्वैतं समुपात्महे यदुद्गुलालम्य विचित्र महः ॥

लम्बोदरमवलम्बे स्तम्भेरमवदनमेकदन्तवरम् ।

अम्बेक्षितमुखकमल य वेदो नापि तत्त्वतो वेद ॥

गङ्गाशीतपयोभयादिव मिलद्भालाक्षिकीलादिव

व्यालक्ष्मिलजफुल्लतादिव सदा लक्ष्म्यापनादादिव ।

स्त्रीशापादिव कण्ठकालिमकुहूषानिव्ययोगादिव

श्रीकण्ठस्य कृशः करोतु कुशल शीतयुतिः श्रीमताम् ॥

विहितदया मन्देध्वपि दत्त्वानन्देन बाढ्म्य देहम् ।

शब्देऽर्थे सदेहन्ययाय वन्दे चिर गिर देवीम् ॥

भट्टश्रीरामचन्द्र कविविबुधकुले लब्धदेहः श्रुतो यः

श्रीमान्नारायणाख्यः कविमुकुटमणिस्तत्तनूजोऽजनिष्ट ।

तत्पुत्रो रामभट्ट सकलकविकुलख्यातकीर्तिस्तदीयो

लक्ष्मीनाथस्तनूजो रचयति रुचिर पिङ्गलार्थप्रदीपम् ॥

श्रीरामभट्टतनयो लक्ष्मीनाथ समुल्लसत्प्रतिभ ।

प्रायः पिङ्गलसूत्रे तनुते भाष्य विशालमतिः ॥

जलौकसा तुल्यतमैः खलैः किं रम्येऽपि दोषग्रहणस्वभावैः ।

सता परानन्दनमन्दिराणां चमत्कृतिं भक्तृतिरातनोतु ॥

तवगो अन्ता दह वर्णा पाउवे ण ह्वन्ति ॥' अस्यार्थः—ए ओ अ म ल इति पञ्च वर्णानां पुरतः ऐ औ अः य व इति पञ्चैव । सकारस्य पश्चाद्वावपि वर्णौ शबौ । कचतवर्गणामन्त्यास्त्रयः ङञनाः । सभूय दश वर्णाः प्राकृते न भवन्ति । चरणान्ते पातितो वा गुरुरिति । एवविधो यो वर्णः स गुरुर्भवति । अत्र विकल्पार्थे चकारः । किरूपो गुरुरित्यपेक्षायामुच्यते वक्रः अन्तुः । सोऽपि कतिमात्र इत्युच्यते—द्विमात्रो द्विकलः । उक्तं च—'गुरुस्तु द्विकलो ज्ञेयो नागदन्त-समाकृतिः' इति । अन्यो द्वितीयो लघुर्भवति । कीदृशः । शुद्धोऽवक्रः । एककल एकमात्रः । उक्तं च—'लघुस्तदन्यः शुद्धोऽसावेकमात्रः प्रकीर्तितः' इति । ताम्या-मेव गणापन्ताम्या प्रयोजनमिति । गाथा छन्दः ॥

३. तानुदाहरणेन दृढीकर्तुमाह—

पार्वत्या शभौ वृते विजयादीनामन्योन्य सलापः । मातरय वरो रूपेण हेयस्त्रिनेत्रत्वात् । हीनो जात्यादिना अलक्ष्यजन्मत्वात् । नीर्णश्च रोगादिना कण्ठस्थित-विषत्वात् । वृद्धो वयसा । यद्वा अवृद्धोऽसमृद्ध इत्यर्थः । दिगम्बरत्वात् । देवः दीव्यति क्रीडतीति देवः पालि (शि) कः । श्मशानवासक्रीडा-सक्त एतादृशः । तमपि शम्भु कामयमानामिलपमाणा गौरी अहो ग्रहिलत्वमपि (ति) निर्बन्धं करोतीत्युपहासः । अत्र माईत्यादि दीर्घादाहरणम् । हिणो निष्णो इति सयुक्तपरोदाहरणम् । सभु (इति) सानुस्वारोदाहरणम् । कुण्ड इत्यत्र पादान्तलघोर्गुरुत्वोदाहरणमिति । गाथा छन्दः ॥

४ एव लक्षणेन गुरुलघुनुपलक्ष्य कुत्रचित्तयोरपवादमाह—

कुत्रचित्स्थले सयुक्तः परो यस्य एवविधः पूर्वो वर्णो लघुरेव भवति दर्शनेन लक्ष्यानुरोधेन यथा । उदाह्रियत इति शेषः । युवतीनेत्रप्रान्ते सपन्न चित्तधैर्यं परिस्त्रलति । अत्र ह इत्यस्य सयुक्तपरस्यापेक्षया पूर्वस्य रिकारस्य गुरोर्लघुत्वम् । तथात्वे छन्दोभगप्रसङ्गः । गाथा छन्दः ॥

५ श्रपवादान्तरमाह—

इकारहिकारौ विन्दुयुतौ तथा एकारौकारौ च शुद्धौ एकलौ वर्णमिलितौ च तथैव रेफहकारावपि व्यञ्जनेन सह सयुक्ता अपि सर्वे गुरवोऽपि विकल्पेन क्वचित्त्वो भवन्तीत्यर्थः । सिद्धिणी छन्दः ॥

६ एतदेवोदाहरणेन दृढीकरोति नहा—यथा—

मानिनि, मानेन किं फलं प्रयोजनं अथ यदि कान्तश्चरणयोः पतितः । तदा त्यजेन निष्फलं मानमित्यर्थः । यदि स्वभावादेव भुजगमः कामुको नमति स्त्रीभिः प्रियमशीकरणाय मणिमन्त्रौ किं क्रियेते । न किमपीत्यर्थः । अर्थान्तरे च भुजगमः सर्वो यदि स्वभावेनैव नमति शान्तो भवति तदा गारुद्धोद्गारिमणिमन्त्रौ

१२. अथ गुरुलघुगणानन्तर गणाः सावमरास्तत्र च्छन्दःशास्त्रे मात्राप्रस्तारो वर्णप्रस्तारश्चेति प्रस्तारद्वयं तत्र मात्राप्रस्तारे कलागणनापुरःसरं गणव्यवस्थां कुर्वन्नाह—

अयमर्थः—टैठढढणा. पञ्चाक्षराणि षट्षच्चतुस्त्रिद्विकलानां यथासंख्यं सञ्ज्ञा भवन्तीत्यर्थः । गाथा छन्दः ॥

१३. अथ तेषां ससंख्यं भेदमाह—

टगणः षट्कलत्रयोदशभेदः । ठगणः पञ्चकलोऽष्टभेदः । डगणश्चतुष्कलः पञ्चभेदः । ढगणस्त्रिकलस्त्रिभेदः । णगणो द्विकलो द्विभेदः । गाथा छन्दः ॥

१४. मात्राप्रस्तारप्रकारमाह—

आत्मबुद्ध्या । अल्पबुद्धयः शिष्या वा । सदृशी सदृशी पत्तिः । कर्तव्येति शेषः । उर्वरिते गुरुं लघु च दत्तम् । आदौ सर्वे गुरवो लेख्याः । गुर्वघः स्थित-कलातः प्राग् लघुना कलापूरणं चेद्भवति तदा लघुरेव देयः । नो चेद्गुरुं दत्त्वा अपेक्षितश्चेत्तदा लघुर्देयो यावत्कलापूरणम् । वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—‘प्रथमगुरो-रधरे लघुं दत्त्वा शेषं समानमितरेण । उद्वृत्ते गुरुं लघुं वा प्रस्तारं सर्वलघुं यावत् ॥’ अभियुक्तैरप्युक्तम्—‘गुरोरघस्तादाद्यस्य लघुं न्यस्योर्ध्ववत्पुनः । पश्चादूने गुरुं न्यस्येल्लघुं वापेक्षितं क्रमात् ॥ यावत्सर्वलघुस्तावन्मात्राप्रस्तारके बुधः ।’ वर्णवृत्ते तूद्वृत्तस्थले गुरुरेव देयः इति नियमः । तदुक्तं वृत्तरत्नाकरे—‘पादे सर्व-गुरावाद्याल्लघुं न्यस्य गुरोरघः । यथोपरि तथा शेषं भूयः कुर्यादमुं विधिम् ॥ ऊने दद्याद्गुरुनेव यावत्सर्वलघुर्मवेत् । प्रस्तारोऽयं समाख्यातश्छन्दोविचिति-वेदिभिः ॥’ इति । गाथा छन्दः ॥

१५. अथ षट्कलप्रस्तारे त्रयोदशगणानां नामान्याह—

हरः ऽऽऽ, शशी ॥ऽऽ, सूरः ।ऽ।ऽ, शक्रः ऽ।।ऽ, शेषः ॥।।ऽ, अहिः ।ऽ।, कमलम् ऽ।ऽ।, ब्रह्मा ॥।ऽ।, कलिः ऽऽ।।, चन्द्रः ॥ऽ।।, ध्रुवः ।ऽ।।।, धर्मः ऽ।।।।, शालिकरः ॥।।।।, इति त्रयोदशभेदाः षण्मात्राणां टगणस्येति । एषां पर्यायेणापि गणो बोद्धव्यः । लक्ष्ये तथैव दर्शनात् । गाथा छन्दः ॥

१६. अथ पञ्चकलप्रस्तारेऽष्टगणानां नामान्याह—

इन्द्रासनम् पश्चात्सूरः चापः, हीरः चकारः पादपूरणे । शेखरः कुसुमम्, अहिगणः पापगणः लक्ष्ये तथैव दर्शनात् । ‘अहिगणः पापगणो ध्रुवः’ इति वा पाठः । तत्र ध्रुवः निश्चितम् । एव पञ्चकलोऽष्टविधगणस्य भेदः कथितः । प्रस्तारो यथा—।ऽऽ, ऽ।ऽ, ॥।ऽ, ऽऽ।, ॥।, ।ऽ।।, ऽ।।।, ॥।।।, अत्र पञ्चकलप्रस्तारे आदौ लघुं दत्त्वा प्रस्तारो विधेयः । एवमन्यविषयेष्वपि बोद्धव्यम् । अतएव ‘लघुकालभवेन’ इति पश्चाद्वक्ष्यति । गाथा छन्दः ॥

१७ अथ अतुष्कप्रस्तारे पञ्चगव्यनां नामान्याह—

स्मीति पदपुरयो । इति अगणमेदाः पञ्च । अतुष्कप्रस्तारे यथा—५५,
॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, गाथा छन्दः ॥

१८ अथ त्रिकलप्रस्तारे गणितव्यनां (मस्य) नामान्याह—

तपुष्कलमेन लघ्यादित्रिकस्य नामानि ज्ञानीत । गाथा छन्दः ॥

१९ अन्त्यरक्षन्दरा छह । छम्प इत्यपि नामेवम् । सप्तमूर्धं सप्तमूर्धरितं
त्यन्त्ययेत्यपि । शुभंदित्रिकस्त्येषानि नामानि ज्ञानीत । गाथा छन्दः ॥

२० माक्त्स्व क्त्वात् रत्स्व तात्त्विकस्य नारीणां माभिनीनां च यानि नामानि
यानि स्यान्ति त्रिकशुगलस्य कुर्वतेति कविद्वयः विद्वत्ताः कथयतीति । टाक्त्स्व
प्रस्तारे यथा—५५, ५५, ॥ गाथा छन्दः ॥

२१ अथ द्विरक्षप्रस्तारे गणितव्यनामान्याह—

प्रत्येयां स्पर्शकण्ठनपि गुरोर्नाम ज्ञानीहि । गाथा छन्दः ॥

२२ समाकृता संक्षेपताः कविना विद्वत्सेन दत्तं नामेति शेषः । मयक्त्स्व
प्रस्तारे यथा—५५ ॥

२३ अथ लक्षपानुसारीणि क्त्वात्तुष्कप्रस्तारे नामान्त्यप्याह—

कर्त्तमानेन नाम्ना छह इति च रत्त्वप्यग्रेति । कर्त्तमानेन कुर्वीतुषादि
स्पर्शप्रारम्भम् । लक्षलक्षितानामुत्पन्नमावाणां नाम्नाम् । शुभशुगलानामानि सुवर्णेन
छह ज्ञेयनीत्यर्थः ॥

२४ अथान्त्यगुरोर्नामान्याह—

नानामुक्तामरर्थं कैमूयादि । मयन्ति गुणितवानि नामानि शुर्वन्तत्येति ।
गाथा छन्दः ॥

२५ अथ मयगुरोर्नामान्याह—

भूपतिः । अरवपतिः । नरपतिः । गन्धपतिः । वसुधपतिः । रज्जुः । गोपताः ।
अर्गतावधः । अर्कतीः । पञ्चोच्चः । लनाः । मरेन्द्रः । इति नामानि मयगुरो
अतुष्कप्रस्तारे । गाथा छन्दः ॥

२६ अथदिगुरोर्नामान्याह—

पद्मः । पादः । अरवपुगलम् । अथ अन्त्यरित्ययः । गण्डः । वलमद्रः ।
लक्षः । विष्णुमद्रः । दहनाः । मृपुत्रम् । रतिः । कर्षाशुगलौ च छह इति नामानि
विद्वत्ताः प्रकाशयतीति योग्यम् । गाथा छन्दः ॥

२७ अथ अतुर्नपोनामान्याह—

प्रथमं नामेति त श्रुतिः । विद्याः । शिखीयं प्राकृते वृत्तिराजानि क्त्वात्तुष्कप्रस्तारे
इति । अर्कप्रारम्भश्च इत्यपि । लक्षपु तथा दर्शनम् । कतिः शिखरेव

सह । द्विजवरः । परमः । उपायः । चतुष्कलेन लघुवेन एतानि नामानीत्यर्थः ।
गाथा छन्दः ॥

२८. अथ पञ्चकणना कानिचिदुभयवृत्तसाधारणानि नामान्याह—

सुनरेन्द्रः । अहिकः । कुञ्जरः । गजवरः । दन्तः । दन्ती । अथेत्यानन्तर्ये ।
मेघः । ऐरावतः । तारापतिः । गगनम् । भ्रमः । तथा लम्पः । इति पञ्चमात्र-
स्यादिलघोर्नामानि । गाथा छन्दः ॥

२९. अथ मध्यलघो. पञ्चमात्रस्य नामान्याह—

पक्षी । विराट् । मृगेन्द्रः । वीणा । अहिः । यक्षः । अमृतकम् । जोहलम् ।
सुपर्णः । पन्नगाशनः । गरुडः । मध्यलघुके पञ्चकले रगणापरनाम्नि इति नामानि
विजानीत । ण इति नन्वर्ये । उग्राहा छन्दः ॥

३०. अथ पञ्चकलस्यैव सामान्यनामान्याह—

बहुविविधप्रहरणैरपि तन्नामभिस्तदर्थार्थैरपि पञ्चकलको गणो भवति ।

पुनश्चतुष्कलस्यैवसाधारणा सजामाह—

गजः । रथः । तुरगः । पदातिः । एतन्नाम्ना पर्यायेणापि जानीहि चतुर्मात्रम् ।
विग्राहा छन्दः ॥

३१ अथ सामान्यतो गुरुनामान्याह—

ताटङ्कः । हारः । नूपुरम् । केयूरम् । इति गुरुभेदाः । नामभेदाः इत्यर्थः ।

तथैव लघुनामान्याह—

शरः । मेरुदण्डः । कादला । लघुभेदाः भवन्ति । गाहू छन्दः ॥

३२. अपि च—

शखः । पुष्पम् । काहलम् । खः । अशेषैरैतैः सह कनकलतापि । कनकं
लता चेति नामद्वयं वा । रूपम् । नानाकुसुमम् । रसः । गन्धः । शब्दश्चेति
लघोः प्रमाणं निश्चयेन नामानि भवन्ति । गाहा छन्दः ॥

३३ अथ वर्णवृत्तानां गणनाह—

मो मगणञ्जिगुरुन्नयोऽपि वर्णां गुरवो यत्र । नो नगणञ्जिलघु ।
लघुरादौ यस्य स यगणः । गुरुरादौ यस्यासौ भगणः । मध्ये गुरुर्यस्यासौ
जगणः । मध्ये लघुर्यस्यासौ रोगणः । सगणः पुनरन्ते गुरुर्यस्य ।
तगणोऽप्यन्ते लघुर्यस्य । अवहट्टभाषाया लिङ्गविभक्तिवचनरचनमतन्त्रम् । ण इति
नन्वर्ये । यद्वा अत्यलघुवेन तगणो भवतीत्यर्थः । एवमष्टौ गणाः । क्रमोऽत्रावि-
चक्षितः । क्रमस्तु वृत्तरत्नाकरे—‘सर्वगुर्मो मुखान्तर्लो यरावन्तगलौ सतौ । रम्याघौ
चमौ त्रिलो नोऽष्टौ भवन्त्यत्र गणाञ्जिकाः’ ॥ एतैरेव गणैः समस्तवैखरीसूहि-

स्यंता । तदुक्तं लघोरत्नाकरे—‘अस्तमन्गीतामैरिभिरंशमिरदरे । समस्तं
वाह्मस्य व्यातं त्रैलोक्यमिव विष्णुना ॥’ उग्राहा हृमदा ।

३४ अथ कश्चित्कन्यान्तरं कविनायकयोः कश्चित्तीक्षा कश्चित् उन्मुक्तिरुक्ते
तथा वृत्त्यनुवृत्त्यौ तत्र देवत्ववृत्त्यनुवृत्त्यौ हेतु इति गण्यतेत्याह—

मग्नस्य वृत्तिर्नी । वग्नस्य वल्लम् । रग्नस्य शिखी । लग्नस्य वक्ता ।
लग्नस्य गगनम् । वग्नस्य वृत् । मग्नस्य वन्द्य । नग्नस्य नागा । एवं गग्न-
स्यस्येष्टदेवता कथासंख्यं पिबन्तीति कथितम् । अथ वत्स कश्चित्स्वाद्यो यो
गव्यस्तिथिस्तस्यैव शुक्लो यो मासातिथिः । भूपरोऽप्युक्तम्—‘महो ज्ञानवा-
निताः स्वरूपेभ्योऽप्यनगाः । क्लीबवरेण कीर्तिता गग्नस्येष्टदेवताः ॥

३५ अथ पञ्चानां मित्रमित्रादिक्रमाह—

मग्नो मग्नश्च द्वौ मित्रे भक्ता । मग्नवग्नौ भूत्ये भक्त । कग्नवग्नौ
ह्यकमुखादीनौ भक्ता । अक्षिशिखौ लग्नवग्नौ नित्यमरीमयत । भूपरोऽपि—‘मैत्रं
मग्नमग्नयोर्मैत्रमग्नयोश्च भूतम् । अस्मात्सं कग्नवग्नौरिन्द्रा कग्न-
रग्नयोर्दक्षिणः ॥’ इति । इयं च गन्धमित्रमित्रव्यवस्था कविनायकयोरिति बोद्ध-
व्यम् । बोधा लंका ।

३६ अथ तेषां फलान्वाह—

कश्चित्स्य प्रत्यक्षादौ वा मग्नौ पठिते श्रद्धाः सिद्धं च धर्मं भवति ।
कग्नश्चेत्यतः सुखं सम्पदं च ददाति । रग्नौ पठिते मरणं भवति । लग्नः
छात्राणामिच्छेदाद्विवाचयति । लग्नः शत्रवं फलं कथयति । कग्नः कश्चित्स्य
निरोपयति संतापकरो भवति । मग्नः कथयति मङ्गलान्भवे । तत्र प्राम्थ्यं
लुप्तमिति—सुकविः पिबन्तः परिमपते । लुप्तम्—‘मो वृत्तिः भिक्ताज्जोति
नक्तं वृद्धि रक्षिर्मुक्ति लो वायु’ परदेशपुराणम् लब्धोम शत्रवं फलम् । अ-
ल्लो वक्तादवाति विपुला मेघुर्यसो भिन्नं नो माग्नश्च सुखमहा फलमि-
न्द्रादुर्गानां वृत्ताः ॥ पातकान्धं गथा बोधा वा तत्र प्रथमाक्षरे वृद्धौ ममकश्चै-
वम्यति तत्र तस्य कर्मेनायकस्य वा अक्षिर्भुक्तिः सर्वमपि लुप्तमिति । इत्यतः रत्नं
रावकुलं च उत्पद्यति । सुखं निश्चितं जानीत । भूपरोऽपि—‘मः सम्पदं
भित्तुते नग्नो वग्नश्च भेदा कतेति मग्नौ वग्नौ कर्त्तव्यं च । देवादिवाचयति
ल्लो रग्नौ निहितं लुप्तं विनाशयति अस्तम्योऽप्येवन्ता ॥ अक्षिशिखोपमेष्टमि-
न्द्रादुक्ता—‘वर्षेति नायको यत्र दत्तं उत्पद्यमादिरोत् । अम्यथा तु इति व्याख्ये
करोर्दोषादहं फलम् ॥ देवता वर्षेति यत्र कथ्ये कापि क्लीबवै । मित्रमित्रमित्रादौ
वा न तत्र फलकल्पना ॥’ इति । किञ्च देवताकथनाः शब्दा ये च मन्त्रादिवाचका
ते तत्रैव नैव निम्ना लुप्तिरिति गग्नोऽपि च ॥’ इत्युक्तमाह । परम्परा ॥

३७-३८. गणद्वयसंयोगेऽपि फलविशेष इति सूचयितुं गणद्वयविचारमाह—

ग्रन्थादौ ऋत्विक्स्य वादौ मित्रमित्रे मगणनगणौ । विपरीतौ वेति सर्वत्र चोध्यम् । ऋद्धिबुद्धौ अथ च मङ्गलमपि दत्तः । मित्रभृत्यौ मगणभगणौ नगण-
यम्णौ वा स्थिरकार्यं युद्धे निर्भयं यथा स्यात्तथा जय च कुरुतः । मित्रोदासीनयो-
र्मगणजगणयोर्नगणतगणयोर्वा कार्यबन्धः स्वैर्य नास्ति पुनः पुनः क्षीयते । मित्र
शत्रुश्च यदि भवतः मगणरगणौ नगणसगणौ वा तदा गोत्रजा बान्धवाश्च पीडयते ।
अरु इत्यानन्तर्ये । भृत्यमित्रयोर्यगणमगणयोर्भगणनगणयोर्वा सर्वे कार्ये भवति । भृत्य-
भृत्ययोर्यगणमगणयोरायतिरुत्तरकालो वर्धते । भृत्योदासीनयोर्यगणजगणयोर्भग-
णतगणयोर्वा सर्वं धनं नश्यति । भृत्यवैरिणोर्यगणरगणयोर्भगणसगणयोर्वा आक्रन्दो
हाहाकारो भवति । पततोत्थं । उदासीनो मित्रं च जगणो भगणस्तगणो नगणो
चा तदा कार्ये किञ्चिन्मन्दं दर्शयति साधारणं फलं भवति । उदासीनो यदि भृत्यो
जगणो भगणस्तगणो यगणो तदा सर्वा आयतीश्चालयति । उदासीनोदासीनयोर्ज-
गणतगणयोर्मन्दमशुभं वा शुभं वा किमपि फलं न दृश्यते । उदासीनो यदि शत्रु-
जगणो रगणस्तगण सगणो वा तदा गोत्रमपि वैरी लुप्तयते । यदि शत्रुरनन्तरं मित्रं
रगणो मगणं सगणो नगणो वा भवति तदा शून्यं फलं भवति । यदि शत्रुभृत्यौ
रगणो यगणं सगणो भगणो वा तदा गृहिणी नश्यति । पुनः शत्रूदासीनयो रगण-
जगणयोः सगणतगणयोर्वा धनं नश्यति । शत्रुस्तथा पुनः शत्रुर्यदि सगणस्तदा
नायकः पतति । षट्पदयुग्मेन गणद्वयविचारः कथितः । भूषणेऽपि—‘मित्रयोरु-
दिता सिद्धिर्जयः स्याद्भृत्यमित्रयोः । मित्रोदासीनयोर्न श्रीः स्यात्पीडा मित्रवै-
रिणोः ॥ कार्यं स्यान्मित्रभृत्याभ्यां भृत्याभ्यां सर्वशासनम् । भृत्योदासीनयोर्हानिर्हाकारो
भृत्यवैरिणो ॥ उदासीनवयस्याभ्यां क्षेमसाधारणं फलम् । स्यादुदासीनभृत्याभ्याम-
स्त्रायत्तश्च सर्वतः ॥ उदास्ताभ्यां फलाभावः परारात्योविरोधिता । शत्रुमित्रं फलं
शून्यं स्त्रीनाशः शत्रुभृत्ययोः ॥ शत्रूदासीनयोर्हानिः शत्रुभ्यां नायकक्षयः ॥’ इति ।

३९ अथानन्तरं छान्दसपरीक्षार्थं कौतुकार्थं च मात्राणामुद्दिष्टमाह—

एतदुक्तं भवति—षट्कलप्रस्तारे एको गुरुर्द्वौ गुरु (लघू) एको गुरु-
रित्येवमाकारो गणः कुत्रास्तीति प्रश्ने कृते तदाकारं गणं लिखित्वा पूर्वयुगलेन
सदृशं समानाङ्को देयः । आदिकनाया प्रथमाङ्को देयः । पूर्वयुगलाभावादुत्सर्गसिद्धो
द्वितीयोऽङ्कस्तदधस्तदनन्तरं पूर्वाङ्कद्वयमेकीकृत्य तत्संख्यकोऽङ्कोऽग्रे पूर्वयुगलसमा-
नाङ्कस्त्रिपञ्चादिर्देयः । इति पूर्वयुगलक्रमार्थः । अत्र गुरोरुपर्यधश्चाङ्को देयः ।
द्विकलत्वात् । एतच्च गुरुशिरपदाल्लभ्यते । एव तेष्वङ्केषु शेषे चरमेऽङ्के
त्रयोदशरूपे यावन्तो गुरुशिरस्था श्रङ्कास्तावन्तो लोप्याः । ते च नव ते अवधिरूपे
त्रयोदशाङ्के लोप्याः । उर्वरितमङ्कं प्रकृते चतुरङ्कं मिलित्वा चतुःस्थानकोऽयं

गग इत्यानय । ये उत्तरिपादयो भुवमुदिष्टं क्षयिताहृत्यान् वानीहीति । एवं च पञ्चकृतप्रस्तारे द्वौ लघू एको गुरुको लघुरेवेत्येवमयो गगः कुत्र स्थानेऽस्तीति प्रश्ने पूर्वमुगल्लसमानाहृत्यान्वत्वा शेषेऽष्टमेऽष्टौ गुरुशिरोऽष्टलुत्तीयोऽष्टौ सोम्येऽष्टतिष्ठ पञ्चमाष्टौ भवति तस्मात्पञ्चमो गगस्तादृशो भवतीति श्रुतिव्यम् । अदिहृत्य क्षयितस्य गगस्य स्थानमात्रानयनमुदिष्टम् । एवं च चर्मप्रस्तारे प्रथमे शेषे च मध्ये शङ्खे नालीति द्वितीयस्थानादारम्यान्वत्पूर्वस्थानेषु प्रश्ने इति बोद्धव्यम् । भूप्येऽपि—इत्या पूर्वमुगाहृत्य गुरुशीर्षाहृत्य विष्टुप्य शेषाष्टौ । अष्टेरिष्टेऽष्टशिष्टेः शिष्टेः शिष्टमुदिष्टम् ॥ पादाकुलकं क्षयः ॥

४-४१ अथ माघाहृत्य पूर्व कर्म माघं तथ परकृतप्रस्तारे प्रस्तापत्तरे वा अनुकरणानि कीदृश (?) इति प्रश्ने उत्तरमाह—

एवमुक्तं भवति—पञ्चकृतप्रस्तारे प्रश्नस्याऽऽर्थाः कलाकला क्षयः क्षिप्तम् । यथा पूर्वसदृशा अष्टौ एकद्विषिपञ्चादशकोदशकमा अष्टौ क्षिप्तान् । शेषे वृद्धेऽष्टौ सोम्येति । तत्तत्पञ्चादशे शेषाष्टेऽपराधितुष्य सिक्तित्वा क्षयः । तत्र प्रश्नमाह—ये योऽष्टौ शेषाष्टे सोपमितं शक्यते च पुनः स्थापारिक्तपञ्चा परमात्रं पञ्चम गुरुर्वाक्ये । पञ्चकृतप्रस्तारे द्वितीयस्थाने कीदृशो गग इति प्रश्ने वषाहृत्य स्थापनीयः । पूर्वमुगल्लसदृशा अष्टौ देयाः । शेषाष्टे नवोदश । वृद्धाष्टसोपे द्वितीयस्थाने सति एकदशपञ्चादश भवति । तन्मात्रपरिष्ठाहृत्योपेऽष्टापरिष्ठाहृत्योदशपरिष्ठाहृत्य कलाकलाक्षये गुरुर्मवति । अत्रादिहृत्य क्षयः । तत्र पञ्चसोपासकक्षयान्नसोपे वृद्धे चतुर्थ्यम्पमपरे गुरुर्मवति । शेषाष्टं माघशिष्यत इति प्रथमं लघुहर्ममेव । तत्र चतुर्थौ लघुहर्म परचाद्गुरुहर्ममेव तादृशो द्वितीयो भवतीत्यर्थः । गगोभूप्येऽपि—‘नष्टे हृत्या कलाः कर्माः पूर्वमुगमाहृत्योक्त्या । वृद्धाष्टरीनशेषाष्टं केन केनैव पूर्वते ॥ परं कलामुपाशय तत्र तत्र गुरुर्मवत् । माघात्ता नष्टमेतत्तु क्षयिणेन मापितम्’ ॥ इति ।

४२ अथ क्रमप्राप्तं गगोदिष्टमाह—

अस्मर्या—चतुरक्षरप्रस्तारे द्वौ गुरु एको लघुः एको गुरुरिति गगः कुत्रास्तीति प्रश्ने कृते पूर्व गगं सिक्तित्वा प्रथमे प्रथमगुरोरपरि प्रथमाष्टौ देवाः । ततो द्विगुराभिगुण्यनष्टान्वेदि । द्वितीयगुरोरप्युपरि द्वितीयोऽष्टः । तृतीये लघौ चतुरष्टः । चतुर्थे गुण्यनष्टाष्टौ देवा इति द्विगुण्यम् । एवं प्रश्नोद्देशं गगं कुत्र । ततो लघोरपरि योऽष्टस्तत्राधिकमिष्टमाहृत्य देवा येन छैक्ये कृते योऽष्टो भवति तद्वत्तमने स्थाने च गगोऽस्तीति । प्रकृत्ये तु चतुर्थ्योपरि एकमपिष्टं देवा पञ्चमोऽष्टः कर्तव्यः तस्मात्पञ्चमस्थाने तादृशो गगोऽस्तीति व्यतप्यम् । भूप्येऽपि—

‘उद्दिष्टे वर्णोपरि दत्त्वा द्विगुणक्रमेणाङ्कम् । एक लघुवर्णाङ्के दत्त्वोद्दिष्ट विजानीत ॥’
गाथा छन्दः ॥

४३. अथ वर्णानां नष्टमाह—

अत्र भागो नाम नष्टाङ्कस्यार्धकरणम् । यथा चतुरक्षरप्रस्तारे षष्ठो गणः
किमाकार इति प्रश्ने षडङ्कभागं कृत्वा तदर्थं त्रयं स्थाप्यम् । अथ च समानो
भागः । तत एको लघुर्लैख्यः । अनन्तरं द्वयस्य भागं कृत्वा एकं स्थाप्यम् ।
तदैको लघुर्लैख्यः । ततोऽप्यवशिष्टे विषमे एकं दत्त्वा एकस्य च भागं कृत्वा
एकमेव स्थापनीयम् । तदैको गुरुर्लैख्यः । एव च प्रथमे लघुरनन्तरं गुरुस्ततो
लघुरन्ते गुरुरेवमाकारचतुरक्षरप्रस्तारे षष्ठो गण इति वेदितव्यम् । तथा च वाणी-
भूषणे—‘नष्टे तु कल्पयेद्भागं समभागे लघुर्भवेत् । दत्त्वैकं विषमे भागः कार्यस्तत्र
गुरुर्भवेत् ॥’ एव समे भागे लघुर्जातव्यः । विषमे एकं दत्त्वा पुनः पुनर्गुरुर्जातव्यः ।
अरिल्ला छन्दः ॥

४४. अथ वर्णमेरुमाह—

‘सूच्य मेरु निःशङ्कम्’ इति वा । अयमर्थः—एकाक्षरादि षड्विंशत्यक्षर-
पर्यन्तं स्वस्वप्रस्तारे कति सर्वगुरवः कत्येकादिगुरवः कति सर्वलघवः कति वा प्रस्तार-
सख्येति प्रश्ने कृतैः मेरुणां प्रत्युत्तरं देयम् । तत्रैकाक्षरादिक्रमेण षड्विंशत्यक्षरावधि
कोष्ठकान्निश्चय्य आदावन्तैः च कोष्ठके प्रथमाङ्को देयः मध्यस्थकोष्ठके च तदीयशिरः-
कोष्ठद्वयाङ्कं शृङ्खलाबन्धन्यायेनैकीकृत्यापरं शून्यकोष्ठकमेकीकृताङ्केन पूरयेत् । एवमन्य-
त्रापि पूरणीये कोष्ठके कोष्ठानामुपरिस्थितकोष्ठद्वयाङ्कमुक्तबन्धन्यायेन पूरणं विधेयम् ।
एकाक्षरे कोष्ठद्वयं द्वयक्षरे कोष्ठत्रयमित्यादि प्रत्यक्षरमेकैकवृद्ध्या षड्विंशत्यक्षर-
पर्यन्तं मेरुं कर्तव्यः । तत्रैकाक्षरप्रस्तारे आदावेकगुर्वात्मकस्तदन्ते चैकलघ्वात्मकः ।
द्वयक्षरे तु सर्वगुरुरादौ मध्ये गुरुद्वयमन्ते च सर्वलघुरिति । अक्षरे चादौ सर्वगुरुः
स्थानत्रये द्विगुरुः स्थानत्रये एकगुरुः अन्ते च सर्वलघुरिति । एव च सुधीभिश्चि-
न्तनीयम् । सर्वोणे प्रस्तारसख्यापि ज्ञायते । तथा च भूषणे—‘कोष्ठमक्षरसख्यात-
मन्याद्योरेकचिद्विहितम् । शीर्षकोष्ठद्वयाङ्केन शून्यं कोष्ठं प्रपूरयेत् ॥’ दोहा छन्दः ॥

४५. अथास्य पताकामाह—

प्राकृते पूर्वनिपातानियमात्प्रथमं प्राप्ताकः परित्यज्यताम् । एवमुक्तं भवति—
पूर्वोक्ते परमर्णं कुरु पूरयितव्यपक्तेः प्रधानाङ्कस्य पश्चात्स्थिता पूर्वाङ्काः । मरणं
पूरणं लेखनकोष्ठक्षानम् । एकत्राधिकस्य प्राप्ता सा पक्तिरेव तदङ्कमरणे त्यज्यताम् ।
प्रस्तारसख्यायां पताका वा वर्धयितव्या । चतुर्वर्णप्रस्तारे एकद्विचतुरष्टाङ्का देयाः ।
अत्रैकाङ्कस्य पूर्वाङ्कासमवादिद्वितीयाङ्कमारभ्य पक्तिं पूर्यते । तत्र पूर्वाङ्क एकाङ्क एव
तस्य परे द्वितीयादयः । ते चाव्यवहितानतिक्रमेण पूर्यन्ते । तथा चैकेन द्वाभ्यां

चा प्रस्तारसख्येति प्रश्ने मेरुणा प्रत्युत्तर देयम् । तत्र द्विकले समप्रस्तारे एकः सर्वगुरुः । द्वितीयो द्विकलात्मकः सर्वलघुरिति श्वेतः । त्रिकले विषमे द्वावेककलौ एकगुरुकौ चान्ते सर्वलघुस्त्रिकल इति समकले । चतुष्कले चादौ द्विगुरुः स्थानत्रये चैकगुरुद्विकलश्चान्ते सर्वलघुरिति । एवमनेन प्रकारेण यावदिच्छ मात्रा मेरावभीष्टमात्राप्रस्तारेषु लघुगुरुप्रक्रिया ज्ञातव्या । अथवा समकलप्रस्तारे वामतः क्रमेण द्वौ चत्वारः षडष्टावनेन क्रमेण गुरुज्ञानम्, विषमे त्वेकत्रिपञ्चसन्तेत्यनेन क्रमेण लघुज्ञानमन्ते च सर्वत्र (लघु) सर्वलघुरिति । उभयत्राप्येको द्वौ त्रय इत्यनया सरण्या दक्षिणतो व्युत्क्रमेण भेदज्ञानम् । अत्र च वामभागे सर्वत्रैकैकाङ्कस्थले सर्वगुरुरिति शिवम् । बाणीभूपणोऽप्युक्तम्—‘द्वय द्वय सम कोष्ठ कृत्वा तेज्वैरुपपद्येत् एव द्वयेकत्रयेकचतु क्रमेण प्रथमेष्वपि । शीर्षाङ्कात्परङ्काभ्या शेषकोष्ठान्प्रपूरयेत् । मात्रामेवरय दुर्गः सर्वेषामतिदुर्गमः ॥’ दोहापादाकुल कच्छन्दसी ॥

४८. अथ मात्रापताकामाह—

उद्दिष्टसदृशा अङ्का स्थाप्याः । ते यथा—एकद्वित्रिपञ्चाष्टत्रयोदशाद्या । ततो वामावर्तेन सर्वान्तिममङ्कं तत्पूर्वैणाङ्केन लोपयेदित्यर्थः । एकेनाङ्केनाग्रिमाङ्कलोपे कृते एकगुरुरूपमानय अन्तिमलोपे द्विगुरुरूपमानय त्रिभिरन्तिमाकलोपे द्विगुरुरूपमानयेत्यादि ज्ञेयम् । एतादृशीमेना मात्रापताका पिङ्गलः शेषनागो गायति । अथ च य एना प्राप्नोति स परं जन पताका बोधयतीत्यर्थः । तत्र षट्कलप्रस्तारे यथा उद्दिष्टसदृशा अङ्का एकद्वित्रिपञ्चाष्टत्रयोदश स्थाप्याः ततः सर्वापेक्षया परस्त्रयोदशाङ्कस्तत्पूर्वोऽष्टमाङ्कस्तेनाष्टमाङ्केन त्रयोदशाङ्कावयवे लुप्तेऽवशिष्टाः पञ्च । तस्य पञ्चमाङ्कस्य तत्पूर्वत्र विद्यमानत्वादष्टमाङ्कलोपात्परकलया गुरुभावाच्च पञ्चमाङ्कात्पक्षिक्रमो विवेक इति तथा च पञ्चमस्थाने ॥॥॥ एवमाकारं रूपमेकगुर्वस्तीति ज्ञान पताकाफलम् । एवमन्यत्रापि गुरुभावो ज्ञातव्यः । तथा पञ्चभिन्नयोदशाङ्के लुप्तेऽष्टावयवशिष्यन्ते ते तु पञ्चाधो लेख्याः । तथा त्रिभिन्नयोदशलोपे दशावयवशिष्यन्ते तेऽष्टाधो लेख्याः । तथा द्वाभ्या त्रयोदशलोपे द्वावयवशिष्यन्ते । द्वयोर्विद्यमानत्वात् । परकलया गुरुरित्युक्तेश्च द्वितीयाकमारभ्य गुरुपक्षिसचारः । ततो द्वाभ्यामष्टभिश्च तल्लोपे त्रयो द्वयधः । तत एकाष्टभिस्तल्लोपे चत्वारि व्यधः । ततः पञ्च । त्रिभिस्तल्लोपादवशिष्टः पञ्चमाको वृत्त एवेति पञ्चभिर्द्वाभ्या च तल्लोपे षट् चतुर्णामधः । पञ्चैकेन तल्लोपे सप्त । षडधो द्वित्रिलोपो वृत्त एवेति एकस्त्रिभिस्तल्लोपेन च सप्ताध इति द्विगुरुस्थानानि षट् मेरावुक्तत्वात् । तथा त्रिलोपे त्रिगुरुरूपमानयेति त्रिपञ्चाष्टलोपे भागो नास्ति । द्वित्रिपञ्चलोपोऽप्यष्टात्मको वृत्त एवेति पञ्चद्व्येकलोपोऽप्यष्टलोपात्मको वृत्त एवेति एकद्वित्रिलोपोऽपि वृत्त एवेति एकत्र्यष्टभि

मिलित्वा अथैवापरमिलित्वालोपे कृते एकोऽवशिष्टः ॥ अथस्थाने । सर्वगुणैकं
वचनम् । यस्मात्ता पठात् । एवमन्वयापि असाध्यस्तानां यथाक्रमं पठात् अथ
न्येति दिक् । बाष्पीभूययोऽपि सर्वपठाद्यमुक्त्वा 'एदेकमत्र सुक्त्वा ज्ञेयं मात्रापठ
अपि' । पाठाकुलकं कुरुः ॥

४६ अथ समाप्तसमन्वितमन्त्रविषयस्य सुखस्य गुणस्य पुण्यस्य नमोऽर्चनमाह—

तथा च सर्वेष्वप्यस्य कति गुरवः कति लघवः इति मन्त्रे कृते पूर्वं सप्त
उद्भासितव्यमुपपद्यते । कलाः कृष्णं वासु कलामु स्युः ऽहररस्यं लभेत् । तत्ते ऽ
वशिष्टाभिः कलाभिर्गुणं जानीति । गुरुज्ञाने सति परिशेषात्तत्तुं जानीत्यवशिष्यम् ।
योहा कन्दः ॥

अथ ब्रह्मर्षी पाशुपतसूक्तस्य अष्टमोऽध्यायः—

[illegible]

ललवितेन । तेन सपन्नान् सिद्धाञ्जानीहि । हे लोकाः, एवमक्षरमर्कटी जानीत ।
यस्या ज्ञाताया मनस आनन्दो भवति । अथ च य एना बुद्ध्यते स एव
वृत्तादीनि बुद्ध्यते नान्य । ततो मर्कटीजाले हस्ती गजो रुद्ध्यते । दुर्गमत्वा-
दिति भावः ।

श्रोलक्ष्मीनाथभट्टेन नारायणतनुभूवा ।

वर्णमर्कटिका प्रोक्ता पञ्चमे प्रत्यये स्थिता ॥

अथ मात्रामर्कटीसप्रतिशमाह—

अथ तत्रैव मात्रादिनिखधिकमात्राप्रस्तारेषु कतिकतिजातिसम्बन्धिवृत्तादयो
भवन्तीति प्रश्ने कृते मात्रामर्कटिकया प्रत्युत्तरं देयमिति मात्रामर्कटीविरचनप्रकाशे
लिख्यते—‘या पिङ्गलेन ऋविना न निरद्धा आत्मनो ग्रन्थे । ता मात्रामर्कटिका
लक्ष्मीनाथेन विरचिता मणत ॥ तत्र तद्विरचनप्रकारे सार्धेन द्विपथा छन्दसा प्रथम-
पक्तिसाधनोपायमाह—‘मात्रासंख्यया कोष्ठ कुरु पक्तिषट्कं प्रस्तारयित्वा । तत्र
तत्र द्वादिकानङ्कान्धारय प्रथमपक्तौ विचारयित्वा ॥ आद्याङ्क परित्यज्य सर्वपक्ति-
मध्ये । मो शिष्य, स्वाभिमतमात्रासंख्यया पक्तिषट्कं यथा स्यात्तथा कोष्ठक कुरु
प्रथमपक्तौ वृत्तपक्तौ यावदित्य क्रमेण द्वादिकानङ्कान्स्थापय । सर्वासा पक्तौना
मध्ये प्रथमाङ्क परित्यज्य । अत्रैव च प्रतिमाति सर्वकोष्ठेषु प्रथमाङ्कत्यागो न सर्व-
कोष्ठत्यागपरः किं तु षष्ठगुरुपक्तिप्रथमकोष्ठत्यागपर इति तत्र गुरोरभावात् अतश्च
सप्रदायात्पञ्चसु कोष्ठेषु प्रथमाङ्कविन्यासोऽवश्यं कर्तव्य एव । अन्यथा वक्ष्यमा-
णाङ्कविन्यासमङ्गापत्ते । एव कृते प्रथमा वृत्तपक्तिः सिद्ध्यतीति । अथ द्वितीया
प्रभेदपक्तिं साधयति चरमार्वेन—‘पूर्वयुगलसदृशानङ्कान्धारय द्वितीयपक्तौ विचार-
यित्वा ।’ एवमुक्तं भवति—एकद्वित्रिपञ्चाष्टादोऽष्टाङ्कलाबन्धन्यायेन क्रमतो धारय ।
एव कृते द्वितीयप्रभेदपक्तिं सिद्ध्यतीति । अथ तृतीया मात्रापक्तिं साधयति—
पदमेति । प्रथमपक्तिस्थिताङ्कैर्द्वितीया पक्तिं गुणय यो योऽङ्को यत्र पतति त तमेव
तृतीयपक्तौ भण । एवकृते तृतीया मात्रापक्तिः सिद्ध्यतीति । द्विपथाछन्दासि । अथ
क्रमप्रप्ता चतुर्थी वर्णपक्तिमुल्लङ्घय युगपदेव चतुर्थषष्ठपक्त्यो साधनार्थं तन्मूलभूता
प्रथमं तावत्पक्तिं साधयति—पदमेति । तत्र प्रथमे द्वितीयमङ्क षट्पि पक्तिषु
प्रथमकोष्ठत्यागाद्द्वितीयकोष्ठमेवात्र प्रथम कोष्ठकम् । अतोऽस्मिन्नेव द्वितीयमङ्क
तदपेक्षया द्वितीयकोष्ठके च पञ्चमाङ्क दत्त्वा ततो बाणद्विगुण दश तद्विगुण विंशति-
श्चेत्येतौ द्वावङ्कौ तृतीयचतुर्थयो कोष्ठयोर्दत्तय । विन्यसतेत्यर्थः । अथ तत्र पञ्चम-
कोष्ठपूरणप्रकारमाह—काज्येति । पञ्चमकोष्ठे स्थितान्द्रयादीनङ्कानेकभाव कृत्वा
एकीकृत्य तस्मिन्नेकीकृताङ्के एकमधिक दत्त्वा ततश्च निष्पन्नेनाष्टविंशता पूर्वापेक्षया
पञ्चमं कोष्ठक पूर्णं कुरु । अत्रत्यषष्ठकोष्ठपूरणप्रकारमाह—तज्जिअ इति । पूर्वास्म

न्द्रादिके पञ्चमोऽक्षरिवाहो एकीकृतो क्त्वेवस्मिन्पञ्चममाह स्वस्वत्वा पुनस्तत्रैकम-
धिकं दत्त्वा पूर्वपञ्चाशतेनैकस्मात्ता पदं कोटं परिपूर्णं कुरु । अथ सप्तमोऽक्षरपू-
पायमाह—अथयेति । पञ्चपङ्क्तिस्त्रिंशदानां ह्यादीनामेकमात्रमेकं कृत्वा तेषु पञ्चम-
पङ्क्तिं स्वस्वत्वा तत्तत्तेष्वपि चैकं हित्वा सप्तमकोटं त्रिंशद्वचरेण राताहोत्रेन पूर्वं कुरु-
ष्वेति शेषः । अष्टमोऽक्षरपूरणप्रश्नमाह—ह्यादिकानां सप्तमपङ्क्तिस्त्रिंशदानां कृत्वा तेषु
तेष्वेकमात्रादिपङ्क्तिं (रातं) परित्यज्य अतः पञ्चत्रिंशदधिकेन राताहोत्रेनाष्टमं
कोटं परिपूर्णं कुरु । नवमोऽक्षरपूरणप्रश्नमाह ह्यादिकानां सप्तमपङ्क्तिस्त्रिंशदानां कृत्वा तेषु
तेषु नवकोटं दूरीकुरु । ततो निष्पन्ने त्रिंशत्पङ्क्तिष्वष्टमराताहोत्रेन नवमकोटपूरणं कुरु ।
दशमोऽक्षरपूरणप्रश्नमाह । ह्यादिकानां सप्तमपङ्क्तिस्त्रिंशदानां कृत्वा तेषु सप्तमपङ्क्ति-
चरराताहोत्रं दूरीकुरु । ततो निष्पन्नेन चतुर्दशपङ्क्तिष्वष्टमराताहोत्रेन दशमं कोटं
पूरय । एवं कृते चतुर्दशपङ्क्तिगमां पञ्चमी सप्तपङ्क्तिः सिद्धयतीति संबोधः ।
‘एवं निरवधिमात्राप्रसङ्गोऽङ्गपरम्परः । मयतीति तेन कविना न कृतोऽङ्गानां
वित्ताय ॥ अथ सप्तपङ्क्तिपूरणप्रश्नमाह—तत्र गुरुस्वानीयं प्रथमं कोटं
विहाय अग्रिमकोट्ये प्रथममेकाहं दत्त्वा पञ्चमपङ्क्तिस्थितैर्द्वितीयपङ्क्तिं
चतुर्थी पङ्क्तिं पूरय । एवं कृते चतुर्थी गुरुपङ्क्तिः सिद्धयतीति । अथोच्चैरित्युच्यते
पङ्क्तिपूरणप्रश्नमाह—अथयेति । पञ्चमपङ्क्तिस्थितामात्रा पञ्चमपङ्क्तिस्थितैर्द्वितीय-
पङ्क्तिं चतुर्थी पङ्क्तिं पूरय । अथ सप्तपङ्क्तिस्थितैर्द्वितीयपङ्क्तिं चतुर्थी पङ्क्तिं
कोट्ये प्रथमाह एव दत्तम् । एवं कृते चतुर्थी चतुर्थपङ्क्तिः सिद्धयतीति । अथ
सप्तपङ्क्तिपूरणप्रश्नमाह तत्रैवं दशगुणं च हरिश्चक्रं पादाकुलं च देनाह—

‘परिधेर्वीर्यं चतुर्दश गुरु, खेरं च गुरु चतुर्दश चतुर्दश ।
गुरु चतुर्दश चतुर्दश चतुर्दश, चतुर्दश चतुर्दश चतुर्दश ॥
इमं परिधेर्वीर्यं चतुर्दश गुरु, गुरुचतुर्दश चतुर्दश चतुर्दश ।
मथाम्नीतरं गुरु चतुर्दश चतुर्दश चतुर्दश चतुर्दश ॥

सप्तपङ्क्तिः प्रथमकोट्ये द्वितीयपङ्क्तिमानव । अथ प्रथमपङ्क्तिं द्वितीयकोट्येव
सप्तपङ्क्तिः । परित्यज्य पङ्क्तियु प्रथमकोट्येवगमैकमात्रं गमनाम्यथापु गुरुकोट्य-
नुपयोगाच्च । तमेव द्वितीयपङ्क्तिमानव गुरुपङ्क्तिर्द्वितीयकोट्ये आनयत् । तथापि
द्वितीयपङ्क्तिं तृतीयकोट्येव आनयत् । अथ गुरुते प्रथमकोट्ये प्रथमाह एव देनाह ।
द्वितीयपङ्क्तिमानव तत्रारित्यन्तः । प्रथमकोट्ये एकगुरुपङ्क्तिः । अथ सप्तपङ्क्तिर्द्वितीय-
कोट्ये पूरणप्रश्नमाह—गुरुतुल्येति । गुरुकोट्येवगमैकमात्रं गमनाम्यथापु गुरुकोट्य-
नमात्रकोट्येवगमैकमात्रं गमनाम्यथापु गुरुकोट्येवगमैकमात्रं गमनाम्यथापु गुरुकोट्येवगमैकमात्रं
गमनाम्यथापु गुरुकोट्येवगमैकमात्रं गमनाम्यथापु गुरुकोट्येवगमैकमात्रं गमनाम्यथापु गुरुकोट्येवगमैकमात्रं

मात्राकोष्ठस्थे नवमाङ्के लोपय । तच्छेषात्र दश तान् लघुद्वितीयकोष्ठे लिख ।
एवमेकगुरुद्वितीयकोष्ठे पञ्चमाकस्तद्विगुण दश तांस्तत्समानमात्राकोष्ठस्थे विंशति-
रूपे लोभ्य । तच्छेषाङ्का दश तान् लघुतृतीयकोष्ठे लिख । अनया परिपाट्या
यथेच्छ लघुपत्तिकोष्ठाङ्कान्गुरुपङ्क्तिकोष्ठाङ्काश्चान्य । एव लघुपक्ति च सपायो
वैरिता वर्णपक्ति साधयति—गुरुलघुपक्तिस्थितानङ्कानेकीकृत्य तत्समानवर्णपक्ति-
कोष्ठकेषु यावदिच्छं लिख । अथ वर्णपक्तिसाधने प्रकारान्तरमाह—मत्त इति ।
मात्रापक्तिस्थिताङ्केषु तत्समानगुरुपक्तिस्थितानङ्कान्लोपय । तच्छेषाङ्कैरपि वर्ण-
पक्तिः सिद्धयतीति जानीहि । इति गुरुणा गोपितोऽपि मया शिष्यबोधाय दिविच्य
प्रकाशितः । एव पक्तिषट्क् ससाध्य मात्रामर्कटीफलमाह—वित्तमिति । 'वृत्त
भेदो मात्रा वर्णा लघुकास्तथा गुरुका । एते षट्पत्तिकृताः प्रस्तारा भवन्ति
विस्ताराः ॥' मात्रामर्कटीमाहात्म्यमाह—जत्य इति । यत्र च हस्ती अवस्थ्यते
बध्यते चित्तं च सूत्रसदृशम् । ता मात्रा मर्कटिका दृष्ट्वा च को न बध्यते सुकविः ॥'
को नासक्तो भवतीत्यर्थः । एतत्करण कौतुकार्थमित्याह—नष्टेति । 'नष्टोद्दिष्ट
यथा वा मेरुयुगल यथा पताका वा । मर्कटिकापि तथैव कुतूहलकारिणी भणिता ॥
उक्तमुपसहरति—इष्टेति । इति लक्ष्मोनाथकविना रचिते रुचिरे प्रबन्धेऽस्मिन् ।
प्रत्ययपञ्चकबन्ध पश्यत छन्दसः सर्वस्वम् ॥'

५०. अथैकाक्षरादिषड्विंशत्यक्षरपर्यन्त समस्तवर्णप्रस्तारपिण्डीभूतसंख्यामाह—

'अङ्कानां वामतो गतिः' इति न्यायेन त्रयोदश कोटयः द्विचत्वारिंशल्लक्षाणि
सप्तदशसहस्राणि सप्तशतानि षड्विंशतिश्च । सभूयैकाक्षरादिषड्विंशत्यक्षरावधि-
प्रस्तारस्य पिण्डसंख्येत्यर्थः । अङ्कतोऽपि १३४२१७७२६ । 'एकदशशतसहस्रा-
युतलक्षप्रयुतकोटयः क्रमशः । अर्बुदमब्जं खर्वनिखर्वमहापद्मशङ्खवतस्मात् ॥ जल-
धिश्चान्य मध्य परार्धमिती दशगुणोत्तरा संख्याः ॥'

५१. अथ 'पद्य चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विधा । वृत्तमक्षरसंख्यातं
जातिर्मात्राकृता भवेत् ॥' इति प्रथमं मात्राकृता जातिमभिधास्यन् गाहूप्रभृतीनां
जातीनां कलागणनामुद्देशक्रमेणाह—

चतुष्पञ्चाशन्मात्रा गाहू भवति । गाथायाः सप्तपञ्चाशन्मात्रा भवन्ति । तथा
विगाथा परावृत्त्य क्रियते । मात्राः पर सप्तपञ्चाशदेव । उद्गाथापि षष्टिकलाः ।
गाथिन्याश्च द्वाषष्टिकलाः । तथैव परावर्तते सिंहिणी । मात्रा द्वाषष्टिरेव । तानि
सप्तरूपाणि अन्योन्य चतुर्मात्रगणानि भवन्ति । स्कन्धके चतुःषष्टिर्मात्रा भवन्ति ।
अत्र सर्वत्र सार्धसप्तगणा स्कन्धके त्वष्टौ गणा । रङ्गा छन्दः ॥

५२. अथ गाहू छन्दः—

परमये दक्षद्वयमध्ये मेरुमुगलं भवति । दक्षद्वयेऽपि पद्ये-यत्र एकशब्दभरो भवतीत्यर्थः । मेरुतिष्ठति लघ्वेर्नाम । एतादृशं गाहृत्त्वो भवति । इदमप्येवमे-
दाहरणम् । तथा च बाणीमूपजे—‘गाद्योत्तरदक्षद्वयं पूर्वदक्षं भवति यदि दक्षो ।
तामिह कण्ठितिमण्डितामुपगीतिं वर्णयति युधाः ॥’ उद्भवमिच्छ भवत्—५५, ५॥,
५६, ५॥, ५५, १, ५५, ५, ॥ ५५, ॥॥, ५५, ५॥, ५५, १, ५५, ५,

५३ गाहृमुदाहरति—अथा—(यथा)

अन्तरचन्दनहार एते तामरेषु कर्म स्वात्मनः शैल्यामिमानेन प्रकृत्यन्त-
रन्तरेवरस्य राज्ञः श्रीर्तिर्वाक्यतात्मनः न दर्शयति । ततोऽन्तरेत्वं श्रीर्तिरत्यन्तपक्षे
त्यर्थः । गाहृ निवृत्ता ।

५४ अथ गाथा क्वन्तः—

यस्यां प्रथमे चरणे द्वादशमात्रायां द्वितीयेऽष्टादशमां संयुक्त्य भवति ।
यथा प्रथमे तथा तृतीये द्वादशमात्रम् । या चतुर्थे चरणे पञ्चदशमिमात्राभिन्विता
भवति सा गाथेत्यर्थः । भूक्त्योऽपि—आदितृतीये द्वादश दशाष्टमात्रा तृतीये
चरणे च । द्वये पञ्चदश स्तुतिभिरपि हस्तनोक्त्य ॥’ प्राकृत्ये गाथा संयुक्ते अन्तेति
नामभेदाः । इदमप्युदाहरणम् ।

५५ गाथामुदाहरति—अथा

कत्वाभित्कञ्चान्तविधायाः उक्तीं प्रति वचनम् । यन् विना न जीव्यते च
कृत्वापराद्योऽप्यनुनीयते । उक्तमर्थमर्थान्तरेण हरीर्जुमाह—मातेऽपि नयरदारे
मन कस्य न वस्तमोऽस्मिन् । अपि तु उक्तम् । उद्भवमिच्छ भवत्—५॥, ५॥, ५॥
॥५, ॥५, ५५ ५॥, ५५, ॥॥ ५५, ॥५, १, ५५ ५,

५६ अथ गाथायां गणनिमग्नमाह—

अत्र कृत्यभक्ताः एतं गथा दीर्घ्यन्ता गुर्वन्ता इत्यर्थः । अत्र गन्धे अगन्धे भवति
नगनक्षत्रं वा भवति इति निबन्धः । इह विषये स्थाने प्रथमगुटीयपद्यमस्तमस्थाने
अगन्धो न भवति । तथा गाथायां द्वितीयेऽर्धेऽपि षष्ठं गणमेकशब्दमस्तमं विधानीत ।
भूयोऽपि—‘एतदुदगाः सदीर्घाः सदीर्घो अगन्धे द्विष्ये (॥॥) उभय भवति ।
षष्ठं अमृतरदले विषये अगन्धे न गाथायाः ॥’ गाथा क्षुद्राः ॥

५७ सर्वगाथानु सामान्यज्ञघणमाह—

सर्वस्या गाथायां सप्तपञ्चाशत्मात्रा भवति । यत्र विद्वेदः—पूर्वार्धे विशद
अतविशतिमात्रा परार्धे च । गाथा क्षुद्राः ॥

५८ अथ गाथायां सप्तविंशतिभेदेषु सप्तमीनाम्नोमायां यथाशुभ
शब्दपति—

यस्या गाथाया सप्तविंशति गुरवः श्लाघ्यास्तिस्रश्च रेखात्रयो लघवः । पूर्वार्धे षष्ठजगणरेखाद्वयमुत्तरार्धे च षष्ठलघ्वात्मकरेखामात्र मिलित्वा रेखात्रय यस्या सा ग्रन्थाना मध्ये आत्मा त्रिंशदक्षरा सप्तविंशतिगुरुकलघुत्रयवती लक्ष्मीनामधेया भवति । गाथा छन्दः ॥

५६. अथ तत्पञ्चशसापुर.सर भेदानयनप्रकारमाह—

त्रिंशदक्षरा लक्ष्मीं गाथा सर्वे कविपण्डिता वन्दन्ते । अभिवादनपूर्वं स्तुवन्ती-त्यर्थः । अत्र यदा एकैको वर्णो हसति न्यूनत्व प्राप्नोति द्वौ लघू वृद्धिं गच्छतस्तदा सप्तविंशतिनामानि कुरुत । गाथा छन्दः ॥

६०-६१. अथाद्या लक्ष्मीमुपलक्ष्यन्निव गाथाम्या नामान्युद्दिशति—

अत्र प्रथमा गाथा सप्तविंशतिगुरुकरेखात्रयवती त्रिंशदक्षरा लक्ष्मीः एकगुरु-ह्रासेन लघुद्वयवृद्ध्या गाथाया. सप्तविंशतिभेदा. स्फुटीकृत्य प्रदर्श्यन्ते—यथा—

२७ गुरु.	३ लघु.	३० अक्षर.	लक्ष्मीः ।
२६ गुरु.	५ लघु	३१ अक्षर.	वृद्धिः ।
२५ गुरु.	७ लघु	३२ अक्षर	बुद्धिः ।
२४ गुरु.	९ लघु.	३३ अक्षर.	लज्जा ।
२३ गुरु	११ लघु	३४ अक्षर	विद्या ।
२२ गुरु.	१३ लघु.	३५ अक्षर	क्षमा ।
२१ गुरु.	१५ लघु	३६ अक्षर.	देही ।
२० गुरु.	१७ लघु	३७ अक्षर.	गौरी ।
१९ गुरु.	१९ लघु	३८ अक्षर	धात्री ।
१८ गुरु.	२१ लघु.	३९ अक्षर	चूर्णा ।
१७ गुरु.	२३ लघु.	४० अक्षर.	छाया ।
१६ गुरु.	२५ लघु.	४१ अक्षर.	कान्ति ।
१५ गुरु.	२७ लघु	४२ अक्षर.	महामाया ।
१४ गुरु.	२९ लघु	४३ अक्षर.	कीर्त्ति. ।
१३ गुरु	३१ लघु.	४४ अक्षर.	सिद्धि. ।
१२ गुरु.	३३ लघु	४५ अक्षर.	मानिनी ।
११ गुरु.	३५ लघु.	४६ अक्षर	रामा ।
१० गुरु.	३७ लघु.	४७ अक्षर	गाहिनी ।
९ गुरु.	३९ लघु	४८ अक्षर.	विश्वा ।
८ गुरु.	४१ लघु.	४९ अक्षर.	वासिता ।

७ गुण	४३ लघु.	५० अक्षर.	शोभा ।
८ गुण	४४ लघु	५१ अक्षर.	हरिषी ।
९ गुण.	४७ लघु	५२ अक्षर.	चम्री ।
४ गुण	४९ लघु	५३ अक्षर.	सारथी ।
३ गुण.	५१ लघु	५४ अक्षर.	कुररी ।
२ गुण.	५३ लघु.	५५ अक्षर.	सिंही ।
१ गुण	५५ लघु.	५६ अक्षर.	हंसी ।

एते अक्षरविशेषाः । एतासामुदाहरणानि मत्तुत्योदाहरणमन्त्रां क्रमेण दृश्यन्ति ॥

३२ अथ गाथापाठप्रकारमुपदिशति—

प्रथमं द्वादशमात्रं चरणं हंसपदकम्बुचरं यथा स्यात्तथा पठ्यते । अपञ्च 'पद-
मञ्जी' इति कश्चित्पाठा । तत्र प्रथममिति हंसगमनकपठेतिवर्षा द्वितीयचरणे सिंह-
विक्रमो वाहक ताहक पठ्यते । तृतीयचरणे गजचरस्य कुशितं यथा गतिविरोधो
भवति तथा पठ्यते । चतुर्थेऽक्षरेऽश्वचरस्य कुशितं गतिविरोधे यथा भवति तथा
पठ्यते । गाथा क्षुद्रा ॥

३३ अथ गन्धमेहेन गाथायाः सावस्वमेव दोषमाह—

एकेन केन कल्पेन गाथा कुलीना भवति । अथर्वस्य नाककम्पाकम्पारिति
मावः । द्वाभ्यां नाककम्पा अथर्वस्यां स्वयंप्रादिका ध्रुवप्राज्ञा भवति । नादकम्पीना
रण्या भवति । बहुनाथका गाथा वैर्या भवति । द्वितीयार्थे स्वयं । गन्ध क्षुद्रः ॥

३४ अथ लघुलक्षणाभेदेन गाथायाः वर्णभेदमाह—

चन्द्रोदयवर्णं लघुका यस्यां ता लक्षणा विद्या । प्राकृती भक्तीत्यर्थः । एक
विशतिभिर्लघुभिः द्वाविंश भवति । अक्षरविशतिभिर्लघुवैर्याणां वैर्या भवति । शेषा
सु कनविशतिरस्य दोषैर्लघुभिः राज्ञा भवति । गाथा क्षुद्रः ।

३५ विषमरथानदत्तबगणाया गाथाया दोषमाह—

या गाथा प्रथमतोऽक्षरपथमसतमरथाने ननु गुणमप्या अग्नयुक्ता भवति
गुर्वक्षीय गुणरहिता लक्षणावैर्या ता गाथा दोषं प्रकाशयति । अतो विषमरथ
नरथनाथका ता न कर्तव्येत्यर्थः । गाथा क्षुद्रः ॥ गाथा निवृत्ता ।

३६ विषादा क्षुद्रा—

विगाथायाः वृत्तार्थे अक्षरविशतिर्भा भवति । अथर्वस्ये कश्चपथे मनु विद्य

न्मात्रा भवन्तीति जल्पित पिङ्गलेन नागेन । गाथादलवैपरीत्येन विगाथा भवती-
त्यर्थः । इदमप्युदाहरणम् । भूषणे तु—‘गाथा द्वितीयतुर्यौ पादौ भवतस्तु विपरीतौ ।
सेय भवति विगाथा फणिनायकपिङ्गलेन सप्रोक्ता ॥’ इति ॥

६७ विगाथामुदाहरति जहा—

मानवतीं नायिका प्रति धृष्टस्य नायकस्य वचनम् । यथा हे मानिनि, मान
परिहर त्यज । प्रेक्षस्व नीपस्य कदम्बस्य कुसुमानि । युष्मत्कृते खरहृदयोऽत्यन्त
कठोराशयः कामोऽस्मिन्वर्षावसरे शेषपुष्पाणामभावात् किल गुटिकाधनुर्गृह्णाति ।
अतस्त्यजेन मानमिति भावः । अथ वा तादृशीं कान्तकृतानुनयमंगलहतीं नायिका
प्रति दूत्युक्तिः ॥ उद्धवणिका यथा—||३||, ५१, ५५, ५२, १५, १, ५५, ५२, ५२,
५२, १५, ५२, १५, १५, ५, विगाहा निवृत्ता ॥

६८ अयोद्गाथा छन्दः—

पूर्वार्धे उत्तरार्धे च यत्र मात्रास्त्रिरात्सम्यग्गणिता । सुभगेति मात्राविशेषणम् । सा पिङ्गलकविदृष्टा षष्टिमात्राङ्गा कलाषष्टिशरीरा उद्गाथा वृत्ता । अत्र सर्वत्रात्र-हृष्टभाषया लिङ्गव्यत्ययः प्रातिपदिकनिर्देशो वा न दोषाधायक इति गुरवः । इदमप्युदाहरणम् । इयमेव ग्रन्थान्तरे आर्यागीतिरित्युच्यते । भूषणे तु—‘गाथा द्वितीयतुर्यावष्टादशमात्रकौ भवतः । मात्राषष्टिशरीरा प्रोक्ता सा गीतिरिह हि फणिपतिना ॥’

६६ उद्गार्थामुदाहरति—जहा—

चेदिपतावनुरक्ता काचिद्दर्शनोत्कलिकाकुला कुलवधूका निजसखीमाह—
यन्नामश्रवणेनापि सात्त्विकमावाविर्मावादाश्रुपातस्तद्वदनदर्शनमतिदूरापास्तमित्यु-
त्कलिकाकुलाह वीरस्य चेदिपते. कथं मुखं प्रेक्षिष्यामीति सामुक्त्वावाच. (१) । उद्द-
वणिका यथा—५५, १५, ५५, ५५, ११५, ११, ५५, ५११, ११५, १५, ११५, ५५, ११५,
१५, ५५, ५, उद्गाथा निवृत्ता ॥

૭૦. અય ગાહિનીસિંહિન્યૌ—

यत्र पूर्वार्धे प्रथमदले त्रिंशन्मात्रा भवन्ति उत्तरार्धे चरमदले द्वात्रिंशन्मात्रा।
सभूय द्वाषष्टिर्यत्र भवन्ति, पिङ्गलः प्रमणति मुग्धे शृणु सा गाहिनी छन्दः।
तद्विपरीता सिंहिनी सत्य भण । कथयेत्यर्थः । अत्र पूर्वार्धे द्वात्रिंशन्मात्रा उत्तरार्धे
च त्रिंशन्मात्रा इति विपर्ययार्थः । वाणोभूषणेऽपि—‘यदि गाथातुर्यपदं विंशतिमात्र
च गाथिनी भवति । फणिपतिपिङ्गलमणित तद्विपरीत तु सिंहिनीवृत्त स्यात् ॥’
इदमप्युदाहरणम् ।

७१. गाथिनीमुदाहरति—नहा—

सग्राभयात्राया चरणपतिता पत्नी प्रति हम्मीरवचनम्—मुख सुन्दरि पादम् ।
२६

२० गुरु	२० लघु	४२ अक्षर	नीलः ।
२१ गुरु	२२ लघु	४३ अक्षर	मदनः ।
२० गुरु	२४ लघु	४४ अक्षर	तालाङ्कः ।
२६ गुरु	२६ लघु	४५ अक्षर	शेखरः ।
२८ गुरु	२८ लघु	४६ अक्षर	शरः ।
२७ गुरु	३० लघु	४७ अक्षर	गगनम् ।
२६ गुरु	३२ लघु	४८ अक्षर	शरभः ।
२५ गुरु	३४ लघु	४९ अक्षर	विमतिः ।
२४ गुरु	३६ लघु	५० अक्षर	क्षीरम् ।
२३ गुरु	३८ लघु	५१ अक्षर	नगरम् ।
२२ गुरु	४० लघु	५२ अक्षर	नरः ।
२१ गुरु	४२ लघु	५३ अक्षर	स्निग्धः ।
२० गुरु	४४ लघु	५४ अक्षर	स्नेहः ।
१९ गुरु	४६ लघु	५५ अक्षर	मदकलः ।
१८ गुरु	४८ लघु	५६ अक्षर	भूपालः ।
१७ गुरु	५० लघु	५७ अक्षर	शुद्धः ।
१६ गुरु	५२ लघु	५८ अक्षर	सरित् ।
१५ गुरु	५४ लघु	५९ अक्षर	कुम्भः ।
१४ गुरु	५६ लघु	६० अक्षर	कलशः ।
१३ गुरु	५८ लघु	६१ अक्षर	शशी ।

एतेऽष्टाविंशतिमेदा । एषामुदाहरणान्युदाहरणमञ्जर्या द्रष्टव्यानि । तालङ्किनी
चुन्द ॥

७६. अष्टाविंशतिमेदानयनप्रकारमाह—

अयमर्थः—चतुःषष्टिकलात्मके स्कन्धके त्रिशद्गुरवश्चत्वारो लघवस्तदा नन्दः ।
एवमन्येऽपि श्रेयाः । षष्ठे जगणस्यावश्यकत्वान्चत्वारो लघवः इत्युक्तम् । दोहा
चुन्द ॥

७७. अथाद्य नन्दमुदाहरति—

कश्चित्कवी राजानं दिवोदासं स्तौति—यथा—चन्द्रः कुन्दः काशः । हारः
क्षीरम् त्रिलोचनं शिवः कैलाशः यावद्यावच्छ्वेतानि तावद्धे काशीश, ते कीर्त्या
क्षितानि । तदपेक्षया ते कीर्तिर्घर्वलेत्यर्थः । उद्धवणिका यथा—ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ,
ऽऽ, ।।, -ऽऽ, ऽऽ।, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ऽऽ, ।।, ऽऽ, ऽऽ इति
गाथाप्रकरणम् ॥

७८ अथ शोहा कृतम् ।—

प्रबोदशमात्राः प्रथमचरणे पुनर्दितीयचरणे एकदश पुनस्तृयेचरणे द्वयोः पुनरप्युच्यते एकदशैव । त्रिपथास्तद्यमेतत् ।

७९. त्रिपथमुदाहरति—

अत्रिचरन्निर्विररं स्तोति—श्रुतं वा कथ्यमात्रं, श्रुतिः कामधेनुः स मन्त्रिषु एते न्योऽपि नहि विरिचरतमानाः । एतेषु कथ्यतस्त्वंस्वहामनः । अथ च कठिनतया काव्यमस्यात्, कामधेनुः पशुः क्लिष्टरहितः, सार्धं पापान्ने बद्ध एवेति । अथ च गृह्यद्वये निवेक्य स्तोत्रे क्लिष्टमस्यात् कथ्यनिश्चयनकपुटे ब्रह्मणः ।

८०. तथा त्रिपथायास्तथोक्तिरिति श्रुत्येकैकगुहातेन तदुदाहरमाह—

इति प्रबोधिपठितमेव । रत्ना कृतम् ।

८१. प्रबोधिपठितमेव न्ययप्रकारमाह—

ते न्ययः—

१२ गुह	४ कृत	२६ अक्षर	प्रमत्त ।
२१ गुह	६ कृत	२७ अक्षर	प्रामत्त ।
१ गुह	८ कृत	२८ अक्षर	प्रामत्त ।
१८ गुह	१ कृत	२९ अक्षर	प्रामत्त ।
१८ गुह	१२ कृत	३ अक्षर	प्रामत्त ।
२७ गुह	१४ कृत	३१ अक्षर	प्रामत्त ।
१६ गुह	१६ कृत	३२ अक्षर	प्रामत्त ।
१५ गुह	१८ कृत	३३ अक्षर	प्रामत्त ।
१४ गुह	२ कृत	३४ अक्षर	प्रामत्त ।
१३ गुह	२२ कृत	३५ अक्षर	प्रामत्त ।
२२ गुह	२४ कृत	३६ अक्षर	प्रामत्त ।
११ गुह	२६ कृत	३७ अक्षर	प्रामत्त ।
१ गुह	२८ कृत	३८ अक्षर	प्रामत्त ।
८ गुह	३ कृत	३९ अक्षर	प्रामत्त ।
८ गुह	३१ कृत	४ अक्षर	प्रामत्त ।
७ गुह	३४ कृत	४१ अक्षर	प्रामत्त ।
६ गुह	३६ कृत	४२ अक्षर	प्रामत्त ।
५ गुह	३८ कृत	४३ अक्षर	प्रामत्त ।

४ गुरु	४० लघु	४४ अक्षर	व्याघ्रः ।
३ गुरु	४२ लघु	४५ अक्षर	भिडालः ।
२ गुरु	४४ लघु	४६ अक्षर	शुनकः ।
१ गुरु	४६ लघु	४७ अक्षर	उन्दुरः ।
० गुरु	४८ लघु	४८ अक्षर	सर्वलघु. संप. ।

एते त्रयोविंशतिभेदाः । एतोपमुदाहरणान्युदाहरणमञ्जर्या द्रष्टव्यानि ।
दोहा छन्दः ॥

८२. अथ भ्रमर प्रथममुदाहति—जहा (यथा)—

८३. अथ लघुसख्याभेदेन द्विपथाया वर्णभेदमाह—

चतुर्लघुमारम्य द्वादशलघुपर्यन्ता द्विपथा विप्रा ब्राह्मणो भवति । तथा त्रयो-
दशलघुकमारम्य द्वाविंशत्या लघुकैः क्षत्रिया भणिता । त्रयोविंशतिलघुकमारम्य
द्वात्रिंशत्या लघुकैर्विश्या भवति । या इतरा सा सर्वा शूद्रा भवति । गाथा छन्दः ॥

८४ विषमचरणस्यजगणाय दोषमाह—

यस्या दोहायाः प्रथमे तृतीये च पादे ण ननु जगणा दृश्यन्ते सा दोहा चाण्डा-
लङ्गहस्थितेव दोष प्रकाशयति । यद्वा प्राकृते पूर्वनिपातानियमाद्गृहस्थितचाण्डा-
लेव दोषावहा भवति । गाथा छन्दः ॥

८५. दोहाया गणनियममाह—

षट्कलश्चतुष्कलत्रिकलश्चानया रीत्या त्रयोऽमी गणा विषमे तृतीये च चरणे
पतन्ति । समे पादे तृतीये चतुर्थे च चरणे षट्कलचतुष्कलस्थापनानन्तरमेकामेव
कला निवृत्ता कुर्वित्यर्थः । वाणीभूषणेऽपि—

‘षट्कलतुरगौ त्रिकलमपि विषमपदे विनिधेहि ।

समपादान्ते चैककलमिति दोहामवधेहि ॥’

दोहा निवृत्ता (दोहा निवृत्ता) ॥

८६. अह रसिआ (अथ रसिका छन्दः)—

प्रथम द्विजवरगणयोश्चतुर्थलघुकगणयोर्युगल धारय । पुनरपि च त्रिलघुको
गण, पतति । अनेन विधिना बिम्बितानि षट्पदानि यत्र तत्र छन्दः शोभते । यथा
सुशशी रजन्या तथा रसिअठ रसिकाना मध्य एतदेकादशकल छन्दः । हे मृगानयने
हे गजगमने शोभते इति । भूषणे तु—ललितमिति नामान्तरम् । यथा—द्विज-
वरयुगमिह रचय, त्रिलघुकगणमिह कलय, सुललित कलितरसपदि, सरसिजमुखि
भवति यदि, जगति विदितललितमिति, वरकशिपतिरिति वदति ॥’ इदमप्यु-
दाहरणम् ॥

८७ रसिकागुहादिति—यथा (यथा)—

अदिकचर्यनिद्रोऽचलनरपतेः समराज्यधारयमानमनुकर्षं संस्तुत्य चोत्तममुप-
कर्षयति—विमुक्तं पराङ्मुलं चलितो रसिकचर्यकोऽपि परिहृत्य इकावस्तं
वदानीमेव मलयनरपतिरपि इलाहलितं अत्रपरिमकसंवातताजसोऽमृतं । कस-
यराभिमुक्तं पिबति । व्याजोतीस्वर्यः । अथ च वायव्यतीनरपतिरपि तुलित-
मयङ्मुक्तो बभूव । तबलरय कोकस्येपरि यस्य वराः पुष्पितम् । पिबतिमिस्र-
तद्वनिध्नं स्पष्टा ।

८८ अपैतस्य हृन्मस उद्यच्छेति नामान्तरमाह—

उर्ध्वलघुर्ध रसिकागुहाः । आदिकाम्यमर्चाप्यर्धम मेहं कृत्वा 'उर्ध्वकण्ठा' इति
व्यम किञ्च कृतम् । हृन्मोचिन्निरिति शेषः । अदिकम् । लोहगिम्भीरमेतस्यैव
मेहे हृन्मसि सारभूतम् । उद्यच्छेतिव्यर्थः । अथ च वरा गुदवर्षते हो तप-
हस्तस्तदा तदनाम विचारय । शेषा हृन्मः ।

८९ लघुद्वयस्यैवैकगुणद्वयोर्ध्वकण्ठाया मयो भेदास्तादृशिति—

लोहगिम्भी, हंसी, रेखा, वासुकिणी, चम्पिणी, गम्भीरा, वाक्ती, कस्तुराणी,
इत्यादुर्ध्वकण्ठाया नामानि । भेदा इत्यर्थः । गाराहृन्मः ॥

९० अत्राहभेदानयनप्रकारमाह—

लोहगिम्भी उर्ध्वलघुया । अपैको गुदवर्षति वा हंसी । एवं लघुद्वयस्यैवैक
गुदद्वयया कनाम यत्र छनाम तत्र । अथ सप्तमं पदार्थमात्रा । ते यथा—
९१ मात्रा उर्ध्वलघुया लोहगिम्भी ।

९४ लघु	१ गुण	९९ मात्रा	हंसी ।
९२ लघु	२ गुण	९९ मात्रा	रेखा ।
९३ लघु	३ गुण	९९ मात्रा	वासुकिणी ।
५८ लघु	४ गुण	९९ मात्रा	चम्पिणी ।
५९ लघु	५ गुण	९९ मात्रा	गम्भीरा ।
५४ लघु	६ गुण	९९ मात्रा	वाक्ती ।
५९ लघु	७ गुण	९९ मात्रा	कस्तुराणी ।

एतेऽत्रागुहाया भेदाः । गाराहृन्मः ॥

९१ अथ योनाहृन्मः—

गिम्भीरो माहृन्मः यथा देवनागनेन योनाप्ये हृन्मो गिम्भीरम् । अथ
योनाहृन्मः यथा हृन्मो योनाप्ये । अदिकगुदहृन्मः यथा हृन्मो
यो । अथ च योनाहृन्मः यथा हृन्मो योनाप्ये । अथ च योनाहृन्मः यथा हृन्मो योनाप्ये ।

भूपणोऽपि—‘रोलावृत्तमवेहि नागपतिपिङ्गलभणित, प्रतिपदमिह चतुरधिककला-
विंशतिपरिगणितम् । एकादशमधिविरतिरखिलजनचित्ताहरणं सुललितपदमदकारि
विमलकविकण्ठाभरणम् ॥’ इति । इदमप्युदाहरणम् ॥

६२. रोलामुदाहति—जहा (यथा)

कश्चित्कविर्वीरहम्मीरप्रयाणमनुवर्णयति—‘दम्भरेण मर्दिता धरणिस्तरणिः सूर्यः
स्थितस्तदा धूल्या समाच्छादितः । ‘तरणिरथः’ इति वा । कमठपृष्ठमधः पतितम् ।
अतिभारादादिकूर्मोऽप्यधस्ताद् गत इति भावः । मेरुमन्दरयोरपि शिरः कम्पितम्
यदा कोपेन चलितो हम्मीरवीरो गजयूथसुयुक्तस्तदा कृतो हाक्पाकन्दः, मूर्च्छित च
म्लेच्छानामपि पुत्रैरिति ।

६३ यथास्यैकैकगुरुहासेन लघुद्वयवृद्धया त्रयोदशभेदास्तानुद्दिशति—

यथा—

१३ गुरु	७० लघु	६६ मात्रा	कुन्दः ।
१२ गुरु	७२ लघु	६६ मात्रा	करतलः ॥
११ गुरु	७४ लघु	६६ मात्रा	मेघः ।
१० गुरु	७६ लघु	६६ मात्रा	तालाङ्कः ।
९ गुरु	७८ लघु	९६ मात्रा	कालरुद्रः ।
८ गुरु	८० लघु	६६ मात्रा	कोकिलः ।
७ गुरु	८२ लघु	६६ मात्रा	कमलम् ।
६ गुरु	८४ लघु	६६ मात्रा	इन्दुः ।
५ गुरु	८६ लघु	९६ मात्रा	शम्भुः ।
४ गुरु	८८ लघु	६६ मात्रा	चामरः ।
३ गुरु	९० लघु	९६ मात्रा	गजेश्वरः ।
२ गुरु	९२ लघु	६६ मात्रा	सहस्राक्षः ।
१ गुरु	९४ लघु	६६ मात्रा	शेषः ।

इति त्रयोदश भेदान् भणति नागराजः । फणीश्वरो जल्पति । त्रयोदशगुरु-
संख्यामानय । एकादश गुरुन्दत्य । द्वौ द्वौ लघू प्रतिचरणाभिप्रायेणापीति भावः ।
अथवा त्रयोदशाक्षरेषु गुरुषु अक्षरमक्षरमेकैको गुरुर्यदि पतति लघुद्वयं च वधते
तदा तत्तन्नाम जानीत । एतेषामुदाहरणानि द्रष्टव्यानि । रङ्गा छन्दः ॥

६४. अयं गन्धा छन्दः—

भो सुजना, सप्तदशवर्णान् प्रथमचरणे भणत । तथा द्वितीयचरणेऽष्टादश-
भिर्वर्णैरुपलक्षिता यमकयुगचरणा । यमकद्वययुक्तचरणेत्यर्थः । एतादृशमेव द्वितीय-

दत्तं कुर्वतेति भगवि विज्ञप्ता । गन्धानां नाम रूपकं पण्डितजनचित्तहरं भवति ।
अथ यमकवाक्यप्रयोगैश्चमिति । वाच्यैर्मूल्येऽप्युक्तम्, 'दशस्तवर्गमिह रूपं यम
परं' द्वितीयमहादशस्तवर्गमिति इदमहरणम् । इदंशमुत्तरं दत्तमपि दृग्बतवानर्त्तं,
नागपतिपिङ्गलमस्तिमिति शृणु गन्धानम् ॥ इदमप्युदाहरणम् ॥

१५. पुनरपि शिष्यबोधनाय गन्धानकमेव स्पष्टीकृत्याह—

गन्धानां यन्मे क्षन्दति क्षतवशाच्चराणि स्वापस्त प्रथमपरमे द्वितीयकर्त्तु
मुनर्बमकं दत्ताद्यादशाक्षराण्येव विधानीत । दोषा क्षन्ता ॥

१६ गन्धानामुदाहरति—

परिच्छेदयि वचनरपति स्तौति—कर्म राक्षसि सङ्क्षामार्थं चक्षति छति कूर्मः
पुनरुत्तरं संरक्षति स्थानप्रदो भवति । तस्मिन्क्षति धुवनमर्षकरा म्नी
क्षति । मक्षा पक्षन्तवा महीधरा मेघादप्यक्षन्ति । तच्च च छति तदामिषा
मुत्तवना देवतधारक्षन्ति । एवं कर्म क्षति दिक्चकं क्षति । तस्मा विमुक्तं
क्षति । इत्येत्ये प्रमतीत्यर्थः । उद्भविका मवा—५॥, ५५, ५॥, ॥॥, ॥॥, ५,
५॥, ५५, ॥॥, ॥॥ ॥॥ ५, ॥॥, ५५ ॥॥, ॥॥ ॥५, ५॥ ॥५, ५॥, ५५,
॥॥ ५५, गन्धानं निवृत्ता ।

१७ अथ चतुषदश लङ्गा—अथ चतुष्पदोद्भवा—

चतुष्पदोद्भवा भवति कपीश्वरा । चतुष्पदचक्रमस्त गन्धान्यरे लुगन्धुत्वा
विशन्मात्रा धृत्वा चतुष्पदमयोक्तिरथ निरुद्ध । चतुष्पु क्षन्दन्तु बोधनीकमेकं न
करणीयम् । नो बान्तर्येन मेदम् । कश्चि पिङ्गलो भवते । मुग्धवनेऽप्युत्तमेतद् ।
अथमर्थः—चतुष्पदीश्वरा दत्तवत्चतुष्पदमुक्तमेकं चरणम्, दत्ताद्यादशाक्षरा
तादृशं क्षन् इत्यभिप्रायः । तत्र चतुर्मात्रिका उत्तराण्य भवन्ति, पारम्ये च
तत्रैव गुहा कर्तव्य । एवं च विशम्भात्रा पारे मरुतीति क्षित्येऽप्या । एव
च छति विशालविर्घ मात्रातकं चरणचतुष्टयेऽपि भवति । तत्त्वमेवेकमेव चरणं
तन्मिमापेयात्र मात्राणां चतुष्पदी तारीतिर्निरुद्ध, तरेक्ष्य न कर्तव्यं चतुर्लक्ष्यो
वृत्तमेव कर्तव्यमिति । वागीभूराण तु विशालुत्तरं यत्तमात्रामकमेतेषाम्—
योग्यप्राप्तं विशम्भात्रं कश्चित् पिङ्गलागीतं कुर्वततुर्गममतिद्वयपद्ममम्यो
गुम्भुपनीतम् । यदि दशचतुर्ष्वभिर्लक्ष्योभिर्दिग्भिः क्रियते यतिमिरामं, तद्वि
भवतमये भवति कथये विवरति संशदि वामम् ॥ इदमप्युदाहरणम् ।

६८ अथगीरकभक्त्यप्युत्तरिकायां लक्ष्येऽप्युदाहरति—अथा (कथा)—

त इति प्रणिद्धो मारुतीकान्तो युष्मन्त्वं संरक्षतात् । बहुमुखं च करोतु । त
का । पापघाते गङ्गा दहति । यत्पार्थाद्व गीरी भवति । येन वीर्याया परिपूय

फणिहारः । यश्च कण्ठस्थितविषः । यस्य पिधान वासो दिक् । दिग्म्बर इत्यर्थः ।
सतारितस्तारकोपदेशात् संसारो येन तथाभूतः । यश्च किरणावलीना दीप्तिकदम्बाना
कन्द उत्पत्तिस्थानम् । 'यन्द्रासा सर्वमिदं भासते' इति श्रुतेः । नन्दित आनन्दितो
हर्षयुक्तश्चन्द्रो यस्मिन् । यस्य नयने भालस्थतार्तीयलोचने अनलो ज्वलन-
स्फुरन् । अस्ति इति शेषः । उट्टवणिका यथा—॥५, ॥५, ५५, ॥५, ५॥, ॥॥॥,
॥५, ५, ५५, ॥५, ५५, ॥५, ५५, ५॥, ५५, ५, ॥५, ॥५, ५५, ॥५, ५॥,
॥॥॥, ॥५, ५, ५५, ॥५, ॥॥॥, ॥५, ॥५, ॥५, ५५, ५, चौपइया निवृत्ता ।

६६ पिङ्गलकविना द्वापष्टिमात्राकया कृत्वा अत्युत्कट घत्तानामक छन्दो
दृष्टम् । अत्र चतुर्मात्रिकान् सप्तगणान् द्वयोरपि पादयोर्छोत्त्रिल्लधूनन्ते धृत्वा
मण । अयमर्थः—घत्ता द्विःदो तत्र चतुष्कला. सप्तगणास्त्रिलघ्वन्ताः । द्वयोरपि
चरणयो' समुदिता मात्राश्चतुःषष्टि. कर्तव्या इति । भूपणोऽपि 'इह चतुष्कलगणनि-
र्मितपद त्रिलघुविरामं भवति यदि । नागाधिपपिङ्गलभणितसुमङ्गलघत्तावृत्त-
मिदं द्विपदि ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

१००. एतस्यैव सविश्राम लक्षणान्तरमाह—

प्रथमे चरणे प्रथम दशसु मात्रासु विश्रामः । द्वितीयस्थले अप्ठसु । तृतीय-
स्थले त्रयोदशसु मात्रासु विरतिः । इत्येकत्रिंशत्कलात्मकः प्रथमश्चरणः । एव
द्वितीयोऽपि । सभूय द्वापष्टि कला इत्यर्थः । गाहू छन्दः ॥

१०१. घत्तामुदाहरति—जहा (यथा)—

रणादन्तः सप्रामकुशलः, दत्तस्य हन्ता, जितकुसुमधन्वा जितकर्दपः । अन्ध-
कस्यासुरस्य गन्धस्यापि विनाशकर । गौरीनारीमर्धाङ्गे धारयति यः । तादृशो-
ऽसुरभयकर. स शंभुर्युष्मात्रक्षतु । उट्टवणिका यथा—॥५, ॥५, ॥५, ॥॥॥, ॥५,
॥५, ॥५, ॥॥, ५५, ॥५, ॥॥॥, ॥५, ॥५, ॥५, ५५, ॥॥॥, घत्ता निवृत्ता ॥

१०२. अथ त्रिभेदेन घत्तानन्दमाह—

ततश्छन्दो घत्तानाम । सुच्छन्दः सु कुलेन सार जातिश्रेष्ठम् । मात्रात्मक-
मित्यर्थः । 'जातिर्मात्राकृता भवेत्' इत्युक्त्वात् । तत्किम् । यत्र 'प्रथममेकादशसु
मात्रासु विश्राम' । पुनरपि सप्तसु । ततश्चतुर्दशसु मात्रासु विश्रामो भवति ।
तत्कीर्त्या अगारः, अपारकीर्तिर्वा, नागराजः पिङ्गलो घत्तानन्दनाम कथयतीति
योजना । वाणीभूपणोऽपि—'एकादशविश्रामि तुरगविश्रामि ' यदि घत्तावृत्त
भवति । छन्दो घत्तानन्दमिदमानन्दकारि नागपतिरिति वदति ॥' इदमप्यु-
दाहरणम् ॥

१०३ अत्रैव गणनियममाह—

अथो पदार्थं गर्भं स्थापयत् । ततस्त्रीयातुल्यामदस्य । तन्मन्तरं पञ्चमं
चतुष्पत्तमुक्तं च गर्भं दत्वा मत्तानन्दं क्षुब्धो ज्ञानीति । बोधा क्षुब्धः ॥

१ ४ पञ्चानन्दगुहाहरति—ब्रह्म (यथा)—

यो बन्दितः शोषो गङ्गाया । येन हतोऽनङ्गः । यथावर्षाङ्गे परिकरं कृतं
पृथक् । अतएव भुवि विस्मयितहरः । स पिबो जम्पीति मयः । कीदृशः ।
कुटिलोद्वाहः । स्मरणमात्र इति भावः । पुनश्च यः शीर्षस्थित्यापि गङ्गाया
बन्दित इत्युक्तः स्तुतिः । पुनर्बेन अनङ्गः कर्षणो दत्ता । यत्त्वमिदं हन्ते त
पूर्वं जलया तावत् इति भावः । पुनः पञ्चादर्षाङ्गे परिकरं यत्तां पृथक्
वह्निविश्वं यथा—५५॥ ॥५, ॥॥, ॥५, ५५ ॥॥, ॥॥, ५५५, ॥५, ॥॥, ॥५
५५, ॥५, ॥॥, यत्तां विवृणुता ॥

१ ५ अथ क्षुब्धम्—(अथ पदार्थक्षुब्धम्)—

इत्यत्र पदार्थक्षुब्धमस्मात्पदे—पदार्थं क्षुब्धो विवृणुताः शृणुता । अथ
संयुक्तम् । पञ्चदशकलासु तस्य विरतिः । तदनन्तरं त्रयोदशसु कलासु विरति
निर्गमम् । हे माते भूता प्रथमं कला पुनरन्तरातुल्याः विरति । मन्त्रैस्त
एवै रत्ना । एवं चतुष्पत्ताः पञ्च । हेतुं चरन्ते सत्रं चतुष्टयं शीघ्रं ।
परचातुष्पत्ताचरन्तेर्हान्ता पञ्चदशान् विरति । अष्टविंशतिमात्रिण्यै च चरन्ते
मन्त्रलो । अत्र सर्वत्रानुक्तस्ते सर्वत्रिण्यस्तु विरामसंख्या ज्ञेयेति । एवं
ज्ञानीति । शुक्लसु कटपदपदे मनुचतुष्टयदन्वयात् न किमपि भवति । अत्र
मर्त्य—पूर्वं माताह्वयम् । तत्रचतुष्पत्ताः पञ्च । अथस्तु माताह्वयम् । एवं
पञ्चचतुष्टयं विवेकम् । अनन्तरमुक्तानुक्तवति पञ्चदशसु मातासु त्रयोदशसु
विभामा तादृशं पञ्चदशमष्टविंशतिकलात्मकम् । एवं सत्रं पञ्चचतुष्टयेन उत्पन्न
पञ्चमेन हान्ता क्षुब्धोऽन्ता कटपदं भवति । इदमनुवाहरणम् ॥

१ ६ पदार्थमुवाहरति—ब्रह्म (यथा)—

अथिक्कविर्वाहमीरतुमदस्य चतुष्पत्तमस्य शोलाई प्रतिज्ञातुपकल्पति—
यथा मया परिपूतो ब्रह्म संनाह । तुरगोपरि संनाहं दत्वा, कष्टं संभाषिता
एवोऽई रयेऽकलीर्मा, शास्त्रिमीरवक्त्रं शीला चतुष्टयेऽन्तरिद्ये मन्त्रपदे भ्रमामि ।
क्षेत्रेनानेन रिपुरोर्धाधि प्रति क्षयामि । संनाहेनैव संनाहमपहस्त्यत्वा पर्वतान्वा
स्मरन्नामि । इमीरकृते चतुष्पत्तो यत्पुत्र एवं वदति । क्षेत्रज्ञमन्त्रोऽई
कल्पामि । मुतायनां तुरगान्त्रोऽस्तान्नादीनां (चतुष्पत्तादीनां) तन्त्रोर्ध्वं चरन्तं
दत्वा तन्त्राया च कष्टेकरं दिवं चलापीति प्रतिज्ञां करोमीति चतुष्पत्तस्य कल्पनम् ।
सहचरिण्यं यथा—५॥॥, ५५, ॥५, ५॥ ५॥, ॥ ५॥॥, ॥॥ ५५, ५५, ॥॥ ॥

SIII, III, IS, IS, II, SII, IS, IS, SII, SS, II, SS, IS, SS,
 III, SS, III, III, I, IS, IS, IS, III, SII, SSI, III, I

१०७. एतस्यैव प्रकारान्तरेण लक्षणमाह—

पदे पदे प्रतिचरणाघस्तान्निवद्धमात्राश्चतुर्विंशतिः क्रियन्ते । अत्राडम्बरः
सदृश एव भवति । इत्यमुना प्रकारेण कृत छन्दः शुद्ध मण्यते । तत्र गणनियम-
माह—आदौ षट्कलो गणो भवति । ततश्चत्वारश्चतुष्पला निरुक्ताः । द्विकल
चान्ते स्थापयन्तु । शेषकविना तद्वस्त्विति नामान्तर निरुक्तम् । मात्रासख्यामाह—
संभूय द्विपञ्चाशदधिक मात्राशतक १५२ जानीत । उल्लालेन सहैव गणयन्तु ।
एतेन काव्यस्य पण्यवत्या ६६ उल्लालस्य षट्पञ्चाशता ५६ संभूय द्विपञ्चाशदधिक
शतमित्यर्थः । भोः शिष्या, किमिति ग्रन्थग्रन्थन कृत्वा म्रियध्वमिति । भूपणोऽपि—
'षट्कलयादौ तदनु चतुस्तुरग परिसतनु, शेषे द्विकल कलय चतुष्पदमेव सचिनु,
छन्दः षट्पदनाम भवति फणिनायकगीतम्, रुद्रे विरतिमुपैति तु पतिसुखकरमु-
पनीतम् । उल्लालयुगलमत्र च भवेदष्टाविंशतिकलमिदम्, शृणु पञ्चदशे
विरतिस्थित पठनादपि गुणिगणहितम् ।' इदमप्युदाहरणम् ॥

१०८. वस्तुनामक षट्पदमुदाहरति—नहा (यथा)—

यथा शारदः शशिविम्बः, यथा हरहारहसस्थिति , यथा फुल्ल सितकमलम्,
यथा खण्डीकृतः श्रीखण्डः, यथा [गङ्गा] कल्लोलः, यथोज्ज्वलीकृत रौप्यम्,
यथा दुग्धवरे मुग्धफेनः । ‘फफाई’ इत्यनुकरणम् । ऊर्ध्वं गत्वा स्फुरति । प्रिया-
त्पाप्य प्रसाददृष्टि पुनः स्मित्वा हसति यथा तरुणीजनः । तथा हे चण्डेश्वर,
राज्ञो वरमन्त्रिन्, तव कीर्ति स्फुरति । इति तथ्य पश्य । हरिव्रह्मनामको कविर्म-
णति । क्वचित् ‘पुराण विहसि’ इति स्थले ‘पलु णिहुइ’ इति पाठः, तत्र दृष्टि पातयित्वा
अर्थप्रिये निभृत यथा स्यात्तथा हसतीति । उट्टवणिका यथा—।५।।, ॥५, ॥५,
॥५, ।५।, ॥, ।५५।, ॥॥॥, ॥५, ॥५, ।५। ॥, ।५५।, ५५, ॥५, ५५, ॥५, ॥, ।५५।,
॥५, ।५।, ५५, ॥५, ॥, ॥५, ॥५, ५५, ॥॥॥, ॥॥॥, ॥॥॥, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५,
।५।, ॥५, ॥॥, षट्पदच्छन्दः खलु छन्दोद्वयेन भवति । काव्यपदचतुष्टयेनोल्लास-
पदद्वयेनेति ॥

१०६ काव्यमात्रालक्षणमाह—

आदावन्ते च यत्र षट्फलगणो गणद्वयस्थाने । मध्ये यत्र तुरगमाश्चतुष्फला-
स्त्रयो गणाः, तत्र तृतीयो जगणो भवति । किं वा विप्रगणश्चतुर्लघ्वात्मको गणः ।
तत्कार्त्तव्यं छन्दः । एतल्लक्षणं बुध्यस्व । यदा काव्याभिधेयमेव छन्दः क्रियते तदैव
जगणश्चतुर्लघुः भवति । लघुल्लालेन समं क्रियते तदा न नियमः । तत्र एकादशसु
विश्राम इत्याशयः । दोहा छन्दः ॥

१११ अथानन्तरं लघुद्वयडातेनैवेनगुरुद्वयस्य नामस्य पञ्चवारिगच्छे दा-
दशमिष्यन् सर्वलघुर्ल शक्रनामकं वृत्तमाह—

अनुपविशाम्भारिशद्गुरव एवैवगुरुद्विक्रमेण दातव्याः । यद्गुरदीर्घं तर्ह्य-
लघुर्ल वृत्तक्रनामकं वृत्तम् । ततो लघुद्वयडातेन एवैवगुरुद्वयस्य नामप्रदानं कुरुत-
दोहा लुब्धाः ॥

१११ शक्रमुदाहरति—ब्रह्म (यथा)—

अभिज्ञस्तः शिवं प्रार्थयते—मय्य तव करे प्रविष्टे शेषस्य बलयाः कंका-
विलसति । अनुमप्ये ब्रह्मदम्भी पावती विलसति । नयने अक्षिपक्ष्मपक्ष्मपक्ष्मोप-
प्लवो विलसति । यस्ते च गरलं विलसति । विमलाः शशी निम्बलपुष्पमन्त्रो यस्य
तव शीर्षे निवसति सुरसरिम्भम्याक्षिणी शिरसि वसति । एवविष, हे लक्ष्मण
दुरितदहनकर, शशिपर, हे हर, मम दुरितं हर । अथ च अतुल्यममममरं हस्ति-
वितर । मेनाई कृष्णकृत्यो मयेयमिति माध । अथ प्रतिपदयं प्लुर्विदतिः कला-
संभूय दण्डकृत्यो मात्राः ६९ दातव्याः । विपतिरेकादयो नयेदयो च । लघुर्ल
शक्रनामकं वृत्तम् ॥

११२ पुनः लौक्यार्थं सप्तविधं मेदमाह—

यथा यथा ब्रह्मो गुरुर्वसति तथा तथा नामानि मेदान् कुरु । शंभुमारम्भ-
गणमङ्गमन्त्रीकृत्य गणप । अतुल्यत्वारिशम्भामानि अनीधिर । दोहा लुब्धाः ॥

११३ ११४ नामान्मेवाह—ब्रह्म (यथा)—

मानि गुरुद्वयस्य नामानि तानि । कथ्यन्ते इति शेषः । यथा—

गुरु	६९ लघु	शक्रः ।
१ गुरु	९४ लघु	शंभुः ।
२ गुरु	१२९ लघु	सर्वः ।
३ गुरु	१६४ लघु	गरलः ।
४ गुरु	२०९ लघु	लक्ष्मणः ।
५ गुरु	२५४ लघु	विमलाः ।
६ गुरु	२९९ लघु	वर्षाः ।
७ गुरु	३४४ लघु	पल्लवाः ।
८ गुरु	३८९ लघु	समराः ।
९ गुरु	४३४ लघु	विष्णुः ।
१० गुरु	४७९ लघु	शेषः ।
११ गुरु	५२४ लघु	ब्रह्मेवाः ।

१२ गुरु	७२ लघु	प्रतिपक्षः ।
१३ गुरु	७० लघु	परिधर्मः ।
१४ गुरु	६८ लघु	मरालः ।
१५ गुरु	६६ लघु	मृगेन्द्रः ।
१६ गुरु	६४ लघु	दण्डः ।
१७ गुरु	६२ लघु	मर्कटः ।
१८ गुरु	६० लघु	मदनः ।
१९ गुरु	५८ लघु	महाराष्ट्रः ।
२० गुरु	५६ लघु	वसन्तः ।
२१ गुरु	५४ लघु	कण्ठः ।
२२ गुरु	५२ लघु	मयूरः ।
२३ गुरु	५० लघु	बन्धः ।
२४ गुरु	४८ लघु	भ्रमरः ।
२५ गुरु	४६ लघु	द्वितीयो महाराष्ट्रः ।
२६ गुरु	४४ लघु	वलमद्रः ।
२७ गुरु	४२ लघु	राजा ।
२८ गुरु	४० लघु	विलितः ।
२९ गुरु	३८ लघु	रामः ।
३० गुरु	३६ लघु	मन्थानः ।
३१ गुरु	३४ लघु	बली ।
३२ गुरु	३२ लघु	मोहः ।
३३ गुरु	३० लघु	सहस्राक्षः ।
३४ गुरु	२८ लघु	बालः ।
३५ गुरु	२६ लघु	दत्तः ।
३६ गुरु	२४ लघु	शरमः ।
३७ गुरु	२२ लघु	दम्भः ।
३८ गुरु	२० लघु	अहः ।
३९ गुरु	१८ लघु	ऊदम्भः ।
४० गुरु	१६ लघु	वलिताङ्कः ।
४१ गुरु	१४ लघु	तुरंगः ।
४२ गुरु	१२ लघु	हरिणः ।
४३ गुरु	१० लघु	अन्धः ।
४४ गुरु	८ लघु	शृङ्गः ।

एतेषु चत्वारिंशद्भेदाः शब्देषु च पञ्चत्वारिंशदक्षरानाम्ना
कम्पस्य । हे मुग्धे, छन्दःप्रकृत्या कृत्यां प्रकृत्यैव कृत्यो परमात् एवैविवः पिबत-
नागो बह्वति । इदं प्राकृतवृत्तम् ।

११५. पुनस्तामेव संख्यामाह—

वास्तुक्षरनाम्नि बाह्याक्ष्ये कृत्यति शब्दस्याः पञ्चत्वारिंशदक्षरानाम्ना
विनम्नते इति पिबताः कथित्वा साक्षात्कथयति । इतिह्यष्टमिरपि न भवति ।
तैत्त्यम्बाकर्तुं न शक्यत इत्यर्थः । दोहा छन्दः । एतेषामुदाहरणानुदाहरण
मञ्जर्यामरगन्धर्वानि ॥

११६ अथ षट्पदस्य काव्यस्य दोषानाह—

पदे चरयोऽस्त्युक्तः प्राकृतस्याक्षरशुद्धः पंगुस्त्वितिधीयते । हीनमात्रवा कम्प्यो
भवेत् । मात्राधिक्ये वातुला । तैः शब्दं पदां कर्मैः भवेत् । तथा भक्तवत्सल-
राजं बहिष्ये कथित इत्यमिधीयते । उपमाचलक्षररहितोऽप्येवमिधीयते । उह
बहिष्ये मया पञ्चकलाक्षिकतो वा भवति तथा वृत्ताः । मूढ इत्यर्थः । कर्मैः
विना दुर्गताः कम्प्ये । इहोक्तव्योराचरेः डेर । केचन इत्यर्थः । स्तोपादिगुण
रहिता काव्यः । सर्वैरतोऽप्युक्तः समकामगुणाः षट्पदस्य ॥

११७ अथ लघुसंख्यामेनेन वर्णमुपदिशन् प्रतिपदमात्रासंख्यां पिबसंख्यां च
कथयन् षट्पदस्याप्येकवृत्तिसंख्यां कथयति—

इतिहास्तानुमितिर्भयो भवति । ततो द्विचत्वारिंशद्विधशुद्धेः षट्पदं चित्रितो
भवति । ततोऽष्टचत्वारिंशद्विधविकर्षेण भवति । सर्वैरितः दोषैः शुद्धो भवति ।
इति तं सङ्ग्रहम् । इत्युक्तं कुब । उक्तानुपदिश्यामस्तुपद्यताः पदे चत्वारिंश-
विधति मात्राः काव्यः । एवं च पिबसंख्यां मात्रापञ्चविधत्वां षट्पदस्यै-
कापन । ततश्च पञ्चचत्वारिंशदानामभिः काव्यस्यैव कुब । अथोक्तानुपदिश्यामस्तु
पञ्चविधति गुणैर्भक्त्यैः पञ्चदश्याम्नां षट्पदं जानति । तथा च षट्पदस्यापि एक-
स्माति नाम्नानि परिगृह्य । पञ्चचत्वारिंशदानामभिः काव्यस्य, पञ्चविधतिदस्तासावा
संभूत एकवृत्तिति । षट्पदी कृत्या ॥

११८ अथोक्तानुपदिश्यामस्तु—

प्रथमं तुरंगमाक्षरशुद्धः कथयति, ततश्चिह्नाः, ततश्चरः षट्पदः, तथा
चतुर्धराः, ततश्चिह्नाः, संमूलाविधति कथाः प्रथमचरयो । एवमुक्तानुपदि-
श्यामस्तु संविधां कुर्वन्तु । तथा च इत्याम्नां दस्ताम्नां षट्पदस्याम्नावा भवति ।
दोहापञ्चम् ॥

११९ अथ शास्त्रमतीतस्यार्थं दर्शयित्वा पूर्वं सर्वगुणैश्चरयति—
अथ (वच)—

यस्य शिवस्य जाया पार्वती अर्चान्ने । तिष्ठतीति शेषः । यस्य शीर्षे गङ्गा
लुठति । कीदृशी । सर्वाशाः पूरयन्ती । दुःखानि त्रोटयन्ती । यस्य नागराजो हारः ।
यस्य दिग्वासोऽन्तः । दिगेव वाससो वज्रस्याऽन्तोऽञ्चल यस्य । यस्य सङ्गे वेतालाः ।
तिष्ठन्तीति शेषः । पिशाचसदृश इत्यर्थः । दुष्टान्नाशयन् उत्साहेन नृत्यन् ताण्डव
कुर्वन्, तालैर्भूमि. कम्पिता येन । अथ च यस्मिन् दृष्टे मोक्षः स शिवो युष्माक
सुप्तदोऽस्तु ॥

१२० अथैकमतिभेदानयनप्रकारमाह—

चतुश्चत्वारिंशद्गुरवः काव्यस्य, षड्विंशतिरुल्लालायाः सभूय सततिः । तेषु
यदैकैकक्रमेण गुरुर्हसति, लघुद्वय वर्धते तदा सततिसख्याका भेदा भवन्ति । सर्व-
शेषे च सर्वलघ्वात्मकमेकम् । एवमेकमतिप्रसारः । दोहा छन्दः ॥

१२१ तदेवाह—

अजयनाग्निपट्पदे द्वयशीत्यक्षराणि । तत्र विवेकः—सततिर्गुरवः, रविसख्याका
रेखा लघवः, ततो यावद्विंशद्वाशदधिकशतान्तर तावदैकैकमक्षरं सर्वलघुप्रभेदान्त
वर्धते । एकोगुरुर्हसति । लघुद्वय वर्धते । अन्यथा परिपाठ्या यावत्सर्वलघुर्मवेता-
चल्लघुकान् देहि । इति प्रथमो भेदः ।

१२१, १२३. अथ तानुदाहरति—

यथा=

७० गुरु	१२ लघु	८२ अक्षर	अजयः ।
६९ गुरु	१४ लघु	८३ अक्षर	विजयः ।
६८ गुरु	१६ लघु	८४ अक्षर	बलिः ।
६७ गुरु	१८ लघु	८५ अक्षर	कर्णः ।
६६ गुरु	२० लघु	८६ अक्षर	वीरः ।
६५ गुरु	२२ लघु	८७ अक्षर	वेतालः ।
६४ गुरु	२४ लघु	८८ अक्षर	वृहन्नलः ।
६३ गुरु	२६ लघु	८९ अक्षर	मर्कटः ।
६२ गुरु	२८ लघु	९० अक्षर	हरिः ।
६१ गुरु	३० लघु	९१ अक्षर	हरः ।
६० गुरु	३२ लघु	९२ अक्षर	ब्रह्मा ।
५९ गुरु	३४ लघु	९३ अक्षर	इन्दुः ।
५८ गुरु	३६ लघु	९४ अक्षर	चन्दनम् ।
५७ गुरु	३८ लघु	९५ अक्षर	शुभकरः ।

५५ गुण	४५ लघु	१६ अक्षर	१५ ।
५५ गुण	४२ लघु	१७ अक्षर	१६ ।
५४ गुण	४४ लघु	१८ अक्षर	१७ ।
५३ गुण	४६ लघु	१९ अक्षर	१८ ।
५२ गुण	४८ लघु	२० अक्षर	१९ ।
५१ गुण	५० लघु	२१ अक्षर	२० ।
५० गुण	५२ लघु	२२ अक्षर	२१ ।
४९ गुण	५४ लघु	२३ अक्षर	२२ ।
४८ गुण	५६ लघु	२४ अक्षर	२३ ।
४७ गुण	५८ लघु	२५ अक्षर	२४ ।
४६ गुण	६० लघु	२६ अक्षर	२५ ।
४५ गुण	६२ लघु	२७ अक्षर	२६ ।
४४ गुण	६४ लघु	२८ अक्षर	२७ ।
४३ गुण	६६ लघु	२९ अक्षर	२८ ।
४२ गुण	६८ लघु	३० अक्षर	२९ ।
४१ गुण	७० लघु	३१ अक्षर	३० ।
४० गुण	७२ लघु	३२ अक्षर	३१ ।
३९ गुण	७४ लघु	३३ अक्षर	३२ ।
३८ गुण	७६ लघु	३४ अक्षर	३३ ।
३७ गुण	७८ लघु	३५ अक्षर	३४ ।
३६ गुण	८० लघु	३६ अक्षर	३५ ।
३५ गुण	८२ लघु	३७ अक्षर	३६ ।
३४ गुण	८४ लघु	३८ अक्षर	३७ ।
३३ गुण	८६ लघु	३९ अक्षर	३८ ।
३२ गुण	८८ लघु	४० अक्षर	३९ ।
३१ गुण	९० लघु	४१ अक्षर	४० ।
३० गुण	९२ लघु	४२ अक्षर	४१ ।
२९ गुण	९४ लघु	४३ अक्षर	४२ ।
२८ गुण	९६ लघु	४४ अक्षर	४३ ।
२७ गुण	९८ लघु	४५ अक्षर	४४ ।
२६ गुण	१०० लघु	४६ अक्षर	४५ ।
२५ गुण	१०२ लघु	४७ अक्षर	४६ ।

२४ गुरु	१०४ लघु	१२८ अक्षर	घवलः ।
२३ गुरु	१०६ लघु	१२९ अक्षर	मनः ।
२२ गुरु	१०८ लघु	१३० अक्षर	ध्रुवः ।
२१ गुरु	११० लघु	१३१ अक्षर	कनकम् ।
२० गुरु	११२ लघु	१३२ अक्षर	कृष्णः ।
१९ गुरु	११४ लघु	१३३ अक्षर	रञ्जनम् ।
१८ गुरु	११६ लघु	१३४ अक्षर	मेघकरः ।
१७ गुरु	११८ लघु	१३५ अक्षर	ग्रीष्मः ।
१६ गुरु	१२० लघु	१३६ अक्षर	गरुडः ।
१५ गुरु	१२२ लघु	१३७ अक्षर	शशी ।
१४ गुरु	१२४ लघु	१३८ अक्षर	सूर्यः ।
१३ गुरु	१२६ लघु	१३९ अक्षर	शाल्यः ।
१२ गुरु	१२८ लघु	१४० अक्षर	नवरङ्गः ।
११ गुरु	१३० लघु	१४१ अक्षर	मनोहरः ।
१० गुरु	१३२ लघु	१४२ अक्षर	गगनम् ।
९ गुरु	१३४ लघु	१४३ अक्षर	रत्नम् ।
८ गुरु	१३६ लघु	१४४ अक्षर	नरः ।
७ गुरु	१३८ लघु	१४५ अक्षर	हीरः ।
६ गुरु	१४० लघु	१४६ अक्षर	भ्रमरः ।
५ गुरु	१४२ लघु	१४७ अक्षर	शेखरः ।
४ गुरु	१४४ लघु	१४८ अक्षर	कुसुमाकरः ।
३ गुरु	१४६ लघु	१४९ अक्षर	दीपः ।
२ गुरु	१४८ लघु	१५० अक्षर	शंखः ।
१ गुरु	१५० लघु	१५१ अक्षर	वसु ।
० गुरु	१५२ लघु	१५२ अक्षर (१५२ मात्रा) शब्दः ।	

इति ज्ञात्वा मनसि विचारयित्वा नागराजं पिङ्गलं कथयति । इत्येक्सप्ततिः पट्पदानां नामानि । छन्दस्कारं प्रस्तार्य लभते । नाममेवानिति शेषः ॥

१२४ पट्पदच्छन्दसि नामसंख्यानयनप्रकारान्तरमाह—

यावन्तः सर्वे लघवो भवन्ति । द्विपञ्चाशदधिकशतकला इत्यर्थः । तासु कलास्वर्धे विसर्जय । अवशिष्टा पट्सप्तति । तासुपि शरसंख्या विसर्जय । एवं सति यावत्योऽवशिष्यन्ते । प्रकृते एकसप्ततिः । एतत्प्रमाणाणि नामानीति दोहाच्छ्रुतः । एतेषामुदाहरणान्युदाहरणमञ्जरीतोऽगन्तयानि क्रमेण । पट्पदं निवृत्तम् ॥

१३०. तदुदाहरति—जहा (यथा)—

कस्यचिद्विद्रूपकस्य वचनम्—सेरमात्र यदि प्राप्यते पृत तथा मण्डकान्
विंशतिं पचामि नित्यम् । तत्र दृक्मात्र यदि सैन्यव लवण प्राप्त तदा य
एवाह रङ्क. स एवाह राजा उट्टवणिगा यथा—ऽ।ऽ।।ऽ।।ऽऽ, ऽऽऽ।।ऽ।।ऽऽ,
ऽ।ऽ।।ऽ।।ऽऽ, ऽ।।ऽ।।।।ऽऽ यथा वा—मलयपवनहृतकुसुमपरागः, परभृतनिभृत-
रगिनवनभाग । चिरतरसचितमानदुरन्तः, कस्य न मुदमुपनयति वसन्त. ॥'

१३१. अथ चउमोलाहृन्तः—

षोडशमात्राभिर्द्वा चरणौ प्रथमतृतीयको प्रमाणयत । द्वितीये चतुर्थे चरणे
च चतुर्दशमात्राः । एव पष्टिमात्राभिश्चतुष्पद जानीत ॥

१३२. चउमोलामुदाहरति—

कस्याचित्तरुण्यमासक्तस्य [कस्यचित्] वचनम्—हे घणि हे वनिते, मत्त-
मतङ्गजगामिनि, हे सञ्जनलोचने, हे चन्द्रमुखि, यतश्चञ्चलमिट यौवन हस्त-
स्थितजलमिव गच्छन्न जानासि । अतः छद्मलेभ्य अमदादिविदेभ्य कृतो न
समर्पयसि । अग्रे ते भ्रम इति भावः ॥ उट्टवणिगा यथा—ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।-
ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ, ऽ।।ऽ।।ऽ।।ऽ।।, ।।।।ऽ।।ऽ।।ऽ

१३३ अथ रङ्गाहृन्तः—

प्रथमे पदे पञ्चदश मात्रा विरचय । पदे द्वितीये द्वादश । तृतीयस्थाने
पञ्चदशमात्रा जानीत । चतुर्थे एकादशमात्राः । पञ्चमे पञ्चदशमात्रा आनयन्तु ।
एव पञ्चपदेषु अष्टपष्टि मात्रा पूरयन्तु । अग्रे दोहां दत्त । राजसेनो नाम राजा
सुप्रसिद्धामिमा रङ्गा भणति । इदमप्युदाहरणम् ।

१३४. एतस्या एव गणनियममाह—

विपमे पदे प्रथमतृतीयपञ्चमे प्रथम त्रिकल स्थापयन्तु । ततस्त्रयः पदातयः
चतुष्कलगणाः क्रियन्ताम् । अत्र प्रथमपादस्यान्ते नरेन्द्रो भगणः । किंवा विप्रगण
चतुर्ध्वात्मको भवति । ततोऽपरत्र समे द्वितीये चतुर्थे च द्वे मात्रे प्रथमतो दत्त्वा
त्रय पदातयः चतुष्कलास्त्रयोगणा, पूर्वस्थापितमात्राद्वयेन सह कर्तव्या इत्यर्थः ।
सर्वेषु पदेषु लघुमन्ते विसर्जय तु । चतुर्थे चरणे विचारयित्वा कार्यः । उट्टवणिगा
विधाय तृतीयचरणे एक लघुमाकृष्य गृह्णन्तु । तेन चतुर्थे चरणे एकादशैव कलाः ।
अतस्तृतीयो गणत्रिकलस्त्रिलध्वात्मको भवति, इत्येवं पञ्चसु पादेषु उट्टवणिगा
कृत्वा अष्टपष्टिमात्राश्च पूरयित्वा वस्तुभूत तच्छन्दसो नाम पिंगलः करोति ।
'वस्तु' इष्येतस्यैव नामान्तरम् । वापा (?) स्थापयित्वा दोषहीनं दोषाचरणं
राजसेनो नाम राजा रङ्गामिति भणति । पट्पदीच्छन्दः ॥

यस्याः स्थाने स्थाने चतुर्ध्वपि चरणेषु चतुर्मात्रिकाश्चतुष्कला गणा अष्टौ भवन्ति ।
ता पद्मावती भण । के के गणा इत्याह—कर्ण. गुरुद्वयात्मको गणः । करतलः
गुर्वन्तश्चतुष्कलः । त्रिप्रः चतुर्लघ्वात्मको गणः । चरणः आदिगुरुर्मगणाख्यः । ध्रुव
निश्चितम् । एत एव गणाः पौर्वापर्येण वसुसख्याकाः पादे पादे उत्कृष्टाः कार्याः ।
अत्र 'ध्रुवधम्मो' इति क्वचित्पाठः । तत्र धर्मो युधिष्ठिरः, तेन कुन्तिपुत्रत्वाद्गुरुद्वय
विवक्षितम् । अत्र यदि पयोधरो जगणः पतति तदा किमिय मनोहरा, (मनोहरा)
न भवतीत्यर्थः । अथ च यस्य कवित्वं क्रियते तस्य नायकस्य तथा गुणं पीडयति,
पितरं त्रासयति, कवित्वस्य पिता कविरेव विवृणोति—कविमुद्रासयति, तस्मादत्र
छन्दसि अयं जगणश्चण्डालचरित्रः सर्वथा त्याज्यः । उक्तं च भूषणे—'यद्यष्टचतुष्क-
लगणनिर्मितपदकरपदकर्णद्विजविहिता, सा पद्मावतिका विबुधसुमहिता जगणविरहिता
सुकविहिता । इह दशवसुभुवनैर्भवति विरामः सकलाभिमतफलाय तदा, कणिनायक-
पिङ्गलमणितसुमङ्गलरसिकमनःसविहितमदा ॥'

१८५ पद्मावतीमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्कविः काशीश्वरस्य राज्ञो विनयप्रयाणमनुवर्णयति—वगा वशदेशीया
भयेन पलायिता । अथ च कलिंगा. कलिगदेशस्था. तैऽपि भग्नाः । तैलगा
अपि रणं त्यक्त्वा चलिताः । घृष्टा महाराष्ट्राः । एकत्रीभूय लग्ना. काष्ठाः । लग्नाः
दिश इत्यर्थः । सौराष्ट्राः भयेनागत्य पादे पतिताः । अथ च चम्पारण्यदेशीयानां
कम्पो जातः । पार्वतीया उत्थी उत्थी उपर्युपरि जीवानां मनुष्याणां हरे गृहे एव
भूम्या निलीनाः । जीवगृहे गोप्यस्थले भूम्या निलीना इति वा । एतत्प्रतापतपन-
भयादुल्लूका इव स्थिता इत्यर्थः । उद्दवणिका यथा—॥५, ॥५, ५५, ॥५, ५५, ५५,
॥५, ॥५, ॥५, ५५, ५५, ॥५, ५५, ५५, ॥५, ॥५, ५५, ॥५, ५५, ५५,
५५, ॥५,

१४६. अथ कुण्डलिकाछन्दः—

प्रथमं द्विपथालक्षणं पठित्वा काव्येनार्धं निरुक्त्वा कुण्डलिकां जानीत ।
कोटशीम् । उल्लालेन सयुक्तम् । उल्लालनमेव उल्लालः परावर्तनं, तेन युक्त-
मेव पदं पुनः पठेदित्यर्थः । ननु पट्षद्वदुल्लालेन छन्दसा युक्तमिति, तस्मात्
सिंहावलोकनन्यायेन निरुक्तवर्तिना पदेन शुद्धं यमकं श्लाघ्यते । तत्राप्यसु पदेषु
क्रियत्यो मात्रा इत्याकाङ्क्षायामाह—चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं मात्रा यत्र
भवन्ति । सुकविना दृढो बन्धः कथ्यते । दोहाया अष्टचत्वारिंशत्, काव्यस्य
पञ्चवर्तिर्मिलित्वा चतुश्चत्वारिंशदधिकशतं कला तनुभूषणशोभा यस्यास्ता कुण्ड-
लिका सुगृह्य जानीत । एतेनाष्टपदी कुण्डलिकेति तात्पर्यार्थः । तथा चोक्तं
भूषणे—

चतुर्थपि चरणेषु प्रथमं चतुष्फलो गणः । चरणान्ते द्वारो गुरुर्देयः । अथ
(त्र) चाक्षराणि विंशतिः । भण पठ । मात्रा पञ्चविंशतिः । एव गगनागनं छन्दो
विचारय ॥ दोहा छन्दः ॥ उट्टयणिका यथा—||||, |||S|||S||S'S, S|||,||
|||S'S, |||, S'S|||S|||S'S, S'S, |||S|||S||S'S'S । वाणीभूषणे तु
मात्रागणनियमोन्यथाक्षरनियमो नास्तीत्युक्तम् । यथा—'पट्फलमादौ विरचय शेषे
रगणविभूषितं, मध्ये नियमविहीनं द्वादशके यतिरुगतम् । फणिपतिपिङ्गलभणित
कविकुलहृदयगञ्जनं, पञ्चाधिकविंशतिफलं वृत्तमिदं गगनागनम् ॥'

१५१. गगनागनमुदाहरति—जहा (यथा)—

[illegible]

१५२. अथ द्विपरीच्छन्तः--

आदिस्थ इन्दुः, षट्कलो गणः प्रथम यत्र भवति । ततो दीयन्ते त्रयो धनुर्धरा
श्चतुष्कलगणा यत्र । तथा पदातिर्युगल परिमस्थापयन्तु । एव विधितो त्रिचित्र-
सुन्दरमितिच्छन्दोविशेषणम् सरस्वत्याः सकाशात्प्रसादं गृहीत्वा तथा पृथिव्या
कुरुत कवित्वं कविजनाः । मधुरो गुरुस्त चरणान्ते दत्तः । एतादृशं द्विपदीच्छन्दो
जानीत बुधा । अत्रेदं लक्षणद्वय [द्विप] द्वीद्वयेन ज्ञातव्यं न तु पदचतुष्टयम् ।
द्विपदीति न, मविरोधात्तथोदाहरणाच्च । अत्रेन्दुर्यत्रापि लघुद्वयगुरुद्वयात्मकः ॥५५॥
षट्कलः तथापि षट्कलमात्रोपलक्षणः लक्ष्ये तयैव दर्शनात् ॥

१५३. उक्तामेवोद्वयिका दोहाच्छन्दसा स ष्टीकृत्याह—

षट्कल मुखे स्थापयित्वा ततश्चतुष्कलान्यञ्चगणान्कुरुत । अन्ते च एकहरो
गुरुस्त दत्त्वा द्विपदीलुन्द. कथयतु । भूपणोऽपि—‘आदौ षट्कलसगतमेतत्तदनु पञ्च-
चतुष्कलम् । गुर्वन्त द्विपदी भवतीह हि विंशत्यष्टकलदलम् ॥’ इदमप्यु-
दाहरणम् ॥

१५४ तामुदाहरति—जहा (यथा)--

दानवदेवौ द्वावपि सप्रामार्थमेकदा परस्परं मिलितौ । अत एव गिरिवरस्य सुमेरोः शिखरं कम्पितम् । अथ च हयगजपादघातोद्भूतधूलिभिर्गङ्गा च विशेषेण पिहितम् । उट्टवणिका यथा—ऽ।।ऽ, ।ऽ, ऽऽ, ।।।, ।।।, ।ऽ, (२८) ।।।ऽ, ।ऽ, ।ऽ, ।ऽ, ।।।, ।ऽ, ऽ (२८) ।

महीचलने शेषचलन हेतु । वैलासपतने महीचलनमित्युत्तरोत्तर प्रति पूर्वस्य हेतु-
त्वमिति * * * अलकारः । उट्टवणिका यथा—||||, ||||, ||||, ||||, ||||, ||||,
|||, ||||, ||||, S1S (४१) ||||, ||||, ||||, ||||, ||||, ||||, ||||, ||||, ||||,
S1S (४१) = (८२) ।

१६५. अथ सिक्खा (शिखा) छन्दः—

हे शशिवदने, हे गजगमने, यत्र पदे पदे द्विजगणपट्कं भवति । तदुपरि पयो-
धरेण जगणेन सशिखम् । उपरिस्थितजगणमित्यर्थः । एवविधं प्रथमदलं पठ ।
पञ्चादद्वाभ्या द्वाभ्या लघुभ्या प्रकटितोऽधिक एको द्विजगणो लभ्यते । तेन द्वितीये
दले सप्तविप्रगणानन्तर यत्र जगणो भवति स इति प्रसिद्धः । शेषस्तन्निखानामरु
छन्दो भणते । इदमप्युदाहरणम् ॥

१६१. उक्तलक्षणमेव गाहूछन्दसाह—

यत्राष्टाविंशतिर्मात्रा प्रथमे दले भवन्ति । द्वितीयदले द्वात्रिंशन्मात्रा ।
पदयोरन्ते लघुयंत्र तच्छुद्ध शिखाछन्दो विजानीत ॥ भूषणेऽपि—'द्विजवरमिह
हि रसगुणितमुपनय तदनु जगणमपि विधेहि । स्वरगणितमिह परदलमधिकुरु
फणितरपति सुभणितरुचिरशिखा हि ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

१६२ तानुदाहरति—जहा (यथा)—

काचित्प्रोषितमर्तुका सखीमाह—हे सखि, पुष्पिता मधुका भ्रमरा ।
प्रस्थिता. पुष्पेषु इति शेषः । किंच रजनीप्रभोश्चन्द्रस्य किरणा बहवो विशेषतः
अथ इदानीं पुनर्वसन्त इत्यर्थः । परमसतापका इति भावः । अथ च मलयान्चल-
कटककोटरमभिव्याप्य पवनो वहति । अत एवैतत्सर्वं सोढव्यं कथमिति त्वमेव
भण । निकटे नास्ति कान्तः । अतो यदुचितं भण ॥ उट्टवणिका यथा—|||, ||||,
|||, ||||, ||||, ||||, S1, ||||, ||||, ||||, ||||, ||||, ||||, S1,

१६३ अथ मालाछन्दः—

हे शशिवदने, हे मृगनयने कर्णो गुरुद्वयात्मको गणो भवति । शेष द्वितीय-
चरण गाथाया अर्थं यस्मिस्तन्मालाछन्दः पिङ्गलनागो भणति ॥ इदमप्युदाहरणम् ॥

१६४. उक्तलक्षणमेव दोहाछन्दसाह—

यत्र प्रथम नव विप्रगणाः ततो जोहल रगणः पुनर्गुरुद्वयम् । एव पञ्च
चत्वारिंशन्मात्राः पञ्चादगाथायाः अर्थं सप्तविंशतिर्मात्रा उत्तरार्धे यत्र तन्माला-
छन्दः ॥ तथा चोक्त वाणीभूषणे—'द्विजवरनवगणमतिशयसुखरुचिरमिह कुरु तदनु
रगणमपि कलय कमलमुखि कर्णवच्छेपे ॥ अपरदल गाथाया मालावृत्त विचित्र
तत् ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

कश्चित्कर्मैचिच्छ्लाघ्यते—स एव मान्यते पुण्यवान् यस्य तनयो भक्तः,
अर्थात्पितुः, पण्डितश्च । यस्य च गृहिणी गुणवती स तु पृथिव्यामपि वर्तमानः
स्वर्गनिलयोऽमरो भवति । उट्टवणिका यथा—SSIIIIISI (११) SISISIIII(१३)
SIIIIISI (११) SIIIIISIIII (१३)

१७१. हाकलिच्छन्दः—

यत्र सगणो गुर्वन्तश्चतुष्कलः भगणो गुर्वादिः, द्विजगणश्चतुर्लङ्घ्यात्मकश्च
अत एव व्यस्तसमस्ता गणा भवन्ति । अन्ते वक्र गुरुरेक सस्थाप्य मात्राश्चतुर्दश
मिलित्वा वर्णाश्चैकादश पदे पदे उत्तरार्धे दश पतन्ति, तदिदं हाकलिच्छन्दोरूपं
कथितम् । इदमप्युदाहरणम् ॥

१७२. उक्तलक्षणमेव साक्षरनियममाह—

यत्र मात्राश्चतुर्दश पदे पतन्ति, एकादशवर्णेश्च पूर्वदल दशाक्षरैस्त्तरदलम्
यत्र तद्वाकलिच्छन्दः कथय ॥ वाणीभूषणे त्वक्षरनियमो नोक्तः । 'द्विजगणसगण-
भगणकलिता, भवति चतुर्दशकलकलिता । अन्ते गुरुमुपधाय सदा, हाकलिरेषा
भवति तदा ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

१७३. तामुदाहरति—जहा (यथा)—

उच्चा छदि. विमल गृह विनयपरा तरुणी चेद्गृहिणी यस्य वित्तैः पूरितं
मूलगृह तस्य वर्णासमया सुखकरा भवन्ति । इति दरिद्रवचन वयस्य प्रति । उट्ट-
वणिका यथा—SIIISIIIIIS, IISIIISIIIS, SISISIS, IISIIISIS

१७४. अथ मधुभारच्छन्दः—

यस्य पतति शेषे दलद्वयान्ते पयोधर एक । जगण एक. । पततीत्यर्थः ।
तत्पश्चाच्चतुर्मात्रिका गणास्त्रयो यत्र तन्मधुभारच्छन्दः । वाणीभूषणे तु गणनियमो
यत्रपि दर्शितस्तथापि चतुष्कलमात्रे पर्यवसन्नो ज्ञेयः । 'सगण निधाय जगणः
विधाय । श्रुतिसौख्यधाम मधुमारनाम ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

१७५. तामुदाहरति—जहा (यथा)—

यस्य चन्द्रः शीर्षे । यस्य परिधान दिश । स शम्भुरेव तुम्य शुभ ददात्विति ।
उट्टवणिका [यथा]—IIS, ISI, SII, ISI, SS, ISI, IIS, ISI,

१७६. अथामीरच्छन्दः—

यत्रैकादश मात्रा प्रतिपद क्रियन्ते । यत्र चान्ते जगणो दीयते । एतच्छन्दः
आमीरनामकमिति जल्पति पिङ्गल । भूषणोऽपि—एकादशकलधारि कविकुल-
मानसहारि । इदमाभीरमवेदि जगणमन्तमभिधेदि ॥' इदमप्युदाहरणम् ॥

१७७. तामुदाहरति—जहा (यथा)—

तद्वनिका यथा—डा।डा।डा। डा।डा।डा। डा।डा।डा। डा।डा।डा।

१७८. अथ दण्डनका छन्दः—

कुम्भकरः, चतुर्भरः, हयभरः, गजभरः, चतुष्कलाभलाये यथा। ततः पदभ्यो
गमः। ततः परातिहये चतुष्कलागमभयम्, अन्ते गुह्यति इति शम्भायाः परेतु
मसिद्धा जानन्ति बुधवना इदमन्ते । समुदितमात्रासंख्यामाह—अप्रविशस्म-
विश्रुतकथाः संपूर्णं सस्मिताद्वृत्तं फणितिविभाषितं मुक्ते ब्येके इष्टकलेति निरुद्धं
गुह्यसंयुक्तमिदं छन्दः पिङ्गलो जल्पति । इदमनुवाहरणम् ॥

१७९. तामुराहरति—यथा (यथा)—

अभिदूहन्ती काशीश्वराहितानां पलायनमनुकर्षयति—हे काशीपते, त्वाराहा
राजनो मन्त्राः पलायिता अगण्यं शिष्टं शम्भा । वि हृत्वा । इत्यादिप्रत्ययैः
परित्यज्य । अथ च तासां पुरेष्वाणां लोहर्षेण अस्मिन् श्वरेभ्यः कावरा भूताः
पूर्णाः । तस्मिन्ने पद्महिपी अचिद् परिष्वां हृत्ति, येदिति, अनुमाहन्ति, पुनरप्यु-
चिहति, संमन्त्रिन् अकर्षय । कर्षभूया । करे इत्यनुलोपसत्त्वं तनयस्य करकमले
करहये कये मस्याः । स्वकरेण विपुलवस्तकरहसेत्यर्थः । एवं चाते सति काशीश्वरो
यथा स्नेहता स्नेहयुक्तं कावो यस्य । करेण दण्डेन पुनर्मामां इषां स्वापन्ति
इत्यन्तं शङ्करस्मृतिपुत्रिहारेण इष्टं एहीत्वा तस्मै राक्षसे प्रदिश्यामस्मि ।
तद्वनिका यथा—डा।
डा।

१८०. अथ दीपकछन्दः—

अग्ने शत्रुमार्जं मया देहि । तत्त्वन्ते पदं लभुं देहि । तव श्वोरचतुष्कलाभ-
यम्— बुधस्य । तदुक्तं भूपत्यै—श्वरीकमुपपाद्य मुनेरेन्द्रमन्त्राव । इदं
दीपकमन्त्रेण लभुमन्त्रमभिधेहि ॥ इदमनुवाहरणम् ।

१८१. यथा (यथा)—

यत्नं यत्ने हस्ते करणताः कृत्वा शोभते । नीरथा । शत्रुसंज्ञासकस्याः ।
यस्य च शिरसि वरमुत्तमं लभं शोभते संपूयशशिकम् ॥ तद्वनिका यथा—डा।डा।
डा।

१८२. अथ सिद्धास्तोत्रछन्दः—

भो शुक्तिगात्रा, विप्रलग्नसाम्बामेव प्रतियत् पौडरा माता भूया भवन्तु त्वा-
न्मोचनं तुम्हः । भुवं निश्चितं बुध्यस्व । नागो भवति । अथ जगत्ते न मन्त्रो
न च कर्मगो भवति । एतत्तत्त्वज्ञानं विप्रलग्नमेव पौडराद्यं त्वास्तोत्र-
द्वारे भवति । एतच्च शत्रुसाधनसम्बन्धेन चरन्तकर्मज्ञासाम्बामेव भवतीति

येयम् । तथा चोक्त वाणीभूषणेऽपि—‘शृणु सिंहावलोकितवृत्तवर वरयम-
कमनोहरचरणधरम् । घरणीपतिमानसमधिकलित किल वेदचतुष्कलगणललितम् ॥
इदमप्युदाहरणम् ।

१८४. उक्तामेवोद्धवणिका स्पष्टीकरोति—

अत्र छन्दसि विप्रगणसगणावेव द्वौ गणौ पदे पततः । ततोन्ते हार गुरु विसर्ज्य ।
सगणस्यान्ते गुरुत्वात् सगण एव पदान्ते देय इत्यर्थः । छन्दसोऽन्वर्थकतामाह—
पदान्ते यदक्षरद्वय तदेवाग्रिमपदादौ देयमित्यर्थः । अत एव सिंहावलोकनमिति ॥

१८४. तामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्कर्णमुपवर्णयति—हतमुज्ज्वलमतिस्फीत गुर्जरराज्यस्य दल सैन्यम् ।
येन दलेन स्वसेनासमुदायेन दलित चूर्णीकृतम्, अतएव चलित महाराष्ट्राणां
बल कटकम् । येन बलेन बलात्कारेण मोदितमुत्खात मालवराजस्य कुलम् । एव-
विधः कुलोज्ज्वलः कलचुलिवशोद्भवः कर्णः फुला स्फुरति । अथवा स्फुटं सत्यम् ।
कर्ण एव कलावतीर्ण इति भावः ॥ उद्धवणिका यथा—॥S॥S॥S॥S, ॥॥॥॥॥॥S॥
S, ॥S ॥S ॥S ॥S, ॥S ॥॥ ॥॥ S'S.

१८५. अथ प्लवगमच्छन्दः—

एतस्यैव चतुर्थचरणादौ परहा इति बन्दिनः पठन्ति (१) । हे मुग्धे, यत्र
प्रथम षण्मात्रो गणः पदे पदे दृश्यते । ततश्च पञ्चमात्रश्चतुर्मात्रो गणो नान्यत्र
क्रियते । अथ सस्मृत्यान्ते पदान्ते लघुर्गुरुश्च एकैकस्य चरणस्यान्ते चाहए अपेक्षते ।
एवमुक्तलक्षण तत्प्लवगमाख्य छन्दो विचक्षणान्मोहयतीति । भूषणेऽपि—‘षट्
कलमादिगुरु प्रथम कुरु सतत, पञ्चकल च ततोऽपि चतुष्कलसगतम् । नायक-
मत्र चतुर्थमितो गुरुमन्तके, एकाविकविंशतिः प्लवगमवृत्तके ॥’ इदमप्युदाहरणम् ॥

१८३. उक्तमेव लक्षण विशदी कृत्याह—

..... सकलेषु सम्कारेषु निर्भ्रमः पिङ्गलो भणति । तन्मात्राणामेकविंशत्या
दृष्ट प्लवगमाख्य छन्दो भवति । गाथा छन्दः ॥

१८७. तमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचित्प्रोषितपतिका सखीमाह—हे सखि, नृत्यति चञ्चला त्रिद्युत् । उतान्य
किञ्चिदेतदिति जानीहि । अह त्वेवं मन्ये । मन्मथखड्गकणिका सज्जलधरशाणके
इति । अपि च पुष्पिता कटम्बा । अम्बरढम्बरो मेघाढम्बरो दृश्यते । अतः
प्रावृट् प्राता । हे सुमुखि, घनाघनो वर्षुकघनो वर्षतीति वाकोवाक्यम् ॥ उद्-
वणिका यथा—S॥S॥S॥S॥S, S॥S॥S॥॥॥S, S॥S॥S॥S॥S,
S॥S॥S॥॥॥S,

१८८. अथ लीलावती कृदा—

यत्र कृदति लघौ गुरौ वा नियमो नास्ति । अक्षरेऽपि न निबन्धः । अत्र विषये चरणे वगणाः समेऽपि पयोचरो वगणाः पठति । अत्र कोऽपि नियमो नास्तीत्ययम् । वरलसुरगो यथा प्रसरति सिद्धु विदिद्धु अगम्ये गम्ये च । एवमे इति शेषः । तथा सुदरी परितो लीलाया समन्ततः लेखना इयं लीलावती परिचरति । अत्र कर्मो द्विवर्गो गम्यो वगमा इति अनुष्णताः पञ्चापि गङ्गा निरन्तरमप्येव क्रमेण पठति । तत्रान्ते मुक्ते निश्चितं च दिग्गजो भवति । किञ्च छा लीलावती इति शब्दज्ञानाद् विधायम् करोति । लघुगुणैश्च गणोऽपि नियमो नास्ति । यथा कर्मचिद् द्विवर्गज्ञानाः पूरयित्वा । तथा च मूले— गुरुलघुनियम विरहितमिह हि मुक्तयः अनुष्णमप्यगम्ये, इति शब्दविरहितमिह मतिशब्दश्च इत्यनुष्णराम् । लीलावतिश्च भवति च कर्मचिद्विवर्गज्ञानमालम्बिता फणिनाय अपि लघुविषयमनुष्णमप्यगम्ये गुणनसहिता ॥ इत्यनुष्णरामम् ॥

१८९. तामुष्णरामि—वरा (यथा)—

करिष्वन्दी इमीरम्याने कर्मयति—यदिमन्त्रे बीरो इमीरचलितस्त्वस्मिन्नेषेण शत्रुपक्षेण लानोमिन् चरयेति कृत्वा ज्वलति । नास्ति पञ्च कुत्रापि । विद्वन्मनोऽन्येन भूता । तस्मिन्नेव च क्षणे सर्वेरेषो प्रसूतः पदातिरुत्तति । वा पदातिर्यवनीनां शत्रुपक्षेण लानो गान् वचनादि द्विधा करोति । 'वच' इति वचनं लानो इति उपपत्तिरुत्ततीति । यत्र इमीरस्य भैरवनेरीश्वर्ये पठिते सति पलायमानवैरितवनीगणाः भान्ता एष्ये मयेन कचिन्निक्षीमाः । रिपुपदि मन्त्रा लुठति । विराः विह्व । अहन्तीत्यर्था । बोधयति । कैशानिति शेषः । सहवशिष्ठा वचा—१५, ॥५, ॥॥, ॥॥ ॥॥ ॥॥ ॥॥ ॥५, (१९) ॥५, १॥ ५५, ॥॥ ॥॥, ॥॥ ॥५, ॥५, (१९) ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, १५ ॥५, (१९) १५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, (१९) ॥

१९. अथ हरिगीताकृदा—

श्री शिवा गणेशचतुष्टय पञ्चकृतान् रथापयत । द्वितीयेस्थाने परशुलं कुरुत । मतिस्त्वन्ते चैव गुहं कुरुत । कृदा कर्मनेन सुदरं सर्वं लालीति लाहलम् । तत्र चरयेयु माषानियममाह—वरा, पञ्चा, हो वरा पुनर्ही पठत्सर्वं मिमिक्षा पादे अद्याविरा माषा इति ध्यानवत् । तदेतच्छब्दो हरिगीतानामर्क प्रविष्टं पिङ्गलेन प्रकाशितं जानीत ॥ भूपयोऽपि—इन्द्राक्षं प्रथमं विशर्जय त नु संधिषु पञ्चकर्म मनु सद्यः पञ्चकर्मणं भिन्ना कुह विषये कुहलम् । अथा विष्णुमिह विरुति च कक्षाः कलापति सुन्दरं हरिगीतमिति हरिगीतं परहृष्टमतिरममिदम् ॥ इत्यनुष्णरामम् ॥

दहनो मस्तम् । कृताः फणिपत्तेः शेषनागस्य हारो येन । त्रिभुवने तारं भेदम् ।
 विरचितं मस्तम् येन विरचितमस्तमाक्षेपपरिपूणम् । रिपूनामन्धकगच्छादीनां मस्तम् ।
 सुरेशैरिन्द्रादिभिः कैविलचरणम् । मुनिगणानां शरणं रक्षितारम् । मयमम्बरं
 संसारमौतिनाशनमन्ते तारकोपदेष्टात् । शूलधरम् । अग्नयेन सहितं वदनं यस्य ।
 सुन्दरं रमणीयं लोचनं यस्य । गिरिवरः दैत्याशस्तत्र शयनं यस्य ॥ उद्धवविभ्र
 मया—॥५ ॥५, ५५, ॥५, ५॥ ५॥, ५॥, ॥५, (१९) ॥॥ ॥५, ५॥ ॥५, ५५,
 ॥५, ५॥, ॥५, (१२) ॥५, ॥॥ ५॥, ॥॥ ५॥, ॥॥, ५५, ॥॥, (१९)
 ५५, ॥॥ ५५, ॥॥ ५॥, ॥॥ ५॥, ॥५, (१९) ॥ वाष्पीभूस्त्ये वया—मिनि
 वासुधमविभक्त संसारविभक्तारण्यविभक्तपालयवमटे पञ्चबासुरक्षणिदिनि पुण्ड्रमणिदिनि
 शराधरक्षणिदिनि वद्वहते । मयसागरादिभिः पुण्ड्रिदिभिः मंगलकारिभिः मयि
 सुचिरं गिरिराजमुवाचिनि शैलानिवाचिनि शंभुविवाचिनि देहि वरम् ॥

१९५ अयं बुद्धिमान् (बुद्धिमान्) छन्दः—

हे नरा बुधवन्ताः पिङ्गलाः हर्मिलका नामकं छन्दो मन्वति । तन्निम् । एवं
 त्रिशम्भादिभिः परितोक्तम् । पाद इति शेषः । यच्च विभाम्बति त्रिपु स्तानेषु
 एतादृशमात्रेषु विरचितमस्ति केषु । परे परे प्रतिपदं हरस्ते कर्मस्थो गुह्यबालकः
 उद्यम्य विभाम्बस्तानं हरास्तु मे द्वितीयं विरचित्वानं अद्याप्यं अष्टमं स्थानम् ।
 तत्परचतुष्टयसु मायास्तु तृतीयविरक्त्य कृतनित्यम् । यदेतादृशं त्रिभुवनविरितं
 क्वच, द्रष्टव्यमस्मिन्ना इति विज्ञातो मन्वति इति ॥ इदमप्युदाहरणम् ॥

१९६ उक्तलक्षणमेवाह—

हरा-अह चतुर्वैद्यमात्रास्तु विरति कुर्वतु । तत्र विभामे कर्मगतत्वात् । अन्त-
 रालो विभाम्बतुर्लक्षणः पदात्मना साधारण्यस्तुर्मात्रा गण्यताममस्तु । एवं बुद्धिमान्
 छन्दो कथ्यते ॥ भूपत्येऽपि—‘इति त्रिशम्भाय मन्वति पवित्रं पवित्रविभक्तिपदार्थं
 हरावस्तुमुक्तीर्यतिरत्र प्रमन्वति कश्चिदुल्लङ्घनमकारम् । यद्यप्युक्तलक्षितं
 उक्तलक्षणमिति बुद्धिमानामभरं नरपतिवस्तोपलब्धिविभूषणमुक्त्वविरितं उदाहरणम् ॥
 इदमप्युदाहरणम् ॥

१९७ तामुदाहरति—वशा (यथा)—

अभिलषतिः अशोऽवराजमनुवर्षयति—यैन वारा म्पूहा कृतः । अरिमन्नेवास्तरे
 सुपासा शत्रो मिता एव । ‘वेवासा’ इति कथित्याह । तत्र नेपासा कित्ता ।
 मोदास्तदेशस्यो लोका पीडयन्तुरा शिरश्च तादृशनिर्गता । भग्नास्त्रीनाम्नीन
 देशस्थाः । ओदराः । एवं हीनाः । लोहावसे देशे शम्भो हाहाभरा पठितः ।
 तन्मत्त उदाहृतः । तद्वत् श्रीरिपि प्राप्ता । मोदितं च मातवराजस्य वसम् ।

तैलङ्गास्तु बहुतराश्रुणप्रस्ता भग्नाः पलायिताः । एककाशीश्वरो राजा यस्मिन्क्षणे
चलितः, तस्मिन्नेव क्षणे इयमवस्था जातेत्यर्थः ॥ उट्टवणिका यथा—SS, 11S, 11S
SS, 1S1, 1S1, 1S1, 11S, (३२) SS, 11S, SS, 1S1, SS, 511, SS, 11S,
(३२) SS, SS, 11S, SS, 11S, 11S, 11S, 11S, (३२) SS, SS, 111',
11S, 11S, 511, 111, 11S, (३२) .

१६८ अथ हीरच्छन्दः—

भो. शिष्य, हीरनामकमिदं छन्दो नाग. पिङ्गलः प्रभणति तत्त्व शृणु । तत्र
त्रीन् पट्कलगणान् कुरु । तस्यान्ते जोहल रगण कुरु । पट्कले विशेषमाह—हार गुरु
पूर्वे स्थापयित्वा । हे सुप्रिय सुतरा प्रिय शिष्य, हारानन्तर विप्रगणैश्चतुष्कलैः
सर्वलघुकै शबलमिति च्छन्दोविशेषणम् । पदे कलासख्यामाह—तिष्णीति त्रीन्धारय द्वौ
कुरु 'अङ्गम्य वामा गतिः' इति गणिते त्रयोविंशतिः कलाः पादे भवन्तीत्यर्थः ।
अन्ते रगण लेखय । कश्छन्दस्कार एतच्छन्दो जानाति । अपि तु न कोऽपि । दपेण
गर्वेण हीरस्तु कविभणति अन्य. कं प्रेक्षते । अत्रावधि कस्यापि नयनगोचरो
नामवदिति भावः । अत्र च्छन्दःकविनाम्नोरैक्यमवगन्तव्यम् । इदमप्युदाहरणम् ।

१६९. उक्तमेवाह—

हे सुप्रिय शिष्य, पूर्वे हार गुरुं भण । ततो विप्रगणश्चतुर्लघुकः । स च
त्रिधा भिन्नशरीरः । एव त्रिवार कर्तव्यः । तदन्ते जोहल रगण स्थापय । एव
सति त्रयोविंशतिर्मात्रा हीरच्छन्दसः पदे पतन्ति समुदिता द्विनवतिर्मात्रासख्या ॥
भूपणेऽप्युक्तम् 'बहिरगणमन्तरगणमेकचरणशोभित, पश्य सुदति नागनृपतिरत्र वदति
नो हितम् । रामभजनकालपठन एव रटनरञ्जन, हीरकमिति नाम भवति कामम-
वति सञ्जनम् ॥'

२००. हीरमुदाहरति—जहा (यथा)—

धिक्कटलनेत्यादि घोटकगतिशब्दानुकरणम् । एव रङ्गे युद्धस्थाने रङ्गेण
कौतुकेन वा चलन्ति तुरगा धूलिधवलाः । हक्केण वीरकृतशब्दविशेषेणोपलक्षिताः
सबला समर्था. पक्षिण इव प्रवला. प्रकृष्टबला. पदातयोऽपि । चलन्तीति शेषः ।
एव कर्णे चलति सति कूर्मो ललति स्थानभ्रष्टो भवतीत्यर्थः । भूमिभ्रियते कीर्त्या ।
अत्र चतुर्ष्वपि चरणेषु 'ए ए' इति सप्तभ्रमाश्चर्ये ॥ उट्टवणिका यथा—S1111,
S1111, S1111, S1S, (२३) S1111, S1111, S1111, S1S, (२३) S1111, S1111,
S1111, S1S, (२३) S1111, S1111, S1111, S1S, (२३) ॥ वाणीभूपणेऽपि—
'ध्यानमदत साम पठत नाम रटत कैशव, धर्ममयत शर्म भजत कर्मचनतशैशवम् ।
हारभवनदाररमणारचयनवासना, तावदयति नावतरित कालनृपतिशासना ॥'

२०१ अथ जनहरणच्छन्दः—

इति विष्णुपञ्चमस्तोत्रम् । पदे पदे स्थापयिष्या कलाः । तत्र प्रथमं दशसु कलाः
विरतिं कुरु । ततो बसुक्कलासु पुनर्यसु पुनः पदसु विरतिं कुरु । तर्पणे
मुनिद्विजयजान्मेदि । विरामे सप्तगजान्मे सगणं निपमेन देहि । एवमष्टौ गजान् कुरु
इति धीमन्मतिः सुकविबरो मणति । दश त्रिगुणिताः कलाः कुरु । एवं त्रिषष्टि
पुनरपि धारय सुककलाम् । एवं द्वाविंशत्यङ्गुलीः पदे भवन्ति । एवं परिषष्ट्या
परिस्थापय कुरुकुरु (पाठास्तरे) कलाः परिस्थापय । किञ्च यदि पठति
कदाचिद्गुरुः तदा कदापि मा परिहर मा त्वञ्च । इहं कुपयन्मनोहरं मनहरन्नामकं
कन्द इति । इहमन्-पुष्पाहरणम् ।

११ उच्छ्वासवर्णमेव स्वर्गीयम्—

अत्र ह्यभिप्रेत्यात्रा मन्वन्ति धन्ते सगणान्दद्यापय लम्प्ये एव । अत्र गुदरेषे
ह्यौ वा पादे मयता लघु न दोषः । अत्रिके तु मयत्येव । गाहू सुन्द । मूषा तु—
'समुत्पन्ननिमग्नमिह पृथिव्यमिहमितिमुक्तनिगदप' दशममुक्तनैवेतिह वरि
मयति रसिककन्यदयविहितमयम् । बहुविमलवतुवकलगच्छन्मुदिगगवरमपिधम्
हितसग्नं कविदपि गुक्तहितं मयति अविहितं सुन्दरि कनहरमम् ॥

२ २ समुदाहरति—ज्या (यथा)—

[illegible]

छन्दःशास्त्रसागराद्वहिराकृष्येद छन्दो मण । तत्प्रशसामाह—यथा परकीयमृणं
स्त्रलइ सदा स्मृतितपथमुपैति, तथैतदपि ॥ उद्दवणिकामाह—द्वौ द्वौ शल्यौ लघु
लघु प्रथम वहिल्लिब्ध स्थापयित्वा ततस्तुरगहयगजपदातयो नव चतुष्कला जगण-
रहिताः प्रसरन्ति । शेषे गुरुः सज्जीकृत्य स्थापितः । कीदृशः अस्मिञ्छन्दसि पदान्ते
जगि जाग्रत् श्रेष्ठत्वेन सगणत्वेन यदि निरुक्तः तदा चतुष्कलगणदशकेन युक्त-
मिति छन्दोविशेषम् ॥ चउसधौ पदचतुष्टये चत्वारिंशन्मात्राः । समुदितखण्ड
चतुष्टयपिण्डकलासख्या पष्ठ्युत्तरशतात्मिका भवतीति धरास्थानकानि । एतादृश
लक्षणलक्षित दशवसुमुवनाष्टकविरतिक मदनगृह नाम छन्दः । इदमप्युदाहरणम् ।

२०५. उक्तलक्षणमेवाह—

द्वे मात्रे शिरसि आदौ स्थापयित्वा अन्ते पदान्ते वलयं गुरुं स्थापयन्तु ।
ततो । मात्राद्वयगुर्वोर्मध्ये नव चतुष्कलगणान्धृत्वा मदनगृहं नाम छन्दः
कुरुत ।

२०६ किं च—

पदचतुष्टये चत्वारिंशत्कला. पदचतुष्टयेऽपि दश गणाज्जानीत । हे सुप्रियाः,
पंथोवर जगणं वर्जयित्वा मदनगृहमिति छन्दः कुरुत ॥ भूषणे त्व [न्य] योक्तम्—
'प्रथम कुरु षट्कलमन्ते कुरङ्गलमिह मध्ये वसुतुरगधर सतापहर, दश वसुभुवनाष्ट-
भिरत्र चरणमपि भवति विरापो यदि ललित कविबलयहितम् । फणिनायकमणित
जगणविरहितं चत्वारिंशत्कलकलित मुवने महित, वृत्त रसनिकर तन्मदनहर नर-
पतिससदि लब्धपद गुरुशोक्रनुदम् ॥”

२०७. मदनगृहमुदाहरति—नश (यथा)—

येन कस्यो विनाशितः, अतएव कीर्तिः प्रकाशिता । येन मुष्टिकारिष्टयोर्विनाशः
कृत येन च गोवर्धनो गिरिर्हस्तेन धृतः । येन च यमलार्जुनौ भग्नौ । येन च
'पदमरेण गञ्जित [कालिय] कुलम् । येन च यशसा भुवन मृतम् । येन चाणू-
रोऽपि विलिङ्गितः येन च निजकुल यादवशृण्ड मण्डितम् । येन च राधामुख
[मधु] पान कृत यथा अमरवरेण सरसिजमकरन्दः पीयते । स नारायणो विप्र-
नारायणो युष्माक चित्तचिन्तित ददातु । कीदृशः । भवमीतिहः । ससारभयनाशनः ॥
उद्भवणिका यथा—॥ ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, (४०)
॥, ॥॥, ५॥, ॥॥, ५॥, ५५, ॥॥, ॥॥, ५॥, ॥॥, (४०) ५, ५॥, ५॥, ॥॥,
५॥, ५५, ॥॥, ॥॥, ५॥, ॥॥, (४०) ५, ५॥, ५॥, ॥॥, ५॥, ५५, ॥॥, ५॥,
॥॥, ५, (४०), ५, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥, ५॥,
(४०) ॥ ग्रन्थान्तरेऽपि—विरहानलतप्ता सीदति गुप्ता रचितनलिनदलतल्पतले
चमकतविमले, करकलितकपोल गलितनिचोल नयति सततक्षितेन निशामनिमेष-

द्वितीयः परिच्छेदः

मदनलपरिमलपरिमिलदलिकलकलकपटकलितकमलवन ।

जय जय निजपदसरसिजनमदभिमतघटनजनवन गजवटन ॥

कृत्वा कौतूहलतो मात्रावृत्तस्य पिङ्गले भाष्यम् ।

लक्ष्मीनाथस्तनुते सद्भाष्य वर्णवृत्तस्य ॥

अथैकाक्षरपादादारभ्यैकाक्षरवर्धितैः पादैः पट्विंशत्यक्षरपर्यन्त वर्णवृत्ता-
न्युच्यन्ते ।

१. इतश्च लक्ष्यज्ञानयोरेक्यमवगन्तव्यम् ॥

सा श्रीः । श्रीनामक छन्द इत्यर्थः । यत्र गो गुरुर्मवतीत्यर्थः ॥ अत्र सर्वत्र—
'गुरुरेको गकारो लघुरेको लकारः' इति सकेत ॥

भूषणेऽप्युक्तम्—'यद्' सा श्रीः ॥

२. श्रियमुदाहरति—जहा (यथा)—

गौरी युष्मात्रक्षतु ॥

३. यथा वा—

अत्रैकाक्षरप्रस्तारे द्वौ भेदौ गुरुलघुश्च । तत्राद्यो गुरुक्तः । द्वितीयः
सुग्रीभिरुह्य ॥

४. अथ द्व्यक्षरप्रस्तारे कामछन्दः—

यत्र द्वौ दीर्घौ तत्कामाख्य छन्दः रामोऽभिराम इत्यर्थः ॥ अक्षरद्वयात्मकं
पदम् ॥ भूषणेऽपि—'यस्मिन्हारौ कामः स त्यात् ॥'

५. काममुदाहरति—जहा (यथा)—

युद्धे सग्रामे तुभ्य शुभं ददातु शशुरित्यर्थः ॥ यथा वा (भूषणेऽप्युक्तम्)
'कल्याण व । शंभुर्देयात्' । ग्रन्थान्तरे 'गौ स्त्री श्री' इति नामान्तरम् ॥ उट्टवणिका
यथा—ऽऽ (८)

६. अथ मधुछन्द —

यत्र लघु लघुद्वयं तन्मधुनामक छन्दो निश्चितम् ॥ भूषणेऽपि—'द्विक-
लु मधुरिति' ॥

७. उदाहरति—जहा (तथा)—

हे हर मम पापम् हर । उट्टवणिका यथा—॥, (८).

८. अथ महीक्षन्दा—यत्र पूर्वे लघुः ततो गुहा, तन्मही क्षप्ति ॥ मूले
येऽपि—‘लघुर्गुह्मही स्मृता’ ।

९. तामुराहरति—ब्रह्मा (यथा)—

तमा ग्रीरी त्वा रघुतु बीहरी । स्तुती पतिभ्योऽर्पयः ॥ उद्भवनिधय यथा—

१५, (८)

१ अथ तावद्धन्दा—

यत्र पूर्वे गुहा, द्वितीये रेखा छत्रा उत्तरानामर्कं छन्दः ॥

११ तावदुराहरति ब्रह्मा (यथा)—

अथ शंभुर्गुह्यस्य ब्रह्मा ॥ उद्भवनिधय यथा—१५ (८) अथ क्वापे
भेदा उदाहृताः ॥

१२ अथ ज्वलन्प्रसारे तालीक्षन्दा—

यत्र पूर्वे गो गुहा, अनन्तरं कर्णे गुह्यपात्मकाः । सर्वगुहा (विष्णुः) स
तालानामर्कद्वन्द्वः ॥ मूलेऽपि—‘ताली सा निर्दिष्टा । सो यत्र’ ॥ प्रथमस्तरे
मापति ॥

१३ तामुराहरति—ब्रह्मा (यथा)—

स मसिद्धकण्ठेशा शिवो गुह्यममरमाप्रधनुः ॥ उद्भवनिधय यथा—१५, १९ ॥

१४ अथ मित्राक्षन्दा—

हे मित्रे, यत्र रे रगमे नीति अक्षराणि सा मित्रा लक्ष्यते ॥ मूलेऽपि—
‘ओहता हरकते । स मित्रा लक्ष्यते ॥

१५. तामुराहरति—ब्रह्मा (यथा)—

शं सुखं कण्ठेऽपि तथा शंकरा शिवा नः पातु नः पातु ॥ आहरे बीष्ठा ॥
उद्भवनिधय यथा—१५ १९ ।

१६ अथ शशीक्षन्दा—

यत्र परे रे (मण्य) आशित्तुर्गुह्यलो ज्वलित तत्पाशित्तुर्गुह्यन्दा पक्षीन्द्रेण
क्षप्तिम् ॥ मूलेऽपि—यक्षरो यथा स्वात् । शशी क्षप्ति तत् ॥

१७ तामुराहरति—ब्रह्मा (यथा)—

दुरितं हरन्ती हसन्ती मन्त्रानी मुग्धान्वादिदि शोका ॥ उद्भवनिधय यथा—
१५, १९ ॥

१८ अथ रमणक्षन्दा—

तस्याः यत्र परे सगन्धे गुह्यगन्धे गन्धा, तत्तमणक्षन्दा क्षप्तिम् ॥
मूलेऽपि—‘सगन्धे रमणः । क्षप्ति क्षप्ति ॥’

१६ रमणमुदाहरति—जहा (यथा)—

यथा शशिना रजनी शोभते तथैव पत्या सयुक्ता तरुणी राजते ॥ उट्टवणिका यथा—॥५, १२ ॥

२०. अथ पञ्चालछन्दः—

यत्र तकारस्तगणोऽन्त्यलघुर्दृष्टः स पञ्चाल उत्कृष्ट इति ॥ भूषणे तु—
'कर्णेन गन्धेन । पञ्चालमास्याहि ॥'

२१. तमुदाहरति—जहा (यथा)—

स शिवो दुःखानि संवृत्य सुखानि ददातु ॥ भूषणेऽपि—'शर्माणि सर्वाणि ।
देयानि शर्वाणि ॥' उट्टवणिका यथा—॥५१, १२ ॥

२२. अथ मृगेन्द्रछन्दः—

नरेन्द्र जगण् गुरुमध्यम गण स्थापयन्तु मृगेन्द्रनामक छन्दः कुर्वन्तु ॥
भूषणेऽपि—'नरेन्द्रमुदेहि । मृगेन्द्रमवेहि ॥'

२३ तमुदाहरति—

दुरन्तो वसन्तः, स कान्तो दिगन्ते ॥ उट्टवणिका यथा—॥५१, १२ ॥

२४ अथ मन्दरछन्दः—

हे सखि, भो भगणो गुर्वादिगणो यत्र तन्मन्दरनामकमतिमुन्दरं छन्दः ।
भूषणेऽपि—'भो यदि वञ्चति । मन्दरमञ्चति' ॥

२५. मन्दरमुदाहरति—जहा (यथा)—

स प्रसिद्धो हरः शिवो युष्माकं मूकं सहरतु ॥ उट्टवणिका यथा—॥५१,
१२ ॥ मन्दरो निवृत्तः ॥

२६. अथ कमलछन्दः—

हे सुमुखि, यत्र नगणस्त्रिलज्वात्मको गणः क्रियते तत्कमलनामक वर्णत्रयात्मकं
छन्दः ॥ तथा च वाणीभूषणे 'कमलमयतु । नगणमिह तु ॥'

२७. कमलमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे रमण, कुत्र गमनं क्रियत इति शेषः । उट्टवणिका यथा—॥५१, १२ ॥
कमल निवृत्तम् ॥ अत्रापि त्र्यक्षरप्रस्तारगत्याष्टौ भेदा भवन्तीति तावन्तोऽप्युदाहृत्य
प्रदर्शिताः ॥

२८ अथ चतुरक्षरप्रस्तारे प्रथम तीर्णा छन्दः—

भो शिष्य, यत्र चत्वारो हारा गुरवो भवन्ति इष्टाः (१) कराः । तत्र चरणे
गणनियममाह—एकस्मिन्पादे द्वौ कर्णौ गुरुद्वयात्मकगणौ भवतः तत्तीर्णाख्य छन्दः ।
वर्णचतुष्टयात्मक पदम् ॥

वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—'यस्मिन्वृत्ते कर्णः कर्णः । वेदैर्वर्णैः सा स्यात्तीर्णा ॥'

१८. तीर्णामुदाहरति—अथा (यथा)—

१. अरिचमित्रं प्रति वदति—अथा वधूर्माया महावन्निचयेनर्थाः । पुत्रा अपि धूर्ताः । एवं अथा क्लिप्ता मुक्तम् इति ॥ तद्वन्निचयं यथा—SSSS । तीर्णोत्तर्ण ॥

२. अथ घारीच्छन्दाः—

हे मुन्ने यत्र वर्ण्यस्तवारः परे भवन्ति सा घारी । तस्वामुचरोचरो हारो गुर्व हवन् हो शरो लघुहवन् च ॥ अथमर्थाः अतुर्बर्ण्यमकपादै घारीनाम्नि च्छन्दसि प्रथमं गुरु, ततो लघु, अनन्तरं गुरुलघु । इत्युक्तं भवति—रगताः उत्तरपेक्षो लघु—इति ॥ तदुक्तं बालोभूषणे—‘यत्तु पवि इएह लवि । वेद कर्णं वरि चारि’ इति ॥

३१. घारमुदाहरति—अथा (यथा)—

देवानामपि देवः स सर्वमुपेक्ष्यम्भे शुभं ददातु । यस्व शीर्षे कञ्जो दहस्ते । चन्द्रशेखर इत्यर्थाः । तद्वन्निचयं यथा—SLSI ४×४=१६ ॥ घारी निवृत्ता ॥

३२. अथ नगाजी छन्दः—

यत्र पयोधरो बगलो गुरुमध्वमो गण्यो गुरुचरो गुरुकोटो मकलीनर्थाः । कर्णं च्छन्दस्यात्मकं परम् । तन्नगाजी छन्दो भवति । अर्थार्थ—द्वितीयकगुरुर्ध्वम कर्णो गुरुर्भक्तोति ॥ तदुक्तं बालोभूषणे द्वितीयके गुरुर्ध्वम । नगात्मिका मनेच्छा ॥

३३. नगाजीमुदाहरति—अथा (यथा)—

सरस्वती प्रवता भवतु अक्षिणं स्रुतम् ॥ तद्वन्निचयं यथा—SLSI १६ । नगाजी निवृत्ता ॥ अथापि अक्षुरक्षरस्य प्रसारगता योचय मेघ भवन्ति । तेषु प्रत्यक्षितरारुह्यं ययो मेघा प्रदर्शिताः ॥ अर्थाः (यो) सुधीमिच्छन् नीचाः इति ॥

३४. अथ पञ्चाङ्गपरतारे सर्वगुरु संमोहाच्छन्दाः—

यत्र वे हो कर्णो गुरुह्यात्मकगण्यो पूर्वं भवता । तत् एको हारो गुरुः । एवमक्षिभरयो पञ्चापि गुरो भवन्ति तत् भूतलतारं संमोहानामकं छन्द इत्यर्थाः । तथा च बालोभूषणे ‘हो कर्णो हारः संमोहा करः । कर्णः पञ्चैव नागाजीसोक्तम् ॥

३५. संमोहामुदाहरति—अथा (यथा)—

तद्वन्ना महेपासुरादिकथेनोक्त्य कपरी अत्पायनी वुरितं कपडयत्त (वैलोक्य एव शुभम्) मे मोडं च ददातु, इति अभिर्भूतयो देवीं प्रार्थयते इति ॥ तद्वन्निचयं यथा—SSSSSS, ५×४=२० ॥ संमोहा निवृत्ता ॥

३६. अथ हारीच्छन्दाः—

आदौ हाराम्या गुरुभ्यां तथा चान्ते हाराम्या सयुक्तम् तयोर्मध्ये गन्धो लघु-
रेको यत्र तत् हारी छन्द । पञ्चाक्षरपदम् । आदःवन्ते कर्णो मध्येलघुः एव पञ्च-
वर्णात्मक पदमित्यर्थः ॥ वाणीभूषणेऽपि—‘आद्यन्तवर्णाः पञ्चैव वर्णाः । लघ्वेक-
धारी वाच्यः स हारी ॥’

३७ हारीमुदाहरति—जहा (यथा)—

या भवृ भक्ता धर्मेकचित्ता भवति सैव नारी धन्या प्रिया च भर्तुर्भवतीति
भावः ॥ उट्टवणिका यथा, ५॥५५, ५ × ४ = २० ॥ हारी निवृत्ता ॥

३८, अय हसच्छन्दः—

भो. शिष्याः, पिङ्गलेन दृष्ट भगणं दत्त्वा पूर्वं सृष्टम् पञ्चात्कर्णं गुरुद्वयात्मक-
गण दत्त्वा हसारख्य पञ्चाक्षरपद छन्दो भवतीति ज्ञातव्यम् ॥ अत एव वाणीभूषणे—
‘गिगलदिष्टो भागिविशिष्ट’ । कर्णयुतोऽसौ भामिनि हसः ॥’

३९. हसमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचिधोषितपतिका सखीमाह—हे सखि, स मम वान्तोऽधुना दूरे दिगन्ते
चर्तते । इय च प्रावृट् आगता चेतश्चालयति । किमिदानीमाचरणोयमिति शिद्ध्येति
भावः ॥ उट्टवणिका यथा—५॥५५, ५ × ४ = २० ॥ हसो निवृत्तः ॥

४० अय यमकच्छन्दः—

हे मुग्धे, यत्र सुप्रियगणो द्विलघुक एव गणो भवति । अथ च शरैर्नैकेन
लघुना सुगुण सयुक्त एतादृश [न] गण सरहश्लाघ्यमेतस्य गणस्य कुर्वित्यर्थः ।
एतादृश सर्वलघ्वात्मकपञ्चाक्षरप्रस्तारान्त्यभेद पञ्चाक्षरपद यमकारख्यं छन्दो
भग पठेत्यर्थः । वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—‘नगणमनु द्विलघु कुरु । फलितमिति
यमकमिति ॥’

४१ यमकमुदाहरति—जहा (यथा)—

पवनो मलयानिलो वहति । कीदृशः । शरीरसहः शरीर साहयत्यसौ सहः ।
‘प्रहम् गतौ’ इत्यस्य दिवाद्यस्य (१) रूपम् । यद्वा तादृश पवन शरीर कर्तुं सहते ।
‘साहयत्याहवक्षोभ सहति द्रविणव्ययम् । अन्याय सहते नासौ सिध्यति क्षितिरक्षणः ॥’
इति कविरहस्ये हलायुधवचनप्रामाण्यादिति । अपि च मदनो हन्ति तापयति च
मनः । इति प्रोषितपतिकावचन सखी प्रतीति व्याख्येयमिति । उट्टवणिका
यथा—॥५५॥, ५ × ४ = २० ॥ यमक निवृत्तम् । अत्र प्रस्तारगत्या पञ्चाक्षरस्य
द्वात्रिंशद्भेदा भवन्ति । तेषु भेदेषु चतुष्टयमुक्तम् । शेषभेदा नोदाहृता ग्रन्थविस्तार-
भीत्या, सुधीभिरूह्या इति ॥

४२ अय पङ्क्तिप्रस्तारे सर्वगुरुरूपमात्र भेद शेषाख्यं छन्दो लक्षयति—

५० जहा वा (यथा वा)—

मुवनानन्दस्त्रिभुवनकन्दो भ्रमरसवर्णो जयति कृष्णः ॥ उट्टवणिका यथा—
 ॥॥॥॥॥, ६×४=२४ ॥ चतुरसा निवृत्ता ॥

५१. अथ मन्थानच्छन्दः—

हे मुग्धे, यत्र कामावतारार्घेन पादेन मात्रा दश शुद्धाः प्रतिपादमत्र भवन्ति ।
 तन्मन्थाननामक छन्दः ॥ अयमर्थः—अग्रे वक्ष्यमाणस्य विंशतिकलात्मनः कामा-
 चतारस्य छन्दसोऽर्धेन दशमात्रात्मवेन षडक्षरेण पादेन मन्थाननाम छन्दो भवति ।
 तत्र गणनियम उच्यते 'पूर्वतगणोऽनन्तरमपि स एव' इति ॥ वाणीभूषणे तु—
 'कर्णध्वजानन्दमाधाय सानन्द । वर्णे रसैवेत्तु मन्थानमेतत्तु ॥'

५२ मन्थानमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे सज्जन, राजा यत्र लुब्धः पण्डितोऽपि मुग्धः । तत्र राजकुले त्व स्वकीर्ति-
 करे रत्न । स्वविद्याप्रकाश मा कुर्वित्यर्थः । स वादोऽप्युपेक्ष्यताम् । यत्र न
 ज्ञाता कश्चिदिति भावः । उट्टवणिका यथा—॥॥॥॥॥, ६×४=२४ ॥ मन्थानं
 निवृत्तम् ॥

५३. अथ शङ्खनारीछन्दः—

यत्र षड्वर्णाः पदे भवन्ति भुजङ्गप्रयातस्याग्रे वक्ष्यमाणस्य यगणचतुष्टयात्मकस्य
 छन्दसोऽर्धेन यद्वयेनैतस्य चरणो भवति पादे पादे यगणद्वय भवति तच्छङ्खनारी-
 छन्दः ॥ वाणीभूषणे तु—'ध्वजानन्दकर्णाः षडेवात्र वर्णाः । बुधानन्दकारी-
 भवेच्छङ्खनारी ॥'

५४. शङ्खनारीमुदाहरति—जहा (यथा)—

यस्य गुणाः शुद्धाः, यस्य वधू रूपेण मुग्धा सुन्दरी, यस्य गृहे वित्त जाग्रदस्ति
 तस्य मही पृथ्वी स्वर्ग ॥ उट्टवणिका यथा—॥॥॥॥॥, ६×४=२४, शङ्खनारी
 निवृत्ता ॥

५५. अथ मालतीछन्दः—

हे कान्ते, यत्र प्रथम ध्वजो लघ्वादिस्त्रिकलः तत शरद्वय लघुद्वयम्, ततश्च
 मणिगुणो हारो गुरुस्त्रितयम् । ततोऽन्ते एको लघुर्द्वयः । सा मालतीनामक छन्दो
 भवतीति जानीहीति जगणद्वयेन मालती छन्द इति फलितोऽर्थः ॥ तथा च
 वाणीभूषणेऽपि—'यदा जगणद्वि भवेदमलघु । पणी वितनोति स मालतिकेति ॥'

५६. मालतीमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे सखि बहुगुणवन्तः प्रसादाद्यनेकगुणयुक्ता किरणा प्रसृता प्रफुल्लिताः
 कुन्दा, उदितश्चन्द्र इति कस्याश्चिन्नायिकायाः सखीं प्रति वच ॥ उट्टवणिका
 यथा—॥॥॥॥॥, ६×४=२४, मालती निवृत्ता ॥

५७ अथ दमनकथम्—

नमः प्रथमं शिवपरमेश्वरस्यै नमः शिवाय परमात्मने नमः
 नमः । नगण्यमन [इमनमं नमः] इति कश्चित्पुत्रो लहमनमं नमः इति
 शुभो कश्चित्पुत्रो लहमनमं नमः ॥ बाणीमूला तु—“शिवगुणनगण्यमिह कितनुहि । इमनममिति
 [प्रति] गति हि ॥”

५८. वमनमुदाहरति—महा (यया)—

कमलनयना भस्मृतवपना तदणी पश्चिमी यदि पुनर्मिलति तदा तां विद्या य
 कुत्रापि गमिष्यामीति कस्यचिद्विदेशस्तस्य कामिनो मित्रं प्रति वचनम् ॥ ४३
 वज्रिष्ठ वध—॥१॥ ६×४=२४ इमनकं निहृत्तम् ॥ तत्र प्रस्तारयन्
 पञ्चदशत्वं चतुःपञ्चमेशं भवति । तेष्वपञ्चमेष्टहिता व्यो मेघा प्रोक्तः ।
 शेषमेघाः सुधीमिच्छनीयाः । प्रत्यदिस्तारयन्त्या नात्रोक्ता इति ॥

५६. अथ सताक्षर्यस्यारे समानि शब्दाः—

हे भिमे सा समानिष्ठास्तु इत्यर्थः । यत्र पदे क्त्वाये इति गुरुक क्रियते । अन्तरालस्य च भगो गन्वा लभ्यते क्रियते । एवं क्त्वाद्यपि यस्यां गुरुकप्रत्यये स्थितानि सा समानिष्ठास्तु इत्यर्थः ॥ तथा च बाणभूषणे—‘शरमेवमा यथा रक्षस्य मनेच्छा । अतर्क्यं तथा सा समानिष्ठा भवति ॥

६. समानिकर्ममुखाद्वरवि—जडा (यथा)—

कुम्भेय इत्याकारं भवन्ति स्म अत एव पर्यायः पठ्यते । यथा पञ्चमश्लोके
गङ्गायाम्भोजनिभम् । अतश्चारिर्गुणस्त्वपि श्रुतं चमिष्टं पूज्यं तत्र
स्वयमिः तमाप्नुयितः इति वक्ष्यन्ति नृपतिनभस्तति कर्म्ये पठ्यते वक्ष्यम् ॥ अत्र
वर्जिता शब्दः— ३५ ३५ * ४ = १८, तमानिष्य निवृत्त्य ॥

११ अथ कुशाकर्ण्यम्—

इति मन्त्रे, यत्र वाक्यं सुवर्णं विशिष्यते ॥ तदेवाह—आसौ अनुमन्त्रकं विरच्य
अन्ते भगवन्मादिगुणवत् दत्त्वा सुवाक्यनामकं कथ्यते मन्त्र ॥ एतत्तु वक्ष्यमाणम्—
‘‘विदग्धनाह भगवन्प्राह । भगति सुवाक्यमिति कथितवत् ॥

६२ सुधाकरमुद्रावलि—अष्टा (कथा)—

गुरुभनमका बहुगुणयुक्ता कस्य भवा पुत्रा स एव पुत्रपन्नं पुरतः ॥ तद्
 वयिश्च यथा—॥१॥५॥ ७ X ४ = २८ ॥ यथा च वाणीमूले—भित्तिभवनमिनि
 पुरिषिभवनमिनि । भित्तिभनतो मयि कुरु कुरुभनमपि ॥ सुखसतो निरुक्तः ॥

६३ अथ कर्हणी—

श्रीः शिष्याः, यत्र यत्रो ययय विप्रश्चतुर्मुक्तो गतः स्वाप्ते, तस्मात्ते

गणो मध्यगुरुको गणस्ता करहचीं जानीत ॥ अतएव वाणीभूषणे—‘द्विजगणम-
हि जगणमनुदेहि । विविधरससञ्चि भवति करहञ्चि ॥’

६४ करहञ्चीमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचिदनुगमनपरा सुभटी विधातारमाह—हे धातरित्युपरिष्ठात् । एह एपाह
त्यजामि गत्वा देहम् । यदि कदाचिदतः परमपि निवउ जीवामि पुनर्जन्मान्तर
लभेयमि (१) त्यर्थः । तदा मम निर्गुणः सगुणो वा स एव रमणो भवतु विरहस्तु
कदापि मा भवत्विति प्रार्थये त्वामिति भावः ॥ उट्टवणिका यथा—||||S|,
७ X ४ = २८ ॥ करहची निवृत्ता ॥

६५. अथ शीर्षरूपक छन्दः—

हे मुग्धे, यत्र चरणस्थाः सप्तापि वर्णा दीर्घा गुरवो भवन्तीत्यर्थः । तत्र
गणनियममाह—कर्णा गुरुद्वयात्मका गणान्नयस्तेषामग्र एक ग गुरुमानय । एव
पदे सप्त । मात्रानियममाह—चतुर्दश मात्रा द्विगुणार्थमवगन्तव्या । वर्णवृत्त
वर्णानामेव संख्यानियमादिति । अत एव भूषणे—‘उक्ता वर्णाः सप्तास्या सर्वे
दीर्घाः स्युर्यस्याम् । एपा शीर्षा निर्दिष्टा केषा हर्ष नादेष्टा ॥’

६६. शीर्षांमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वनन्दी कर्णमुपेत्य तत्कीर्तिं वर्णयति—हे राजन्, चन्द्रो धवलकरः, कुन्दो
माध्य पुष्पम्, काशः शरदि जायमान तारो कुसुमम् । ए इति भाषया एते । किंच
हारो मुक्तैकावली हीर वज्र हसो मराल एते । अनुक्ताश्च जगति ये ये पारदकैलास-
हरहासशारदनीरदप्रभृतयः श्वेता वर्णितास्तानशेषानेषा युष्मत्कीर्तिर्जितवती ॥ उट्ट-
वणिका यथा—SSSSSSS, ७ X ४ = २८ ॥ यथा वाणीभूषणे—‘दृष्टः कृष्णः
कालिन्दीतीरे गोगोपानन्दी । वेणुक्वाणैरुत्काना चेतोहर्ता गोपीनाम् ॥’ इति ॥
शीर्षा निवृत्ता ॥ अत्र प्रस्तारगत्या सप्ताक्षरस्याष्टाविंशत्यधिकशत (१२८)
भेदेषु चत्वारो भेदाः प्रदर्शिताः । ग्रन्थविस्तारमीत्या शेषभेदा नोदाहृताः
सुधीभिरुद्धास्त इति ॥

६७ अष्टाक्षरप्रस्तारे सर्वगुर्वात्मकमाद्य विद्युन्मालाछन्दो लक्षयति—

भोः शिष्याः यत्र पादे चरणे लोलाश्चञ्चलाश्चत्वारः कर्णा द्विगुरवो गणा भवन्ति
गुरुद्विगुणा. षोडशमात्राश्च, तद्विद्युन्मालाछन्दो वेदविश्राममेवरूप चतुष्पाद वसु-
गुरुचरण भवतीति खत्री क्षत्रीयजातिनागराजो भक्ती भक्त्या जल्पतीति वित्थ ॥
अत एवोक्त कालिदासेन—‘सर्वे वर्णा दीर्घा यस्या विश्रामः स्याद्वेदैर्वेदैः ।
विद्वद्वेदैर्वाणावाणि व्याख्याता सा विद्युन्माला ॥’ वाणीभूषणेष्युक्तम्—‘उक्ता ।
यस्यामष्टौ वर्णाः पादे पादे सर्वे दीर्घाः । विश्रामः स्याच्चर्ये तुर्ये विद्युन्माला निर्दिष्टा
सा ॥’ इति ॥

५७ अथ दमनकमुद्राहृत—

यत्र प्रथमं द्विवचनचतुष्टयमुक्तं गणं क्रियते परन्वाकमुद्रिष्ये लघुवचनस्यो यत्ने
अप्युक्ते । नगणइयेन [दमनकं मुद्रा] इति फलितीडया लघुमनकं लघु इति
गुणो फलितीतिमर्थेति ॥ बाणीमूले तु—“द्विगुणनगणमिह मितमुद्रि । दमनकमिति
[प्रति] गदति हि ॥”

५८. दमनकमुद्राहृत—ब्रह्मा (यथा)—

कमलनयना अमुद्राधना लक्ष्मीं पवित्रीं यन्नि पुनर्मिलति तदा तां विद्यां न
कुत्रापि गमिष्यमीति कस्याचिद्विदेशकस्य कामिनो मित्रं प्रति वचनम् ॥ उह
वपिष्य यथा—॥॥॥॥, १×४=१४ दमनकं निहृत् ॥ अथ प्रसारमया
पहसरस्य बहुव्ययिर्भवा भवति । सेषाचतुर्भेदलहिता अथो येषां प्रोक्तः ।
योगभेदाः सुधीमिरुनीयाः । प्रचरिच्छारणकृपा भाषोक्त इति ॥

५९. अथ लसाक्षरप्रस्तारे समानिकाहृत—

हे मित्रे सा समानिकाहृत इत्यर्थः । यत्र पदे लसाक्षरे हारा गुरुता क्रियते ।
अन्तरान्तरं च त्रयो गन्था लघवा क्रियन्ते । एवं लसाक्षरानि त्रयो गुरुतुल्येन
स्वितानि सा समानिकाहृतमुपपद्यते ॥ उक्तं च बाणीमूले—“हारमेकां यदा रश्मिगा
भवेत्तदा । लसाक्षरं गता सा समानिका मता ॥”

६० समानिकामुद्राहृत—ब्रह्मा (यथा)—

कुत्रापि लसाक्षरचतुष्टयं तत्र अत्र एव पर्यताः पठन्ति । ब्रह्मा फलान्मेरुफलो
गणनचक्रान्ति स्मैति लोकनीयम् । अन्तरान्तरिकमस्यापि पृष्ठं क्रियते धूरा च
स्तरिणि समानिकावितः इति कस्याचिद्वचननिवृत्तस्य क्रिये राक्षसं वचनम् ॥ उह
वपिष्य यथा—॥॥॥॥, ७×४=२८, समानिका निहृत् ॥

६१ अथ सुवाचकमुद्राहृत—

हे मित्रे, यत्र लघवा सुवरां विरिष्यन्ते । उक्तेषां—आतो पदुमांशकं विरच्य
कृते भगवन्माहिगुरुगणं दत्त्वा सुवासनामकं लघुं भज ॥ लघुचं बाणीमूले—
“विवागन्माह भगवन्मुवाह । भजति सुवासकमिति फलिनायक ॥”

६२ सुवासकमुद्राहृत—ब्रह्मा (यथा)—

गुरुजनमेष बहुगुणपुष्टं यस्य यथा पुत्रा उ एव पुत्रवान् पुष्ट्य ॥ उह
वपिष्य यथा—॥॥॥॥, ७×४=२८ ॥ यथा च बाणीमूले—“विदिवरनमिनि
गुणितिकमिनि । विदितनयो मयि कुरु करुणामयि ॥ सुवासको निहृत् ॥

६३ अथ काईची—

भोः शिष्याः, यत्र चरतो प्रथमं विप्रचतुर्गुणो गणा लघ्वन्ते, लघ्वन्ते

जगणो मध्यगुरुको गणस्ता करहचीं जानीत ॥ अतएव वाणीभूषणे—‘द्विजगणम-
वेहि जगणमनुदेहि । विविधरससञ्चि भवति करहञ्चि ॥’

६४ करहञ्चीमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचिदनुगमनपरा सुभटी विधातारमाह—हे धातरित्युपरिष्ठात् । एह एषाह
त्यजामि गत्वा देहम् । यदि कदाचिदतः परमपि निवड जीवामि पुनर्जन्मान्तर
लभेयमि (?) त्वर्थः । तदा मम निर्गुणः सगुणो वा स एव रमणो भवतु विरहस्तु
कदापि मा भवत्विति प्रार्थये त्वामिति भावः ॥ उट्टवणिका यथा—|||।S,
७ X ४ = २८ ॥ करहची निवृत्ता ॥

६५. अथ शीर्षरूपक छन्दः—

हे मुग्धे, यत्र चरणस्थाः सप्तापि वर्णा दीर्घा गुरवो भवन्तीत्यर्थः । तत्र
गणनियममाह—कर्णा गुरुद्वयात्मका गणान्नयस्तेषामग्र एक ग गुरुमानय । एव
पदे सत । मात्रानियममाह—चतुर्दश मात्रा द्विगुणार्थमवगन्तव्या । वर्णवृत्त
वर्णानामेव सख्यानियमादिति । अत एव भूषणे—‘उक्ता वर्णाः सप्तास्या सर्वे
दीर्घाः स्युर्यस्याम् । एषा शीर्षा निर्दिष्टा केषा हर्षे नादेष्टा ॥’

६६. शीर्षांमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्बन्दी कर्णमुपेत्य तत्कीर्तिं वर्णयति—हे राजन्, चन्द्रो धवलकरः, कुन्दो
माध्य पुष्पम्, काशः शरदि जायमान तार्णं कुसुमम् । ए इति भाषया एते । किञ्च
हारो मुक्तैकावली हीर वज्र हसो मराल एते । अनुक्ताश्च जगति ये ये पारदकैलास-
हरदशशारदनीरदप्रभृतयः श्वेता वर्णितास्तानशेषानेपौ युष्मत्कीर्तिर्निर्जितवती ॥ उट्ट-
वणिका यथा—SSSSSSS, ७ X ४ = २८ ॥ यथा वाणीभूषणे—‘दृष्टः कृष्णः
कालिन्दीतीरे गोगोपानन्दी । वेणुक्वाणैरुत्काना चेतोहर्ता गोपीनाम् ॥’ इति ॥
शीर्षा निवृत्ता ॥ अत्र प्रस्तारगत्या सप्ताक्षरस्याष्टाविंशत्यधिकशत (१२८)
मेदेषु चत्वारो भेदाः प्रदर्शिताः । ग्रन्थविस्तारमीत्या शेषभेदा नोदाहृताः
सुधीभिरुदास्त इति ॥

६७. अष्टाक्षरप्रन्तारे सर्वगुर्वात्मकमात्रं विद्युन्मालाछन्दो लक्ष्यन्ति—

भो. शिष्या यत्र पादे चरणे लोलाश्चञ्चलाश्चत्वारः कर्णा द्विगुरवो गणा भवन्ति
गुरुद्विगुणा षोडशमात्राश्च, तद्विद्युन्मालाछन्दो वेदविश्राममेवरूपं चतुष्पादं वसु-
गुरुचरणं भवतीति ग्रीची लघ्वीयजातिनागराजो भवती मक्त्या जल्पतीति वित्त्य ॥
अन एवोक्तः कालिदासेन—‘सर्वे वर्णा दीर्घा यस्या विश्रामः स्याद्वेदेवेदे ।
विद्वरुन्दीर्घातापि व्याख्याता सा विद्युन्माला ॥’ वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—‘उक्ता ।
मत्स्यामष्टौ वर्णाः पादे पादे सर्वे दीर्घाः । विश्रामः स्याच्चयै त्रयै विद्युन्माला निर्दिष्टा
हा ॥’ इति ॥

१८. विष्णुस्माधमुदाहरति—अथा (यथा)—

अभिहन्दी संगरं वर्णयति—उत्पत्ता वीररसाविद्या खेपाः सुमया वृक्षताः परस्परं मिश्रिता इत्यर्थः । कीदृशाः । विपद्याणामहितानां मध्ये वृक्षता नितीन मानाः । एवं निष्प्रमत्ताः परस्परं व्यापाद्य निर्दया बान्धी निवृत्तादपि चर्चं प्रतीत्यर्थः । चाकन्त इत्यस्तत्प्राचीतं वर्णयति । अत्र एव नितरां भ्राता त्रैलोक्यप्रमथरीला । कीर्तिं प्राप्ताः कीर्तिरोप्य चाप्य इत्यर्थः ॥ उद्भवविश्व यथा—SSSSSSSS ८X४=१९ ॥ यथा वागीभूषणे—अगामिन्यो नो यमिन्यो वा या याता मूषे मूषा । अमृच्छन्त्यप्यप्यर्थं मानेनानेन स्वान्ति वे ॥ प्रयान्तरे तु—‘मो मो गो गो विष्णुस्मात्ता’ । मगच्छन्तं गुह्यं च अस्मिन्नादि शुभ्रस्मात्ताङ्कन्द इति गणमेदेन लक्षणमभिहितम् । यथा—‘वास्त्रेवस्ती विष्णुस्मात्ता वृद्धमेष्टौ शक्रभाप’ । अस्मिन्त एवाप्योच्छ्रित्यै शोभनस्यः कृष्णगम्भीराः ॥ उद्भवविश्व यथा—SSS SSS SS ८X४=१९ ॥ विष्णुस्मात्ता निवृत्ता ॥

१९. अथ प्रमाणिकाङ्कः—

अथ लघुगुह्यं निरन्तरं भवति सा प्रम पिङ्गकन्द इत्यर्थः । सा अतिवर्षे स्फेद्यायामाह—अहमन्तरा । अष्टाहरेत्यर्थः । तैर् प्रमाणिका खेद्विगुण क्रियते । योऽष्टाहरेत्यर्थः । तथा च नयनो मन्त्रत इत्युत्तरं योऽष्टाहरे पदपङ्कन्दो लक्षणमपि लक्षणतेऽनेनेति ॥ वागीभूषणेऽपि ‘प्रयान्तं गुह्यं लक्ष्मीरिहय वर्णविभ्रमेः । मुञ्जगगवर्णिता प्रमाणिका इति सा मता ॥

७. प्रमाणिका मुदाहरति—अथा (यथा)—

निशुम्भशुम्भयोर्द्वैत्ययोः लङ्घिनी लङ्घयित्री गिरीशस्य वरस्य गौर् मण्डपस्य लङ्घयेति सा स्य गेहमृदिनी कलत्रकपेलेत्यर्थः । एवंविधा प्रमाणिकानां दैत्यमदानां मुदहलङ्घिनी अदिहन्त कल्यायनी वा प्रसन्नास्तु । प्रयान्तरे तु ‘नमस्तक पिशी’ इति नामान्तरम् ॥ अत्र एव काशिशतप्रम्ये—‘विष्णुर्देवमहमं गुह्य अयोधितं वरा । तथा निवेदयति तां कृपा मगत्वरूपिणीम् ॥ इत्यह ॥ उद्भव विश्व यथा—IS IS IS IS ८X४=१२ ॥ लक्ष्मीमङ्कर्वे तु—‘प्रमाणिका च गौ लगी ॥ कामरगणो लगी लघुगुरु च शरिमल्लव्यमानिकाङ्कम् इति गणमेदेन लक्षणमभिहितम् । यथा—पुनातु मक्तिरप्युता सद्यप्युद्यद्विपत्तयः । अतिस्मृति प्रमाणिका मवाभुराशिचारिका । उद्भवविश्व यथा—S IS IS IS ८X४=१२ प्रमाणिका निवृत्ता ॥

७१. अथ मल्लिकाङ्कः—

हाथे गुहाः मन्वी लघुः कन्धुरेण प्रथमं गुह्यनन्तरं कपुरेण क्रमेण दद्यात्त पर्याप्तं पक्षि तादृशेन परायेन द्वावशमायेन मल्लिकाङ्कस्य लक्ष्यो धनीर्दि ॥

तदुक्त बाणीभूषणे—‘हारशङ्खकक्रमेणमण्डिताष्टवर्णकेन । वर्णिता कुतूहलेन मल्लि-
केति विंगलेन ॥’ इयमेव ग्रन्थान्तरे ‘समानिका’ इच्युते ॥

७२. मल्लिका मुदाहरति—जहा (यथा)—

येन भगवता धृतपरशुरामावतारेण क्षत्रियवशो जितः । अथ च येन कृत-
कृष्णावतारेण अरिष्टो मुष्टिकः केशीकसश्च जित इत्यनेनैवान्वयः । येन च बाणा-
मुख्य सद्वत्साहो. पाणयः कर्तिताश्छिन्नाः ॥ स युष्मभ्य सुख ददातु ॥ उट्टवणिका
यथा—५। ५। ५। ५।, ८×४=३२, मल्लिका निवृत्ता ॥

७३ अथ तुगाछन्दः—

हे तरलनयने, यत्र प्रथमगणेन गणः सुरगो भवति । कति गणास्तत्रेत्यपेक्षा-
यामाह—नगणयुगलेन बद्धो गुरुयुगलेन च प्रसिद्धस्तुगाख्य छन्दः । पूर्वं नगण-
द्वयम्, अनन्तर गुरुद्वयमिति फलितोऽर्थः । तदुक्त भूषणे—‘द्विगुणनगणकर्णे.
सुललितवमुर्णैः । रसिकत्रिहितरगा प्रभवति किल तुगा ॥’

७४ तु गामुदाहरति—

कमले बद्धाना भ्रमराणा जीवो जीवनदाता बन्धनमोचनादिति भावः । सकल-
सुवनदीपस्त्रिसुवनप्रकाशकत्वादिति भावः । दलितस्तिमिरस्य डिम्ब उपप्लवो
येन । ‘प्रादुर्दिम्ब उग्लवे’ [इति] देशीकोषात् । एतादृशस्तरणिदिम्ब
उच्येति ॥ उट्टवणिका यथा—॥ ॥ ॥ ५५, ८×४=७२ ॥ तु गा निवृत्ता ॥

७५ अथ कमलच्छन्दः—

हे सखि, यत्र प्रथमो त्रिप्रगणश्चतुर्लब्धात्मको गण, द्वितीयस्तथा नरेन्द्रो
जगण तस्यान्ते गुरु । अनया रीत्या पदेऽष्ट वर्णा भवन्ति तत्कमलनामक
छन्दः । उक्तं च भूषणे—‘द्विजवरगणान्वित जगणगुरुसगतम् । फणिनृपतिजल्पित
कमलमिति कलितम् ॥’

७६ कमलमुदाहरति—जहा (यथा)—

प्रसुरकुलमर्दनो गरुडवरवाहनो वने. सकाशाद्सुवनापेक्षकः स जनार्दनो
जयति सर्वो-कर्षेण वतंत इति ॥ उट्टवणिका यथा—॥ ॥ ॥ ५५, ८×४=३२,
कमल निवृत्तम् ॥

अथ माणयकश्रीद्वितक छन्दो ग्रन्थान्तरस्यमुच्यते—

भाटिगम कर्णधर सान्तमिद वृत्तवरम् ।

पन्नगगलेन कृत माणयकश्रीद्वितकम् ॥

‘य प्रथम भगव तन’ पदं, ततोऽपि सगण तद्वृत्तं माणयकश्रीद्वि-
तमिति ॥

यथा—

श्रेष्ठपूरोक्षरं पञ्चानीबोधकरम् ।

गात्रतमोनायकरं नौत्तिसामुष्णकरम् ॥

उद्भवति यथा—डा।ऽडा।। ८×४=३९ सन्धोमन्त्राय तु—‘मात्तय
 म्माजवधम् ।’ माद्रमगमात्तगात्तगत्राधुगुराधं यत्र मन्त्रिणं तन्मापयत् सन्ध इति
 गणमेतेनोक्तम् ॥ यथा—‘यत्रात्तयूँ अर्पत्तेर्बत्तकुलैः केलिवरम् । आत्र कते
 स्मेरमुत्तं नन्दमुत्तं माजवधम् ॥ उद्भवति यथा—डा। ऽडा। १५, ८×४=३९ ॥
 माजवधमैवित्तं निवृत्तम् ॥

अपानुष्टुप्छन्दः—

सप्तस्वल्पद्वयं यत्र गुह्यं यत् तत्तमम् ।

द्विद्वयैवाद्योर्हस्वमराद्यरममुष्टुमम् ॥

यत्र च्छन्दसि पञ्चममद्यं वारण्यतुष्टवेऽपि सप्त तथैव यत् गुह्यं द्वितीय-
 चतुर्थयोः पादयोः तत्तमं इत्थं लक्षितव्यः । शेषव्यं अनिष्टा यत्र । एवमत्राद्यं
 वृत्तमनुष्टुपं क्वनीवाविति शेषः । अन्यथापि—‘पञ्चमं सप्त सर्वत्र तत्तमं द्वि-
 चतुर्थयोः । यत् गुह्यं विद्यनीवाप्येवास्त्वनिष्टा मया ॥’ इति ॥

यथा—

इदं मह्यत्वेते महीमत्ताः शिलीमुत्ता ।

विद्याकाः पुण्यधनुषो मूर्ता इव शिलीमुत्ताः ॥

अथ क्रमेण ‘अश्विनाम्ने शिलीमुत्तो इत्यमरमिदं वादयेत्पगान्धम इति ।
 उद्भवति यथा—डा।ऽडा।। १५, १५, १५, ॥ इदमेव एतादृशत्वादिषु च्छन्दो-
 मन्त्रेषु नामागममेतेन नियमवृत्तेषु कर्तव्यं तमते । तत्रापुण्येषु च वाचस्पत्ये
 नामाद्यरपत्तानुष्टुपि विप्रविष्टाः । विशेषतस्तु त्रिपुण्यात्तादीनि वृत्तान्वाद्यर-
 प्रत्यये वर्तितानि । अत्र एव च्छन्दोमन्त्रमभिधायार्थद्विद्वयत्तानुष्टुपादानं
 वृत्तानां वृत्तानुष्टुपव्यवहारकर्तव्यं प्रोक्तम् ।

यथा—

‘आरम्यैवाद्यरपत्तानुष्टुपव्यवहारविधिः ।

पादैस्तन्वादिर्वा स्थाप्यन्वा पद्विद्यति गता ॥

तन्वात्तुल्यं तथा मन्त्रं प्रतिष्ठान्वा सुपूर्विका ।

गात्रमुष्णिगानुष्टुपं वृहती पठित्वरेव च ॥

विष्टुपं अगती नैव तथ्यतिअगती मता ।

वर्धनी चातिपूर्वात्पादव्यवहारी तत्र स्मृते ॥

धृतिश्चातिधृतिश्चैव कृतिः प्रकृतिराकृतिः ।

विकृतिः सकृतिश्चैव तथाविकृतिरकृतिः ॥

इत्युक्ता छन्दसा सजा.' इति ।

विशेषतस्तु तत्र तत्र प्रस्तारे तत्रैव सजा ज्ञातव्या । इत्यास्ता विस्तरेण ॥
अत्र प्रस्तारगत्याष्टाक्षरस्य षट्पञ्चाशदधिक द्विशत भेदाः । येषु कियन्तो भेदा
उदाहृताः शेषभेदा ऊहनीयाः सुबुद्धिभिरिति ॥

७७ अथ नवाक्षरप्रस्तारे महालक्ष्मीछन्दः—

हे मुग्धे, यत्र नागराजेन पिङ्गलेन ये वर्णितास्ते त्रयोऽत्र जोहागणा रगणा ।
मध्यलघुका गणा इति यावत् । दृष्टाः । अतो नवाक्षर पदम्, पदे च मासार्ध-
सख्याभिः पञ्चदशभिर्मन्त्राभिः स्थिता महालक्ष्मीका जानीहि । तदुक्त वाणीभूषणे—
'दृश्यते पद्मिनाजत्रय यत्र वृत्ते मनोहारके । सतत पिङ्गलेनोदिता सा महा-
लक्ष्मीका कीर्तिता ॥'

७८ महालक्ष्मीमुदाहरति—जहा (यथा)—

सा सिंहासना सिंहाधिरूढा चण्डिका वः पातु । सा का । यस्या गले मुण्डानां
माला कण्ठिका कण्ठभूषेत्यर्थः । यस्या नागराजो मुनाया रुस्थितः । कथभूता
चण्डिका । व्याघ्रकृत्या पुण्डरीकचर्मणा कृत वसन वस्त्र यथाभूता वः पात्विति ॥
उट्टवणिका यथा— $515, 515, 515, 6 \times 8 = 36$ ॥ महालक्ष्मी निवृत्ता ॥

७९ अथ सारङ्गिका छन्दः—

हे सखि, यत्र प्रथमं द्विजवरश्चतुर्लघुको गणः, तत कर्णो द्विगुर्वात्मको गणः
ततः सगणोऽन्तगुरुर्गणः एवप्रकारेण यत्र पदे पदे मात्रागणन क्रियत इति शेषः ।
तदेवाह—शराः पञ्च मुनयः सप्त मिलित्वा द्वादश मात्राः पादे लभ्यन्ते यस्याः सा
सारङ्गिका कथ्यते द्विजवरकर्णसगणैर्नवाक्षरपदा सारङ्गिका छन्द इति फलितोऽर्थः ॥
तथा च वाणीभूषणे—'द्विजवरकर्णो सगण विरचय यस्याश्चरणम् । जगदमि-
राम हि तथा भवति हि सारङ्गिकया ॥'

८१ सारङ्गिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

हे प्रियसखि, त्वया सा दृष्टा । कीदृशी । हरिणसदृशं नयन चञ्चलत्वात्त-
दुपमा यस्या सा एणाद्धीत्यर्थः । कमलसदृशं विकच सुगन्धि च वदन यस्याः सा
पुनर्युवजनानां चित्त हरति तच्छीला इति कस्याश्चित्सख्याः सखीं प्रति वचनम् ॥
उट्टवणिका यथा— $1111, 55, 115, 6 \times 8 = 36$ ॥ यथा वाणीभूषणे—'प्रणमत
राधारमण नृगनृपत्राघाशमनम् । असुरमदापाहरण यदुकुलचूडाभरणम् ॥'
सारङ्गिका निवृत्ता ॥

यथा—

कोकनपूरोकरं पद्मानीशोषकरम् ।

गाढमोनाशकरं नौस्तियमुष्णकरम् ॥

उद्दृष्टिः यथा— $\text{डा।ऽडा।ऽ} \text{८} \times \text{४} = ३२$ लुब्धोमम्बयः तु—‘भाष्यमा
भाष्यकरम् ।’ मादुमगाचसगास्तगणलमुगुरो यत्र भवन्ति तन्माप्यर्क इति
गम्भेदेनोक्तम् ॥ यथा—चञ्चलचूडं पयसैर्वत्सकुसैः केलिपरम् । म्याप क्ले
श्मेरमुत्तं मन्सुतं माप्यकरम् ॥ उद्दृष्टिः यथा— $\text{डा। ऽडा। १५, ८} \times \text{४} =$
 ३२ ॥ माप्यकरौचित्यं निवृत्तम् ॥

अथानुष्टुप्—

लघुस्वात्यक्षं यत्र गुरु पठं च छतमम् ।

द्वितुर्व्यपारयोर्ह्रस्वमदाक्षरमनुष्टुमम् ॥

यत्र च्छन्दसि पञ्चममक्षरं पञ्चचतुष्टयेऽपि लघु तथैव पठं गुरु द्वितीय-
चतुर्थयोः पारसोः छतमं इत्थं लक्षितव्यं । येष्वर्थ अनिष्टा यत्र । एवमक्षरं
इत्थमनुष्टुमं ध्यानीकारिति शेषः । अन्यत्रापि—‘पञ्चमं लघु सर्वत्र छतमं द्वि-
चतुर्थयोः । पठं गुरु विधानोपाच्येवास्त्वनिष्टा मया ॥’ इति ॥

यथा—

इत्थं भद्रमन्वेते मदीयमृताः शिलीमुक्ताः ।

विषाक्षाः पुण्यवनुषो मूर्ध्नि इव शिलीमुक्ताः ॥

अथ क्रमेण ‘अलिवाञ्छे शिलीमुक्तौ’ इत्यमरनिर्देशाच्चोऽवगन्तव्यं इति ।
उद्दृष्टिः यथा— $\text{१।ऽ१।ऽ१५, १५।ऽ१।ऽ१५}$ ॥ इत्यमेव इत्यानुष्टुप्त्रयि च्छन्दो
प्रत्येयुः नानागत्याभेदेन विषमवृत्तेषु कक्षवर्तकाः समते । सङ्गतपुण्येषु च तावत्पदे-
नाद्याक्षरपादस्वानुष्टुपिति प्रजिह्विता । विशेषतस्तु विधुग्माक्षरीनि वृत्तान्त्याक्षर-
प्रत्यये दर्शितानि । अथ एव च्छन्दोमम्बर्णमिन्द्रायर्द्धिर्द्विपरातक्षरपादनं
वृत्तानां वृत्तवृत्तस्थारवर्तकाः प्रीक्ष्य ।

यथा—

‘अरम्येन्द्रायत्तायारेकेन्द्रायर्द्धितेः ।

पारैरुक्कवितंका स्वाच्छन्दा चर्द्धितति गद्य ॥

उक्कालुक्का तथा मम्बा प्रतिष्ठाया सुपूर्विक ॥

गाकमुष्मिन्नुष्टुप्य वृद्धी पक्षिदेव च ॥

त्रिष्टुप्य वृद्धी वैव त्पातिवृद्धी मत्ता ।

वर्द्धी चातिपूर्वत्पादपम्बरी तता स्मृते ॥

धृतिश्चातिधृतिश्चैव कृतिः प्रकृतिराकृतिः ।

विकृतिः सकृतिश्चैव तथाविकृतिरुत्कृतिः ॥

इत्युक्ता छन्दसा सजा.' इति ।

विशेषतस्तु तत्र तत्र प्रस्तारे तत्रैव सजा जातव्या । इत्यास्ता विस्तरेण ॥

अत्र प्रस्तारगत्याष्टाक्षरस्य षट्पञ्चाशदधिक द्विशत भेदाः । येषु कियन्तो भेदा उदाहृताः शेषभेदा ऊहनीयाः सुबुद्धिमिरिति ॥

७७. अथ नवाक्षरप्रस्तारे महालक्ष्मीछन्दः—

हे मुग्धे, यत्र नागराजेन पिङ्गलेन ये वर्णितास्ते त्रयोऽत्र जोहागणा रगणा. । मध्यलघुका गणा इति यावत् । दृष्टाः । अतो नवाक्षर पदम्, पदे च मासार्ध-सख्याभिः पञ्चदशमिर्मात्राभिः स्थिता महालक्ष्मिका जानीहि । तदुक्तं वाणीभूषणे— 'दृश्यते पद्मिराजत्रय यत्र वृत्ते मनोहारके । सतत पिङ्गलेनोदिता सा महा-लक्ष्मिका कीर्तिता ॥'

७८ महालक्ष्मीमुदाहरति—जहा (यथा)—

सा सिंहासना सिंहाधिरुद्धा चण्डिका वः पातु । सा का । यस्या गले मुण्डाना माला कण्ठिका कण्ठभूषेत्यर्थः । यस्या नागराजो भुजायाः सस्थितः । कथंभूता चण्डिका । व्याघ्रकृत्या पुण्डरीकचर्मणा कृत वसन वस्त्र यथाभूता वः पात्विति ॥ उट्टवणिका यथा— $515, 515, 515, 6 \times 8 = 36$ ॥ महालक्ष्मी निवृत्ता ॥

७९ अथ सारङ्गिका छन्दः—

हे सखि, यत्र प्रथमं द्विजवरश्चतुर्लघुको गणः, ततः कर्णो द्विगुर्वात्मको गणः ततः सगणोऽन्तगुरुर्गणः एवप्रकारेण यत्र पदे पदे मात्रागणन क्रियत इति शेषः । तदेवाह—शराः पञ्च मुनयः सप्त मिलित्वा द्वादश मात्राः पादे लभ्यन्ते यस्याः सा सारङ्गिका कथ्यते द्विजवरकर्णसगणैर्नवाक्षरपदा सारङ्गिका छन्द इति फलितोऽर्थः ॥ तथा च वाणीभूषणे—'द्विजवरकर्णं सगण विरचय यस्याश्चरणम् । जगदभिराम हि तथा भवति हि सारङ्गिकया ॥'

८१ सारङ्गिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

हे प्रियसखि, त्वया सा दृष्टा । कीदृशी । हरिणसदृशं नयन चञ्चलत्वात्तदुपमा यस्याः सा एणाक्षीत्यर्थः । कमलसदृशं विकच सुगन्धि च वदन यस्याः सा पुनर्धुवजनाना चित्त हरति तच्छीला इति यस्याश्चित्तसख्या सखी प्रति वचनम् ॥ उट्टवणिका यथा— $1111, 55, 115, 6 \times 8 = 36$ ॥ यथा वाणीभूषणे—'प्रणमत राधारमण नृगनृपजावाशमनम् । असुरमदापाहरण यदुकुलचूडाभरणम् ॥' सारङ्गिका निवृत्ता ॥

८१ अथ पादशास्त्रम्—

भो शिष्याः यत्र कुन्तीपुत्रः कण्वस्योर्युगं तेन गुह्यस्तुष्टम् पूर्वं न च लभ्यते
सीए ततस्तृतीये वा स्थाने प्रुवं निश्चितं विग्रहस्तुष्टम्भुक्ते गन्ध कम्पते । न
चाम्भे चरणान्ते हाये गुह्यस्यैव तदेतत् 'पादशा' स्तुष्टस्यैव स्वं कम्पिता पिङ्गलेन
मण्डितम् ॥ तस्य चोक्तं भूत्वे—'आदौ वर्णद्वयस्तुष्टं कृत्वा किं गुह्यहितम् ।
तद्गुह्यं पिङ्गलमणितं पादशेति भवणहितम् ॥'

८२ पादशासुत्रादिति—ब्रह्म (यथा)—

वाचिष्ठोऽस्तिपतिर्वा निष्कलसीमाह—हे प्रियवचन, 'वर्णस्तमयेऽहमागमिष्यामि'
इति प्रतिश्रुत्य प्रविष्टो ब्रह्मन्मा । तद्विशन्ती नीपा कदम्बा पुष्पिता, अमरा
द्विरेष्टा अमन्ति, मेघा अपि कलसमरा नीरमिमिता दृष्टा विपुलौदामिष्ये
वृत्तिरिति । अतः परमपि कथय कान्ता कथयारम्यतीति । एतारोऽपि समये नाम-
पर्यवेगनिश्चितं यत्नत एव तुलनाद्योजनात् न तु ब्रह्मन्मा इति भावः ॥ तद-
वधि—५५ ५५, ॥, ॥, ५, १×४=३९ ॥ पादशा निवृत्ता ॥

८३ अथ कमलस्तुष्टम्—

भो शिष्याः, यत्र सरलौ रमणीयौ द्विकगणौ चतुर्लपुष्पगणौ पठितौ । पदाम्भे
न गुह्यस्यते । एवं ५६ नव वर्णं इव कलाशय प्रतिपद् न च पट्टिकाः उत्कमल
नामकं ह्यह इति ॥ यथा च वागीभूषणे—द्विकसरकलपुष्पं कलप गुह्यस्यते-
गम् । मन्वति पतिवतिरिक्तं कमलपतिरुत्पिष्टम् ॥

८४ कमलसुत्रादिति—ब्रह्म (यथा)—

वसति कमलनयना स्तुतिरिति स्तनवदनम्, इति परिक्रमे, अत एव प्रुवं
निश्चितमित्यं बहुलिङ्ग कथ्यते अस्त्योत्वेवं मन्वे इति शेषः ॥ तद्वचनश्च यथा—
॥॥ ॥॥ ५, १×४=३९, कमल निवृत्त ।

८५ विष्णुस्तुष्टम्—

मां गुहिनः स्वभावादेवं गुह्यस्त मात्र काठिन्यं किञ्चिदिति भावः । यत्र
गुह्यगुह्यं सर्वरीये पाण्ड्ये शिरशि अदौ द्विकसरगुह्यपुष्पः मन्वे विग्रहस्येदेवं
राज्य आदौ गुह्यमप्यो गन्धे यस्मिन्तलमिना पिङ्गलेन रचितं विष्णुनामकं ह्यह
इति ॥ भूत्वे तु गणमेदेनोक्तं यथा—'नगलकलपुष्पकर्म भवति नववर्णपुष्पम् ।
अणिबन्तमुष्पं यद्वचति विला विष्णुमन्त्र ॥'

८६ विष्णुसुत्रादिति—ब्रह्म (यथा)—

हे वप्सव राजन् वा यत्तुष्टं किं वसति । किं च तद्वचनवरास्तादव्यस्य
मन्वति । अतः चारणातुपुष्पस्य शौर्वीशर्वगाम्भीर्यमर्षादामश्रुतिगुणेन अतः

यद्वा शुद्धा शरच्चन्द्रावदाता स्थिरा कल्यान्तस्थायिनी कीर्तिरवतिष्ठते वित्तयौवना-
देकमतिचञ्चलत्वान्नश्वरमित्य [तं] कीर्तिमेकामुपाजयेति राजान प्रति मित्रं
प्रति वा कस्यचिन्निपुणमतेर्वचनमिदम् ॥ उट्टवणिका यथा—॥॥, ॥॥, ॥॥,
९×४=३६, विष्णो निवृत्तः ॥

८७. अथ तोमरच्छन्दः—

हे कान्ते, यस्यादौ हस्त रुगण गुर्वन्त गण विभ्राण विजानीहि । तथा द्वौ
पयोधरौ जगणौ गुहमध्यमौ गणौ जानीहि । नागनरेन्द्रो दर्वाकराधारः प्रकर्षेण
मणतीति तत्प्रामाण्यादेव तोमराख्य छन्दो मानय ॥ वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—प्रथम
करं त्रिनिधाय जगणद्वयं च निधाय । इति तोमरं सुखकारि कविराजवक्त्रविहारी ॥'

८८. तोमरमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचिधोषितपतिका वसन्तसमयेऽपि कान्तमनागत मन्त्रातिनिर्विण्णमानसा
साकूत सखीमाह—हे सखे, कोकिलशावकाः पिकपोतकाश्चूत रसाल प्रति
चलिताः । अथ च मधुमासेऽस्मिन्पञ्चम स्वरं च गायन्ति । अतः प्राप्ते वसन्ते
मनोमये मन्मथस्तपति । यद्वा मम मनो मन्मथस्तापयति । न खलु कान्तो-
ऽग्राप्यायातीति ॥ यथा वा [णीभूषणे]—‘सखि मादके मधुमासि व्रज सत्वरं
किमिहासि । सह तेन किं विहरामि किमु पावकं प्रविशामि ॥’ उट्टवणिका यथा—
॥॥, ॥॥, ॥॥, ९×४=३६, तोमरं निवृत्तम् ॥

८९. अथ रूपमालीच्छन्दः—

भोः शिष्याः, नागराजः पिंगलः सारमत्पुङ्गवमिदं छन्दो जल्पति । यत्र
च चत्वारः कर्णाः द्विगुणो गणाः अन्ते पदान्ते हारो गुरुः । ए एक इत्यर्थः ।
एव नवाप्यक्षराणि गुरुणि मात्राश्चाष्टादश द्विगुणाभिप्रायेण गुरुणा यत्र पादे
तद् रूपमालीनामकछन्दः कथ्यते इति ॥ अयं च नवाक्षरप्रस्तारे प्रथमो भेदः । अतः
एव वाणीभूषणे—‘चत्वारोऽस्मिन्कर्णा जायन्ते छन्दस्येकं हारं कुर्वन्ते । रन्ध्रा वर्णाः
पादे राजन्ते रूपमालीवृत्तं तत्कान्ते ॥’

९०. रूपमालीमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचिधोषितपतिका सखीमाह—यत्रस्माद्विद्युत्तडिन्वत्यति । मेघान्धकाराश्च
हरितो यस्मात् । यतश्च नीपाः वदम्बाः प्रफुल्लिताः । किं च मयूराः कूबन्ति ।
केकारव कुर्वन्तीत्यर्थः । वान्ति मन्दा शीता वाताः । कम्पन्ते गात्राणि । अतः
प्राप्ता प्रावृट् । कान्तः परं नागत इति ॥ यथा वा [णीभूषणे]—‘हत्वा शत्रु
मृत्यन्ती चण्ड सा चण्डी च कल्याणं कुर्यात् । देवेन्द्राया प्रीत्या सप्राप्ता ससेवन्ते
चत्पादाभोजम् ॥’ उट्टवणिका यथा—॥॥, ॥॥, ॥॥, ॥॥, ॥॥, ९×४=३६ ॥

रूपामासी निहृषा ॥ अत्रापि प्रत्ययरगत्या नवाक्षरस्य द्वादशाक्षिभ्यश्चरातमेरेषु स्य
भेषा र्विष्याः । शेषभेषा छन्दोपाः सुमतिमिरिति ॥

११ अथ दशाक्षरप्रत्यये संयुक्ताङ्गम्—

६ सुन्दरि यस्यायो हस्तः सगन्धे शुर्वन्तो गन्धे विहाता । तथा वे हो पयो
धरो बगन्धे मन्धगुदकगणो शायो बन्धे पदान्ते गुदा । तस्मिन्नेन चरितं संयुतेति
कलितोऽयम् ॥ तथा च भूपयो—‘तगर्गं पुरा कुद शोभितं क्तामहं गुद-
संगतम् । धन्निमयेन निवेदिता भवतीह संयुक्ता रिता ॥’

१२ संयुक्तामुदाहरति—यदा (यथा)—

अक्षिभ्योऽक्षी मोक्षितपठिका । नाक्षिभ्यमभितारार्थं प्रेरकस्यार—६ सुन्दरि तर्था
यपरमधीयै, शुर्वन्तस्यापनां कुक्षोन्तारुमस्यवसां परिवक्ष्य बन्ध्या आत्मनैव
पादि । तन्नेनिकुम्भगतमभितारमिति भावः । यतः—विच्छिन्नैतन्मसंयुते प्राक्कि-
ञ्चले न लक्ष्यमानागता च वराक इति ॥ उदाहरिका यथा—॥५, ५५, ५५, ५
१ ×४=४, [संयुक्ता निहृषा ॥]

१३ अथ चम्पकमाताङ्गम्—

भोः शिष्याः, अत्र प्रथमं द्वयोः गुदाः स्यान्ते । तदा अहलक्षम् । तस्य
द्वयमित्यर्थः । तदा कुक्षीपुत्रा कर्णे द्विगुर्वचो गच्छ । कीदृशः कर्णः । एतद्व्याप-
एकगुणमुक्तम् । ततो हस्ताः सगणो गुणस्तयनाः किरते । पदान्ते द्वयोः गुदाः स्यान्ते ।
एवं दश वर्णाः पादे पञ्च किरते तच्छब्दप्रत्ययकमासेति कथयते । वाचीभूयसे प्रश्न-
रास्तरेणैतन्म ‘पाद्विद्यमन्पुत्रमुक्ता कुक्षलद्योमावक्षिमुक्ता । उदाहरतो द्वार
द्वयपूर्व चम्पकमाता माति मुक्ता ॥ अक्षिभ्यमेव वक्ष्यमक्षी, अक्षिभ्य
क्ष्यमक्षीति ॥

१४ चम्पकमातामुदाहरति—यदा (यथा)—

शारत्वेदं गोष्ठदुग्धवर्षमुक्तम्, किञ्च मोक्षिमिच्छा मन्त्रविधेयः, नाक्षिभ्यः
शाका, एतत्कर्णे अन्तया स्वहस्तेन रम्भापने कक्षीद्वयो दीपते पुष्पवता मुक्ते इति
कल्पविद्यापुनस्त किमुपकस्य वा धेपहातं वक्ष्यमिति ॥ उदाहरिका यथा—५।
५५, ५, ॥५, ५, १ ×४=४ ॥ चम्पकमाता निहृषा ॥

१५ अथ चारवतीङ्गम्—

भोः शिष्याः अत्र प्रथमं द्वयोः गुदाः, तदनन्तरं द्वाभ्याम् तस्यद्वयमित्यर्थः ।
ततोऽपि द्वयोः गुदाः तदनन्तरमेव तस्य तदन्तरान्ते दीर्घलम्बोऽन्ते पयोधरो बन्धो
गुदमन्धमो गन्धे वक्ष । ततोऽपि चम्पे लम्बाक्षिभ्यः । एवं दश वर्णाः पादे
मात्रमन्धद्वय च वक्ष्यमिति तद्व्यापं मिश्रितं चारवतीति ह्यम् अक्षिभ्यमिति

गुस्लघुद्वय गुस्लघू जगणलध्वादिस्त्रिकलैः च यत्र तत्सारवतीछन्द इति फलि-
तोऽर्थः ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेण लक्षणमभिहितं यथा—‘दीर्घलघुद्वयमद्वि-
गुणा हारविराजिचतुश्चरणाः । पिङ्गलनागमते मणिता सारवती कविसार्थहिता ॥’

६६. सारवतीमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिच्छालीनगृहस्थः स्वगार्हस्थ्येन सतृष्टो गर्वायते—भो अनुजीविनो लोका हे
मित्रेति वा । यस्य मम पवित्राः शुद्धाः । पितृभक्ता इति यावत् । एवविधाः
पुत्राः पुन्नाम्नो नरकात्वातारस्तनयाः सन्ति । अथ च यस्य ममात्मजाः पवित्राः
पवि कुलिशं तस्मादपि त्रायन्ते वज्रादपि रक्षका महावीरपराक्रमाः सन्ति । अथ
च यस्य मम बहुलं धनं धनाधीशप्रतिस्पर्धि । विद्यत इति शेषः । अपि च
कुटुम्बिनी बधूः शुद्धमना अकुटिलान्तःकरणा सती भक्ता भर्तृजनतत्परा वास्ति ।
यस्य च मम हृक्केण अमुकेति वाङ्मात्रेण भृत्यगणः सेवकवर्गः त्रस्यति । एवं
सरलसुखानुभवे सति को वा वर्धरोऽतिवाचाटः स्वर्गे मनः करोति । महीतल एव
स्वर्गसुखादपि बहुलतरश्मलामादिति भावः ॥ उट्टवणिका—यथा—S, ॥, S, ॥,
।S, ।S, १०×४=४० ॥ यथा वा [णीभूषणे]—‘माधवमानय मत्सविधं किं
सखि चिन्तय मित्रवधम् । यत्र करिष्यसि मत्प्रणय नो मम याति तदासमयम् ॥’
एतदनुसारेणोट्टवणिकापि प्रदर्श्यते—S, ॥, S॥, S॥, S, १०×४=४० ॥
सारवती निवृत्ता ॥

६७. अथ सुपमाछन्दः—

हे मुग्धे, यत्र प्रथमः कर्णो द्विगुरुगणः तुअलो द्वितीयो हस्तः सगणो गुर्वन्तगणो
भवति । ततस्तिअलो तृतीयः कर्ण एव सर्वशेषे हस्तः सगण एव प्रकटो यत्र
दशाक्षरचरणे षोडश कला भवन्ति अथ छक्का वलयाः षड्गुरवश्चतस्रः शेषाः
रेखा चेत्येव षोडश मात्रा यत्र सा सुसमा प्राणसमा । अतिप्रियेत्यर्थः ॥ भूषणे
त्वन्ययोक्तम्—‘कर्णा द्विलघुः कर्णो भगणः शेषे गुरुणा पूर्णश्चरण । यस्या भवति
मुग्धे परमा सैषा सुपमा दीव्यसुपमा ॥’

६८. सुपमा मुदाहरति—जहा (यथा)—

यस्या भ्रू कपिला, उच्च ललाटम्, यस्याश्च नेत्रयुगल मध्ये पीतम् ।
निडालसदृशमित्यर्थः । अथ च रूक्ष वदनं दन्ताश्च विरला दृश्यन्ते कथं जीवति
यस्य त्वमपीदृशी प्रिया भवसीति परमकुत्सितरूपा कराला प्रति कस्याश्चित्कान्त-
सकलावयवाया वचनम् ॥ उट्टवणिका यथा—SS, ॥S, SS, ॥S, १०×४=
यथा वा [णीभूषणे]—‘एणोनयने केलीकलहे प्रेयान्वद किं किं नो कुरुते । धन्या
रमणी सर्वे सहते दुःखं सुखवत्त्वाते मनुते ॥’ तदनुसारेणोट्टवणिका यथा—SS, ॥,
SS, S॥, S, १०×४=४० ॥ सुपमा निवृत्ता ॥

९६ अमृतगतिरिति—

मो। शिष्याः, सा अमृतगतिरिति प्रुर्न निश्चितं कथिता । ता अ। वर
द्विजवरगणपतुर्ब्रह्मात्मको गणा, ततो हाये शुका प्रकटिता, पुनरपि तथा स्मितं
कुम्भ द्विजगणान्तरं गुर्वं कुर्मिष्या । एवं सत्त्वो लपयो द्विगुणविराजितवरो
मत्याः समृतगतिरिति ॥ बानीभूययो वृ—‘नगल्पवोचरद्विषय कुमुमविराजित-
सुन्दर । वसुतपुदीर्पमुगलक्य भवति ततोऽमृतगतिश्च ॥’ कश्चिद्विषयेन त्वरित
गतिरिति ॥

१ अमृतगतिमुदाहरति—अथा (यथा)—

हे प्रियसखि, त्वया सा ठकरी दृष्टा । कीदृशी । चारुसुखाकरमदना । पुनः
कीदृशी । विद्वत्कथोचदनयना । मन्त्रसङ्कुम्भरगमना ॥ इति ॥ उद्बुधमिका
वधा—॥॥॥, ५, ॥॥॥, ५, १ × ४ = ४० ॥ अमृतगतिर्निवृत्त्य ॥ अत्र प्रवृत्त
गत्या दद्याच्चरस्य चतुर्विंशत्यधिकं लक्षं १ १४ मेघा मयसि ॥ तेषु पञ्च मेघाः
प्रोक्ष्याः । शेषमेघाः सुधीभिस्त्रयीना इति ॥

१०१ अथैकदशाक्षरप्रकारे कन्धुपुष्पा—

षोडशवर्णस्मर्मेगलपञ्चकमुद्योः षोडशभिरपरवैर्ययद्विरङ्गयोर्मिमादेन
नीलस्वरूपं कुन्दो भवति । अत्रैव नीलस्वरूपादेकपरवा कल्पन्ते । तत्र चरयो
षोडशवर्णपञ्चमगलगुर्वीमके भयो मगला गुर्वीद्विषय गण मयसते । अन्ते मगल
अन्ते द्विगुण कर्णो दीवते पदे च षोडश मात्राः स्वात्मन्ते वन तद् कन्धुनामर्क
कुन्दा कल्पते ॥ भूयस्तेऽमुक्तम्—‘यत्रकथोमितस्तत्तत्कर्म एवसुतगलपद्विष्टक
वर्णः । पञ्चगव्यनिर्देशितवन्द्य राक्षसि भूपतिर्लघु इति कन्धुः ॥’

१ २ कन्धुमुदाहरति—अथा (यथा)—

पाञ्चवर्णो कर्म कुतम् । एष्वमर्कविना चर्मावै इत्यम् । तेनापि पुत्रिद्विरेण
एकयो वनवासास्तथातकाक्षयः प्रसता । अतः कारणादेन विभागा सिद्धितं क
प्रमादि । न षोऽपीत्यर्था ॥ उद्बुधमिका वधा—५॥ ५॥, ५॥ ५५ ११ × ४ =
४४ ॥ वधा वा [वीमूले] ‘मन्त्रितवातरगानिकणनः अमिष्टस्तपमादित्यम् ।
दरिद्रसोलातद्विष्टवशाः षोऽप्युपैति पनागमपात्र ॥’ [कन्धुर्निवृत्त्य ॥]

१०२ अथ सुमुलीकुम्भः—

मोः कश्चिद्वरः, एव प्रथमं द्विजवरगणपतुर्ब्रह्मात्मको गणा, ततो हाये शुका ततो
समुमुपलाम् अन्त्यर्धं वषयो शुका, तथा प्रतिष्ठितं इत्युत्तरं तगन्ते गुर्वन्तगणो
यत्र एवं वरे अन्तर्दशमाया द्वादशवर्णव पत्र तां सुमुली बानीयेति वदत्तवदिः
शेषनाम इति । बानीभूययो वृ प्रकाशन्तरेण लक्षयामभिरितम् वधा—

‘नगणचिरालयसद्वितयं कविजनभाषितवृत्तचयम् । प्रभवति शेषसहस्रमुखी विनि-
गदितैह तग सुमुखी ॥’

१०४ सुमुखीमुदाहरति—नहा (यथा)—

कश्चिदतिदुराचारिण मित्रमुपदिशति—एतानि यौवनदेहधनान्यतिचपलानि
स्वप्नसहोदराः स्वप्नतुल्या बन्धुजनाः । अथ च अवश्य कालपुरीगमनम् ।
अतः कारणाद्धे वर्वर वितथमापिन्, पापे मनः परिहर ॥ उट्टवणिका यथा—
॥॥, ५, ॥, ५, ॥५, ११ × ४ = ४४, सुमुखी निवृत्ता ॥

१०५ अथ दोषकछन्दः—

भो. शिष्याः, यत्र प्रथम चामर गुरुः, तदनन्तर काहल्युग लघुद्वय स्थाप्यते
ततो हारो गुरुः, तदनन्तर लघुद्वयम्, ततः तत्थ तथा धारणीयम् । हारानन्तर
पुनः स्थापनीयमित्यर्थः । पदान्ते च कर्णगण. कर्तव्यः, तद् दोषकमिति छन्दसो
नाम कथ्यते । भगणत्रय गुरुद्वयभ्यां दोषकमिति फलितोऽर्थः ॥ अत एव
भूपणो—‘भञ्जितय यदि कर्णसमेत पिङ्गलनागसुभाषितमेतत् । पण्डितमण्डलसद्वृत्त-
चित्त मामिनी भावय दोषकवृत्तम् ॥ ‘दोषकमिच्छति भञ्जितयाज्ञौ’ इति
छन्दोमञ्जर्यामप्युक्तम् ।

१०६ दोषकमुदाहरति—नहा (यथा)—

स शकरस्तुभ्य सुख ददातु । स कः । पिङ्गलावलीपु स्थापिता गङ्गा येन
सः । तथा येनार्घीगेन नारी पार्वती धृता । यस्य शीर्षे [अति] णोक्त्वा
परमरमणीया चन्द्रकला । राजत इति शेषः ॥ उट्टवणिका यथा—॥॥, ५॥,
५॥, ५५, ११ × ४ = ४४ ॥ दोषक निवृत्तम् ॥

१०७. अथ शालिनीछन्दः—

भोः शिष्याः, सर्पराजेन पिङ्गलेन सा शालिनी आज्ञता । सा का । यत्र कर्णा
द्विगुणो भवति प्रथमं द्वौ कर्णौ द्विगुरुकगणौ, तत एको हारो गुरुर्विस्तृत्यते ।
ततश्च शल्यो लघुः, ततोऽपि कर्णः तदनन्तर लघुः, अनन्तर कर्ण एव श्रूयते ।
एव पदे रुद्रसख्या वर्णा विंशती रेखाः कलाः पादे पादे यत्र गण्यन्ते । सा शालि-
नीति ॥ वाणीभूषणेऽपि—‘कृत्वा कर्णौ मण्डितौ कुण्डलेन शङ्ख हासं नूपुरं
रावयुक्तम् । धृत्वा युग्मं चामर चाविभाति शालिन्येपा प्रेयसी पिङ्गलस्य ॥’
द्वितीयोऽर्थः स्पष्टः ॥ छन्दोमञ्जर्यां तु सयतिनियमं गणान्तरेण लक्षणमुक्तं
यथा—‘मातौ गौ चेच्छालिनी वेदलोवै.’ इति ॥

१०८. शालिनीमुदाहरति—

कर्पूरमञ्जरीसाट (सट्ट) कस्य कापालिकभैरवानन्दस्य वचन राजान प्रति—

रहता रिपवा अष्टा परमकोपना दीक्षिता दीक्षितकनी अन्त्याश्च परमजाया ।
गच्छाम इति शेषा । अथ मातं पीयते स्थापते च । मिश्रया भोजन समस्तका
शया । कोलो घमाः कापालिकधर्मः कस्य रमो रमणीये न आतीति ॥ ठट्टविक्र
यया—५, ५५, ५, ५५, १, ५५, ११×४=४४ ॥ यया वा [नीमूप्ते]—
आम्पते शर्मकर्माणि मूर्त्तं प्राज्ञैर्लोके वाच्यतामात्रमीदृशः । तस्मिन्पतो वातुरेव
प्रमाणं को वा कदा कृत्यकर्त्तव्यमस्मि ॥ शास्त्रिणी निवृत्ता ॥ अनेव 'वातोमीव
गच्छा म्यो तगो गा' इति प्रशान्तरे ॥ तत्र यदि पूर्वं म्यो मयवभग्नो अथ
च तगो तगवमुक्त मयका ततश्च गो गुरुर्मवति । तदा इयं वाखेमी गरिता तन्नाम
वृत्तमुक्तमित्युक्तम् ॥ यया 'यथा मूर्तिः क्षयमप्यप्युत्तस्य भेदी नाम्ना' गरिता हेत
मापि । संतरेऽस्मिन्पुरितं इति पुनः वातोमी पोतमिषाम्बुधिमये' ॥ ठट्टविक्र
यया—५५५, ५॥, ५५, ५५, ११×४=४४ ॥ अथानयोऽप्युत्तरेकत्र पञ्चमे कर्त्त
गुवरन्वत्र च लघुरिति स्वस्वो मेव इति कृत्वा असुहृदोपपातिमेश उत्तर
वर्त्तविष्मन्नाभरिपादृषा किशोतस्य इति सूच्यत इत्यन्तमस्मिन्निस्तरेवेति ॥

१ ८. अथ दमनकच्छन्दाः—

मोः शिष्याः, यत्र प्रथमं द्विचरचुरा अतुल्यप्रकाशयाम् ततो लघुद्वयं
पदे पदे अने प्रकटितो कलपो गुरुर्वच । एवं पदचतुष्टयेऽष्टचत्वारिंशत् ४८
कृता यत्र दमनकमस्तिलाक्षितं कृत्वा मयतीति अक्षिपतिः पिङ्गलो मयति ।
द्विचरद्वयस्यजान्ता दमनकं कृत्वा इति अक्षितोऽर्थः ॥ तथा च भूपत्ये—'द्विचर
गन्तुगममसं तदनु चक्षताव कथ्यताम् । अक्षिपतिचरपरिगमितं दमनकमि
दमस्तिलाक्षितम् ॥ इति ॥

११ दमनकमुदाहरति—यथा (यया)—

मो कोका श्रीमज्जुमयनं कृत्वा प्रणमत् । श्रीहराम् । परिणतस्य परिपूर्व-
बोद्धकस्तस्य शब्दचरस्यैव वचनं कस्य तम् । पुनः विमल-कमलादलकनयनं
कोपनं कस्य तम् । विहितमसुरकुलानां वनुचकुलानां दशनं कृतं येन तम् ॥ यया
यया वा [नीमूप्ते]—'प्रणमत् मधुरिपुचरं मयवत्तनिधिपरितराम् । अयिनव
क्रिष्णमयविरं सुरपतिरुक्तमयहरम् ॥' इति ॥ ठट्टविक्र यया—॥॥, ॥॥
॥५, ११×४=४४ ॥ दमनकं निवृत्तम् ॥

१११ अथ सेनिकाच्छन्दाः—

मोः शिष्याः, यत्र प्रथमं याज्ञ भाविगुरुक्षिकताऽ। तत्र एवं पञ्चचतुरद्वय
मानन्दमुत्तर्प्यकम् भाविगुरुक्षिकता एवं तत्र चोहौन रग्येन मय्यव
कमनेतच्छन्दाः पूरणीयम् । अथ च—एकदशाक्षराणि पादैः अष्टमानीति माय-

राजेन पिङ्गलेनजल्पिता सेनिका जानीत इति ॥ 'श्रेण्युदीरिता रजौ रलो गुहः'
इति छन्दोमञ्जर्या गणभेदेन नामान्तरमुक्तम् ॥ वाणीभूषणे तु—'हारशङ्खमण्डनेन
मण्डिता या पयोधरेण वान्त्य अङ्किता । रूपनूपुरेण चातिदुर्लभा सेनिका भुजङ्ग-
राजवल्लभा ॥' गुरुलघुरूपेणैकादशापि वर्णा यत्र सा सेनिका । सैव च यदा हारशङ्ख-
विपरीताभ्या रूपनूपुराभ्या क्रमशो मण्डिता सती वसुवर्णानन्तरं च यटि रगण-
विपरीतेन पयोधरेण जगणेनाङ्किता भवति तदा सा भुजङ्गराजवल्लभातिदुर्लभा
सेनिका छन्दोद्वयमुक्तमिति ॥

११२. सेनिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वन्दी कर्णनरपतिं स्तौति—स वर्णो जयतीति युग्मवेनान्वयः । स कः ।
भटिति पत्नीना पतत्पादाघातेन भूमिः कम्पिता । यस्य । तथा दः स्वतुरगाणा
राजोन्नातधूलीजालैः सूर्योऽपि समाच्छन्नः । येन च गौडराज जित्वा तस्य मनोऽह-
कारो मोदितः । येन कामरूपराजस्य वन्दीकृता वनिता मोचिता ॥ यथा वा
चा [णीभूषणे]—'साधुघाटवाहुराजिमण्डिता रक्तबीजरक्तपानपण्डिता । चण्ड-
मुण्डशुभ्रदम्भखण्डिका मङ्गलानि नो ददातु चण्डिका ॥' उट्टवणिका यथा—
डा, डा, डा, डा, डा, डा, ११×४=४४ ॥ हारशङ्खविपरीतरूपनूपुररूपः
यथा—'मुदा पद सदा वहे महेश तवापि काममदभुत गणेश । करालभालपट्टिका
विशाल भजे मदीयहृत्सरोमराल ॥' उट्टवणिका यथा—डा डा डा डा डा, ११×
४=४४ ॥ सेनिका निवृत्ता ॥

११३ अथ मालतीछन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र कुन्तीपुत्राः पञ्च वर्णाः शरसख्यया दत्ता शयन्ते, अन्ते च
कर्णानामवसाने कान्तः सुन्दर एको हारो गुरुर्मान्यते श्रम्यर्हितः क्रियते । एवमेका-
दशापि वर्णा यत्र गुरवः क्रियन्ते । अत एव पाटे पाटे गकारद्वैगुण्येन द्वाविंशति-
र्मात्रा दृष्टा । तन्मालतीनामक छन्दो नागेशः शेषः पिङ्गलो जल्पतीति ॥ भूषणे
तु—'आदौ चत्वारोऽस्या कर्णा दृश्यन्ते शेषे यस्या रामा हारा जायन्ते । रुद्रैर्वर्णैः
पाटे पाटे सख्याता मालत्येवा वाणीभूषा विख्याता ॥'

११४ मालतीमुदाहरति—जहा (यथा)—

स्थाने स्थाने हस्तियूथा दृश्यन्ते यथा मेरुशृङ्गे नीला मेघाः प्रेक्ष्यन्ते । अपि च
चीराणा हस्ताग्रे खड्गो राजते नीलमेघमध्ये नृत्यन्ती विद्युदिवेति ॥ यथा वा
[णीभूषणे]—'पायान्मायामीनो लीन कल्पान्ते प्रादिक्लोणीमर्तुः पाणिक्लोडे
यः । व्याताम्भोधिस्तस्मिन्काले लीलाभिः सम्यक्सर्वोपध्या यत्पृष्ठे तिष्ठन् ॥' उट्ट-
वणिका यथा—डा, डा, डा, डा, डा, डा, ११×४=४४ ॥ मालती निवृत्ता ॥

११६. अथोपजातयः—

इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रे छन्दसी एक कुरु चतुरधिक दश नाम १४ जानीहि । समजातौ समान्येवाक्षराणि देहि पिङ्गलो भणति । एवमुपजातिं कुर्विति । पादा-
कुलक छन्दः ॥

१२०. तत्र चतुर्दशोपजातिभेदानयनप्रकारमाह—

चतुरक्षरस्य प्रस्तार कुरु इन्द्रोपेन्द्रवज्रयोः लघुगुरुश्च जानीहि । मध्ये सर्वलघोरन्तराले चतुर्दशोपजातयो भवन्तीति पिङ्गलो जल्पति किमिति व्याकुली-
भवथ शिष्या इति ॥ अयमर्थः—चतुरक्षरप्रस्तारस्तावत्पोडशविधः । तत्र गुरु-
चतुष्टयेनेन्द्रवज्रायाश्चतुष्पादज्ञानम् । चतुर्ध्वपि पादेष्विन्द्रवज्राया आदौ गुरुरिति
शेषेन लघुचतुष्टयेनोपेन्द्रवज्रायाश्चतुर्ध्वपि पादेष्वदौ लघुरिति पादचतुष्टयज्ञानं भवति ।
मध्ये चोपेन्द्रवज्रापादमादिं कृत्वा चतुर्दशोपजातयो भवन्तीति ॥ पादाकुलकं
छन्दः ॥ वाणीभूषणोऽपि—‘उपेन्द्रवज्रापदसगतानि यदीन्द्रवज्राचरणानि च स्युः ।
तदोपजातिः कथिता कवीन्द्रैर्भेदा भवन्तीह चतुर्दशस्या.’ ॥ इति ॥

१२१. उपजातिमुदाहरति जहा (यथा)—

गौरी शिव प्रत्याह—बालः कुमारः स्कन्दः स पण्मूढधारी । पण्मुख
इत्यर्थः । उपायहीना अर्जनासमर्थहमेकला नारो । हे भिक्षुक शिव, त्वमहर्निशं
विष खाद भक्ष्य । गतिर्भवित्री किल का । अस्माक षण्मुखधारिणो बालकस्य,
भोजनमत्यावश्यकमित्येकलाया मम का वा गतिर्भविष्यति तन्न वेद्मि । तव तु
भिक्षुकस्य गरलभोजनेनापि क्षुत्प्रतिकारदर्शनादिति भावः । ‘बालो’ इत्यत्र
‘उष्माञ्’ इत्यत्र च पादद्वये इन्द्रवज्राया लक्षणम्, पादद्वये चोपेन्द्रवज्राया-
लक्षणमिति द्वादशी रामाख्येयमुपजातिरिति । अन्याश्चोपजातयः सुबुद्धिमिराकरेषु
मत्कृतोदाहरणमञ्जरीं च द्रष्टव्या इति ॥ अत्र च ‘बालः कुमारः’ इति ‘गतिर्भ-
वित्री’ इति सविसर्गं केचित्पठन्ति । स च विसर्गो न दोषाय लौकिकभाषाया अनि-
यमात् । सस्कृतमिश्रणाद्देति सिद्धान्तः ॥

१२२ चतुर्दशानामप्युपजातीना नामान्याह—

कीर्तिः १, वाणी २, माला ३, शाला ४, हवी ५, माया ६, जाया ७,
बाला ८, आर्द्रा ९, भद्रा १०, प्रेमा ११, रामा १२, ऋद्धि १३, बुद्धिः १४
[इति] तासामख्या ॥ विद्युन्मालाछन्दः ॥ एवमुपजातयः प्रदर्शितरूपानुसा-
रेणाकरो मत्कृतोदाहरणमञ्जरीतोऽप्युदाहृतव्या इत्यलमतिविस्तरेण ॥ एते च,
भेदा रुद्रवर्णप्रस्तारपिण्डसख्यात समधिका इति ध्येयम् ॥ उपजातयो निवृत्ता ॥
अथैकादशाक्षरप्रस्तारे एव कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते ।
तत्र रथोद्धताछन्दः—

हारसेगपशेषरा करं यङ्गमुक्तवत्तवेन संगतम् ।

विभ्रती कनककुण्डलां मुदं कामिनीव कुस्ते रघोदत्ता ॥

अमिनीपद्मेऽर्था स्वप्ना ॥ 'रात्यरैर्नररागे रघोदत्ता' इति चन्द्रोदमम्भरा रात्र
-रागात्तैर्नररागवत्तपुगुदमी रघोदत्ताङ्गुदः ॥

यथा—

दीर्घचोवकुलादेवभीर्भिन्नपङ्कजं रविभक्तो व्यपङ्कत ।

ईर्ष्यैव इदित्थं पद्मोनिर्घेयं वासमङ्गरोत्तरस्वती ॥

उद्वयविक्रम यथा—५, १५ ॥ ५, १ ५, ५ ११×४=४४ ॥ यथा च
[श्रीमद्भक्त]

रविक्रम इधिविखोडनस्वित्ता हृन्नेष्टुनिनै रघोदत्ता ।

यमुनं तद्विदुस्त्वमम्भरा रात्रा यमाम सलिलाङ्गुतिचक्रात् ॥

उद्वयविक्रम यथा—५, १५ ॥ ५, १, ५, ११×४=४४ ॥ इति रघो
-दत्ता निवृत्ता ॥

अथ स्वागताङ्गुदः—

हारिणी कनककुण्डलाङ्गुदं पुष्पपुष्करपुगा वल्लभमीः ।

वर्षित्वाहिपतिवत्तवहसेः स्वागता इदित्थं कस्य न चेत्तः ॥

अथ च स्वमेवाङ्गुद स्वागता सुन्दरमागतामागमनं कस्या चेति तादृशी मानिष्य
कस्य न मानते इदंति चानि ॥ स्वागता रत्नमगैर्गुदरा च' इति चन्द्रोदमम्भरा
-रगमनवत्तमाङ्गुदभिर्गुदरा च स्वागता भवतीत्युक्तम् । यथा—

पङ्कजं तदपि पावति मन्त्रं कञ्चमाः स च यनात्परितोऽमूर्त् ।

कम्पुलेन्दुवत्तयापि विनोदं नैव इत्थं लब्धे इत्येता ॥

उद्वयविक्रम यथा—५, १, ५, १५ ॥ ५, ५, ५, ११×४=४४ ॥ यथा
चा [श्रीमद्भक्त]—

यत्नं चेतति तदा सुरवेरी वल्लभीयनविनाशविस्तोताः ।

तस्य मूनममयत्तवमाङ्गुद स्वागताङ्गुदः सुरवगाः ॥

उद्वयविक्रम यथा—५, १५, ५, ५ ५ ११×४=४४ ॥ स्वागता
निवृत्ता ॥

अथानुकूलाङ्गुदः—'स्वाङ्गुदं मदनमगारधेत्

भगवत्तगयनमगुङ्गुरपरपैरुचरति तद्वानुकूलाभिर्धं चन्द्रो भवति ॥

यथा—

वत्तववेता मुरिपुमूर्तिर्गौमगाधीकृतवर्तित्तिः ।

वर्तित्तिर्तद्वी प्रगतिपरत्त स्वाङ्गुदं भगति म कस्य ॥

उट्टरिका यथा—५॥, ५५॥, ॥॥, ५५, ११×४=४४ ॥ अतुना
निवृत्ता ॥

अथ भ्रमरविलसितच्छन्दः—‘मो गो नी गो नगरनिशिग’

मरणगुरुनगणद्वयगुरुभिर्भ्रमरविलसितानामकं छन्दो भवति ॥ यथा—

मुग्धे मान परिहर न चिरान्तरात् ते सत्त्वगु दृष्टिः ।

कुल्ला मल्ली भ्रमरविलसिताभावे शोभा कनयति किमु ताम् ॥

उट्टरिका यथा—५५५, ५, ॥॥, ॥॥, ५, ११×४=४४ ॥ भ्रमरनि-
सिता निवृत्ता ॥

अथ मोटनकच्छन्दः—‘रान्मोटनक तजजारच लगौ’

तगणनगणद्वयलघुगुरुभिर्मोटनकनामाच्छन्दः ॥

यथा—

रङ्गे खलु मल्लकलाकुशलश्चाणूरकभटमोटनकम् ।

य. केल्लिवेन चकार समे सवारिपु प्रतिमोटयतु ॥

अथ तुरीयचरणे पादान्तलघोर्वैकल्पिक गुरुत्व श्रेयम् ॥ उट्टरिका यथा—
५५॥, ५५॥, ५५॥, ५, ५, ११×४=४४ ॥ अथापि प्रस्तारगत्या ऋ (११)
सख्याक्षरस्याष्टचत्वारिंशदधिकं सहस्रद्वय २०४८ मेदा भवन्ति । तत्र कियन्तोऽपि
मेदाः प्रोक्ताः, शेषा मेदाः सुधीभिः प्रस्तार्य समूहनीया इति ॥

१२३ अथ द्वादशाक्षर प्रस्तारे प्रस्तारादिभूत विद्याधरनामकं छन्दोऽ-
भिधीयते—

मो. शिष्याः, यत्र सर्वसारभूताश्चत्वारः वर्णा द्विगुरवो गणाः पादे दीयन्ते,
पादान्ते कान्ताश्चत्वारो हारा गुरवश्च दीयन्ते । एव द्वादशापि वर्णाः पादे गुरवः
कर्तव्या इत्यर्थः । तत्र पदचतुष्टयेऽपि द्वादशचतुष्केण समुदिता वर्णा अष्टचत्वारिं-
शत् । तदिद्विगुणाभिप्रायेण मात्रा. पणवति (६६) गणिता यत्र तच्छन्दः सु-
सारं श्रेष्ठं विद्याधरनामकं छन्दो भवतीति नागराजः पिङ्गलो जल्पतीति ॥

१२४. विद्याधरमुदाहरति—जहा (यथा)—

स इति प्रसिद्धो दीव्यतीति देव अप्रतिहतक्रीडः परमशिवोऽनाद्यन्तो नित्य
विहरणशीलः । तदुक्तं योगवासिष्ठे ॥ ‘न देव पुण्डरीकाक्षो न च देवबल्लोचना-
व्याकारादिपरिच्छिन्ने मिते वस्तुनि तत्कुतः । अकृत्रिममनावन्त देवन देव उच्यते ॥’
इति प्रतिपादितलक्षणं. तुम्हा युष्मभ्य भक्त्या तोषितः सन् सुख निरतिशया-
नन्दचिन्मयास्वादलक्षणं ददातु । स कः । यस्य विष फण्डे कालकूटपानात् । यस्य
वासी दिक् । दिग्भ्रम इत्यर्थः । यस्य शीर्षे गङ्गा । गङ्गाधर इत्यर्थः । येन

हारतंगयोधरा करं राज्ञमुक्तकृत्येन संगतम् ।

मित्रती कनककुम्भस्य गुरुं कामिनीं कुर्वते रघोदता ॥

कामिनीयच्छेदयः स्पष्टः ॥ 'राक्षसेर्नरसंगे रघोदता' इति चन्द्रोदमध्वर्य राक्ष-
-सपक्षपरेर्नरसंगस्य पुण्यमी रघोदताद्वयः ॥

वया—

दीर्घबोधपुस्तकेष्वेव विष्णुपुस्तके रघिक्वरो व्यसक्तः ।

इत्थं सैव बुद्धिः पयोनिर्घेर्न वाचमकरोत्तरस्ती ॥

तद्वचनिका वया—५, १५, ॥५, ॥ ५, ५ ११×४=४४ ॥ वया वा
[नीमूख्ये]

रघिका रघिक्विलोडनस्थिता कुम्भेषु निनदै रघोदता ।

यामुनं तयनिकुम्भमम्भसा वा वयमं तल्लिलादृष्टिस्तदात् ॥

तद्वचनिका वया—५, १५, ॥५, ॥ ५, ११×४=४४ ॥ इति रघो-
-दता निवृत्ता ॥

अथ स्वागताद्वयः—

हारिणी कनककुम्भस्य पुण्यपुष्करपुगा वल्लवभीः ।

वर्षितादिपतिवक्त्रवद्वैः स्वागता इति कस्य न चेत् ॥

अथ च स्वमेवागता स्वागता पुण्यपुष्करपुगा वल्लवभीः ।
अस्य न मानस इत्येति च निः ॥ स्वागता एवमेवैवैव च' इति चन्द्रोदमध्वर्य
-रगकनगममस्तुवर्षिताद्वैः च स्वागता वल्लवभीः । वया—

पङ्क्तौ तयपि वाच्यते मयं चन्द्रमाः च च वयमन्वयित्वेऽमू ।

स्फुटलेखुद्वयपि विनोद मैव इत्येव इत्येव इत्येव ॥

तद्वचनिका वया—५, १, ५, ॥५, ॥ ५, ११×४=४४ ॥ वया
-वा [नीमूख्ये]—

यत्नं चेत्तसि वरा गुरवेरी वल्लवभीकनविलासविलोता ।

तत्त्व मूमममरातापमाका स्वगताद्वयः गुरवर्त्ता ॥

तद्वचनिका वया—५, १५, ॥५, ॥ ५, ११×४=४४ ॥ स्वागता
निवृत्ता ॥

अथानुकूलाद्वयः—'स्वायानुकूला मदनगगारपेश'

मगताद्वयममरातापमाका स्वगताद्वयः गुरवर्त्ता ॥

वया—

अथानुकूला गुरवर्त्ता गुरवर्त्ता गुरवर्त्ता गुरवर्त्ता ।

अथानुकूला गुरवर्त्ता गुरवर्त्ता गुरवर्त्ता गुरवर्त्ता ॥

मध्यलघुका गणा यत्रेतद्रूप लक्ष्मीधर इति शतव्यमिति नागराजः पिङ्गलो
भणति ॥ वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—‘द्वादशैर्वर्णैर्निर्मितं सततं तद्धि लक्ष्मीधर
वृत्तमाकीर्तितम् । दृश्यते यच्चतुर्जोहलैरङ्कितं पन्नगाधीशवाणीविनोदायितम् ॥’
चतुर्जोहलैश्चतुर्भा रङ्गैरित्यर्थः ॥ ग्रन्थान्तरे तु ‘स्रग्विणो’ इति नामान्तरम् ॥
अत एव छन्दोमञ्जर्याम्—‘कीर्तितैषा चतूरेफिका स्रग्विणी’ इत्युक्तम् ॥

१२६. लक्ष्मीधरमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वन्दी कर्णं स्तौति—येन कर्णेन मालवा देशविशेषा भञ्जिता आम-
रिताः, कानलाश्च देशविशेषा गञ्जिताः, कुक्कुटा अपि निर्जिताः, गुर्जरा
खण्डिताः, वङ्गा वङ्गदेशा भग्नाः, उत्कला मोटिताः, म्लेच्छाश्च कर्तिताः
लवशा खण्डिताः इत्यर्थः । अतः सर्वत्र कीर्तिः स्थापिता येन स वर्णो जयतीति
प्रगल्भयेन कर्त्रा सह सन्नध्यते ॥ उट्टवणिका यथा—S, l, SS, l, SS, l, SS, l,
S, १२×४=४८ ॥ यथा वा [शीभूषणे]—‘रासकेलोकलोत्लाससभावित
गोपसीमन्तिनीवृन्दसलालितम् । राधया गीतसमुग्धयालिङ्गित नौमि गोपालक देवकी-
चालवम् ॥’ स्रग्विणी निवृत्ता ॥

१३० अथ तोटकच्छन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र ध्रुव निश्चित चत्वारः सगणा गुर्वन्तगणाः पतन्ति गणेषु
षोडशमात्रासु विरामः कथितः । तथा पिङ्गलेन भणितमुचितं यत्तदिह लोके
छान्दसिकैस्तोटकमिति छन्दोवर रचितमिति ॥ भूषणेऽप्युक्तम्—‘विनिधेहि चतुः-
सगण रुचिर रविसख्यकवर्णकृत सुचिरम् । फणिनायकपिङ्गलसभणितं कुरु तोटकवृ-
त्तमिदं ललितम् ॥’ ‘वद तोटकमब्धिसकारयुतम्’ इत्यन्यत्रापि ॥

१३१. तोटकमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे गुर्जर गुर्जराधिपते, कुञ्जराण्यमी च त्यक्त्वा चल । अपसरेत्यं । हे वरं
वृथाप्रलापिन्, तव जीवनमद्य नास्ति । यदि कुप्यति कर्णनरेन्द्रः तदा रणे को हरिः
को वा हरः, को वज्रधरः । कुपितस्य तस्य पुरत एतै देवा अपि स्थातुमशक्ताः,
किमुत त्वम् । अतः सर्वमपि वस्तुजात विसृज्य महीमपि त्यक्त्वा पलायनमेवोचितं
मिति गुर्जरदेशाधिपतिं प्रत्यमात्यवचनम् ॥ उट्टवणिका यथा—llS, llS, llS, llS,
१२×४=४८ ॥ तोटक निवृत्तम् ॥

१३२. अथ सारङ्ग—

भो. शिष्या, यच्चतुस्तकारस्य तगणचतुष्टयस्य सम्यग्भेदेनोत्कृष्ट सारङ्गरूपक
तत्पिङ्गलेनैव दृष्टम्, यच्च पादेषु चरणेषु तृतीये वर्णे विश्रामस्युक्तं न ज्ञायते
कान्तिरस्य च्छन्दसोऽन्योन्यमारोहं प्रस्तारतीत्यर्थः ॥ भूषणे तु—कर्णं ध्वज

मागयन् रोषो हारा कृता । येन च गौरी पावतो अयाज्ञे पृथा । यत्र च यत्र
 यत्र गच्छन्ति च पूठम् । येन च वामा नदयो माक मायिष्ठे दया । अ
 एव तेन तेन कर्मणा मता कीर्तिर्येन तादृशो न मुक्तोऽस्तिषति । उद्भवन्ति
 यथा—५५, ५५, ५५, ५५, ५५ ५५, १२×४ ॥ विद्यापरो निवृत्तः ॥

१२५. अत्र मुक्तप्रयातं कन्द—

हे मुक्त्ये, यत्र यत्र अत्रिस्तुष्टिभ्याः प्रथमं मयति, तत्रयामरो गुप्त,
 एवं रूपकमेव रोषा संपूर्वचरणं स्वाप्यते । अत्रिस्तारमाह—यथा हारो मुक्ता
 हारचर्मिः सरो क्षियते तथा इवमपि मुक्तदेहम् । उद्भवन्तिस्तमीकृतं यत्र रौ
 विद्यातिरेताः कला कस्य तादृशं मुक्तप्रयातं अतुर्मिस्तुतिभिः किञ्चि
 कर्तव्यमित्यर्थः ॥

१२६ उक्तमेव प्रकाशन्तरेण गाथास्तुष्टा स्वकीकृत्याह—

यत्र प्रथमं अत्रिगद्य अत्रिद्विषुः पञ्चकलोऽर्थात् पञ्चचरकवारा पदे प्रथिता ।
 अथ च—यद्यस्य पञ्चकलत्वपदे विद्यति कलाः । एवंरूपं खेदचपरकेन
 अतुर्मिस्तुतिप्रत्येकं विद्यात्यधिकं विद्यती मायात्मा समस्तं संस्पृष्टं मयति
 विद्यतो मयति ॥ वलीभूतेऽमुक्तम्—यद्युक्तयो गन्धर्वकमेव मयेदुरक्तस्य
 चरं वृत्तमेतत् । मुक्तप्रयातं इतिविद्येतोर्मुक्तप्रविषयकत्वा संव्याह ॥

१२७ मुक्तप्रयातमुदाहरति—यथा (यथा)—

अथो हत्वाभवे । एवं कामराजस्य महानरपतेः सेना नागरी अतिकुशला ।
 राक्षस इति रोषा । यथा—इमे नागरी कर्षणभूमिपतेः सेनेव भाति । सेनास्वामी
 माह—एतस्याः पापं चरणे मझामचमातङ्गा स्थापिता । यकामनेति मावा ।
 अथ—एतस्याः कमावेऽगात्रे लीक्यव्याना स्थापिताः । तथैव च सुयोः समानं
 शुद्धं यथा स्थापितमिति ॥ उद्भवन्ति यथा—५५ ५५, ५५, ५५,
 १२×४=४८ ॥ यथा वा [वीभूषणे]—निचात्मा उमापूरकपूरितायां प्रवासी
 रहतस्तमीपं समुत्तर । अत्रमात्रमात्रोक्तं माग्यन्तरे वे तथा इतिमुक्तं तोषरयोः
 कृता स्यात् ॥ उद्भवन्तिअपि प्रकाशन्तरेण यथा—१, ५५, १, ५५, १, ५५, १, ५५,
 १२×४=४८ ॥ मुक्तप्रयातं निवृत्तम् ॥

१२८. अत्र लक्ष्मीचरकम्—

भोः शिष्याः यत्र प्रथमं हारो मुक्ता ततो गन्धो कपुः तदा कर्म विद्यापत्त्या,
 कृता पुनर्गन्धो लपुरेव त्वनन्तरं कर्म तदा यत्रो लपुः, तथा तो वक्षस्तगन्धो
 अत्यल्पमुगम इत्यर्थः ॥ ततोऽपि मुक्तमप्येति । एवं द्वाहचकर्णमङ्क पश्य । उक्त
 —तेजोचराजं त स्वीकरोति—वारीति । अतारो बोधा

मध्यलघुका गणा यवेतद्रूप लक्ष्मीधर इति शतव्यमिति नागराज पिङ्गलो
भणति ॥ वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—‘द्वादशैवर्गवैनिर्मित सतत तद्धि लक्ष्मीधर
वृत्तमाकीर्तितम् । दृश्यते यच्चतुर्जोहलैरङ्कित पन्नगाधीशवाणीविनोदायितम् ॥’
चतुर्जोहलैश्चतुर्भा रगर्णैरित्यर्थः ॥ ग्रन्थान्तरे तु ‘स्रग्विणो’ इति नामान्तर्गम् ॥
अत एव छन्दोमञ्जर्याम्—‘कीर्तिर्तेषा चतुरेफिका स्रग्विणी’ इत्युक्तम् ॥

१२६. लक्ष्मीधरमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वन्दी कर्णं स्तौति—येन कर्णेन मालवा देशविशेषा भञ्जिता आम्-
रिताः, कानलाश्च देशविशेषा गञ्जिताः, कुक्कुटा अपि निर्जिताः, गुर्जरा
लुण्ठिताः, वङ्गा वङ्गदेशा भग्नाः, उक्ता मोटिताः, भ्लेच्छाश्च फर्जिताः
लवशः खण्डिताः इत्यर्थः । अतः सर्वत्र कीर्तिः स्थापिता येन स यणो जयतीति
प्रगल्भस्येन कर्त्रा सह सगृह्यते ॥ उट्टवणिका यथा—५, १, ५५, १, ५५, १, ५५, १,
५, १२×४=४८ ॥ यथा वा [शीभूषणे]—‘रासरेलीकलोत्लाससभायित
गोपसीमन्तिनीवृन्दसलालितम् । राधया गीतसमुग्धयालिङ्गित नौमि गोपालक देवकी-
चालवम् ॥’ स्रग्विणी निवृत्ता ॥

१३०. अथ तोटकच्छन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र ध्रुव निश्चित चत्वारः सगणा गुर्वन्तगणाः पतन्ति गणेषु
पोडशमात्रासु विरामः कथितः । तथा पिङ्गलेन भाणितमुचित यत्तदिह लोके
छान्दसिकैस्तोटकमिति छन्दोवर रचितमिति ॥ भूषणेऽप्युक्तम्—‘विनिधेहि चतुः-
सगण रुचिर रविसख्यकर्णवृत्त सुचिरम् । फणिनायकपिङ्गलसभणित कुरु तोटकवृ-
त्तमिदं ललितम् ॥’ ‘वद तोटकमन्धिसकारयुतम्’ इत्यन्यत्रापि ॥

१३१. तोटकमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे गुर्जर गुर्जराधिपते, कुञ्जरात्महो च त्यक्त्वा चल । अपसरेत्यर्थः । हे वर
वृथाप्रलापिन्, तव जीवनमद्य नास्ति । यदि कुप्यति कर्णनरेन्द्रः तदा रणे को हरिः
को वा हरः, को वज्रधरः । कुपितस्य तस्य पुरत एते देवा अपि स्थातुमशक्ताः,
किमुत त्वम् । अतः सर्वमपि वातुजात विसृज्य महीमपि त्यक्त्वा पलायनमेवोचित
मिति गुर्जरदेशाधिपतिं प्रत्यमात्यवचनम् ॥ उट्टवणिका यथा—॥५, ॥५, ॥५, ॥५,
१२×४=४८ ॥ तोटक निवृत्तम् ॥

१३२. अथ सारङ्गः—

भोः शिष्या, यच्चतुस्तकारस्य तगणचतुष्टयस्य सप्त्यग्मेदेनोत्कृष्ट सारङ्गरूप
तत्पिङ्गलेनैव दृष्टम्, यच्च पाठेषु चरणेषु तृतीये वर्णे विश्रामसमुक्तं न जाय
कान्तिरस्य च्छन्दसोऽन्योन्यमतो न प्रस्ताररीत्येत्यर्थः ॥ भूषणे तु—कर्णं ॥

नागराद्य रोपो हारा कृताः । येन च गौरी पार्वती अथाह वृत्ता । मन्त्र च यो
 धर्म राक्षसिन च वृत्तम् । येन च नामा नक्षत्रो मातृ मातृतो हन्ता । अ
 एव तेन तेन कर्मण्य प्राप्ता श्रीतिर्येन तादृशो च मुक्तरोऽस्तिवति । अहवनिप्र
 यथा—३५, ३५, ५, ५, ३५ ३५, १९×४ ॥ विद्यापरो निवृत्त ॥

१२५. अथ मुक्तप्रयातं कृत्वा—

हे मुक्ते, नमः यो एव आदित्यमुज्ज्वलाः प्रथमं भवति तत्रागमरो गुण
 पदं रूपक्रमेण रोपा संपूर्णचरणः स्थाप्यते । अदिस्तारमाह—नमः हारो मुक्ता-
 हारपदार्थिः सति क्रियते, तथा इहमपि ह्युदवेदम् । अहवनिप्रयत्नीकृतं मन्त्रं यो
 विराटिरेखा कला कस्य तादृशं मुक्तप्रयातं चत्वारिंशद्व्योमि क्रिये
 कर्तव्यमित्यर्थः ॥

१२६. अहमेव प्रकाशान्तरेण गद्याकृतं वा व्यक्तीकृतं—

यत्र प्रथमं अहमेव आदित्यः पञ्चकलाऽर्थात् पञ्चकलात्पाराः पदे प्रक्षिप्ता ।
 अथ च—पञ्चकला पञ्चकलात्पदे विराटि कलाः । एवंत्वं चोदयत्वेन
 चतुरव्योमिमायेन विराट्पिका विराटी यावावा समस्त संख्या मन्त्राति
 विज्ञातो भवति ॥ वाक्मीभूतेऽप्युक्तम्—‘वशात्तयो गन्धर्व्येभ्यो मनेदुरव्यो
 चरं वृत्तमेव । मुक्तप्रयातं इतिप्रतिरेकमुक्तवाचिरावकला संख्यात् ॥

१२७. मुक्तप्रयातमुदाहरति—अथा (यथा)—

अथो हत्यामर्षे । इयं अमरावत्य मन्त्रमरपदे सेना नागरी अतिदुष्टता ।
 राक्षस इति रोपा । यथा—इने नागरी नक्षत्रं धूमिपदे सेनेन माति । सेनागामनी
 माह—एतस्या पाद चरये महामहमासङ्गा रक्षयिता । गन्धर्वमेति मन्त्र ।
 अथ—एतस्या अराधेऽग्राह्ये लीकवाचना स्थापिता । तथैव च मुक्तो समानं
 मुक्तं चतुः स्थापितमिति ॥ अहवनिप्र यथा—१५, ३५, ३५, ३५,
 १९×४=४८ ॥ यथा वा [वीभूते]—‘निशाचो समापूरसंप्रियावा प्रवाप्ती
 रक्षसस्तमीयं लमुक्ता । अहवनिप्रमास्तोच्य मामग्निके ते तथा इत्युक्तं सेनारयो
 कृता स्थात् ॥ अहवनिप्रपि प्रकाशान्तरेण यथा—१, ३५, १, ३५, १, ३५,
 १९×४=४८ ॥ मुक्तप्रयातं निवृत्तम् ॥

१२८. अथ लक्ष्मीचरकृतः—

मोः शिष्या नमः प्रथमे हारो मुक्ता कतो गन्धो लमुः, कता कर्मा विगुर्गर्वा,
 कता पुनर्गन्धो लमुरेव लनगर्गर् कर्मा, कता राक्षो लमुः तथा तो लक्ष्मीचरयो
 अहवनिप्रपि इत्यर्थः ॥ कतोऽपि लुक्कर्त्तव्यः । एते वाक्शक्त्यामर्षे पश्य, तत्र
 अहवनिप्रपि चरार्थेन स्थाप्यते—पारीति । अथाचो चोहा गन्ध राक्ष

मध्यलघुवा गणा यत्रेतद्रूप लक्ष्मीधर इति ज्ञातव्यमिति नागराजः पिङ्गलो
मणति ॥ वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—'द्वादशैवैर्णैर्निर्मितं सततं तद्धि लक्ष्मीधर
वृत्तमाकीर्तितम् । दृश्यते यच्चतुर्जोहलैरङ्कितं पन्नगाधीशवाणीविनोदयितम् ॥'
चतुर्जोहलैश्चतुर्भां रणैरित्यर्थः ॥ ग्रन्थान्तरे तु 'स्रग्विणी' इति नामान्तरम् ॥
अत एव छन्दोमञ्जर्याम्—'कीर्तितेषां चतुरेफिका स्रग्विणी' इत्युक्तम् ॥

१२६. लक्ष्मीधरमुदाहरति—जहा (यथा)—

वशिचद्वन्दी कर्णे स्तौति—येन कर्णेन मालवा देशविशेषा भञ्जिता आम-
रिताः, कानलाश्च देशविशेषा गञ्जिताः, कुक्कुटा अपि निर्जिताः, गुर्जरा
खुण्डिताः, वङ्गा वङ्गदेशा भग्नाः, उत्कला मोटिताः, म्लेच्छाश्च कर्तिताः
लवशः खण्डिताः इत्यर्थः । अतः सर्वत्र कीर्तिः स्थापिता येन स कर्णो जयतीति
प्रबन्धस्येन कर्त्रा सह सञ्चयते ॥ उट्टवणिका यथा—S, I, SS, I, SS, I, SS, I,
S, १२×४=४८ ॥ यथा वा [वाणीभूषणे]—'रासकेलीकलोत्लाससमावित
गोपसीमन्तिनीवृन्दसलालितम् । राधया गीतसमुग्धयालिङ्गित नौमि गोपालक देवकी-
चालत्रम् ॥' स्रग्विणी निवृत्ता ॥

१३० अथ तोटकच्छन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र ध्रुव निश्चित चत्वारः सगणा गुर्वन्तराणाः पतन्ति गणेषु
पोडशमात्रासु विरामः कथितः । तथा पिङ्गलेन भणितमुचितं यत्तदिह लोके
छान्दसिकैस्तोटकमिति छन्दोवर रचितमिति ॥ भूषणेऽप्युक्तम्—'विनिघेहि चतुः-
सगण रुचिर रविसख्यकर्णकृत सुचिरम् । फणिनायकपिङ्गलसमणित कुरु तोटकवृ-
त्तमिदं लालितम् ॥' 'वद तोटकमण्डिसकारयुतम्' इत्यन्यत्रापि ॥

१३१. तोटकमुदाहरति—जहा (यथा)—

हे गुर्जर गुर्जराधिपते, कुञ्जरान्महीं च त्यक्त्वा चल । अपसरेत्यर्थः । हे वरं
वृथाप्रलापिन्, तव जीवनमद्य नास्ति । यदि कुप्यति कर्णनरेन्द्रः तदा रणे को हरिः
को वा हरः, को वज्रधरः । कुपितस्य तस्य पुरत एते देवा अपि स्थातुमशक्ताः,
किमुत त्वम् । अतः सर्वमपि वातुजात विसृज्य महीमपि त्यक्त्वा पलायनमेवोचित
मिति गुर्जरदेशाधिपतिं प्रत्यमात्यवचनम् ॥ उट्टवणिका यथा—II, S, II, S, II, S,
१२×४=४८ ॥ तोटक निवृत्तम् ॥

१३२ अथ सारङ्गः—

भो शिष्या, यच्चतुस्तकारस्य तगणचतुष्टयस्य सम्यग्मेदेनोत्कृष्ट सारङ्गरूपक
तत्पिङ्गलेनैव दृष्टम्, यच्च पाठेषु चरणेषु तृतीये वर्णे विश्रामसमुक्तं न ज्ञायते
कान्तिरस्य च्छन्दसोऽन्योन्यभागेन प्रस्ताररीत्येत्यर्थः ॥ भूषणे तु—कर्णे ध्वज

बोद्धव्यं चामरं हि विद्धं छत्रात् तदा संविधेहि । अर्थात् तथा पिङ्गलाबीरवोप
 छत्रमेतच्छत्रहीरवेण ॥^१ अतुर्हीरवेण अतुर्मिस्तगर्हैरिष्यत् ॥ पञ्चकृतप्रत्यरे
 उत्तमोः पञ्चकृतस्य हीरकमिति संज्ञा, अतुर्हीरे तु तस्यैव तद्वर्णमुक्त
 एवार्थः इति ॥

१११ छत्रकमुदाहरति—अथा (यथा)—

रे इति साक्षेपं संबोधनम् । गोत्र गोत्रदेशाधीश, तत्र इतिमूत्रानि गद्यत्र
 इत्यानि पञ्चकृतं चर्चं विप्रनिबन्धः । यत् पादकमुदाहं पक्षिणां पञ्चकृ
 पत्राह्य प्रुप्यते । अथा इतिमूत्रविरोधं पदातिबहुतानीति । वस्तुतस्तु कर्त्तृ-
 शरावस्य शरावस्य वागमस्यस्यस्यैवामरे किं इतिमि, किं वा पक्षिमि, किं वा
 बीरवैरेण महातुमटकुवायेति ॥ उदाहरणं यथा—५५१, ५५१, ५५१, ५५१,
 $१२ \times ४ = ४८$ ॥ शरको निवृत्त ॥

११४ अथ मौक्तिकदामच्छत्रम्—

मोः शिष्याः, यत्र पदे चत्वारः पयोधरा जगन्त्र गुह्यमप्यमा गन्ताः प्रसिद्धा
 स्त्रत्र त्रिमिरिष्यत्रबोद्धव्यं । अर्थात् बोद्धव्यमात्राभिः पदं यत् तन्मौक्तिकदाम
 छन्दो भवति । अत्र च न पूर्वं शरो गुहा न चान्ये दीक्ष्य इति । अनुविमला
 संख्यामाह—पदपञ्चाशदधिकं शतद्वयं मात्राभ्यामिति ॥ अथमर्थाः—योद्धराचतुष्केन
 पञ्चपक्षिभिः, तत्र अतुर्मि उरिमौक्तिकदामोऽतिशयोक्त्यादिदमपि हृत्तं पद
 रक्षन्मिमिप्रापेन चतुःपञ्चाशदधिकं पदपञ्चाशदधिकं मात्राभिः
 मकरिति ॥ सूक्तोऽनुक्तम्—पयोधरमत्र चतुष्कमप्येहि कलाभरयो भिन्न योद्धरा
 वेहि । मुर्गपक्षैश्च वि मौक्तिकदाममुत्तमिर् शृणु मौक्तिकदाम ॥

११५ मौक्तिकदामोदाहरति—अथा (यथा)—

अस्मिन्प्रोक्तमर्द्धं वा सखीभाह—रे तकि अथो दुर्लभो भूतः प्राकृतपक्ष
 एव । अथो अने अनेऽप्यथो निरवाकः । एवं अल्पे प्राकृते पूर्वमिपत्तानिकमात्
 तारेणवीर्येण कुहुराणां ओष्ठिनां रणेन गुरग्लो वसन्ताः । अथवा—कुहुराणां
 कोष्ठिनां तारेणवीर्येण रणेन बुद्धोऽप्यो वस्य तादृशीऽर्धं वसन्ताः प्राप्ताः प्रमात्—
 अथ किं वा अस्मि निर्वाः मध्यान्वाभारकत्वात् । किं वा अस्मि वसन्ता एव
 निर्वाः व पत्तादृशीऽपि मधुतमने नाम्ना इति ॥ उदाहरणं यथा—१५१, १५१,
 १५ १५ १५ $१२ \times ४ = ४८$ ॥ यथा वा [श्रीमूत्रे] 'मय तत्र किञ्चिद्भारि
 क्वापि विलासिनि वाय्वमगुरमस्तापि । तत्रापि मनसा नारायणनाम भवामि कुतो
 मन्तीमयाप ॥ मौक्तिकदाम निवृत्तम् ॥

११६ अथ मोदकच्छत्रम्—

रे सुन्दे, मोदकच्छत्रो विपरीतं कृत्वा रथारथ मोदकमिति छन्दो नाम

हृद । अयमर्थः—‘चतुर्भिः सगणैरन्तगुरुकैर्गणैस्तोटकवृत्तं भवति । विपरीतमा-
दिगुरुकैश्चतुर्भिर्भगणैर्मोदकं कुरु’ इति । तदेव स्पष्टीकृत्याह—चत्वारो भगणा
आदिगुरुका गणाः सुप्रसिद्धा यत्र तन्मोदकमिति कीर्तिलुब्धः पिङ्गलो जल्पति ।
भूषणे तु—‘पादयुगं कुरु नूपुरसुन्दरमाशु करे कुसुमद्वयमाहर । सुन्दरि सर्वजनैक-
मनोहरमोदकवृत्तमिदं परिभावय ॥’

१३७. मोदकमुदाहरति—जहा (यथा)—

काचिद्योपितपतिका वर्षासमयेऽपि वल्लभमनागत मत्वातिखिन्नमानसा
प्रियसखीमाह—हे सखि, गर्जतु मेघः, श्यामलोऽम्बरे, नीपः कदम्बोऽपि पुष्पितो
भवतु । किञ्च भ्रमरोऽपि कूजतु । अस्माकं तु पराधीनः परायत्त एक एव जीवः
तस्मादेन किं प्रावृट् गृह्णातु, किं वा मन्मथो गृह्णातु, अथवा—उभयोर्मध्ये कोऽपि
कीलत कीलयतु । जङ्गीकरोत्वित्यर्थः ॥ उट्टवणिका यथा—ऽ॥, ऽ॥, ऽ॥, ऽ॥,
१२×४=४८ ॥ मोदकं निवृत्तम् ॥

१३८ अथ तरलनयनीच्छन्दः—

हे कमलमुखि, नगणाः सर्वलघुका गणाः, ताश्चतुर्गणान्कुरु । एव च द्वाद-
शापि वर्णोल्लघून्कुरु । प्रतिलोमगत्या प्रस्तारस्य यावत्सर्वगुरुर्भवति तावन्निर्वाह्य
तरलनयनीनामकमिदं वृत्तम् । ईदृशं सर्वलघ्वात्मकं द्वादशवर्णप्रस्तारान्त्य भव-
तीति सुकविः पिङ्गलो भणति ॥ वाणीभूषणे तु—‘दिनवरगणयुगमुपनय सकुसुम-
नगणमिह रचय । सुदति विमलतरफणिपतिनिगदिततरलनयनमिति ॥’

१३९. तरलनयनीमुदाहरति—जहा (यथा)—

फश्चिद्वक्तः शिवं प्रार्थयते—हे कमलवदन, हे त्रिनयन, हे हर, हे गिरिवर
शयन, हे विशालधर, हे शशधरतिलक, हे चन्द्रशेखर, हे गलगरल, मह्यमभिमतवरं
वितर । देहीत्यर्थः ॥ उट्टवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ॥, १२×४=४८ ॥
यथा वा [जीभूषणे]—‘अपहर पुरहर मम दरमभिनवकलियुगभयहर । दिमगिरि-
पिहितशयनवर सुकृतमुलमशशधर ॥’ तरलनयनी निवृत्ता ॥

१४०. अथ सुन्दरीच्छन्दः—

हे सुमुष्टि, यत्र पूर्वं नगणलिलध्वात्मको गण, ततश्चामरो गुरुः, तदनन्तरं
गन्धयुग लघुद्वयं श्याप्यते, ततश्चामरो गुरुः, ततश्च शल्ययुग लघुद्वयं यदि
समरति, ततश्चैको रगणो मध्यलघुको गण पादात्ते दृश्यते तस्य सुन्दरीनामकच्छन्दः
पिङ्गलेन लक्षितमिति ॥ भूषणे तु—‘कुसुमगन्धर्वैरतिभूषिता चरणगगतनूपुर-
नन्दिता । पद्मपङ्कजलसदृशवाचिता स्फुरति कस्य न चेत्तसि सुन्दरी ॥’ अथ च—
गच्छती सुन्दरी नापि कस्य चेत्तसि न स्फुरतीत्यर्थः ॥

१४९ सुन्दरीयुवाहरति—इहा (यथा)—

अरिचत्त्वमिदं प्रत्याह—श्रीयशो दक्षिणे मास्तो वहति, कोटिः त्रिकोऽपि
क्रमेण पश्येति । मधुकर भ्रमरा मधुपानेन बहुस्वराः उन्ते भ्रमन्ति । इत
एतादृशे वस्त्रे महोत्सवे आते सतीयं सुन्दरी भन्ता रसेपनिमित्तं संभ्रममासेमारा
हयस्तेति ॥ कटुवर्णिका यथा—॥१॥, ५ ॥, ५ ॥, ५५, १२×४=४८ ॥
यथा वा [श्रीभूषण]—‘अमुलमा चरदन्तुमुसी प्रिया मनसि कामविशेति
तमीहरो । मलयमावतपासितमास्तौपरिमलमयरो हयवधरो ।’ सुन्दरी निवृत्ता ॥

अथ द्वादशाक्षरप्रत्यार एव अनिचिद्वृत्तानि मन्वास्तदनुप्य लिखन्ते ।
तत्र प्रथमं प्रमिताक्षरचन्द्रः [बाणभूषणे]—

अस्तङ्गिराक्षरवत्तु चरता कनकवैद्यमलया शुभगा ।

वरवर्णिनी रविकलेष्वपद्य प्रमिताक्षरा विद्यते रनित्य ॥

रनित्यपद्ये—सुगमोऽयः । वृत्तपद्ये सगलकण्ठम्मा (सगलम्मा च) प्रमित्य
घरेति वसितोऽयं ॥ अत एव कृत्योमलयायी ‘प्रमिताक्षरा सवस्तेः वसिता’
इत्युच्यमिति ॥

यथा [बाणभूषणे]—

अमममवादिष नमो वसुधां वसुदेव्यामिव तमित्य विद्या ।

अमममही पश्युगप्रतिमा तिमिरावलीकवसिषे वगति ॥

अथ द्वाविंशक्षरयो पादास्तलपोर्विकल्पेन गुरुत्वमिति ॥

यथा वा—

अमृतस्य शीकरमिवोद्गिरती रश्मौषिकामुलहरीक्षुरिता ।

प्रमिताक्षरा मुररिपोर्मणितिर्यङ्गमुद्रामममिवहार मया ॥

प्रतिवृत्ततामुपगते हि विधौ विपलत्वमेति बहुलाचनेता ।

अन्यथाभनाथ विनमर्तुर्मन्य पतिष्वता वरदाक्षरमपि ॥’

इति मापकाभ्येऽपि ॥ कटुवर्णिका यथा ॥५॥, ॥५॥, ॥५॥, १२×४

=४८ ॥ प्रमिताक्षरा निवृत्ता ॥

अथ द्वाविंशक्षरं कृत्य—द्वतमिलमितमाह गमो मरो ।

नमो मयणमग्यो, अथ च मरो मगमरगने वन तद्वृत्तविलम्बितम् इति
रोपनागः विज्ञा आदेति ॥

यथा—

तरमिवापुलिने मयवसुकापीपरियय सद् भक्तिदुर्लभम् ।

द्वतमिलमितपादयितारिण इतिमर्द इत्येन तथा वदे ॥

यथा वा मातृकाव्ये षष्ठसर्गे—

‘नवपलाशपलाशवन पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।

मृदुलतान्तलतान्तमशोभयत्स सुरभि सुरभि सुमनोभरैः ॥’

इति ॥ उट्टवणिका यथा—III, SI, SI, SI, १२×४=४८ ॥

तविलम्बित निवृत्तम् ॥

अथ चन्द्रवर्त्मच्छन्दः—‘चन्द्रवर्म निगदन्ति रनभसैः’

रगणनगणभगणसगणैश्चन्द्रवर्त्मार्ण्यं वृत्तमाचार्या निगदन्तीति ॥

चन्द्रवर्मं पिहित घनतिमिरै रानवर्मं रहित जनगमनैः ।

इष्टवर्मं तदलंकुरु सरसे कुञ्जवर्त्मनि हरिस्तव कुतुकी ॥

उट्टवणिका यथा—SI, III, SI, SI, १२×४=४८ ॥ चन्द्रवर्मं

निवृत्तम् ॥

अथ वशस्थविल छन्दः—‘वदन्ति वशस्थविल जतौ जरौ’ ।

यत्र जतौ जगणतगणौ अथ च जरौ जगणरगणौ भवतः, तद्वंशस्थविल
वृत्तमित्याचार्या वदन्ति ॥ यथा—

विलासवंशस्थविल मुखानिलैः प्रपूर्य यः पञ्चमरागमुद्गिरन् ।

ब्रजाङ्गनानामपि गानशालिना जहार मान स हरिः पुनातु वः ॥

उट्टवणिका यथा—SI, SI, SI, SI, १२×४=४८ ॥ वशस्थविलं

निवृत्तम् ॥

अथेन्द्रवशाच्छन्दः—‘तच्चेन्द्रवशा प्रथमाक्षरे गुरौ’ ।

तद्वशस्थविलमेव प्रथमाक्षरे गुरौ सतीन्द्रवशाख्य तगणद्वयनगणरगणाभ्या
(ने) वृत्त भवतीति वेदितव्यम् ॥ अथ चैतयो वशस्थविलेन्द्रवशयोऽपजात-
यश्चतुर्दश भवन्तीति तदभेदाः सुधीभिः पूर्वप्रदर्शितप्रक्रियया स्तवनीया इत्युप-
दिश्यते । एते चोपजातिकृतचतुर्दशभेदाः प्रकृतप्रस्तारपिण्डसख्यातोऽधिका
वेदितव्या इति ॥

इन्द्रवशा यथा—

‘दैवेन्द्रवशाग्निरुद्रेर्णद्रीविति पीताम्बरोऽसौ जगतीतमोहरः ।

यस्मिन्नवात्तुः शलभा इव स्वयं ते कसचाणूरमुखा मखद्विपः ॥

उट्टवणिका यथा—SI, SI, SI, SI, १२×४=४८ ॥ इन्द्रवशा
निवृत्ता ॥

अथ वैश्यदेवीछन्दः—‘वाणाश्चैश्छिन्ना वैश्यदेवी ममौ यौ’ ।

यत्र ममौ मगणद्वयम्, अथ च यौ मगणद्वयम् च, यत्र वाणाः पञ्च अश्वाः
सप्त, छिन्ना जाननिधामा सा वैश्यदेवी तन्नामक वृत्त भवतीति ॥

वर्षा—

अर्धामग्येशं त्वं मिहायामराणमद्वैतं नैकं हृष्यमग्यर्ष्यं भक्त्या ।

तत्राशेषात्मन्यर्चिते भाविनी वै भवतु संपन्नाराधना यैश्चरेषी ॥

उद्घोषणा यथा—SSS, SSS, ISS, ISS, १९X४=४८॥ कैमरी

निष्पत्त्य ।।

अथ मन्दप्रियी कृत्वा—'ननररषयिता न मन्दाविष्टी' ।

वा नगण्यद्वयगण्ययथेत्या वा मन्वादिनी कृत्वापठ इतिमित्यर्थः ॥

अथ—

असिदमनविषौ बभौ उगता पदकशरहि यस्य मम्यश्रिणी ।

सुरनिदित्तिवाम्बुजसमिमा हरतु षण्दशं च पीत्यम्बरा ॥

‘अश्वनिविषं तप्य अमुकम्’ इत्यादि मारणौ । ‘अस्मिन्मिरमात्रे

पुष्पभिरा' इति माये ॥ उहृणक्तिर नवा—॥ ५१५ ५१५ १२×४=४८ ॥

मनुष्याभिन्नी निरुपा ॥

अथ कुतुम्बविधिवाक्यम्—‘नवतरितौ म्यौ कुतुम्बविधिना’

यत्र नयनमापतद्द्वितीयं स्यै नगनमगणायै मयता, उत्तुद्वमविश्वानामर्क
इत्तं मन्त्रीति ॥

सूचना—

विपिनविहारे कुसुमविनिता कुसुमिगोपी सिद्धिचरिणा ।

मुररिपुमूर्तिमुत्तरितवशा चिरमस्ताद्वारस्यवशा ॥

तद्वर्णनं यथा—॥ १२५, ॥ १२५, १९×४=४८८ ॥ कुटुम्बविधिना

निष्पत्त्य ॥

अथ सामरस्यम्— इह नष्टं सामरस्यं नमस्मा नमः ।

हे श्वशुरे, त्वं नृगण्यकालकल्पनां, ज्ञानं च यो पश्यत्येवमिदं, तदा
सामरस्यार्थं हृत्तं भवति ॥

594

सुखसुयमा भक्त्युत्पन्नोऽहं भक्त्युत्पन्नानभ्यासिनिपीतम् ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥

छट्ठसिद्धि यथा—॥३॥, ॥४॥, ॥५॥, ॥६॥, १९×४=७६ ॥ चामरत्न

निष्पत्तम् ॥

अथ माहटीकम्—‘भवति मन्त्राय माहटी करो’ ।

अथ मन्त्रो नगवसमन्त्रो, अथ च करो नगवसमन्त्रो भक्त्यो वा मन्त्रोऽपि ॥

यथा—

इह कलयान्युत केलिकानने मधुरसौरमसारलोलुपः ।

कुसुमकृतस्मितचारुविभ्रमामलिरपि चुम्बति मालतीं मुहुः ॥

कुत्रचिदियमेव 'यमुना' इति ॥ 'अपि विजहीहि दृढोपगूहनम्' इति

भारवौ ॥ उट्टवणिका यथा III, ISI, ISI, SISI, $१२ \times ४ = ४८$ ॥ मालती निवृत्ता ॥

अथ मणिमालालुन्दः—'त्यौ त्यौ मणिमाला छिन्ना गुहवक्त्रैः'

यत्र प्रथमं त्यौ तगणयगणौ, अथ च त्यौ तगणयगणावेव भवतः सा गुहवक्त्रैः षडाननाननैश्छिन्ना जातविश्रामा मणिमाला तन्नामकं वृत्तमित्यर्थः ॥

यथा—

प्रहामरमौलौ रत्नोपलयुक्ते जातप्रतिविम्बा शोणा मणिमाला ।

गोविन्दपदाब्जे राज्ञी नखराणामास्ते मम चित्ते ध्वान्त शमयन्ती ॥

उट्टवणिका यथा—SSI, ISS, SSI, ISS, $१२ \times ४ = ४८$ ॥ मणिमाला निवृत्ता ॥

अथ जलधरमालालुन्दः—'म्भौ स्तौ गौचे जलधरमालाब्ध्यङ्गैः'

यत्र प्रथमं म्भौ मगणभगणौ, अथ च स्तौ सगणगुरु भवतः, ततश्च गौ गुरुद्वय चेद्भवति । किं च—अब्ध्यङ्गत्वारः, अङ्गान्यङ्गौ, अष्टाङ्गयोगाभिप्रायेण, तैः कृतविरतिः, तदा जलधरमाला तन्नामकं वृत्तमित्यर्थः ॥

यथा—

या भक्ताना कलिदुरितोत्तप्ताना तापोन्वित्यै जलधरमाला नव्या ।

भव्याकारा दिनकरपुत्रीकूले केलीलौला हरितनुरव्यात्सा वः ॥

उट्टवणिका यथा—SSS, SII, IIS, S, SS, $१२ + ४ = ४८$ ॥ अत्रापि प्रस्तारगत्या द्वादशाक्षर प्रस्तारस्य षण्णवत्यधिक सहस्रचतुष्टय भेदा भवन्ति तेषु कियन्तः प्रदर्शिताः ।

१४२. अथ त्रयोदशाक्षरप्रस्तारे मायानामक लुन्दो लक्ष्यते—

हे मुग्धे, ज यत्र प्रथमं कण्ठा दुण्ठा द्वौ वर्णौ गुरुद्वयात्मकौ गणौ भवतः, ततश्चामरो गुरुरेव, तदनन्तरं शल्ययुगं लघुद्वयमित्यर्थः । ततोऽपि वीहा दीहा गुरुद्वयम्, ततोऽपि गन्धयुगं लघुद्वयं प्रकटितम् । अन्ते एतदन्तै चामरो गुरुः, हारोऽपि गुरुरेव भवति । शिष्यबोधनार्थं पदपूरणार्थं वा चरणे मात्रानियममाह— शुभकाया शुद्धशरीरा द्वाविंशतिर्मात्रा गुणयुक्ता यत्र त ता माया मायानामक वृत्त भण पठेत्यर्थः ॥ वाणीभूषणे तु—'कृत्वा कर्णा कुण्डलयुक्तौ कुरु रत्न धृत्वा पाद

मृपुरसुक्तं कुरु शारम् । मायावृत्तं पिङ्गलनागोदितमेतज्जानीतादः पञ्चितस्रशानु-
कारम् ॥ वसिष्ठाः 'पद्मस्रमयूरा' इति नामान्तरम् ॥

१४१ मायामुद्राहरति—बद्धा (यथा)—

अभित्वयमतिनिर्दिष्टः स्वभिन्नमुपश्रिति—हे कवस्य, एतद्विषयं शरीरं
परम एव एतन् व्याप्य कलत्रं, विचं वर्त, युवास्तनवा, सोऽयं भ्रातरः
भिन्नमित्येतानि स्यान्ति माया । हे कर्षर, किंनिमित्तमात्मारवति माम् । मम
कारणादेर्वा पुष्टा कीर्तिं कुरु यदि मुञ्चे स्यनासि ॥ उद्भविका ववा—५५, ५५,
५, ॥ ५५, ॥, ५५ १० × ४ = ५२ ॥ यथा वा [नीमूले]—‘उद्यद्वावा वपति
यथा मधुमाते शब्दे संवैतं मति याता किमुदास्ते । वेति कुलं शब्दमेव
यत्वा प्राणत्राणं मधि कथं वा वदवत्याः ॥ ‘हा व्यतेति अस्तिमात्रं
विशेषः इत्यादि रघो ॥ माया निवृत्त्य ॥

१४४ अथ वारकण्ड्याः—

इति तस्मिन्, रक्षापवित्रा आदौ लघुह्रस्व उत्तं पादे यत्र शुक्रशब्दौ, गुहा भवत्
लघुह्रस्वमित्यर्थः । पुनरपि शुक्रशब्दौ, उत्थेऽपि ये क्त्वं पूर्वं शुक्रशब्दद्वयमुक्तम्,
तदेवामे दैवमिति ॥ पञ्चान्ते च शुक्रशब्दौ क्तिन्ते उत्थन्तेनाम तारकमिति भवत्येव ।
लगात्तद्व्युत्पत्तेनास्तु शुक्रशब्दौ तारकमिति परितोऽर्थः । तत्र च सूत्रे—'यदि
सोऽप्युत्पत्तेः शुक्रशब्दौ भवतीह तथा क्तिन् तारकमुक्तम् । अत्रिनामकपि त्रयस्यमित्य-
मेवहरपि त्रयस्यमित्येव क्तिन् तारकमुक्तम् ॥

१४५. तारकमुद्राहरति—व्या (वया)—

[illegible]

१४६ अथ कल्पवृक्षा—

श्रीः शिष्याः, यत्र यत्रम् अत्र अत्रित्युक्तिः कलाः किन्तु, तत्तत्प्रमादि
गुणविकल्पाः ततो हारो गुणः पुनरपि त्वमादिगुणविकल्प एव ततो हारो गुणः
पुनरपि गुणरेव, तथा शब्दो लक्ष्यः, ततोऽप्येकव्यवहारसंग्रह इत्यर्थः ॥ एवं परं
एवविशेषाः कला एव तत् मागेन विज्ञानेन कम्प इति सुशोनाम व्यस्तम् ।

समुदितमात्रासख्यामाह—सर्वपादे [न] पादचतुष्टये [न] चतुरधिका असीतिः कलाः भवन्तीति ॥ भूषणे तु—‘ध्वज चामर मण्डित गन्धहारेण मृगेन्द्रद्वय चापि युक्त समुद्रेण । तदा भाविभोगीन्द्रवस्त्राब्जगीतेन जनानन्दकन्देन वृत्तेन कन्देन ॥’

१४७ कन्दमुदाहरति—जहा (यथा)—

रे कस, अह एकः चञ्चलः बाल इति मा जानीहि । अह तु देवकीपुत्रस्तव वशकाल इति बुध्यस्व । जनानन्दकन्देन देवकीनन्देन तथा गृहीत. कंसो यथा हत एव दृष्टो निजनारीवृन्देनेति ॥ उट्टवणिका यथा 1S, S', S, S1, S, S, 1, SS1, १३×४=५२ ॥ यथा वा [णीभूषणे]—‘हत ते मनो नन्दगोपालशलेन नवीनाम्बुवाहावलीचारुदेहेन । सुधावीचिसत्राधविम्बाधराग्रेण स्फुरद्दृशोमाल-सत्कान्तिपूरेण ॥’ कन्दो निवृत्तः ॥

१४८ अथ पङ्कावलीछन्दः—

हे मुग्धे, यत्र प्रथम चामरो गुरुः, ततः पापगणः पञ्चमूलः सर्वलघुको गणः ध्रुव निश्चितम्, ततः शल्यो लघु ततः पश्चाच्चरणगणजुष्ट भगणद्वय स्थापय । एव च षोडशकला पदे पदे जायन्ते यत्र तत् पङ्कावली छन्द इति पिङ्गलः प्रमणति ॥ वाणीभूषणे तु—‘पादे कुसुमरसगन्धमत शरगण्डकयुगल-करूपमुपाहर । नागनृपतिवरभाषितमुद्युति वृत्तममलमिह पङ्कावलिरिति ॥

१६४. पङ्कावलिमुदाहरति—जहा (यथा)

स एव जगति जातः, स एव गुणवान्, यः करोति परोपकार इव सन्नायासेन । यः पुनः परोपकार विरुध्यते तस्य जननी किमिति बन्धैव न तिष्ठति । यथा वा [णीभूषणे]—‘शारदविशदनिशामपि निन्दति सप्रति हृदयमिदामनुविन्दति । मन्मथविशिलभयेन निमीलति माधव तव विरहेण विषीदति ॥’ उट्टवणिका यथा—S, 1111, 1, S11, S11, १३×४=५२ ॥ पङ्कावली निवृत्ता ॥

अथ त्रयोदशाक्षरे प्रस्तार एव कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते ।

तत्र प्रथम मृगेन्द्रमुख छन्द —‘भवति मृगेन्द्रमुख नजौ जरौ ग.’

यत्र नजौ नगणनगणौ, अथ च जरौ जगणरगणौ भवतः, ततो गो गुरुभवंति तन्मृगेन्द्रमुख छन्द ॥ यथा—

गुरुमुजवीर्यभर हरि मदान्धा

युधि समुपेत्य न दानवा जिजीवुः ।

लुधितमृगेन्द्रमुख मृगा उपेत्य

क्व मु खलु विप्रति जीवनस्य योगम् ॥

मृत्पुस्तकं कुरु दारम् । भाषावृत्तं विद्वत्तनागोदितमेतज्जानीताद् पण्डितपत्रामु-
द्यम् ॥ कश्चिदस्याः 'पद्मचमपूरः' इति नामान्तरम् ॥

१४३ मायामुदाहरति—अथा (यथा)—

कश्चित्स्वपमतिनिर्णिक्तः स्वमित्रमुपदिशति—हे कव्यम्, एतद्विचरं शरीरं
पश्य एवं दृढं चाप्य क्लृप्तं, किञ्च भवेत् पुत्राकानया, तोदय भ्रातरः,
मित्रमिदमेतानि सर्वाणि मया । हे कवर, किंनिमित्तमाश्चर्यमिति माम् । अह-
कारत्वादेर्वा पुच्छा श्रीति कुरु यदि सुखे जायते ॥ उद्धवविभ्र यथा—५५, ५५,
५ ॥, ५५, ॥ ५५ १४ × ४ = ५९ ॥ यथा वा [नीमूयम्]—'उद्धवाचा तं प्रति
यथा मधुमासे शङ्खे संकेतं प्रति यथा किमुद्यत्से । केसिकुलं शून्यमेवम-
द्यत्सा प्रापन्नामे मन्वि कथं वा वदतास्याः ॥ 'हा कृत्येति अन्वितामकर्म
वित्पन्ना' इत्यादि रथो ॥ मया निवृत्त ॥

१४४ अथ तारकमुदाहरति—

हे सति रथापवित्रा आरौ लघुद्वयं, तदा पदे वयं गुरुद्वयो गुरु भव च
लघुद्वयमित्त्वर्थः । पुनरपि गुरुद्वयो, ततोऽपि वे एतं पूव गुरुद्वयद्वयमुक्तम्,
पदेवाप्रे देवमिति ॥ पदान्ते च गुरुद्वयं किमपि लघुद्वयोनाम तारकमिति भव्यते ।
लघुचतुष्टयेनात्तगुरुद्वयं तारकमिति प्रसिद्धोऽर्थः । यथा च मूलम्—'अदि
द्योतकहृत्पदे गुरवेत्ये मन्वीह तदा किञ्च तारकहृत्तम् । अविनामप्रविष्टवर्गित-
मेतद्वरपण्डितमन्वलिनाद्वयवित्तम् ॥

१४५ तारकमुदाहरति—अथा (यथा)—

हे सति, अतद्वयौ नवमहारी पृथिव्या । किं च (मन्वीहै पूर्वनिपात्यनि-
मात्) नवकिंशुकवनमतिमुत्तरं यथा मन्वति तथा वरिपुष्टितम् । यदि तस्मिन्
मने कस्यो दिगन्तरं व्यत्यति तथा किं मन्मथो नास्ति किं च वक्तव्य एव नास्ति,
इति सर्वा प्रति नायिकवचनम् ॥ उद्धवविभ्र यथा—॥ ५, ॥ ५, ॥ ५, ॥, ५,
५, १४ × ४ = ५९ ॥ यथा वा वा [नीमूयम्]—'अतिमात्तरं इदि चन्दनपट्टे
मनुते तस्मिन्मन् विषयद्वयम् । तत्र सुस्तराविविधो गपयोर्नेहि पारमसी मन्विता
परमाधोः ॥ 'तारको निवृत्त ॥

१४६ अथ कव्यमुदाहरति—

भोः शिष्या, वयं प्रकृतं वयं अविश्वप्रविश्वतः किमपि, एतत्तुमादि
गुरुविक्रमाः ततो शरीरे गुरुः, पुनरपि दुर्मन्विगुरुविक्रमा एव ततो शरीरे गुरु
पुनरपि गुरवेव ततो शरीरे लघुः, ततोऽप्येकलकारस्तमव इत्ययः ॥ एवं पदे
एवविश्वतः कृता एव तत् मार्गेन विद्वत्तनैव कव्य इति लघुनोनाम व्युत्पत्तम् ।

यत्र सगणजगणसगणा, अथ च जगौ जगणगुरु भवतः, तन्मञ्जुभाषिणीछन्दः
इति । इयमेव सुनन्दिनीति शंभौ ॥

यथा—

अमृतोर्मिशीतलकरेण लालय—
स्तनुकान्तिचोरित विलोचनो हरेः ।
नियत कलानिधिरसीति वल्लवी
मुदमच्युते व्यधित मञ्जुभाषिणी ॥

उट्टवणिका यथा—॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ५, १३×४=५२,
मञ्जुभाषिणी निवृत्ता ॥

अथ चन्द्रिका छन्दः—‘ननततगुरुमिश्रचन्द्रिका चतुर्भिः’
नगणद्वयतगणयुगलगुरुभिश्चन्द्रिका सप्तपट् विरचितविरतिर्भवतीति ॥
यथा—

शरदमृतवृक्षश्चन्द्रिकाक्षालिते दिनकरतनयातीरदेशे हरिः ।
विहरति रमसाद्वल्लवीभिः सम त्रिदिवयुवतिभिः कोऽपि देवो यथा ॥
यथा वा—

‘इह दुरधिगमैः किञ्चिदेवागमैः’
सततमसुतर वणयन्त्यन्तरम् ।
असुमतिविपिन वेद दिग्व्यापिन
पुरुषमिव पर पद्मयोनिः परम् ॥’

इति भारवौ ॥ क्वचिदियमेव ‘उत्पलिनी’ । उट्टवणिका यथा—॥॥, ॥॥, ५५॥,
५५॥, ५, १३×४=५२ ॥ चन्द्रिका निवृत्ता ॥

अथ कलहसछन्दः—‘सजसाः सगौ च कथितः कलहसः’
सगणजगणसगणा यत्र सगणगुरु च, स कथितः कलहसः ॥ कुत्रचिदयमेव
‘सिहनादः’ इति ॥

यथा—

यमुनाविहारकुतुके कलहसो व्रजकामिनीकमलिनीकृतवेलिः ।
जनचित्तहारिक्लकण्ठनिनाद प्रमद तनोतु तव नन्दतनूजः ॥
उट्टवणिका यथा—॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ५, १३×४=५२ ॥ कलहसो
निवृत्तः ॥

अथ प्रबोधिता छन्दः—‘सजसाजगौ च भवति प्रबोधिता’

सगणजगणसगणा, अथ च जगौ जगणगुरु यत्र भवतः, तत्प्रबोधिताछन्दः ॥

१५३. चक्रपदमुदाहरति—जहा (यथा)—

प्राकृते पूर्वनिपातानियमात्त्वञ्जनोपमनयनयुगलेन वरात्युत्कृष्टा चारुक्कनकलता-
सुपमासुजयुगा । अथ वा—सुजयुगे चारुक्कनकलतायाः सुपमा यस्याः । अथ च—
फुल्लकमलमुखी गजवरगमना मत्तगजराजगामिनी रमणी विधिना कस्य सुकृतफल
सृष्टा ॥ उट्टवणिश यथा—SS, ||||, ||||, ||S, १४×४=५६ ॥ यथा वा
[णीभूषणे]—‘सुन्दरि नभसि जलदचयरुचिरे देहि नयनयुगमतिघनचिकुरे ।
मानमिह न कुरु जलधरसमये किं तव भवति हृदयमिदमदये ॥’ चक्रपदं
निवृत्तम् ॥

अथ चतुर्दशाक्षरप्रस्तार एव कानिचिद्वृत्तानि लिख्यन्ते ।

तत्र प्रथमं वासन्ती छन्दः—‘मस्तो मो मो गौ यटि गटिता वासन्तीयम्’ ।

मगणतगणनगणमगणैर्गुरुद्वयेन च वासन्तीछन्दः ॥

यथा—

आम्यद्भृङ्गीनिर्मरमधुरालापोद्रीतैः

श्रीखण्डाद्रेरदमुतपवनैर्मन्दान्दोला ।

लीलालोला पल्लवविलसदस्तोल्लासैः

कसारतौ नृत्यति सदृशी वासन्तीयम् ॥

उट्टवणिका यथा—SSS, SS, ||, SSS, SS, १४×४=५६ ॥

अथासत्राधाछन्दः—‘मो गो गो नौ मः शरनवभिरसवावा’ ।

यत्र पूर्वं मगणस्ततो गुरुद्वयम् ततश्च नौ नगणद्वयम्, अनन्तरं मगणो भवति,
शरः पञ्च, तेन पञ्चभिर्नौवमिश्च यत्र विरतिर्भवति तदसत्राधाछन्दः ॥

यथा—

‘वीर्याग्नौ येन ज्वलति श्रितिरसाक्षिते

दैत्येन्द्रे जाता धरणिरियमसत्राधा ।

धर्मस्थित्यर्थं प्रकटितनुरम्यर्थः

साधूना बाधा प्रशमयतु कसारि ॥’

उट्टवणिका यथा—SSS, SS, ||, ||, SSS, १४×४=५६ ॥ असत्राधा
निवृत्ता ॥

अथापराजिता छन्दः—‘ननरसलघुगै स्वरैरपराजिता’ ।

नगणद्वयगतगणसगणलघुगुरुभि स्वरैः सतमि कृतविश्रामापराजिता ॥

यथा—

‘यदनवधिमुजप्रतापकृतास्वरा

यदुनिचयचमूः परैरपराजिता ।

क्या—

शक्तिरा मृगा षट्सप्तमाननिद्रया रतिरेक्षिकुञ्जनिष्ठये विहासिनी ।

पुरनैरिणा बद्धमनादिना शिवमावहान एषदि प्रकीर्त्त ॥

उद्दिष्टानि यथा—॥५, १५॥ ५, १५, ५, १५ × ४ = ६२॥ प्रवेष्टित
निष्ठा ॥

अनापि मस्तारगत्वा त्रयोदशारत्न दिनवस्तुचरसप्तमौ हस्तार्चनं च
मेदाः । तेषु विष्णो मेदा उक्ताः । शेषमेदाः कुशीमा प्रक्षार्यं चरत्तुष्टिते च
पक्नीया इति ॥

१५. अप चतुर्थाक्षरमस्यारे वसन्त्यपि स्य ह्रस्वः—

श्रीः शिष्याः, यत्र प्रथमो गणः कर्म-फलं वक्ष्यो मत्पुत्रो यो यो
द्वितीयः, तत्पुत्रः सगणः, पुनरग्रे सगण एव, तच्च वादे यत्र आरिभ्यो-
गम्येयम् । एवं यत्र चतुर्गणः पदं मयि सा पश्चिमेष्ट्या वसतिस्तत्रैव
तां क्षेत्रं विदग्धाः सुरक्षां मुच्यन्ति वदन्तीति ॥ कुत्रचिदपि विदग्धाः ॥
वापीभूषो ह प्रकाशमरेजोत्तम—‘कर्मसुखस्य कर्मसुखस्य मयि ना मया विदग्धा
वसन्ति गतपुराणी । गन्धर्विणा सुरक्षां वसन्ति वदन्तीति
मदमाप्नोति ॥ वातापते स्तोत्रम् ॥

१५१ बसन्तदिलसमुवावरति—व्या (यश)—

[illegible]

२५२ अथ साङ्ख्यसंस्कृतः—

हे सुखे, नमः सुखे आशी चरमगो मगले गुर्वारिगले यम पति ठल
 संसाय पुनरपि द्विजगमगुगलं चतुर्भुजगमगमम् ठल यम चरलं तगले
 गुर्वारिगले यमैकं पदे पदे प्रतिचरलं जगता, लम्पकपदं वृष्टमिति कलिपतिर्ममतीति
 लं संमरोति ॥ भूपये ह मकारयत्तरेण लक्ष्यं लक्षितम्— कुण्डलनसितनगममिह
 दु(१) तयं गन्धकुसुमरत्नविभूषितनगम् । चक्रमुरगपतिवरपरिगणितं योदशक
 लमसिद्धलक्षितमपि ॥ जगद्वरपते च गुणद्वयम् मये दादशकभुक्तिं निवृत्तं
 नमस्तस्मै ॥ योदशकभरणी यमेति कसितोऽर्थः ॥

१५३. चक्रपदमुदाहरति—जहा (यथा)—

प्राकृते पूर्वनिपातानियमालम्बनोपमनयनयुगलेन वगत्युत्कृष्टा चान्दकनकलता-
मुपमासुजयुगा । अथ वा—सुजयुगे चान्दकनकलतायाः । उपमा यस्याः । अथ च—
कुल्लकमलमुखी राजवरगमना मत्तगजराजगामिनी रमणी विधिना कस्य सुकृतान्ता-
सृष्टा ॥ उट्टवणिका यथा—SSII, IIII, IIII, IISS, १४×४=५६ ॥ यथा वा
[णीभूषणे]—‘सुन्दरि नभसि जलदचयस्त्रिरे देहि नयनयुगमतिघनचिकुरे ।
मानमिह न कुरु जलधरसमये किं तत्र भवति हृदयमिदमदये ॥’ चक्रपदं
निवृत्तम् ॥

अथ चतुर्दशान्तरप्रस्तार एव कानिचिद्वृत्तानि लिख्यन्ते ।

तत्र प्रथम वासन्ती छन्दः—‘मस्तो मो मो गौ यदि गटिता वासन्तीयम्’ ।

मगणतगणनगणमगणैर्गुरुद्वयेन च वासन्तीछन्दः ॥

यथा—

‘आभ्यद्भृङ्गीनिर्भरमधुरालापोद्गतैः

श्रीखण्डाद्रेरदुसुतपवनैर्मन्दान्दोला ।

लीलालोला पल्लवविलसदस्तोल्लासैः

कसारातौ नृत्यनि सदृशो वासन्तीयम् ॥

उट्टवणिका यथा—SSS, SSI, III, SSS, SS, १४×४=५६ ॥

अथासवाधाछन्दः—‘मो गो गो नौ मः शरनवभिरसवाधा’ ।

यत्र पूर्वं मगणस्ततो गुरुद्वयम् ततश्च नौ नगणद्वयम्, अनन्तर मगणो भवति,
शरः पञ्च, तैन पञ्चमिर्नौमिश्च यत्र विरतिर्भवति तदसवाधाछन्दः ॥

यथा—

‘वीर्याग्नी येन ज्वलति अतिरसाक्षिते

दैत्येन्द्रे जाता धरणिरियमसवाधा ।

धर्मस्थित्यर्थं प्रकटिततनुरम्यर्थः

साधूना वाधा प्रशमयतु कंसारि ॥’

उट्टवणिका यथा—SSS, SS, III, III, SSS, १४×४=५६ ॥ असवाधा,
निवृत्ता ॥

अथापराजिता छन्दः—‘ननरसलघुमै स्वरैरपराजिता’ ।

नगणद्वयान्तरगणसगणलघुगुरुभिः स्वरैः सप्तभिः कृतविश्रामापराजिता ॥

यथा—

‘दनवधिसुजप्रतापकृतास्पदा

यदुनिचयचमूः परैरपराजिता ।

१५३. चक्रपदमुदाहरति—जहा (यथा)—

प्राकृते पूर्वनिपातानियमात्खञ्जनोपमनयनयुगलेन वरात्युत्कृष्टा चारुकनकलता-
नुपमाभुजयुगा । अथ वा—भुजयुगे चारुकनकलतायाः सुपमा यस्याः । अथ च—
कुल्लकमलमुखी गजवरगमना मत्तगजराजगामिनी रमणी विधिना कृत्य मुकृतफल
सृष्टा ॥ उट्टवणिका यथा—SSI, II, III, III, II, १४×४=५६ ॥ यथा वा
[गीभूषणे]—‘सुन्दरि नभसि जलदचयचिरे देहि नयनयुगमतिघनचिकुरे ।
मानमिह न कुरु जलधरसमये किं तप भवति हृदयमिदमदये ॥’ चक्रपदं
निवृत्तम् ॥

अथ चतुर्दशाक्षरप्रस्तार एव कानिचिद्वृत्तानि लिख्यन्ते ।

तत्र प्रथम वासन्ती छन्दः—‘मस्तो मो मो गौ यदि गदिता वासन्तीयम्’ ।

मगणतगणनगणमगणैर्गुरुद्वयेन च वासन्तीछन्दः ॥

यथा—

आभ्यद्भृङ्गीनिर्मरमधुरालापोद्गीतैः

श्रीखण्डाद्रेरद्भुतपवनैर्मन्दान्दोला ।

लीलालोला पल्लवविलसद्वस्तोल्लासैः

कसारातौ नृत्यति सदृशी वासन्तीयम् ॥

उट्टवणिका यथा—SSS, SSI, III, SSS, SS, १४×४=५६ ॥

अथासवाधाछन्दः—‘मो गो गो नौ मः शरनवभिरसवाधा’ ।

यत्र पूर्वं मगणस्ततो गुरुद्वयम् ततश्च नौ नगणद्वयम्, अनन्तर मगणो भवति,
शरः पञ्च, तेन पञ्चभिर्नैवमिश्र यत्र विरतिर्भवति तदसवाधाछन्दः ॥

यथा—

‘वीर्याग्नौ येन ज्वलति रतिरसाक्षिणे

दैत्येन्द्रे जाता वरणिरियमसवाधा ।

धर्मस्थित्यर्थं प्रकटिततनुरभ्यर्थः

साधूना बाधा प्रशमयतु कसारि ॥’

उट्टवणिका यथा—SSS, SS, III, III, SSS, १४×४=५६ ॥ असंवाधा,
निवृत्ता ॥

अयापराजिता छन्दः—‘ननरसलघुगै स्वरैरपराजिता’ ।

नगणदुगलरगणसगणलघुगुरुभिः स्वरैः सप्तभिः कृतविश्रामापराजिता ॥

यथा—

‘यदनवधिभुजप्रतापकृतास्पदा

यदुनिचयचमूः पदैरपराजिता ।

सट्टवणिका यथा—III, III, SSI, SSI, S, S, $१४ \times ४ = ५६$ ॥ नान्दी-
खी निवृत्ता ॥ अत्रापि प्रस्तारगत्या चतुर्दशाक्षरस्य चतुरशीत्यधिनानि
अशतानि षोडशसहस्राणि च भेदानाम् । तेषु कियन्तो भेदाः प्रदर्शिताः ।
तेषु भेदाः सुधीभिराकरतः स्वमत्या वा प्रतार्य स्वयमूहनीया इति दिक् ॥

१५४. अथ पञ्चदशाक्षरप्रस्तारे भ्रमरावली छन्दो लक्ष्यते—

भोः शिष्याः, यत्र करैः पञ्चभिः सगणैर्गुर्वन्तरगणैर्विशेषेण लब्धं वरं रचनं यत्र
तत् मनोहरं छन्दस्सु [उत्तम] रत्नमाचार्याः प्रमणन्ति । अथ च—यत्र गुरवः
पञ्च, लघवो दश, तदेतादृशं छन्दो भ्रमरावलीति रचितं पिङ्गलेन प्रसिद्धं कृत्वा
स्थापितम् । इदानींतनैराचार्यैरिति ॥ वाणीभूषणे तु—‘भुजसगतशङ्खयुगा वलया-
कलिता करपुष्पसुगन्धवती रसना रुचिरा । कनकद्वयनूपुरचारुतरा जयति भ्रमरा-
वलीका भुजगाधिपदुर्ललिता ॥’ द्वितीयोर्थः स्पष्टः ॥

१५५. भ्रमरावलीमुदाहरति—जहा (यथा)

कश्चिद्भक्तः शिवं प्रार्थयते—हे चन्द्रकलाभरणं चन्द्रशेखरं देव, यदि तव
दुस्तिगणहरणः पापसमूहविनाशकश्चरणः (१) शरणं प्राप्नोमि, तदा लोभे
मनस्त्यक्त्वा भवनं गृहं निरन्तरं परिपूजयामि । अतो मद्यं तादृशं सुखं देहि हे रमण
नित्यविहारशील येनाहं त्रिविधशोकविनाशमनाः । स्यामिति शेषः ॥ यथा वा
[गीभूषणे]—‘सखि संप्रति कं प्रति मौनमिदं विहितं मदनेन घनः सशरं स्वकरे
निहितम् । नतिशालिनी का वनमालिनी मानकथा रतिनायकसायकदुःखमुपैमि
वृथा ॥’ सट्टवणिका यथा—II, II, II, II, II, $१५ \times ४ = ६०$ ॥
भ्रमरावली निवृत्ता ॥

१५६. अथ सङ्गुसारङ्गिकाछन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र कर्णा द्विगुरवो गणाः सप्त दीयन्ते, अन्ते एको हारो
गुरुर्मान्यते पूज्यते । अभ्यर्हितः क्रियत इत्यर्थः । एव पदे पञ्चदशापि हारा गुरवो
यत्र तत्सारङ्गिकाछन्द इति ज्ञातव्यम् ॥ तत्र शिष्यव्युत्पत्तिसिद्धये पादपूरणार्थं वा-
मात्रानियममाह—यत्र पदे गुरुणा द्विगुणाभिप्रायेण त्रिंशन्मात्राः प्राप्ताः, तन्नोपि
राजो जल्पति एव छन्दः क्रियते कीर्तिरपि तेन गृह्यते । किं बहुना—यच्छ्रुत्वा
त्वा मस्तकं कम्पते ॥ एतस्या एव ग्रन्थान्तरे खीलाखेल इति नामान्तरम् ॥ तथा च-
छन्दोमञ्जर्याम्—‘एकन्यूनौ विद्युन्मात्रापादौ चेल्लीलाखेलः’ इति ॥

१५७. सारङ्गिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वन्दी कस्यचिन्नरपतेः संग्राममुपवर्णयति—यत्र योधा भटा वर्धितकोपाः
सन्तोऽत एव वीररसावेशेन मत्ताः, अप्पावप्पी अहमहमिकया गर्विताः साहकाराः

रि अनया परिपाट्या त्रयो गणा गुर्वादि त्रिकलाः । पञ्चकला इत्यर्थः ।
 प्रन्ते पञ्च [गण] कलगणत्रयावसाने रगण मध्यलघुक पञ्चकलमेव गण कुरु ॥
 तत्रान्तरनियममाह—अत्र छन्दसि पञ्च गुरवः, पञ्चद्विगुणा [दश] लघवः ।
 पदे । पतन्तीति शेषः । मात्रानियममाह—हे चन्द्रमुखि, एत्थ निशिपालनाग्नि-
 वृत्ते विंशतिर्लघुमालाः (कलाः) तदेतन्निशिपालालख्य छन्दः कविषु वरो
 महाकवीन्द्रसर्पः पिङ्गलो भणतोति ॥ बाणोभूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—‘तालशर-
 गज्जुपररत्नवरसुन्दर भावयुततालगतमन्यकृतचामरम् । शुद्धमतिनागपतिहृदयकृत-
 सगम वृत्तनिशिपालमस्तैस्त्रिंशद्द्वयगमम् ॥’

१६१. निशिपालमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्गन्दी समरमुपवर्णयति—युद्धे समरे भटा योधा भूमौ पतन्ति, उत्थाय
 पुनर्लग्नास्ति च । श्रम्यमित्रमिति [शेषः] । ततश्च तादृशमहावीराह्वै सकलोऽपि
 नीरवर्गः त्वर्गमनाः सन्नभिमुख राङ्गेनैव धारातीर्याशया हन्ति । अतश्च न कोऽपि
 हि पलायित । अथ च वीरैस्तीक्ष्णकलाः शरा बाणाः कर्णे गुण कृत्वा कर्णान्ताकृष्ट-
 शिञ्जिनीक कार्मुक विधायार्पिताः । परेध्वित्यर्थात् । इत्थ बाणपातनेनैव तथा दश
 योधा दशमव्यक्ताः सुमद्य पाटेन चरणेन सह कृष्णिष्ठा कर्तिताः । खण्डशः कृता
 इत्यर्थः ॥ उट्टवर्णिना यथा—Slll, Slll, Slll, Sll, १५×४=६० ॥ यथा
 वा [णोभूषण]—‘चन्द्रमुखि जीवमुपि वाति मलयानिले याति मम चित्तमिव
 पानि मृदुनानले । तापप्रकामशरशल्यवरकीलितं मानमिह पश्य नहि कोपमतिशी-
 लितम् ॥’ निशिपालो निवृत्तः ॥

या [वीभूषणे]—‘नममन्नुषमसकुञ्जन्वितपीकिते मधुमत्तपद्मसदृशककुदा-
कुले । समयेऽतिवीरसमीरन्मिथमानसे किमु चण्डि मानमनोरमेन विलिप्यते ॥
उद्वपिका यथा—॥५, ५१, ५१, ५, ॥, ५ १, ५ १५×४=९ ॥ मन्मथो
निवृत्तः ॥

१९४ अथ मासिनी हृन्द—

मोः शिष्या, यत्र प्रथमं परमविप्रसिद्धं परमो हिलन्मात्मनो गण्यतावते
स्मिमा परमैः प्रसिद्धम्, रत्नसहितं गृह्णापरिरत्नसहितं मासिनीति नाम स्मृतं
सरम् । अत एव वित्तमये निहितं कुम्भः कभीम्नो मन्तीति । वीरयम् ।
वीर्य ठामोपिषद् परमविष्मन्तरं यद्विहरीयमानं तत्र मोनिषद् मन्त्रेण गुण
मात्मकेन गमेन निवृत्तम् । पुनः शरीरं लब्धुं कृत्यो गुणसुखं कृत्येऽपि यन्मो लब्धुं
तस्याप्यन्ते कर्मैर्निगुणात्मकेन गमेन निवृत्तं कर्त्तुं संयुक्तमित्यर्थः ॥ भूषणे ५—
प्रकाशस्तरेष लक्षितम्—‘विष्णुकुसुमसुक्ता कर्मस्तारङ्गसुखा कनककलशस्तरेमेषित
पुच्छयङ्गा । सुलक्षितरत्नाशो मृपुरभीष्मेता इति रश्मिचितं मासिनी
अमिनीव ॥’ अमिनीपद्येऽर्थः स्यात् ॥ नगलहयमगण्यमगण्यमगुणं वस्तुस्तारङ्ग-
विद्यमानं मासिनी हृन्मिति कसितोऽर्थः ॥ अत एव कुन्दोमञ्जरीम्—‘नममप्युद्वेगं
मासिनी मोगिस्तोके’ इत्युक्तमिति ॥

१९५ मासिनीमुपाहरति—अथा (यथा)

अविश्वोक्तिपतिश्च लक्ष्मीप्रदा—हे इहो नीचकलि संशोधने । ‘इहो इहो
ह्लाह्लाने नीचां धेदीं लक्ष्मीं प्रति’ इत्यमरनिर्देशात् । मत्तकाले इक्षियानिमे
वदति । अत एव इहो इति लोके । कल्पान्ते गणायि । अथ य वीकिताअपक्या
अकल्पान्ते इति विष्णुअमस्वरप्रक्या कर्मरत्नं भिन्तीत्यर्थः । किञ्च इयत्तु विष्णु
अमरसंस्मरमायां लुक्ते । अत एव लक्ष्मीप्रदोऽतिप्रदोऽत्यन्तप्रदो इव
मारो मारात्मका अमी इति इति या मितिरोच । इत्थीति वीष्मया निदयव
मैस्स मदनस्व लुक्मिति मया ॥ यथा वा [वीभूषणे]—‘नमनविगतदक्षु
लोत्ता कुम्भमात्रे नवकिताकल्पे इत्तु मुगा मुगादी । प्रकामदनवापस्तोत
रोर्विस्तरेषा विष्णुअविपारं गन्तुमप्यस्यतीव ॥ उद्वपिका यथा—॥, ॥ ॥,
५५५, १, ५५, १, ५५, १५×४=९ ॥ मासिनी निवृत्ता ॥

१९६ अथ शरमञ्जरी—

मोः सुप्रिया सुतरां प्रिया शिष्या प्राकृते पूर्वनिपातानिबमात् अवि-
गबानां पतिना (त्वा) पिङ्गलेन कथितं तत्पुत्रमात्मं कल्पः । वीरयम् । पर
सुप्रियगणे लघुहृत्तान्मो गणे रत्नगुणे लघुहृत्तौ उद्विष्टा पूर्व मन्त्रित पतिता,

तथा—विदु द्वौ सुप्रियगणौ रसयुगेनैव सहितौ कार्यौ ततः करतल सगणेः पदे पदे प्रतिपट लब्धः । यत्र चैव प्रकारेण पदे पदे चतुश्चतुष्कला गणाः सुतरा हिताः, तादृश वृत्त शरभनामकमिति । भूषणेऽपि—‘द्विजवरत्रि (१) तयकलितमिह सगण कलय शरभमतिरतिरतिकरणम् । कविवरसकलहृदयकृतहरण फणिवरनरपति-वदनविहरणम् ॥’

१६७. शरभमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्कामुकः कामपि कामिनोमुपवर्णयति—तरलकमलदलसदृशनयना शरत्स-मयशशिसुसदृशवदना मदकलकरिवरसालसगमना इय रमणी येन सुकृतफलेन पुण्यपुञ्जेन सृष्टा किं तत्सुकृतफलमिति न जानीमहे । इति वितर्कालंकारः ॥ यथा वा [णीभूषणे]—‘अमलकमलदलरुचिधरनयनो जलनिधिमाधिकाणिपति-फणशयनः । दनुजविजयसुरपतिनतिमुदितो हरिरपहरतु दुरितततिमुदितः ॥’ उट्टवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ५, १५ × ४ = ६० ॥ इदमेव ग्रन्थान्तरे शशिकलेति नामान्तरेणोक्तम् । शशिकलापि रस ६ नव ६ रचितविर-तिश्चेत्, तदा स्रगिति नामान्तरं लभते । तथा च छन्दोमञ्जर्याम्—‘स्रगियमपि च रसनवरचितयति’ इति । यथा—‘अपि सहचरि रुचिरतरगुणमयी म्रदिमवसतिर-नपगतपरिमला । स्रगिव निवसति लसदनुपमरसा सुमुखि मुदितदनुजदलनहृदये ॥’ उट्टवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ६ ॥, ॥, ॥, ॥, ५, ६, १५ × ४ = ६० ॥ इय-मेव च यदा वसु ८ मुनि ७ यतिः तदा मणिगुणनिकर इति संज्ञान्तरं लभते । तदुक्तं तत्रैव—‘वसु ८ मुनि ७ यतिरिति मणिगुणनिकरः ॥ यथा—‘नरकरिपुरवतु निखिलसुरगतिरमितमहिमभरसहजनिवसतिः । अनवधिमणिगुणनिकरपरिचितः सरिदधिपतिरिव धृततनुविभवः ॥’ उट्टवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ॥, ८ ॥, ॥, ॥, ॥ ७, १५ × ४ = ६० ॥ एतौ च यतिकृतौ शरभभेदौ प्रकृतिप्रस्तारसख्याया-मेवावगन्तव्यविति ॥ शरभो निवृत्तः ॥

अत्रास्मिन्नेव प्रस्तारे कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते । तत्र प्रथमं विपिनतिलकं छन्दः—‘विपिनतिलकं नसनरेकयुग्मैर्भवेत्’ ।

नगणसगणनगणरगणयुगलैर्विपिनतिलकं वृत्तं भवेदिति ॥

यथा—

‘विपिनतिलकं विकसितं वसन्तागमे

मधुह्रनमदैर्मधुकैः क्षणद्विवृत्तम् ।

मलयमरुता रचितलास्यमालोक्य-

न्वनयुवतिभिर्विहति स्म मुग्धो हरिः ॥’

वा [जीमूषे]—‘नवमम्बुवम्बुसकुञ्जकृषितकीषितो मधुमत्तपञ्चसद्वरीचदुर्वा-
कुलो । समयेऽतिथीरसमीरकृषितमानसे किमु चण्डि मानमनोरथेन क्षितियते ॥
उद्वयिका यथा—॥५, १५, १५, ५, ॥, ५ १, ५ १५×४=६ ॥ मन्त्रोऽथो
निवृत्तः ॥

१६४ अथ मासिनी कथा—

भोः शिष्या, यत्र प्रथमं परमतिप्रसिद्धं परमो हितात्मात्मनो गवतास्तै
क्षितिः परमैः प्रसिद्धम्, रसवदितं शृङ्गादिस्वसद्वितं मासिनीति नाम लघुं
सरसम् । अत एव शिष्यमध्ये निहितं कुन्दा कनीनो मन्त्रोति । श्रीरामम् ।
वीर्य ठामोमिच्छं परमभिक्षानन्तरं यद्विद्योवस्तानं तत्र मोनिच्छं मन्त्रेन गुप्त
यात्मकेन गन्तेन निवृत्तम् । पुनः शरी लघु लो गुप्तुतं लोऽपि यन्तो लघु
तस्याप्यन्ते कर्मेन हिगुर्वात्मकेन गन्तेन निवृत्तं च्छं लघुचक्षित्यर्थः ॥ मूढे द्व—
प्रश्नरत्नरेण लक्षितम्—‘हिक्कुमुममुक्ता कर्त्तव्यद्विष्टा कनकमलकारैर्मणिता
पुच्छगङ्गा । सुलक्षितरसनासौ सुपुरभीरुमेता इति शक्तिचित्तं मासिनी
कामिनीव ॥’ कामिनीपक्षेऽर्थः स्पष्टः ॥ नमनइयमगलकान्तुम्यपुच्छं क्कुक्कुल-
विरामं मासिनी वृत्तमिति कसितोऽर्थः ॥ अत एव कुन्दोमञ्जर्यम्—‘ननमक्कुलैवं
मासिनी भोगिनीकैः’ इत्युक्तमिति ॥

१६५ मासिनीसुखावृत्ति—कथा (यथा)

कश्चित्प्रोक्तपटिका लक्ष्मीमाह—हे इहो नीचवसि संशेधने । ‘इहो इहो
इहाहाने नीचा वेटीं लक्ष्मीं प्रति’ इत्यमरनिर्देशात् । मलयवातो हविस्वानितो
बहति । अत एव इत इति लोके । कम्पन्ते गावाणि । अथ च कोकिलान्तरकम्प
अन्तरम् इति पिङ्गलमस्वरप्रकथा कर्मेरम्भं मिमरीत्यर्थः । किञ्च रसमु विष्णु
अमरलक्ष्मरमाया अकरो । अत एव अतस्तमन्त्रोऽतिप्रसिद्धोऽप्यस्यमात्रात् इव
मायां मायात्मका कामो इति इति मा मित्तिरोप । इत्येति नीचता निरूप्य
मेतस्म मन्त्रेण लक्षितमिति मया ॥ यथा वा [जीमूषे]—‘नवनक्षित्तरसु
लोपता कृष्णमाने यवकिञ्चलकस्ये इत्य गुणा गुणाक्षी । यवक्षमदनवाचासोऽ
लोर्षक्षितरेण विरहकविजार् गन्तुमन्त्रोऽर्थः ॥ उद्वयिका यथा—॥, ॥ ॥
५५५, १, ५५, १, ५५, १५×४=६ ॥ मासिनी निवृत्ता ॥

१६६ अथ शरयकथा—

भोः मुनिषाः सुतरं शिष्याः शिष्याः, प्राकृते पूर्वनिपातानिबयान् अपि
गणानां पठितानां (त्या) विज्ञप्तेन कथितं तत्पुत्रमायम् कुन्दा । श्रीरामम् । यत्र
मुनिष्यन्ते लघुद्वयमन्त्रो गणी रसमुनेन लघुद्वयेन लक्षितं पूर्वं श्रुतिता पठितम्,

तथा—विदु द्वौ सुप्रियगणौ रसयुगेनैव सहितौ कार्यौ ततः करतल सगणः पदे पदे प्रतिपट लब्धः । यत्र चैव प्रकारेण पदे पदे चतुश्चतुष्फला गणाः सुतरा हिताः, तादृश वृत्त शरमनामकमिति । भूषणेऽपि—'द्विजवरत्रि (१) तयकलितमिह सगण कलय शरममतिरतिरतिकरणम् । कविचरसकलद्वयकृतहरण कणिवरनरपति-वदनविहरणम् ॥'

१६७. शरभमुदाहरति—ब्रह्मा (यथा)—

कश्चित्कामुकः कामपि कामिनीमुपवर्णयति—तरलकमलदलसदृशनयना शरत्स-मपशशिसुसदृशवदना मदकलकरिवरसालसगमना इय रमणी येन सुकृतफलेन पुष्पपुञ्जेन सृष्टा किं तत्सुकृतफलमिति न जानीमहे । इति वितर्कालकारः ॥ यथा वा [जीभूषणे]—'अमलकभलदलरुचिचरनयनो जलनिधिमधिफणिपति-फणशयनः । दनुजविजयसुरपतिनतिमुदितो हरिरपहरतु दुरितततिमुदित ॥' उट्टवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ॥, ५, १५ × ४ = ६० ॥ इदमेव ग्रन्थान्तरे शशिकलेति नामान्तरेणेकम् । शशिकलापि रस ६ नव ६ रचितविर-तिश्चेत्, तदा सगिति नामान्तरं लभते । तथा च छन्दोमञ्जर्याम्—'सगियमपि च रसनवरचितयतिः' इति । यथा—'अपि सहचरि रुचिरतरगुणमयी अदिमवसतिर-नपगतपरिमला । सगिव निवसति लसदनुपमरसा सुमुखि मुदितदनुबदलनहृदये ॥' उट्टवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ६ ॥, ॥, ॥, ॥, ५, ६, १५ × ४ = ६० ॥ इय-मेव च यदा वसु ८ मुनि ७ यतिः तदा मणिगुणनिकर इति संज्ञान्तरं लभते । तदुक्तं तत्रैव—'वसु ८ मुनि ७ यतिरिति मणिगुणनिकरः ॥ यथा—'नरकरिपुरवतु निखिलसुरातिरमितमहिमभरसहजनिवसतिः । अनवधिमणिगुणनिकरपरिचितः सगिदधिपतिरिव वृत्ततनुविभवः ॥' उट्टवणिका यथा—॥, ॥, ॥, ॥, ८ ॥, ॥, ॥, ॥ ७, १५ × ४ = ६० ॥ एतौ च यतिकृतौ शरभमेदौ प्रकृतिप्रस्तारसंख्याया-मेवावगन्तव्यविति ॥ शरभो निवृत्तः ॥

अत्रास्मिन्नेव प्रस्तारे कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते । तत्र प्रथम विपिनतिलक छन्दः—'विपिनतिलक नसनरेफयुग्मैर्मवेत्' ।

नगणसगणनगणरगणयुगलैर्विपिनतिलकं वृत्तं भवेदिति ॥

यथा—

'विपिनतिलक विकसितं वसन्तागमे

मधुकृतमट्टैर्मधुकरैः कण्ठद्विष्टं तम् ।

मलयमरुता रचितलास्यमालोक्य-

न्वजयुवतिभिर्विहरति स्म मुग्धो हरिः ॥'

सहस्रनाम यथा—॥ ॥५॥ ॥ ३५, ३५, १५४४=१०॥ विस्म
तिलक निवृत्तम् ॥

अथ चन्द्रसेना कृत्वा—‘म्री मो यी येन्द्रवता यताह्यैचन्द्रसेना’ ।

यदि प्रथमं श्री मङ्गलरक्षणौ मङ्गलं, ततो मी मङ्गला कश्च मी वगैरे मन्त्रैः
सहाष्टकेभिरभिरुपि मन्त्रैः, तथा चन्द्रलोका तन्नामकं इत्यभिरुप्यः ॥

यथा—

विष्णोरे ते भुवरे पाशुपदधरा कृष्णाक्षी

म्यानन्त्रायं वृक्षं न भ्रातृषु विभ्रती च ।

राजाम्भोदस्य गर्भे लीना यच्च कन्दलोत्था

किञ्चार्जुनोऽस्मिन्महोदधौ ॥

सहस्रवर्षा वया—३३५, ३३५, ३३५, ३३५, ३३५, १५×४=६०
 फलसैका निरूप्य ॥

अथ चित्रं कृतम्—‘चित्रानाम् कृत्वरिचयं येनान्ये मा सद्यै’ ।

तन्निष्ठानामहं विभं नाम यस्य यत्र ब्रह्म मा मगलत्वं ब्रह्मरौ मगलत्वं च
यत्र भवेच्छक्तिनामहं कृन्तो मगलीति ॥

मध्य—

गोपाखीछीलाळांना बहत्त्वनिदात्म्यमान्यते

संज्ञासुख्यप्रत्ययसंज्ञासंज्ञासंज्ञा ।

ब्रह्मसूत्रम्

कोऽप्या स्वर्गो मोक्षो वा स्वादिष्टये जन्म भवे ॥

बृहन्निष्ठा षष्ठ—३३५, ३३६, ३३७, १३५, १३६ १३.४४=९ ॥
 अन्तर्दि मत्तारगन्ध पञ्चशङ्करल द्वानिष्ठान्धशानि उत्तराष्ट्रमन्धुपरादि
 ३२०६८ मेघाः । तेषु निम्नतो मेघाः प्रोक्ताः । सैषमेष्टान्धान्धुपरादि
 मृद्वन्धवा वा मत्तार्ग्वन्धुपरादि इत्युपरम्भे ॥

१६८. कथं पञ्चरात्रव्यवहारे मातृपितृभ्योऽभिधीयते—

मोः शिष्याः, वन नदीश्रोत बगणे शुद्धमध्यमी गला शक्यमिधितो कर्तते ।
 तस्यां च सुरार्थं रगणे लघुमध्यमी गला देवि शुरार्थेव हो गणे हरये नाम्न इति
 निबन्धः । पश्चिमपञ्चमोऽर्थादशुद्धमध्यो बगण एव । ठामपञ्चमे प्राकृते पूर्वनिष्ठ
 निबन्धात् पञ्चमस्ताने माधवो देव इत्यर्थः । तदानीं गणपतानिष्टार्थम् । रगत्वं
 वयमस्तमित्येव भावः । एवं गगनरग्येन वयमस्तापराणि तत्तच्च हागे शुद्ध वच
 स्वाद्यन्ता तारगुणोऽप्येव वच्यं पठिते वर्तते । एतत् पठितं माधवनामकम् । कलासदृशः

सविंशतयः पदे यस्य चरणस्थितचतुर्विंशतिकलात्मकमिदं छन्दः फणीन्द्रो जल्पति ॥
तत्र लघुगुरुनियममाह—गन्धवक्त्रमदृष्टं गन्धवक्रयोर्लघुगुरोः क्रमेणाष्टकं यत्रेति ।
तथा च—अत्रैवाष्टाक्षरप्रस्तारप्रस्तात्रेऽभिधीयमाने प्रमाणिकाछन्दो लक्षणे—‘लहृगुरु
णिरन्तरा पमाणि अष्ट अक्षरा । पमाणि दूण किञ्जणं णराठ सो भणिञ्जण ॥’
इत्युक्तम् । तदत्र सिंहावलोकनन्ध्यायेन सचारीयमिति ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारा-
न्तरेणोक्तम्—‘ध्वजेन नायकेन कुण्डलेन यद्विभूषितं पयोधरेण वीणया शरेण
पक्षिणाङ्कितम् । नराचवृत्तमत्र षोडशाक्षरं समीरितं मनीषिमण्डलीहितं फणीन्द्र-
पन्नगोदितम् ॥’ इदमेव ग्रन्थान्तरे पञ्चचापरमिति नामान्तरम् । अत एव
छन्दोमञ्जर्याम्—‘प्रमाणिकापदद्वयं वदन्ति पञ्चचापरम्’ इत्युक्तम् ॥

१६६ नराचमुदाहरति—जहा (यथा)—

[illegible]

१७० अथ नीलच्छन्दः—

हे रमणि, तन्नीलस्वरूप नीलनामक छन्दो लक्ष (१) जानीहीत्यर्थः (१) । यत्र पदे द्वाविंशतिमात्रा पञ्च भगणा गुर्वादिगणाः पदे पतन्ति, एतादृशैरेव पदैराधितमिति छन्दोविशेषणम् । अन्ते पञ्चभगणान्ते स्थितो द्वारो गुरुयत्र शायते सदेतद्विपश्चाशदधिकं कलाशतत्रयात्मकं ध्रुव निश्चितमादृश रूपं मुणीं शतध्वमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—चरणास्थितद्वाविंशतिमात्रात्मकमिदं नीलाख्यं वृत्तं चतुश्छन्दोभिप्रायेण षोडशचरणात्मकम् । तत्रैकस्य छन्दसश्चरणो द्वाविंशति-अनुगुणितोऽष्टाशीतिकलात्मकः । यथा— $२२ + २२ + २२ + २२ = ८८$ ॥ एवमष्टाशीतिकलात्मकचरणचतुष्टयेन द्विसप्तकपञ्चाशदुत्तरकलाशतत्रयात्मकमिदं नीलस्वरूपं भवतीति यथा— $८८ + ८८ + ८८ + ८८ = ३५२$ ॥ वाणीभूषणे तु प्रफ़रान्तरेण लक्षणं लक्षितम् 'तालपयोधरनायकतोमररक्षधर पाणियुत च विभावय

भामिनि वृत्तचरम् । नीलमिदं कथिनायकनायकसंज्ञितं परिहृतमवतिष्ठतु
 सति कर्मगतम् ॥'

१७१ नीलमुवाहरति—व्या (वया)

कथितव्यः कर्मरपतिप्रयागमुपकर्षति—निर्वाचितोऽपि योवा इमया
 सञ्चिताः संनद्धा सन्ता विपन्ति बन्तु । अथ च—आहोऽपि एकस्य तनय
 इत्यर्थः । ततश्च स्मरतनुवीररावेष्टात् । एवं समूहनायोऽपि बहिताः । अन्यतरं
 च सुसङ्गताया करे कुम्ताभूत्वा पक्षयोऽपि बलन्ति । एवं सुतरां स्त्रीद्वय
 कर्मरेन्द्रे बहति सति यथा पर्यता अपि बलन्ति । पर्यतनां योमो भूयिषि मयः ।
 यथा वा [नीलमये]—‘सुन्दरि सुन्दरिषौ नतिगालिनि किं कुपये भामिनि
 भामिनि काममिदं हरयं पश्ये । शरिणि शरिणि ते हृदये निहिते दक्षिणे मयिनि
 भाषिनिबाधिमनोऽस्य धिराय कता ॥’ उक्तवन्निष्ठा वचः—५॥, ५॥, ५॥ ५॥
 ५॥, ५ ११×४=१४ ॥ नीलो निवृत्ताः ॥

१७२ अथ चञ्चलाक्षरम्—

यो विपन्ता, वनादौ सुखो रगन्ते लघुमध्यमो गण्यो दीयते । तौ सतः—एक
 पयोधरी बग्नो सुखमध्यमो गण्यः द्विधिवन्त्य पञ्च एवंस्यापि पञ्च सुखपयोधरा-
 नन्तरं रगन्तबग्नरगन्ताक्षमोपि गण्यो देयाः एवं (पञ्च) वक्त्रा गुरवः धरे, तौ
 लघवश्च धैर्मोहोरेति चञ्चलाविरोधयम् । अन्ते गन्तव्यस्थले गन्त्यो लघुर्वै वयं
 (दीयते) । यदि चाक्षरपि चोदय यस्यां वा कथीमत्र चञ्चला विनिर्मिता ।
 तत्रैतद्विदुर्लभं चञ्चलाप्रमिधानं हृदो विज्ञानीतेति ॥ बाणीभूयमेव प्रकृत्यन्तरेणे
 धम्—‘तुर्वतस्तपविगन्तेवद्वारमायवेन आमरन्धरेन चापि बर्हिता सुखैरेन
 बर्हितासुखैरेन पमरेन्द्रविज्ञानेन चञ्चला यक्षोरथास्तोचने तुम्हमेन ॥
 समानिका पदद्वयेन चञ्चलेति पक्षितोऽर्थः ॥ प्रत्यागरे विचलत्तमिदि नामाचरम् ॥
 अतएव हृदोमध्ययम्—‘विचलत्तमीरितं समानिकापरद्वयं तु’ इत्युक्तम् ॥

१७३ चञ्चलासुवाहरति व्या (वया)—

कथितव्यः कर्मरुंनयेर्मुद्रमुपकर्षति—अभापि कर्मपाथ्ये संश्रामभूमादेकदा
 दुःखं रयेन सुखे चञ्चलिवर्षः । अस्मिन्नवतरे सुखे दिनयोऽपि नायकपाथेन
 दुःखं लीना शरजालापहारितो भूयिष्यः । आ एषाम्बवारसंयवेन शब्द
 भेदित्वात्तयोर्दत्त वरन्ति पाक प्रहारे लभः । एष अथ व्यतिकरेऽनयोर्मावे
 पाथोऽनुरन्तेन वन्तुः अथ वृत्तिना पञ्चिकावास्तव्याः । अन्तरं पञ्चरात्रा-
 न्पञ्चरात्र । प्राग्वे पूर्वनिस्तानिगमात् । पञ्च कीर्तिर्वैरविधेन कीर्त्यं यन्मनेन
 वा, बर्देन राधेनेन वे तौ लब्धा कीर्तिना लब्धव्याः इत्या इत्यर्थः ॥ यथा वा

[णीभूषणे]—आलि याहि मञ्जुकुञ्जगुञ्जिलालितेन भास्करात्मजाविराजिरा-
जित्तीरकाननेन । शोभितस्थलस्थितेन सगता यदूत्तमेन भाववेन भाविनी तडिल्ल-
तेव नीरदेन ॥' उट्टवणिका यथा— $515, 15', 515, 151, 515, 1, 16 \times 8 =$
 64 ॥ चञ्चला निवृत्ता ॥

१७४. अथ सर्वगुणात्मक कलासख्यवर्णक प्रस्तारादिभूत ब्रह्मरूपक छन्दः—

भोः शिष्या, जो यद् ब्रह्मरूपकं छन्दः अपर ब्रह्मणो रूपमिव । वर्तते इति शेषः ।
ब्रह्मछन्दसोः साधर्म्यमाह—यच्छन्दः, ब्रह्म वा लोकानां वत्सि विम्वोष्टे विद्यु-
त्स्थाने दन्तेषु हस्तस्थाने शिरसि सूत्राने ब्रह्मरन्ध्रे महापद्मवने वा णाऊ ज्ञातम् ।
तथा च छन्द इत्युच्चार्यमाणः शब्दस्तत्तत्स्थानं गमयतीति सहृदयैकगम्योऽयं ॥
अथ च शब्दस्य ब्रह्मरूपत्वात्तत्प्रोक्तस्थाने ज्ञातं मननशीलैर्मुनिभिरिति । किंच—
वण्टट्टाणे कण्ठस्थाने वण्णस्थाने च सारस्थाने जिह्वायां मूलाधारे वा छन्दो वृत्तमु-
द्रायता 'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः वण्टशिरस्तथा । जिह्वामूलं च दन्ताश्च-
नासिकौष्ठौ च ताछु च ॥' इति पाणिनिवृत्तशिद्धोक्तरीत्या कथयता पञ्चगपतिना
पिङ्गलेन समानितमिदं छन्दो ब्रह्मरूपकनामकं कर्णैर्गुरुद्रयात्मकगणैर्यस्य सर्ववृत्तं
निष्पन्नशरीरं तल्लोकानां व्याख्यातमिति ॥

१७५. ब्रह्मरूपकमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्बन्दी कस्यचिन्मृपतेर्युद्धमुपवर्णयति—उन्मत्ता वीररसाविष्टा उत्थितक्रोधा
उपर्युपर्यहमहमिक्या युध्यमानाः सन्तो मेनकारम्भादिभिर्नाथवरणे सद्भूमाभिरप्स-
रोमि. अप्पावप्पी व्यन्योन्यं मयायं वरणीयः, त्वया चायमिति बोध्यमानाः शक्ति-
छिन्नकण्ठाः कवन्धा मस्तकं पृष्ठमेव शेषो येषामेवविधा अपि वीरा धावन्त इतस्ततः
समराजिरे व्रजन्तः समग्रा एकत्रीभूय जायात्रे मेनकारम्भादीनामग्रे लुब्धास्तद्दर्श-
नेभ्यो विस्मिता ऊर्ध्वमेव पश्यन्तोऽवतस्थिर इति वाक्यशेषः ॥ उट्टवणिका यथा—
 $55, 55, 55, 55, 55, 55, 55, 55, 16 \times 8 = 64$ ॥ ब्रह्मरूपक निवृत्तम् ॥

अथ षोडशाक्षर एव कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते । तत्र
प्रथममृषभगजविलसितं छन्दः—'अत्रिनगैः स्वराङ्गमृषभगजविलसितम्' ।

अत्रिनगैर्मगणरगणनगणत्रयगुरुभिः सतनवविश्राममृषभगजविलसितं वृत्तमिति ॥

यथा—

'यो हरिरुच्चलान् खरतरनखशिखरै-

र्दुर्जयदैत्यसिंहसुविफट्टद्वयतटम् ।

किंत्विह

चित्रमेतदखिलमपहतवतः

कसनिदेशदृष्यदृषमगजविलसितम् ॥'

उट्टवणिका यथा—॥१, १५१, ५११, १५१, ५१५, ५, १६×४=६४
वाणिनी निवृत्ता ॥

अथ प्रवरललित छन्दः—‘यमौ नः सौ गश्च प्रवरललित नाम वृत्तम्’
यत्र यमौ यगणमगणौ । अथ च नगणः, ततः सौ सगणरगणौ भवतः,
ततश्चेद्गर्मवति तदा प्रवरललित नाम वृत्त भवति ॥

यथा—

‘भुजोत्क्षेपः शून्ये चलवलयभकारयुक्तो
मुधापादन्यासप्रकटिततुलाकोटिनादः ।

स्मित वक्त्रेऽकस्माद्दृशि पटुकटाक्षोर्मिलीला
हरौ नीयादीदृक्प्रवरललित चलजवीनाम् ॥’

उट्टवणिका यथा—१५५, ५५५, १११, ११५, ५१५, ५, १६×४=६४ ॥
प्रवरललित निवृत्तम् ॥

अथ गरुडस्त छन्दः—‘गरुडस्त ननौ भजतगा. यदा स्युस्तदा’
यदा ननौ नगणनगणौ भवत, ततो भजतगाः भगणनगणतगणगुरवः स्युः,
तदा गरुडस्त नाम वृत्त भवतीति ॥

यथा—

‘अमरमयूरमानसमुदे पयोदध्वनि-
गरुडस्त सुरारिभुजगेन्द्रसंज्ञासने ।

धरणिभरावतारविधिडिण्डिमाडध्वरः
स जयति कसङ्गमुवि सिंहनादो हरे. ॥’

उट्टवणिका यथा—॥१, १५१, ५११, १५१, ५५१, ५, १६×४=६४ ॥
गरुडस्त निवृत्तम् ॥

अथ प्रस्तारान्त्यभेदमचलधृतिवृत्तमभिधीयते—‘द्विगुणितवसुलघुभिरचल-
धृतिरिति’ ।

यत्र द्विगुणिता वसुलघवः षोडशापि वर्णा लघवोऽर्थाद्भवन्ति, तदचलधृति-
रिति वृत्त भवतीति लघ्वन्तेन नगणपञ्चकेनेति फलितोऽर्थः ॥

यथा—

‘तरणिदुहितुत्तरुचिरतरवसति-
रमरमुनिजनसुखविहितधृतिरिह ।

मुररिपुरभिनवबलधररुचितनु—

रचलधृतिरुदयति सुकृतिद्विद खलु ॥’

प्रकारान्तरेणोक्तम्—‘द्विजवरगणान्वितो गजपतिः श्रिततूर्ययान्करतल्पपरिस्फुर-
त्कनककङ्करोनान्वितः । सुरपतिगुञ्जश्रिया परिगतः समन्तात्सखे जयति भुवि
धृत्तभूपतिरयं तु मालाधरः ।’

१७६. मालाधरमुदाहरति—जहा (यथा)

कान्चिद्दूती कान्तानुनयमनुगृह्णती नायिकामाह—मलयानिलो दक्षिणानिलो
चहति । कीदृशः । विरहिणा चेत. सतापयति तादृशः स्तापनः । किञ्च पिकोऽपि
पञ्चमं कूजति । प्राकृते पूर्वनिपातानियमात् । पुल्लर्किशुक वन विकसित नवप-
लाश वनमपि विकसितम् । तरुणा पल्लवा अपि तरुणा नवीना जाता. । माधवी
चासन्ती मल्लिका मधुरातिमनोहराभूत् । अतो हे सखि, नेत्र वितर, अस्मिन्प्राणनाथे
यतो माधवसमयोऽयं प्राप्त इति ॥ यथा वा [गीभूषणे]—‘कचिदपि वयस्यया
सह विनोदमातन्वती कतिपयकथारसैर्नयति वासरीया रुजम् । सुभग तव कामिनी
समधिगम्य सा यामिनीमनुभवति यामिनीं मदनवेदनामन्तत. ॥’
उट्टवणिका यथा—|||, |S|, S|, |S|, SS, |S, १७×४=६८ ॥ माला-
धरो निवृत्त ॥

अथ सप्तदशाक्षरप्रस्ताक्षर एव कानिचिद्बृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते ।
तत्र प्रथमं शिखरिणी छन्दः—[वागीभूषणे]—

‘ध्वज. कर्णो हारौ द्विजवरगणस्थो रसयुत.

समुद्रो रत्नं च प्रभवति यदा सप्तदशभिः ।

मुजगेन्द्रोद्दिष्टा विबुधद्वयद्वयाद्दजननी

रसै रुद्रैर्यस्या विरतिरिह सैषा शिखरिणी ॥’

यगणमगणनगणसगणमगणलघुगुरुमी रसै रुद्रैश्च कृतयतिः शिखरिणीति
फलितोऽर्थः ॥ तदुक्तं छन्दोमञ्जर्याम्—‘रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभज्ञा गः
शिखरिणी’ इति ॥

यथा—

निविष्टायाः कोपाद्गुरुसदसि पङ्केरुदृशः

पदोपान्ते छायाभुपनयति मूर्ध्नि प्रणयिना ।

तथा चक्षुर्लोलाकमलरजसा दूधितमिति

द्वत मुक्ता मुक्ताफलपरिणता वाष्पकणिका ॥’

यथा—

‘करादस्य भ्रष्टे ननु शिखरिणी दृश्यति शिशो-

र्विलीनाः स्मः सत्यं नियतमवधेयं तदखिलैः ।

उद्भवमिच्छा यथा—III, III, III, III, III, I, $1\bar{8} \times 4 = 72$ ॥ अक्षतपुति
निवृत्ता ॥ अत्रापि प्रस्तारणत्वा षोडशाक्षरत्वं पञ्चपद्विच्छेदादि पञ्च शतानि पद्वि
शतुत्तराणि ६५५१९ मेदाः, तेषु त्रिंशद्विंशो मेदा लक्षिताः । शेषमेदास्त्रिंशद्वि
मिराक्षरानि त्रिंशद्विंशत्वा वा प्रस्तार्य अक्षयीत्वा इति विदुः ॥

१७१ अथ अष्टदशाक्षरमन्त्रादेः पूर्णोक्तम्—

मोः शिष्याः, यत्र पयोधरो जगन्मो मुले स्थिता, तत्र एका समक, पुनरपि
 तथैव जगन्मो गच्छेत् तयोऽग्रे स्थिताऽर्थः । तथा च गच्छेत् तत्रः समीपे
 ततो गुरुद्वयम्, ततो हारो गुरुः । पदे च चतस्रः कलाः । अथ च विंशति
 कलाः संभूय चतुर्विंशतिः । यत्र वस्तुमिर्मरिश्च जातविभानं पृथ्वीनामकं ह्यरो
 मन्वरीति । एतत् क्षेत्रमिस्वर्यः । तथा च—अस्यैवमगच्छेत्तुगुरुमिच्छारम्भकृत्य
 पृथिवीति कलितोऽर्थः । तदुक्तं ह्युद्योमञ्जर्याम्—‘अतो कलकला वस्तुमरिश्च
 पृथ्वी गुरुः इति ॥ वाक्सीभूषणे तु मन्वरात्तरेषोक्तम्—‘पयोधरोऽस्य
 कदुग्मताद्विनी मुक्कर्मरिश्च ह्यजा कलितमाकच्छन्पुत्र । मुग्मपक्षिण तत्तन्
 वनकमन्वकुञ्जला मुक्कर्मरिश्च ह्यजा इति ह्यत् पृथ्वी ममः ॥ कलकलाकलकला
 वनस्य गुरुद्वयस्यो गणो गच्छते ॥

१७७ पूष्योत्तराश्वि—व्या (पञ्च)

कश्चित्कविः कदाप्यगम्य [पुष्प] पुस्तक्य विलासिनो मदनविनोदम्भन
मुपवर्षयति—पुष्पतिवहितमेतादृशं मन्दिरं शैवं शोभत इत्यर्थः । श्रीराम
भगवन्मन्त्रितमित्यनुकरणम् । तादृशं मूर्धनं यत् । पुनः एतन्नास्तिमुहुर्यथा तद्वत्
अङ्गीगुणो मेतन्नास्तिमूर्धनं यत् तत्तथा । पुनः मदनकेलिसौख्यवरा भगवत्पहार
कृत्वा । कदपकेलितरतीत्येनोपम्यस्तमित्यव्यतिष्ठत्वेन उर इति व्यङ्ग्यमेवम् ।
पुनः निशामुष्मन्नोदरं एकस्मिन्नितासिज्जननिपुष्पमान्दमुखायादम्भनत्वेन
परममनोहरमिति तद्वदयमेव व्यङ्ग्यं इति ॥ तथा च [श्रीमूले]—‘वृथापठ्यती
कनरवस्तिमङ्गरागम्भनो हशोरपि च शोभिमा ममति कारयदन्वयाः । इह एव
परमिदानीन्मूर्तकामम्भनं मुले यदिदमाङ्गनं रक्षति चार्धचन्द्रं गले ॥ तद्वद्विना
मया—।। ५, ।। ५, ।। ५, ।। ५, ।। ५, १७X४=६८ ॥ पृष्ठी निरुद्धा ॥

१७८. अथ महाभारतस्य—

श्रीः शिष्याः यत्र प्रथमं शीयते विप्रश्चतुर्ह्यात्मको गता तथापि
भूपतिर्गंगा रमाच्यते ततश्चरन्ते मण्डलशुलीया तथा भूपतिव्यमो शीयते कुमेना-
बिन्दो विमलोऽप्रतिमुद्ध्यो गम्भो लघुः ततो हारो शुक्लैर्न तद्विन्दोऽहं पद्मिन्दोऽहं
पद्मिन्दोऽहं पिङ्गलो माताधर इति कुम्भो मण्डलि ज्ञानिष्ठ तद्विधि ॥ वागीभूदये ॥

प्रकारान्तरेणोक्तम्—'द्विजवरगणान्वितो गजपति श्रितनृत्यवान्करतलपरिस्फुर-
त्कनककङ्करोनान्वितः । सुरपतिगुरुश्रिया परिगतः समन्तात्सरो जयति भुवि
वृत्तभूपतिरयं तु मालाधरः ।'

१७६. मालाधरमुदाहरति—जहा (यथा)

काचिद्दूती कान्तानुनयमनुगृह्णती नायिकामाह—मलयानिलो दक्षिणानिलो
वहति । कीदृशः । विरहिणा चेतः सतापयति तादृशः स्तापनः । किञ्च पिबोऽपि
पञ्चम कृजति । प्राकृते पूर्वनिपातानियमात् । पुल्लकिंशुक वन विकसित नवप-
लाशं वनमपि विकसितम् । तरुणा पल्लवा अपि तरुणा नवीना जाताः । माधवी
चासन्ती मल्लिका मधुरातिमनोहराभूत् । अतो हे सरित्, नेत्र वितर, अस्मिन्प्राणनाथे
यतो माधवसमयोऽयं प्राप्त इति ॥ यथा वा [णीभूषणे]—'कचिदपि वयस्यया
सह विनोदमातन्वती कतिपयकथारसैर्नयति वासरीया रुजम् । सुभग तव कामिनी
समधिगम्य सा यामिनीमनुभवति यामिनीं मदनवेदनामन्ततः ॥'
उट्टवणिका यथा—॥॥॥, ॥॥॥, ॥॥॥, ॥॥॥, ॥॥॥, ॥॥॥, १७×४=६८ ॥ माला-
धरो निवृत्तः ॥

अथ सप्तदशाक्षरप्रस्ताक्षर एव कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते ।
तत्र प्रथम शिखरिणी छन्दः—[वाणीभूषणे]—

‘ध्वजः कर्णो हारौ द्विजवरगणस्यो रसयुतः ।

समुद्रो रत्नं च प्रभवति यदा सप्तदशभिः ।

सुखेन्द्रोद्दिष्टा विबुधहृदयाहादजननी

रसै रुद्रैर्यस्या विरतिरिह सैषा शिखरिणी ॥’

यगणमगणनगणसगणमगणलघुगुरुभी रसै रुद्रैश्च कृतयतिः शिखरिणीति
फलितोऽर्थः ॥ तदुक्त छन्दोमञ्जर्याम्—‘रसै रुद्रैरिच्छन्ना यमनसभज्ञा गः
शिखरिणी’ इति ॥

यथा—

निविष्टाया कोपाद्रुसदसि पङ्केरुदृशः

पदोपान्ते छायासुपनयति मूर्ध्नि प्रणयिना ।

तथा चक्षुर्लीलाकमलरजसा दूषितमिति

इत मुक्ता मुक्ताफलपरिणता बाष्पकणिका ॥’

यथा—

‘करादस्य भ्रष्टे ननु शिखरिणी दृश्यति शिशो-

र्विलीनाः स्मः सत्य नियतमवधेय तदखिलैः ।

उद्घयणिका वया—॥१॥, १५, ५, ५५, ५, १५१, १, ५॥

यथा वा—

‘व्यधित स विधिर्नैत्र नीत्वा ध्रुवं हरिणीगणाद्-
ब्रजमृगहृशा सदोहस्योत्तसन्नयनश्रियम् ।

यदयमनिशं दूर्वाश्यामे मुरारिकलेवरे
व्यकिरदधिकं बद्धाकाङ्क्षो विलोऽविलोचनम् ॥'

यथा वा—‘अथ स विषयज्यावृत्तात्मा यथाविधि सूत्रवे’ इत्यादि रघो ॥
हरिणी निवृत्ता ॥

अथ वशपत्रपतित छन्दः—'दिट्मुनि वशपत्रपतित भरनमनलगैः' ।

यत्र दिक्षु दशसु मुनिषु सप्तसु च विश्रामः, तथा मरुतमनलग्नैः मगणरगण-
नरगणमगणनगणलघुगुहमिवेशपत्नपस्तिताख्य छन्दो भवति ॥

यथा—

‘नूतनवशपत्नपतित रजनिजललव
पश्य मुकुन्द मौक्तिकमिवोत्तममरकतगम् ।

एष च त चकोरनिकरः प्रपिबति मुदितो
वान्तमवेत्य चन्द्रकिरणैर्मृतकणमिव ॥'

‘सप्रति लब्धजन्मशतकैः कथमपि लघुनि’ इति भारवौ ॥ वशपत्रपतितेति
केचित् । वशवदनमिति शमौ नामान्तरमुक्तमिति ॥ उट्टवणिका यथा—५॥, ५'५,
॥१, ५॥, ॥३, १, ५, १७×४=६८, वशपत्रपतित निवृत्तम् ॥

अथ नर्दटक छन्द — 'यदि भवतो नजौ मज्जलागुरु नर्दटकम्'

यदि प्रथम नजौ नगणजगणौ भवतः, ततो मगणजगणजगणलघवः, अथ च
गुरुर्भवति यत्र तानर्दक छन्दः ॥

यथा—

‘प्रजवनितावसन्तलतिकाविलसन्मधुपं
मधुमथन प्रणम्रजनवाञ्छितकल्पतरुम् ।

विष्णुमभिर्नौति कोऽपि सुकृती मुदितैर्न हृदा
रुचिरपदावलीघटितनन्दंकेन कवि॥”

न यथा-॥१॥ ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३ × ४ = ६८ ॥ यथा
स्फुट्ये-**'जय जय जगन्नाथ प्रेममयीतनुणाम्'** इत्यादि ॥

३१०७२ भेदाः । तेषु कियन्तो भेदा उक्ताः शेषभेदाः सुधीभिः प्रस्तार्याक-
रादुदाहर्तव्याः । इत्यलमतिविस्तरेण ॥

१८०. अथाष्टादशाक्षरप्रस्तारे मञ्जीराछन्दः—

भो. शिष्या, यत्र मन्था मस्तके । आदावित्यर्थः । तत्र त्रयः कुन्तीपुत्राः
कर्णा गुरुद्वयात्मकागणा दीयन्त इत्यर्थः । ततः पादे एक हार गुरुततो हस्तः
सगणः, तदन्ते दुष्णा कङ्कण द्विगुणः कङ्कणो गुरुद्वयम्, ततो गन्धयुग्म लघुद्वयं
सस्थाप्यते, यत्र पादान्ते भव्याकाराश्चत्वारो हारा गुरवः सजीकृताः प्राप्ता यत्र,
एतन्मञ्जीरानामक छन्दः शुद्धकायः सर्पराजः पिङ्गलो जल्पतीति ॥ वाणीभूषणे
तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—‘आदौ कृत्वा कर्णं कुण्डलयुक्तं हारयुगं दत्त्वाथो कुर्यात्ताटङ्कं
पादे कुरु सन्मञ्जीरयुगाभ्या युक्तम् । कृत्वा तात कुन्तीपुत्रसमेतं वै गुरुयुग्मं
दत्त्वा मञ्जीरा सा नागाधीशनिदिष्टा राजति सैषा वक्त्रे ॥

१८१. मञ्जीरामुदाहरति—जहा (यथा)—

काचिष्योषितपतिका सखीमाह—हे सखि, नीलकारा भेषा गर्जन्ति । उच्चा-
रावा मयूरा. शब्द कुर्वन्ति अतिदीर्घा केकामुच्चारयन्तीत्यर्थः । स्थाने स्थाने
पिङ्गदेहा विद्युद्राजते । हाराः स्रजः क्रियन्ते । यतः नीपाः कदम्बाः फुल्लाः ।
भ्रमरा मधुकरास्तेष्वेव गुञ्जन्ति । किं च दत्तो मास्तो वाति । अतो हहे हल्ले
नीचे कथं क्रियते आगता प्रावृट् कान्तो नागतः, अतः क्रीड तावत् । मनोभिल-
पितालिङ्गननिधुवनादिकं यथा भवति तथाभिसारयास्मिन्नवसरे कचन युवानमिति
भावः ॥ यथा वा [णीभूषणे]—‘प्रौढध्वान्ते गर्जद्वारिदधाराघारिणि काले
गत्वा त्यक्त्वा प्राणानग्रे कौलसमाचारानपि हित्वा यन्ती । कृत्वा सारङ्गाक्षी
साहसमुच्चैः केलिनिकुञ्जं शूल्य दृष्ट्वा प्राणत्राण भावि कथं वा नाथ वद प्रेयस्या. ॥’
उट्टवणिका यथा—SS, SS, SS, S, ||S, S, S, I, I, S, S, S, S, १८X४
=७२ ॥ मञ्जीरा निवृत्ता ॥

१८२ अथ क्रीडाचन्द्रछन्दः—

भो शिष्या, यत्रेन्द्रासनमादिलघुः पञ्चकलो गणोऽर्थान्नगणः स एवैकः पादे
पादे भवति पङ्क्तिर्भयगणैः पाद इत्यर्थः । पादे चाष्टादश वर्णाः सुखयन्ति । दण्ड-
लायनः स्थाने स्थाने भवन्ति । यत्र मात्राश्च दश त्रिगुणितास्त्रिंशत् पदे भवन्ति
तन्मात्राभिर्निर्गदं क्रीडाचन्द्र इति छन्दः फणीन्द्रः पिङ्गलो भणतीति वित्त ॥
भूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—‘ध्वजे चामर गन्धकर्णौ रसः कुण्डलं तोमर च
तथा तालताटङ्गनूर्याणि शोभे गुरुद्वन्द्वमत्र । तदा क्रीडया चिह्नितं चन्द्रमेतद्भुजगा-
धिराजः षड्विधेण विस्मयः सर्वलोकप्रियं स जगाद ॥’

इयां सत, श्रुतव पद, सागराभ्यन्तार, तैरिस्तिपुच्छमिरमेव कोकिलकमिति
वृत्तं वनेति । अथ च विधामहन्तो मेवा, गणरा एवेति विवेकः ॥

यथा—

‘लसद्वनेच्छमं मधुरमापन्नमोदकरं
मधुसमयागमे सरति कोकिलिभस्त्रस्रितम् ।
अतिललितवृत्तिं रविद्युतावनकोकिलम्
ननु कलायामि तं तल्लि तथा हुरि नमस्तुतम् ॥’

उट्टवमिषा सेव यतिकृत एव मेव ॥ कोकिलार्क निवृत्तम् ॥

अथ हारिणी कृन्तः—‘वेदत्वं रथैममनमयसागधेसरा हारिणी’

यदि प्रथमं वेदै, ततः श्रुतमि, तदनन्तरमश्चैरिस्ति, अथ च ममनम
यसा मगलमगलनगलमगलमगलमगलमगल, ततश्चेदो शुद्धमवति, तथा हारिणी
कृन्तो मवतीति ॥

यथा—

यस्या निवृत्तिं श्रुतिकृन्तये भीषासिनी शोचने
रागा स्वीयेऽथरिक्ताये सादारणाच्छनम् ।
गौरी कान्तिः प्रकृतिवचिय रम्याङ्गयगच्छरा
सा कृत्तरिचनि न कथं यथा मनोहारिणी ॥

उट्टवमिषा यथा—ऽऽऽ, ५॥, ॥।। -ऽऽ, १ऽ, १, ५ १०×४=१८ ॥
हारिणी निवृत्ता ॥

अथ भाराक्षन्ता कृन्तः—‘भाराक्षन्ता ममनरक्षा गुहा धुतिरद्वयै ।

यथ मगलमगलनगलनगलनगलनगलनगल अथ च शुद्धमव श्रुतिवद्वैरिस्तिम
यथ कभाराक्षन्ताकृन्तः ॥

यथा—

‘भाराक्षन्ता मम तनुरिव गिरीश्रविषारवा
तन्मयं यत्ते अमलकणं तथा परिपुष्यति ।
इत्थं शृण्वन्मवति कलरसनाकुक्षपस्तवी
संरक्षेणो यं श्रमविच्छिन्नं गुहं विज्ञोक्त्वा इति ॥

उट्टवमिषा यथा—ऽऽऽ, ५॥, ॥।। ५१ ॥, १, ५, १०×४=१८
१। भाराक्षन्ता निवृत्ता ॥

अत्रापि प्रत्यारणया कलरसाक्षररेडं लघुमेवविद्यालक्ष्याधि दिक्कतिम

अथाष्टादशाक्षरप्रस्तार एव कानिचिद्वृत्तानि ग्रन्थान्तरादाकृष्य लिख्यन्ते ।
तत्र प्रथमं कुसुमितलतावेल्लिताछन्दः—‘स्याद्भूतात्त्वैः कुसुमितलतावेल्लिता
मनौ नयौ यौ’ ।

यत्र भूतैः पञ्चभिः ऋतुभिः षट्भिः, अश्वैः सप्तमिश्र विश्रामो भवति । अथ
च मत्तौ मगणतगणौ, अथ च नयौ नगणयगणौ, अनन्तर यौ केवलौ यगणावेव भवतः ।
षड्भिर्गणैरष्टादश वर्णाः पदे पतन्ति यत्र तत्कुसुमितलतावेल्लितानामक छन्दो
भवति ॥

यथा—

क्रीडत्कालिन्दीललितलहरीवाहिभिर्दक्षिणात्यै-

वर्ततैः खेलद्भिः कुसुमितलता वेल्लिता मन्दमन्दम् ।

भृङ्गालीगीतैः किसलयकरोल्लासितैर्लास्यलक्ष्मी

तन्वाना चेतो रमसतरल चक्रपाणेश्वकार ॥

उद्ववणिका यथा—SSS, SSI, III, ISS, ISS, ISS, १८×४=७२ ॥
यथा वा—‘गौड पिष्टान्न दधि सकृशर निर्जल मयमम्लम्’ इत्यादि वाग्भटचिकि-
त्साग्रन्थे ॥ कुसुमितलतावेल्लिता निवृत्ता ॥

अथ नन्दनछन्दः—‘नजमजरैस्तु रेफसहितैः शिवैर्हयैर्नन्दनम्’

यत्र नगणजगणमगणजगणरगणै रेफेण रगणेन सहितैरेतैः षड्भिर्गणैः अथ च
शिवैरेकादशभिः, ततो हयैः सप्तभिः, विश्रामो यत्र तन्नन्दनमिति छन्दो
भवतीति ॥

यथा—

तरणिमुतातरङ्गपवनैः सलीलमान्दोलित

मधुरिपुपादपङ्कवरजःसुपूतपृथ्वीतलम् ।

मुरहरचित्रचेष्टितकलापसस्नारक

क्षितितलनन्दन व्रज सखे सुखाय धृन्दावनम् ॥

उद्ववणिका यथा—III, ISI, SII, ISI, SII, SII, १८×४=७२ ॥
यथा वा—‘अकृत घनेश्वरस्य युधि यः समेतमायोधनम्’ इति भट्टिकाव्ये ॥ नन्दनं
निवृत्तम् ॥

अथ नाराचछन्दः—‘इह ननरचतुष्कसृष्टं तु नाराचमाचक्षते’

मो. शिष्याः, इहाष्टादशाक्षरप्रस्तारे नान्तगणद्वयरगणचतुष्टयाम्या सृष्टम्,
अथ च दिनकररसविश्रामं छान्दसीया नाराचमित्यचक्षते ॥ षोडशाक्षरप्रस्तारे
नराचः, अत्र तु नाराचः, इत्यनयोर्भेदः ॥

उट्टवणिका यथा—SSS, IIS, ISI, IIS, SSI, IIS, $12 \times 4 = 48$
॥ शार्दूलसहित निवृत्तम् ॥ अत्रापि प्रस्तारगत्याष्टादशाक्षरस्य लक्षद्वय द्विषष्टि-
सहस्राणि चतुश्चत्वारिंशदुत्तर च शत २६२१४१ भेदाः । तेषु कियन्तो भेदाः
प्रोक्ताः । शेषभेदा विशालबुद्धिभिराकरात्स्वमत्या वा प्रस्तार्य स्वयमूहनीया
इत्यल पल्लवेन ॥

१८६. अयैकोनविंशत्यक्षरप्रस्तारे शार्दूलविक्रीडित छन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र प्रथम भो मगणः, ततः सो सगणः, ततो जो जगणः,
ततः सो सगणः, ततो जो जगणः, ततोऽपि सगण एव, अनन्तर तगणः, ततः
तो तगणः, समन्तगुरवो सम्यगन्ते गुरुर्येषामेव पङ्क्ता यत्र । अत एवैकोन-
विंशतिवर्णाश्चतुःपदे षट्सप्ततिः पतन्ति । किं च पद एकादश गुरवः, अष्टौ लघवः,
पदचतुष्टये चतुश्चत्वारिंशद्गुरवो द्वात्रिंशत्लघवः, एतस्य छन्दसः पदचतुष्टयस्य
मात्रापिण्डसख्या विंशत्युत्तरशतमात्रात्मिका भणिता । एतदुक्तं भवति—अतुश्चत्वा-
रिंशद्गुणा द्विगुणाभिप्रायेणाष्टाशीतिर्मात्राणा यत्र निष्पन्ना द्वात्रिंशच्च लघवो
विद्यन्त एव, सभूयैक (व) विंशत्युत्तरशतमात्रात्मकम् अर्कं (१२) मुनि (७)
विश्राममिद शार्दूलविक्रीडितमिति साटक पिङ्गलकविर्जल्पति तत् मुणो जानीत
इत्यर्थः ॥ अथ चैकस्मिंश्चरणे एकादशगुणा द्विगुणाभिप्रायेण द्वाविंशतिः कलाः,
लघवश्चाष्टौ, इति सभूय त्रिंशत्कलाः, तच्चतुष्केषापि प्रोक्तैव कलापिण्डसख्या
भवतीति यथा— $30 + 30 + 30 + 30 = 120$ ॥ तथा च छन्दोमञ्जर्याम्—
'अर्काश्चैर्यदि मं सजौ एततगाः शार्दूलविक्रीडितम्' इत्युक्तम् ॥ वागीभूषणे तु
प्रकारान्तरेणोक्तम्—'कर्णः कुण्डलसगतः करतल चामीकरेणान्वित पादान्तो
रवनूपुरेण कलितो हारौ प्रसूनोज्ज्वलौ । गुर्वानन्दयुतो गुरुर्येति भवेत्त-नूनविंशाक्षरं
नागाश्री-वरपिङ्गलेन भणित शार्दूलविक्रीडितम् ॥'

१८७. शार्दूलसाटकमुदाहरति—जहा (यथा)—

कर्पूरमञ्जरीसाटके देवीनियुक्ता विचक्षणा रावान् श्रावयन्ती वसन्तवर्णनानन्तरं
दक्षिणानिलमुपवर्णयति—ये दक्षिणानिलाः प्रथम लङ्कागिरिमेखलातस्त्रिदश-
चलकटकात् स्खलिताः तदनन्तरं समोहेन निधुवनेन स्त्रिजानामुदगीणा स्फारोस्कुल्ल-
फणावलीकपलनेन पानेन दरिद्रत्वं मन्दत्वं प्राप्ताः, त एवेदानीं मधुसमये मलय-
निला विरहिणीना निश्वासै सह सर्पविषं सन्त शिशुत्वे सति तारुण्यपूर्णा इव
भट्टिति बदला जाता ॥ उट्टवणिका यथा—SSS, IIS, ISI, IIS, SISI, SSI,
2, $12 \times 4 = 48$ ॥ यथा वा [णीभूषणे]—'सौमित्रे किमु मृगयते प्रतिलता-
वृज्ज कुरङ्गेक्षरा हन्तैतद्विपिने मनागपि न वा नेत्रातिधिमैधिली । एषी निख-

यथा—

दिनकरतनवातटीकानने वास्तवचारिणी

अवगनिष्टदृष्टमेवैषा कृष्ण राधा स्वयि ।

ननु विस्मरति नेषनाराचमेवाविष्टमेव

वविह मदनविभ्रमोद्भ्रान्तचिन्ता विषयत्वं हृत्तम् ॥

उद्धवनिष्ठ यथा—॥॥, ॥॥, ५५, ५५, ५५, ५५, ५५, १८×४=७२ ॥

यथा वा—‘रघुपतिरपि बाणवैरोविशुद्धा प्रपन्न प्रियाम्’ इत्यादि रघौ ॥ नागपौ निवृत्त ॥

अथ चित्रलोकास्तथा—‘मराकन्ता यमुगलकठरा कीर्तिता चित्रलोका’

भोः शिष्याः सप्तवशाच्चर्यस्तारे सम (न) स्तर्गतमन्त्राश्चन्तास्तुति वर
 फान्तामुगले अर्थद् शुद्धपरपाने । (यस्या) एवविषं कठरं यस्याः । तथा च
 शुद्धपरपदावेष्टे लघुरधिष्ठे दातव्याः । तेन यमुगलकठरा अन्तारिक्षमयम्
 चेत्स्यात् तदा तैव चित्रलोका कीर्तिता । एवं च—मगलमन्त्राश्चन्तास्तुति
 (४) इव (७) मुनि (७) मिर्बिरचितविरतिमित्रलोकेति कलि
 चेड्यः ॥

यथा—

राष्ट्रेऽमुष्मिन्नगति मुगदरां वारत्तं यवादी

राष्ट्रप्ये मन्त्रमुक्तितमा वेपता वा व्यवाधि ।

नेताहन्तेकवपुर्बिभ्रतामन्त्रेणाभ्युत्तव

प्रीतं तस्य नमनमुगममूष्मिन्नलोकार्मुक्तवाम् ॥

उद्धवनिष्ठ यथा—५५५, ५५, ॥ ५५ ५५, ५५, १८×४=७२

॥ चित्रलोका निवृत्ता ॥

अथ शार्ङ्गलसितं स्तम्भ—मः सोवा सतता दिनेशकृत्तुमि शार्ङ्गलसितवम्

भोः शिष्याः, यत्र प्रथमं मगलम्, तत्रा सगलाः, ततो चयव्यः, ततः एतत्तः
 सगलमुगमगलम् मरति । दिनेशैवावश्यामि श्रुत्तुमि पद्मिन् विरतिपत्र तप्सुर्म्
 लसितं स्तम्भे मरतीति ॥

यथा—

कृता कंठमुने पराक्रमविधि शार्ङ्गलसितं

यद्यपि पितृमारकशिशु मुगरातिपतिहम् ।

संलोपं परां न देवनिबद्धं मेलावपरणं

मेवा नः स तनागमरमदिमा शङ्कमीप्रियामः ॥

पमीक्षते मधुकरभेदी समुद्रमुम्भते निगच्छे चमरी चरत्पि निरुद्धं
पिप्प्री गायति ॥

१८८ अथ प्रकारान्तरेण शार्ङ्गलस्यमेव लक्ष्यति—

हे मुग्धे यत्र प्रसारे क्षिपमाणे प्रपन्नं पूर्वोक्तरीत्यैव त्रयश्रामरकर्म बभूवन्महा
श्वेतकर्णश्रामरपक्षे, गुरुपक्षे—‘कर्मैरक्षरैश्चक्षुषा मनोहरा गुरुवक्ष्यो हरस्ते ।
तप्येभ्य उदनन्तरं मगधानन्तरमित्यर्थः । लघुनिष्पि लघुवक्ष्यं तथा चामर पक्षो
गुरु’ तेन सगले भवतीत्यर्थः । उत उच्छिखो गन्तुमुदरे लघुगुरु उदनन्तरं दिग्धे
दिप्यन्तु गन्तुं बीन् गन्तोस्तत्तद्वृत्तेत्यर्थः । उते वे चामरं चामरपक्षं गुरुवक्ष्यं चेत्ता
रेखान्तं लक्ष्यन्तं देहोत्पत्तिः । एवमभावात्तत्र बर्णाः उत्पद्यन्ते क्षनिमन्त्र करधे गुरुवक्ष्यं
करजीवाः । एवं तत्र प्रसारा, तप्यश्वर्गलस्यार्थं मुग्धे जानीहीत्यर्थः ॥

१८९ यथा (यथा)—

कपूरमञ्जरीसाटकरं मेरुबानन्धतमाह्वयकूर्ममञ्जरीकल्पपरं किमुक्तं प्रति यमो
वचनमिदम्—यस्या चोत्ताञ्जनात्तच्छोभमारुतं शोचनस्तुङ्गपरि शोचनस्तुङ्गम्,
अथ च यस्या मुक्तं लामान्यलक्षणाणि यत्र तादृशम् किं च इत्याहमित्येवमप्युक्तवचने
यस्या हिन्दवो दुर्जने । अपि च—यदेवैवं विषयाश्च त्रिं निवर्तितं परिपूतमासीत्
तं तमे (हे) बार्द्धभाषास्तन्मन्त्रेलाङ्गयति रानन्धेतिरिधिश च्छास्त्रीवापयस्या
अन्तुगानामाश्चर्यसामानेना कननी तत्रलोकविद्यमवमुमिरिं कुन्तलविषयकव्या
कूर्ममञ्जरी अमुना प्रत्यक्षितेन योगीश्वरेण योगेश्वरेण मेरुबानन्धेनानीति
इतिप्रपञ्चस्यैवमनगराक्ष्यानकर्मना समाह्वयेत्यर्थः ॥ यथा वा—‘योकिन्दं प्रकम्पे
समाङ्गरुते ते (तं) योक्ताहर्निशं पापी पूज्य तं मना हर पदे त्वात्तत्र
गच्छतम् । एवं केकुब्धासितं मम हितं शीघ्रैरपस्तद्भुवं म मेवै भवता कृते
भयमहाशार्ङ्गलविश्रीकृतम् ॥ उद्धवमिदं यथा—५५५, ॥ ५, १ ५, ॥, ५५५,
॥ ५, ५, ॥ ५, १६ × ४ = ७९ ॥ शार्ङ्गलविश्रीकृतं निवृत्तम् ॥

१९ अथ चन्द्रमालाचन्द्रा—

हे सुन्दरि, प्रथमं स्थापयित्वा द्विचरयुगलम् अतुर्बपुङ्गवयुगं मध्ये कृत्यं
कुत्र पुनरपि द्विचरयुगलम् । एवं कृते मध्यस्थं कृत्यं कुत्र त्रयगण-
निमलान्तविशिष्टान् शुक्तिं अस्या मनोगतिं स्थाप्यते निरुपपत्तीक्रियते यत्र तं
विमलमतिहरगपतिं पिङ्गलचन्द्रमालामिति वक्ष्यति ॥ श्रूयतेऽप्युक्तम्—
‘द्विचरगणयुगनुपचाप परिकल्प्य करमथ मगनयुगलमिह तप्ययुगमनुगिर ।
चन्द्रिपतिमपिस्तमिति चन्द्रमिदमिति शृणुत तत्तत्तद्विपुलद्वयमोदकमस्तुत ॥

१९१ चन्द्रमालाचन्द्रावति—यथा (यथा)

काचिदतिनिसृष्टार्थं दूती कामपि प्रोषितपतिकामाह—हे सखि, अमृतकरस्य
यूषभानोः किरणान्धारयति । ओषधीनाथत्वात्तस्य । तादृश फुल्लवहुकुसुम
ानाविधसुरभिप्रसून वनमिदं जातमित्युद्दीपनम् । किंच कामोऽप्यवसर प्राप्य कुपितो
भूत्वा प्राकृते पूर्वनिपातानियमाद्वहद् (?) भाषाकृतयमकानुरोधाद्वा विन्यासः ।
वस्तुतस्तु मदनोऽतिरोषणो भूत्वा शरान्सुनमकुसुमत्वात्कौसुमत्वात्कौसुमानेव
चाणान्निजे घनुषि स्थापयित्वा घरहं धारयति । अर्थाद्दनुस्तादृशमायोजितकाण्ड-
मण्डलीभूतकोदण्डं निजबाहुदण्डेन धृतवानिति भावः । अपि च पिकोऽपि रवहं
रौति पञ्चमं कूजतीत्यर्थः । अतोऽयं समयो णिकं परमरमणीय इत्यर्थः । अतश्च हे
सखि, तवापि हृदयं किं स्थिरम् । अपि तु स्थिरमिति काका । गमितानि दिनानि
न पुनर्मिलन्ति । किं च सखि, प्रियो भर्ता निकटे नास्त्यतः परमं सुखमिति भावः ।
अत एवोक्तमभियुक्तेन—‘मेघच्छन्ने दिवसे दुःखचारासु नगरवीथीसु । भर्तुर्विदेशगमने
परमसुखं जघनचपलायाः ॥’ इति ॥ यथा वा [णीभूषणे]—‘अनुपहतकुसुमरस
तुल्यमिदमधरदलममृतमयवचनमिदमालि विफल्यसि चल । यदपि यदुरमणपदमीश
मुनिद्विदि लुठति तदपि तव रतिवलितमेत्य वनतटमटति ॥’ उट्टवणिका यथा—
॥ ॥, ॥॥, ॥५, ॥॥॥, ॥॥॥, १६×४=७६ ॥ इति चन्द्रमाला निवृत्ता ॥

१९२ अथ धवलच्छन्दः—

हे युवति, विमलमतिर्वासुकिः पिङ्गलो महीतले करोति धवला धवलारव्य
चूचमिति । तत्त्वं शृणु यत्रादौ हे रमणि, स्थापयित्वा सरसगणान् पदे पदे पतितास्ता-
नाह—दिबद् [ति] द्विजगणाश्चतुर्लघुकाश्चतुरश्रतुष्पदे (द्या) फणिपतिः सही
सत्यं भणति पठतीत्यर्थः । द्विजगणचतुष्टयपाठानन्तरं कमलगणो गुर्वन्तः सगणः
करः पाणिः ‘कमल इत्यम्’ इत्यत्रैवोक्तत्वात्स देयः । हे सरसमानसे सुमुखि,
एवमुक्तप्रकारेण गणसन्निवेशो यत्र तद्धवलनामक छन्दः कही कथ्यते इत्यर्थः ॥
भूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—‘द्विजवरगणत्रि (?) तयमिह हि नगणयुगलक
त्रिमलवलयमपि च कलय सकलजनसुखम् । फणिपतिवरभणितममलधवलमिह हित
त्रिमलकविकुलद्विदि वलितमिति भुवि वलितम् ॥’

१९३ धवलामुदाहरति—बहा (यथा)—

काचित्स्वयंदूती पथिकासक्ता तमाह—तस्यास्तरणिः सूर्यं तपति । धरणी प्रचण्ड-
मार्तण्डकरप्रकरसपर्कात्क्षितितलमतितप्तमित्यर्थः । किंच—पवनः खरो वहति । निकटे
जलं च नास्ति । महामरुस्थलं जननीवनहरमिदं विद्यते मारवं वर्त्तेति शेषः ।
दिशो हरितोऽपि तिग्ममरीचिनिचययोगाच्चलन्तीव । अतो हृदयं कम्पते ।
अहमेकला वधूः, गृहे च प्रियः स्वामी नास्ति । हे पथिक, शृणु तव मनः

यत्र रसैः पङ्क्तिभिः, ऋतुभिः पङ्क्तिभेव, अथैः सप्तभिः कृतविरतिः, अथ च
टमौ यगणमगणौ, अथ च न्यौ नगणसगणौ, गगणद्वयगुणयुतौ चेद्भवतस्तदा
मेघविस्फूर्जिताल्लन्दः स्यादिति ॥

यथा—

कदम्बा मोदाढ्या विपिनपवनाः केकिनः कान्तकेका
विनिद्राः कन्दल्यो दिशि दिशि मुदा ददुंरा दतनादाः ।
निशानृत्यद्विद्युत्पसरविलसन्मेघविस्फूर्जिताश्चे-
द्वियः स्वाधीनोऽसौ दनुजदलनो राज्यमस्मान्न किञ्चित् ॥'

यथा वा—

'उदञ्चत्कावेरीलहरिपु परिध्वङ्गरङ्गे लुटन्तः
कुहूकण्ठी कण्ठीरवरवलवत्रासितप्रोपितेभाः ।
अमी चैत्रे मैत्रावरुणितरुणीकेल्यङ्गेक्षितमल्ली-
चलद्वल्लीहल्लीसकसुरमयश्चण्डि चञ्चन्ति वानाः ॥'

इति राक्षसकविकृत दक्षिणानिलवर्णनम् ॥ उट्टवणिका यथा—ISS, SSS,
III, IIS, SIS SIS, S, १६, X ४ = ७६ ॥ मेघविस्फूर्जिता निवृत्ता ॥

अथ छाया छन्दः—'मवेत्सैवच्छाया तयुगलयुता स्याद् द्वादशान्ते यदि'

भोः शिष्याः, सैव मेघविस्फूर्जितैव यदि द्वादशान्ते यदि द्वयान्ते सगणान्त इति
यावत् । तत्र रेफयुगस्थाने तयुगलयुता तगणद्वयसहिता । आदेशान्वायेनेति भावः ।
विरतिश्च सैव । शेषं समानम् । यत्र मवेत्तच्छायानामक छन्दो भवतीति ॥

यथा—

'अमीष्टं लुप्तो यो वितरति लसद्दोश्चास्त्राखोज्ज्वल.
स्फुटन्नानारत्नः स्तवकिनतनुश्चित्राशुकालम्बितः ।
न यस्याद्घ्नेच्छायाभ्रपगतवता संसारतीनातप-

स्तनोति प्रोत्ताप जयति जगता कसारिकल्पद्रुमः ॥
उट्टवणिका यथा—ISS, SSS, III, IIS, SSI, SSI, S १९ X ४ = ७६ ॥
छाया निवृत्ता ॥

अथ सुरसाछन्दः—'भ्रौ भ्रौ यो नो गुरुश्चेत् स्वरमुनिकरणैराह सुरसाम्'
भो शिष्याः, यत्र भ्रौ मगणमगणौ, अथ च भ्रौ मगणनगणौ भवतः, ततो
यो यगणः, ततो नो नगणः, अनन्तर गुरुश्चेत् । अथ च—स्वरैः सप्तभिः, शुनिभिः
सप्तभिः, कणैः पञ्चभिः कृतविश्रामा सुरसाप्राह नागराव इति शेषः ॥

यथा—

‘अमकीडासुत्थो मधुसमसमारम्भरमसा
 लभसिन्दीकृतकुञ्जो विहरमकुत्थमकुञ्जहरका ।
 गोविन्दो बल्लवीनामभररसुत्था प्राप्य सुरसां
 राहो पीयूषपानप्रमत्तकुत्थस्तं व्यसरदथो ॥’

उद्भविका यथा—SSS, SSS, SII, III, SSS, III, S, १६×४=७१ ॥
 सुरसा निवृत्ता ॥

अथ कुत्थसामञ्जसः—

मोः शिष्या, यवावो मो मगला, उतो गो गुहहवम्, उतव नो नय्यहवम्
 उतोऽपि छे तगवो भक्ता, उतो गो गुहहवं भवति । किञ्च—राजशरणि
 पञ्चस्तसममिः पूर्वविपरीतैर्विचित्रविचरिणं कुत्थसामनामकं प्रविष्टं विस्मयं
 वृत्तं भवतीति विच ॥

यथा—

उत्थसोपानां प्रकटितवदनं व्यक्तमासोक्तं कर्त
 ह्यभ्यन्तेमिस्त्रिदिनवसतिविम्बोमत्तस्वैर्विमुक्तम् ।
 मुग्धामोहेन रथगिरिराविगामोगमाहृतमहं
 मौक्तो हेत्यारेव्यपतदनुपमं स्वस्वरा कुत्थसाम ॥

उद्भविका यथा—SSS ~S III III SS, SSS SS, १६×४=७१ ॥
 कुत्थसाम निवृत्तम् ॥

अत्रापि प्रस्तारगन्धर्वेनविद्यत्यक्षरस्य वाक्प्राप्तं चतुर्विंशतिवृत्त्याप्यवारीतुर्परं
 च यत्तद्वचं (५२४९८८) मेधा । तेषु किञ्चतो भेदा उक्ताः शेषमेवा विशेषरूपेण
 पौन्यराक्यपद्विचारेण वा प्रत्ययै प्रत्याचमीना इति विद्मानुपपत्तिरुक्तमस्माभिरेव
 परम्वत् इति ॥

१६९ अथ विद्यत्यक्षरप्रस्तारे गीताञ्जलिः—

हे मुग्धे यवावो इत्तं तगवो, नरेवपि नरेन्द्रवचं च उवि रम्यपतिना उता
 पादगन्धे मगल, उता पञ्चमो भोदतो रगल, यव च टारस्यद्वि प्राहृत्ये पूर्व
 निपातानिबन्धत् पठे रथाने इत्ता तगन्धे हरयते, तता राशो लघु, तदन्ते नृपुणे
 गुहः, उत नृमड गीतेति नामकं कुत्था तवैलोके शतं कवित्वया सुप्तं
 लघुया च ह्यं विद्यतेन व्याख्यातं च त्वयि प्रजाशितमित्यथार्थं त्वमिदमनां प्रत्या
 हेति भोवनीयम् । अतएव चतुर्थोऽमञ्जर्गमुक्तम्—‘तत्रवा मरो ललगा यद्य कथिता
 तद्य लघु गीतिञ्च’ ।

वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—‘वरपाणिशोभिसुवर्णकङ्कणरत्नरजु-
विभूषिता सुपयोधरा पदसङ्घिनूपुररूपकृण्डलमण्डिता । कणिरानपिङ्गलवर्णिता
कविसार्थमानसहारिका वरकामिनीव मनोमुदे नहि कस्य सा खलु गीतिका ॥’
कामिनीपक्षेऽर्थः स्पष्टः ॥

१६७ गीतिकामुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्कामुकः कामिनीगतमात्रोद्दीपनाय वसन्तमुपवर्णयन्नाह—हे सुन्दरि, यत्र वसन्ते प्राकृते पूर्वनिपातानियमात् चारुकेतकीचम्पकचूतमञ्जरीवञ्जुलानि पुष्पितानि । किञ्च—सर्वदिक्षु किंशुककानने फुल्लनवपलाशवने पानेन तत्तन्मकरन्दास्वादनेन व्याकुला भ्रमरा यत्र दृश्यन्ते । अथ च यत्र गन्धवन्धुः सुगन्धप्रायकत्वात्सुरभिसोदरस्तादृशश्चासौ विशिष्टो बन्धः स्कन्धकविन्यासो यस्य । अत एव बन्धुर उच्चनीचो भूत्वा मन्दमन्द समीरणो मलयानि नो वहति । अतश्चैवविधमदनमहोत्सवसदनरूपे समये तरुणीजनाः प्रियेण सह केलिबौतुक निघुवनकौतुक तस्य यो लासो विलासस्तल्लङ्घिमनि तत्कान्तौ लग्ना यत्र तादृशोऽयं वसन्तसमयः प्राप्तः । तस्मात्त्वमपि यथा सुखं विहरेति ॥ यथा वा [णीभूषणे]—‘अलमीशपावकपाकशासनवारिजासनसेवया गभितं अनुर्जनकात्मजापतिरप्यसेव्यत नो मया । कङ्गापयोनिधिवरेक एव सरोजदामविज्ञोचनः स परं करिष्यति दुःखशेषमशेषदुर्गतिमोचनः ॥’ यथा चाग्रन्थान्तरस्थमुदाहरणम्—‘करतालचञ्चलवङ्कणस्वनमिश्रणेन मनोरमा रमणाय वेणुनिनादलङ्घिमसगमेन सुखावहा । बहलानुरागनिवासराससमुद्भवा भवरागिणं विदधौ हरिं खलु बल्लवीजनचारुचामरगीतिका ॥’ ‘अथ सालतालतमालवञ्जुलकोविदारमनोहरा—’ इत्यादि शिको (१) कान्ये ॥ उद्घवणिका यथा—॥९, १९, १९, ९॥, ९९, ॥९९, २०×४=८० ॥ गीतिका निवृत्ता ॥

१६८ अथ गण्डकाच्छन्दः—

हे सुग्धे, यत्रादौ रगणो मध्यलघुर्गणः पतति, पुनर्नरेन्द्रो जगणः कान्तोऽति-
सुन्दरः, ततः सुष्ठु एवभूतो (तेन) रगणादिजगणान्तेन पट्वेन सह हारमेक गुरु
देहि । तदनन्तरं सुतक्कण स्वशक्त्या निबकवितासामर्थ्येन सुशब्द लघु पादे कुरु ।
तदेतद्भक्तशङ्खशृङ्खलाया गुरुलघुशृङ्खलावन्धक्रमेण फणीन्द्रः पिङ्गलो गण्डकाभि-
धानमिति छन्दो गायति (णय) यत्र पादे गुरुदशकद्वैगुण्येन लघुदशकेन
त्रिशन्मात्रा पतिताः । अत्र च हारशब्दाभ्या ए एकः तीव्रभावः त्रिकलभागः
आव आगत इत्यर्थः । यदि च त्रिकलानां सामस्त्येन संख्या क्रियते तदा दशत्रिक-
लैरादिगुरुकैरेव गण्डका निष्पाद्यन्ते इति भावः ॥ वाणीभूषणे तु प्रकाशन्त

रेवोक्तम्—‘तासामरणस्य पशोषरं च कुण्डलं शरं विधातुं नृपुंरं च नरकं
सपदिपयन्नाम्बामरं निधातुं । सपमनस्यं विदेहि कर्षिठेन पन्थनेनपिहतेन
गण्डकं कवीश्वरमदहतीविनोदकारिणी सुमङ्गलेन ॥’ ग्रन्थान्तरे तिरमेव विवरण-
मिति नामान्तरेवोक्तम् । अत एव ‘अन्तोमम्बर्याम्—विषहृत्तमीरितं त्वा रवे
रवो रवो गुणलमुभ’ ॥ “ ॥

१६६ गण्डकामुदाहरति—यथा (यथा)—

कश्चित्स्वमिदं प्रत्याह—तावद्वृद्धिः, तावत्तुद्धिः, तावद्दानम्, तावन्मानः,
तावद्गौरः, तावदात्मस्यलक्षणे सुस्थितिं सर्वेषां विद्युतेकेमादिचक्रलमेकं अस्मि ।
अत्रान्ते अस्मान्मात्रे आत्मदोषो वैशेष्ये वा अत्र वा भवति महात्मा एव सर्वे
वस्तुस्तु अत्र बुद्धिः, अत्र शुद्धिः, किं वा दानम्, को वा मानः, को वा गौरः ॥
यथा वा [बीमूष्ये]—‘छमस्ति वासुदेव देव किममेवदेव शोकः तु यद्विष्णु
भूतधारसुगुणे विद्यमानविषयं तु । तत्पदार्थमादिशतुं विचितीनि वस्तुस्तु
सर्वदेव शोकस्तुल्यस्तुल्यमूष्यमीतिनाथिनीह इत्येव ॥ तद्वृद्धिः यथा—ऽऽऽ,
ऽऽऽऽऽ, ऽऽऽ, ऽऽऽऽ, ऽऽऽऽऽ, ऽऽऽऽऽ, १ × ४ = ८ ॥ यथा वा ग्रन्थान्तररक्तु-
हरणम्—विषहृत्तलीलायां निरुपारम्भेयस्यविषयेन रावणानतद्वृत्तौविद्यालक्षणा
कलाकुलक्षणेन । यः सर्वं प्रज्ञाकलाक्षेत्रैः सुगुणनानिमैः सुखं तमेव विष्णुस्तत्तत्ताव
विषयस्यैवपदम्भः स मे तदास्तु ॥ गण्डकं निहृत्ता ॥

अथारिम्भेन प्रस्तारे शोमानामर्कं वृत्तं प्रत्यस्तयदाहृत्य विह्वले—
रसादशरवैः शोभा ननुगगनतया मेघविलसतिता वैत ।

यत्र रते पद्विम्बः अथैः समिमा पुनरथैर्विषयविषयिता, अत्र च मेघ-
विलसतिता वैत स्यात्तमगगानतर् नगगनतुल्यकतय भवति । शेषं समानं यत्र
तच्छोमानामर्कं वृत्तं मयतीति ॥

यथा—

तथा पूज्यमीलतयतिप्रमुखा मय्यनगा कलाम्बा
तयोक्तं यत्रतलभितसया विषयमुनिगयास्त ।

सुखमुक्तारुहोत्तकुचलपदपञ्चविध्यामिताया

महो शोभा मोक्षो मितप्रतिपत्तौः हृष्य या वापि यदी ॥

तद्वृद्धिः यथा—ऽऽऽ, ऽऽऽऽ, ॥ ॥, ५, ऽऽऽ ऽऽऽ, ५, १ × ४

= ८ ॥ शोभा निहृत्ता ॥

अथ तुरन्ता कथा—‘अथ तमारुहद्विभारमनवृत्ता श्री या तुरन्ता

यत्र सतभिरेवैः सतभिरेव, ततश्च पङ्क्तिर्विरतिः, अथ च भगणरगण-
गणनगण्यगणा, ततो ग्लौ भगणलघू ततश्चान्ते गुरुर्यत्र सा सुवदना ज्ञेया ॥

यथा—

प्रत्याहयेन्द्रियाणि त्वदितरत्रिपयान्नासावनयना

त्वा धायन्ती निकुञ्जे परतरपुरुषं ह्योत्कृष्टलपुलका ।

आनन्दाश्रुप्लुताक्षी वसति सुवदना यागेकरसिका

कामार्तिं त्यक्तुकामा ननु नरकरिपो राधा मम सखी ॥

उट्टवणिका यथा—५५५, ५५५, ५॥, ॥॥, १५५, ५॥, १, ५, २०×४

==८० ॥ सुवदना निवृत्ता ॥

अत्रापि प्रस्तारगत्या विशत्यक्षरस्य दशलक्षमष्टचत्वारिंशत्सहस्राणि पञ्चसत्युच्च-
राणि पञ्च शतानि १०४८५७६ भेदा भवन्ति । तेषु विस्तरभीत्या क्रियन्तो भेदा
भवन्ति । शेषमेवास्तु सुबुद्धिभिराकरात्स्वमत्या वा प्रस्तार्य सूचनीया इति दिक् ॥

२००. अथैकविंशत्यक्षरप्रस्तारे स्तम्भराद्यन्दोऽभिधीयते—

भोः शिष्याः, यत्र प्रथम द्वौ कर्णौ गुरुद्वयात्मकौ गणौ, ततो गन्धो लघुः,
ततो हारो गुरुः, ततो वलयो गुरुः, ततो द्विजगणश्चतुर्लक्षात्मको गणः, ततो हस्तः
सगणः, ततो हारो गुरुः पतति, तत एकल एको लघुः, शल्यो लघु, अनन्तर
कर्णः, ततो ध्वज आदिलघुस्त्रिकलस्तत्सहितः, तत कङ्कणो गुरुरतिकान्तोऽन्ते यस्य
एवमेकाधिका विंशतिर्वर्णाः पठे यत्र तत्र विवेकः—लघवो नव, द्वादश दीर्घा गुरवो
भवन्ति । एतेन गुरुद्वैगुण्येन चतुर्विंशतिः, अथ च—नव लघव सभूय त्रयस्त्रि-
शन्मात्राः पदे तत्पिण्डो द्वात्रिंशदधिकशतमात्रको यत्र (यथा) सा शुद्धा स्तम्भ-
रानामक वृत्त भवतीति फणिपति पिङ्गलो भणतीति ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरे-
णोक्तम् 'कर्णं ताटङ्कयुक्तं वलयमपि सुवर्णं च मञ्जीरयुग्मं पुष्पं गन्धं वहन्ती
द्विजगणसचिरा नूपुरद्वन्द्वयुक्ता । शङ्ख हारं दधाना सुललितरसनारूपवत्कुण्डलाभ्या
मुष्ठा केशा न चित्तं तरलयति बलात्स्तम्भरा कामिनीव ॥' कामिनीवत्त्वेऽयं
स्पष्टः ॥ छन्दोमञ्जर्यां तु 'मन्त्रैर्याना त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्तम्भरा कीर्तितैर्यम्'
इत्युक्तमिति ॥

२०१ स्तम्भरामुदाहरति—जहा (यथा)—

कर्पूरमञ्जरीसाटकस्य नान्दीपाठकस्य वचनम्—ईर्ष्यारोषप्रसादप्रणतिषु स्वर्ग-
गङ्गाजलैरामूल बहुशो मुहुः पूरितया तुहिनकरकरलारूप्यशुक्त्या शिरसि निहित
ज्योत्स्नामुक्ताफलयुक्तं द्वाभ्यामग्रहस्ताभ्यां शीघ्रमध्ये ददद्ब्रह्मः शिवो जयति सर्वोत्कर्षेण
वर्तते इत्यन्वयः ॥ यथा वा [जीभूषणे]—'अन्वप्रोवास्थिमालावलयविलसद्वाहु-

६४४ प्रचरहा वेगम्पलोत्तुएहापतिप्रवितरन्कारकठोपकठता । कुर्वन्ते यन
 सुद्रुत्तागहनकलद्वर्परप्यानमुच्यैरहृषैरसमाद्देर्विदपति य शिरा कन्दुनकीदितनि ॥
 उहृषिका यथा—SS, SS, 1, 5, 5, 1111, 115, 5, 1, SS, 15, 5
 २१×४=८४ ॥ यथा वा प्रग्याम्तररथमुदाहरणम्— व्याकरोपेनीक्यमा कनक
 पलतलीतवाद्य मुदाया नईरथम्प्रकाशैर्यलमितथिकुरा वादक्यार्कतया । अंशम्
 उहृषकापनिमुस्तितगगद्वकलपीभित्तन्ती मूर्तिगोपरम विष्णोरवतु वाति ॥
 सत्पराहाधिया ॥ सत्परा निहृता ॥

१ २ अथ नरेन्द्रप्रभुः—

भ्योः शिष्या, यथाशौ पादगण्ये भगवा प्रवृत्तितो मवति, ततो बोहो रण्यः
 रथम्पते, ततः अदहो लपु, ततः शम्भो लपु, ततो गन्धो कपुरेभ, एवं मुनिय
 अतुल्लमुच्ये गण, तता कटुलो गुरुर्यत्र विवते, तता शम्भो कपुरेभे वन त्वं
 सत्पम्, ततो नरपतिर्कल्पयति, तता सुमय्यः शङ्को लपुः पूर्वगम् तत्तमाम
 मुम् गुरुरहन्ममते क्व प्रवृत्तितम् एतन्नरेन्द्रात्कर्म कर्म कर्म इत्यर्थः ॥ अथ व—
 यथा मरपतिभलति तदैतत्तव मवति । यथा पूर्वं गन्ताः प्रचरति, ततः वादक्यम्भो
 मवति, तदनन्तरं गन्तव्य कर्पूरागुदसायदेर्शनम्, तदनन्तरं गन्तव्य कर्पूरागुदसा
 देर्शनम्, तदनन्तरं कटुबादिमूषं प्रसन्नेन नरेन्द्रेण महावीरेभ्यो ईमित् इत्यादि
 पादशब्दनिविष्टीयकरोऽर्थे यथायुक्तं बोक्तीत्यं सुमतिमिदित्युपरम्यते ॥ वागीमूषे
 तु प्रचरान्तरेभोक्तम्—‘वामररत्नरत्नपुरपरिगतविषयगन्धहितयोमा पाद्विदित्यवि-
 पुष्पमुगविदित्यविदित्यकटुवर्तगन्तव्यः । वादक्यमूर्तकुरवत्तपुष्पलितरोचिरत्तंकुतवर्तः
 पिङ्गलसन्नेनोद इति निगमति यद्यपि वृत्तनरेन्द्रः ॥

१ ३ नरेन्द्रमुदाहरति—अथा (यथा)—

अविद्योपिपतिना निकलनीम्राह—इति तस्मिन्, पुष्पितं किञ्चिन्म । अन्त्यमपि
 तथा प्रवृत्तितं विवृत्तितमित्यर्थः । अथा अविद्योऽथ मन्त्रार्थं तस्मिन् अन्त्यमन्त्ररीका
 अथा इत्यर्थः । किञ्च इतिभो वातो मलमानिनाः शम्भो मूषा प्रवहति । अतः
 कन्ते विषेतिनिहृषकम् । अथ च केतकीपूतिः तर्कविह्व प्रसृता । अतः पीत
 तर्कतो माछे इत्यादिसत्त्वमचतो वतन्त आगता । अथा अरमात्तलि कि
 करिभ्यामि कर्ष वा नेष्यामि विषयनेतान् । अन्ता पारये ग तिष्ठति ॥ यथा वा
 [वीमूषे]—‘गुरुकरोप्यानपरममुदरगीतमनोक्तवाग्य पद्यमनादवापरस्य
 अनमनस्तसमाग । कस्तमविषयमुक्तकुलवरत्नवीकनज्ञानपुरताः किं करवावि वधि
 मम सहचरि तनिविमेति कस्तमा ॥ उहृषिका यथा—SS, SS, 1, 1, 1111,
 5, 1, 15, 1, 1, SS, २१×४=८४ ॥ नरेन्द्रो निहृता ॥

अथास्मिन्नेव प्रस्तारे ग्रन्थान्तरात्सरसीछन्दो लक्ष्यते—‘नजमजजाजरौ यदि
तदा गदिता सरसी कवीश्वरैः’ ।

यत्र नगणजगणभगणजगणजगणा भवन्ति । अथ च जरौ जगणरगणौ भवतो
यदि तदा कवीश्वरैः सा सरसी गदिता । तन्नामक छन्द इत्यर्थः ॥

यथा—

चिकुरकलापशैवलकृतप्रमदासु लसद्रसोर्मिषु
स्फुटवदनाम्बुजासु विकसद्भुजवालमृणालवल्लिषु ।
कुचयुगचक्रवाकमिशुनानुगतासु कलाकुतूहली
व्यरचयदन्त्युतो व्रजमृगीनयनासु विभ्रमम् ॥

यथा वा—‘तुरगशताकुलस्य परितः परमेकतुरगजन्मनः प्रमथितभूभृतः
प्रतिपथ मथितस्य भृश महीभृता । परिचलतो बलानुजबलस्य पुरः सतत धृतश्रि-
यश्चिरगलितधियो जलनिवेश्र तदामवदन्तर मद्भृत् ॥’ इति माघे ॥ उट्टवणिका
यथा—||, |S, |S||, |S, |S, |S, |S, २१ × ४ = ८४ ॥ इदमेव ग्रन्थान्तरे
‘सिद्धकम्’ इति नामान्तरेणोक्तम् ॥ सरसी निवृत्ता ॥ अत्रापि प्रस्तारगत्यैकविंशत्य-
क्षरस्य नखलक्ष सतनवतिसहस्राणि द्विसमधिकपञ्चाशदुत्तर च शत २०६७१५२
भेदा भवन्ति । तेषु भेदत्रय प्रदर्शितम् । शेषभेदाः सुधीभिः स्वबुद्ध्या प्रस्तार्य
सूचनीया इति दिक् ॥

२०४ अथ द्वाविंशत्यक्षरप्रस्तारे हसीछन्दः—

भोः शिष्याः, यत्र विद्युन्मालाया वसु (८) गुरुचरणायाः पादपाते सति
त्रयो द्विजगणाश्चतुर्लघ्वात्मकगणाः, तथा बहुगुणयुक्ताः पतन्तीत्यर्थः । तस्यान्ते
वसुगुरुद्विजगणत्रयान्ते कर्णेन द्विगुर्वात्मकेन गणेन शुद्धौ वर्णौ यत्र यत्र च पदे पदे
प्रतिपद गुरुदशकद्वैगुण्येन विंशतिः (२०) द्विजत्रयाणा (१) दिनकर (१२)
लघवः सभूय द्वात्रिंशन्मात्राः प्रकटिताः । एव यत्र गुरुणा लघूना प्रकटितेणमा
(शोभा) स (त) देतद्वंसीनामक छन्दः सकलबुधजन्ममनोहरणे मोहा मोहरूप
पण्डितजनमनोविस्मायकमिदं गुणयुक्तं कविवरः फणिपतिर्भण्तीति जानीत ॥
वाणीभूषणेऽप्युक्तम्—‘यस्यामष्टौ पूर्वे दीर्घास्तदनु कमलमुखि दिनकरसंख्या ह्रस्वा
वर्णा पीनोत्तुङ्गस्तनभरविनमितसुभगशरीरे । दीर्घावृत्त्या लीलालोले यतिरिह विरमति
कुलगिरिपञ्चैर्द्वाविंशत्या वर्णैः पूर्णा प्रभवति कुसुममृदुलतरहसी ॥’ छन्दोमञ्जर्यामपि
—‘मौ गौ नाश्रत्वारो गो गो भवति वसुसुवनयतिरिह हसी ।’ यत्र मौ मगणद्वयम्,
अथ च गौ गुरुद्वयम्, तदनन्तर चत्वारो ना नगणचतुष्टयमित्यर्थः । ततश्च गो गो
गुरुद्वयमेव यत्र भवति । यतिस्तु प्रथम वसुष्वष्टसु ततो सुवनैश्चतुर्दशभिर्भवतीति
विभ्रामभेदेनोक्तम् ॥

२ ५. ईषीमुवाहरति—यथा (यथा)—

अचिच्छीदा नायिक्य शरत्तमयमुबर्णयन्ती निब्रतसीमाह—इं तसि, नेनन्त्ये-
लोचनानन्दकरी चन्द्र उदैति, किं च यफलचमरसमशीतक्यस्त्रिभुवन इव तत्र
तेभ्यः यस्या रश्म्या हारा इव संचयति । अथ य—विच्छिद्यं कमलवनम्, अत एव
परिमलाः सुगन्धाः कन्वा यव तादृशम् । अपि च सर्वशायु कला भूतये
मधुरम् पयसा लहलहं करोति । मन्मन्वसंवरये 'लहम्' इत्युक्तम् । किं च
इहा सद्बू कूटस्थस्य । अतः पुष्पयन्तुः शरत्तमवा सन्ति, इदम् इति रसोत्तम
कलेन हृदयहारये भवतीत्यर्थः ॥ यथा वा [लीमुपये]—'भीकृष्येन श्रीवन्दनी
कविद्वि वनमुषि मनसिबभावा गोपाक्षीना चन्द्रणोक्तानिहरन्निब्रतसी-
लीनाम् । धर्मभ्रष्टव्यवसायीनामुपचितरमरमिमततनुमाणा राघवीकान्तान्त
मुदमुपनयति मलयगिरिवाता ॥' उद्धवशिक्षा यथा—SSSSSSSS, III, III, III
SS २९ X ४ = SS ॥ यथा वा प्रस्थान्तरे—'सर्वे कान्तेऽन्तौ विकचकमलम्
सुर्यमि पिबन्ती कामक्रीडाम्भूतस्तीतप्रमदसरसज्जरमच्छु वसन्ती । कालिन्दीने पद्मारम्भे
पवनस्तनवरतरतपरमो कंचारते पश्य स्नेह्यं सरमक्यातिदिह किलसति ईषी ॥
ईषी निहृत्वा ॥

अथासिन्नेव प्रस्तारे प्रस्थान्तराग्मदियनामकं कुम्भोऽभिधीयते—'उत्तमभर
धुतैक्युद्गारितेननुशरतया मविय ।

यैश्चे गुह्यमै कर्तमाना उत्तमभरपुङ्गु मयनस्तकपुङ्गु मवति तन्मादियमि
चानं कुशो मकरीति ॥

यथा—

माचवमासि विहस्वरकैरपुष्पलतम्भदियतुरितै

र्यङ्गकुलेरुपगीतकने वनमासिनमासि कलानिबन्धम् ।

कुञ्जरहोदरपद्मकल्पितवस्त्रमनल्पमनोभरतं

त्वं भव माचविश्वगुप्तमर्तक्यागुनवातहृत्पगया ॥

उद्धवशिक्षा यथा—SS, SS, SS, SS, SS, SS, SS, SS २९ X ४ =
SS ॥ मन्त्रि निहृत्वा ॥ अथापि प्रस्तारयामा द्वाविस्तवचरस्यैक्यत्वारिद्यस्तवापि
चतुर्नवतिसहस्राणि चतुर्दश शतवर्षं च ४९६४३ ४ मेवा । तेषु मेवद्वयमुक्तम् ।
शोपमेवा शस्त्रपीत्वा प्रस्थाय प्रतिमाषादिददाहर्तमा इति विह्मावमुच्यदियते ॥

२ ६ अथ जयोविश्वम्भरप्रस्तारे सुन्दरीकृत्वा—

मोः शिष्याः यवाही हस्तः लग्नये भवति तथा करतलं लग्न एव, तदा
पादगो भगवा लयी लहृन्धु लपुद्धवमित्यर्थः । तदनन्तरं लहृ तिभ्य वक्ष्यते ।

गुरुत्रयमित्यर्थः । ततः पहिल्ली प्रथम शल्यमेव लघुमेव स्थापय स च शल्यो लघुः
चमरदिहिल्लौ चमरगुरु मिलित्वैतदग्रे गुरुर्मवतीत्यर्थः । ततः सल्लजुञ्ज शल्ययुगं-
लघुद्वयमित्यर्थः । पुनर्यत्र वङ्क ठिआ वक्तो गुरुः स्थितः । ततः पदे पदे प्रतिपदमन्ते
हस्तगणः सगणः प्रमण्यते । एव त्रयोविंशतिवर्णाः पादे यत्र प्रमाणीकृताः ।
तदेतन्मात्राभिर्वर्णैश्च प्राप्त सुन्दरीनामकं छन्दो भणितमशेषैः कविभिः प्रमण्यते.
भवसु कथ्यते इत्यर्थः ॥ वाणीभूषणे तु प्रकारान्तरेणोक्तम्—‘करसङ्घि सुवर्णद्वयवलाया-
ताटङ्कमनोहरशङ्खधरा कुसुमत्रयराजच्छ्रवणविलोलकृण्डलमण्डितरत्नधरा ।
भुजसमतकेयूरजमुविलासा पिङ्गलनागसमालपिताकिल सुन्दरिका सा भवति तदा
पद्मावतिका कविराजहिता ॥’

२०७. सुन्दरीमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चित्कविर्दशावताररूपेण विष्णु स्तुवन्मङ्गलममिनन्दति—येन विरचित-
मीनशरीरेण प्रलयजलधिमध्येतः पद्मजनासुराद्वेदाः समुद्धृताः, येन च कृतकूर्मरूपेण
पिङ्गिहि पृष्ठेन महीमण्डल भूमण्डल विधृतम् । किञ्च येन विधृतसूकररूपेण
दन्ताभ्या मेदिनीमण्डलमुद्धृतम् । येन च विरचितनरहरिरूपेण रिपोर्हिरण्यकशि-
पोर्वज्रो विदारितम् अथच येन छल्लतनुधारिणा कृतवामनशरीरेण शत्रुर्वनिर्वद्वधः
पाताले धृतः । अपिच प्राकृते पूर्वनिपातानियमात्क्षत्रियकुल येन धृतनामद्वय
विग्रहेण तापि (कर्म) तम् । येन च विरचितरमावतारेण दश मुखानि दशमु-
सस्य कर्तितानि । खण्डितानीत्यर्थः । येन च कृतरामकृष्णावतारेण कसकेशिनोर्वि-
नाशः कृतः । येन च धृतबुद्धगरीरेण कण्ठा दया प्रकटिता । येन च कृतकल्कि-
रूपेण स्नेच्छा विलापिता विलीनाः कृताः । स नारायणो युष्मभ्य वरममिलपितफल-
ददात्विति ॥ यथा वा [णीभूषणे]—‘शरदिन्दुसमानं व्यपगतमानं गायति दिक्षु
तवैव यशः स्वरसामुनिदेवी विगलितनीवीकामकलाविकला बहुशः । पृथुवेषथुयुक्ता
स्वगृहविपुक्ता स्वेदकलावलिमुग्धमुखी धरणीरमणेन्दो विकसदमन्दोदारसमासवर्ति-
मुखी ॥’ उट्टवणिका यथा—॥५, ॥५, ॥५, ॥, ॥, ॥५, ॥, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५,
२३×४=९२ ॥ सुन्दरी निवृत्ता ॥

अथास्मिन्नेव प्रस्तारे ग्रन्थान्तरादद्रितनयानामक वृत्तमुच्यते—‘नभभजसा-
जमौ लघुगुरु कुपेस्तु गदितेयमद्रितनया’

यत्र नगणजगणभगणजगणभगणा भवन्ति । अथ च जमौ जगणभगणौ, अथ.
च लघुगुरु भवतः साद्रितनया निगदिता । तन्नामकं छन्द इत्यर्थः ॥

२७४. यथा—

खरतरशोयपावकशिखापतङ्गनिममग्रहस्तदनुबो

अलधिसुताविलासप्रसतिः सता गतिरशोपमान्यमहिमा ।

१३६ ॥ $४२ \times ४ = १६८$ ॥ मात्राप्रस्तारे एकस्य कथनाद्द्वितीय त्रिभङ्गीवृत्त निवृत्तम् ॥

२१४ अथ शालूरछन्दः—

हे मुग्धे, यत्रैकः कर्णो गुह्ययात्मको गणः प्रथम (पतितः) द्विजाश्वतु-
ल्लंघुका गणा, सरसपदाः ध्रुव निश्चित पदेषु पतिताः । ततः स्थापयित्वा करं गुर्वन्त-
सगण हे मनोहरणि हे रजनीप्रभुवदने चन्द्रानने, हे कमलदलनयने, तत् वरमति-
सुन्दर शालूरनामक छन्दः सुतरा भणितम् । छान्दसिकैरित्यर्थः । तव पदे मात्रा-
नियममाह—पठ पदे द्वात्रिंशत् (३२) मठ मात्राः हु खलु ठव स्थापय । वर्णाः
प्रत्यक्षा एव । प्रकारान्तरेणोद्घृष्टाणिकामाह—पञ्चलिख इति । तद् अ तथा च
करतल सगण प्रकटित इति प्राकट्यमवसानं लक्षयति । तथा च सगणोऽन्ते ।
तन्मध्ये द्विजगणाश्चतुर्लघुकाः । तान्विशिनष्टि—मात्राभिर्वर्णैश्च सुतरा ललिता
मनोरमाः । चउक्ल चतुष्कलाः छठ षट् किञ्च कृताः कविवरेण पिङ्गलेनेति । यत्र
च दिग्भरसु दिनकरभूः कर्णो द्विगुर्वात्मको गणः अत्र आदौ पञ्च पतितः ।
एवमुक्तं भवति—चतुष्कला पङ्गुणा मध्ये, आदौ कर्ण, अन्ते सगणो यत्र
तच्छालूरनामक छन्द इति ॥ वाणोभूषणे तु—‘कर्णादिवरगणतृ (त्रि ?) तयन-
गणमिह रचय ललितमतिकुसुमगण नारीगणकलितकलितशरकुसुमसुवनककुसुम-
चरकृतस्वनम् । नागाधिपतिगदितमिति च परिमुषितसकलकविवृकुलमतिकचिरं
शालूरममलमिह कलय कमलमुखि मुषितविबुधजनहृदयवरम् ॥’

२१५. शालूरमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वसन्तलक्षणेन प्राप्त सुरभिसमयमुपवर्णयति—यत्र कुल्ल कमलवनम्,
पवनः समीरिणो लघु मन्द वहति, भ्रमरकुलं दिक्षु विदिक्षु भ्रमति । किञ्च वने
भ्रकारः पतति । यतः कोकिलगण पिकप्रकरो चिरद्विगणानां मुखे समुखेऽतिविरम
यथा स्यात्तथा रौति । कूजतीत्यर्थः । यत्र च आनन्दिता युवजनाः । उल्लसित
रमसान्मनो यस्मिन्नेवविषः । सरसजलिनीदलकृतशयनः कुसुमसमय आगतो वने
शिशिरर्तुं फल्लहु प्रत्यावृत्तः । अत एव वसन्तसमयारम्भाद्विषा दीर्घा जाता
इति ॥ यथा वा [जीभूषणे]—‘गोवर्धनगिरिधरमुपचितदितिसुतपरमहृदयम-
दशमनकर व्यर्थीकृतजलधरगुरुवर (पं ?) जमरगतमयनिजकुलदुरितहरम् ।
नन्दालयनिवसनकृतवनविलसनविहितविविधरसरमसपर सवीतवसनधरमरुणकरचरण-
मनुषर सरसिजनयनधरम् ॥’ उद्घृष्टाणिका यथा—ऽऽ, ॥॥, ॥॥, ॥॥, ॥॥, ॥॥,
॥॥, ॥ऽ, $२६ \times ४ = १०४$ ॥ शालूरो निवृत्तः ॥

३६ ॥ $४२ \times ४ = १६८$ ॥ मात्राप्रस्तारे एकस्य कथनाद्वितीय त्रिभङ्गीवृत्तं
नेवृत्तम् ॥

२१४. अथ शालूरछन्दः—

हे मुग्धे, यत्रैकः कर्णो गुह्यद्वयात्मको गणः प्रथम (पतितः) द्विजाश्चतु-
र्लघुका गणा, सरसपदाः नृच निश्चित पदेषु पतिताः । ततः स्थापयित्वा कर गुर्वन्त
सगण हे मनोहरणि हे रजनीप्रभुवदने चन्द्रानने, हे कमलदलनयने, तत् वरमति-
सुन्दर शालूरनामकं छन्दः सुतरा मणितम् । छान्दसिकैरित्यर्थः । तव पदे मात्रा-
नियममाह—पठ पदे द्वात्रिंशत् (३२) मउ मात्राः हु खलु ठच स्थापय । वर्णाः
प्रत्यक्षा एव । प्रकारान्तरेणोद्विगणिकामाह—पञ्चलित्य इति । तद् अ तथा च
परतल सगण प्रकटित इति प्राकट्यमवसान लक्षयति । तथा च सगणोऽन्ते ।
तन्मध्ये द्विजगणाश्चतुर्लघुकाः । तान्विशिनष्टि—मात्राभिवर्णैश्च सुतरा ललिता
मनोरमा । चउकल चतुष्कला छउ षट् किय कृताः कविवरेण पिङ्गलेनेति । यत्र
च दिणअरमु दिनकरभूः षणो द्विगुर्वात्मको गणः अअ आदौ पञ्च पतितः ।
एवमुक्त भवति—चतुष्कलाः षड्गणा मध्ये, आदौ कर्णः, अन्ते सगणो यत्र
तच्छालूरनामक छन्द इति ॥ वाणीभूषणे तु—‘कर्णद्विजवरगणतु (त्रि ?) तयन-
गणमिह रचय ललितमतिकुसुमगण नारीगणकलितकलितशरकुसुमसुवनककुसुम-
वरकृतरसनम् । नागाधिपतिगदितमिति च परिमुपितसकलकवित्कुलमतिवचिर
शालूरममलमिह कलय कमलमुखि मुषितविवुधजनहृदयवरम् ॥’

२१५. शालूरमुदाहरति—जहा (यथा)—

कश्चिद्वसन्तलक्षणेन प्राप्त सुरभिसमयमुपवर्णयति—यत्र फुल्ल कमलवनम्,
पवनः समीरणो लघु मन्द वहति, भ्रमरकुल दिन्तु विदिन्तु भ्रमति । किंच वने
अनार पतति । यतः कोकिलगणः पिकप्रकरो विरहिगणाना मुखे समुत्प्रेक्षितविरस
यथा स्यात्तथा रीति । कूजतीत्यर्थः । यत्र च आनन्दिता युवजनाः । उल्लसित
रमसान्नमो यस्मिन्नेवविधः । सरसनलिनीदलकृतशयनः कुसुमसमय आगतो वने
शिशिरर्तुः फल्लहु प्रत्यावृत्तः । अत एव वसन्तसमयारम्भादिवसा दीर्घा जाता
इति ॥ यथा वा [जीभूषणे]—‘गोवर्धनगिरिधरमुपचितदितिसुतपरमहृदयम-
दशमनकरं व्यर्थीकृतजलधरगुरुवरः (पं ?) णमरगतभयनिजकुलदुरितहरम् ।
नन्दालयनिगसनकृतननिलसनविहितविधिरसरमसपरं सवीतवसनधरमरुणकरचरण-
ननुपर सरसिजनयनधरम् ॥’ उद्वेगिका यथा—ऽऽ, ॥॥, ॥॥, ॥॥, ॥॥, ॥॥,
॥॥, ॥ऽ, $२६ \times ४ = ११६$ ॥ शालूरो निवृत्त ॥

यदि नगणद्वयान्तरमेव प्रतिचरण विवृद्धरेफाः क्रमात् समधिकरगणास्तदा
अर्ण—अर्णव—व्याल—जीमूत—लीलाकर—उद्दाम—शङ्खादयो दण्डकाः स्यु-
रिति । एतेन नगणयुगलवसुरेफेणार्णः । ततः परे क्रमाद्भगणवृद्ध्या ज्ञेयाः । आदि-
शब्दादन्येऽपि रगणवृद्ध्या स्वबुद्ध्या नामसमेता दण्डका विधेया इत्युपदिश्यते ॥

तत्रार्णो यथा—

जय जय जगदीश विष्णो हरे राम दामोदर श्रीनिवासाच्युतानन्त नारायण
त्रिदशगणगुरो मुरारे मुकुन्दासुरारे हृषीकेश पीताम्बर श्रीपते माधव ।
गरुडगमन कृष्ण वैकुण्ठ गोविन्द विश्वंभरोपेन्द्र चक्रायुधाधोक्ष्ण श्रीनिधे
बलिदमन नृसिंह शौरे भवाम्भोधिघोरार्णसि त्व निमज्जन्तमभ्युद्धरोपेत्य माम् ॥

उट्टवणिका यथा, III, III, १११, १११, १११, १११, १११, १११, १११, १११,
३० × ४ = १२० ॥ अर्णो निवृत्तः । एवमन्येऽपि क्रमाद्रेफविवृद्धचरणं दण्डकाः
समुन्नेया इति ॥

अथ प्रचितको दण्डकः—‘प्रचितकसमभिधो धीरधीभिः स्मृतो दण्डको नद्व-
यादुत्तैः सप्तभिर्धैः’ ।

नगणद्वयादुत्तैः सप्तभिर्धैर्गणैर्धीरधीभिः सप्तविंशतिवर्णात्मकचरणः प्रचित-
काख्यो दण्डकः स्मृतः ॥

यथा—

मुरहर यदुकुलाम्भोधिचन्द्र प्रभो देवकीगर्मरत्नत्रिलोकैकनाथ
प्रचितकपट मुरारिव्रजोद्दामदन्तावलस्तोमविद्रावणे केसरीन्द्र ।
चरणनखरसुधाशुच्छटोन्मेषनि.शेषितध्यायिचेतोनिविष्टान्धकार
प्रणतजनपरितापोप्रदावानलच्छेदमेघ प्रसीद प्रसीद प्रसीद ॥

उट्टवणिका यथा—III, III, १११, १११, १११, १११, १११, १११, १११, १११,
२७ × ४ = १०८ ॥ प्रचितको निवृत्तः ॥

अथाशोकपुष्पमञ्जरीदण्डकः—‘यत्र दृश्यते गुरो परो लघुः क्रमात्स उच्यते
सुवैरशोकपुष्पमञ्जरीति’ ।

यत्र गुरो. पर. क्रमाल्लघुर्दृश्यते रगणजगणक्रमेण रगणान्त नवगणा लघ्वन्ता
वसुलोचनवर्णाश्चरणे दृश्यन्ते यत्रासावशोकपुष्पमञ्जरीति नाम दण्डको बुध-
रुच्यते इति ॥

यथा—

मूधिन चारुचम्पकसजासलीलवेष्टन लसल्लवङ्गचारुचन्द्रिका कचेपु
कर्णयोरशोकपुष्पमञ्जरीवतसको गलेऽतिकान्तकेसरोपकलसुदाम ।

यथा—

उदेत्यसौ सुधावरः पुरो विलोकयाद्य राधिके विजृम्भमाणगौरदीधिति
रतिस्वहस्तनिर्मितः कलाकुतूहलेन चारुचम्पकैर्नङ्गशेखरः किमु ।
इति प्रमोदकारिणी प्रियाविनोदलक्षणा गिर समृद्धिरन्मुरारिरद्भुता
प्रदोपकालसगमोल्लसन्मना मनोजकेलिकौतुकी करोतु वः कृतार्थताम् ॥

उट्टवणिका यथा— ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, २८×
४=११२ ॥ अत्र चरणत्रये पादान्तगुरोर्विकल्पेन लघुत्वं ज्ञेयमित्यनङ्गशेखरो
निवृत्तः । इति दण्डकाः ॥

अथार्धसमवृत्तान्युदाह्रियन्ते—तत्र चतुष्पदी पञ्चम् । तद्द्विविधम् । वृत्त-
जातिमेदेन । तदप्यक्षरसंख्यातं वृत्तम् । मात्रासंख्याता जातिरिति द्विविधम् । तद्वृत्त
पुनस्त्रिविधम् । समार्धसमविषममेदेनेति । तत्र सम समचतुश्चरणम् । अर्धसम च
यस्य प्रथम तृतीय च पद समानमथ चतुर्थं द्वितीय च तुल्यं भवति । भिन्नचिह्न-
चतुश्चरण विषममिति । तदुक्तं छन्दोमञ्जर्याम्—

‘पद्य चतुष्पदी तच्च वृत्त जातिरिति द्विना ।
वृत्तमक्षरसंख्यात जातिमात्राकृता भवेत् ॥
सममर्धसम वृत्त विषम चेति तत्त्रिधा ।
सम समचतुष्पाद मवत्यर्धसम पुनः ॥
आदिस्तृतीयवद्यस्य पादस्तुर्यो द्वितीयवत् ।
भिन्नचिह्नचतुष्पाद विषम परिकीर्तिततम् ॥’

इति । तत्र मात्रावृत्तक्रमेण सममुक्त्वार्धसममुच्यते । तत्र प्रथमं पुष्पिता
ब्राह्मन्—

द्विजवरकरज्जुर्कर्णपूर्णौ प्रथमतृतीयपदौ यदा भवेतात् ।
द्विजपदगुरुरज्जुर्कर्णयुतौ यदि चरणावपरो च पुष्पिताग्रा ॥
इदमप्युदाहरणम् । छन्दोमञ्जर्यां तु प्रकारान्तरेण लक्षणमुक्तम् ॥
‘अयुनि नयुगरेफतो यकारो युनि तु ननौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा’ ।

अयुनि विषमे प्रथमे तृतीये चरणे नयुगलरेफतो नगणयुगलरगणत परो
यकारो यगणो भवति । युनि समे तु द्वितीये चतुर्थे च चरणे ननौ नगणजगणावथ
च जरगाः जगणरगणगुरवश्च यत्र भवन्ति तत्पुष्पिताग्रानामकं छन्दः ॥

यथा—

करकिसलयशोभया विमान्ती कुचफलभारविनम्रदेह्यष्टि ।
स्मितरुचिरविलासपुष्पिताग्रा व्रजयुवतिव्रततिर्हरेर्भुदेऽभूत् ॥

पुल्लमागजेसरुहिपुष्परेणुमूपर्णं तनौ विविचमिमुपाचरेण एष
 केयव स्या पुनाल नः सुपुष्पमुपिताः त मूर्ध्निमानिवास्तो मधुर्निर्द्वन्द्वम् ॥
 ठट्टविक्रम यथा—५१५, १०१, ५१५, १५१, ५१५, १५१, ५१५, ५१५, १५१, १५१
 २८×४=११२ ॥ अशोकपुष्पमञ्जरी निवृत्ता ॥

अथ कुसुमस्तवध्वजे दण्डकम्—‘तगव सवत्ताः कसु यत्र मनेचमिह प्रवदन्ति
 बुधाः कुसुमस्तवध्वम्’ ।

यत्र ससु निमयेन ससुलोपि सगव एव मनेत् । सम्यक्त्वकं मनेत्स्य
 सतर्कितविकल्पकपदं तं दण्डकं बुधाः कुसुमस्तवध्वं प्रवदन्ति ॥

यथा—

किरयव मदीयकरः वनकपुतिकपुत्रकामदरां कुचकुम्भतमे
 भ्रमरमकरेण यथादत्तुर्तिरयोक्तव्यमित्तककुसुमस्तवध्वम् ।

स नवीनतमावृत्तप्रतिमन्त्रविभिन्नद्वीप किञ्चिन्नद्वीपयु—

अपलावकिरायुक्तविक्रमो हरिरस्य मदीयद्वन्द्वकामस्तवध्वम् ॥

ठट्टविक्रम यथा, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, २७×४
 =१ ८ ॥ कुसुमस्तवध्वजे निवृत्ता ॥

मत्तमावृत्तलोकाकरः—‘यत्र रेफः परं स्वेच्छया गुम्फिता सा स्मृतो दण्डकं
 मत्तमावृत्तलोकाकरः’ ।

यत्र रेफो रगमः स्वेच्छया नव द्यौक्यदत्त वा परं गुम्फितः ॥ दण्डकं
 मत्तमावृत्तलोकाकर इति नाम्ना स्मृतः ॥

यथा—

हेमगौरे वत्तनाङ्गुके शङ्कनोत्तासिते वर्धमि स्त्रवदिभ्यनुलेपयित्वे

वायव्यस्तुवन्धोनमभिनमावृत्तविक्रमो मन्त्ररूपेणस्तवध्वम् समं धीरिवा ।

अञ्जनान्मन्त्ररेणुकुन्धामद्वैदेन वीजापरीक्षास्तेर्मिलोपुष्टीः

कंठरञ्जयिगा पातु वक्ष्यमाभिर्गीतिभ्यश्च मत्तमावृत्तलोकाकरः ॥

ठट्टविक्रम यथा—५१५, ५१५, ५१५, ५१५, ५१५, ५१५, ५१५, ५१५, ५१५, ५१५ ।

मत्तमावृत्तलोकाकरो निवृत्ता ॥

अथानङ्ग रोकरः—‘सनुर्गुर्वनिरेच्छय यथा निरेक्षते तथैव दण्डकं मत्तमावृत्त-
 रोकरः’ ।

यत्र प्रथमं सनुगन्तव्यं गुर्वरेण क्रमेणास्तोकपुष्पमञ्जरीविपर्ययेन रोक्कय
 अथानङ्गमेव च अथानङ्गं मत्र यथा सप्यन्ता वनुनवनकर्माधरयो यदा निरेक्षते,
 स्वेच्छयेत्क्रमेण द्यौक्यदत्त वा प्रतिचर्य निरमेन अथानङ्गमन्त्रं सप्यन्तानं
 गन्ता दण्डकं यदैव दण्डकं दण्डकरोकराण्यो भवति ॥

यथा—

स्फुटफेनचया हरिणल्लुता बलिमनोगतया तरणेः सुता ।

कलहसकुलारवशालिनी विहरतो हरति स्म हरेर्मनः ॥

उट्टवणिका यथा—वि० ॥५, ॥५, ॥५, १, ५, स० ॥१, ५॥, ५॥, ५५,

हरिणल्लुता निवृत्ता ॥

अथापरवक्त्र छन्दः—‘अयुजि ननरला. गुरुः समे यदपरवक्त्रमिद नजौ जरौ’ ।

अयुजि विपमे प्रथमे तृतीये च चरणे ननरला नगणद्वयरगणलघवः अथ च गुरुः समे द्वितीये चतुर्थे च चरणे नजौ नगणजगणावथ च जरौ जगणरगणौ यत्र भवतस्तदिदमपरवक्त्र नाम वृत्तम् ॥

यथा—

स्फुटमुमधुरवेणुगीतिभिस्तमपरवक्त्रमिवैत्य माधवम् ।

मृगयुवतिगणैः सम स्थिता व्रजवनिता धृतचित्तविभ्रमा ॥

उट्टवणिका यथा—वि०, ॥१, ॥१, ५५, १, ५, स० ॥१, ५५, ५५, ५५,

यथा वा हर्षचरिते—

तरलयसि दृशा किमुत्सुकामविरतिवामविलासलालसे ।

अवतर कलहसि वापिकाः पुनरपि यास्यसि पङ्कजालयम् ।

अपरवक्त्र निवृत्तम् ॥

अथ सुन्दरी छन्दः—‘अयुजोर्यदि सौ लगौ पुनः समयोः स्मौ रलगाश्च सुन्दरी’ ।

यत्र अयुजोर्विषमयोः प्रथमतृतीययोश्चरणयोर्यदि सौ सगणद्वयमथ च लगौ लघुगुरु भवतः पुनरपि तावेव, समयोद्वितीयचतुर्थयोश्चरणयोः स्मौ सगणभगणावथ च रलगा रगणलघुगुरवो भवन्ति, तत्सुन्दरीछन्दः ॥ द्विरावृत्त्याश्लोक. पूरणीयः ॥

यथा—

यदवोचदवेद्य सुन्दरी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा ।

अपि कसहरस्य दुर्वच वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ॥

उट्टवणिका यथा—वि० ॥५, ॥५, १, ५, १, ५, स० ॥५, ५॥, ५॥, १, ५,

यथा वा—‘अथ तस्य विवाहकौतुक ललित त्रिश्रत एव पार्थिव’ इत्यादि रघुवंशे । सुन्दरी निवृत्ता ॥

एवमुक्तपरिपाट्यार्धसमवृत्तान्येकाक्षरादिषड्विंशत्यक्षरपर्यन्तप्रस्तारेषु द्वाभ्या चृत्ताभ्या स्वबुद्ध्या नामानि धृत्वा सुधीभिरुद्धानि । ग्रन्थविस्तरभीत्या प्रसिद्धान्येव कानिचिद्बुत्तान्यत्रोदाहृतानीति शिवम् । इत्यर्धसमवृत्तानि ॥

अथ विषमवृत्तानि—

अथ सौरभकच्छन्दः—

‘त्रयमुद्रता सदृशमेव पदमिह तृतीयमन्यथा ।

जायते रनभगैर्ग्रथितं कथयन्ति सौरभकमेतदीदृशम्’ ॥

मोः शिष्याः, यत्र त्रय प्रथमद्वितीयचतुर्थमिति पदत्रयमुद्रतासदृशमेव । इह रभके तृतीयपादमन्यथा । उद्रतापादाद्विन्नमित्यर्थः । अन्यथात्वमेवाह—जायत . ति । तृतीयपद रनभगैः रगणनगणभगणगुरुभिर्ग्रथित यत्रैतदीदृशं सौरभकनामक . त्त भवतीति च्छान्दसीयाः कथयन्तीति ॥

यथा—

परिभूतफुल्लशतपत्रवनविसृतगन्धविभ्रमा ।

कस्य हृन्न हरतीह हरे पद्मसौरभकला तवाद्भुता ॥

उट्टवणिका यथा—१ ॥५, ॥५, ॥५, १, २ ॥१, ॥५, ॥५, ५, ४ ॥५, ॥१, ॥५, ॥५, ४ ॥५, ॥१, ॥५, ॥५, १, ५, सौरभक निवृत्तम् ॥

अथ ललित छन्दः—

‘नयुगं सकारयुगलं च भवति चरणे तृतीयके ।

तदुदीरितमुक्रमतिभिर्ललित यदि शेषमस्य सकल यथोद्रता’

मोः शिष्याः, यत्र तृतीयके चरणे नयुग नगणद्वय सकारयुगल सगणयुगम च भवति तदुक्रमतिभिर्ललितमिति नामकमुदीरितमिति । अस्य ललितस्य यदि शेष सकलं प्रथमद्वितीयतुयपद यथोद्रतातुल्यमित्यर्थः ॥

यथा—

ब्रजसुन्दरीसमुदयेन कलितमनसा स्म पीयते ।

हिमकरगलितमिवामृतक ललितं मुरारिमुखचन्द्रविच्युतम् ॥

उट्टवणिका यथा—१ ॥५, ॥५, ॥५, १, २ ॥१, ॥५, ॥५, ५, ३ ॥१, ॥१, ॥५, ॥५, ४ ॥५, ॥५, ॥५, ॥५, ५, ललित निवृत्तम् ॥

भवत्यर्धसम वक्त्र विषम च कदाचन ।

तयोर्द्वयोरुपान्तेषु छन्दस्तदधुनोच्यते ॥

अथ वक्त्रं छन्दः—‘वक्त्र युग्या मगौ स्यातामब्धेर्याऽनुष्टुभि ख्यातम्’

मोः शिष्याः, युग्या दलाम्या पदाम्या मगौ मगणगुरु स्याताम् । अथ च—
अब्धेश्चतुर्थाद् वर्णात् परतो यो यगणोऽनुष्टुभ्यष्टाक्षरप्रस्तारे यत्र यत्र ‘शेषेष्वनियमो मतः’ इति वचनाच्चाष्टमो गुरुरेव यत्र तद्वक्त्रमिति वृत्त ख्यातमिति ॥

यथा—

वक्त्राग्भोज सदा स्मेर चक्षुर्नीलोत्पलं फुल्लम् ।

वल्लवीनां मुरारतेश्चेतोभृङ्ग बहारोच्चैः ॥

ततः—

अकठोराक्षर स्वरूपसमास चूर्णक विदुः ।

तद्धि वैदर्भरीतिस्थ गद्य हृद्यतर भवेत् ॥

यथा—

स हि त्रयाणामेव जगता पतिः परमपुरुषः पुरुषोत्तमो दत्तदानवभरेण
महगुराङ्गीमवनिमवलोक्य कृष्णार्द्रहृदयस्तस्या भारमवतारयितुं रामकृष्णस्वरूपेण
यदुवशेऽवततार । यः प्रसङ्गेनापि स्मृतोऽभ्यर्चितो वा गृहीतनामा पुसः
ससारपारमवलोकयति ॥

चूर्णक निवृत्तम् ॥

अथोत्कलिकाप्रायम्—

उत्कलिकाप्रायं कल्लोलप्रायमुत्प्रमासमानमित्यर्थः ॥

यथा—

प्रणिपातप्रवणप्रधानाशेषसुरासुर वृन्दसौन्दर्यप्रकटकिरीटकोटिनिविष्टस्पष्टमणिमयू-
खच्छयल्लुरितचरणनखचक्रविक्रमोद्दामवामपादाङ्गुष्ठनखरशिखरखण्डितब्रह्माण्डवि-
वरनिःसरत्स्वरदमृतकरप्रकरभासुरसुरवाहिनीप्रवाहपवित्रीकृतविष्टपत्रय कैटभारे क्रूरतर-
ससारपारसागर नानाप्रकारावर्तविवर्तमानविग्रह मामनुग्रहाण ॥

यथा वा—

व्यपगतघनपटलममलजलनिधिसदृशमम्बरतल विलोक्यते । अञ्जनचूर्णपुञ्जश्यामं
शार्वरं तमस्त्यायते ॥

उत्कलिकाप्राय निवृत्तम् ॥

‘वृत्तैकदेशसबद्ध वृत्तगन्धि पुन स्मृतम्’

यथा—‘पातालतालुतलवासिषु दानवेषु’ इत्यादि । ‘हर इव जितमन्ययो गुह्य
इवाप्रतिहतशक्तिः’ इत्यादि वा ।

यथा वा—

जय जय जय जनार्दनं सुकृतिजनमनस्तद्वागविकस्वरचरणपद्म पद्मनयन पद्मा-
पद्मिनीविनोदराजहंस भास्वरयशःपटलपूरितभवनकुहर कमलासनादिवृन्दारकवन्द-
नीयसादारविन्दद्वन्द्व निमुक्तयोगीन्द्र हृदयमन्दिराविष्कृतनिरञ्जनज्योतिःस्वरूप नीरूप
विश्वरूप अनायनाथ जगन्नाथ मामनवधिमवदद्गुःखव्याकुल रक्ष रक्ष ॥

वृत्तगन्धि गद्य निवृत्तम् ॥

इति गद्यानि ॥

इत्यादि गद्यकान्येषु मया किञ्चित्प्रदर्शितम् ।

विशेषस्तत्र तत्रापि नोक्तो विस्तरशङ्कया ॥

उद्वचिषा यथा—१ ५५, ५, १५, ५, १ ५, ५, ५, ५, १ ५,
५, १५, ५, ४ ५५ ५, १५ ५,

अथ च—‘पुनोऽपचतुर्थतो केन पम्पापकत्रं प्रकीर्तितम्’
पुनोर्हितीपचतुर्थतो अरधनोर्दत्तामिषायेष चतुर्थतो अर्थे केन अस्मे
रम्पापकत्रं (कचमेव) रूपं प्रकीर्तितम् । शेषं समानम् ।

यथा—

रावकेलितुत्तमस्य हृष्यस्व मधुवातरे ।

आसीन्नोपमृगादीणां पम्पापकत्रमधुवातरे ॥

उद्वचिषा यथा—१ ५५, ॥, ५५, १ ५, ॥, ५, ५, १ ५५, ॥, ५५,
४ ५५, १, ५, ५,

अपि च—

पद्मं अमु सर्वत्र स्तम्भं द्विचतुर्थको ।

गुह वत्तं तु पादनां शेषेष्वनिकम्मे मत्त ॥

इति । सर्वत्र कत्रप्रकरणे निगदितैव । सप्तमस्तुतिर्हि
विचक्षेयैवाम्बुतिर्हि ॥

यथा—

आगर्षाविव संतुष्टे आगर्षमतिपचरे ।

अगता पितरे वन्दे पावतीपरमेष्ठरे ॥

किं च—

मद्योगे प्राक्किं प्राहुः केऽप्येवमवसवचम् ।

पौकेऽनुवृत्तिरिति क्वातिस्वरव्याघादोक्तो ह्यस्य ॥

तथा नानागत्वमेवेति विषमवृत्तमेव तन्मधुरावपिप्राकरवत्त्वं कचवत्तमेव
समस्त इति विषमवृत्तानि विदुर्मात्रताः तदुदाहरणानि । येषामपि मन्त्रहस्तावुचनिर्मित
पिङ्गलवृत्त्ये रविकरवत्तुपपुपतिविचित्रवृत्तव्यवहारप्रत्ये आकृष्टमतिमिस्त्राणीत्य
समतिविच्छरेण ॥

अथ गद्यानि—

तथा—

गद्यं पद्यमिति प्रागुर्ध्वमर्थं द्विविधं बुधाः ।

प्रागुत्तराद्यर्थं पद्यं गद्यं तदिति गद्ये ॥

अगदः पद्येच्छानो गद्यं तस्य त्रिधा गद्यम् ।

पूर्विलोक्तलिङ्गप्राक्पद्यगद्यविषयमेतत् ॥

परिशिष्ट (३)

वंशीधरकृत 'पिङ्गलप्रकाश' टीका

प्रथमः परिच्छेदः

मात्रावृत्तम्

१. ग्रन्थकृद्ग्रन्थारम्भे स्वाभीष्टसिद्धये छन्दःशास्त्रप्रवर्त्तकपिंगलनागानुस्मरण-
रूपमंगलमाचरति । जो विविह मत्तेति..... यो विवि.....त्रमात्रापदस्य
मात्राप्रस्तारपरत्वाद्विविधमात्राप्रस्तारैरित्यर्थः । विविमलमहहेल—विविमलमतिहेलं,
वेः पक्षिणो गरुडस्य विमल परमतिः बुद्धिस्तया हेलाऽवधारणा वचना
यस्या क्रियाया तद्यथा स्यात् तथा स्वबुद्ध्या गरुडस्य वचना कृत्वेत्यर्थः । साधरपार
पत्तो—सागर...तरङ्गो—प्रथमो भाषातरङ्गः प्रथम आद्यः भाषा अवहट्टभाषा
यया भाषया अय ग्रन्थो रचितः सा अवहट्टभाषा तस्या इत्यर्थः त प 'प्य पारं प्राप्नो-
ति तथा पिंगलप्रणीत छन्दःशास्त्र प्राप्यावहट्टभाषारचितैः तद्ग्रन्थपारं प्राप्नो-
तीति भावः, सो पिंगलो गात्रो जअह—उत्कर्षेण वर्त्तते । अत्रेयमाख्यायिका
नुसन्धेया—यथा किल ब्राह्मणवेषधारिणा पिंगल नागोऽयमिति ज्ञात्वा गरुडस्त
व्यापादयितु वर्णमात्राप्रस्ताररूपा पूर्वा एका विद्या मया ज्ञायते ता गृह्णात्विति
गरुड प्रति उक्त्वा तेन च कथय विद्यामित्युक्तः प्रस्तार भूमौ विरचयन् गरुड
वचित्तवानिति : १ :

२ प्रस्तारस्य गुरुलघुज्ञानाधीनत्वात्तल्लक्षणमाह, दीहविति । दीहो दीर्घः
आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ एते दीर्घाः । सजुत्तपरो—मयुक्तपरः सयुक्त परस्पर-
मिलित..... बिन्दुजुओ—विन्दुः अनुस्वारविसर्गौ, अ अ. इत्येतौ, ताभ्या
युतः, यत्तु प्राकृते विसर्गाभावात् अत्र विन्दुपदेन अनुस्वार एवेति तच्च न हीद
प्राकृतमात्रविषय..... पाङ्गिओ च चरणेते—पातितश्च चरणाते, पादान्तस्थितौ
लघुरपि विवक्षया गुरुर्ज्ञेय इत्यर्थः । अतएवोक्तं पादान्तस्य विकल्पेनेति । एवंभूतो
वर्णा गुरुः .. ज्ञेय इति शेषः । स च गुरु. चक—चक्र. प्रस्तारादिषु
पूर्वप्रश्लिष्टाकारप्रश्लेषवत् अट्टुस्वरूपो लेखनीय इत्यर्थः । दुमत्तो—द्विमात्रः
.....अणो—अन्यः आकारादिसयुक्तपरानुस्वारविसर्गसहिताक्षरभिन्न इत्यर्थः,

मन्दा कथं शास्त्रसि सत्यवार्थमित्थाकलप्याशुममा प्रदीप्तम् ।
 सुन्दरप्रदीपं कथ्यते विज्ञोक्त्य सुन्दरं समस्तं स्वयमेव विद ॥
 अथ्ये मास्त्रवाविषाचवरसत्त्वा (१५५७) मण्डलोल्लासिते
 मध्ये मासि सिते बले हरिदिने बारे तमिस्रास्ते ।
 श्रीमत्पिङ्गलनागनिर्मितवरमन्यप्रदीपं मुने
 लोचनानि निखिलार्थसाधकमिमं लक्ष्मीपतिर्निर्ममे ॥

विशिष्टस्नेहमरितं सत्यानपरिच्छिपतम् ।
 सुन्दरप्रदीपं सुन्दरप्रदीपं परमं सुन्दम् ॥
 सुन्दरप्रदीपकं सोम्यमखिलार्थप्रकाशकम् ।
 लक्ष्मीनाथेन रचितस्तिष्ठत्वाकन्यतारकम् ॥

इत्यालम्परिकं चकचूडामभिभीमग्राममहत्प्रबन्धौ लक्ष्मीनाथमहर्षिरचिते पिङ्गल-
 प्रदीपे वर्णमालायां द्वितीया परिच्छेदा समाप्तः ।

परिशिष्ट (३)

वंशीधरकृत 'पिङ्गलप्रकाश' टीका

प्रथमः परिच्छेदः

मात्रावृत्तम्

१. ग्रन्थकृद्ग्रन्थारम्भे स्वामीष्टसिद्धये छन्दःशास्त्रप्रवर्तकपिंगलनागानुस्मरण-
रूपमंगलमाचरति । जो विविह मत्तेति..... यो विवि.....त्रमात्रापदस्य
मात्राप्रस्तारपरत्वादिविवमात्राप्रस्तारैरित्यर्थः । विविमलमहेल—विविमलमतिहेल,
वेः पक्षिणो गरुडस्य विमल परमतिः बुद्धिस्तया हेलाऽवधारणा वचना
यस्या क्रियाया तद्यथा स्यात् तथा स्वबुद्ध्या गरुडस्य वचना कृत्वेत्यर्थः । साक्षरपार
पत्तो—सागर...तरङ्गो—प्रथमो भाषातरङ्गः प्रथम आश्रयः भाषा अवहट्टभाषा
यथा भाषया व्यय ग्रन्थो रचितः सा अवहट्टभाषा तस्या इत्यर्थः त प...प्प पार प्राप्नो-
ति तथा पिंगलप्रणीत छन्दःशास्त्र प्राप्यावहट्टभाषारचितैः तद्ग्रन्थपारं प्राप्नो-
तीति भावः, सो पिंगलो णामो जअह—उत्कर्षेण वर्त्तते । अत्रेयमाख्यायिका
नुसन्धेया—यथा किल ब्राह्मणवेवधारिणा पिंगल नामोऽयमिति ज्ञात्वा गरुडस्त
व्यापादयितुं वर्णमात्राप्रस्ताररूपा पूर्वा एका विद्या मया ज्ञायते ता गृह्णात्विति
गरुड प्रति उक्त्वा तेन च कथय विद्यामित्युक्तः प्रस्तार भूमौ विरचयन् गरुड
वचितवानिति : १ :

२ प्रस्तारस्य गुरुलघुज्ञानाधीनत्वात्लक्षणमाह, दीहविति । दीहो दीर्घः
आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ एते दीर्घाः । सनुत्तपरो—सयुक्तपरः. सयुक्त परस्पर-
मिलित... बिन्दुजुओ—विन्दुः अनुस्वारविसर्गौ, अ अः इत्येतौ, ताभ्यां
युतः, यन्तु प्राकृते विसर्गाभावात् अत्र विन्दुपदेन अनुस्वार एवेति तच्च न हीद
प्राकृतमात्रविषय..... पाङ्गिओ च चरणते—पातितश्च चरणते, पादान्तस्थितो
लघुरपि विवक्ष्या गुरुर्ज्ञेय इत्यर्थः । अतएवोक्त पादान्तस्य विकल्पेनेति । एवभूतो
वर्णा गुरुः * ज्ञेय इति शेषः । स च गुरुः चक्र—चक्रं प्रस्तारादिषु
पूर्वप्रक्षिप्तप्रकारप्रश्लेषवत् अननुस्वरूपो लेखनीय इत्यर्थः । डुमत्तो—दिमात्रः
.....अणो—अन्यः आकारादिसयुक्तपरानुस्वारविसर्गसहिताक्षरभिन्न इत्यर्थः,

लघु दोह—लघुर्मवति, लघुसंज्ञको जेप, मुद—शुद्धा प्रस “ म हर्षः ।

एककमलो—एककला एका जलाभावा यस्मिन् स्य लाहवा, लघुरेवा माग ॥

३ अमेदुदाहरति मार्ह इति । मार्ह—हे माता नः “ वृद्धा भवन्ती
 भीष्मा शीर्षेन्द्रियाणां, हेमो—हेमा त्यागयोग्या एषमपि देवः श्रीहृद्भक्त्यः, सं
 शम्भुं कामंती—अमयमाना गौरी गहिलत “शम्भो पावत्या त्रिस्मारे शिवाजीनां
 वस्तीनां परस्परसंस्पर्शकाममेतत् । अत्र दीर्घादीनि दृष्टान्येव । कुचद इन्द्रेणाद्य
 चरणान्ते पाठिते

४ अयं संसृष्टपरस्य कर्मस्य कदाचिद्गुह्यत्वापवादमाह कपवीति । काचरि—
 कुचापि । इकारहकारसंयोगादस्य नापीत्यर्थाः संसृष्टपरो वर्गे लघुर्मवति इत्येव
 लघ्वानुयोगेन, जग—यथा कदाचित्पते पश्चिच्छति चित्तपैर्बं तदन्वीक्यतानि इद-
 म्ब्रह्म इति संसृष्टाद्ये वरेऽपि रि इति इकारस्य लघुरवयव, अस्या मात्राविश-
 प्रसंगा । गाय्य छन्दा ।

चालय, कुगर्ति—जलम(ग)तिं जलमरणजन्य नरक, ण देहि—मा प्रयच्छ । तद्
एहि णइ सतार देइ—त्वमस्या नद्याः पारगमनं दत्त्वा, यद् आलिङ्गनचुम्बनादि
वाङ्मसि तद् गृहाण । अत्र प्रथमचरणे रेरे इत्यक्षरद्वय त्वरापङ्क्तिम् एक दीर्घं
बोध्यम्, अन्यथा दोहाप्रथमचरणे त्रयोदशमात्रोक्त्या द्वितीयरेकाराय मात्राद्वया-
धिक्यात् छन्दोभगापत्तिः एव द्वितीयचरणे ङगमेत्यक्षरत्रय एक ह्रस्वरूप, देहीत्य-
क्षरद्वयमेक दीर्घरूप बोध्यम्, अन्यथा दोहाद्वितीयचरणे एकादशमात्राणामुक्तत्वात्
(ङग) मेति मात्राद्वयाधिक्यात् देहीत्येकमात्राधिक्याच्च छन्दोभगः स्यात् । तृतीयचरणे
च एहीति केवलएकारः, देइ इति दकारयुक्तश्च, द्वावपि जिह्वालघुपठितौ
लघू बोध्यौ, अन्यथा दोहातृतीयचरणे त्रयोदशमात्रोक्त्या मात्राद्वयाधिक्यात्
छन्दोभगः प्रसज्येत । जिह्वया लघुपठन गुरुपदेशाद्बोध्यमित्यस्मत्तात्तचरणोपदेशः
सुधीर्भिर्विभावनीयः ।

१० अयं छन्दोग्रन्थस्योपादेयता दर्शयति, जेम गेति । जेम—यथा कण्ठतुला—
वनकस्य तुला परिमाणनिर्णायक यन्त्र काण्डा इति लोके, तुलिअ—तुलित निर्णय-
परिमाण स्वस्मिन्प्रक्षित सुवर्णं तिलस्य अद्द अद्वेण—अर्द्धाद्वेन चतुर्थोशेनापीति
यावत्, रत्तिकामाषकादिमापकान्यूनानाधिकमिति शेषः, ण सहइ—न सहते न
निर्णीतपरिमाण करोति । तेम—तथा सवणतुला—श्रवणरूपा तुलैव तुला—काव्य
शुद्धयशुद्धिजापकं यन्त्र, छन्दमणेण—छन्दसा यथोक्त छन्दः तस्य गुरुलघूना मणेन
न्यूनाधिकमावेनेत्यर्थः । अवछद—अपच्छन्दस्क लक्षणहीन काव्य न सहते न
प्रमाणयति । अयमर्थः तुलाया सूत्रत्रय पात्रद्वयं भवति, तत्रैकपात्रे परिमाणसाधनं
रत्तिकामाषकादिद्रव्यं प्रक्षिप्य द्वितीयपात्रे प्रक्षिप्तं निर्णयपरिमाणं सुवर्णादिद्रव्यं
यदि तिलचतुर्थोशेनापि परिमाणसाधनरत्तिकामाषकादिद्रव्यान्यूनानाधिकं भवति तदा
तत्र परिमाणशुद्धिर्यथा न भवति, तथा लक्षणोक्तगुरुलघुहीनाधिकं काव्य श्रवण-
विषयीभूतं शुद्धं न प्रतिभातीति काव्यशुद्धयशुद्धिज्ञानार्थं छन्दःशास्त्रमुपा-
देयमिति भावः ।

११ अयं छन्दःशास्त्रविदा पुरो लक्षणहीनकाव्यपठनं वारयन् पुनरपि छन्दः—
शास्त्रोपादेयता दर्शयति अत्रुह इति । अवुधः—काव्यलक्षणानभिज्ञः, बुदाण मज्जे—
बुधानां काव्यलक्षणाभिज्ञाना मध्ये, लच्छ (क्ख) णविहूणा—लक्षणविहीन, कच्च—
काव्य, पदइ—पठति, सः सुअ अगग लगग खगगहिं—भुजाग्रलग्नखड्गेन, खुलियं—
स्खलित, ग्रीवातः पातित, सीस—शीर्षं मस्तकं, ण काणेइ—न जानाति, स स्वहस्त-
धृतखड्गेन स्वशिखरेदक इव विक्षिप्तचित्र इति लोके व्यवह्रियते । अतोऽधीतच्छन्दः
शास्त्रो लक्षणलक्षितं काव्यं पठन् पङ्क्तिरूपं लभते इति छन्दःशास्त्रोपादेयता
दर्शयतीति भावः ।

लघुर्देयस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याल्लघुद्वयोत्तरमेको गुरु स्थाप्यः, पश्चादुर्वरितैकमात्रा
लघुरुपा देया, एव यत्र लघुचतुष्टयानतरमेको गुरु पतति, सोऽस्य पञ्चमभेदः ।
एवमस्याग्रे वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुर्देयः, उपरितनसादृश्याभावात् उर्वरितमा
त्रापचक द्विगुर्वैकल्यगुरुपमत्यलघोः पूर्वक्रमेण स्थाप्यमेव च यत्र प्रथममेको
लघुस्ततो गुरुद्वयोत्तरमेको लघुः पतति सोऽस्य षष्ठो भेदः । एवमस्य द्वितीयो वर्णः
प्रथमगुरुस्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याद् गुरुलघू स्थाप्यौ
पश्चादुर्वरित मात्राद्वयमेकगुरुरूप स्थाप्यम्, एव यत्र प्रथम गुरुलघू ततोऽपि
गुरुलघू एवभूतोऽस्य सप्तमो भेदः । एवमस्याग्रे गुरुः... 'लघोऽग्रे उपरितनसादृश्या-
ल्लघुगुरुलघवः क्रमेण स्थाप्या', उर्वरिता चैका मात्रा लघुरुपा पश्चात् स्थाप्या,
एव यत्र प्रथम लघुत्रय... .. अथ चतुर्थो वर्णः प्रथमगुरु-
स्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्यादेको लघुः... .. गुरुद्वयरूप
पश्चात् स्थाप्यम्, एव यत्र प्रथम गुरुद्वय ततो लघुद्वय पतति, एवभूतोऽस्य
नवमो भेदः । एवमस्य प्रथमो वर्णः प्रथमगुरु... .. (उपरि) तनसादृश्यादेको-
गुरुस्ततो लघुद्वय देयम्, उर्वरिता चैका मात्रा चैकलघुरुपा पश्चाद्देया, एव च यत्र
लघुद्वयोत्तरमेको गुरुस्ततो लघुद्वय ।

यस्य गुणैरधः, यथोपरि तथा शेषं भूयः कुर्यादसु विधिम् ॥ तावद्दशाद्गुरुनेत्र
यावत्सर्वलघुर्मन्त्रैः । प्रस्तारोऽयं समाख्यातः छन्दोविरतिवेदिभिरिति ॥

१५ अथ वक्ष्यमाणमात्राच्छ्रुतः सु व्यवहारार्थं पट्कलत्रयोदशभेदानां क्रमेण
नामान्याह हर इति । हरः शशी शूरः शक्रः शेषः अहिः कमलं ब्रह्म कलिः
चन्द्रः ध्रुवः धर्मः शालिचरः, छमत्तार्यं—पण्मात्रकाणां त्रयोदशभेदानाम् एतानि
तैरह णाम—त्रयोदश नामानि यथासंख्यं बोध्यानीत्यर्थः ॥

१६ अथ पञ्चकलाष्टभेदानां प्रत्येक नामान्याह इदासणेति । इन्द्रासन
अह—अपरः सूर चाप हीरश्च शंखरः कुसुम । अहिगणः पदातिगणः
पञ्चकलगणे एतानि नामानि क्रमेणेति शेषं पिङ्गलेन कथितानि, पञ्चकलगणस्य
ये अष्टौ भेदास्तेषां प्रत्येकमेतान्यष्टौ नामानि पिङ्गलेन कथितानीत्यर्थः ।

१७ अथ चतुष्कलगणपञ्चभेदनामान्याह गुर्विति । गुरुजुष—गुरुयुग, गुरो-
युग द्वय यस्मिन्नेतादृशो यो भेदः स इत्यर्थः, कण्णो—कर्णं चतु कलस्य प्रथमो भेदः
कर्णो नामेत्यर्थः । गुर्वेतः गुरुरते यस्य तादृशो द्वितीयो भेदः पयोवरनामक इत्यर्थः ।
मिम पादपूरणे । आदिगुरुः आदौ गुरुः यस्य तादृशश्चतुर्थो भेदो वसु चरणः इति
तस्य नामद्वय । सर्वैः लघुभिः सर्वलघु पञ्चमोभेदः विप्रः विप्रनामेत्यर्थः ।

१८ अथ त्रिकलप्रथमभेदस्य लघ्वादेर्नामान्याह धव इति । ध्वजः चिह्नः

१२ अथ वक्ष्यमाणमात्राश्रयः स्युक्तान् गणान् व्यवहाय चामिषि
रति दृडेति । ट ङ ङ टा यं—ट ङ ट ङैः कृ प य त डा—कृ प य त दै
एतैः पंच अमलरघो—पंचाधुरैः अहसं—वपासंक्षयं, कृ प्यं व त टि दु क्ताड
पट्पंचपटुभिद्विकलोयु गणभेदा—गणेषु मध्ये भेदा नामानि होति—मन्ति ।
अममयः । पट्पञ्चगणस्य टगल्लगणोति नामद्वयं, पंचगणस्य टगल्लस्येति
नामद्वयं, चतुःपञ्चगणस्य ङगल्ल-अगणोति नामद्वयं, त्रिकल्लगणस्य टगल्लस्येति
नामद्वयं द्विकल्लगणस्य नगल्लगणोति नामद्वयं मन्तीति चेन्नमिति ।

१३ अथ ट-गणादीनां भेदं विनामाह टगणो तेषु इति । ट-गण, पट्पञ्चा
धुरोदशभेदः, टगल्लस्य—ट-गणस्य पंचकल्लस्येति याक्त् अट्ठाह स—ड
गणस्य चतुःकल्लस्येति याक्त् पंच भेदा—पंच भेदा मन्ति, ट-गणे त्रिकले तिस्र—
त्रयो भेदा मन्तीत्युक्त्यः व-गणस्य द्विकल्लस्य—

१४ आदिगणव्यभेदछादिभेदा उक्तास्तैरां रचना प्रस्तारस्तत्प्रकाराः । एवम
गुह देह टाये—प्रथमगुर्वास्थाने ट-गणभेदे वा प्रथमगुहा स ~ इदं तु
परिहृय्यपस्त दृढमे चेति शेषः । तस्य लपोरमे चोत्तरार्धः । त्रिस्तु त्रिस्तु पंचि लट्टी
लट्टी पंचि, कर्त्तव्येति शेषः । यत्वा ~ मे येन क्रमेण वाक्त्गुह लट्टु मने-
सेनैव क्रमेण वाक्त् गुह लट्टु गुर्वावरल्लपोरमे स्थाप्यमित्यर्थः । उन्मिरिमा—उन्मिरि
मात्रामिति ~ ~ कर्त्तामिति याक्त् । देह-वत् गुर्वावरल्लपोरमे तथा गुहल्ल
गुहस्थाने हृते छति लट्टुभेदमप्ये उन्मिरिमा (वा) वा मात्रा वा वपातन्निवेशं गुहल्ल
रूपेण गुर्वावरल्लकोः पश्चात् स्थापनीयेत्यर्थः । तत्र यदि मात्रापूर्वक्रमकर्त्तव्यं, तथा
प्रथमं गुहद्वयं तत्र एको लट्टु रथाप्यः, अथ मात्रावरल्लद्वयं, तथा गुहद्वयं
स्थाप्यं, यदि मात्रावरल्लं, तथा प्रथमभेदे गुहल्लको लट्टु, यदि मात्राद्वयं तदेवे
गुहर्वावरल्लं मात्रा तदेकल्लकोत्तरार्धं इति गुहल्लको लट्टुः स्थाप्य इत्यर्थः । एवं
अथबुद्धीय—अत्रामगुहल्ल अत्रामा गुहल्लस्य बुद्धिपरिहारभेदार्थः । मात्राप्रस्तारं
स्थानीयेति शेषः । प्रस्तारो भेदरचना । अत्राव गिधिरांल्लकोत्तरार्धो भवति ।

~ ~ बोध्यम् । अत्रैतदुक्तं भवति, पंचकल्लगणस्य प्रस्तारे विधीयते पञ्च
मात्रायां गुहद्वयं रथाप्यं त्रिस्तु पट्पञ्चगण प्रथमो भेदः । अत्र प्रथमगुहोत्तरार्ध एको
लट्टुत्वे लपोरमे चोत्तरिगणल्लकोत्तरार्ध-गुहद्वयं देवं पश्चात्तुवर्गिणैकमात्रारूप-एवमप्यु
इति प्रथम लट्टुद्वयं वत् पात्रि त पट्पञ्चगण द्वितीया भेदः एवं त्रितीयाभेदे त्रिस्तु
वत् प्रथमगुहल्लको लट्टुः रथाप्यो लपोरमे चोत्तरिगणल्लकोत्तरार्ध-गुहा रथाप्यः
उत्तरिगणं च मात्रावरल्लं गुहल्लकोत्तरार्धं वत् पश्चात् रथाप्यं एवं वत् लट्टुगुहल्लगुहल्ल
क्रमेण वर्गिणैक लट्टुया भेदः । एवमप्यत्र द्वितीये वत् प्रथमगुहल्लको लट्टु रथाप्यः
एव चोत्तरिगणल्लको लट्टु रथाप्यः वत् पश्चात् त्रितीया भेदः मात्रावरल्लगुहोत्तरार्धो

देयस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याल्लघुद्वयोत्तमेऽङ्गो गुरुः स्थाप्यः, पश्चादुर्वरितैकमात्रा-
 गुरुपा देया, एव यत्र लघुचतुष्टयानतरमेको गुरुः पतति, सोऽयं पञ्चमभेदः ।
 षष्ठमस्याग्रे वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुदेयः, उपरितनसादृश्याभावात् उर्वरितमा-
 षष्ठमपचक द्विगुर्वैकल्यगुरुपमंत्यलघोः पूर्वक्रमेण स्थाप्यमेव च यत्र प्रथममेको
 गुरुस्ततो गुरुद्वयोत्तरेको लघुः पतति सोऽस्य षष्ठो भेदः । एवमस्य द्वितीयो वर्णः
 प्रथमगुरुस्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याद् गुरुलघू स्थाप्यौ
 पश्चादुर्वरित मात्राद्वयमेकगुरुरूपं स्थाप्यम्, एव यत्र प्रथम गुरुलघू ततोऽपि
 गुरुलघू एवभूतोऽस्य सप्तमो भेदः । एवमस्याग्रे गुरुः लघोः उपरितनसादृश्या-
 ल्लघुगुरुलघवः क्रमेण स्थाप्याः, उर्वरिता चैका मात्रा लघुरूपा पश्चात् स्थाप्या,
 एव यत्र प्रथम लघुत्रयः । अथ चतुर्थो वर्णः प्रथमगुरु-
 स्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्यादेको लघुः गुरुद्वयरूप-
 पश्चात् स्थाप्यम्, एव यत्र प्रथम गुरुद्वयं ततो लघुद्वयं पतति, एवभूतोऽस्य
 नवमो भेदः । एवमस्य प्रथमो वर्णः प्रथमगुरुः (उपरि) तनसादृश्यादेवो-
 गुरुस्ततो लघुद्वयं देयम्, उर्वरिता चैका मात्रा चैकलघुरूपा पश्चाद्देया, एव च यत्र
 लघुद्वयोत्तरेको गुरुस्ततो लघुद्वयः ।

यस्य गुगेरधः, यथोपरि तथा शेष भूयः कुर्यादसुं विधिम् ॥ तावद्द्वयाद्गुरूनेत्र-
 चाक्सर्वलघुर्भवेत् । प्रस्तारोऽयं समाख्यातः छदोविरतिवेदिभिरिति ॥

१५ अथ वक्ष्यमाणमात्राच्छ्रुदःसु व्यवहारार्थं पञ्चकलत्रयोदशभेदानां क्रमेण
 नामान्याह हर इति । हरः शशी शूरः शक्रः शेषः अहिः कमलः ब्रह्म कलिः
 चन्द्रः ध्रुवः धर्मः शालिचरः, छमत्ताण—षण्मात्रकाणां त्रयोदशभेदानाम् एतानि
 तैरह नाम—त्रयोदश नामानि यथासंख्यं बोध्यानीत्यर्थः ॥

१६ अथ पञ्चकलाष्ट्रभेदानां प्रत्येकं नामान्याह इदासणेति । इन्द्रासन-
 अधः—अपरः सूरः चापः हीरश्च शेखरः कुसुमः । अहिगणः पदातिगणः
 पञ्चकलगण्ये एतानि नामानि क्रमेणेति शेषः पिंगलेन कथितानि, पञ्चकलगणस्य
 ये अष्टौ भेदास्तेषां प्रत्येकमेतान्यष्टौ नामानि पिंगलेन कथितानीत्यर्थः ।

१७ अथ चतुष्कलगणपञ्चभेदानामान्याह गुर्विति । गुरुशुभ—गुरुयुगः, गुरो-
 युग द्वयं यस्मिन्नेतादृशो यो भेदः स इत्यर्थः, कण्ठो—वर्णः चतुः कलस्य प्रथमो भेदः
 कण्ठो नामेत्यर्थः । गुर्वेत गुरुरेत यस्य तादृशो द्वितीयो भेदः पञ्चो वरनामक इत्यर्थः ।
 भिमः पादपूरणे । आदिगुरुः आदौ गुरुः यस्य तादृशश्चतुर्थो भेदो वसु चरणः इति
 तस्य नामद्वयः । सर्वे लघुभिः सर्वलघु पञ्चमो भेदः विप्रः विप्रनामोऽर्थः ।

१८ अथ त्रिकलप्रथमभेदस्य लघ्वादेर्नामान्याह धव इति । ध्वजः चिह्नः

लघुर्देयस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याल्लघुद्वयोत्तरमेको गुरुः स्थाप्यः, पश्चादुर्वरितैकमात्रा लघुरूपा देया, एव यत्र लघुचतुष्टयानतरमेको गुरुः पतति, सोऽयं पञ्चमभेदः । एवमस्याग्रे वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुर्देयः, उपरितनसादृश्यामावात् उर्वरितमात्रापचक द्विगुर्वैकल्यलघुरूपमं त्यलघोः पूर्वक्रमेण स्थाप्यमेवं च यत्र प्रथममेको लघुस्ततो गुरुद्वयोत्तरमेको लघुः पतति सोऽस्य षष्ठो भेदः । एवमस्य द्वितीयो वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याद् गुरुलघू स्थाप्यौ पश्चादुर्वरित मात्राद्वयमेकगुरुरूप स्थाप्यम्, एव यत्र प्रथम गुरुलघू ततोऽपि गुरुलघू एवभूतोऽस्य सप्तमो भेदः । एवमस्याग्रे गुरुः ॥ लघोरग्रे उपरितनसादृश्याल्लघुगुरुलघवः क्रमेण स्थाप्याः, उर्वरिता चैका मात्रा लघुरूपा पश्चात् स्थाप्या, एव यत्र प्रथम लघुत्रयः ॥ ॥ ॥ ॥ अथ चतुर्थो वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्यादेको लघुः ॥ ॥ ॥ गुरुद्वयरूप पश्चात् स्थाप्यम्, एव यत्र प्रथम गुरुद्वय ततो लघुद्वय पतति, एवभूतोऽस्य नवमो भेदः । एवमस्य प्रथमो वर्णः प्रथमगुरुः ॥ ॥ (उपरि) तनसादृश्यादेको गुरुस्ततो लघुद्वय देयम्, उर्वरिता चैका मात्रा चैकलघुरूपा पश्चाद्देया, एव च यत्र लघुद्वयोत्तरमेको गुरुस्ततो लघुद्वय ।

यस्य गुगेरघः, यथोपरि तथा शेषं भूयः कुर्यादसु विधिम् ॥ तावद्द्वयाद्गुरुनेत्र यावत्सर्वलघुर्भवेत् । प्रस्तारोऽयं समाख्यातः कुदोषिरतिवेदिभिरिति ॥

१५ अथ वक्ष्यमाणमात्राच्छ्रुतः सु व्यवहारार्थं षट्कलत्रयोदशभेदानां क्रमेण नामान्याह हर इति । हरः शशी शरः शक्रः शेषः अहिः कमल ब्रह्म कलिः चन्द्रः ध्रुवः धर्मः शालिचरः, छमच्छाण—षण्मात्रकाणां त्रयोदशभेदानाम् एतानि तैरहं नाम—त्रयोदश नामानि यथासंख्यं बोध्यानीत्यर्थः ॥

१६ अथ पचकलाष्टभेदानां प्रत्येकं नामान्याह इन्द्रासन अह—अपरः सूरः चापः हीरश्च शेखरः कुसुम । अहिगणः पदातिगणः पचकलगणे एतानि नामानि क्रमेणेति शेषं पिङ्गलेन कथितानि, पचकलगणस्य ये अष्टौ भेदास्तेषां प्रत्येकमेतान्यष्टौ नामानि पिङ्गलेन कथितानीत्यर्थः ।

१७ अथ चतुष्कलगाणपचभेदनामान्याह सुर्विति । गुरुलघु—गुरुयुग, गुरोः युग द्वय यस्मिन्नेतादृशो यो भेदः स इत्यर्थः, कण्ठो—कर्णः चतुःकलस्य प्रथमो भेदः कर्णो नामेत्यर्थः । गुर्वेत' गुरुरते यस्य तादृशो द्वितीयो भेदः पयोधरनामक इत्यर्थः । भिम पादपूरणे । आदिगुरुः आदौ गुरुः यस्य तादृशश्चतुर्थो भेदो वसु' चरणः इति तस्य नामद्वय । सर्वे लघुभिः सर्वलघु पचमोभेदः विप्र चिप्रनामेत्यर्थः ।

१८ अथ त्रिकलप्रथमभेदस्य लघ्वादेर्नामान्याह धव इति । धवः ध्रुवः

लघुर्देयस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्यात्लघुद्वयोत्तरमेको गुरुः स्थाप्यः, पश्चादुर्वरितैकमात्रा
लघुरूपा देया, एव यत्र लघुचतुष्टयानतरमेको गुरु पतति, सोऽस्य पञ्चमभेदः ।
एवमस्याग्रे वर्णः प्रथमगुरुस्तदधो लघुर्देयः, उपरितनसादृश्याभावात् उर्वरितमा-
त्रापचक द्विगुर्वेकलघुरूपमन्त्यलघोः पूर्णक्रमेण स्थाप्यमेव च यत्र प्रथममेको
लघुस्ततो गुरुद्वयोत्तरमेको लघुः पतति सोऽस्य षष्ठो भेदः । एवमस्य द्वितीयो वर्णः
प्रथमगुरुस्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्याद् गुरुलघू स्थाप्यौ
पश्चादुर्वरित मात्राद्वयमेकगुरुरूप स्थाप्यम्, एव यत्र प्रथम गुरुलघू ततोऽपि
गुरुलघू एवभूतोऽस्य सप्तमो भेदः । एवमस्याग्रे गुरुः ' लघोरग्रे उपरितनसादृश्या-
त्लघुगुरुलघवः क्रमेण स्थाप्या, उर्वरिता चैका मात्रा लघुरूपा पश्चात् स्थाप्या,
एव यत्र प्रथम लघुत्रयः ' अथ चतुर्थो वर्णः प्रथमगुरु-
स्तदधो लघुः स्थाप्यस्तस्याग्रे उपरितनसादृश्यादेको लघुः ' 'गुरुद्वयरूप
पश्चात् स्थाप्यम्, एव यत्र प्रथम गुरुद्वय ततो लघुद्वय पतति, एवभूतोऽस्य
नवमो भेदः । एवमस्य प्रथमो वर्णः प्रथमगुरु '(उपरि) तनसादृश्यादेको-
गुरुस्ततो लघुद्वय देयम्, उर्वरिता चैका मात्रा चैकलघुरूपा पश्चाद्देया, एव च यत्र
लघुद्वयोत्तरमेको गुरुस्ततो लघुद्वय ।

यस्य गुगेरधः, यथोपरि तथा शेष भूयः कुर्यादमु विधिम् ॥ तावद्द्वयाद्गुरुनेत्र
यावत्सर्वलघुर्मवेत् । प्रस्तारोऽय समाख्यातः छदोचिरतिवेदिभिरिति ॥

१५ अथ वक्ष्यमाणमात्राच्छ्रुदसु व्यवहारार्थं षट्कलत्रयोदशभेदानां क्रमेण
नामान्याह हर इति । हरः शशी शूरः शक्रः शेषः अहिः कमल ब्रह्म कलिः
चन्द्रः ध्रुवः घर्मः शालिचरः, छमचाण—षण्मात्रकाणां त्रयोदशभेदानाम् एतानि
तेरह णाम—त्रयोदश नामानि यथासख्य बोध्यानीत्यर्थः ॥

१६ अथ पचकलाष्टभेदानां प्रत्येक नामान्याह इंदसणेति । इन्द्रासन
अरु—अपरः सूर चापः हीरश्च शेखरः कुसुम । अहिगणः पदातिगणः
पचकलगणे एतानि नामानि क्रमेणेति शेष पिंगलेन कथितानि, पचकलगणस्य
ये अष्टौ भेदास्तेषां प्रत्येकमेतान्यष्टौ नामानि पिंगलेन कथितानीत्यर्थः ।

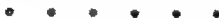
१७ अथ चतुष्कलगणपचभेदानामान्याह गुर्विति । गुरुद्वय—गुरुद्वयं, गुरो-
गुग द्वय यस्मिन्नेतादृशो यो भेदः स इत्यर्थः, कण्णो—कर्णः चतु कलत्र्य प्रथमो भेदः
कर्णो नामेत्यर्थः । गुर्वतः गुरुरते यस्य तादृशो द्वितीयो भेदः पयोवरनामक इत्यर्थः ।
मिम पादपूरणे । आदिगुरुः आदौ गुरुः यस्य तादृशश्चतुर्थो भेदो वसु चरणः इति
तस्य नामद्वय । सर्वे लघुभिः सर्वलघुः पचमोभेदः विप्रः विप्रनामेत्यर्थः ।

१८ अथ त्रिकलप्रथमभेदस्य लघ्वादेर्नामान्याह धञ इति । ध्वजः चिह्नः

त्रिं त्रिपलया सोमं तंशुं पत्रं धृतमाला रत्न बासा पक्का कस्तुर एतन्नि
नामानिती शेषा, लघुनालंकेन कृष्णशैलिकलप्रथममेव इत्यर्थः, बाबेदु—बानीतेन ।

१९ अथ त्रिकलद्वितीयमेवम् गुर्भं (ईर्ना) माग्याह सुरम् इति । सुरपति
पट्टा ताताः करताताः नेश लुं व भ—ननु निरूपयेन निर्वाणः (४) वदुं एते
एह—एतानि नामानि प्रमाणेन—प्रमाणेन गुर्भशैलिकलस्य बानीतेति शेषः, एते
संप्रशुचिश्च प्रथममे ।

२ शोभिकलस्य नामान्वाह मयैति । भाग रत्न तांबा नारी इव भव
कुलामामिनी इति नामानि त्रिपुगणस्य कविवर्य पिंगला कथयति ।



१० अथ चतुष्कलस्य सामान्यानि नामान्वाह गम्य रोति । गम
रम्य दुरग पर (दा) ति एतेर्नाममि बानीदि चतुर्मात्रिकान् ।

११ अथैकगुणेर्नामान्वाह तातकेति । छट्वा दारा धूपुर केवूरम् एतानि
गुर्भेशः गुणेर्नामानिपि यावत्, इति-भवति । अथैकलपोर्नामान्वाह, चरेति ।
सरः मेका दका कदला, एताह—एतानि, लघुमेव—लघुमेव लपोर्नाममि,
इति भवति ।

१२ शंका पुष्पं कादल रत्न वनकं कला कर्त नाना कुसुमं पुष्पशलीनां
यावति नाममि ताभि लोणीत्वर्थः । रत्न रत्नः वदत एते अरोपा लघुमेव
भवतीत्युक्त्यर्थः इति प्रमाणं निधायः ।

१३ अथ कर्पूरोप्येयिनो मग्याहीनद्वौ गमान्नामसंज्ञकान्मदुरिरिति मोति
इति । तिगुह—त्रिगुहा शुक्लपल्लवो खे मग्या ५५५, तिगुह—त्रिगुहा
लघुवय स्वकर इति यावत् खो—नगम्य ॥ अदितलुगुह वयो केव भाये
वदत लघु स पग्या भाये वस्य गुहा स मग्या इत्यर्थः । मग्यगुहा—वस्य
मध्ये गुहा ॥ मग्या । मग्यलघु—वस्य मध्ये लघु ५५५ ये-रम्य । छटगुह—
वस्य छटं गुहा स पुनः खे—लगम्य । अदितलुना उपसदितः खे—लगम्य,
वस्यति लघु स लगम्य इत्यर्थः ।

१४ मनुष्यकृते कविनामकनोरेवताकृते ईवतानां दुष्पर्येतात्वेन
कविस्वत्वायो दुहगलपाते अनीहफलमातिस्तन्वात्वर्थे शुभगलपाते शुभदलद्वारे
प तत्त(६) रत्नरेकताः पूजा इति मग्याचद्वगम्यां क्रमेण ता अह, पुहरीति ।
पुहरी—पुहिनी मग्यास्य त्रिगुहोः, कल—कल नगवस्य त्रिगुहोः १
तिहि—तिहो अग्नि मग्यास्यद्विगुहोः १, कातो मग्यास्यद्विगुहोः ४, पगम

मध्यगुरोर्जगणस्य ५, सूर्यश्च अत मध्य) लघोः रगणस्य ६, चंद्रमा मध्यलघोः (अतगुरो) सगणस्य ७, नागो अतगुरोः (लघोः) तगणस्य ८, एते गणाष्टकेऽष्टदेवाः यथासंख्य पूर्वोद्देश क्रमेण पिंगलेन कथिताः ।

३५. वक्ष्यमाणशुभाशुभफलोपोद्धातेन गणानां परस्परस्य मित्रादिभावं कथयति । भगण-यगणौ द्वौ गणौ, मित्रे मित्रसंज्ञाविति यावत् भवतः, भगण-यगणौ द्वौ गणौ भृत्यौ भृत्यसंज्ञौ भवतः, ज तौ जगण-तगणौ द्वौ उदासीनौ उदासीनसंज्ञौ, अवशिष्टौ रगण-सगणौ अरी शत्रुसंज्ञौ नित्य भवत इति क्रियापद द्विवचनाते सर्वत्र योज्यम् ।

३६. अथ मगणाद्यष्टगणानां काव्यादौ पतने प्रत्येकं फलमाह भगणेति । कवित्वस्यादौ यदि मगणः पतति, तदा ऋद्धिः कार्यं स्थिरं ददातीत्याकर्षः । यदि यगणः पतति तदा मरणं प्रयच्छति । यदि सगणः पतति, तदा सहवासान्निजदेशादुद्धासयति । यदि तगणः पतति, तदा शून्यं फलं कथयति । यदि जगणः पतति, तदा खरकिरणं सतापं विसर्जयति । भगणः अनेकानि मगलानि कथयति । य वत्काव्यगाथादोहास्तत्र प्रथमाक्षरे प्रथमगणो यदि नगणो भवति, तदा तत्र ऋद्धिबुद्धयः सर्वाः स्फुरति रणे राजकुले दुस्तरं तरति इति मुणहं जानीत इति कविपिंगलो भाषते ।

३७ अत्र मनुष्यकवित्वे तदुक्तं फलं, पञ्चेतादिवर्णने कविगतं, देवतावर्णने न क्वापि । तदुक्तमभिधुतैः —वर्ण्यते मनुजो यत्र फलं तद्गतमादिशेत् । अन्यथा तु कृते काव्ये कवेर्दापावहं फलं । देवता वर्ण्यते यत्र काव्ये क्वापि कवीश्वरैः । मित्रामित्रविचारो वा न तत्र फलकल्पनेति ॥ उपर्युक्तगणगुणानपवदन् द्विगण-विचारमाह, मित्रं मित्रेति । मित्रात् मित्रं यदि पतति तदेति शेषः सर्वत्र यथा-यथं योजनीयः, ऋद्धिं बुद्धिम् अगर मगलं ददाति, मित्राद्भृत्यो यदि पतति तदा युद्धे स्फुन्धस्थैर्यं निर्भयं जयं करोति, मित्रादुदासीनो यदि पतति तदा कार्यवधं कार्यप्रतिवधं खलु पुनः पुनः करोति, मित्रात् यदि शत्रुः भवति तदा गोत्रवान्धवान् पीडयति, अपरं भृत्यात् मित्रं यदि पतति तदा सर्वाणि कार्याणि भवति, भृत्यात् भृत्यो यदि पतति तदा आयतिरुत्तरकालो वर्द्धते, भृत्यात् उदासीनो यदि पतति तदा धनं नश्यति, भृत्यात् वैरी यदि पतति तदा हाकदः हाहृहाकारः पतति ।

३८ उदासीनात् यदि मित्रं पतति तदा कार्यं किमपि अनिष्टं दर्शयति, उदासीनात् यदि भृत्यः पतति तदा सर्वांमायतिं चालयति, उदासीनात् यदि उदासीनः पतति तदा अस्तकलं किमपि न दृश्यते, उदासीनात् यदि शत्रुः पतति तदा गोत्रमपि दैरिक्तं जेषम्, यदि शत्रोर्मित्रं भवति तदा शून्यं फलं भवति किमपि

फलं न भवतीत्यर्थः । यदि शुभोर्म्यो भवति तदा यदिवा न भवति, पुनः शुभो
रदायीनो यदि पतति तदा धनं न भवति, यदि शुभोः शत्रुः पतति तदा नापन्न
स्ततति न भवतीत्यर्थः ॥

१६ निर्दिष्टप्रकारकमरिचतिनिर्यातितसंख्याकगुणसमुत्पत्तयं रूपनिर्णीतस्वरूपे
मे प्रथमत्तद्वितीकवादिधर्मनिर्यातगुणद्विष्ट । तद्विधिभिर्भाषाभेदात् । तत्र
केनचित्कौटुम्भकवादिभ्यो (१) श्रेष्ठे लक्षणमाह । पुष्पं शुभमेति । पुष्पं शुभं त्वरि
शब्दा—पूर्वपुगलतद्वशाद्धनं, अत्र पूर्वपदस्य पूर्वोक्तप्रकारात् पूर्वपुगलेत्यर्थः । एवं
च पूर्वं पदं पुगलं लक्षणं तदुत्पत्तयं तद्वैकल्यकिया कर्तव्यते इति यावत्
तमर्थमित्यम् । दिग्दशु—पदस्य, अनिर्धारितप्रथमत्तद्वितीकवादिधर्मभेदस्वरूपं
लिखित्वा तद्वशात्परि पूर्वोक्तपुगलतद्वशात् वक्ष्यप्रकारतत्त्वं क्रमेणोत्तरोत्तरं
स्थापयेत्यर्थः । अत्र यदा पूर्वोक्त एव नास्ति त (ता) प्रथमातिशये करणान्तरात्
प्रथमोऽङ्का स्थाप्य, यत्र च पूर्वम् अङ्कमुत्तमं नास्ति यत्र च एव पूर्वोक्ते भवति
तद्विद्वान्निर्वाहं स्थाप्य इति गुरुपदेशोऽनुत्तरेण । एतां गुरुं चिरं अङ्कम्—गुरु
शिरोहान् गुरोः शिरसि ये अङ्कस्तान् सेत—सेते सर्वोक्तिमं अङ्के, मिथिगुण—
लोपनं गुरुशिरोऽङ्कभेदितसंख्यां सर्वोक्तिमं अङ्कभेदितसंख्यामानीदुह इति भव्यः ।
एवं सति उच्यते अङ्क—अङ्कमित्यङ्कं गुरुशिरोऽङ्कभेदितसंख्ये सति सर्वोक्तिमा-
कमप्ये उच्यते नोऽङ्कमित्यर्थः, सर्वोक्तिमाङ्कभेदितसंख्यामप्योर्वैरितसंख्याभेद-
कर्मकमिति यावत् । लौकिकद्व—व्यसंख्यां परिषायेति यावत्, अत्रानु—अनवस्य
आनीद्व इति यावत्, तदि पर—तनुपरि सेनेति यावत् भाषाभ्यामिति शेषः,
तदिह—अदिहम्, अनिर्धारितप्रथमत्तद्वितीकवादिधर्मं भेदे प्रथमत्तद्वितीकवा
दिधर्मनिर्यातं, प्रथमं निर्धारितं, यावत्—आनीद्वि । अत्र गुरुचिर इति चिरः
पक्षोपादानात् गुरुवर्गमङ्कवाधे देय इति लक्ष्यते, अन्यथा कर्णेदिष्टे लक्ष्मणैव
दशापि गुरोस्परि इत्येव भूयात् । लोपोलु तप्येवेति निवर्तो गुरुपक्षोऽनुत्तरेण ।
अथमर्थः—अनिर्धारितप्रथमत्तद्वितीकवादिधर्मभेदस्वरूपं विन्यस्य प्रथमाद्योपरि
एकसप्तसंख्याभ्योऽङ्का स्थाप्य, द्वितीयोऽङ्कः स्थाप्य, तृतीयस्याने च
तत्पूर्वद्वितीयैरेकैकद्वयेक्यक्रियानिपन्ना तृतीयोऽङ्का स्थाप्यधत्तुर्लक्षणे च तत्पूर्वं
तृतीयद्वितीयैरेकैकद्वयेक्यक्रियानिपन्ना पञ्चमोऽङ्का स्थाप्य । पञ्चमस्याने च
तत्पूर्वं चतुर्थीकेकैकद्वयेक्यक्रियानिपन्नाऽष्टमोऽङ्का स्थाप्य, यद्वरुधने च
तत्पूर्वं चतुर्थीकेकैकद्वयेक्यक्रियानिपन्नाऽष्टमोऽङ्का स्थाप्य । एवं पदमु
रुधनेषु पदं क्ता मयाप्रकारतत्त्वं पदं क्तागुणोद्विष्ट स्थाप्य । एवं पञ्चमतादावपि
मयाप्रकारतत्त्वं क्ताः स्थाप्य ।

एव च त्रिगुणः पदस्यैव वनमो भेद इति श्रुते, गुरुचरं लिखित्वा तत्र

एकद्वित्रिपचाष्टत्रयोदशेति षड्कान् क्रमेण गुरुणामुपर्युपर्यधश्च सस्थाप्य गुरु-
शिरस्यैकतृतीयोष्टमेत्यकत्रयोधितद्वादशसख्यायाः शेषाकत्रयोदशत्रोधितसख्यामव्य-
लोपे उर्वरिता एकत्वसख्या, एव च त्रिगुरुः षट्कलस्य प्रथमो भेद इति वाच्यम् ।
एव यत्र लघुद्वयोत्तर गुरुद्वय पतति एतादृशः षट्कलस्य क्तमो भेद इति पृष्टे,
पूर्वोक्तरीत्या यथास्थान षड्कान् सस्थाप्य गुरुशिरःस्थतृतीयाष्टमेत्यकद्वयैक्यक्रिया-
निःपन्नैकादशाकत्रोधितसख्यायास्त्रयोदशसख्यामध्ये लोपे उर्वरिता द्वित्वसख्या,
तथा चाय द्वितीयो भेद इति वाच्यम् । एव यत्रादौ लघुगुरु ततोऽपि लघुगुरु एव-
भूतः षट्कलस्य क्तमो भेद इति पृष्टे, उक्तरीत्या उक्तस्थानेषु तत् षट्कस्थापने
गुरुशिरःस्थद्वितीयाष्टमेत्यकद्वयैक्यक्रियानिःपन्नदशाकत्रोधितसख्यायास्त्रयोदशसख्या-
मध्ये लोपे अवशिष्टा त्रित्वसख्या, तथा चाय तृतीयो भेद इति वाच्यम् । एवमग्रेऽपि
गुरुशिरोऽकसख्याया त्रयोदशसख्यामध्ये लुप्तोर्वरितसख्या तत्तद्भेदे वाच्या ।
पङ्क्त्यधिरूपे गुरुशिरोऽकाऽमावादार्यसमानसिद्धस्तादृशस्तयोदशो भेदो बोध्यः ।

एव पचकलप्रस्तारेऽपि अनिर्द्धारितप्रथमत्वाद्वितीयत्वादिधर्मभेदं लिखित्वा
तद्वर्णोपरि एकद्वित्रिपचाष्टेत्यकपचक यथाप्रस्तारसख्य यथाक्रममुत्तरोत्तरं स्थाप्यम् ।
एव च यत्रादौ लघुस्ततो गुरुद्वयमीदृशः पचकलस्य क्तमो भेद इति पृष्टे, एकद्वि-
त्रिपचाष्टेत्यकपचके तथोक्तस्थाने यथाक्रममुत्तरोत्तरं स्थापिते गुरुशिरःस्थद्वितीय-
पचमेत्यकद्वयैक्यक्रियानिःपन्नसप्तमाकत्रोधितसख्यायाः सर्वातिमाष्टमाकत्रोधितसख्या-
मध्यलोपे उर्वरिता एकत्वसख्या, एव चाय प्रथमो भेद इति वाच्यम् । एव यत्र
प्रथमं गुरुलघू ततो गुरुरीदृशो भेदः पचकलस्य क्तम इति पृष्टे, एकद्वित्रिपचा-
ष्टेत्यकपचके यथास्थान यथाक्रममुत्तरोत्तरं स्थापिते गुरुशिरःस्थैकपचमेत्यकद्वयमेव
लब्धं, लब्धपष्ठसख्यायाऽष्टमसख्यामध्यलोपे उर्वरिता द्वित्वसख्या, तथाचाय द्वितीयो
भेद इति वाच्यम् । एव यत्र लघुत्रयाते गुरुरीदृशो भेदः क्तम इति पृष्टे, पूर्वोक्त-
ऽकपचके तथैव स्थापिते गुरुशिरःस्थपचमाकत्रोधितसख्यायाः सर्वातिमाष्टमाकत्रोधि-
ताष्टमसख्यामध्यलोपे उर्वरिता त्रित्वसख्या, तथाचाय तृतीयो भेद इति वाच्यम् ।
एवमग्रेऽपि गुरुशिरोऽकसख्यामष्टमसख्याया लुप्तोर्वरितसख्या तत्तद्भेदे वाच्या ।

एव चतुक्त्रले द्विगुरुः क्तमो भेद इति पृष्टे, एकद्वित्रिपचमेत्यकचतुष्टये
यथोक्तस्थाने यथाक्रममुत्तरोत्तरं स्थापिते गुरुशिरस्यैकतृतीयोष्टमेत्यकत्रयोधितचतुर्थ-
सख्यायाः सर्वातिमपचाकत्रोधितसख्यामध्यलोपे उर्वरिता एकत्वसख्या, तथाचाय
प्रथमो भेद इति वाच्यम् । एव चतुक्त्रले आदौ लघुद्वय ततो गुरुशिरस्यतृतीया-
कत्रोधितत्रित्वसख्यायाः सर्वातिमपचमाकत्रोधितसख्यामध्यलोपे उर्वरिता द्वित्वसख्या,
तथाचाय द्वितीयो भेद इति वाच्यम् । एव त्रिकले एकद्वित्रीति अकत्रय, द्विकले
एकद्वीत्यकद्वयं सस्थाप्य वाच्यम् ॥

४९ अथ वज्रवृत्तभेदेषु नष्टप्रकारमाह षष्ठेति । अङ्के सम विग्रहे वेत्तव्यं ।
म अ—भार्ग अर्द्धांशमिति यावत् यथापस्तारलक्ष्यामिति शेषा करिग्रहस्तु—
कुक्ष्य कक्षयेति यावत्, तत्र या सम भाज्य—सम भागा समस्य भाग अर्द्धांश
इत्यर्था, तह—ततः लघु—लघु मूळिग्रहस्तु—अनीहि क(ग)येति यावत् भिन्न—
विग्रहस्याङ्कस्य एकम्—एकम् एकवर्तव्यावधिपर्यन्तमभिव्यक्त्यै, हेह—इत्या लघ्वेमेति
यावत्, बंरक—बंटनं भागमर्द्धांशमिति यावत्, किरग्रहस्तु—कुक्ष्य कक्षयेति
यावत् बंटनमिति भ्रगवक्ष्यते देशी ततः गुरु अग्रिमग्रहस्तु—गुरुमानय कक्षयेति
यावत् । एवंप्रकारेण वज्रवृत्तभेदानामिति शेषा षष्ठे—नष्ट नष्टप्रकारमिति यावत्,
निगल वरह—पिम्बो अक्षयति कथयति ॥ समाकृताग्रे कृते बौद्धकं च लघुकक्ष्यकं
विग्रहाङ्कमागे बौद्धकं च गुरुकक्ष्यकम् । विग्रहाङ्कस्य भागस्तु विग्रहप्रमाणेन लघ्वेन
कक्ष्यनीय इति निर्गोष्ठित्वार्था । अथ यद्यपि एकांकेन बोधितो विग्रहा लघुमात्रं
प्राप्नोति तथापि तस्य भ्रगा विग्रहाङ्कमाग एवेति, तस्यो लघुकक्ष्यवभ्रान्तिर्न
कर्तव्येति ध्येयम् । अथमथा—

एकवर्तवृत्तस्य प्रथमो मेरु बीहय इति पृथ्ते, एकाङ्के विग्रहे एकाङ्क्योक्तनेन
कृतमागे एको गुहा कक्ष्यः । अनंतरं चाक्षरमात्रान्न कक्ष्यना । एवं च
एकवर्तवृत्तस्य प्रथमो मेरु एकगुहयिष्ठि बाध्यम् । एवमेकाक्षरवृत्तस्य द्वितीयो मेरु
बीहय इति पृथ्ते कक्ष्यनीयः, अनंतरं चाक्षरमात्रान्न कक्ष्यना एकलघुद्वितीयो
मेरु इति बाध्यम् ।

एवं द्व्यक्षरवृत्तस्य प्रथमो मेरु बीहय इति पृथ्ते, पृथ्त्स्य एकाङ्कस्य विग्रहस्य
एकाङ्क्योक्तनेन भागे एको गुहा कक्ष्यनीयः पुनरपि भ्रगास्तम्बस्यैकाङ्कस्य विग्रहस्य
भागे द्वितीयो गुहा कक्ष्यः । अनंतरं चाक्षरमात्रान्न कक्ष्यना एवं द्विगुहद्वयवर्त
स्तस्य प्रथमो मेरु इति बाध्यः । एवं द्वितीयो मेरु बीहय इति पृथ्ते पृथ्त्स्य
द्वितीयोक्तस्य समस्य भागे एको लघुः कक्ष्यनीयस्ततो भागस्तम्बस्यैकाङ्कस्य विग्रहस्य
दैकेन बोधितस्य भागे एको गुहा कक्ष्यः अनंतरं चाक्षरमात्रान्न कक्ष्यना एवं
च प्रथममेको लघुस्तत एकोगुहरीहतो द्वितीयो मेरु । एवं द्व्यक्षरवृत्तस्य तृतीयो
मेरु बीहय इति पृथ्ते पृथ्त्स्य तृतीयस्य विग्रहस्यैकाङ्क्योक्तनेन भागे प्रथममेको
गुहा कक्ष्यनीयस्ततो भागस्तम्बस्य द्वितीयोक्तस्य समस्य भागे एको लघुः कक्ष्यः,
अनंतरं चाक्षरमात्रान्न कक्ष्यना एवं च तत्र क्रमेण गुरुसप्त भवत ईहशो
द्व्यक्षरवृत्तस्य तृतीयो मेरु इति बाध्यम् । एवं चतुर्थो मेरु बीहय इति पृथ्ते,
पृथ्त्स्य चतुर्थस्य समस्य भागे प्रथम एको लघुः कक्ष्यः ततोभागस्तम्बस्य
द्वितीयोक्तस्य समस्य भागादङ्गोऽपि पुनरप्येको लघुः कक्ष्यः, अनंतरं चाक्षरमात्रान्न
कक्ष्यना एवं च तत्र लघुद्वयं च द्व्यक्षरवृत्तस्य चतुर्थो मेरु इति बाध्यम् ॥

एव त्र्यक्षरस्य प्रथमो भेदः कीदृश इति पृष्टे, पृष्ठाकस्य एकस्य विषमत्वादेकांशेन योजितस्य भागे एको गुरुः प्रथमः कल्प्य, ततो भागलब्धस्यैकाकस्य विषमत्वादेकाकयोजनाद्वारद्वय भागे गुरुद्वयकल्पनम्, अनंतर चाक्षराभावान्न कल्पना, एव च यत्र गुरुत्रयमीदृशस्यत्र्यक्षरवृत्तस्य प्रथमो भेद इति वाच्यम् । एव त्र्यक्षरस्य द्वितीयो भेदः कीदृश इति पृष्टे, पृष्ठाकस्य द्वितीयस्य समत्वाद्भागे प्रथममेको लघुः कल्प्यस्ततो भागलब्धस्यैकाकस्य विषमत्वादेकाकयोजनाद्वारद्वय भागे गुरुद्वय कल्पनीयमनंतर चाक्षराभावान्न कल्पना, एव यत्र प्रथममेको लघुस्ततो गुरुद्वयमीदृशस्यत्र्यक्षरस्य द्वितीयो भेद इति वाच्यम् । एव त्र्यक्षरस्य तृतीयो भेदः कीदृश इति (पृष्टे), पृष्ठाकस्य तृतीयस्य विषमत्वादेकाकयोगेन भागकल्पने एकगुरुः कल्प्यस्ततो भागलब्धस्य द्वितीयाकस्य समत्वात्तद्भागे लघुः कल्प्यस्ततो भागलब्धस्यैकाकस्य विषमत्वादेकाकयोगेन तद्भागे गुरुः कल्प्य, अनंतर चाक्षराभावान्न कल्पना, एव च यत्र प्रथममेको गुरुस्ततो लघुगुरु ईदृशस्यत्र्यक्षरस्य तृतीयो भेद इति वाच्यम् । एव त्र्यक्षरवृत्तस्य चतुर्थो भेदः कीदृश इति पृष्टे, पृष्ठस्य चतुर्थाकस्य समत्वात्तद्भागेऽपि लघुः कल्पनीयः, ततो भागलब्धस्यैकाकस्यापि समत्वात्तद्भागेऽपि लघुः कल्पनीयः, ततो भागलब्धस्यैकाकस्य विषमत्वादेकाकयोगेन तद्भागे गुरुः कल्पनीयस्तश्चाक्षराभावान्न कल्पना, एव च यत्र प्रथम लघुद्वय तत एको गुरुरीदृशस्यत्र्यक्षरवृत्तस्य चतुर्थो भेदः इति वाच्यम् । एवमग्रेऽप्युक्तम् ।

एवं चतुरक्षरस्य प्रथमो भेदः कीदृश इति पृष्टे, पृष्ठाकस्यैकस्य विषमत्वादेकत्वा तद्भागे एको गुरुः कल्पनीयः, ततो भागलब्धस्यैकाकस्य वारत्रयमेकाकयोजनेन भागे गुरुत्रय कल्पयित्वा चतुर्गुरुश्चतुरक्षर (स्य) प्रथमो भेद इति वाच्यम् । एव चतुरक्षरस्य द्वितीयो भेदः कीदृश इति पृष्टे, पृष्ठस्य द्वितीयाकस्य समत्वात्तद्भागे एको लघुः कल्पनीयस्ततो भागलब्धस्यैकस्य विषमत्वादेकाक दत्त्वा वारत्रय भागकल्पने गुरुकल्पने गुरुत्रय कल्पनीयम्, एव च यत्रादौ एको लघुस्ततो गुरुत्रयमीदृशश्चतुरक्षरस्य द्वितीयो भेद इति वाच्यम् । एवमग्रेऽप्युक्तम् ॥

४३ अमुक्त्वा चतुर्मात्रागणप्रस्तारयोरेतावद्गुरुलघुको भेदः कतिसख्याक इति अनिर्दिष्टक्रमस्यिति निर्द्धारितसख्याकगुरुलघुयुक्तत्वरूपप्रस्तारे निर्णतस्वरूपानिर्द्धारितसख्याभेदनिष्ठायाः एको द्वाविंशत्यादिपिंडीभूतैकत्वद्वित्वादिकायाः निखिलचरणवृत्तमात्रागणभेदनिष्ठायाश्च पिंडीभूतद्विचतुरष्टयोद्देशेत्यादिकायाः सख्यायानिर्द्धारककोष्ठस्थाक्कसमूहो वा भेदः । अत्र निखिलभेदनिष्ठपिंडीभूतद्विचतुष्ट्यादिसख्यानिर्द्धारण तत्तन्मैरूपक्तिनिखिलकोष्ठवर्त्यैकयोजननिष्पन्नाकेन बोध्यमिति गुरुपदेशोऽनुसंधेयः । पूर्ववद्विविधे, तत्र वर्णमैरूपप्रकारमाह । अक्षरसंज्ञेति । अक्षर सते—सख्याताक्षराणाम् । अत्राक्षरपदस्य चरणाक्षरपा-

प्रतीयते । ततस्तृतीयकोष्ठस्यैकाकेन द्व्यक्षरस्य द्विलघुरेको भेद इति निर्द्धारित-
द्वित्वसंख्याकलघुयुक्तद्व्यक्षरभेदनिष्ठैकत्वरूपसंख्या प्रतीयते । कोष्ठत्रयस्थलसमस्ता-
कयोजननिःपन्नचतुर्थोकेन च चतुष्ट्वरूपा समस्तभेदसंख्या निश्चीयते, सेय कोष्ठत्रय-
युक्ता द्व्यक्षरमेवपद्वितीया ॥

एवमेतत्पक्षधोरेखा पार्श्वयोर्मंनागवर्द्धयि वैकागुलमात्रमध्यदेश त्यक्तवोप-
रितनरेखासमानाधस्तद्रेखा कार्या, पार्श्वयोश्च ऋजुरेखया भेलन कार्यमेवमेकं
दीर्घ कोष्ठ निर्माय तत्र उपरितनप्रथमकोष्ठाधोरेखामध्यमारम्याधोरेखापर्यंतमेका
ऋजुरेखा देया, एव कोष्ठचतुष्टय संपाद्य तत्राद्यतकोष्ठयोः प्रत्येकमेकैकोऽको
देयस्तदतरालस्य द्वितीयकोष्ठस्य च तच्छिरःस्थैकद्वितीयेत्येकद्वययोजननिःपन्नतृतीया-
केन पूरण कार्ये, तृतीयकोष्ठस्य च तच्छिरःस्थैकद्वितीयेत्येकद्वययोजननिःपन्नतृतीया
केन पूरण कार्ये, तत्र प्रथमकोष्ठस्यैकाकेन व्यक्षरस्य त्रिगुरेको भेद इति निर्द्धारित-
त्रित्वसंख्याकगुरुयुक्तव्यक्षरवृत्तभेदनिष्ठैकत्वरूपसंख्या प्रतीयते । द्वितीयकोष्ठस्य-
तृतीयाकेन च व्यक्षरस्य द्विगुर्वैकलघुयुक्त भेदत्रयमिति निर्द्धारितद्वित्वैकत्वसंख्या-
कगुरुलघुयुक्तव्यक्षरभेदनिष्ठत्रित्वगुरुरूपसंख्या निश्चीयते । एव तृतीयकोष्ठस्थतृतीयाकेन
(अ) क्षरस्थैकगुरुद्विलघुयुक्त भेदत्रयमिति निर्द्धारितैकत्वद्वित्वसंख्याकगुरुलघुयुक्त
व्यक्षरभेदनिष्ठक/त्रित्व) रूपसंख्या निश्चीयते । एव चतुर्थकोष्ठस्यैकाकेन व्यक्षरस्य
त्रिलघुयुक्त एको भेद इति निर्द्धारितत्रित्वसंस्थाकलघुयुक्तव्यक्षरभेदनिष्ठैकत्वरूप
संख्या प्रतीयते । कोष्ठचतुष्टयस्यसर्वाकयोजननिष्पन्नाष्टमाकेन च व्यक्षरस्याष्टौ भेदा-
इति समस्ता व्यक्षरवृत्तभेदसंख्या निश्चीयते, सेय तृतीया षोष्ठचतुष्टययुक्ता
तृतीयाक्षरमेवपद्वितीया ।

एवं पूर्वोक्तरीत्यैकं दीर्घ कोष्ठ निर्माय तत्र कोष्ठपञ्चक विधाय प्रथमात्ययोऽ-
कोष्ठयोरेकैको देय, श्रतरालस्थस्य द्वितीयकोष्ठस्य शिरःस्थैकतृतीयेत्येकद्वययोज-
ननिःपन्नचतुर्थोकेन पूरण विधेय, तृतीये कोष्ठस्य च शिरःस्थतृतीयाकद्वय
योज(न)नि पन्नपष्ठाकेन पूरण विधेय, चतुर्थकोष्ठस्य च शिरःस्थतृतीयेत्येकद्वय-
योजननिःपन्नचतुर्थोकेन पूरण विधेय, तत्र प्रथमकोष्ठस्यैकाकेन चतुरक्ष(२)वृत्तस्य
चतुर्गुरेको भेद इति निर्द्धारितचतुष्ट्वसंख्याकगुरुयुक्तचतुरक्षरवृत्तभेदनिष्ठैक-
त्वसंख्या प्रतीयते । द्वितीयकोष्ठस्थचतुर्थोकेन च चतुरक्षरस्य त्रिगुर्वैकल(ल)घुयुक्त
भेदचतुष्टयमिति निर्द्धारितत्रित्वैकत्वसंस्थाकगुरुलघुयुक्तचतुरक्षरभेदनिष्ठचतुष्ट्वरूप-
संख्या प्रतीयते । ततः चतुर्थकोष्ठस्थचतुर्थोकेनैकगुरुत्रिलघुयुक्त चतुरक्षरस्य भेद-
चतुष्टयमिति निर्द्धारितैकत्वत्रित्वसंस्थाकगुरुलघुयुक्तचतुरक्षरभेदनिष्ठचतुष्ट्वरूप-
(रु)पसंख्या निश्चीयते । ततः पञ्चमकोष्ठस्यैकाकेन चतुर्लघुयुक्तचतुरक्षरस्यैको
भेद इति निर्द्धारितचतुष्ट्वसंस्थाकलघुयुक्तचतुरक्षरभेदनिष्ठैकत्वरूपसंख्या निश्ची-

मने । ओष्ठपञ्चमिष्ठसर्वाङ्गोद्यमनि-पञ्चमोद्यमनि च ओष्ठरूपा समस्त
अनुस्वारभेदक्या प्रतीयते, सर्व पञ्चमीठयुक्ता अनुस्वा अनुस्वारमवर्षति ।

[illegible]

४४ अनुकूलनमप्राप्त्यारभ्येतावद्गुणानुपुष्टि मेव पृथक्त्वस्यैव इति मेव
पक्षिर्वर्तितुल्योऽस्यैव निर्यातिरवकाशस्याप्यन। मेवानां प्रथमाद्वितीयादिमां
तिरवकाशस्यैव निर्यातं पक्षिर्वाकाशप्रसूतो वा पृथक् वा द्विविधा वर्त-
यताका श्येति ।

वर्षाभ्यामनिर्माणप्रकारमाह उद्दिष्टा हरि वदति । उद्दिष्टा हरि—उद्दिष्ट
 लक्ष्यान् उद्दिष्टपदस्योद्दिष्टाकारणानुद्दिष्टाभ्युपगमनिसर्गः अंक—अंकम्
 दिग्बन्धु—येहि पूर्वोक्तार्थं दत्ता उद्दिष्टा हरि विगुणिता विगुणव्यापिप्रतयान्
 वयाप्रसारार्थं स्यादप्येतिवर्गः उक्तं पुनः अंक—पूर्वोक्तस्य पर—परस्मिन्नुत्तरव
 र्तिनीति वाक्यं अंके इति शेषः, प्रसारार्थं—प्रसारार्थस्य प्रसारस्य संख्या वत्ता
 विवर्णा लघ्या स्वात्तयेवर्गः, मरणयोर्जन करिण्यसु—कुरु । यस्य पूर्वोक्तस्य प्रसारार्थ
 वाक्यं प्रसारार्थव्यापकोऽप्यो निश्चयते, तस्य पूर्वोक्तस्य तत्र परस्मिन् योर्जन न कार्येन
 स्येको निश्चय इत्यर्थः । एवं कृते पाठस्य अंक पठ्य—मन्त्रद्वयमात्रयो पूर्वनिपाता

नियमात् प्रथमप्राप्तमकमित्यर्थः, परितेजसु—परित्यज । यस्य पूर्वोक्तस्य यत्पराक्योजने पूर्वप्राप्तोऽको निष्पद्यते तस्य तत्र योजनं न कार्यमिति द्वितीयो नियम इत्यर्थः । एव प्रकारेण वर्णानामिति शेषः, पताका विजसु—पताका कुरु इति योजना ।

अत्र य. पूर्वोक्तं यत्र पराके प्रथमं योज्यते तत्रोपनिःपन्ना अक्राः तत्पराकादधोऽधः स्थाप्या इति नियमो गुरुपदेशादवधारणीयः । पूर्वोक्तस्य सर्वपराक्योजने वैऽका निःपद्यते तैः कोष्ठपक्षिर्बोध्यः ।

अथैतदनुसारेण चतुर्वर्णपताकालिखनप्रकार उच्यते । चतुर्वर्णपताकायामादौ एक कोष्ठं कर्तव्यं, तत ऊर्ध्वाधः कोष्ठचतुष्टयं कल्पनीयं, तत ऊर्ध्वाधः कोष्ठपट्कं, ततः ऊर्ध्वाधः कोष्ठचतुष्टयं, तत एकः कोष्ठः । एव परस्परसंश्लिष्टरेख कोष्ठस्थान-पञ्चकं विधाय, यत्रोपरितनप्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमकोष्ठेषु एकद्विचतुरष्ट-षोडशेति पञ्चाका यथाक्रमं स्थाप्याः, तत्र प्रथमकोष्ठस्थानमेकाकयुक्तमिति सर्वविज्ञाया पूर्वं एकोऽकः, स च उत्तरवर्त्तिषु द्वितीयचतुर्थाष्टमात्रेषु योज्यमानः प्रथमं द्वितीयाके योज्यते इति तद्योजननिःपन्ना अक्रा द्वितीयाकादधोऽधः स्थाप्या इति एकाकद्वितीयाक्योजननिःपन्नस्तृतीयाको द्वितीयाकादधः स्थाप्यः, तत एकाकचतुर्थाक्योजननिःपन्नः पञ्चमाकस्तृतीयाकादधः स्थाप्यः, ततः एकाष्ट-माक्योजननिःपन्नो नवमोऽकः पञ्चमाकादधः स्थाप्यस्तत एकाकस्य षोडशाक-योजने सप्तदशोऽकः प्रस्तारसंख्यातोऽधिकसंख्याको निःपद्यते इति तस्य तत्र योजनं न कार्यमेवं प्रथमाकस्य द्वितीयचतुर्थाष्टमात्रेषु योजनं कृत्वा निःपन्नद्वितीय-तृतीयपञ्चमनवमैश्चतुर्भिरकैर्द्वितीयस्थानकोष्ठपक्षिः कल्पनीया । एतत्कोष्ठपक्षिस्थः द्वितीयादयश्चत्वारोऽप्यकाश्चतुर्थाष्टमाकपूर्ववर्त्तिता इति क्रमेण तयोर्योज्यमानाः प्रथम-चतुर्थाके योज्यते ततस्तद्योजननिःपन्ना अक्राश्चतुर्थाकादधोऽधः स्थाप्या इति, द्वितीयचतुर्थाक्योजननिःपन्न सप्तमोऽकः षष्ठाकादधः स्थाप्यः, ततः पञ्चमचतुर्थ-योजने नवमाकः प्रथमप्राप्तो निःपद्यते इति तस्य तत्र योजनं न कार्यमिति, पञ्चाष्टमाक्योजननिःपन्नस्रयोदशाकः सप्तमाकादधः स्थाप्यः, एव द्वितीया-दिचतुर्णामकानां चतुर्थाके योजनं कृत्वा द्वितीयाष्टमाक्योजननिःपन्नो दशमाकस्र-योदशाकादधः स्थाप्यस्ततः तृतीयाष्टमयोजननिःपन्न एकादशाको दश-माकादधः स्थाप्यः, ततः पञ्चाष्टमयोजननिःपन्नस्रयोदशाकः प्रथम-प्राप्तो निःपद्यते इति तयोर्योजनं न कार्यं, नवमाष्टमयोजननिःपन्न सप्तदशो-नवमषोडशयोजननिःपन्नः पञ्चविंशतितमश्चाकः प्रस्तारसंख्यातोऽधिकसंख्याको निःपद्यते इति तद्योजनं न कार्यम् । एव द्वितीयाद्यकानां चतुर्थाष्टमाक्योर्योजनं कृत्वा चतुर्थषष्ठसप्तमत्रयोदशदशमैकादशेति षडकैः तृतीयस्थानकोष्ठपक्षिः कल्प-नीया, ततश्चतुर्थादयः षडकाष्टमाकपूर्व (व) चिन्तन इति तेषां तत्र योजनं,

परस्परसक्तानि कोष्ठकानि उत्तरोत्तर वद्धितानि गुरुपदेशात् कल्पनी-
यानीति निर्गलितार्थः । अत्र कोष्ठसादृश्य समसख्याकत्वमेव । तसु—तेषु कोष्ठेषु,
अत—अतिमे कोष्ठे इत्यर्थः, पदम अक—प्रथमोऽकः स्थाप्य इति शेषः,
तसु आद्वि—तेष्वामेषु कोष्ठेषु मध्ये (पुनः) विषमे प्रथमतृतीयपचमसप्तमादि-
कोष्ठेषु, एकक—एकः अकः स्थाप्य इत्यनुषंगः । कचिद्विषमे इत्यस्य स्थाने
पदम इति पाठः, तत्र समादित्यध्याद्व्ययं योज्यम्, एवं च समात्प्रथमे पूर्ववर्तिनि
विषम इति, स एवार्थः, यतः समात्पूर्ववर्ती विषम एवेति, सऽ—समेषु
द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमादिषु कोष्ठेषु, बेबि मिलत—द्वौ मिलितौ पूर्वाकाविति शेषः,
स्थापयेत्यनुषंगः । आद्या ये विषमाः कोष्ठास्तेष्वेकाको देयः, ये समास्तेषु पूर्ववर्त्य-
कद्वययोजननिःपन्नोऽको देय इत्यर्थः । ततः उचरल कोष्ठ—उर्वरितानि
आयतातरालस्थितानि कोष्ठकानीत्यर्थः । सिर अके तसु सिर पर अके—
शिरोका तच्चिरउपर्यवाम्या, शीषक (के)—निःशकं यथा स्यात्
पूरह—पूरय, एव अक सचारिअकान् सचार्य संस्थाप्य, जण दुइ चारि—
जना द्विचत्वारः, मत्ता मेरु—मात्रामेवं जाणह—(बुझहु) बुध्यध्वम्
इति योजना ।

अथैतन्निर्माणप्रकारो लिख्यते । एककलप्रस्तारामावात् द्विकलमारभ्य
मेरुप्रवृत्तिः । एव च प्रथम वामदक्षिणयो रेखागुलमात्रदीर्घ मध्ये रेखाभूत-
मूर्ध्वमधश्च द्वयगुलमात्रमंतरं विसृज्योद्धर्वाधो रेखात्रय कार्यं, ततस्तत्पार्श्वद्वयमेलनम्
ऋजुरेखया कार्यम्, एव दीर्घकोष्ठद्वय विधाय तत्र प्रथमरेखामध्यदेशमारभ्याघस्तन-
तृतीयरेखामध्यदेशपर्यन्तम् एकाम् ऋजुरेखा दत्वा प्रथमस्थाने ऊर्ध्वार्धःस्थित्या
परस्परसक्तं कोष्ठकचः चतुष्टय कार्यं, तत्रातिमकोष्ठयोः प्रत्येकमको देयः, आद्ये
उपरितने प्रथमे च विषमत्वादेको देयः, तदधस्तने च द्वितीयत्वात् समे उपरितनको-
ष्ठद्वयस्यैकाकद्वयरूपपूर्वार्धकोष्ठयोजननिःपन्नद्वितीयाकेन पूरण विधेयम् । एव
चोपरितनकोष्ठद्वयं द्विकलमेरुपक्तिः, तत्र प्रथमकोष्ठस्यैकाकेन द्विकलस्यैक गुरुरूप
एको मेद इति, द्वितीयकोष्ठस्यैकाकेन च द्विलघुरेको मेद इति प्रतीयते । कोष्ठद्वय
स्यैकाकद्वययोजननिःपन्न द्वितीयाकेन च द्विकलस्य मेदद्वयमिति द्विकलगणमेद-
पिंडीभूता समस्ता द्वित्वसख्या प्रतीयते । एवमधस्तनकोष्ठद्वय त्रिमात्रमेरुपक्तिः,
तत्र प्रथमकोष्ठद्वयद्वितीयाकेन त्रिकलप्रस्तारे एकगुरुयुक्तं मेदद्वय, द्वितीयकोष्ठस्यैका-
केन च त्रिलघुयुक्त एको मेद इति प्रतीयते । कोष्ठद्वयस्यद्वितीयैकेत्यकद्वययोजननि-
ःपन्नतृतीयाकेन च त्रिकलस्य समस्तास्त्रयो मेदा इति पिंडीभूता समस्ता त्रित्वरूपा
त्रिकलगणमेदसख्या प्रतीयते । ततोऽधस्तनी तृतीया रेखामात्रतपार्श्वयोर्मनाग्वर्द्ध-
यित्वाऽधोष एकैकमगुलमंतरं विसृज्य तत्परिमाण रेखाद्वय कार्यम्, ऋजुरेखया

दग्रिमतृतीयकोष्ठस्थपञ्चमाकेन च तत्र प्रस्तारे एकगुरुयुक्ताः पञ्च भेदा इति प्रती-
यते । तदग्रिमचतुर्थकोष्ठस्थैकाकेन च षड्लघुयुक्त एको भेद इति प्रतीयते ।
कोष्ठचतुष्टयस्थाकचतुष्टययोजननिःपन्नत्रयोदशाकेन च समस्ता पिंडीभूता
सत्कलप्रस्तारे सख्या त्रयोदशरूपा प्रतीयते । तत्र प्रथमकोष्ठे च सर्वापेक्षया
षष्ठत्वात्समे एकतृतीयेतिपूर्वाकद्वययोजननिःपन्नचतुर्थकेन पूरण कार्यम् । तद-
ग्रिमे द्वितीयकोष्ठे शिरोऽन्तच्छिरोऽकषष्ठचतुर्थेत्यकद्वययोजननिःपन्नदशमाकेन पूरण
कार्यम् । तदग्रिमतृतीयकोष्ठे च शिरोऽन्तच्छिरोऽकषष्ठचतुर्थेत्यकद्वययोजननि-
पन्नप्रष्टाकेन पूरण कार्यम् । अधस्तन कोष्ठचतुष्टय च सत्कलचतुर्था केन सत्कल-
प्रस्तारे त्रिगुरुयुक्त भेदचतुष्टयमिति प्रतीयते । तदग्रिमद्वितीयकोष्ठस्थदशमाकेन
च तत्र प्रस्तारे द्विगुरुयुक्ता दश भेदा इति प्रतीयते । तदग्रिमतृतीयकोष्ठस्थप्रष्टाकेन
च तत्र प्रस्तारे एकगुरुयुक्ताः षड्भेदा इति प्रतीयते । तदग्रिमचतुर्थकोष्ठस्थैकाकेन
च तत्र प्रस्तारे सत्कलघुयुक्त एको भेद इति प्रतीयते । कोष्ठचतुष्टयस्थाकचतुष्टययो-
जननिःपन्नैकविंशतितमाकेन च समस्ता पिंडीभूता एकविंशतिरूपा सत्कलमे-
रुपति । एवमग्रेऽपि मेरुरूपना यथेच्छ विधेया । अस्माभिस्तु ग्रन्थविस्तर-
भयात्प्रयोजनाभावाच्च न लिखिता ।

४७ ४८—अथ मात्रापताकानिर्माणप्रकारमाह, उद्दिष्टा सरि अका इति ।
उद्दिष्टा सरि अका—अत्र उद्दिष्टपदस्योद्दिष्टाकपरत्वादुद्दिष्टाकसदृशानकानेकद्वित्रिपचाष्ट
त्रयोदशादिरूपानित्यर्थः । थप्पह—क्रमेणोत्तरोत्तर स्थापयत तान् इति शेषः ।
वामावत्ते—वामावर्तेन प्रतिलोमविधिना सर्वातिमाकाव्यवहितपूर्वाकमारभ्येति यावत् ।
लेह—गृहीत्वा, पर—परस्मिन्, सर्वातिमाके, लुप्पह—लोपयत न्यूनता नयत
सर्वातिमैऽके तदव्यवहितपूर्वाकमारभ्य पूर्वपूर्वाकाः क्रमेण लोप्याः, तत्र एकल्लोपे—
एकलोपे, अत्र एकपदस्यैकाकपरत्वादेकाकलोपे इत्यर्थः, एकक गुरु जाणहु—एकगुरु
जानीत । दुत्तिणिलोपे—द्वित्राणामकाना लोपे, दुत्तिणि—द्वित्रान् गुरुन्
जाणहु—जानीत । एकैकपूर्वाकलोपे षेऽका अवशिष्यते ते एकगुरुयुक्तमेदज्ञापका,
पूर्वाकद्वयलोपे षेऽका अवशिष्यते ते गुरुत्रययुक्तमेदज्ञापका, पूर्वाकत्रयलोपे त्रै-
वशिष्यते गुरुत्रययुक्तमेदज्ञापका इति निर्गलितार्थः । एव प्रकारेण पिंगल नाम—
पिगलो नाम मत्त पताका—मात्रापताका गावह—गायति कथयतीत्यर्थः ।
चो पावह—य प्राप्नोति गुरुपदेशाज्जानाति, सो परहि बुझावह—स पर बोधयति
इति योजना । अत्र (१) एकत्वसख्याविशिष्टो द्वित्वसख्याविशिष्टो च पूर्वाङ्क-
प्रथम सर्वातिमाके लुप्यते तदव्यवहितपूर्वाङ्कमारभ्यतेऽवशिष्टाका क्रमेणाधो-
स्थाप्या इति, यद्वकद्वयलोपे अन्योऽवशिष्यते पूर्वप्राप्तो वाऽकः प्राप्यते तद्वकद्व-
यलोपो न कार्य इति नियमत्रय गुरुपदेशादध्यवसेयम् ।

तदग्रिमतृतीयकोष्ठस्थपञ्चमाक्षेन च तत्र प्रस्तारे एकगुरुयुक्ताः पञ्च भेदा इति प्रतीयते । तदग्रिमचतुर्थकोष्ठस्थैकाक्षेन च षट्सप्तयुक्त एको भेद इति प्रतीयते । कोष्ठचतुष्टयस्थाकचतुष्टययोजननिःपन्नत्रयोदशाक्षेन च समस्ता पिंडीभूता षट्सप्तप्रस्तारे सख्या त्रयोदशरूपा प्रतीयते । तत्र प्रथमकोष्ठे च सर्वापेक्षया षष्ठत्वात्समे एकतृतीयेतिपूर्वाकद्वययोजननिःपन्नचतुर्थक्षेन पूरण कार्यम् । तदग्रिमे द्वितीयकोष्ठे शिरोऽन्तच्छिरोऽन्तपञ्चमैकेत्यकद्वययोजननिःपन्नदशमाक्षेन पूरण कार्यम् । तदग्रिमतृतीयकोष्ठे च शिरोऽन्तच्छिरोऽन्तपञ्चमैकेत्यकद्वययोजननिःपन्नषष्ठाक्षेन पूरण कार्यम् । अघस्तन कोष्ठचतुष्टय च सप्तकलचतुर्थाक्षेन सप्तकलप्रस्तारे त्रिगुरुयुक्त भेदचतुष्टयमिति प्रतीयते । तदग्रिमद्वितीयकोष्ठस्थदशमाक्षेन च तत्र प्रस्तारे द्विगुरुयुक्ता दश भेदा इति प्रतीयते । तदग्रिमतृतीयकोष्ठस्थषष्ठाक्षेन च तत्र प्रस्तारे एकगुरुयुक्ताः षड्भेदा इति प्रतीयते । तदग्रिमचतुर्थकोष्ठस्थैकाक्षेन च तत्र प्रस्तारे सप्तलघुयुक्त एको भेद इति प्रतीयते । कोष्ठचतुष्टयस्थाकचतुष्टययोजननिःपन्नैकविंशतितमाक्षेन च समस्ता पिंडीभूता एकविंशतिरूपा सप्तकलमेव सति । एवमग्रेऽपि मेरुक्लपना यथेच्छ विधेया । अस्माभिस्तु ग्रन्थविस्तरमयात्प्रयोजनाभावाच्च न लिखिता ।

४७ ४८—अथ मात्रापताकानिर्माणप्रकारमाह, उद्दिष्टा सरि अका इति । उद्दिष्टा सरि अका—अत्र उद्दिष्टपदस्योद्दिष्टाकपरत्वादुद्दिष्टाकसदृशानकानेकद्वित्रिपचाष्टत्रयोदशादिरूपानित्यर्थः । यथह—क्रमेणोत्तरोत्तर स्थापयत तान् इति शेषः । वामावत्ते—वामावर्तेन प्रतिलोमविधिना सर्वातिमाकाव्यवहितपूर्वाकमारभ्येति यावत् । लेह—गृहीत्वा, पर—परस्मिन्, सर्वातिमाके, लुप्पह—लोपयत न्यूनता नयत सर्वातिमैऽके तद् व्यवहितपूर्वाकमारभ्य पूर्वपूर्वाकाः क्रमेण लोप्याः, तत्र एकल्लोपे—एकलोपे अत्र एकपदस्यैकाकपरत्वादेकाकलोपे इत्यर्थः, एकक गुरु जाणहु—एकगुरु जानीत । दुत्तिणिलोपे—द्वित्राणामकानां लोपे, दुत्तिणि—द्वित्रान् गुरुन् जाणहु—जानीत । एकैकपूर्वाकलोपे यैऽका अवशिष्यते ते एकगुरुयुक्तभेदजापका, पूर्वाकद्वयलोपे यैऽका अवशिष्यते ते गुरुत्रययुक्तभेदजापका, पूर्वाकत्रयलोपे येवशिष्यते गुरुत्रययुक्तभेदजापका इति निर्गलितार्थः । एव प्रक्रारेण पिंगल नाग—पिंगलो नाग मच्च पताका—मात्रापताका गावह—गायति कथयतीत्यर्थः । जो पावह—य प्राप्नोति गुरुपदेशाब्जानाति, सो परहि बुक्तावह—स पर बोधयति इति योजना । अत्र (?) एकत्वसख्याविशिष्टो द्वित्वसख्याविशिष्टो च पूर्वाङ्कप्रथम सर्वातिमाके लुप्यते तदव्यवहितपूर्वाङ्कमारभ्यतेऽवशिष्टाकाः क्रमेणाधोदस्याप्या इति, यदकद्वयलोपे अन्योऽवशिष्यते पूर्वप्राप्तो वाऽकः प्राप्यते तदकद्वयलोपो न कार्य इति नियमत्रय गुरुपदेशादध्यवसेयम् ।

अथ पट्कलपताग्रस्वक(प)लिलनप्रकारतो नामदक्षिणोर्गुलपंचकपरि
माणनूद्वाप अत्रुरेस्तादृशमग्रागुलमधिकं वा मध्योर्गुलं विरुद्धं कर्तव्यं, ततो
अत्रुरेताया तत्पार्यमेतानं विधेयमेवमेकं दीपं कोष्ठं विधाय तत्रैकागुलपरिमितमंतरं
स्थक्तोर्द्वारेतामारम्याधोरेतामर्धं पंच अत्रुरेताः क्रमेण दत्त्वा कोष्ठपट्कमुत्तरे
त्तरं परस्परैरिक्तां विधेयं तत्रोद्दिष्टादृशया एकद्वित्रिपंचाष्टत्रयोदशे त
पट्कः क्रमेण स्थाप्यः । ततो द्वितीयां कपोटादधोर्गुलमिति परस्परं शल
ध्यानि पंच कोष्ठकानि कार्याणि, ततः पंचमांकोष्ठादधोऽपस्तादृशमंत्रं कोष्ठ
चतुष्टयं कार्यं, ततः सप्तान्तिमत्रबोदशांक्रम्य तदव्य(न) दिवाहाकलोपे उर्ध्वरितं
पञ्चमांकोष्ठं चतुर्थकोष्ठे विम्बरतमेवास्तीति सन्दन्वन् लोकापमिति संप्रदाय । तत्र
सप्तान्तिमत्रबोदशांक्रम्ये क्रमप्राप्तपञ्चमांकोष्ठोपे उर्ध्वरितमष्टमांकोष्ठं पञ्चमांको
(क)प्तावस्तनकोष्ठे स्थाप्यं ततस्तत्र क्रमप्राप्ततृतीयांकोष्ठोपे उर्ध्वरितं दशमांको
मष्टमांकोष्ठादवस्तनकोष्ठे स्थाप्यं ततस्तत्र क्रमप्राप्तद्वितीयांकोष्ठोपे उर्ध्वरितमेका
दशांकोष्ठं दशमांकोष्ठेऽवस्तनकोष्ठे स्थाप्यं, ततस्तत्र क्रमप्राप्तैकांकोष्ठोपे उर्ध्वरितं
द्वादशांक्रमेण दशांकोष्ठोपादवस्तनकोष्ठे स्थाप्यं त्रयमेकांकोष्ठोपनिपन्नपञ्चकोष्ठा
मिध्र पट्कलमेवपितृतीयांकोष्ठस्यपञ्चमांकोष्ठनिर्धारितैकगुक्तुत्तमस्वकपट्कस्य
संख्याकानां पट्कलग्नमेतानां पञ्चमाष्टमदशमेकत्रयत्रयोविंशतिस्वकस्यत्रापिवा
पट्कलपत्रकापिका । ततो द्वयंकोष्ठोपेऽष्टमपञ्चमांकोष्ठोत्तमबोदशांक्रम्ये लोपा
शून्यरोक्तान्तं कार्यं इति सप्तान्तिमत्रबोदशांक्रम्ये अष्टमतृतीयांकोष्ठोपे उर्ध्व
रितं द्वितीयांकोष्ठं तद्वितीयांकोष्ठेऽस्तमेव ततस्त्रयोदशमांक्रम्ये अष्टमद्वितीयांकोष्ठोपे
उर्ध्वरितं तृतीयांकोष्ठं द्वितीयांकोष्ठोपादवस्तनकोष्ठे स्थाप्यं ततस्त्रयोदशमांक्रम्ये अष्टमै
केत्यंकोष्ठोपे उर्ध्वरितं चतुर्थमांकोष्ठं तृतीयांकोष्ठादवस्तनकोष्ठे स्थाप्यं ततस्त्रयो
दशमांक्रम्ये पञ्चमतृतीयांकोष्ठोपे प्रथमप्राप्तः पञ्चमांकोष्ठमिच्छते इति पञ्चम
द्वितीयांकोष्ठोपे त्वक्त्वा पञ्चमद्वितीयांकोष्ठोपे अत्रशिष्टः पञ्चांकोष्ठोपादव
स्तनकोष्ठे स्थाप्यः ततस्तत्र पञ्चमैकेत्यंकोष्ठोपे अत्रशिष्टः सप्तमांकोष्ठं पट्कां
कोष्ठादवस्तनकोष्ठे स्थाप्यः ततस्तत्र पञ्चमैकेत्यंकोष्ठोपे अत्रशिष्टः सप्तमांकोष्ठं पट्कां
कोष्ठोपावस्तनकोष्ठे स्थाप्यः ततस्तत्र तृतीयांकोष्ठोपे अत्रशिष्टोऽष्टमां
कोष्ठं प्रथमप्राप्तोऽत्रशिष्टे इति ततोस्तत्र लोपं त्वक्त्वा तृतीयांकोष्ठोपे अत्र
शिष्टो नवमांकोष्ठं सप्तमांकोष्ठादवस्तनकोष्ठे स्थाप्यः त्रयमेकांकोष्ठोपनिपन्ना
पट्कलमेवपितृतीयांकोष्ठस्यपञ्चमांकोष्ठनिर्धारितैकगुक्तुत्तमस्वकपट्कस्य
संख्याकानां पट्कलमेवानां द्वितीयांकोष्ठं चतुर्थमांकोष्ठं सप्तमनवमैविंशतिस्वकस्यत्रापिवा पट्
कोष्ठादवस्तनकोष्ठे स्थाप्यः पट्कलपत्रकापिका । एवं तत्र प्रथमतृतीयांकोष्ठोपे उर्ध्वरितं
पञ्चोऽष्टः । तत्र पट्कलमेवप्रथमकोष्ठोपनिर्धारितैकगुक्तुत्तमस्वकस्यैकावस्तन

कस्य षट्कलमेदस्य विगुरुयुक्तो भेद प्रथम इति प्रातिस्निकरूपज्ञापकः प्रकीर्ण्येति सर्व्वमनवगमम् ।

४९ अथैतावत्सख्याककलात्रिंशद्वैतावत्सख्याकाक्षरचरणे वृत्ते कति गुरवः कति लघव इति कीर्तुकात्केनचित्पृष्ठे उत्तरप्रकारमाह, पुद्गलेति । पुद्गल छद कला पृष्ठञ्छदःकलायाम्, अत्र कलाषट्स्य कलासख्यापरत्नात्पृष्ठे=छन्द.कलासख्या-यामित्यर्थः । यस्य गुरुलघुविज्ञासा तत्पृष्ठ छदस्तस्य या मात्रासख्या तन्मध्ये इत्यर्थः । पुद्गल (अक्ष) छद—पृष्ठ छद, अत्रापि छद षट्स्य छदोऽक्षरसख्या-परत्वात्पृष्ठछदोऽक्षरसख्यामित्यर्थः । मेराव—हीना गुरु । एव करि—(एव) कृचा एव कृते सतीत्यर्थः । अत्रासिद्ध—अत्राणि सख्येति शेषः, कलासख्या ग योर्वरिता सख्येत्यर्थः, गुरु जाणिअह—गुरोर्जातव्या, उताव—उर्वरिता गुरुसख्या तिरिक्ता वृत्ताक्षरसख्येति यावत् । लघु जाणिअ—लघोर्जातव्या । यथा अष्टादश कलात्रिंशद्वैतावत्सख्याक्षरचरणे वृत्ते गुरवो लघवश्चेति पृष्ठे, अष्टादशरूपरत्नामख्या-मध्ये एकादशरूपाक्षरसख्यालोपे उर्वरिता सप्तसख्या, सा गुरुसख्या ज्ञेया । एकादशक्षरमध्ये यदि सप्त गुरवस्तदोर्वरिता चतुष्टयसख्या, लघोर्जातव्या, एव चैता-दशचरणे वृत्ते सप्त गुरवश्चत्वारो लघव इत्युत्तरं देशमिदं च वृत्तमिदं ब्रह्मस्य मेमन्यत्राप्यहम् ।

५० अथैकाक्षरमारभ्य षड्विंशत्यक्षरपर्यंतसप्तवर्णवृत्तपिंडीभूतसख्यामाह छद्मोसेति । षड्विंशतिः सप्तशतानि तथा सप्तदशसहस्राणि द्विचत्वारिंशल्लक्षाणि त्रयोदशकोट्यः, एव समग्राणि एकाक्षरादिषड्विंशत्यक्षरपर्यन्तानीत्यर्थः, वर्णवृत्तानि भवन्तीति शेषः । मात्रावृत्तानामसख्यातत्वात्तत्सख्या नोक्ता, वर्णवृत्तानां प्रत्येक-सख्या ग्रथविस्तरभयादनतिप्रयोजनत्वाच्चास्माभिरत्र नोक्ता ।

५१ अथ पुरस्ताद्वक्ष्यमाणानां गाहूपभृतिसप्तमात्राञ्छन्दसा नामान्यतश्चरणचतु-ष्टयसमुचिता सख्या रङ्गावृत्तेनोद्दिशति, होइ गाहू इति । गाहूनामके छदसीत्यर्थः सप्त चौथण—मात्राश्चतुःपचाशत्, होइ—भवति, तद् गाहाइ सत्तावणइ—तथा गाथाया सप्तपचाशत् मात्राः भवतीति पूर्वानुपगः, तेहि—ता गाथा पल्लट्टि—परा-कथं, गाथाया. पूर्वार्द्धम् उत्तरार्द्धं कृत्वा उत्तरार्द्धं (च पूर्वार्द्धं) कृत्वेत्यर्थः, विग्गाह—विगाथा, किंजिअइ—क्रियते । अत्र तेहि इत्येकारो ह्रस्वो बोध्य एओ सुद्धा अ वण्ण मिलिआ भि लहू इत्युक्तत्वात् । उग्गाहउ—उद्गाथा छुट्ठकला पष्टि-कला पष्टि. कला मात्रा यस्या सेत्यर्थः, गाहिणिअ—गाहिन्या, वासट्टि—द्विपष्टिः, सत्तइ—मात्रा करु—कुरु, तद् वि पलट्टिअ—तद्विपरीताया तस्या गाहिन्या. विपरीतायामित्यर्थः. सिंहिणी—सिंहिन्या, वे अगल—द्वयधिका, सट्टि—पष्टिः

मात्रा इत्यनुपगा, होह—भवन्ति अत्र हो इत्योक्तरा पूर्वोक्तदिशा इत्यो भवेत् । अत्र क्वचित् एह गाहाह सभा(ष)पत्नी इति, एह विम्बाह पत्तिह विम्बाह इति च पाठः, एह रङ्गाहाहणविस्मयतुपेक्षम् । तत्र—स्वपदे, मत्त चो (चउ) उद्दि—मात्राः चतुर्गणित्वमन्तीत्यनुपगा । एतानि सत्तरुप—सत्तरुप-अग्निं कन्दर्पेति अन्वयेण गुण—अन्वयेण गुणानि, अन्वयेण गुणाः एतद्गणन नक्षत्रेणानुपादितगुणैरूपे येन तादृशानीत्यर्थः भवन्तीत्यनुपगा, इति बोधना ।

५२ अत्र गाहप्रभृतिस्तत्तत्पदेषु सामान्यतो मात्रा उद्दिश्य विरोधस्थानि किलचक्षुः प्रथमं गाहं लक्षयति पुनरुद्दे इति । यत्र पुनरुद्दे उच्यते पूर्वार्द्धे उच्यते पञ्चममन्त्रे—पादयोर्मध्ये पूर्वार्द्धे प्रथमद्वितीयपादयोर्मध्ये, उच्यते तृतीयचतुर्थयोः पादयोर्मध्ये इत्यर्थः । उच्यते—उत्तापिका, मत्त बीटार्ह—मात्रा विरहितः, उत्तविद्यतिर्मात्रा इत्यर्थः पठतीति शेषः कृष्णमग्न—कृष्णे गन्, मेरुयुग्म—मेरुयुग्मं, मेरुयुग्मस्युत्तमित्यर्थः । पूर्वार्द्धे उच्यते च प्रत्येकं गुर्वन्त्या उत्तगणाः स्वाप्यास्तत्र पठत्त्वाने पञ्चो लक्ष्यारम्भो गणाः स्वाप्य, अन्वयः अनुपगणिक इत्यर्थः, एवं च पञ्चा अनुपगणिकगणानां अनुपगणित्वमात्रा एका च मन्त्रा पठत्त्वानस्वप्योर्मात्राद्वयं चोत्तगुणेरेवमत्र उत्तविद्यतिमात्रा पूर्वार्द्धे उच्यते च प्रत्येकं पठति, एहगाहनामकं ह्यह इति निर्गमितवचः ।

५३ गाहमुदाहति, चहो इति । चहो चहने हाये मुक्तावाम एते ताका स्म स्वकीति प्रकाशयति । चहैरवरवरकीर्ति आव—यवत् अन्व—आत्मानं त्वं, न (न) विद्महे—न निवर्तति प्रकटयति ।

५४ अत्र गाहो लक्षयति पठममिति । अत्र पठमं—प्रथममात्यवरण इत्यर्थः पठमं मत्ता—हाह्यमात्रा पठतीति शेषः या च बीट—द्वितीये वरणे इत्यर्थः, अन्तारहृ—अन्तारहृमिः मात्रामिति शेषः संतुष्ट—संतुष्टा । मत्तारण्य पठ पठमं एह तीक्ष्ण—यथा प्रथममन्त्रे तृतीयः पठम इति शेषः हाह्यमात्रापुच्छ इत्यर्थः या च अनुपे वरणे इति शेषः वरपञ्चविहृतिम्—वरपञ्चविहृतिर्मात्रामिति शेषः विभूतिता सा गाहा गाथानामकं ह्यह इत्यर्थः ।

५५—गाथामुदाहति कैरोति । येन (येन) किं न विद्विष्यह—केन किं न विद्विष्यते एतं कथाव्यहोति—कथापरायोपि, वारुणिकवह—कनुनीयते । एनमेवार्थमन्तरस्याधेन ह्यवर्तति पठतीति । पठे वि—प्राप्तेऽपि वरपञ्चारे—नगरपारे, अग्नी—अग्निः वरत न वरतरो—वरत न वरतम इति मन्त्र—वह अपि ॥ सर्वथापि वरतम इत्यर्थः । मानकीं कश्चिन्नाकिं प्रति लब्धी वाचकमेतत् । अत्र च वरतमानभेदेण पूर्वनामको वरतयो भेद इति बोध्यम् ।

५६—अथ गाथाया मात्रानियममुक्त्वा गणनियममाह सत्तेति । गाहे—गाथाया, सत्तगणा दीहता—सत्तगणा. दीर्घाता. दीर्घो गुरुस्तदताः भवति । अत्र विशेषपरो-
पि दीर्घशब्द. सामान्यगुरुपरो ज्ञेयः, एव च पूर्वाद्धं उत्तराद्धं च गुर्वेताश्चतुर्मा-
त्रिकाः सत्तगणा कर्तव्या इत्यर्थः, इह इत्यग्रेतनस्यानुकर्षः, इह गाथाया छट्ट—
षष्ठः गणः, जो ण लहु—जो जगण. गुरुमध्यः, नलघु लघुयुक्तो नगणो वा भवति,
कर्तव्येषु गुर्वेतसत्तगणेषु षष्ठो जगणश्चतुष्कलः (१) नगणो वा देय इत्यर्थः ।
रोह जो विसमे—इह गाथाया विपमे (प्रथमे) तृतीये पचमे सत्तमे च स्थान
इत्यर्थः यो (जो) जगणो गुरुमध्यो न पततीत्यर्थः, तह—तथा, विअ अद्धे—
द्वितीयाद्धं छट्ट लहुय विआणेहु—षष्ठ गण लघुकम् एकलघुरय विजानीत, एव च
पूर्व नलघुजगणयोरन्यतरदान पूर्वाद्धाभिप्रायेणेति प्रतीयते, तथा च मध्यलघु
(गुरु.) गण. लघुसयुक्तो नगणस्त्रिलध्वात्मको वा लगणः पूर्वाद्धं षष्ठे विधेयः,
उत्तराद्धं च एकलध्वात्मक एव षष्ठोगणो विधेय इति भावः ।

५७—अथ गाथाया वर्त्तमानषड्विंशतिविधाया समुदितमात्रानियममाह,
सच्चाए इति । पुचद्धम्मि अ तीसा—पूर्वाद्धं त्रिंशत् पराद्धं उत्तराद्धं इत्यर्थः
सत्ताईसा—सत्तविंशति । एव प्रकारेण सच्चाए गाहाए—सर्वस्या गाथाया सत्ता-
चण्णाइ—सत्तपचाशत् मत्ताई—मात्रा ह्येति भवतीत्यर्थः । पूर्वाद्धं षष्ठे चतुर्मा-
त्रिकस्य जगणस्य लघुयुक्तनगणस्य वा दानात्त्रिंशन्मात्रा. पतति, उत्तराद्धं च
च षष्ठस्थाने एकलध्वात्मकस्यैव गणस्य दानात्तदपेक्षाया मात्रात्रय न्यून भवतीति
सनविंशतिमात्रा पततीत्यर्थः ।

५८—अथानुपदमेव वक्ष्यमाणेषु प्रथम भेद लक्ष्मीनामक लक्ष्यति सत्ताइ-
सेति । जस्सम्मि—यस्या, सल्ला—शलाघ्या. सत्ताइसा हारा.—सत्तविं-
शतिर्दीर्घाः गुरव इत्यर्थः, तिण्णि रेहाई—तिस्रो रेखा लघवश्चेत्यर्थः, पततीति
शेषः, सा गाहाण—गाथाना मध्ये, आआ—आत्रा प्रथमेति यावत्, तीसकलरा-
त्रिंशदक्षरा, लच्छी—लक्ष्मी, गाहा—गाथा, सा लक्ष्मीनाम्नी गाथेत्यर्थः । अय-
मर्थः—पूर्व गाथायाः प्रथमचरणे द्वादशमात्रादानमुक्तं, तस्यां च षड्गुरवो भवति,
द्वितीयचरणे अष्टादशमात्रादानमुक्तं, तत्र षष्ठस्थानपतितजगणाद्यतस्थलघुद्वयवर्ज-
नात्तासामष्टौ गुरवो भवतीति पूर्वाद्धं चतुर्दश गुरवः, एव तृतीयेऽपि चरणे
द्वादशमात्रादानस्योक्तत्वात्तासा षड्गुरव चतुर्थे च पचदशमात्रा दानस्योक्त-
त्वात्तत्र षष्ठस्थानपतितैकलध्वात्मकगणवर्जनात्तासा सत्त गुरवः, इति उत्तराद्धं
त्रयोदश गुरवः, एव पूर्वाद्धोत्तराद्धयोस्सकलने सत्तविंशतिर्गुरवः पूर्वाद्धं-
जगणान्यतस्थौ द्वौ लघू, उत्तराद्धे च षष्ठस्यैकलघुरेव त्रयो लघवश्चेति
त्रिंशदक्षराणि यत्र पतति सा लक्ष्मीनाम्नी गाथेत्यर्थः ।

एक्के वे कुलवती—एकस्मिन् जगणे सति कुलवती होइ—भवति गाथेति शेषः ।
यथोक्तपष्ठस्थानस्थजगणमात्रेण समीचीना गाथा भवतीति, तदतिरिक्तो जगणः
समस्थानेऽपि न कर्तव्य इति भावः । वेणावक्केण—द्विनायकाभ्यां द्वाभ्यां जगणाभ्या-
मिति यावत्, सगहणी—सगृहिणी भवतीति पूर्वेणान्वयः, द्वाभ्यां नायकाभ्यां परस्पर
गृहीता कामिनी न सता समता तथेयमपीति, जगणद्वयमत्र न देयमी(मि) ति भावः ।
णावक्कहीना(णा) रडा—नायकेन जगणेन हीना रहिता, पाठे स्थाने नलद्युयुक्ते-
त्यर्थः, रडेव रडेत्यर्थः, तथा च यथा नायकेन हीना कामिनी न शोभते
तथेयमपीति, बहुधा पष्ठो जगण एव देय इति भावः । बहुणाश्रका(का)—बहुना-
यका बहवो नायका जगणा यस्याः सा तादृशीत्यर्थः, वेश्या होइ—भवति । तथाच
यथा वेश्या सतामनादरणीया तथेयं, बहवो जगणा न देया इति भावः ।

६४ अथ वर्णमेटेन गाथाया जातिमेटमाह तेरहेति । तेरह लहुआ-
त्रयोदशलघुकाक्षराख्या गाथेत्यर्थः सर्वत्र योज्य, त्रिप्पी—विप्रा भवतीति शेषः,
एयाइसेहिं—एकचत्वारिंशद्भिरेकविंशद्विंशत्यर्थः लघुभिरिति शेषः खत्तिणी—
क्षत्रिया भणिता । सत्ताईसे—सप्तविंशतिभिर्लघुभिर्विंशी—वैश्या भणितेति पूर्वेणा-
न्वयः, सेसा—शेषा, अनुक्तलघुसख्याका सुहिणी होइ—शुद्धा भवतीत्यर्थः ।

६५ अथ विषमस्थानस्थजगणदोषमाह, जा इति । जा पदम तीअ पचम
सत्तम टाणे—या प्रथमे तृतीये पचमे सप्तमे च स्थाने, ण—ननु निश्चयेनेति
यावत्, गुरुमज्जा—गुरुमध्यो जगणस्तद्युक्तेति यावत्, होइ—भवति, सा गाहा—
गाथा गुणरहिता, गुद्विणिण—गुर्विणोव दोष प्रकाशयति । तथाच विषमे गाथाया
जगणो न देय इति भावः ।

६६ अथ विगाथा लक्ष्यति विगाहेति । विगाहा पदम दले—विगाथा-
प्रथमदले पूर्वार्द्ध इति यावत्, सत्ताईसाई मत्ताई—सप्तविंशतिर्मात्राः भवतीति
शेषः, पच्छिमदले—पश्चिमदले उत्तरार्द्ध इत्यर्थः, ण—ननु निश्चयेनेत्यर्थः, ती-
सा—त्रिंशन्मात्रा भवतीति पूर्वेणान्वयः, इय—एव पिगलेन नागेन जपिञ्च-
कल्पितम् । अयं भावः । पूर्वं विपरीतगाथा विगाथा भवतीत्युक्ते, तथाच गाथा(या)
उत्तरार्द्धम् एव पूर्वार्द्धम् अग्रे देयमित्युक्तं भवति, अतएव पूर्वार्द्धं सप्तविंशतिर्मात्रा
उत्तरार्द्धं त्रिंशन्मात्रा उक्ता एव चात्रापि पूर्वार्द्धं पष्ठो गण एकलब्धात्मको देय
उत्तरार्द्धं च पष्ठो गणो जगणो नलब्धात्मको वा देयः, विषमे च जगणो न देय
एवेति सुधीभिर्भाव्यम् ।

६७—विगाथामुदाहरति पग्गिहेति । णीवस्य—नीपस्य कदम्बस्य कुसुमानि
पेवग्गहिं—प्रेक्ष्य । किं तावतेत्यत आह नुव्वं कए इति । खरदिअओ—वटिन-

हृदयो निर्दय इति यावत् क्रमो—क्रमः पशुदि—पशुपि गुडिमा गुडिका, यथा
गुडिमापशुदि इत्येकं पदं तस्य वटिकापशुः गुडिकापशुका (क) पशुरित्थी ।
गुलेल इति शोके गेष्वह—पञ्चाति, अतो मानं परिहरेत्ययः ।

३८—उद्गाया लक्षयति पुनरुदे इति । यत्र पु (अ) दे उच्छेद—पूषादे
मत्ता विसृति—मात्रा त्रिशत् संमथिमा—संमथिताः दे उ (सु) मग शिष्य ।
खे—उत् पिंगल कश्चिद्विष (ह) —पिंगलकविना दृष्टं, उद्धि मत्तंगो—पश्चिमाश्रमं
पश्चिमाश्रमं चतुर्थीसमस्तयः, अन्नाहो बुधो—गुप्ता (उग्रा) ध्वजचम् । गच्छ
पूर्वादे दलहयेऽपि देयमिति भावः ।

३९—उद्गायापशुदि इति शोकेति । हे मुमुदि—मुमुक्षि । कस्त नाम—
यस्य नाम शोकन—यत्ना अस्तु—अतु मूल्यानि यत्नानां—नवने कर्मन्वी इवेह—
इवसि, अस्तस्य चोदपशो—वेदिपतेः मुद—मुखं अदिष्ट—वयेष्ट—कद—
कथं पेललाभि—पश्यामि इति त्वं मय—कथय ।

४०—अथ गादिनी सिदिनी लक्षयति पुनर इति । मुदिमि—हे मुग्धे यत्र
पुनरुदे छेद मत्ता—पूर्वादे त्रिशन्मात्रा मन्वीति शेषः, उच्छेदं बलीला—
उच्छरादे द्वात्रिंशन्मात्रा मन्वीति पूर्वमा (न्य, वा) ता गादिमि—गादिनी
(नी)ति पिंगल पमबोह—पिंगलाः प्रमथति त्वं मुबोहि—अनीदि अत्र
वामिति शेषः । तथा च ता गादिनी द्वितीया—परापत्तं विपरीता इत्येति यावत्
तिहिन्वी—सिदिनी लयं निस्तुत्यं मय—कथय ॥ अयं भावः, पूषं सामान्यतो
गादिन्यां द्विपश्चिमात्रा लक्ष्यस्तत्र पूषादे त्रिशत् उच्छरादे त्रिष्य इति शिष्य-
विस्तृतायां पूर्व पूर्वदे त्रिशन्मात्रा उच्छरादे द्वात्रिंशन्मात्रा इत्युक्तमनं च पूर्वादे
गाद्याप्य इवास्या अपि कर्त्तव्या उच्छरादे द्वात्रिंशन्मात्राया उच्छरात्तन पठं
अगमं कृत्वा अनुमात्रिका अष्टौ गणा दक्षपमास्तद्वत्ककककत्तव्या इति गादिनी
व्यख्या । तिहिन्वी च पठं अगमं दलाहो अनुमात्रिका गणा पूषादे देष
उच्छरादे च गाद्याप्यमदलक्ष्येयमिति निगम इति सुपीतिर्भेदम् ।

४१—उप गादिनीपुनर इति मुच्यतीति । हे मुदि पाद—पादं मुचदि—
मुच दे मुमुदि इतिऊन—इतित्या म—महं मय वा गम्य—महं अपदि—
अयप मेहृत्तीर—म्ये दृष्टरीर कपिष—वर्त्तयित्वा इम्मीरो—इम्मीरा
तु—उप वमभ्यह—पहनं वेहभ्यह—प्रेषते । मुज्यर्थं तनइत्य इम्मीरस्य गङ्गा
नज्जाभमागच्छतः प्रतिशार्पं कुधायां वक्ता प्रपेतवाक्यम् एवं च भोष्टानिश्चित
मया अष्टौतैत्र्य अस्तित्यागत्य मयया दृष्टनं विषेयम् भोष्टलो वरीभर्तृमय
वा उपामे मरुत्तवा न विषेयेति भावः ।

७२—अथ सिंहिनीमुदाहरति वरिसईति । णीसक—निश्शकः जगतो—
जाग्रत् महाजागरुक इत्यर्थं, साहसको—साहसाको विक्रमादित्य, कण
(अ) ह विट्—कनकस्य वृष्टिं वरिसइ—वर्षति, अथच दिवाणिम—
अहोरात्रं, भुवने जगति तप्पइ—तपति, अतः इट्—इट् च सूरवित्र—सूर्यवित्र च,
णिट्—निंदति । इट्ते जल वर्पति महातापसेभ्यः साशकश्च, सूर्यश्च दिवैव तप-
त्यजागरुकश्च, अयं तु कनकं वर्पति निश्शंकश्च, सर्वदा च तपनि जागरुकश्चेति
तौ निंदतीति भावः ।

७३—अथ स्कधक लज्जयति चौमत्तेति । पुच्छदे उत्तद्धे वि—पूर्वाद्धे
उत्तराद्धेऽपि, समरुथा—समरूपा सम पट्टजगण तद्रूपं येषां तादृशा इत्यर्थं ।
यत्तु सम पट्टजगणनलध्वन्यतरत्कमिति तन्न, अत्र नलबुदानासमवात् । इट्
चानुपदमेव व्यक्तीभविष्यति । चौमत्ता अट्ट गणा—चतुर्मात्रिका अष्टौ गणा-
होति—भवति, तत् बहुसमेधा—बहुसंमेलक बहवो वक्ष्यमाणाः सप्तविंशतिविधभेदा
यस्य तत्तादृशं खघडा (आ)—स्कधक विश्राणहु—विजानीत इति पिगल
पमणेइ—पिगल प्रभणति, मुद्धि—हे मुग्धे । अत्र उत्तद्ध इति तकारः सयुक्त-
परोऽपि लघुब्रौघ्य, कथञ्चि सजुत्तपरो इत्युक्ते अन्यथात्र पठे पञ्चमात्रापत्या
जगणासमवाल्लक्षणं न संगच्छते, एतत्तत्त्वं पुनर्भेदप्रकारावसरेऽनुपदमेव
विवेचयिष्यामः ।

७४—स्कधकमुदाहरति जं जमिति । हणुआ—हनुमान्, रविगृहचक्रपरिघ-
साणसह—रविरथचक्रपरिघर्षणसह जं जं—यं यं गिरिं पर्वत, आणेइ—आनयति,
त तं णलो—नल वामकरत्थभिअ—वामकरोत्तभित, लीलाइ—लीलया अना-
यासेन, समुदे—समुद्रे, रणइ—रचयति ॥

७५ अथ पुरं सप्तविंशतिभेदानयनप्रकारं विवक्षु रङ्गावृत्तेन प्रथमं ताव-
न्नामानि सख्यां चाह । नट इति । नंद. १—भद्र २—शेष. ३—सग—सारगः
४—शिवः ५—ब्रह्मा ६—वारण ७—वरुण. ८—लीलइ—नील. ९—मण-
णतलक—मदनताडक १०—शेखर ११—शर १२—गगन १३—शरमः
१४—त्रिमिति. १५—जोर १६—नगर १७—नर १८—स्निग्धः १९—
स्नेहल २०—मदकल २१—लोल २२—शुद्धः २३—सरि २४—कुम्भः
२५—कलश २६—शशी २७—इति हि शरमणेपशशधराः प्राकृतवयः
खघाण—स्कन्धके, सत्ताइस—सप्तविंशति णाम—नामानि, मुणइ—जानीत ॥
कर्वाचिचु णाम इत्यत्र जाण इति पाठस्तत्र विज्ञेयइत्यर्थस्तदा नामद्वैविध्यं परिहर्त्यम् ।
अत्र क्वचिदद्याइस खघाण इति पाठः, स तु लेखकप्रमादाज्जात, एतदनुरोधेन

सहि—सखि, जहि—यत्र, चउ लहु—चत्वारः लघवः, कथवि—कुत्रापि,
 षसर—प्रसरति सो णदउ जाण—त नट जानीहि, यदि गुरु टुट्ठइ गुरुस्तुट्ठति
 हसतीत्यर्थः, विवि लहु अट्ठइ—द्वौ लघू वृद्धिं प्राप्नुत इत्यर्थः, तदा त त णाम
 विआण—तत्तत् भद्रादिक नाम जानीहि । अयमर्थः—पूर्वोक्तप्रकारेण दलद्वये
 षष्ठ जगणमेव दत्त्वा चतुर्मात्रिका अथौ गणाः प्रतिदल विधेया, एव च गाथावट-
 त्रापि प्रथमचरणे द्वादशमात्राः स्थाप्यास्तासा षड्गुरव, द्वितीयचरणे पञ्चचतु-
 र्मात्रिकाणा सत्वात्तेषां विंशतिर्मात्रास्तासा च षष्ठजगणाग्रतर्गतलघुद्वय विहाय नव-
 गुरवो भवन्ति, तदेव प्रथमदले पञ्चदशगुरवो द्वौ लघू, एव द्वितीयदलेऽपि, तथाच
 द्वयोर्दलयोर्मिलित्वा यत्र त्रिंशद्गुरु. षष्ठजग(ण) द्वायतर्गताश्चत्वारो लघव. पतति,
 स नट प्रथमभेदः, यदि च त्रिंशद्गुरुषु एकैकगुरुहासेन तत्समानमात्राक लघुद्वय
 वद्धते तदा भद्रादयो भेदा भवन्ति, ते च प्रदर्श्येते लिखित्वा ।

७७ अथ नदाख्य स्कन्धकभेदमुदाहरति चदेति । चदा—चद्र, कुदा—
 कुन्दः, कासा—कास, हारा—हारो मुक्तादाम, हीरा—हीरक, तिलोअणा—त्रिलो-
 चन कर्पूरगौर इति यावत्, केलासा—कैलास. पर्वत इत्यादीनीति शेष. जेत्ता
 जेत्ता सेत्ता—यावति (यावति) श्वेतानि, तेत्ता—तावति, हे कासीस—काशीपते
 दिवोदास, ते तव किन्ती—कीर्त्या जिणिआ जिजा(ता) नि, एतेभ्योपि त्वदीया
 कीर्तिरतिधवलेति भाव ।

७८ अथ द्विपथा लक्षयति तेरहेति । पदमपादे. तेरह मत्ता—त्रयोदश मात्राः,
 देह—देहि, इट च क्रियापद सर्वत्रान्वेति, पुन द्वितीयचरणे इत्यर्थः, तेरह—त्रयो-
 दश मात्रा देहीति पूर्वोणान्वयः, चतुर्यचरणे इति शेष एअरह—एकादश मात्रा
 देहीति तैनेवान्वयः, एह—एतद् दोहा लक्षण—द्विपथालक्षणम् ॥

७९ द्विपथामुदाहरति सुरअरु इति । सुरतरः कल्पवृक्ष इत्यर्थः, सुरही—सुरभि-
 कामवेनुरित्युक्तं, परसमणि—स्पर्शमणि, एते इति शेष वीरेस समाण—वीरे-
 शसदृशा नहि । तत्र हेतुमाह ओ वक्कल इति । ओ—सः सुरतरित्यर्थं वक्कल
 ओ कठिणतणु—वल्कल वल्कलमय इति यावत् अथ च कठिनतनु. ओ पसु —
 सा सुरभिः पशुः विवेकरहिता । ओ पासाण—स स्पर्शमणि. पापाण जड
 इति भाव, वीरेश्वरस्तु मृदुचित्त. विवेकी महाबुद्धिगति तेभ्यो विलक्षण
 इति भाव ।

८० अथैतद्भेदान् रट्ठावृत्तेनाह भमर इति—भ्रमर १—भ्रमर २—
 शरभ. ३—सरवाण—श्येन ४—मट्कः ५—मर्कटः ६—करम ७—नरः
 ८—मराल ९—मदकल १०—पयोधरः ११—वल. १२—वानर १३—

त्रिवक्ताः १४—अष्टकपाः १५—मत्स्यः १६—सङ्गा—सार्धल १७—अहीन—
अहीनः १८—ध्यानः १९—विशालः २—शुनकः २१—वह—तथा बद्धा
२२—तथा २३—इति यथा गुद दुष्ट—गुदस्तुति हस्तपीठपा, ये लङ्—
कन्द—कन्दे तदा तं तं—तत्तत् भनरुभिर्कं ग्राम—नाम, विद्या—विद्या
जीहि पमाण—प्रमाणं निश्चितमित्यर्थः ।

[illegible]

८२ अथैतेषु मेरेषु आद्य भ्रमरनामकं मेरुगुहादृष्टि वा अन्तर्गत इति । वा
अन्तर्गते पर्वत—गस्ताद्यांश्च पार्वती सीते गंगा काश—सीते गंगा (कश्यप) बो—
बो देवानां वरुणाय तामु पार्श्व—कश्यप पादौ बदे—नमस्करोमि ।

८३ अथ कण्ठमेन द्विपद्यायां जातिभेदमाह (पायह) कण्ठ्या—आदरासमुदा
द्विपद्येति शेषः, द्विपी—विषा मन्वतीति शेषः तद् बाहेरिति—तथा हाबिरिति
मित्रानुमिति शेषेरेष्टि बोधनीया कश्चिप्यी मयिष्ठ—अत्रिवा भग्यता
कलेष्ट—उत्तरिवाजित्तुमि वेली—वेत्या होइ—भवति । आ इत्यर्थ—एव इत्य
अनुक्तस्तु संख्याया एव सुविधी होइ—एवम् भवति ॥

८४. अथ द्विपथाया गणविशेषपुरस्कारेण दोषमाह जस्सेति । जस्सा—यस्याः द्विपथायाः, पटमहि—प्रथमे, पात्र—पादे, तथा तीए—तृतीये, पाए—पादे, रा—ननु, निश्चित, जगणा—मध्यगुरुका गणाः दीसति—दृश्यते, सा च डालह घर रहिआ—चण्डालगृहस्थिता, दोहा—द्विपथा दोष पभासेइ—प्रकाशयति ॥ तथा च दोहाप्रथमतृतीयचरणयोर्जगणो न देय इति भाव ।

८५. अथ द्विपथाया उट्टवनिकामाह चक्कलु इति । आदौ छक्कलु—पट्कलः, ततः चक्कलु—चतुष्कल, ततश्च त्रिकलः, एमपरि—अनया परिपाट्या त्रिसम—विप्रमे चरणे गण इति शेषः, पलति—पतति, सम पावहि—समे पादे द्वितीये चतुर्थे चेत्यर्थः । अग्रे पट्कलचतुष्कलयोरते इत्यर्थः एककलु—एककलः पततीति शेषः, इमभति—एव प्रकारेण, दोहा—दोहा, ठेवि—स्थापय । एककलु अत्र एको ह्रस्वः । अयमर्थः—विप्रमचरणयोस्त्रयोदशमात्राणां सत्त्वात्प्रथम पट्कलमात्रास्ततः चतुष्कलस्ततस्त्रिकल एव त्रयोदश मात्राः स्थाप्या, समचरणयोश्च प्रथम पट्कलस्ततश्चतुष्कलस्तत एककल एवमेकादश मात्राः स्थाप्या इति ।

८६ अथ रसिकानामक वृत्तं लक्षयति । दिअवरगणेति । हे मिअणअणि—मृगनयने, गअगमणि—गजगमने, दिअवरगण धरि जुअल—द्विजवरगणस्य चतुर्लघु-युक्तगणस्य युगले स्थापय, पुणत्रिअ—पुनरपि च द्विजवरयुगलानतरं चेत्यर्थः, तिअलहु पअल—त्रीन् लघून् प्रकटय, इम त्रिहि—एव विधिना छउ पअणि—षट्पदेषु प्रत्येकमिति भाव, एअ(ह)दह कल—एकादश कलाः, त्रिहु—विधेहि त्रिरचयेत्यर्थः, एह(अ) रसिका, निम—यथा, रअणि—रजन्या, सुससि—पूर्ण-श्रद्धा, तथा सुहइ—शोभते । यत्र एकादशमात्रा एव षट्चरणानि यस्याः सा रसिकेति फलितार्थः ।

८७—रसिकामुदाहरति त्रिमुहेति । अचलः कश्चिद्राजा हअ गअ वल—हय-गजवलानि, परिहरिअ—परिहृत्य, रण—रणे विमुखः सन्, चलिअ—चलितः पलायित इत्यर्थः, किंच जस जसु तिहुअण पिअइ—यस्य यशः त्रिभुवनं पिबति सोऽपीति शेषः, मलअणिअइ—मलयनृपतिः, हलहलिअ—हलहलितः, किंच चरणसि णरअइ—वाराणसीनरपतिः दिवोदास इत्यर्थः, लुलिअ—लुलितः पराङ्मुखीभूत इति यावत् । अतः तस्य राज्ञः सकलोपरि यशः स्फुरितम् ॥

८८—अथैतस्या नामान्तरकथनपूर्वकं भेदानयनप्रकारमाह आर्हति । उक्कल्लु मह—उक्कल्लुमध्ये उक्कल्लुपरपर्यायरसिकामध्ये इति यावत्, सार—सार-भूता, लोहगणि—लोहागिनी, आइकअ—आदिकाव्यं प्रथमभेदः किउ—कृत । गुरुर्वर्द्धते द्वौ लघू हसतः, तदा त त—तत्तद् वक्ष्यमाणं नाम त्रिआर—विचारय ॥

तिल्लघवः, यत्र च चतुर्विंशतिगुरवः अष्टादश लघवः, एषा चतुर्णां काली सजा
६ । यत्र पञ्चविंशतिगुरवः षोडश लघवः, यत्र षड्विंशतिगुरवः चतुर्दश लघवः,
यत्र सप्तविंशतिगुरवः द्वादश लघवः, यत्र षड्विं (अष्टाविं) शतिगुरवः दश
लघवः, एषा चतुर्णां कालरुद्राणी सजा । अत्रैकगुरुवृद्धिमारभ्यागुरुचतुष्टयवृद्धि
प्रथमभेदकरणादुत्तरोत्तरभेदानामपि तथैव विधानमुचितमित्यष्टौ भेदा बोध्या ।
अत्रैकोनविंशद्गुरुवृद्धिलघुयुक्तः त्रिंशद्गुरुषड्लघुयुक्तश्चैतद्भेदद्वयम् अन्यदपि
सम्भवति वाचकाभावात्, ग्रन्थकृता तन्नोक्तं, वस्तुतस्तु तदपि बोध्यम् । अथवा
एतदपि भेदद्वयं कालरुद्राणीमध्ये पातनीयम्, एव च कालरुद्राण्याः, षड्भेदा
बोध्या । अथवा यत्र चत्वारो गुरवः अष्टपञ्चाशल्लघवः सा हसी, यत्राष्टौ गुरवः
पञ्चाशल्लघवः सा रेखा, यत्र द्वादश गुरवः द्विचत्वारिंशल्लघवः सा ताडकिनी,
यत्र षोडश गुरवः चतुर्विंशत् लघवः सा कालरुद्राणी, अत्र प्रथमं गुरु-
चतुष्टयवृद्धिनादुत्तरापि तस्यैव (व) र्द्धनमुचितमिति लोहागिनीसहिता अष्टौ
भेदा बोध्या इत्यस्मत्तात्पर्योपदिष्टं पथा निर्मलसैः सुधीर्भिर्विभावनीयः ॥

६१. अथ रोलावृत्तं लक्षयति पदम इति । यत्र पदम—प्रथमे चरणे, इदं
च द्वितीयादीनामप्युपलक्षकं, गुरु अंतरं जुत्ते—अतः गुरुयुक्ता मध्ये गुरुमयुक्ता
इत्यर्थः चउत्रीस मत्त—चतुर्विंशतिमात्राः, होहिं—भवति, सेस नाग—शेषनाग,
गिंगलोऽभूत्, तेन्ह रोला उत्ते—तेन रोला उक्ता, एगाराहा हारा—एकादश हारा
द्विलघुयुक्ता इति शेषः, त्रयोदशाक्षरगणम(स्या) त्रे वक्ष्यमाणत्वात्, रोला छदो—
रोलाच्छदसि प्रतिचरणमित्यर्थः, जुज्जह—युक्ता भवतीत्यर्थः, एक्के एक्के—एकैकः
गुरुरिति शेषः, डुट्टह—ब्रुति हसनीत्यर्थः, अण्णो अण्णो—अन्यः अन्यः लघु-
रित्यर्थः, वद्धह—वर्द्धते, तथाचात्र प्रतिचरणमेकादश गुरवो लघुद्वययुक्ताः पतति,
तत्र चैकैकगुरुह्रासेन लघुद्वयवृद्ध्या द्वादशभेदा भवन्तीत्यर्थः । एतल्लक्षणनिष्कर्षः ।
अथैतत्स्योदाहरणे सगतिस्तथानुपदमेव विवेचयिष्यामः ।

६२. रोला मुदाहरति पअमरेति । यदा गअज्जू सजुत्ते—गजयूयसयुक्तः हमीर-
वीरः, कोहे चलिय—क्रोधेन चलितः, तदा घरणि—घरणिः, पअमर टरमरि—
पादभरेण दलिता वेगवावद्धस्तिहयपत्तिप्रभृतिसेनासमूहचरणवातेन दलितेत्यर्थः,
तरणि रह धुल्लिहि कपिअ—तरणिग्य धूलिभिः प्रयाणोत्थरेणुभिश्छादितः,
कमठपिण्ठ टरपरिअ—क(म) ठपृष्ठमधस्तात् गतः, मेर मटर सिर कपिअ—मेर-
मटरशिर कपितः, मेळ्हुके पुत्ते—खेच्छानामपि पुत्रैः, कट्ट—कष्टं यथा एतात्तथा,
हाकड—हाकडः, किएउ—कृतं मुच्छि—मुद्धितं च । अत्र किएउ इत्येकारः
एवो सुद्धा वि इत्युक्तत्वाल्लघुर्बोध्यः, अन्यथा पञ्चविंशतिमात्रापत्तिः ॥

६२ अथैतद्भेदानयनप्रकारं तेषां च नामानि रङ्गावृत्तेनाह, कुन्द कर-

अत्र ठक्कल्लेति रसिक्कया पर्पिका, रसिक्कालं च सममेदाहूति । तथा च लक्ष्मीर्य
दिवत् सोद्दोगिनीत्वादि व्याप्य, रसिक्कालं गद्यात्ममिय व्यापकं श्रेष्ठम् ।

८६—अथ नामान्याह लोद्दोगिणीति । लोद्दोगिणि—लोद्दोगिनी, इंदीमा—
इंदिका, रेखा टाडकिनी, कपिनी गंभीरा काली, कालस्त्राभी इति ठक्कल्ल्या
काली मेरा इत्यर्थः ॥

९—अथ प्रस्तारक्रममाह लोद्दोगिणीति । सक्कल्लु—सक्कल्लुः सर्वे पदपात्रा
चद्वहचपि कथां लपयो यस्यां सा इत्यर्थः, लोद्दोगिनी मक्कलीति शेषः कल्प—यत्र,
एक्क—एकः गुरु—गुरुः, होर—मवति सा इंदी । एवं यथा यथा बद्धं
हारः गुरुः तथा तथा यत्र कत् नाम, तत्र कत् नाम द्वेभित्तर्या । कत्
मावा—यत्र चद्वहिलपका सा लोद्दोगिनी, यत्रेक्के गुरुचत्तुपहिलपका सा इंदी,
यत्र हो गुरु द्विचहिलपका सा रेखा, एवं पूर्वभेदापेक्षया यथा उच्यते मेरे एक्के
गुरुचद्धंते लुपुद्धं च यत् अ बद्धीयते तथा मेरा बोध्या, ते च लिखित्य
प्रत्ययेते ।

अत्र यदपि नवमादयोऽप्यस्ये श्रव्येतिरिति मेरा संभवति बाधकमात्राचपि
ते प्रचक्षता नोक्ता, वस्तुतस्तु तेषुपि सुधीमिच्छनीयाः तत्र च विंशद्गुरवाः क
लपयो यत्र मवति छौऽतिमो मेरा प्रतिच (रच) मेकात्तमात्राजामुक्तादेक
शतम एक्के लुपुद्धं प्रतिवरणमतेऽपेक्षित इति बोध्यम् । अत्र क्वचित् कच
गुरु चारि होर सा इंदीति पाठश्च—यत्र गुरुचद्धं मवति सा इंदी, एक्कगुरु
मारम्य याक्त् गुरुचद्धं बद्धंते तात्पर्येत्तं मेरचद्धं इंदीतद्विचमिष्ये ।
अत्रायमाशवा । यत्र कचपक्के चद्वहिलपका पठति सा लोद्दोगिनी, यत्रेक्के
गुरुचत्तुपहिलपका ॥००००॥

यत्र च एक्कगुरुचत्तुपहिलपका यत्र छत्र गुरुवा द्विपचाशस्तपका ॥०००॥
एते कथ्यते मेरा रेखातंकका १ । यत्र च नव गुरुवा अत्रकत्तारिहस्तपका,
यत्र दश गुरुवा चत्तुत्तारिहस्तपका यत्र वीकादश गुरुवा चत्तुत्तारिहस्तपका
यत्र च द्वादश गुरुवा द्विचत्तारिहस्तपका एषा च अनुष्य टाडकिनी तंका १ ।
यत्र त्रयोदश गुरुवा कत्तारिहस्तपका यत्र च चत्तुर्दश गुरुवा अत्रविहस्तपका
यत्र च पञ्चदश गुरुवा चत्तुविहस्तपका यत्र च षोडश गुरुवा अनुविहस्तपका,
एषा चतुर्थ कपिनी तंका ४ । यत्र सप्तदश गुरुवा द्विचिहस्तपका यत्र चाष्टा-
दशगुरुवाचिहस्तपका यत्रेकोनविंशतिगुरुवा अत्रविहस्तपका यत्र विंशतिगुरुवा
चत्तुविहस्तपका (लपय) एषा अनुष्य गंभीरा तंका १ । यत्रेकोनविंशतिगुरुवा
चत्तुविहस्तपका, यत्र द्वाविंशतिगुरुवा लपय यत्र त्रयोविंशतिगुरुवा विंश

तिल्लंघवः, यत्र च चतुर्विंशतिगुरवः अष्टादश लघवः, एषा चतुर्णां काली सजा
 ६ । यत्र पञ्चविंशतिगुरवः षोडश लघवः, यत्र षड्विंशतिगुरवः चतुर्दश लघवः,
 यत्र सप्तविंशतिगुरवः द्वादश लघवः, यत्र षड्विं (अष्टाविं) शतिगुरवः दश
 लघवः, एषा चतुर्णां कालरुद्राणी सजा । अत्रैकगुरुवृद्धिमारभ्यागुरुचतुष्टयवृद्धि
 प्रथमभेदकरणादुत्तरोत्तरभेदानामपि तथैव विधानमुचितमित्यष्टौ भेदा बोध्याः ।
 अत्रैकोनत्रिंशद्गुर्वष्टलघुयुक्तः । त्रिंशद्गुरुषड्लघुयुक्तश्चैतद्भेदद्वयम् अन्यदपि
 सम्भवति बाधकाभावात्, ग्रन्थकृता तन्मोक्तं, वस्तुतस्तु तदपि बोध्यम् । अथवा
 एतदपि भेदद्वयं कालरुद्राणीमध्ये पातनीयम्, एव च कालरुद्राण्याः, षड्भेदा
 बोध्याः । अथवा यत्र चत्वारो गुरवः अष्टपञ्चाशल्लघवः सा हसी, यत्राष्टौ गुरवः
 पञ्चाशल्लघवः सा रेखा, यत्र द्वादश गुरवः द्विचत्वारिंशल्लघवः सा ताडकिनी,
 यत्र षोडश गुरवः चतुस्त्रिंशत् लघवः सा कालरुद्राणी, अत्र प्रथमं गुरु-
 चतुष्टयः र्दनादुत्तरत्रापि तस्यैव (व) र्दनमुचितमिति लोहागिनीसहिता अष्टौ
 भेदा बोध्या इत्यस्मत्तात्तरणोपदिष्टं पथा निर्मलैः सुधीभिर्विभावनीयः ॥

६१. अथ रोलावृत्तं लक्षयति पदम इति । यत्र पदम—प्रथमे चरणे, इदं
 च द्वितीयादीनामप्युपलक्षकं, गुरु अतरं जुत्ते—अतरा गुरुयुक्ता मध्ये गुरुसयुक्ता
 इत्यर्थः चउत्रीस मत्त—चतुर्विंशतिमात्राः, होहिं—भवति, सेस नाग—शेषनाग,
 पिंगलोऽभूत्, तेन्द् रोला उत्ते—तेन रोला उक्ता, एगगाराहा हारा—एकादश हारा
 द्विलघुयुक्ता इति शेषः, त्रयोदशाक्षरगणम(स्या) त्रे वक्ष्यमाणत्वात्, रोला छदो—
 रोलाच्छदसि प्रतिचरणमित्यर्थः, जुज्जइ—युक्ता भवतीत्यर्थः, एक्के एक्के—एकैकः
 गुरुरिति शेषः, इट्टइ—बुद्धति हसनीत्यर्थः, अण्णो अण्णो—अन्यः अन्यः लघु-
 रित्यर्थः, वट्टइ—वर्द्धते, तथाचात्र प्रतिचरणमेकादश गुरवो लघुद्वययुक्ताः पतति,
 तत्र चैकैकगुरुहासेन लघुद्वयवृद्ध्या द्वादशभेदा भवन्तीत्यर्थः । एतल्लक्षणनिष्कर्षः ।
 यथैतस्योदाहरणे संगतिस्तथानुपदमेव विवेचयिष्यामः ।

६२ रोलामुदाहरति पञ्चमरेति । यदा गजबज्ज सजुत्ते—गजयूथसयुक्तः हमीर-
 वीर, कोहे चलित्थ—क्रोधेन चलित, तदा घरणि—घरणिः, पञ्चमर दरमरि—
 पादमरेण दलिता वेगभावद्विस्तिहयपत्तिप्रभृतिसेनासमूहचरणघातेन दलितेत्यर्थः,
 तरणि गह धुल्लिहि भूपिअ—तरणिगथः धूलिभिः प्रयाणोत्थरेणुभिश्छादित,
 कमठपिण्ठ टरपरित्थ—क(म) ठपृष्ठमधस्तात् गत, मेरु मदर सिर कपित्थ—मेरु-
 मन्दरशिरः कपितं, मेळ्हुके पुत्ते—म्लेच्छानामपि पुत्रैः, कट्ठ—कष्टं यथा स्यात्तथा,
 हाकद—हाकदः, किएड—कृतं मुळि—मुद्गितं च । अत्र किएड इत्येकारः
 एओ सुद्धा वि इत्युक्तत्वाल्लघुबोधः, अन्यथा पञ्चविंशतिमात्रापत्तिः ॥

६२ अथैतद्भेदानयनप्रकारं तेषां च नामानि रङ्गावृत्तेनाह, कुन्द कर-

अष्टत्रिंशल्लघुकपर्यंत चतुर्णां ताडकसजा ४ । एवमष्टाविंशतिगुरुचत्वारिंशल्लघु-
 कमारभ्य पचविंशतिगुरुषट्पञ्चवारिंशल्लघुकपर्यंत चतुर्णां कालरुद्रसजा ५ । एव चतु-
 विंशतिगुरुषट्पञ्चवारिंशल्लघुकमारभ्य एकविंशतिगुरुचतुःपञ्चाशल्लघुकपर्यंत
 चतुर्णां कोकिलसजा ६ । एव विंशतिगुरुषट्पञ्चाशल्लघुकमारभ्य सप्तदशगुरु-
 द्विपष्टिलघुकपर्यंत चतुर्णां कमलसजा ७ । एव षोडशगुरुचतुःपष्टिलघुकमारभ्य
 त्रयोदशगुरुसप्ततिलघुकपर्यंत चतुर्णां इदुसजा ८ । एव द्वादशगुरुद्विसप्ततिल-
 घुकमारभ्य नवगुरुषट्पञ्चाशल्लघुकपर्यंत चतुर्णां शम्भुसजा ९ । एवमष्टगु-
 अशीतिलघुकमारभ्य पचगुरुषडशीतिलघुकपर्यंत चतुर्णां चामरसजा १० । एव
 चतुर्गुरुषडशीतिलघुकमारभ्य एकगुरुचतुर्णवतिलघुकपर्यंत चतुर्णां गणेश्वरसजा
 ११ । एव सर्वलघुः सहस्राक्षः १२ । इत्थं च भेदानयनप्रकारः ।

जेहि—वेपु एगारहगुरु—एकादशगुरुक द्वौ लघू, एव—भूतानि ज—
 यत्र तेरह अक्षर—त्रयोदशाक्षराणि पलइ—पतति, इत्थं यत्र चरणचतुष्टये
 द्विपञ्चाशदक्षराणि स्थापयित्वेति शेष, अक्षरमक्षर एकैको गुरुः यावद्गुरुचतुष्टय
 हसति तदा कुदादि तत्तन्नाम कुरु इति व्याख्येयम् । एव द्वा (एक) विंशति-
 गुरुयुक्त पञ्चमरेत्युदाहरणं कोकिग्रहयपष्टभेदाभिप्रायमिति एवं सुस्थमित्यस्मत्तात-
 चरणोपदिष्टं पथाः सुधीभिर्विभावनीयः ।

कश्चित्तु***त्रयोदशगुरु १ ल(१) कालरुद्रः, यथाष्टौ गुरवोऽशीतिलंघवः स
 कोकिल, यत्र सप्त गुरवो द्व्यशीतिलंघवस्तत्कमल, यत्र षड्गुरवश्चतुरशीतिलंघवः
 स इदुः, यत्र पच गुरव षडशीतिलंघवस्तच्चामरं यत्र त्रयो गुरवो नवतिलंघवः
 स गणेश्वर, यत्र गुरुद्वय (द्वि) नवतिलंघवः स सहस्राक्षः, यत्रैको गुरुश्चतुर्णवति-
 लंघवः स शेषनामा त्रयोदशतमो भेदः, इत्थं भेदानयनस्य ग्रन्थादनुपलब्धेः, यतः
 प्रतिचरणं लघुद्वययुक्तैकादशगुरुषु चरणचतुष्टयसमुदितचतुश्चत्वारिंशद्गुरुषु वा
 एकैकगुरुह्रासेन लघुद्वयवृद्ध्या भेदानयनं ग्रन्थस्वारस्येन प्रतिपत्ते, न तु त्रयोदश-
 गुरुषु स्वेच्छया । इत्थं यथाकथञ्चित् षण्णवतिमात्रामवलम्ब्य भेदकरणे विंशतिगुरव-
 षट्पञ्चाशल्लघवस्तेषु एकैकगुरुह्रासेन विंशतिभेदा आयाति । एव त्रिंशद्गुरव (रुपु)
 षट्त्रिंशद्गुरुषु वा एकैकगुरुह्रासेन लघुद्वयवृद्ध्या भेदानयनं ग्रन्थस्वारस्येन प्रतिपत्ते ।
 न तु त्रयोदशगुरुषु त्रिंशद्भेदा (१) भवति । एव यथाकथञ्चित्चावन्मात्रामात्रापूर्वता-
 वत्तावद्गुरुलघ्वापादनेन यथाकथं तावत्तावद्भेदापत्तेर्दुर्वारत्वात्, त्वदुक्तरीत्या
 चतुर्दशतमभेदापत्तिरपि दुर्वागा, तद्वैत्रैको गुरुरावश्यको येन गुरुराहित्येन गाथाया
 मिवात्राप्यनिष्टमापणेत उदाहरणासंगतिश्च स्पष्टैवेति विभावनीयं वक्ष्यमाणकाव्यच्छ-
 न्दसञ्चात्यामेव भेद यत्काव्ये लघुद्वयं जगण्यतर्गतं मध्ये पतति, अत्र तु
 यथेच्छमिति ॥

अमेति । चेहि—येषु, एगाराह गुरु—एकदश गुरु एवंगुणानि तेरह अक्षर
(२)—त्रयोदशाक्षराणि । अं—अक्षर, फलह—पतति, त्रयोदशाक्षरमध्ये एकदश पेर
गुरुबल्लोदोर्बेरितमदक्षयं तत्कलपुस्समित्यर्थादितं तथाच द्विलपुमुक्ता एकदश
गुरु एव प्रतिचरणां नत्र त्रयोदशाक्षराणि पततीत्यर्थां तेषु यदि अक्षर अक्षर
अक्षरमक्षरमेकैश्चो गुबरित्यर्थां, अं पलह—अत्र पलति हृच्छीत्यर्थां, तदा कुं
१—करतल २—मेघ ३, ताडका ४, अलकद्रा, ५ कोबिला ६ कमल ७,
हनु ८, शंभु ९, चामर १ शण्डेयरा ११, उहसादा १२, इति, तं तं—
तत्तत् नाम, कुयेहि—कुत्र इति नागराह कभीरवरा रोपा पिगला अं पद—अप्यति
इति मक्किअ—मणितं पूर्वाचोर्बेरिति रोपा । इमत्र तत्तम्—रोतावां
चतुर्विंशतिर्मात्रा प्रतिचरणं देवा इत्याक्षरकं, तत्र प्रक्षरद्वयेन संभवति लपु
हयपुच्छैकदशगुरुदन्तेन, यथेच्छं गुरुलपुदानेन वा । एवं च पूर्वं लक्ष्यद्वयं कृतं
मिति बोध्यं, तथाहि पम्येति पूर्वोक्तैर्नैकं, एगाराह हाह इत्युत्तराद्धेन च द्वितीयं ।
तत्र यदि मयाकप्यन्विचतुर्विंशतिर्मात्रा अंतरा अंतरा गुरुमुक्ता क्रियते, तदा रोता
कृतं भवतीति प्रथमलक्षणायां । यदि च लपुहयपुच्छैकदशगुरुमिरचतुर्विंशतिर्मात्रा-
क्रियते तदापि रोताद्वयं, भवतीति द्वितीयलक्षणायां । तत्र पञ्चम इत्यु-
हरणं प्रथमलक्षणाभिप्रायेण, भेदानयनप्रक्षरस्य द्वितीयलक्षणाभिप्रायेण प्रदर्शितं
मित्यवबेयम् ।

एवं च त्रयोदश गुरवा अंते च द्वौ लपु एवं त्रयोदशाक्षराणि चतुर्विं
शतिर्मात्राश्च प्रतिचरणं पतति तं कुंभः यत्र दश गुरु एव चतुर्दशाक्षराणि
चतुर्विंशतिर्मात्राश्च प्रतिचरणं पतति ना करतलम् एवं पूर्वमेवापेक्षया उत्तरत्र
भेदे एकगुरुभूतक्रिया लपुहयमेकक्षरं च कथ्यते तथा ते ते भेदा ज्ञानं, ते
लिखित्य प्रदर्शयते ।

यदा पूर्वोक्तमेकमेव लक्ष्यं, तत्र च कर्मतरांतरागुरुयोगः कर्तव्य इत्यपेक्षया
माह एगाराह दारयेति, तथा च द्विलपुमुच्छैकदशगुरु एवैकगुरुहातेन लपुहय-
द्वयस्या अंतरांतरा गुरुयोगश्च कर्तव्य इति भाष्य । य यैवं सत्युदाहरणार्तगति-
रिति बाष्पमम्ववहितपूर्वोक्ते पक्षिअनामके वृत्ते इत्याद्यापि मेवक्षरमाह ।

तथाहि यत्र अक्षरचतुष्टयपिंडीभूताभ्युत्पत्तारिशाद्गुरवा त्रयो लपव यत्र च
अक्षरचतुष्टयपिंडीभूताभ्युत्पत्तारिशाद्गुरवो (दश लपवा) यत्र च द्विअक्षरिशाद्गुरवो द्वादश लपवा
यत्र च एकअक्षरिशाद्गुरवश्चतुर्दश लपवा एषां चतुर्णां कुंभतंका । एवं चत्वारि
रिशाद्गुरुयोः दशलपुक्रमारम्य उत्तमिशाद्गुरुद्वयविंशतिलपुक्रमैर्तं कुंभं करतलतंका
२ । एवं चतुर्विंशद्गुरुचतुर्विंशतिलपुक्रमारम्य अक्षरिशाद्गुरुविंशतिलपुक्रमैर्तं
चतुर्थं मेघतंका ३ । एवं द्वाविंशद्गुरुद्वयविंशतिलपुक्रमारम्य एकोनविंशद्गुरु—

मिअणअणि—हे मृगनयने, एहु भेअ—एत भेद, को जाणह—कः पिंगलातिरित्तः जानाति, एअ (ठ)—एतच्छ्रुदः (अमिअ)—अमृततुल्यमित्यर्थः, पआसइ—प्रकाशते इति कह—(कविः) पिंगलो भापते । अत्र चतुर्मात्रिकसार्द्धसप्तग-
जात्मकचरण चतुर्गुणीकृ (त्वे)त्यर्थः एकश्चरणो विधेयः, एव चत्वारश्चरणा विधेया इति फलितार्थः ॥

६८ चतुःपादिकामुदाहरति जसु सीसहि इति । जसु सीसहि गगा—यस्य शौर्घे गगा शोभितेति शेषः, यश्च गोरि अधगा—गौर्यैर्द्वागः गौरी अर्द्वागे यस्य तादृश इत्यर्थः, गिव पहिरिअ फणिहारा—ग्रीवापरिधृतफणिहार. ग्रीवाया परिधृताः फणिहारा येन तादृश इत्यर्थः, कठठिअ बीसा—कठस्थितविषः, पिधणदीसा—दिक्पिधनः दिक् पिधनमाच्छादन यस्य स इत्यर्थः, सतारिअ ससारा—सतारितः ससारः येन च, किरणावलिकदा—किरणावलिकदः, वदिअ—वदित. चदा—चद्रः भाले धृत इत्यर्थः, यस्य च णअणहि—नयने तृतीये नेत्रे अणल फुरता—अनलः स्फुरन्नस्तीति शेष, सो—सः भवाणीकता—भवानीकातः रेशिव, तुह—युष्मभ्य सपअ दिज्जउ—संपद दयात्, बहु सुह किज्जउ—बहु सुख कुरुतात् । अत्र एक एव चरण उदाहृतः, एतादृशा अन्ये त्रयश्चरणाः सुधीमि. स्वयमुदाहरणीयाः ॥

६९ अथ घत्तानामक वृत्त लक्षयति पिंगल कह इति । वे वि पाअ—द्वयोरपि पादयोः, तिण्णि तिण्णि लहु—त्री(न् त्रीन्) लघून्, अत धरि—अते पदात् इति यावत् धरि—धृत्वा, चउमत्त सत्त गण—चतुर्मात्रिकान् सप्त गणान् भण—कथय, एव वासट्ठि मत्त—द्विषष्टिमात्राः धरि—कृत्वा, छट उकिट्टउ—छटदस्सकृष्टा, पिंगल कह दिट्टउ—(पिंगलकवि) दृष्टा, घत्त—घत्ता जानीहीति शेषः । अवमयं—घत्ता द्विपदी, तत्र चतुर्मात्रिकसप्तगणानन्तर लक्षुत्रय प्रत्येक विधेयमिति ।

१०० अथ घत्ताया यतिनियममाह पदममिति । (पदम)—प्रथम, दह बीसामो—दशसु मात्रासु विश्रामः, बीए—द्वितीये स्थाने अठ्ठाइ मत्ताइ—अष्टसु मात्रासु विश्राम इति पूर्वैणान्वयः, तीए—तृतीये तेरह—त्रयोदशसु मात्रासु, निरई—विरति, एव घत्ता—घत्ताया मत्ताइ वासट्ठि—मात्रा द्विपटि भवतीति शेष । यतिकय(न) क्रमेणैकविंशन्मात्रा लभ्यते, ताश्च द्वयोर्दलयोः प्रत्येक देया इति समूय द्विपटिमात्रिका घत्ता भवतीति भावः ॥

१०१ अथ घत्तामुदाहरति रणदक्खेति । येन रणदक्ख—रणदक्षः सग्राम-
कुशल इति यावत्, दक्ख—दक्षः, हनु (णु)—हत, येन च कुसुमधणु—

६४ अथ गंधाननामर्कं वृत्तं लक्षयति दहसत्त वयरोति । हे मुग्धा—मुग्धा
 फमपद्य—प्रथमपादे दहसत्त—सप्तम्या वयरो—वर्णान् मयह—भक्त, तह—तथा
 दीर्घमि—द्वितीयेऽपि, कमलापुत्रावरणा—यमकमुते चरयो, अडाह—अडाह
 रौच वयन् मयतेति पूर्वोक्तम् । एरिसिम्मी वीर्य दस कुमहु—एतादृशमेव
 दीर्घ दस—द्वितीयं दसम् उत्तराद्व मिति यावत् कुमहु—कुसुत तृतीयचरणे
 सप्तदशकापुक्तं चतुर्थे आद्यान्वयव्युक्तमिति यावत् । इम—इदं, वरिडभक्त
 चित्तहरो—वर्द्धितवनचित्तहरं, गंधाय वाम—गंधाननामर्कं वृत्तं होद—मयति
 इति पिंगलो—पिंगला मयह—मयति ॥

६५ अथ गंधानकमेव दोहाहतेन त्यजति दहसत्तकरोति । फमचरण—
 प्रथमचरणे गंधान—गंधानस्य दहसत्तकरो—सप्तदशाक्षराणि सठवहु—संख्या
 पयत विम—द्वितीये चरयो अरसर—अक्षराणि पुनः, अडाह—अडाह
 कमभ देह—यमकं इत्या विज्ञान—विज्ञानीहि ।

अथ च कर्मनियम एव न तु भागानियम इति बोध्यम् ॥

६६ अथ गंधानमुराहति वयस्य चलास्ये इति । चकवर—चकर्वति
 कय—कर्म चलास्ये—चलाति इति कुम्भ चलाह—कर्मचलाति, कुम्भ चलास्ये—
 कूर्मे चलाति इति, अमरक—अमरका कूर्मचलनादपिज्ञानपरित्येति भागः मुग्धा
 भक्त कारणा—मुचनमपकधी पुखि—पुनरपि मदि चलाह—मही चलाति,
 मदिम चलास्ये—महो चलास्ये, (मदिह)—महीपरा मेव चलातीति पूर्वोक्तं
 मयः । सामान्यश्चमपि महीपराप विरोपरं कोरम् । तेहि—परिमन् मही
 चरे चलाति इति मुग्धा—मुराहचलाति मेवविज्ञानं चत्तुरागमयेति भागः
 एव देह चकह—वयस्य कर्म तथा तिरुभय—विमुक्तं चलाति । अथ देह इति
 एवाते लघुचाम्पाः (६) ॥

६७ अथ चतुर्पाणि लक्षयति अडाहभ इति । पाणहि—पादे एदेह
 चरयो इवयं चङ्गात्ता—चङ्गाविज्ञानं (गणनया)—गमन् सत, लघुच वरि—
 लघुचन कृता लघुचमन् समचतुर्पाणिन् गमन् विनायययं, एरं लीन
 मता परि—विद्यमान भूता, चङ्गाहय लघु—चतुर्पाणिनाम् ॥, वरिच—
 वरीन् मिला मयह—मयति । तव मियेमाह चङ्गाहयति इरं ॥ चतुर्ह
 न्म न विरह—गदी या विरो एह—एवं लघुच गदी या न विरह—
 न विरो ॥ चतुर्ह देन वरि विरो न विरो ॥ न । तथाच पाण्डुपाणिनि
 व ॥, न तु चतुर्ह देन वरि मयः । एवं पाणिनि शेषा चङ्गाभ मयम—
 चतुर्ह पाणिनि तव माता इति मयः, निरुता—निरुता वरिच इत्यर्थः

चउकल—चतुश्चतुःकलाश्चतसः चतस्र कला मात्रा येषु तादृशाश्चतुर्मात्रिका
इति यावत् गण—गणां किञ्जइ—क्रियते, त पुगु—ततः पुन हेष्ट—अवस्तात्पादाते
इति यावत्, भिण्णवि लहु—लघुद्वय दिप्जइ—दीयते, ततः पादचतुष्टयानंतरम्,
उल्लाल—उल्लालः वक्ष्यमाणलक्षण उल्लालनामक वृत्त दीयते इति
पूर्वेणान्वय । तत्र च उल्लाल ने त्रिइ—द्वे त्रिती यतिस्थानद्वयमित्यर्थः, प्रथम
पण***लघुद्वय स्थाप्यमेवमेवैकचरणे चतुर्विंशतिमात्रा विधाय चरणचतुष्टय
विधेयमनंतर च उल्लालपादद्वय देयमिति पट्पट छदो भवतीति । अतो लघु-
द्वयमेव देयमिति न नियमः काव्यपाठेषु तथाः दर्शनादिति बोध्यम् ।

१०६ अथ पट्पटमुदाहरति विधिं अ दिद सण्णाह—दृढसनाहं विधिं अ—
विधाय, बाह उपर—बाहोपरि पक्कर देइ—वाणवारण दत्त्वा, वधु समदि—
अन्तस्सभाव्य, साहि हम्मीर वअण लेइ शाहहमी (२) वचन गृहीत्वा, रण
वसिअ—रणे प्रविश्य, पक्क (२) पक्कर—वाणवारणेन वाणवारण, साकवचेन
प्रतिपक्षाणा वचनमित्यर्थ, टेल्लि—घोटयित्वा, पेल्लि—नोदयित्वा, उड्डु—
उड्डूयमान सन्, णहपह—नभ पथे भ्रमउ—भ्रमामि, अरि सीसहि—अरि
शिरसि, खग्ग—खड्ग डारउ—पातयामि, पव्वह अप्फालउ—पवतानह स्फाल-
यामि (क्रोधानलमध्ये जलउ—ज्वलामि, हम्मीरक्ज्ज यामि (१) उल्लघयामीति
यावत् । किं च सुरताणसीस करवाल देइ—खड्गेन तस्य शिरश्छित्वेति यावत्,
मह—अह, कोहाणल मह—क्रोधानलमध्ये जलउ—ज्वलामि, हम्मीरक्ज्ज—
(२) मीरका (यां) र्थाय, कलेवर तेज्जि—कलेवर शरीर त्यक्त्वा, दिअ चलउ—
दिव गच्छामि इति जज्जलः । ***हमीर***

१०७ अथ पट्पटमेव प्रकारातरेण लक्षयति । पअ पअ तलह इति । यत्र
आइहि छक्कलु होइ—आदौ पट्कलो भवति, ततः चारि चउकल (उ)—
चत्वारश्चतुःकला णिवुत्तउ—निरुक्ता, अत—पादाते, दुक्कलु—द्विकलः
निबद्धः, एव यत्र पअ पअ तलह णिवद्ध—पदपदतले प्रतिचरणतलमित्यर्थः
निबद्धा मत्त चउवीसहि—मात्राश्चतुर्विंशतिः किञ्जइ—क्रियते, तत उल्लालहि
सहिअ—उल्लालेन सहितम् अते उल्लालपादद्वययुक्तमित्यर्थः, सेस कह वत्थु
णिक्कउ—शेषकविना वस्तु निरुक्तम् । एतदेव वस्तु इति नामातरेणोक्तमित्यर्थः ।
इति गुणहु—गुणयत जानीतेत्यर्थः । इअ छद—इद छदः, अक्खर डवर—
सरिस—अक्षराडवरसदृशं सुभाव्यवर्णसमुल्लसितगौडीरीतिमित्यर्थः, चेदमवतीति
शेष, तदा छ (सु) द भणिज्जइ—शुद्ध भण्यते । अत्र च वावण सउ त्रि
मत्तह—द्विपचाशत्शतमपि मात्राः काव्यपादचतुष्टयस्य षण्णवतिरुल्लालपादद्वयस्य
च षट्पचाशदेवमुभयोर्मिलित्वा द्विपचाशदधिक शत मात्रा इत्यर्थः, मुणहु—जानीत,

कुसुमघन्ता कंदपाः शिपणु—शिपाः, परच कंचन गंध विगतकच—अर्धगंध
विनाशकरः गिरिणाभरि अर्धगंध चर—गिरिनागर्भर्द्धगंधरा गिरिनागरी पर्वती
अर्धगंधि चरति मत्तादरा इत्यर्थः, असुरमर्द्धकर—असुरमर्द्धकर, लशंकरा रक्तलठ—
रक्त मांमिति शेषः ।

१ २ अथ पचानंद कान्त्यति शो पचह कुलेति । यथ प्रथमं एवम्—
बीषाम—एकादशसु मात्राभ्यति शेषा, अमेयपि बोक्नीया, बीषाम—विषामः,
पुनरि—पुनरपि द्वितीये तृतीये च स्थाने इत्यर्थः लठ ठेय—लठसु मात्रासु
नबोदरासु मात्रासु च, विर—विरतिर्मकतीति शेषा, (लो—) लठ पचहकुलधार
(३)—पचानामकं यद्वत्तं लठ्यतिभेदमित्यर्थः, नरठ धाम—नरनामकं इत्
थिदि इति शेषा । इति शिपि अवार—अवार श्रीर्धर्मागराः विगतं नरठ—
कचपति ।

१ ३ अथ पचानंदगणनियममाह ध्वक्कठ इति । आहहि—आयो ध्वक्कठ—
ध्वक्कठं गणं संतमहु—संस्थापयत, लठ्यं शिपि पठककठ—नीन् चतुष्पत्तान्
देहु—इत लठ्यं पंचककठ—पंचकलं, चठकलं शुभत—चतुष्पत्तान्गुणं च
ददतेति पूर्वोक्तान्मा, एव पचानंद मुनर—बानीष्य । पचपचानंदपोरच विषाम—
मात्रकठ एव भेद इति अत्रापि कान्त्यमति देयमिति बोध्यम् ॥

१ ४ अथ पचानंदमुदाहरति, शो बंदिम इति । बं—बं, ठिरगा—
धिरोगम्या धिराशिक्षया गंगया इत्यर्थः, बंदिम—बंदिता नमस्कृत इत्यर्थः ।
अवशा केन धिरति गंगा वदितेति । केन अर्धय—कामा इतिम—इत पत्र
अर्धगहि—अर्धगि परिकर चरतु—परिकरं नल्लं पृथवान्, लो—लो, बोर्धन
मिच—योगिजनमिर्ध संकल्ल—शंकरा संकर चरतु शंकरचरत, को
(धिरिच—) कुलिं हरत—हरत ॥

१ ५ अथ पचानंदनामकवृत्तं कान्त्यति । ध्वक्कठ इति । हे ध्वक्कठ—
ध्वक्कठा निदग्धा अल्लारसंभुचठ—अल्लारसंभुचं नक्षत्रमात्रपचरेण इत्यर्थः
नक्षत्रमिति वाक्कठ ध्वक्कठ इति—पदपदं चंदा शुभत—शुभत । तत्र पठिनि
नमपूर्वकं गणनियममाह, एवमादेत्यादिमा । तत्र विरह—विरति एवम्—
एकादशसु मात्रासु मकतीति शेषा ल पुणु—लठ पुनः विम्वतह—विम्वतं वमा
स्थापना ठेय—नबोदरासु मात्रासु विरतिमकतीति पूर्वोक्तान्मा तथा च चारो
चतुर्धितिर्मात्रा मकतीति भावः, पत्रम—प्रथमे च चारो इदं श्लेषकवृत्तं, द्वितीये
तृतीये चतुर्थेऽपि बोध्यं च मघा बरि—हे माघे शुभा संस्थाप्येयर्थः, मममहिभ—
ममोदिपता मम्ये प्रथमरथमघाद्वक्कठरथद्विक्कठोरथको रिचया इत्यर्थः, पंच लठ

चउकल—चतुश्चतुःकलाश्चतलः चतस्रः कला मात्रा येषु तादृशाश्चतुर्मात्रिका इति यावत् गण—गणा. किञ्जइ—क्रियते, त पुणु—ततः पुन. हेइ—अथस्तात्पादाते इति यावत्, विण्णवि लहु—लघुद्वय दिञ्जइ—दीयते, ततः पादचतुष्टयानतरम्, उल्लाल—उल्लालः वक्ष्यमाणलक्षण उल्लालनामक वृत्त दीयते इति पूर्वैणान्वयः । तत्र च उल्लाल वे विरइ—द्वे विरती यतिस्थानद्वयमित्यर्थः, प्रथम पण***लघुद्वय स्थाप्यमेवमेकैकचरणे चतुर्विंशतिर्मात्रा विधाय चरणचतुष्टय विधेयमनतर च उल्लालपादद्वय देयमिति षट्पद छन्दो भवतीति । अतो लघु-द्वयमेव देयमिति न नियमः काव्यपादेषु तथाऽदर्शनादिति बोध्यम् ।

१०६ अथ षट्पदमुदाहरति पिंधिय दिद सण्णाह—इदसनाह पिंधिय—पिवाय, वाह उपर—वाहोपरि पक्खर देइ—वाणवारण दत्त्वा, वधु समदि—बन्धून्सभाव्य, साहि हम्मीर वअण लेइ शाहहमी (२) वचन गृहीत्वा, रण धसिअ—रणे प्रविश्य, पक्ख (२) पक्खर—वाणवारणेन वाणवारण, स्वकवचेन प्रतिपक्षाणा कवचमित्यर्थ, ठेल्लि—त्रोटयित्वा, पेल्लि—नोदयित्वा, उड्डु—उड्डुयमान सन्, गहपइ—नभ पथे भमउ—भ्रमामि, अरि सीसहि—अरि-शिरसि, खग्ग—खड्ग डारउ—पातयामि, पव्वह अप्फालउ—पवतानह स्फाल-यामि (क्रोधानलमध्ये जलउ—ज्वलामि, हम्मीरक्ज्ज यामि (१) उल्लघयामीति यावत् । किं च सुरतानसीस करवाल देइ—खड्गेन तस्य शिरश्छिन्नेति यावत्, मह—अह, कोहाणल मह—क्रोधानलमध्ये जलउ—ज्वलामि, हम्मीरक्ज्ज—(२) मीरका (यां) र्थाय, कलेवर तेज्जि—कलेवर शरीर त्यक्त्वा, दिअ चलउ—दिअ गच्छामि इति जञ्जलः । ***हमीर***

१०७ अथ षट्पदमेव प्रकारातरेण लजयति । पअ पअ तलह इति । यत्र आइहि छक्खलु होइ—आदौ षट्कलो भवति, ततः चारि चउकल (३)—चत्वारश्चतुःकला णिवुत्तउ—निरुक्ता, अत—पादाते, दुक्खलु—द्विकलः निवद्ध, एव यत्र पअ पअ तलह निवद्ध—पदपदतले प्रतिचरणतलमित्यर्थः निवद्धा मत्त चउवीसहि—मात्राश्चतुर्विंशतिः किञ्जइ—क्रियते, तत उल्लालहि सहिअ—उल्लालेन सहितम् अते उल्लालपादद्वययुक्तमित्यर्थ, सेस कइ वत्थु णिरुत्तउ—शेषकविना वस्तु निरुक्तम् । एतदेव वत्तु इति नामातरेणोक्तमित्यर्थः । इति गुणहु—गुणयत जानीतेत्यर्थः । इअ छद—इद छद, अक्खर उवर—सरिस—अत्रराटवरसदृशं सुश्राव्यवर्णसमुल्लसिनगौडीरोतिमदित्यर्थः, चेद्भवतीति गोप, तदा छ (सु) द भणिज्जइ—शुद्ध भण्यते । अत्र च वावण सउ वि मत्तइ—द्विपचाशत्शतमपि मात्राः काव्यपादचतुष्टयस्य पण्णवतिरुल्लालपादद्वयस्य च षट्पचाशदेवमुभयोर्मिलित्वा द्विपचाशदधिकं शत मात्रा इत्यर्थः, गुणहु—जानीत,

छप्पमं ह्यं—पट्पदच्छदा परिधि वि होइ—एसाहसमपि मवति, अइ
गंय गंयि—किमर्थे प्रथमंयि विमग्ग—विमृशत । इत्थं च पूर्वोक्तलक्षणेनैव
गठार्थेनाद् धेपकमिवाभासीति बोध्यम् ॥

१ ८. अपैतदुदाहरति अहा सरअ सति विंशति । यथा सरअ—सधिरिं,
यथा हरहारदंस्थिति, हरः—कपूरगौरः, हारो—मौक्तिकराम, हंसा—
पक्षिभिरुपस्थितां स्ति(ति) स्थिता अहा पुञ्जल विअ कमल—यथा पुञ्जल
कमलं पुण्डरीकमिति यावत्, अहा लंइ किअ—लंटीहृत्, सिरि लंइ—
भीम्वड्भंदनमित्यर्थः, अहा गंग वस्तुल—यथा गंगाकस्तुला महोर्मव इत्यर्थः
अहा रोसाकिअ इयइ—सद्योभालितं कर्म्यं, अहा नुइ सर सुइ वेअ फंइइ लसपइ
—यथा नुग्वसाम्यं कीर्त्तः कवितप्रदाश्चिच्छं शित्तलेनैव कीर्त्तनमन्त्योचितत्वात्
तथापि शक्यमात्रे तात्पर्यं न तदंशोऽपीति भावः, लसीमूय मांडाबुद्धता, नुग्वपन
आतिरवेतो मक्तीति लघोक्तिः । पुषा (न) यथा पिअ पाअ पसाए विडि—
मित्रमातृप्रसादद्वि मित्रस्य माता प्रसादद्विरेन स ताहय इत्यर्थः, लसमिअ—
लसमिअः मिदुअ हसइ—निसृतं हसति लस—तथा लस किति—कीर्त्ति होस्ति
—मेक्य, वरमसि—वरमते खंडेवर महाराज, हरिअंइअ भवति । ब्रह्मति
बंदिनामुपनाम व्यतिविशेषो वा तथा च ब्रह्मवासीवत्तुपनामको वा हिनामा
मवतीत्यर्थः ।

१ ८ अथ पूर्वोक्तमेव दोहादुत्तेनोपसंहरति प्यारि पाअ इति । प्यारि पाअ—
प्याराय पादा, कमके भव—अप्यस्य भव क्षेत्रि पाअ ठरकाल—इत्यपि पादा
ठरकालस्य भवेति पूर्वोक्तान्वयाः इम—एवं विदु लक्षय—इे लक्षये एक
कइ—एवं कृत्वा पठ, एय छप्पम पत्थर—पट्पदप्रस्ता ॥

१ ९ अथ पट्पदोपयोगिअम्लक्षणादुपमाह अइ अंत इति । यथा आरी अंते,
नुर ककलठ—दो ककलो भक्ता इति शेष एक आरी एक अंते इत्यर्थः,
मभूम—मध्ये अंतोत्तरयोः ककलठोरंतराले इत्यर्थः तिणि तुरंगम—ब्रह्मदुरंग
माअ य) अतुःकला भवतीति शेषा तथा तीए—तृतीये स्थाने द्वितीय—
अतुःकल इत्यया जगन्ने भव्यगुह्येना किंवा विप्रगलअतुःकमुपयोगः कर्तव्य, ल
कमइ लक्षय—अप्यस्य लक्षणं बुझम—बुझता ॥ अथमर्थः प्रथमं
पट्पदलक्षणं अतुःकलाकातय पट्पद एव प्रतिपादं यं गला कर्त्तव्यमस्तेष्वेव
य प्रथमपट्पदता— अथ तृतीयो गन्ने जगन्ने विप्रो वा विपेयः, एव च तृतीये
विप्रोहीक्ते तदा तर्जलज्वालाकोऽपि अथमर्थो भवति अदि च जगन्ने हीक्ते तदा
तु न तृतीयलक्षणात्गतस्य एवैकगुरोः प्रतिपन्नमात्रमप्यकारात्तर्जुकोऽप्यत्र न

भवति च, जगणपक्षे तृतीयस्य गणाद्यतस्थस्य लघुद्वयस्य प्रतिचरणमावश्यकत्वादिति, विप्रपक्षे च चतुर्लघूना प्रतिचरणमावश्यकत्वादिति सुभीभिर्विभावनीयम् ।

११०. अथ वक्ष्यमाणेषु काव्यभेदेषु शक्रनामक भेद लक्ष्यन् भेदान (यन)-प्रकारमाह चउ अगलेति । चउ अगल चालीस गुरु—चतुरधिकचत्वारिंशद्गुरु काव्यपादचतुष्टय चतुश्चत्वारिंशद्गुरु इति यावत्, एकैकके गुरु लेइ—एकैक गुरुं गृह्णाण न्यून कुरु, एव कृते च जो गुरुहीणउ—यो गुरुहीनः एकैकगुरुहामेन द्विलघुवृद्ध्या क्रियमाणेषु भेदेषु यः सर्वलघुरित्यर्थः भवतीति शेषः, सो स (क्क—स) शक्र* । तत्र च एकैकगुरुवृद्ध्या लघुद्वयहासेनेति शेषः, णाम गगहण कुणेहु—नामग्रहण श+वादिभृगातमिति भावः कुरुष्व । अयं भावः—तृतीये जगणदानपक्षे प्रथमपट्कलस्य गुरुत्रयं द्वितीयचतुष्कलस्य गुरुद्वय, तृतीयचतुष्कलस्य जगणस्वरूपत्वात्तरैको गुरु, चतुर्थचतुष्कलस्य गुरुद्वय पचमस्य पट्कलस्य गुरुत्रयमेकादश गुरुव, जगणाद्यतस्थलघुद्वयं च प्रतिचरण काव्ये आवश्यक, चरणचतुष्टये च मिलित्वा चतुश्चत्वारिंशद्गुरवोऽष्टौ लघव आवश्यकाः, अतएव काव्ये सर्वेऽपि चरणा गुरुरूपा एवेति न सम्भवति जगणपक्षे अष्टलघूना विप्रपक्षे षोडशलघूनामावश्यकत्वात्, तेषु च (चतु) चत्वारिंशद्गुरुषु क्रमेण एकैकगुरुहासेन लघुद्वयवृद्ध्या भेदेषु क्रियमाणेषु यः सर्वलघुर्मन्वति स* शक्रः, षण्णवतिलध्वात्मके शक्रे च क्रमेण एकैकगुरुवृद्ध्या लघुद्वयहासेन यावच्चतुश्चत्वारिंशद्गुरवोऽष्टौ च लघवो भवति, तावति नामानि भवति । तांश्च भेदाननुपदमेव विवेचयिष्याम । अत्र च प्रथम गुरुनादायैकगुरुहासलघुद्वयवृद्धिक्रमेण शक्रनिरुक्तिस्ततश्च लघूनादाय लघुद्वयहासैकगुरुवृद्धनक्रमेणान्येषा निरुक्तिरभ्यध्यापि भेदानयन सम्भवतीति प्रदर्शनायेति ध्येयम् ॥

१११ अथ शक्रमुदाहरति जसु करेति । जसु कर—यस्य करे, फणिवह बलअ—फणिपतिवलय, तणुमह—तनुमध्ये तरुणिवर—तरुणिवरा युवतीश्रेष्ठा पार्वती त्रिलसइ—विलसति, यस्य णअण—नयने भालस्थतृतीयनेत्रे अणल—अनलः, गल गरल—गले कठे गरल विप, विमल ससि जसु सिर—विमल. एककलात्म-कतया कलकशून्यः शशी (यस्य शिरसि) णिवसइ—निवसति । इदं च क्रियापद नयने—इत्यादिप्रत्येकान्वयि । यस्य सिरमहशिरोमध्ये, सुरसरि (सुरसरित्) रइइ—तिष्ठति, यश्च सअन जण दुरित दमण कर—सकलजनदुरितदमनकरः, सो—सः, ससइर—शशिधरो महादेव, हसि—हसित्वा, तुअ दुरिअ—तव दुरित हरठ—हरतु, वितरठ अमअवर—वितरतु अमयवरम् ॥ अत्र चरणस्या चतुर्विंशतिरपि मात्रा लघुरूपा स्पष्टा । अत्र सो इत्योकारो लघुर्वोध्यः ।

११२. अथ स्पष्टतया सख्यानियतकाव्यभेदानयनप्रकारमाह जहेति । यथा यथा

कृष्ण छन्द—पट्पदच्छन्दः, एरिणि नि होह—एतादृशमपि मयति, अर
गंय गंयि—किमर्थे ग्रंथग्रंथि विमरह—विमृशत । इदं च पूर्वोक्तसङ्घर्षेनैव
गतार्थत्वाद् दोषमभिवासातीति बोध्यम् ॥

१ ८. अथैतदुवाहरति षष्ठा सरस्य सति विवेति ।। यथा शरत्—शशिविक्र,
यथा ह्यहिरक्षस्तिष्ठति हरा—कपूरगौरा, हारो—मौक्तिकदाम, इया—
पक्षिविशेषास्तैवा स्मि(ति) रित्यर्थः यथा फुल्लसिद्धि कमल—यथा फुल्लसिद्धि
कमलं पुण्डरीकमिति यावत्, यथा लङ्घ किम्—लङ्घीकृत, तिरि लङ्घ—
भीर्लङ्घनमिति-त्यर्थः, यथा गंगा कस्तूराल—यथा गंगाकस्तूराला महोर्मय इत्यर्थः,
यथा रोसणिम इत्यह—यद्योऽन्वलिप्तं रूपं, यथा बुद्ध वर सुद्ध केन फंदाह लक्ष्मण
—यथा बुद्धसाम्यं कीर्त्तये कश्चित्प्रदायविच्छेदं शीतस्तेनैव कीर्त्तयन्त्येवमित्यर्थः
तथापि रक्षैत्यमात्रे तत्त्वार्थे न तद्वैरोऽपीति भावः, तस्मिन् मांडाबुद्धस्तः बुद्धजन
आतिरक्षेयो मन्वीति तद्योक्तिः । पुनः (न) यथा पिब पात्र पयस्य दिङ्—
प्रियप्राप्तप्रसाददृष्टि प्रियत्वं प्राप्ता प्रसाददृष्टिरेव स तादृश इत्यर्थः, तदभिजन—
तदभिजनः पिबुम इत्यह—निवृत्त इत्यति, तत्त्व—तथा तत्र किञ्चि—कीर्त्ति रक्षित
—प्रेक्ष्य परमसि—परमते चन्देस्वर महायक, इतिवैसा मन्वीति । ब्रह्मति
वैदिनामुपनाम आतिविशेषो वा तथा च ब्रह्मवातीयस्त्वुपनामप्ये वा इतिनाम
मन्वीत्यर्थः ।

१ ८८. अथ पूर्वोक्तमेव होहसङ्घर्षेनोपसंहयति चारि पात्र इति । चारि पात्र—
चात्वार पात्राः कृष्णके मय—कृष्णस्य मय खेचि पात्र उल्लास—ह्यपि पात्रा
उल्लासत्वं मयति पूर्वोक्तान्तरा, इम—एवं विदुः सत्त्वत्वं—ये लक्ष्ये एक
कह—एवं इत्या पद, एव कृष्णस्य पयस्य—पट्पदप्रस्तार ॥

१ ९. अथ पट्पदोपयोगिप्रत्ययसङ्घमाह अह इति इति । यत्र अहो अति,
दुर ह्यकलत—द्वौ पट्पदौ मन्वी इति शेष एव आशी एव अति इत्यर्थः,
मन्वी—मन्वी आशीतरयणो पट्पदस्योरंतरालो इत्यर्थः । तिष्ठि दुरगम—यद्यस्तुरग
मात्रं य) अतुःकलाः मन्वीति शेषा तत्र तीप्—तृतीये स्थाने द्वितीय—
अतुःकल इत्यर्थः अग्नौ मरणगुणान् किंवा विप्रगन्धदुर्गन्धविक्रमोः, तत्र
अह सत्त्वत्वं—वाक्यस्य अक्षरं बुभुक्ष—बुध्यता ॥ अथमर्थे प्रथमं
पट्पदस्यतत्त्वप्रत्ययगुणसत्त्वत्वं पट्पद एव प्रतिपादं यंय गणाः वर्तमान्येतेष्वेव
च प्रथमपट्पदा— अथै तृतीयो गणो अग्नौ विप्रो वा विप्रेय, एवं च तृतीये
विप्रवशीकृते तदा लक्षणाभावात्तदपि वाक्यभेदो मन्वीति यदि च अग्नौ शीघ्रो तदा
ह न तृतीयसत्त्वगणोत्पत्तस्य एवेकगुणोः प्रतिवरणमापन्नसत्त्वत्वंगुणोःमन्वीति ॥

परिधर्मः १३, मरालः १४, मृगेन्द्रः १५, दडः १६, मर्कटः १७, कालः १८, महाराष्ट्रः १९, वस्तु. २०, कठ २१, मयूर २२, वध, २३, अमरः २४, भिन्नमहाराष्ट्रः २५, बलभद्रः २६, गजा २७, बलित. २८, मोक्षः २९, मथानः ३०, बलि ३१, मेघ. ३२, सहस्राक्षः ३३, बालः ३३, दारिद्रः ३५, सरभः ३६, दमः ३७, सदंभः ३८, अक्षः ३९, बलिताकः ४०, तुरगः ४१, हरिणः ४२, अध ४३, तह—तथा, भृंग. ४४ । हे मुद्धि—मुग्धे, ता एतानि चतुश्चत्वारिंशदिति शेषः, बन्धुआ णाम—वस्तुक्नामान्येतानि वास्तु—ता समो सूर्यो गडो रघो विजयो दण्यो तालाको समरो सीहो सेसो उतेखो पडिव. * * * बोकापरनाम-काव्यच्छदस नामानीति यावत्, छदपचघो—छदःप्रबन्ध. छदसा प्रकृष्टो बंधो यस्मात् स तादृश इत्यर्थः पिंगलणाथो—पिंगलनाग जपह—जल्पति ॥

११५ अथ शक्रमादाय सख्यान्तर दोहावृत्तेनाह पचतालीसह इति । बन्धुआ छदे—वास्तुकच्छदसि वास्तुकापरनामि काव्यच्छदसीति यावत्, पचतालीसह—पचचत्वारिंशत् छद—छदासि भेदा इति यावत्, विअभ—विजृभते इति अद्वाकह—साक्षात्कृत्य, पिंगल कहइ—पिंगल कथयति, अत्र हरिहरब्रह्मणोऽपि न चलति, तेऽप्येनमन्यथा न कुर्वतीति भावः ॥

११६ अथ काव्ये वर्जनीयदोषानाह पञ्चह इति । पञ्चह असुद्धउ—पादैः अशुद्ध न्यून इत्यर्थः पगु इत्युच्यते, पादचतुष्टयमध्ये एकेनापि चरणेन हीनश्चेत्तदा पगुरित्यर्थः । यत्तु पदे अशुद्धः प्राकृतव्याकरणदुष्ट इत्यर्थ इति तन्न, तथा सति सस्त्रुतरचितकाव्यस्य दुष्टत्वात् । हीनः पूर्वोक्तेन केनापि गणेन हीनश्चेदित्यर्थः तदा स खोडउ—खजः पमणिज्जह प्रभण्यते । यत्तु मात्रया हीनइत्यर्थ इति तन्न, शून्यकलेत्यनेन पौनःपुन्यपते । मत्तगल—मात्रयाधिकः लक्षणोक्तमात्रापेक्षया एकया एकयापि मात्रया अधिक इत्यर्थः, बाउल—न्याकुलः । सुण्णकल—शून्यकल एकयापि मात्रया न्यून इत्यर्थः कण सुणिज्जह—काणः श्रूयते । तथा भलत्रज्जिअ—भकारलकाराभ्या वर्जित इत्यर्थः बहिर—अधिर । अलकारैः रहितः अव । छदउट्टवण त्रिणु—छदस यत् उट्टवनिता ता विनेत्यर्थ, उट्टवनिताया क्रियामाणाया यदि आग्रतपट्कलस्थाने सप्तकलः पचकलो वा पतति, एव मध्यस्थचतुष्कलेषु यदि कश्चित्पचकलस्त्रिकलो वा भवति, तृतीये च जगण-त्रिप्राभ्यामन्य एव गणः पततीत्यर्थः बूलउ—भूक कथित । अथ त्रिणु—अर्थेन विना, दुब्बल कहिअउ—दुब्बलः कथितः । हट्टक्खरहि—हटाक्षरैर्हटा-कृष्टैरक्षरैः परस्परमैत्रोरहितैरित्यर्थः (डेरउ)—डेरः केकरः होइ—भवति । गुण सज्जहि—सर्वगुणैः प्रसादप्रभृतिभिः रहितः काणा—काणः भवति । एते कञ्चह दोस—काव्यस्य दोषाः, स्ववगसुद्ध समरुअगुण—सर्वगशुद्धसमरूपगुणः

पलमा पदेदर—पलमं गुरुर्बद्धते तद् तद्—उषा उषा नाम बुधोद्—(ना)म
 गुरुप, संभुदि उठ—संभुना सद्धं भिगगवा—भिगगमं मक्षि—मक्षिना, संभु
 मारम्भ भिगगममममित्यर्थः, चै(चठ)अलीष—चतुधत्वारिंशत् भेदनिवि
 शेयः मुग्धोद्—अनीदि । अर्धमावा—पण्यतिलप्यात्मक एको गुरुर्बद्धते, एवं च
 शक्रः उषा तत्र च यदि सगुहयमूनीहय सप्तामाक एको गुरुर्बद्धते एवमेको
 गुरुमर्त्यवतिष्ठपवध यत्र पतति, संभु (संभु) नामा द्वितीये भेदः । एवमप्रेड
 पि शेष्मम् । ते तिलित्वा मद्रवति उषा ।

११३ गु १ ल १४ शम्भु, गु १ ल १२ सूर्यः, गु ३ ल ६ गंडा,
 गु ४ ल ८८ रक्षः गु ५ ल ८६ विजयः गु ६ ल ८४ रक्षा, गु ७ ल ८२
 तालाका, गु ८ ल ८ समरा गु ९ ल ७८ सिद्धा गु १ ल ७६ शीर्षः गु ११
 ल ७४ वसेवा गु १२ ल ७२ प्रतिपदा, गु १३ ल ७ परिवर्तः, गु १४ ल
 ६८ मराजः गु १५ ल ६६ मृगेन्द्रा, गु १६ ल ६४ दंडा गु १७ ल ६२
 मर्कट गु १८ ल ६ आका (१) गु १९ ल ५८ महाराष्ट्रः गु २ ल
 ५६ वज्रः गु २१ ल ५४ कंठः, गु २२ ल ५२ मयूरः गु २३ ल ५ वंशः,
 गु २४ ल ४८ भ्रमरा गु २५ ल ४६ मित्र (म्) महाराष्ट्रः ॥

११४ गु २६ ल ४४ वज्रमद्रा गु २७ ल ४२ एका गु २८ ल ४०
 बलिता गु २९ ल ३८ मेषा गु ३ ल ३६ मयाना गु ३१ ल ३४ बलिः
 गु ३२ ल ३२ मेवा, गु ३३ ल ३ वरसाधा गु ३४ ल २८ आका गु ३५
 ल २६ दग्धिः गु ३६ ल २४ सरमा गु ३७ ल २२ दमा गु ३८ ल २
 ठरमा गु ३९ ल १८ मद्रा गु ४ ल १६ पक्षिवाका, गु ४१ ल १४ द्वेरा,
 गु ४२ ल १२ इरिगा, गु ४३ ल १ रक्षा गु ४४ ल ८ भृगा । एवं
 पूर्वभेदवेद्यता सगुहयन्यूनक्रियता लक्ष्मणमात्राभेदगुरुबर्धनेन च शक्रमारम्भ
 भगपयन्त पञ्चत्वारिंशद्भेदो बोध्या ॥

अथ शक्रात् क्रममारम्भ आचारो भेदास्तृतीये विप्रदानपक्ष एव संभवति ।
 पञ्चममारम्भ एकत्वारिंशत्पर्यन्तं च तृतीये जगन्निदानपक्षेऽपि विप्रपक्षेऽपि संभवति ।
 द्विचत्वारिंशत्क्रममारम्भ पञ्चत्वारिंशत्पर्यन्तं च आचारो भेदास्तृतीये जगन्निदान
 लक्ष्म्यैव संभवति । विप्रपक्षे पञ्चगुह्ये मिलित्वा पौंडराक्षानां जगत्पक्षे
 पाण्डुराक्ष (लक्ष्म्या) मावर्तकत्वादिति बोध्यम् ॥

अथ प्राकृतसूत्रेण शृङ्गारिभृगावतां पूर्वोक्तचतुधत्वारिंशद्भेदानां नामाख्या
 ता संभे इति । शम्भु १ सूर्य २ गंडा ३ रक्षः ४ विजयः ५, रक्षा ६
 तालाका ७ समरा ८, सिद्धा ९ शीर्षः १ उषेवा ११ प्रतिपदा १२

परिधर्मः १३, मगलः १४, मृगेन्द्रः १५, वटः १६, मर्कटः १७, कालः १८, महाराष्ट्रः १९, वसतः २०, कठ २१, मयूरः २२, वधः, २३, अमरः २४, भिन्नमहाराष्ट्रः २५, बलभद्रः २६, राजा २७, बलितः २८, मोक्षः २९, मयानः ३०, बलिः ३१, मधः ३२, सहस्राक्षः ३३, बालः ३३, दरिद्रः ३५, सरभः ३६, वभः ३७, उद्भः ३८, अक्षः ३९, बलिताकः ४०, तुरगः ४१, हरिणः ४२, अथ ४३, तद्—तथा, भृगः ४४ । हे सुद्धि—सुग्धे, ता एतानि चतुश्चत्वारिंशदिति शेषः, बन्धुआ णाम—वस्तुकनामान्येतानि वास्तु—ता सभो सूर्यो गडो रघो विजयो दण्यो तालाको समरो सीहो सेसो उत्तरो पडिव... 'वोकापरनाम-काव्यच्छदसः नामानीति यावत्, छंदपत्रधो—छंदःप्रबन्ध, छंदसा प्रकृष्टो बंधो यस्मात् स तादृश इत्यर्थः, पिंगलणाओ—पिंगलनागः जपद्—जल्पति ॥

११५. अथ शक्रमादाय सख्यान्तर दोहावृत्तेनाह पचतालीसह इति । बन्धुआ छंदे—वास्तुकच्छदसि वास्तुकापरनामि काव्यच्छदमीति यावत्, पचतालीसह—पचत्वारिंशत् छंद—छंदसि भेदा इति यावत्, विअंभ—विजृम्भते इति अद्वाकद्—साक्षात्कृत्य, पिंगल कहद्—पिंगलः कथयति, अत्र हरिहरब्रह्मणोऽपि न चलति, तेऽप्येनमन्यथा न कुर्वतीति भावः ॥

११६. अथ काल्ये वर्जनीयदोषानाह पवद् इति । पथद् असुद्ध—पादेः अशुद्धः न्यून इत्यर्थः, पगुः इत्युच्यते, पादचतुष्टयमध्ये एकेनापि चरणेन हीनश्चेत्तदा पगुरित्यर्थः । यत्तु पदे अशुद्धः प्राकृतव्याकरणदुष्ट इत्यर्थ इति तन्न, तथा सति सस्मृतगचित्काव्यस्य दुष्टत्वात् । हीनः पूर्वोक्तेन केनापि गणेन हीनश्चेदित्यर्थः तदा स खोट—रजः पमणिज्जह प्रभण्यते । यत्तु मात्रया हीनइत्यर्थ इति तन्न, शून्यकलेत्यनेन पौनरुक्त्यापतेः । मत्तगल—मात्रयाधिकः लक्षणोक्तमात्रापेनया एकया एकयापि मात्रया अविक इत्यर्थः, बाटल—व्याकुलः । मुण्णकल—शून्यकल एकयापि मात्रया न्यून इत्यर्थः, कण्ण मुणिज्जह—काणः श्रूयते । तथा कलत्रजिअ—भुक्कारलकाराभ्या वर्जित इत्यर्थः बहिर—बधिरः । अलकारैः रहितः अथ । छंदउट्टरण त्रिणु—छंदस यत् उट्टवनिता ता विनेत्यर्थः, उट्टवनिकायां क्रियमाणया यदि आन्यतपट्कलस्थाने सप्तकलः पचकलो वा पतति, एव गण्यस्थचतुष्कलेषु यदि कश्चित्पचकलत्रिकलो वा भवति, तृतीये च जगण-मिप्राभ्यामन्य एव गण्यततीत्यर्थः बूलठ—मूकः कथितः । अथ त्रिणु—अर्थेन मिना, दुब्बल कहिअउ—दुर्बलः कथितः । हट्टकरहि—हटाक्षरैर्हटा-कृष्टैरक्षरैः परस्परमैत्रोरहितैरित्यर्थः. (डेरउ)—डेरः फेफरः होद्—भवति । गुण सचहि—सर्वगुणैः प्रसादप्रभृतिभिः रहितः काणा—काणः भवति । एते कन्द् दोस—काव्यस्य दोषाः, सच्चगसुद्ध समरुअगुण—सर्वगुणसुद्धसमरूपगुणः

तद्योगे शुद्धः, समो रूपगुणौ परस्व स समरूपगुणः, सद्यगशुद्धभासो समरूप-
गुणस्य तादृशेन विगमेन कथिताः । अत्र हिम इत्यसुरद्रवमेकं शेषं 'कस्ये वि-
दुरिच्छपदिभो' इत्युक्ते अम्यबा माप्राधिक्यापति ॥

११७ अथ यशस्तमुभेदेन काम्यस्य चातिमेदकचरणस्य चरणचतुष्टयमुदितं
च मात्रा कपपन् भूयोऽपि मेदकस्यामगुबदन् तस्मात्तागुदसंख्यामुपशित्वा काम्येष्टा-
काम्या पश्यन् इदं भवति तस्य वैकल्यतिमेषा भवतीति कटपेनैव हि विधेयं ।
विष्णु—विधे विप्रवातीये काम्ये वसीत—द्रविरित् लङ्—लपय शेर—मर्दि,
स्तति—वृत्रिये वृत्रियवातीये काम्य केमाल—द्विचत्वारिंशत् लपय करिष्म-
क्रिपता, येत—वैरय अत्रालित—अत्रचत्वारिंशत् लपयः क्रिपतामिति पूर्वै-
वात्ययः सेत—शेषा उर्वरिता इति वाक् लपयः मुदिति (ठ)—शुद्धवातीये
काम्ये सताहिम्बसु—रक्षाप्यता पञ्च—पाद एकेकचरण इत्यर्थः काम्यस्येति मा-
चठम्बमाल—चतुरधिकः वीत—विशति चरणचतुष्टये च इति शेषः, द्वावस्-
पन्नवति मत्त—मात्रा ठविद्वयसु—स्वाप्यता, काम्यकस्तनहि (ह)—काम्यकस्तन-
पञ्चवासीसह गाम—पञ्चचत्वारिंशन्नामानि पूर्वोक्तानि शम्भरीनि मृगाशनीति
भावः करिष्मसु—क्रिपता, तस्मात्तहि—तस्म्यते लुक्वित्—पद्विरिति गुरु-
बानीतीति शेषा विधि पाञ्च—द्वयोः पादान् काम्येष्टास्तयोश्चरवान् एवम्—
एकीकृत्य समस्त—उमा वर्णा काम्येष्टास्तमालाः चण गुणस्तमुभयोः यस्मिन्
तादृशमित्यर्थः चरितसमस्तोक्तगुण—तद्वत्तत्त्वोपगुणं चरिताः काम्यसमनाः सर्वे
शेषा गुणश्च यस्य तच्छादयमित्यर्थः कृप्यम्—पदपदं इदं मुक्तु—बानीत तस्य
वेति शेषः एहचरि नाम—एकवसतिनामानि परिमुक्तु—परिबानीतेति शेषः ।
एहचरित्येकरो लपुर्वोध्यः । अवमर्थ—काम्यचरणचतुष्टयस्य चतुरक्षरचत्वारिंशत्
गुणस्तुतीयमगुणज्ञानपक्षे चादौ लपयः तस्मात्ताचरणद्वयस्थायं पदविशतिगुण-
पादद्वयचरणचतुष्टयवर्गताश्च अन्तारे लप (व) एवं मिलित्वा सप्त-
गुणो द्वावश्च लपयश्च कटपे पतति तत्र वैदिकगुणद्वयेन काम्ये तत्तमानं
संख्याकस्तमुप्रसङ्गत्वा एव सप्ततिमेषा भवति । तस्मिन् भेदानुपपन्नेन प्रपञ्चयिष्याम
इति मुनीभिर्वैयम् ॥

११८ अथ वदपदोपेक्षतेनोद्भासं लक्षयति विधिं दूरगमेति । प्रथमं तिष्ठि-
(—त्रया) दूरगमाश्चतुष्पञ्चा गणा, तद्—तत्, तिष्ठत—तिष्ठतः गणः, तदि-
धत्त—तस्य तिष्ठतस्यति द्वाव चठ तिष्ठतद् अतस्तः तिस्ता मात्रा इति शेषः
प्रत्येकं योजनीयः यम—एवं विदु वल कृप्यश्च मत्त—द्विचत्वारिंशत्पादमात्राकं
इतीदं लक्ष्येर्मिलित्वा चतुर्विंशत्पादमात्रा यस्य तच्छादयमित्यर्थः—तस्मात्—तस्मात्
तस्मात्तनामकं इति, तद्वत्तु—तद्वत्तु तद्वत्तु तद्वत्तु तद्वत्तु तद्वत्तु वाक् । अथवा

पट्पचाशन्मात्राकमुल्लाल त्रिहु दल—द्वयोर्दलयोरुद्वयत, एम--(ए) वं
दलद्वयेऽपि गणान् विभजत । इदमत्राववेयम् । त्रिचतुष्कलानां पट् गुरवस्तदनतर-
पतितस्य त्रिकलस्य च एको गुरुस्तदनतरपतितस्य पट्कलस्य च त्रयो गुरवस्तद-
नतरपतितस्य चतुष्कलस्य च गुरुद्वय तदनतरपतितस्य त्रिकलस्य चैको गुरुरेवं
प्रतिचरणं त्रयोदशगुरवो लघुद्वय चैवमष्टाविंशतिर्मात्रा एके दले पतति, दलद्वये
च मिलित्वा पट्विंशतिर्मात्रा एके दले पतति, दलद्वये च मिलित्वा पट्-
विंशतिर्गुरवश्चत्वारश्च लघवः एवं पट्पचाशन्मात्राः पतति । एव च काव्यव-
दुल्लालेऽपि सर्वे वर्णा गुरुरूपा न संभवति । तथा हि यटि त्रिकलो गुर्वादित्स-
दतो वा दीयते, तदा एकैकपादे त्रिकलद्वयातर्गतं लघुद्वयमावश्यक, द्वयोर्दलयोश्च
लघुचतुष्टय, यटि च त्रिकलस्य मात्रात्रयमपि लघुरुपमेव क्रियते, तदा तु त्रिकल
द्वयस्य पट् लघु (व) एकैकचरणे, द्वयोर्दलयोश्च द्वादश लघवः आवश्यका
इति कथमपि उल्लाले सर्वे वर्णा गुरुरूपा न संभवत्येव, त्रिकलानामपि सर्वलघु-
रूपाणां संभवादत् एव क्वचित्सर्वगुर्वात्मकवर्णसमय (?) मुदाहरणमपि दृश्यते
तल्लेखकप्रमादात्पतितमिति बोध्यम् । अत्राप्येकैकगुरुहासेन क्रमेण लघुद्वयवृद्ध्या
सर्वलघ्वन्ताः सप्तविंशतिर्भेदा संभवति, ते च ग्रथकृता न प्रदर्शिताः,
अप्रदर्शिता अपि स्वयमूहनीयाः, मया तु ग्रथविस्तरभयान्न प्रदर्शिता इति
सुधीभिर्विभावनीयम् ॥

११६. अथ काव्योल्लालयोः सर्वगुर्वात्मककाव्यभेदमुदाहरति जाआ जा
अद्वं गेति । जा अद्व ग—यदद्वं गे जाआ—जाया पार्वतीति यावत् शोभते इति
शेषः अप्रेऽपि योजनीयः, सीस—शीर्षे सव्वासा पूरति—सर्वाशाः पूरयती
सम्बुद्धिं तोलंती—सर्वबुद्धिः तानि त्रोटयती एतादृशी गगा लोलता—लोलाय-
माना । अत्र गगाविशेषणद्वयं पार्वत्या अपि योजनीयम् । यश्च गाआ राआ
हार—नागराजहार. नागराजस्य वासुकेर्हारी यस्य तादृश इत्यर्थः यश्च दीसवासा
वासता—दिग्वासो वसान । जा सग—यत्सगे णट्टा णासता—नष्टदुष्टान् नाशयत्,
अत्र नष्टशब्दो धूर्त्वाची, तथाच धूर्त्वा ये दुष्टा वैरिणस्तान् नाशयत् इत्यर्थः,
उल्लुक्त्रे—उत्सवे काता—यथा स्यात्तथा णाचता—नृत्यत., ताले भूमी कंपले—
तालकंपितभूमय, अथवा येषां तालेन भूमि कपिता, तादृशा वेआला—वेताला-
स्तिष्ठतीति शेष । जा दिट्ठे—यस्मिन्दृष्टे मोक्खा पाविज्जे—मोक्षं प्राप्यते, सो
तुम्हाण—स युष्मभ्य सुक्ख दो—सुखं ददातु । अत्र जाआ जा अद्वं गेत्यारभ्य
णट्ट उट्टा णामता एतावत्पर्यंतं पादचतुष्टयं काव्यस्योदाहरणमेतदग्रे च चरणद्वयमुल्ला-
स्येति बोध्यम् ॥

१२०. अथ पट् (पद) भेदानयनप्रकारमाह चउआलिसेति । चउआलिस

सर्वाणि शुद्धाः, समौ रूपगुणौ यस्य सः समरूपगुणः, सर्वाणिशुद्धास्तौ समरूप-
गुणश्च तादृशेन विंगतेन कथिताः । यत्र हिम इत्यक्षरद्वयमेकं बोध्यं 'कस्ये वि
तुरिक्षपदिभ्यो' इत्युक्तेः अन्वया माणाधिक्यापत्तिः ॥

११७ अथ कर्णलघुमेदेन कस्यस्व क्यतिमेदेकचरणत्वा चरणस्तुप्रयसमुदितौ
च माणा कथयन् भूयोऽपि मेदतं क्यामनुवन् सङ्गतास्तुप्रयसङ्गामुपदिशन् कस्येष्टा
लाम्बा क्त्वा वृत्तं भवति तस्य चैक्यततिर्भेदा भवन्तीति पटपदेनैवाह विद्येते ।
विप्य—विप्ये विप्यवातीये कस्ये कवीस—वृत्तिरात् लघु—लघवः शेष—भवति,
कति—कतिपये कतिप्यवातीये कस्य येक्यस—विप्यत्वारिणत् लघवः करिष्यसु—
क्रियतां, केस—कैस्य अन्वयान्तिष्ठ—अन्वयत्वारिणत् लघवः क्रियतामिति पूर्वस्यै
वान्वयः, सेस—शेषा उचरिता इति यावत् लघवः सुदृहि (ठ)—शुद्धवातीये
कस्ये क्तद्विष्यसु—रक्षाप्यतां पञ्च—पाद एकैकचरण इत्यर्थः कस्यस्वेति माणा
चठअगता—चतुरधिष्ठाः बीस—विंशतिः चरणस्तुप्रये च इति शेषः, लाबवर-
पञ्चवति मत्त—माणा ठविष्यसु—रक्षाप्यतां, कस्यस्तत्तद्वि (इ)—अस्मत्तत्तसे
पञ्चवातीन्तिष्ठ नाम—पञ्चकत्वारिणस्यामानि पूर्वोक्तानि शब्दादीनि संग्रहणीति
माणा करिष्यसु—क्रियतां उद्विष्यसु—उद्विष्यते लघुविष—पञ्चविंशतिं गुणन्
कनीहीति शेषः किञ्चि पाञ्च—द्वयोः पादान् कस्योक्तास्तयोश्चरणान् एकत्र—
एकैकत्रय समकस्य—उमा कर्णः कस्योक्तास्तमानाः कस्य गुणस्तुप्रया यस्मिन्
चद्विष्यमित्यर्थः चरित्तम्बोत्तगुण—उद्विष्यत्तम्बोत्तगुणं उद्विष्यः कस्यस्तमानाः तर्गे
दोषा गुणश्च कस्य उद्विष्यमित्यर्थः लघ्वम्—पदस्य वृत्तं सुवद्—कनीत तस्य
चेति शेषः एद्विष्यि नाम—एद्विष्यतिनामानि परिमुच्य—परिबानीतेति बोद्धा ।
एद्विष्येति शेषः लघुर्लघ्वः । अन्वयार्थः—कस्यचरणस्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रय-
गुणस्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रय-
पादद्वयसङ्गतिरूपस्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रय-
गुणस्येवाह तादृश लघवश्च पदपदे पतति तत्र चैकैकगुणद्वयेन कस्येष्ट तत्तमानं
सङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रयसङ्गतास्तुप्रय-
इति लघुभिर्लघ्वम् ॥

११८ अथ पदपदोद्विष्येति लघुपति निम्नं नुरगमेति । प्रथमं निम्नं
(—नय) नुरगमाश्चतुष्पत्ता गणाः, तद—तदा, विमल—विकलः गणः, तर्गे
अत—तस्य विकलस्यति लघु चतु विमलश्चतसः विमलः माणा इति शेषः
प्रायेऽं याकनीयाः एव—एवं विदु रक्त लघ्वश्च मत्त—विदु रक्तपदं चाष्टगमायां
इत्येकस्योर्मिलितश्च पदपदार्थमाणा कस्य उद्विष्यमित्यर्थः—उद्विष्य—उद्विष्यते
उद्विष्यतामकं लघु, उद्विष्य—उद्विष्यत उद्विष्यतिनामिदं लघुवति वाक् । अथ

१२४ अथेतेषां प्रकारातरेण सख्यामाह जत्ते इति । यावत्. सध्वं लघवो भवति अर्द्धं विसृज्यता तन्मध्ये । तत्रापि विसृज्य एकं शर पचक, शर इति पच सज्ञा, एतत्प्रमाणेन नामानि विद्धीति शेषः । 'अयमर्थः, द्विपचाशदुत्तर शत लघनः अतिमभेदे ये, तन्मध्ये अर्द्धत्यागे षट्सप्ततिरवशिष्यते, तत्र पचत्यागे एकसप्ततिर-वशिष्यते, तत्प्रमाणेन एकसप्ततिप्रमाणानि नामानि भवतीत्यर्थः ॥

अथैते भेदाः स्वरूपतो लिखित्वा प्रदर्शयते । गु ७०, लघु १२ अजयः, गु ६६ लघु १४ विजयः, गु ६८ ल १६ वलि, गु ६७ ल १८ कर्णः, गु ६६ ल २० वीरः, गु ६५ ल २२ वेतालः, गु ६४ ल २४ वृहन्नटः, गु ६३ ल २६ मकटः, गु ६२ ल २८ हरिः, गु ६१ ल ३० हरः, गु ६० ल ३२ ब्रह्मा, गु ५९ ल ३४ इन्द्र, गु ५८ ल ४२ सिंहः, गु ५४ ल ४४ शार्दूलः, गु ५३ ल ४६ कूर्मः, गु ५२ ल ४८ कोकिलः, गु ५१ ल ५० रारः, गु ५० ल ५२ कुजरः, गु ४९ ल ५४ मदन, गु ४८ ल ५६ मत्स्यः, गु ४७ ल ५८ ताडकः, गु ४६ ल ६० शेषः, गु ४५ ल ६२ सारंगः, गु ४४ ल ६४ पयोधरः, गु ४३ ल ६६ कुदः, गु ४२ ल ६८ कमल, गु ४१ ल ७० वारणः, गु ४० ल ७२ शरभः, गु ३९ ल ७४ भसलः, गु ३८ ल ७६ जागलः, गु ३७ ल ७८ शर, गु ३६ ल ८० सुसरः, गु ३५ ल ८२ समर, गु ३४ ल ८४ सारसः, गु ३३ ल ८६ सरसः, गु ३२ ल ८८ मेरुः, गु ३१ ल ९० मकरः, गु ३० ल ९२ मदाः, गु २९ ल ९४ सिद्धिः, गु २८ ल ९६ बुद्धिः, गु २७ ल ९८ करतल, गु २६ ल १०० कक्कलाकरः, गु (२५ ल) १०२ घवलः, गु २४ ल १०४ मदनः, गु २३ ल १०६ ध्रुवः, गु २२ ल १०८ कव (न) क, गु २१ ल ११० कृष्ण, गु २० ल ११२ रजनः, गु १९ ल ११४ भेधाकरः, गु १८ ल ११६ ग्रीष्मः, गु १७ ल ११८ गरुडः, गु १६ ल १२० शशी, गु १५ ल १२२ शूरः, गु १४ ल १२४ शल्य, गु १३ ल १२६ नवरग. (गु १२ ल) १२८ मनोहरः, गु ११ ल १३० गगन, गु १० ल १३२ रत्न, गु ९ ल १३४ नरः, गु ८ ल १३६ हीरः, गु ७ ल १३८ भ्रमरः, गु ६ ल १४० शेखरः, गु ५ ल १४२ कुसुमाकरः, गु ४ ल १४४ द्विप, गु ३ ल १४५ शख, गु २ ल १४८ वसुः, गु १ ल १५० शब्द, ल १५२ मुनि. ॥

१२५ अथ पञ्चमिकावृत्तं लक्षयति चउमचेति । अतः—अते, पओहर—पयोधर मध्यगुह जगणमिति यावत् ठइ—स्थापयित्वा, अतस्थ चतुर्मात्रिक जगणस्वरूपमेव विधायेयर्थं, पाइ पाइ—पादे पादे प्रतिचरणमिति यावत् चारि ठइ—चतुःसख्यान् चउमत्त—चतुर्मात्रिकान् गणान् करहि—कुरुष्व । एम—एव, चारि पाव—चतुःपादे चउसठिठ मत्त—चतुःषष्ठिमात्राक पञ्चमिकावृत्तः

गुरु कम्पने—(चतु) चत्वारिंशद्गुरु कम्पस्य, छहवीसह—पञ्चविंशतिगुरु
 दस्यनुपंग, उरुलाल—उरुलालस्य । धं गुरु दुहह—या गुरुस्तुयति लदु मर—
 लपुर्बर्धते अत एहचरि—एकसप्तति फभार—(प्रसार) मेहेपय मभर्तति
 रोपा । भावस्तु पूर्वमेवोक्ता ।

१२१ अथैनमेवाय प्रचार्यतेरेणाह, अवय इति । गुरुसचरि—गुरु कस्तपि,
 रवि रेह—रविरेला रविसंख्याक रेला ह्यदय लभय इति भावः,
 एव क्पासो (केवली) अस्तपहि—इषलीखचरे भवय—अवयमा
 पदपदस्य प्रथमो मे इत्यर्थः । तत्र गुरु वरह—एकैकगुहर्हसति, इवह
 लहृमा रोह (ह)—हो हो लपुको गहो कर्त्तनीभाषिति फभर ।
 एव सति एककस्तर कट—एकैकमस्तर वर्धते । " कम्पमर्ष । तृतीय-
 कम्पस्य कम्पस्य (चतु) चत्वारिंशद्गुरु कम्पस्य उरुलालस्य पञ्च-
 विंशतिगुरुकम्पस्य लभय एकमुमयोर्मित्वा अस्ततिगुरुको ह्यदय लभयो न प्रसति
 स कम्पया, तत्र क यदि एकैको गुरुहसति तत्तमानसंख्याकम्पगतं च लपुहर्ष
 कर्त्तते, एव क पूर्वपूर्वमेवापेक्षकोत्तर (रोत्तर) मेह एकैकमस्तर कर्त्तते तत्र ते ते
 मेवा भवति । एतस्यैव प्रसारस्य शास्त्रमसीप्रसारसंख्य ।

१२२ अथैकस्ततिमेशाना नामान्याह अवय इत्यादिना । अवयः १ विष्वा
 २ बलिः ३ कम्प ४ वीर ५ वेलाका ६ बृहन्नरा ७ मर्कट ८ हरि ९,
 हरा १, मत्ता ११, इण्ड १२, चर्वन १३, सुशुम्भक १४ रवा १५, तिरा
 १६ शालुका १७, कुमी १८, कोकिळ १९, लप २ कुम्भरा २१, मदन २२
 मत्स्य २३ लार्क २४, रोपा २५, छारंगा २६ फ्योचर २७ कुम्भ २८
 कम्पल २९, वारका ३ शरमा ३१ भवलो—भमरा मास्वरय ३२ बांसा
 ३३ हरा ३४ सुगरा ३५, छमर ३६ लारवा ३७ लरवा ३८, इम—इति
 कम्पय नाम—उपदनामानि ऋषि—सापक्षिणा लोहह—लम्कंठ इति विंगता
 कर्हह—विंगता कथयति ॥

१२३ मेवा ३८, मकरा ४ मवा ४१ विडि ४२ बुद्धि ४३ कर्कल
 ४४ कम्पलाकर ४५, चवला ४६ मदन ४७ मुवा ४८, वन ४९ कम्प
 ५० रचना ५१ मेवाकर ५२ ग्रीष्मा ५३ शकटा ५४ राटी ५५ शरा ५६
 शस्य ५७ नवरंगा ५८ मनोहर ५९ गगन ६ रत्न ६१ नरा ६२ हीरा
 ६३, भमरा ६४ सेलरा ६५ कुमुमाकर ६६, त्रिपा ६७ रत्ना ६८, वन
 ६९, शम्भ ७, मुनि ७१ इति एहचरिहि—एकप्यसति परदनामानि
 सुंदभर—सुंदभारका फभरि—प्रक्षार्य लोहह—कम्पते, इति विंगता कर्हह—
 कथयति ॥

१२४ अथैतेषां प्रकारातरेण सख्यामाह जत्ते इति । यावत् सद्य लघवो भवति अर्द्धे विसृज्यता तन्मध्ये । तत्रापि विसृज्य एक शर पचक, शर इति पच सज्ञा, एतत्प्रमाणेन नामानि विद्धीति शेषः । अयमर्थः, द्विपचाशदुत्तर शत लघवः अतिममेष्टे ये, तन्मध्ये अर्द्धत्यागे पट्युत्ततिरवशिष्यते, तत्र पचत्यागे एकसत्तिर- वशिष्यते, तत्प्रमाणेन एकसत्तिप्रमाणानि नामानि भवतीत्यर्थः ॥

अथैते भेदाः स्वरूपतो लिखित्वा प्रदर्श्यते । गुरु ७०, लघु १२ अजयः, गुरु ६६ लघु १४ विजयः, गु ६८ ल १६ वलिः, गु ६७ ल १८ कर्णः, गु ६६ ल २० वीरः, गु ६५ ल २२ वेतालः, गु ६४ ल २४ वृश्नन्टः, गु ६३ ल २६ मर्कटः, गु ६२ ल २८ हरिः, गु ६१ ल ३० हरः, गु ६० ल ३२ ब्रह्मा, गु ५९ ल ३४ इन्दुः, गु ५८ ल ४२ सिंहः, गु ५४ ल ४४ शार्दूलः, गु ५३ ल ४६ कूर्मः, गु ५२ ल ४८ कोकिलः, गु ५१ ल ५० खरः, गु ५० ल ५२ कुजरः, गु ४९ ल ५४ मदनः, गु ४८ ल ५६ मत्स्यः, गु ४७ ल ५८ ताडकः, गु ४६ ल ६० शेषः, गु ४५ ल ६२ सारगः, गु ४४ ल ६४ पयोधरः, गु ४३ ल ६६ कुदः, गु ४२ ल ६८ कमलः, गु ४१ ल ७० चारणः, गु ४० ल ७२ शरभः, गु ३९ ल ७४ मसलः, गु ३८ ल ७६ जागलः, गु ३७ ल ७८ शरः, गु ३६ ल ८० सुमरः, गु ३५ ल ८२ समरः, गु ३४ ल ८४ सारसः, गु ३३ ल ८६ सरसः, गु ३२ ल ८८ मेरुः, गु ३१ ल ९० मकरः, गु ३० ल ९२ मदाः, गु २९ ल ९४ सिद्धिः, गु २८ ल ९६ बुद्धिः, गु २७ ल ९८ करतलः, गु २६ ल १०० कक्लाकरः, गु (२५ ल) १०२ धवलः, गु २४ ल १०४ मदनः, गु २३ ल १०६ ध्रुवः, गु २२ ल १०८ कव (न) क, गु २१ ल ११० कृष्णः, गु २० ल ११२ रत्ननः, गु १९ ल ११४ मेधाकरः, गु १८ ल ११६ ग्रीष्मः, गु १७ ल ११८ गरुडः, गु १६ ल १२० शशी, गु १५ ल १२२ शरः, गु १४ ल १२४ शल्यः, गु १३ ल १२६ नवरगः (गु १२ ल) १२८ मनोहरः, गु ११ ल १३० गगनः, गु १० ल १३२ रत्न, गु ९ ल १३४ नरः, गु ८ ल १३६ हीरः, गु ७ ल १३८ भ्रमरः, गु ६ ल १४० शेखरः, गु ५ ल १४२ कुसुमाकरः, गु ४ ल १४४ द्विप, गु ३ ल १४५ शख, गु २ ल १४८ वसुः, गु १ ल १५० शब्द, ल १५२ मुनिः ॥

१२५ अथ पञ्चमिकावृत्तं लक्ष्यति चउमत्तेति । अत—अते, पओहर—पयोधरं मध्यगुरु जगणमिति यावत् ठइ—स्थापयित्वा, अतस्थ चतुर्मात्रिक जगणस्वरूपमेव विधायेयर्थः, पाइ पाइ—पादे पादे प्रतिचरणमिति यावत् चारि ठइ—चतुःसख्यान् चउमत्त—चतुर्मात्रिकान् गणान् करहि—कुरुष्व । एम—एव, चारि पाअ—चतुःपादे चउसठिठ मत्त—चतुःषष्ठिमात्राक पञ्चमिका,

सुद—पञ्चमटिकायां भवति, एतत् अस्तेति शेषः इदुः पञ्चमटिका—यस्यति ।
प्रथमं त्रयमष्टमशतादन्तरमेवेति वक्तव्यं एवं षोडशमात्राः प्रतिचरन् यत्र पठति,
उत्पन्नमटिकावृत्तिमिति पक्षितार्यः ।

१२६ अथ (५) अष्टमटिकापुदाहरति चे इति । येन पराक्रमेण गोसायिनः
गोदाधिपतिः राठ—राज्य गच्छति—गच्छति, एत इति भावः, कसु भद्र—यत्र
पराक्रमस्य मयेन उद्देह—समस्तस्य उद्देह—उत्पन्नदेशाधिपतिः पलाय—
पलायिता । येन च बुद्धि—बुद्धे इदं सर्वत्र चेति, गुर्विक्रम—गुर्विक्रमा
गुर्वस्मैरनतिक्रमणीयः विक्रमः पराक्रमो यत्र स सादृश इत्यर्थः, विक्रम—
विक्रमः विक्रमनामा कश्चित् प्रसिद्धः राजा विविध—विता तावत् पराक्रम—
उत्पन्नपराक्रमं कोऽपि बुद्धि—जानाति, अपि तु न को पीतवर्षः ॥

१२७ अथ अलिस्तहृष्टं कथयति खेत्तह मत्तेति । अत्र खेत्तह मत्त—
षोडशमात्रिका षोडश मात्रा यस्यां सा तादृशीत्यर्थः पाठमस्ति—पञ्चमटी,
साह—सम्पत्ते चेति—इत्येति शेषः, यमस्का—य (५) मत्ते मत्त—मत्त
इति, अलिस्तहृ कथयत्यर्थः । किंपि कुशापि चरये इत्यर्थः, अलीहलह (१)
अप्रयोजक—इत्यर्थः । अथ च ऐशीरम्भः । पञ्चहर—पञ्चहर मन्त्रगुर्वस्मैरपि
इति अत्र एव हो—न भवति अत्र अनास्ते न देव इति भावः, अथै पठति
सुविभ—सुविभः हिलमुर्गेण इत्यर्थः पठतीति शेषः । क्रियमानासु षोडशमात्रासु
अविम (मा) जाइयं यत्र लघुस्ममेव पठति, न तु षोडशमात्राधिरिका सुविभे
देव इति भावः, एत अलिस्तहृ खेत्तु—अलिस्तहृनामकं खेत्तु मन्त्र—
कथय इत्यर्थः ॥

१२८ अथ अलिस्तहपुराहति विहि इति । विहि—येन आकाशनिनामके
वेद्यः विह्वल—यत्र सुविभ—सुविभः, वैरिक्ताल्लहनामावाद्माकुलजनमिति
भावः, जाइर रक्ता—जाइरराज्य जाइर पर्वतनिचोपलास्य राज्याधिकार्यः लिह्वल—
एति । आशिकरे येन कीर्तिः स्थापिता यत्र अश्वभि—यत्र अश्वभि इत्यर्थः
पञ्चमटिकायां यमके—यमके अश्वभि—अपितम् । अत्र लिह्वल लिह्वल, यमके
अपि अति दलद्वये यमकत्वं लुप्तमेव । अत्र विहीति संयुक्तपठे, ये अत्र
लघुवर्षाः 'अथै संयुक्तपठे यमो लघु हो' इति पूर्वमुक्तवत् । यमके इति
एकरोऽपि लघुवर्षा येनैव शु (यु) काम यम भित्तिभ्य येति पूर्वमुक्तवत् ।
अथवा तत्र चरने मापाधिस्यं स्पष्टमिति बोध्यम् ॥

१२९ अथ पाण्डुल्लहं तुल लघयति लघु गुह एवमिति (५)—येति ।
येदायत्र साह गुह एवमिति (५) अ—साह गुहैकनियमा अति—नामि अत्र

पोडशापि मात्रा अष्टगुरुरूपेणैव पतति, अथवा पोडशलघुरूपेणैव पततीति नियमो नास्तीत्यर्थः, किंतु पथ पथ—पादे पादे प्रतिचरणमिति यावत् उत्तम रेश—उत्तमा रेखा मात्रा लघुगुर्वतरिता इति भावः लेक्खिए—लिख्यते स्याप्यते इत्यर्थः । सुक्कविफणीद्रक्कचलय (मि)ति पिंगलकठाभरणतुल्यमित्यर्थः, कठाभरण यथा सस्नेह कठे स्याप्यते, तथैदमपि सस्नेह पिंगलेन कठे धृतमित्यर्थः, सोलहमत्त—पोडशमात्राकं, प्रतिचरणं पोडश मात्रा यम्मिस्तत्तादृशमित्यर्थः, पादाकुलकनामक वृत्तं भवतीति शेषः । पादे मात्राः लिख्यते इत्युक्तं, तत्र कियत्यो मात्रा इत्यपेक्षायां 'पोडशमात्राकमिति हेतुगर्भे विशेषणम् ॥

१३०. अथ पादाकुलमुदाहरति सेर एककेति । सेर एकक जौ (जउ) पायउ धित्ता—सेरकैक यदि प्राप्नुया (द्) घृत, मडा बीस पकायउ गित्ता—तदा विंशति मडकान् पचामि नित्य । तत्र च जइ—यदि टकु एकक सेधउ पाआ—टक एक सेधव प्राप्त, तदा जो हउ रक सोइ हउ राआ—योऽह रकः स एव अह राजा ॥

१३१ चौ (चउ)त्रोलां लक्षयति सोलह मत्तेति । सोलह मत्तह—पोडशमात्राभि वेत्ति—द्वावि द्वितीयचतुर्थयोरे उपादानात्प्रथमतृतीयावित्यर्थः चरणाविति शेषः (पमाणह) प्रमाणयत, बीअ चउरयह—द्वितीयचतुर्थयोश्चरणयोः चारिदहा—चतुर्दश मात्रा इति शेषः प्रमाणयतेति पूर्वणाच्चय, मत्तह सट्ठि—पष्टिमात्राः समगल जाणह—समग्रा जानीत, चारि पआ—चतुष्पाद चौ (चउ)त्रोल कहा—चौत्रोल कथय ॥ तत्र प्रथमचरणे पोडश, द्वितीये चतुर्दश, तृतीयेऽपि पोडश, चतुर्थे च चतुर्दश मात्राः पतति, ततः चौत्रोलानामक वृत्तमिति फलितार्थः ॥

१३२. अथ चौत्रोलामुदाहरति रे धणीति । रे धणि—धन्ये, मत्त मत्तगज गामिणि—मत्तमतगजगमने खजनलोचने चद्रमुखि चचल गच्छुद्यौवन ण जाणहि—न जा (ना)सि, अतः तत् छुइल्लम्यः विदग्धेभ्यः काइ णही—कुतो न समप्पहि—समर्पयसि । अथवा यतः चचल अतएव गच्छुद्यौवन छुइल्लेभ्यो न समर्पयसि, अतः त्व काइ णही—किमपि न जानासि, यदि तु समर्पयसि तदा अभिज्ञा भवसीति भावः ॥

१३३ अथ रड्डा लक्षयति पदमेति । मो शिष्या पदम—प्रथमचरण इत्यर्थः दहपच मत्त—पचदशसु मात्रासु चिरमह—विरमति विराम समाप्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः, प्रथमचरणे पचदश मात्रा. कर्त्तव्या इति भावः । बीअ—द्वितीये पथ—पदे बारह—द्वादश मात्रा इति शेषः, सर्वत्र यथा यथा योजनीयः, उवहु—स्थापयत । तीअ ठाद—तृतीये स्थाने तृतीयचरणे इत्यर्थः दहपच मात्राः

सु०—पञ्चमस्तुत्यां गच्छति एतत् अनेति रोषा इति पञ्चमस्तुत्यां—प्रसूति प्र
प्रथमं नवमस्तुत्यां नंतरमेघेयगम एषं पौष्ट्य मात्राः प्रतिचरणं न पति,
तत्पञ्चमस्तुत्यां चमिति पलितार्थः ।

१९६ अथ (प) श्रमतिष्ठामुवाहरति चे इति । येन पराक्रमेण गोहासिपर-
गोहासिपतिः सृष्ट—रात्रा गन्धिभ—गन्धिभ, इव इति माकल्, अमु मन्त्र—मन्त्र
पराक्रमस्व मयन सहेड—समरानुसर्पः ओड—उत्पलदेशाधिपति पलाड—
पलायित । येन च शुभ्र—मुहे इर सर्वत्र वेदि, शुक्लिकम्—गुरुशिकम्
गुरुस्त्वैरनतिष्ठमन्त्रीमा विष्णुमा पराक्रमो यस्य स तादृश इत्यर्थः, विष्णु—
विष्णुमा विष्णुनामा कश्चित् प्रसिद्धः रात्रा विधिम्—विष्णु तादृश पराक्रम—
सत्कर्मैराक्रमं कोऽपि शुभ्र—मानाति, अपि तु न को पीत्यर्थः ॥

१२० अथ अक्षित्वाहृत् कञ्चति सोलह मचेति । अथा, सोलह मञ्—
 षोडशमात्रिकाः षोडश मात्रा यस्यां सा तादृशीत्यर्थः पाठभक्ति—पाराज्जो-
 लह—लाम्यते, वेति—होयेति शेषः समस्का—न (य) मञ्चो मञ्—मञ्च-
 इति, अक्षित्वाहृत् कञ्चत्यर्थः । किंपि कुत्रापि चरत्ये इत्यर्थः, अलीहलह (?)
 अमयोजक—इत्यर्थः । अन्धं च देशीशब्दः । पञ्चोहर—पञ्चोहरः मधगुर्वन्त्य-
 इति अक्षत् एव हो—न भवति अत्र अक्षत् न देव इति मानः, अत एव इति
 सुपिच—सुप्रिया द्वित्युर्गन्त्य इत्यर्थः पञ्चतीति शेषः । निष्पन्नास्तु षोडशमात्रास्तु
 अतिम (मा) वाह्यं यत्र कञ्चकममेव पठति न तु षोडशमात्राविरहितः सुप्रियो
 देव इति मया, तर्हि अक्षित्वाहृत् कञ्च—अक्षित्वाहृत्नामकं कञ्चः मञ्—
 कञ्च इत्यर्थः ॥

१२८. अथ अस्तिस्वाहमुदाहरति मिहि इति । मिहि—येन अस्वाधरिनामधे
 देव्या, दिव्यद—दत्ता, सुतिवर—सुतिवर, वैरिहृत्यस्त्वनाम्नादभ्याकुलमनसि
 भावः, आहर रज्जः—आहाररज्ज आहार पर्यवधिरोपस्तस्य एवमित्यर्थः सिद्ध—
 गृहीत । कस्तिवरे येन कीर्तिः स्थापिता बलु आधधिक्य—जनम् अथर्वन् इत्यादिभ्य
 एकीकृत्येत्यर्थः धम्मके—धर्माप अर्पितम्—अर्पितम् । अथ दिव्यद सिद्ध, अथिभ
 अर्पितम् इति इत्याहमे धम्मकत्वं स्फुटमेव । अथ मिहिीति संयुक्तपरोऽपे अकार
 लानुसोभः, अथमि संयुक्तपरो बन्धो लानु होइ, इति पूर्वमुच्यतात् । धम्मके इति
 एवमोऽपि लानुसोभा ऐम्मे इ (सु) आम् नम मिलिआ येति पूर्वमुच्यतात् ।
 अथवा तत्परत्वे माधधिक्यं स्थापिति बोध्यम् ॥

१११ अथ पाशकुलार्कं वृषं लक्षयति सप्त शुक्र एकक वि (क)—भेति ।
 ज्योतिषा सप्त शुक्र एकक वि (खे) भू—सप्त शुक्रैर्नियमा स्ति—नास्ति, वष

वत्थुणाम—वस्तुनामक वृक्ष वहेइ—कथयति, एतदेव राक्षसेण रड्डुठ—राजसेनरड्डा
एतस्यैव राजसेना रडेति च नामांतर भणइ—भणति ॥

१३५. रड्डामृदाहरति भमईति । महुअर—मधुकराः भमइ—भ्रमति, फुल्लु
अरविंद—पुष्पिताम्बरविदानि, काणण—काननानि (णक्केसु—) नवकिंशुकैः
जुलित्थ—ज्वलितानीव भाती (ति) शेषः सर्वदेस—सर्वदेश पिकराव
चुल्लित्थ—पिकरावैश्चुल्लुवित. निपीत इति यावत्, कोकिलालापानाकर्ण्य सजात-
कट्पत्राधया सर्वोऽपि देणि (शो) नि.पीत इव भातीति भावः, मलअ कुहर
णव वल्लि पेल्लित्थ—मलयकुहरनववल्लीः प्रेपयित्वा ताः कपयित्वेत्यर्थः, सिअल
पवण—शीतल. पवन. लहु—लघु मद यथा स्यात्तथा वहेइ—वहति । चित्त
मणोभव सर हणइ—चित्तमनोभव. शरैर्हति, कत—कात दूरे दिगन्तरे एव, दुरतः
दुष्टः अतो यस्य (स) तादृश. समय इति शेषः परिपलित्थ—परिपतित.,
अण्ड—आत्मान किम परि—कथा परिपाठ्या वारिहउ—रक्षिष्यामि ॥

१३६ अथैतस्यैव भेदाना ससंख्य नामान्याह करहीति । अपि—हे प्रिये
करभी नदा मोहिनी चारुसेना तथा भद्रः राजसेनः तालकिनी इति सत्त—सत्त
वत्थु णिप्फट—वस्तुनिपदाः—वस्तुनामकस्य पूर्वोक्तवृत्तस्य निस्पदा भेदा इत्यर्थः ॥
रड्डाया एव वस्तु राजसेन इति च नामांतरम् ॥

१३७ तेषु प्रथम करभी लक्षयति । पदमेति । जासु—यस्याः प्रथमतृतीय-
पञ्चमपादेषु तेरह मत्ता—त्रयोदश मात्राः । वीअ चउत्थ—द्वितीयचतुर्थयोश्चरणयो-
रिति शेष, एअरहहि—एकादशैव मात्रा भवतीत्यर्थः, तासु—तस्याः करहि—
करभीति नामेति शेषः भणिज्जइ—भण्यते ॥ अयमभिप्राय, पूर्ववस्तुच्छदसि
प्रथमे चरणे पञ्चदशमात्राः द्वितीये द्वादश तृतीये पञ्चदश चतुर्थे एकादश
पञ्चमे पञ्चदश देया इति फलित, तत्रैव प्रथमतृतीयपञ्चमचरणेषु प्रथमोपात्तत्रिकल
मात्राद्वयं दूरीकृत्य द्वितीयचरणे चातोपात्तसर्वलघुचतुर्मात्रिके एका मात्रा दूरीकृत्य
चतुर्थं च पूर्व(व)देव सस्थाप्याग्रे दोहा दत्वा करभी वाच्या, न तु (१)
विपमपादेषु प्रथमोपात्तत्रिकले मात्राद्वयं न्यूनं कर्तव्यम् । अतोपात्तजगणभगणेषु
चेत्यत्र किं विनिगमकमिति चेत्, सत्य, सामान्यानालि(गि)तविशेषामावात्
पूर्वोक्तारड्डानियमानामुत्तरत्राप्यावश्यकतया करम्यामपि प्रथमचरणाते जगणविप्र न्य-
तरस्य, तृतीयपञ्चमयोश्च भगणस्यावश्यं स्थापनीयत्वात्प्रथमपरित्यागे मानामावश्यं
प्रथमोपात्तत्रिकलमध्यत एव मात्राद्वयं न्यूनं विधेय, द्वितीये च समचरणे
अते सर्वलघुद्वयं इति नियमस्य पूर्वमुक्तत्वात् अते सर्वलघुस्थापनमावश्यकमिति
चतुर्थचरणसाम्यतया द्वितीयचरणस्यापने बाधकाभावादंतिमसर्वलघ्वात्मकगणमध्यत
एव ह(ए)का मात्रा न्यूना विधेयेति न कश्चिदोप इत्यसत्तातचरणोपदिष्ट.

आगदु—जानीत । पारिम—चतुर्थे चरणे इति शेषः, इ च पचावेदमभ्य-
 प्रापि चेत्यर्थः, एगारहहि—एकादश मात्राः जानीतेति पूर्वोक्तान्वयः । पंचमे ड—
 पंचमेऽपि चरणे दहपंच—पंचमं मात्राः अष्टादु—अष्टमपद । पंचपञ्चरेण
 अठ्ठासठठी—अष्टपद्विमात्राः पूरषदु—पूरयत, अमे अष्टपदमात्राति शेषः—
 द्विपदिकां तेषां मत्स्यादिना पूरमुक्तां देह—दधत । एह—एषा रक्षा (इम)
 इयं सुरष्टिह—सुरष्टिहं पचा रक्षातया रामसेन—रामसेना इत्यपि मयिग्रह—
 मय्यते ॥ एतस्या रामसेना इति नामांतरमपि कथ्यत इत्यर्थः ॥

११४ अथ रंदायां तावधाक्यमात्रां तत्पञ्चरथे देया इत्युक्तं तत्र विप्रा
 (त्वा) तत्पञ्चरमाह विठमेति । विठम—विपमे पादे प्रथमे तृतीये पंचमे
 चेत्यर्थः, अथो विपदा उठमदु—विपदां स्थापय तत्पञ्च विपदानंतरमिति स्वार्थं
 विपि पाहक—श्रीम् पदातीन् चतुष्पञ्चानित्यर्थः कदु—कुरुत पदम्—प्रथमे
 पाद इति—उक्त प्रथमपादात् इत्यर्थः वरिद कि विप्य—नरैर्दं मन्त्रगुहं अग्रे
 किंवा विपं चतुर्लक्ष्यत्वं गन् कुरुतेति पूर्वोक्तान्वयः, तथाच प्रथमे चरणे
 विपदानंतरं कर्तव्येति त्रिदु चतुष्पञ्चोऽपि तृतीयचतुष्पञ्चो अग्रात्स्वक्यो विपक्यो
 वति कर्तव्यः न तु पृथगिति हृदयं । अथ पञ्च—अथवादे विपमचरणाय
 विचारस्वैव प्रकृत्यत्पञ्चमात्परिमन् विपमे तृतीये पंचमे च पादे इत्यर्थं के
 मत्त—दे मात्रे द्वौ लघू इत्यर्थः उदाहरणानुपेक्षादत्र मात्रायाश्चो लघुवाची,
 इति देये इत्यर्थः, तथाच तृतीयपञ्चमकानंतरदेये चतुष्पञ्चोऽपि तृतीयो गन् भगवो
 देव इति मात्रा त्वेव हिलात्त्वत्वात् ।

अथ विपमचरणव्यवस्थां विभाव समचरणव्यवस्थामाह सम पञ्च इति ।
 सम पञ्च—समे पादे द्वितीये चतुर्थे चेत्यर्थः अथो विम पाहकद्वौ पदाती
 चतुष्पञ्चानित्यर्थः अठ—अति चतुष्पञ्चद्वयाते पावति चेत्यर्थः सम्यक्तदु—सर्वेस्तदु
 विपमदु—विपमदु, यो (पठ) त्वा चरवा—चतुर्थचरणे अति इति पूर्वतन
 मनुष्यकनीयं, विचार्य साधनतया एवलादु—एवं लघुं कष्टिम् विपम—विपमस्य
 पञ्चता द्वितीयचरणोत्तिमगवापेक्षया चतुर्थ—चरणोत्तिमगवो एको लघुर्गन्तः
 कर्तव्यः तत्र एका मात्रा न देवेति हृदयं ॥ तथा च समे पादे चतुष्पञ्चद्वयति
 त्वं लघ्वामकगवापेक्षानुक्तं, तत्र चतुर्थचरणे चतुष्पञ्चद्वयानंतरं सर्वेस्तदु, विपदा
 देया द्वितीये च सर्वेस्तदुचतुष्पञ्चो देव इति व्यवस्था ।

इम पंच पात्र ठहृद्वय अह—एव पंचपात्रोद्धर्तनं कुरुता, ठहृद्वयं विमवासा
 तथाच एव पञ्चगविक्रियात् कुरुतेत्यर्थः दोषहीन शोहाचरवा—दोषहीनशोहाचर
 यान् अस्त्व्यादिना पूर्वोक्तप्रथमतृतीयचरणस्वक्यदोषरहितान् शोहाचद्वयचरण
 नित्यर्थः, ठहि—जापयित्वा पूर्वोक्तचरणपंचकानंतरं शोहा इत्येवार्थः, विपदा

वस्तुणाम्—वस्तुनामक वृत्त वहेइ—वथयति, एतदेव राअसेण रड्डुउ—राजसेनरड्डा
एतस्यैव राजसेना रडेति च नामातर भणइ—भणति ॥

१३५. रड्डावृद्धाहरति भमईति । महुअर—मधुकराः भमइ—भ्रमति, फुल्लु
अरद्धिद—पुष्पितान्यरविंदानि, काणण—काननानि (णसकेसु—) नवकिंशुकैः
जुलिअ—ज्वलितानीव भाती (ति) शेष. सव्वदेस—सर्वदेश पिकराव
चुल्लिअ—पिकरावैश्चुल्लुवितः निपीत इति यावत्, कोकिलालापानाकर्ण्य सजात-
वदर्पचाधया सर्वोऽपि देणि (शो) नि.पीत इव भातीति भावः, मलअ कुहर
णव वल्लि पेल्लिअ—मलयकुहरनववल्ली. प्रेषयित्वा ताः कपयित्वेत्यर्थः, सिअल
पवण—शीतल. पवन. लहु—लघु मट यथा स्यात्तथा वहइ—वहति । चित्त
मणोभव सर हणइ—चित्त मनोभव. शरैहति, क्त—कात. दूरे दिगन्तरे एव, दुरत.
दुष्ट. अतो यस्य (स) तादृशः समय इति शेषः परिपलिअ—परिपतित,
अप्पड—आत्मान किम परि—कया परिपाठ्या वारिहउ—रक्षिष्यामि ॥

१३६ अवैतस्यैव भेदाना ससख्य नामान्याह करहीति । अपि—हे प्रिये
करभी नदा मोहिनी चारुसेना तथा भद्रः राजसेनः तालविनी इति सत्त—सप्त
वधु णिप्फद—वस्तुनिष्पदाः—वस्तुनामकस्य पूर्वोक्तवृत्तस्य निष्पदा भेदा इत्यर्थः ॥
रड्डाया एव वस्तु राजसेन इति च नामातरम् ॥

१३७ तेषु प्रथम करभी लक्षयति । पदमेति । जासु—यस्याः प्रथमतृतीय-
पञ्चमपादेषु तेरह मत्ता—त्रयोदश मात्रा. । वीअ चउत्थ—द्वितीयचतुर्थयोश्चरणयो-
रिति शेष, एअराइहि—एकादशैव मात्रा भवतीत्यर्थः, तासु—तस्या. करहि—
करभीति नामेति शेषः भणिज्जइ—भण्यते ॥ अयमभिप्रायः, पूर्ववस्तुच्छदसि
प्रथमे चरणे पञ्चदशमात्राः द्वितीये द्वादश तृतीये पञ्चदश चतुर्थे एकादश
पञ्चमे पञ्चदश देया इति फलित, तत्रैव प्रथमतृतीयपञ्चमचरणेषु प्रथमोपात्तत्रिकल
मात्राद्वय दूरीकृत्य द्वितीयचरणे चातोपात्तसर्वलघुचतुर्मात्रिके एका मात्रा दूरीकृत्य
चतुर्थं च पूर्व(व)देव सस्याप्याग्रे दोहा दत्त्वा करभी वाच्या, न तु (?)
विषमपादेषु प्रथमोपात्तत्रिकले मात्राद्वय न्यून कर्तव्यम् । अतोपात्तजगणभगणेषु
चेत्यत्र किं विनिगमकमिति चेत्, सत्य, सामान्यानालि(गि)तविशेषाभावात्
पूर्वोक्तारड्डानियमानामुत्तरत्राप्यावश्यकतया करभ्यामपि प्रथमचरणे जगणविप्र न्य-
तरस्य, तृतीयपञ्चमयोश्च भगणस्यावश्य स्थापनीयत्वात्प्रथमपरित्यागे मानाभावाच्च
प्रथमोपात्तत्रिकलमप्यत एव मात्राद्वय न्यून विधेय, द्वितीये च समचरणे
अते सर्वलघुर्देय इति नियमस्य पूर्वमुक्तत्वात् अते सर्वलघुस्थापनमावश्यकमिति
चतुर्थचरणसाम्यतया द्वितीयचरणस्यापने बाधकाभावादतिमसर्वलघ्वात्मकगणमध्यत
एव ह(ए)का मात्रा न्यूना विवेयेति न कश्चिदोप इत्यस्मात्तचरणोपदिष्ट.

पंथाः गुरीमिर्विभाजनीयाः । यत्तु विपम आद्यपात्रत्रिक्रमस्ये मात्राद्वयं न
स्थग्यमेकक्य स्थामात्रादिति तत्र आर्षपायुशाराद्धं पठत्येवत्रापि प्रथमस्यैव वस्तु
स्थापने वाच्यमात्रात् ॥

११८ अथ नंशं लक्षयति पठमेति । यत्र प्रथमतृतीयवचनपादेषु दक्षारि—
चतुश्च मत्त होह—मात्रा मर्षति । बीभ चट्थ एभारहहि—द्वितीयचतुर्थयोरेभ-
दस्यैव मात्रा मर्षतीति पूर्वतानुपगः तं विभ्रारि—विचार्य वं मभिमत्र—नंशं
मत्त । अत्रापि पूर्वोक्तरीत्या विपमपादेषु प्रथमोपात्तत्रिक्रममप्यत एव एका मात्रा
द्वितीयस्य द्वितीयपादे चातन्त्र्यवस्तुल्यत्वात्प्रथमपादमप्यत एका मात्रा तत्कदा चतुर्थ
पुनरुदेव स्थापयित्वापि होहा इत्या नंश वाच्या इति निष्कर्षः ॥

११९ अथ मोहिनीं लक्षयति पठमेति । यस्यां प्रथमतृतीयवचनपादेषु
चतुर्दह मत्त—एकमेव विवक्षितमोहा । बीभ चट्थ एभारहहि—द्वितीयचतुर्थ-
योरेकादस्यैव मात्रा मर्षति, त—तां आनु—एनां मोहिनी—मोहिनी
मुत्रि—जानीहि ॥ अत्र विपमेषु त्रिक्रमानन्तरं चत्वारश्चतुर्मात्रिका विधेयस्तेष्वेव
प्रथमपादस्ते चाको विप्रो वा विधेयस्तृतीयवचनस्योच्चाति (म) मग्य एव विधेये
द्वितीये चातिममप्यत एव एकं मात्रा निष्कृत्य चतुर्थे च पूर्वस्यैव संस्थाप्यमे
दोहा इत्या मोहिनी वाच्येति व्यकरणा ॥

१२० अथ आस्तेनां लक्षयति । आनु—एस्याः प्रथमतृतीयवचनपादेषु
पञ्चदश—पञ्चदश मत्त—मात्रा । बीभ चट्थ—द्वितीयचतुर्थयोः पादयोः एक
दस्यैव मात्रा मर्षतीति शेषाः आनु—एनां आस्तेनां मत्त—कक्य ॥ अत्र विपम
चरान् वस्तुन इव संस्थाप्य द्वितीयचतुर्थौ चरणौ करम्या इव विचार्यमे दोहा
इत्या आस्तेना वाच्याति निष्कर्षः ।

१२१ अथ भद्रं लक्षयति पठमेति । प्रथमतृतीयवचनपादेषु मात्राः पञ्चदश
द्वितीयचतुर्थयोर्द्वादश मात्रा मर्षति आह—एतस्य भेदेति नाम कथितम् ।
अत्र चतुर्थे चतुर्मात्रात्रिक्रमस्ये वस्तुन इवेति निष्कर्षः ॥

१२२ अथ पूर्वे विराम तिष्ठतोत्पन्नेन लक्षितमपि राक्तेनापरनामकं वस्तु
कृतं करी नंदेत्यत्र लक्ष्य एव राक्तेना कथित इति भ्रमनिरासार्थं पुनराशेष
त इति पठमेत । प्रथमचतुर्थवचनपादेषु मात्राः पञ्चदश यत्र । समे चरणे
द्वादश अह—अथय एकदह—एकदश राक्तेन मद्यत च ॥ एतन्निष्कर्षम
पूर्वमेव कृतः ॥

१२३ अथ ताडं (ल) किनीं लक्षयति पठमेति । यस्याः प्रथमतृतीयवचन
पादेषु छेदाह—छेदश्च मात्रा मर्षतीति शेषा, समे द्वितीये चतुर्थे च द्वादश अपच-

एकवदह—एकादश मात्रा भवतीति शेषः, यथायथ योजनीयः । द्वितीये द्वादश मात्रा भवतीत्यर्थः । तासु ताड(ल)किनी भण ॥ अत्र विप्रमपादेपु (ज)गणाता विप्राता वा चत्वारश्चतुष्कलाः कार्य्याः, समौ च पूर्ववत्, अग्रे दोहा दत्वा ताड(ल)किनि(नी) वाच्येति निष्कर्षः । इति श्रीपिंगलप्रकाशे ऋडाप्रकरणम् ॥

१४४. अथ पद्मावती लक्षयति मणु पोमावतीति । यत्र वर्णः गुरुद्वयात्मको गण इत्यर्थः, करअल—करतल गुर्वतः सगण इत्यर्थः, विण्पो—विप्रश्चतुर्लघुको गण इत्यर्थः, चरणः गुर्वादिभगण एत एवेति शेष चउमचा—चतुर्मात्रिकाः अष्टाथा—अष्टौ गणाः पाए पाथ—(पादे पादे) देया प्रतिचरणमित्यर्थः टाण टाणं—स्थले स्थले, उकिट्टाआ—उत्कृष्टाः अविका बहुश इति यावत् पतति । यत्र प्रतिचरण स्थापनीया अष्टौ गणाः कर्णसगणविप्रभगणस्वरूपा एव पतति नान्या अत एव पौर्वापर्येण पुन पुन वाराष्टक पततीति यावदित्यर्थः, ता पोमावती—पद्मावती भण पद्मावतीनामक तद्वृत् कथयेत्यर्थः । अत्र जह यदि पथो-हरं—पयोधरं मध्यगुरुर्जगण इत्यर्थः पलह—पतति, सह—तदा किमपि मनोहरं सम्पन्नं न भवतीति शेष, किंतु चडालचरित्रः इथ—अत्र जगणाख्यो गणः णाथक्क गुणो—नायकगुण पीडयति, पिअगहि—पितर सन्नासयति, अतएव कइ उच्चासह—कविमुद्रासयति ॥ अत्र जगणे पतिते यस्य कवित्वमेतच्छ्रुत्वा भवेत्स राजा नश्येत्, नष्टे च तस्मिन्नेतादृश कवित्वनिर्माणकर्ता कविनापि बधनताडनादिव्यथा प्रातयेति, अत्र जगणः सर्वथा न देय इति भावः ॥

१४५. अथ पद्मावतीमुदाहरति भअ भजिअ इति । यदा कासीसर राजा—काशीश्वरेण दिवोदासेन राजा, पथाणा—प्रयाण किएउ—कृत, तदा वगा—चगदेशीया राजानः भअ भजिअ—भवेन भग्नाः कृताः, भग कलिगा—पलायिता कलिगा, तेलगा रण मुक्कि चले—तैलगाः रणं मुक्त्वा चलिताः, रिट्टा—वृष्टा रणनिर्भीका इत्यर्थः मगहट्ट—महागप्राः कटा—काष्ठानु दिक्षु लगिअ—लग्नाः पलाय्य दिगंतं गता इत्यर्थः, सौगप्रा भवेन पाटपतिताः, पअअ भण—पर्वतक्षपाः कपा—कपा कपनशीला इत्यर्थः चपारणा ओल्या ओल्या उत्थात्रोत्थापेत्यर्थः जीव हरे—जीव स्वप्राणान् हरति त्यजति इति, रियाअरः मत्रिअष्टो भणति ॥ अत्र प्रथमचरणे तृतीय पचम पष्टौ गणः कर्णस्वरूपः, प्रथमो द्वितीयचतुर्थः सप्तमोऽष्टमश्च सगणस्वरूपः, द्वितीयचरणे च द्वितीयतृतीयचतुर्थसप्तमगणा कर्णस्वरूपा अन्ये च सगणरूपाः, चतुर्थे च प्रथमपचमौ गणौ कर्णरूपौ षष्ठतृतीयौ भगणरूपौ अन्ये च सगणरूपाः,

पंथा मुनीर्गिरिभास्नीयः । यत्तु विरम आद्यपात्तत्रिकल्पमध्ये मात्राद्वयं न
त्याग्यमेवमप्यस्याभावादि, तत्र आद्यापादुत्तरादौ पदस्यैवतापि प्रथमस्यैववत्स
त्वात्तत्रे पापकामाभात् ॥

११८ अथ नाना लक्ष्यति पन्मेति । यत्र प्रथममृतीपर्वणमपारेषु पद्वारि—
चतुश्च मत्त होह—मात्रा मर्षति । वीअ चउत्थ एअरइहि—द्वितीयचतुर्षोऽरम्भ-
इत्येव मात्रा मर्षतीति पूर्वतनानुगं तं विआरि—विधाप नन् मप्यइ—नन्दा
मय । अत्रापि पूर्वोक्तरीत्या विरमपादु प्रथमोपात्तत्रिकल्पमप्यत एव एतां मात्रां
द्वीकृत्य द्वितीयपदे चतुर्ष्वनुपपत्त्यस्यैवमप्यत एकां मात्रां त्यक्त्वा चतुर्ष्व
पूर्वपदेव व्याप्यित्वाप्ये दोहा दत्ता नन्दा वाच्य इति निष्कर्षः ॥

११९ अथ मोहिनी लक्ष्यति पन्मेति । यस्यां प्रथममृतीपर्वणमपारेषु
गणदह मत्ता—एकमेवविशतिमात्राः । वीअ चउत्थ एअरइहि—द्वितीयचतुर्ष्व
मोहेकादशेव मात्रा मर्षति त—तां आनु—एतां मोहिनी—मोहिनी
मुनि—अनीदि ॥ अत्र विरमेषु विरलान्ततरं चत्वारश्चतुर्मात्रिका विधेयस्तेष्वेव
प्रथमपादोत्तरे आद्ये विप्रो वा विधेयचतुर्ष्वनुपपत्त्यस्यैवमप्यत (म) भगवत् एव विधेयं
द्वितीये चातिममप्यत एव एकां मात्रां निष्कस्य चतुर्ष्वे च पूर्वपदेव तस्याप्याप्ये
दोहा दत्ता मोहिनी वाच्येति स्वरथा ॥

१२० अथ आरुतेना लक्ष्यति । आनु—यस्याः प्रथममृतीपर्वणमपारेषु
पद्वारइ—पंचदश मत्त—मात्राः । वीअ चउत्थ—द्वितीयचतुर्ष्वनुपपत्त्योः पदयोः एका
इत्येव मात्रा मर्षतीति शेषा अग्रमु—एतां आरुतेना मय—कल्प ॥ अत्र विरम
चरमान् वस्तुन इव संस्थाप्य द्वितीयचतुर्ष्वे चरणौ करभ्या इव विधाप्याप्ये दोहा
दत्ता आरुतेना वाच्येति निष्कर्षः ।

१२१ अथ मत्त लक्ष्यति पन्मेति । प्रथममृतीपर्वणमपारेषु मात्रा पंचदश
द्वितीयचतुर्ष्वनुपपत्त्योर्द्विदश मात्रा मर्षति आह—एतस्य मत्रेति नाम कथितम् ।
अत्र चतुर्ष्वे प्रथममृतीपर्वणमपारेषु अन्त्ये वस्तुन इत्येति निष्कर्षः ॥

१२२ अथ पूर्व विरम तिक्लोल्यनेन लक्षितमपि राक्तेनापरनामकं वस्तु
कृतं करही महेवच तस्य एव राक्तेना कथित इति भ्रमनिरासार्थं पुनस्तमेव
लक्षणं पन्मेति । प्रथममृतीपर्वणमपारेषु मात्रा पंचदश नन । समे चरणे
प्रादर अह—अथ एअरइहि—एकादश राक्तेन मयत्त च ॥ एतन्निष्कर्षः
पूर्वमेव कृतः ॥

१२३ अथ ताड (ल) किनी लक्ष्यति पन्मेति । यस्याः प्रथममृतीपर्वणम
पारेषु दोहा—पोदर मात्रा मर्षतीति शेषा समे द्वितीये चतुर्ष्वे च प्रादर अथ

पटहस्ताडितः तदा तच्छ्रुत्वा हमीरागमनत्रस्ता स्लेच्छा मूर्च्छिता इति भावः ॥
चलिअ वीर हमीर पाञ्चभर—***पादभरेण मेदिनी पृथ्वी कण्ड—रूपते, धूलि—
धूलिभि सैन्यपादाघातोत्थरजोभिरित्यर्थः. सूरज—सूर्यस्य (रह—) रथः भूपट—
आच्छाद्यते, ततश्च दिग मग णह—दिङ्मनोमार्गे अधार—अधकार. जात
इति शेषः । दिग मग णह—दिङ्मनो मार्गे अधार—अधकारे सति खुरसाणक—
खुरासानस्य देशस्य ओल्ला—दण्डप्रतिनिधिभूता. पुरुषा आण—आनीता इति
यद्यपि, तथापि हे वीर सुरत्राणेति सज्जोवनमध्याहर्तव्य, त्व दरमरि—चरणतलैर्विमर्द्य
विपक्व—विपक्षान् (दमसि—) दमयसि, अतः दिल्ली मह—दिल्या मध्ये
दोल्ला—पटह मारु—ताडय । यद्यपि हमीरश्चलित इति श्रुत्वा अन्ये स्लेच्छा
मूर्च्छिताः खुरासानदेशीयैश्च दण्डप्रतिनिधिभूता मनुष्याः समर्पिता, तथापि त्वया
न भेत्तव्य किन्तु योद्धृणा रणसज्जीभावाय पुनर्द्वितीयो डिङ्डीरवः त्वया कारणीय
इति किञ्चिदायस्तथैव सुरत्राण प्रति कस्यचिन्मन्त्रिण उक्ति ॥

१४८ अथ दोहाकृत्तेन पुनः स्पष्टीकृत्य कुडलिकालक्षणमाह पदमहि इति ।
पदमहि—प्रथमे अर्द्धे इति भावः. दोहा चारि पअ—दोहायाश्चत्वारि पदानि
ततो द्वितीयाद्धं कञ्चह—काव्यस्य चउपअ—चत्वारि पदानि देहि, एव
कुडलिका अष्टादी, तत्र पादे पादे यमकानि कियन्ता ॥ यमकानिति उल्लालाना-
मप्युपलक्षकम् । इदं चोदाहरणानंतर लक्षणकथनमनौचित्यमावहतीति त्रैपिकमिवा-
भाति इति बोध्यम् ॥

१४९ अथ गगनागनामकवृत्त लक्षयति पअ पअ इति । हे पिअ—प्रियाः
शिष्या यत्र पदमहि—प्रथमपादादाविति यावत् चारि मत्त गण—चतुर्मात्राकः
गण किञ्चह—क्रियते, ततो यथेच्छ चतुष्फलैर्वैत्यध्याहारः, गणह—गणैः, यत्
पञ्चासिओ—प्रकाशित, यत्र च गुरु अत पञ्चासिओ—अतःप्रकाशितगुरुणि
अते समाप्तौ प्रसाणितो गुरुयेंपु तादृशानित्यर्थः, तथाच कर्त्तव्येणु विंशतितममन्तरं
गुरुरूपमेव कार्यमिति भावः, त्रीसक्खर—विंशत्यक्षराणि, सम पअह—सर्वेषु
पादेषु प्रत्येक पतन्तीति शेषः, तत् पअ पअ—यादे पादे प्रतिचरणमित्यर्थः,
मत्त विट्ठमिणा—मात्राविभूषित गअणगउ—गगनाग गगनागनामक वृत्त जाणि—
शात्वा टवह—स्थापयत । कियलीमिर्मात्राभिर्विभूषितमित्यपेक्षा (या) माह भावस्त
इति । अत्र लट् गुरु सेसिणा—लघुगुरुशेषिता लघुगुरुभ्या समाप्ति नीतो इत्यर्थः,
सग अग—शराधिका शरा. पच तथाच पचाधिका इत्यर्थः, त्रीसह कल—
विंशतिरेव कला भावउ—भावयत, तथाच पचविंशतिर्मात्रा अत्र प्रतिचरण
पतति, तात्वेन चांतिम मात्रात्रय लघुगुरुरूप कार्यमित्यर्थः । अत्र च चतुर्थपि
च णेपु पादादौ चतुश्चल एव गण कार्य, अनंतर च चतुर्मात्रैः पचकलेर्वा,

इत्थं गणाः पतिताः, विप्रस्तु न क्वचिदपि पतितस्तथापि सोऽपि परे कति
सहस्रि पापकं नास्तीति ॥

१४६ अथ कुंडलिकां लक्षयति दोहा लक्षयेति । बुद्धयम्—बुद्ध्या
यस्याः पदम्—प्रथमम् अद्—अर्द्धं, तथा च पूर्वार्द्धमित्यर्थः दोहा लक्षय-
द्विपदिकलक्षणे पटि—पठित्वा, निरुक्त—निरुक्तं, द्विपदिकस्वरूपमेव वर्याः
पूर्वार्द्धमित्यर्थः द्वितीयं चेति शेषः अर्द्धमिति पूर्वमुपगम्य, तथाच
द्वितीयम् अर्द्धम् उच्यते अर्द्धमित्यर्थः कथम्—कथमेन निरुक्तं—कथमस्वरूपं
यस्या उच्यते अर्द्धमित्यर्थः उक्तालो संयुक्त—उक्तालेन संयुक्तम् । उक्तलनम्
उक्तालः कतिपयवर्षानां पराहत्य पठनमित्यर्थः कथम्—(कथमेन) तेन
सहितमित्यर्थः, तां कुंडलिकां—कुण्डलिकां मुच्यते—जानीत इत्थं च
उक्तालेन संयुक्तानि यमकानि सोऽहं यत्स्वरूपं क्त्वा तादृशीत्यर्थः
मुच्यते—मुच्यते उच्यते, तथा च न केवलमुक्तालमुच्यते
विधेया किंतु यमकान्यपि देखनीति भाषा । यो (यत्) अस्वर
सठ मत्त मुच्यते इति संयुक्त—यत्तु अस्वारिषदधिकशतमात्रासु उक्तलद्वये
अस्वारिषदधिकशतमात्राभिः सुतरां कृतं इत्यं यत्तु दोहनं
क्त्वा तां तादृशीत्यर्थः अस्वरम्—अस्वरम् । क्वचित् मुच्यते इति संयुक्तं इति
पाठस्तत्र मुच्यते इत्युक्तं नाम—अभिपरमभिज्ञेन विगच्छेनेति भावः । अस्वारिष-
दधिकं शतं मात्राः अत्र कथ्यन्ते इति भिन्नं भिन्नमेव ध्येयं, यत्तु अस्वर
सठ मत्त—यत्तु अस्वारिषदधिकं शतं मात्राः अत्र—यस्याः, तस्य मूलं दोहा—
तनुमूलानां दोहा इत्यर्थः जनयतीति शेषः । एतं कुंडलिकां मुच्यते—एतं
कुंडलिकां जानीत पदम् पटि अद् दोहा—प्रथमं पठते यत्तु दोहा इति शेषः ॥
भाष्यार्थः—पूर्वाद् पूर्वोक्तदोहाद्वयेन विधेयमुच्यते च पूर्वोक्तमात्राद्वयेन विधेय-
मित्युक्तं । तत्र यद्यपि दोहानां कथमेन च उक्तलानामोर्निबन्धे नोक्तलान्यत्र
उक्तलानां यमकं चेति द्वयमवश्यं विधेयमिति विशेषः । एवं च दोहावरणमुच्यते
अस्वारिषद्वयमात्राः कथमस्वारिषद्वयमात्राः यथावतिमात्राः एतद्वयम् अस्वारि-
षदधिकशतं मात्रावरणमात्रा इत्यनेन इति विभावनीयम् ॥

१४७ अथ कुंडलिकां मुदाहरति दोहयेति । पुर अस्वना मन्त्रिण—पुरोक्त-
स्वनामन्त्रिणः पुरोऽपि अस्वनामनामा मन्त्रिणो यत्तु च उच्यते इत्यर्थः योऽहं योऽहं
अस्वित इति यत्तु विद्वत्सी मह—विद्वत्सीमध्ये दोहता—यत्तु यत्तु विद्वत्सीमध्ये
मात्राः मन्त्रिण—मन्त्रिणावित इत्यर्थः तथा मेवम् उच्यते—यत्तु यत्तु यत्तु
मुच्यते—मुच्यते । अनेतरव्यवस्थाकर्मविधौ इमीदृशमा स्वनगरावित
इति पुनस्तत्र उच्यते । एतन्मन्त्रिणावित इत्यर्थः यत्तु विद्वत्सीमध्ये यत्तु विद्वत्सीमध्ये

पट्टस्ताडित. तदा तच्छ्रुत्वा हमीरागमनत्रस्ता म्लेच्छा मूर्च्छिता इति भावः ॥
चलिअ वीर हमीर पाअमर—***पादभरेण मेदिनी पृथ्वी कण्ड—कपते, धूलि—
धूलिभि सैन्यपादाघातोः थरजोभिरित्यर्थ. सुरज—सूर्यस्य (रह—) रथः भूपट्ट—
आच्छाद्यते, ततश्च दिग मग गह—दिग्भो मार्गे अवार—अवभार. जात
इति शेष. । दिग मग गह—दिग्भो मार्गे अवार—अवभारे सति खुरसाणक—
खुरसानस्य देशस्य ओल्ला—दृढप्रतिनिधिभूता पुरुषा आण—आनीता इति
यद्यपि, तथापि हे वीर सुरत्राणेति सत्रोधनमव्याहर्त्तव्य, त्वं दरमरि—चरणतलैर्विमर्त्य
विपक्ष—विपक्षान् (दमसि—) दमयसि, अतः दिल्ली मह—दिल्या मध्ये
दोल्ला—पट्ट मारु—ताडय । यद्यपि हमीरश्चलित इति श्रुत्वा अन्ये म्लेच्छा
मूर्च्छिता. खुरसानदेशीयैश्च दृढप्रतिनिधिभूता मनुष्या. समर्पिता, तथापि त्वया
न भेतव्य किन्तु योद्धृणा रणसङ्गीभावाय पुनर्द्वितीयो डिंडीरव. त्वया कारणीय
इति किञ्चिदायस्तथैव सुरत्राण प्रति कल्पचिन्मत्रिण उक्ति ॥

१४८. अथ दोहावृत्तेन पुन. स्पष्टीकृत्य कुडलिकालक्षणमाह पदमहि इति ।
पदमहि—प्रथमे अर्द्धे इति भावः दोहा चारि पअ—दोहायाश्चत्वारि पदानि
ततो द्वितीयाद् कवह—काव्यस्य चउपअ—चत्वारि पदानि देहि, एव
कुडलिका अष्टरदी, तत्र पादे पादे यमकानि क्रियन्ता ॥ यमकानिति उल्लालाना-
मधुपलक्षम् । इह चोदाहरणानतर लक्षणकथनमनौचित्यमावहतीति क्षेपकमिवा-
भानि इति बोध्यम् ॥

१४९ अथ गगनागनामकवृत्त लक्षयति पअ पअ इति । हे पिअ—प्रियाः
शिष्या यत्र पदमहि—प्रथमपादादाविति यावत् चारि मत्त गण—चतुर्मात्राकः
गण किञ्चइ—क्रियते, ततो यथेच्छ चतुष्फलैर्वैत्यप्याहारः, गणह—गणैः, यत्
पअसिओ—प्रकाशित, यत्र च गुरु अत पअसिओ—अतः प्रकाशितगुरुणि
अते समाप्तौ प्रकाशितो गुरुर्येषु तादृशानित्यर्थ, तथाच कर्त्तव्येषु विंशतितममक्षर
गुरुरुपमेव कार्यमिति भावः, वीसकखर—विंशत्यक्षराणि, सम पअह—सर्वेषु
पादेषु प्रत्येक पतन्तीति शेष, तत् पअ पअ—पादे पादे प्रतिचरणमित्यर्थ,
मत्त विहसिणा—मात्राविभूषित गअणगउ—गगनाग गगनागनामक वृत्त जाणि—
ज्ञात्वा उवहु—स्थापयत । कियतीभिर्मात्राभिर्विभूषितमित्यपेक्षा (या) माह भावउ
इति । अथ लहु गुरु सेसिणा—लघुगुरुशेषिता लघुगुरुभ्या समाप्ति नीतो इत्यर्थ,
सर अग—शराधिका शरा पच तथाच पचाधिका इत्यर्थ, वीसइ कल—
विंशतिरेव कला भावउ—भावयत, तथाच पचविंशतिर्मात्रा अत्र प्रतिचरण
पतति, तास्वेव चातिम मात्रात्रय लघुगुरुरूप कार्यमित्यर्थ. । अत्र च चतुर्ष्वपि
चरणेषु पादादौ चतुष्फल एव गण. कार्य, अनतर च चतुष्फलैः पचफलैर्वा,

यथा परवो विशत्यधराणि पञ्चविंशतिर्मात्राभ्यः पठन्ति, पातन्ते चापरं क्रमेण
लघुर्गुरुभाति तथैव गद्या देया इति तात्पर्यम् ॥

१५ अथेनमेवार्थं द्विपदिकया स्पष्टीकृत्याह फम इति । यम फमदि । प्रथमं
पातयो यमकलु गद्या—यमुष्णलो गद्याः दोह—मपति अंतदि—अंते परांतं
दिग्गद हार—दीपते द्वागः गुरु तत् गङ्गाग—गङ्गागं मण—यम अप य
बीसम्पर—विशत्यधराणि, पचास मत्त—पञ्चविंशतिर्मात्रा, यिम्मा—विचारम् ॥

१५१ अथ गङ्गागमुदाहरति मन्थिम् इति । अहिम् लपिम् साग्रम्—
लपित—साग्राहिते लपिता सागरो धेस्तादृशा अहता यत्न सादृशे इवर्षे
हमार चित्रम्—हमीरे चलिते छति, मलम् बोलम्—मलम्बिपभोलनेरा-
विपक्षेति द्वावित्यर्थः मन्थिम्—मनो गुरुम्—गुरुया गुरुदेवीया राक्षस-
शिवलिङ्ग—निष्क्रीडत्य गन्धिम्—गन्धिता, मालम्बम्—मालम्बम् परिरति
कुम्बम्—परिरत्न कुम्बरान् मलम्बगिरिमलम्बगिरौ लुक्किम्—निर्जिता, सुरान्—
सुरानः—सुरान्नेरीया राक्षस मुदि—रथे मुष्मीभूय मुदिम्—मुम्भितः,
कामरा—कातरे पलावितुमप्यसमर्थं लम्भित्यर्थं रिठगम्—रिपुगयो हारम्
पठिता ॥

१५२ १५३ अथ (द्विप) पदीनामकं वृत्तं लक्ष्यति अग्रगेति । हे
मुदम्भा—मुदम्भाः कथम्—यत्न पदम् (दि)—(प्रथमे) परवो, इत्
चोपलक्ष्मं द्वितीयेऽपि बोध्यम् आग्रम्—आदिगा आदिक्ता पादाप इति यवत्
इत्तुः—पदकलो मर्वात ततश्च वेवि यत्तुहर—हो यमुदये यत्तुल्लभाति वादत्
दिग्गद—दीपते तथा पादकक कुम्भ—पदातिमुगलं पुरपि यत्तुल्लभुगल
मेकैपयः परितंठवदु—परिष्ठापयत अंत—अंते पादति महुम्परवरम्—महुम्पर
वरम् यद्वत्त इत्यर्थः दिग्गद—दीपते एव दोषह—द्विपदी मलत्, तदि—
तथा हे कदम्भा—वकिम्भाः सरसह ले (ह) इ पयम् (ठ)—सरस्वत्याः
लक्ष्मणाप्युत्थिता प्रसाद पुद्गलि—गुम्भ्या विविध विषय मुदर—विविधविषयमुदरं
विविधानि अनेकप्रकाराणि यानि विष्णानि तेषां रमणीयं त्वं लोभमनोहरमित्यर्थः
अहत्—कथि (वि) त्वं अमेव न वृत्तेनेति रोपं करदु—कुरस अनेन वृत्तं
निर्मितं अथैव सर्वमनोहरं मर्क्यति माय इति बोधना ।

अथ यत्पि इत्तुल्लभः लमुदयोपरमुदयामकं पदलक्षणां यथापम
पदलक्षणात्मकपरोऽपरेण उदाहरणे तथैव दर्शनात् । महुम्परवरम् यद्वत्त
यत्पि पदलक्षणाभ्यु पूर्वं लोपात्तत्वापि महुम्परवरणामां पदलक्षणात्तत्वात्तत्वापि
तत्पुरत्कारेणैव पदलक्षणो बोध्यः । कथयितुं दिग्गद तिष्ठि यत्तुहरमिति पाठा

सः प्रामादिकः, एव सति पादाते पट्क्लगणालाभेन महुअर चरण अत लेइ दिज्जसु
इत्यग्रेतनेन विरोधात् । एतत्पाठानुसारेणैव कैश्चिदग्रे महुअर चरणेति पाठ प्रकल्प्य
तस्य च सुगधशब्दस्य गुरुनामसूपात्तत्वात्तत्पर्यायत्वान्मधुरोगुरुस्तथाच मधुरो गुरुः
अत—चरणेति दीयतामित्यर्थः कृतस्तदपि भ्रमविलसितं, लक्षणस्यापि लक्ष्यताया
महुअर चरणेति पाठे कल्प्यमाने एकमात्रान्यूनतया लक्षणासंगतेः ।

१५४ अथ उट्टवनिकातर मनसि विधाय दोहावृत्तेन पुनर्द्विपदीं लक्षयति
छक्कलु इति । छक्कलु—षट्क्ल मुह सटाविकइ—मुखे आदौ सस्थाप्य, पच
चक्कलु—चतुष्कलान् करेह—कुरुत, अतहि—पादाते एककहि—एकमेव द्वार
गुरु देह—दत्त्वा, दोचइ छद कहेहु—द्विपदीं छदः कथयत । पूर्वं पट्क्लानतर
चत्वारश्चतुष्कलास्तदनंतरं च पुनः पट्क्ल इत्युक्तम्, इदानीं तु पादातस्थपट्क्ला-
तर्गतं चतुष्कलं चित्ते कृत्वा पट्क्लानंतरं पच चतुष्कला उक्तास्तदनंतरं च
पट्क्लातर्गतस्य मात्रायुगस्योर्वरित्वात्तस्यैवैको गुरुर्द्वय इत्युक्तमित्युट्टवनिकावृत्त
एव पूर्वापरयोर्भेदः । इदं च वृत्तं द्विपादमेव, न (च) तुष्पाठ, उदाहरणानुरो-
यादिति केचित् । अन्ये तु यदीदं द्विपादमेव, तर्हि लक्षणं पादचतुष्टयेन कथं
कृतमिति इदं चतुष्पादमेव, न चोदाहरणविरोधस्तस्य चरणद्वयेनापि सभवात्, न
चैतादृशमन्यत्र न दृष्टमिति वाच्यं, षोडशचरणायाश्चतुःपादिकाया एकरैव
चरणस्योदाहृतत्वादित्याहः । परे तु लक्षणं वृत्तद्वयेन कृतमितीदमुदाहरणानुरो-
याद्विपादमित्याहुः ॥

१५५ अथ द्विपदीमुदाहरति दा***** ।

१५६ अथ मुल्लणानामकं वृत्तं लक्षयति पदमं दहेति । जह—यत्र, विरह-
विरति पदमं—प्रथमम् आदौ दह—दशसु मात्रास्त्विति शेषोऽत्रापि योजनीयः,
दिज्जिआ—दत्त्वा पुणवि—पुनरपि तह—तथा तेनैव प्रकारेण दशस्त्रेण
मात्रास्त्वित्यर्थः किज्जिआ—कृता, पुणवि—पुनरपि दहमत्त—सप्तदशसु मात्रासु
जाआ—जाता, एम परि—एव परिपाट्या विविह दल—द्वयोर्दलयो प्रत्येकमिति
शेषः, सततीस—सप्तत्रिंशत् मत्त—मात्रा पल—पतति, एह—एना (नाअ-
राआ —नागराजः । मुल्लणा कह—कथयति ।

१५७ अथ मुल्लणामुदाहरति सहस्रेति । सहम मथमत्त गथ—सहस्र
मथो-मत्तगजान् लक्क लक्ख—लक्ष लक्षम् अश्वाञ्चेति शेषः पक्कगिअ—
चारत्रायेनावगुह्य साजि—सज्जीभूय साहि दुइ—सर्वभोगद्वयं गिदू—कटुक
पेत्त—फोडत, हे प्रिय, तहि—तत्र कोपि—प्रक्षुप्य जाहि—गच्छ, विमल
जनु—यश महि—मनां (ह्या) यप्पु—स्थापय । तुअ—त्वा कोइ—को
पि तुलुक—तुरुष्क हिंदू—(हिन्दु) को वा णहि जिणइ—नहि जेष्यति ॥

यथा वरुणे रिशत्पराणि पंचविंशतिर्मात्राश्च पाणि, पाण्ड्ये चावरुणे अमेरु
लघुर्गुणश्चास्ति तथैव गण्डा देवा इति तात्पर्यार्थः ॥

१५ अनेनमगर्भं द्विपदिक्वा हाशीहृत्वाह पन्म इति । यत्र पन्मदि । प्रथमं
पाण्ड्ये वरुणं गण्डा—चतुष्पलो गण्डा दोह—मवति, अतदि—अने पन्म
दिग्बर दार—दीयते दारः गुरु तत् गमर्ग—गगनांगं मण्ड—वप, अत्र प
दीयन्तर—विशालपराणि, पन्मास मत्त—पंचविंशतिमात्रा पिग्बर—विचारण ॥

१५१ अत्र गगनांगमुदाहरति मन्त्रिभ्य इति । अदिभ्य लपिभ्य साधरा—
लपिभ्य—सागरादिते लपिभ्य सागरो पैसादृशा अदिता वस्य दारो इवत्
ईमार अदिभ्य—ईमारे चलिते लति, मलत्र चोत्तर—मलत्रचिपधोत्तरैषा
धिपधेति द्वावक्षिप्यं मन्त्रिभ्य—अन्तो गुरुवत्—गुर्भरा गुर्भरेयीया रावतः
विपलिभ्य—निपलीहृत्वा मन्त्रिभ्य—मन्त्रिभ्य मासवयम्—मालवयम् पन्मदि
कुम्बर—परिहृत कुम्बरान् मलत्रचिपधिमलपिगी शुक्लिभ्य—निर्लीना, लुरवत्—
लुरवानः—लुरवानदेयीया रावत रव्य मुदि—रथे मुष्ठीभूय मुदिभ्य—मुदिभ्य,
अभ्य—वातरे पलायिमुप्यसमर्थे तस्मिन्निस्त्वर्थ रिठगवत्—रिपुगव्ये दारः
पठितः ॥

१५२ १५३ अत्र (द्विप) पदीनामकं हृत्वं लक्षयति आरुणेति । हे
गुरुभ्य—गुरुभ्यः अत्र—यत्र पन्म(दि)—(प्रथमे) वरुणे इह
चोपलक्ष्यं द्वितीयेऽपि चोप्यम् आरुण—आरुण आदित्यः पादाय इति वरु
इवत्—पद्वत्तो मवति ततश्च वेवि वरुहर—वो वरुण्ये चतुष्पलाविति वारत्
दिग्बर—दीयेते तथा पाद्वत् कुम्बर—पदातिपुगर्त्तं पुरपि चतुष्पलावत्
मेकेत्यर्थः परिहृतवत्—परित्यापयत्, अत—अने पारुणि महुर्बरवरु—महुर्बर
वरुणः पद्वत्त इत्यर्थः दिग्बर—दीयेते एवं दोषह—दिग्बी मलत्, तदि—
तथा हे कुरुभ्य—वकिभ्यः सरुह लो(कु)ह पलाय(ठ)—सरुहः
सम्भवात्पलीला प्रसादं पुरविहि—पुष्पिभ्य विविह विच मुदर—विविधविचमुदरं
विविधानि अनेकपद्वराणि वाणि विद्यानि तेषां रमयीयं सर्वलोकमनोहरमित्यर्थः
अत—अदि(वि)त्वं अनेन च हृत्तेति शेषा करु—कुरुत्, अनेन हृत्ता
निर्मितं अविश्वं सर्वजनमनोहरं मकर्तति मव इति चोक्ता ।

अत्र यद्यपि इन्द्राभ्यां लघुहोत्तरगुरुमात्मकं पद्वत्तवाची तवाप्यत्र
पद्वत्तत्वाभावाप्येऽवस्थेया उदाहरणे तथैव दर्शनात् । महुर्बरवरुणभ्यां
यद्यपि पद्वत्तनामस्य पूर्वं शोपात्तत्वापि महुर्बरवरुणानां पद्वत्तवयात्त्वात्वापि
तत्पुरत्वादेवेव पद्वत्तपरो चोभ्या । नचचित् दिग्बर विष्णु वरुणमिति पाठः,

पठ द्वयोरपि दलयो. पड्द्विजगणानतर जगण स्थापयेत्यर्थः । परन्तु जुअइ दल—द्वितीयदल पदम—प्रथमम् आदौ वि वि लहु—द्वौ दलघू द्वौ दलत्वात्मक-
गणावित्यर्थ. पञ्चलि—प्रकटीकृत्य अपरमेक द्विजगण प्रकटीकृत्येत्यर्थ, दिअगण
सहिअ—जगणसहित द्विजगणैः पूर्वोक्तप्रकारेणग्रस्थितजगणैः पड्भिर्युक्तमिति
भाव, पठ इत्यनुपग. । प्रथम लघुद्वयात्मकगणद्वय संस्थाप्य अनंतरमतस्थितजगणैः
पड्द्विजगणैः सहित द्वितीय पठेत्यर्थ, तथा च प्रथमदले अस्वजगणाः पठेव
द्विजगणा. पतति, द्वितीयदले तु अत्यजगणाः सत द्विजगणाः पततीति भावः,
सिक्ख—शिखा विद्धि इति शेषः, इति स प्रसिद्धः पिंगल. भणइ—भणति ॥

१६२ अथ गाहूच्छ्रुत्सा प्रकटीकृत्य पुनः शिखा लक्षयति मत्त अठाइसेति ।
यत्र पदम (हि)—प्रथमे पअ—पदे मत्त अठाइस—मात्रा अष्टाविंशतिः
पततीति शेषः, चौए—द्वितीये पअ—पदे वत्तीस—द्वाविंशत् मत्ताइ—मात्राः
पतति, अते—पादाते लहुआ—लघु जगणस्येति भावः नियमेन पतति, ता
शुद्धा शिखा विजानीत । अत्र अते लहुआ इति दलद्वयेऽप्यते जगणोऽवश्य
देय इति सूचनीय, पड्द्विजगणाना चतुर्विंशतिर्मात्रा अत्यजगणस्य च मात्राचतुष्ट-
यमेवमष्टाविंशतिर्मात्रा प्रथमचरणे, सतद्विजगणानामष्टाविंशतिर्मात्रा अत्यजगणस्य
च मात्रा चतुष्टमेव द्वाविंशन्मात्रा द्वितीयचरणे पतति यत्र, तत् शिखानामक
वृत्तमिति फलितार्थः ।

१६३ अथ शिखामुदाहरति फुलिअ इति । ममरु बहु—बहुभ्रमराः मह-
मधूका मधूकवृक्षा फुलिअ—पुष्पिताः, रअणिपहु—रजनीप्रभुश्चद्रः किरण
लहु—लघुकिरण, वसट. अवअरु—अवतीर्ण । मलयगिरिगह्वर धृत्वा स्पृष्ट्वेति
यावत् पवण वह—(पवन) वहति, सहव कह—सहिष्ये कथं शृणु सखि निकटे
नास्ति कात ॥

१६४ अथ मालावृत्त लक्षयति पदमेति । हे शशिवदने मृगनयने यत्र पदम
चरगप्रथमचरणे एव दिअगण—नवद्विजगणाः नव चतुर्लङ्छा(ध्वा)त्मका
गणा पअल—पतति, पुणवि—पुनरपि नवद्विजगणानंतरमित्यर्थ. तह तथा रअण
ठव—रगण मध्यलपुगण स्थास्य, अतए—अते रगणाते पादाते वा वण्णे—कणो
गुरुद्वयात्मको गण पतति इति शेषः, तत गाहस्व—गाथायां सेसम्मि—शेषः
उत्तरार्द्धमिति यावत् पततीत्यनुपग, सा माला हि—तन्मालानामक वृत्तमिति
पिंगल एअ—पिंगलनाम भणता भणति ॥

१६५ अथ दोहावृत्तेन स्पष्टीकृत्य पुनर्माला लक्षयति पदमेति । पदम—प्रथमे
चरणे णव विप्रगण—नव विप्रगणाश्चतुर्लङ्छात्मकगणाः दोइ—भवति, ततश्च

१५८ अथ नंजानामकं वृत्तं लक्षयति शुभं परिभ इति । इ कमलमम्बि-
 द कमलनयने यत्र विदु पत्र—पावदमे प्रत्येकमिति शेषा दिग्भर कगन-
 दिग्भरनयगमान् पदनिशस्तपनित्यर्थः परिभ—पुष्पा अक्षत्वेति शस्त्र
 निरद—भिरतिभैवतीति शेषः, पुनर्भित्त—पुनरपि च तदनन्तरं केचनः रक्ष-
 रगन्तः मध्यमपुर्णम् इत्यर्थः सुदक्ष्य मोदण—सुधर्मान् मोदयतीति भ्रमः, क-
 यतः सुदक्ष्य मग सुदक्ष—सुधर्मानगन्तः गुणयति यथा रक्षन्तां शरी लोह-
 शोमते, कर् लेशवृत्तमिति शेषः, हे गजवरगमने त्वं मुमद—रमर येन-
 पुम्येन भावकेचनः, इति पर कलिबह—परः कल्पितः पिगलाः मगद—भ्रमति
 इति योजना ॥ यत्र पदनिशस्तपनित्यन्तरं रगन्तः प्रतिचरणं पठति । त्वं
 नंजानामकं वृत्तमिति पठितोर्थः । इत्थं च द्विपदमपेति ध्येयम् ॥

१५९ अथ दोहावृत्तेन सग्रीकृत्य नंजो लक्षयति विदु इत्येति । विदु-
 द्वयोर्लघोः प्रत्येकमिति शेषा यत्र विप्यगण—(नव) विप्रसम्भन् पत्र
 मकयत, अत—पात्रि कोरल—कोरारं मध्यमपु रगन्तमित्यर्थः ठकेदु—लघोरक्तः,
 एवं लंभ पत्र—लंभापादे नंजानामकस्य वृत्तस्य चरणे इत्यर्थः एभ्यस्तिस
 मत्—एकवक्त्रारिणामाभा, दहगण—दश गन्तान् तत्र—तत्र सुखेति—
 आनीत ॥

१६ अथ खंयामुदाहरति अहीति । अहि ललह—अहिः शेषः लल
 (य) ति स्नानप्युतो भवतीत्यर्थः कोदूधवा पाशापाठेनेति मावा । अतएव
 महि—मही वृष्णी ललह—ललति अतएव मन्नाभितः गिरिः कैलासः ललह
 पठति ललह तदाभितो हरः ललह—ललति, ललह ललह ललह
 शरी मुमद—सू (य) र्वाते अतएव अमिअ बमद—अमृतं बमति
 ललहामुत्तपन्तं मुमल—मृताः शिविभ—बीकित्वा ललह—ललति ललह
 बीकित्वात्तत्तेरा चरथापाठेन पुणु यतह—पुनरपि गच्छति महा पुणु ललह—
 पुन स्नानित कैलासः, पुणु ललह—पुनर्लल (य) ति स्नानप्युतो भवति
 शिवा ललह पुन मुमद—पुनर्पूर्वते शरी पुन बमद—पुनर्भक्तपुनः,
 पुनश्च शिविभ—बीकित्वा ललित्वा मृता इति समरे विविक्तोदकं
 परिदिहण—परिहरते ।

१६१ अथ शिवा लक्षयति लक्षिभगीति । हे शशिवरन गजगमने पत्र
 पत्र—पदे पदे प्रतिचरणमित्यर्थः पत्रहर लक्षिभ—लपकोपरलक्षणं पत्रोपरो
 चञ्चुद्वर्गगल्लपा च लपकोपरा लक्षणा शिला अत्रमागो येन तादृशान्
 अतस्मिन्नगल्लपा दिग्भरण ल—दिग्भरणं अतुर्लक्ष्यमगल्लान् पद पद—

१७०. अथ सौराष्ट्रनामकं वृत्तं लक्षयति सो सौरष्ट्र इति । ज—यत् दोहा विवरीत्र ठिअ—दोहाविपरीतस्थितिः दोहातो विपरीता स्थितिश्चरणानां स्थापनं यस्य तादृशमित्यर्थः, सो—तत् सौरष्ट्र—सौराष्ट्र सौराष्ट्रनामकं वृत्तं जाणु—जानीहि, तत्र च पञ्च पञ्च—पादे पादे प्रतिचरणमित्यर्थः जमकं चलाण—यमकं श्लाघय इति शाअराअ पिंगल—नागराजपिंगलः भणइ—भणति । अयं भावः—दोहायाः प्रथमतृतीयचरणयोस्त्रयोदशमात्राः द्वितीयचतुर्थचरणयोस्त्रयोदशमात्राः प्रथमतृतीययोश्चैकादशमात्रा देया इति ।

१७१. अथ सौराष्ट्रमुदाहरति सो माणिअ इति । स मान्यः पुण्यः गुणवत्—गुणवान् यस्य भक्तः पंडितः (स्त)नयः, यस्य गृहिणी गुणवती, सेवि—अस्यापि पुहवि—पृथ्वी सगह णिलअ—स्वर्गनिलयः स्वर्गवास इत्यर्थः ॥

१७२ अथ हाकलीनामकं वृत्तं लक्षयति सगणेति । जहा—यत्र सगणा—सगणो गुर्वैतश्चतुष्कल इत्यर्थः, भगणा—भगणो गुर्वादिश्चतुष्कल इत्यर्थः, दिजगण—द्विजगणश्चतुर्लघ्वात्मको गण इत्यर्थः, ई—एते गणा इत्यर्थः, अथ च मत्त चउद्दह—मात्राश्चतुर्दश पञ्च पलई—पादे पतति पादाते चेति शेषः, वक्तो—वक्तमेक गुरु सठइ—सस्थाप्य, विरइ—विरतिर्भवति, अतिमगुरोः प्रागेव विरतिरित्यर्थः । एहु—एतत् हाकलिरुअह—हाकलीरूप हाकलीनामकवृत्तस्य स्वरूपमित्यर्थः कहा—कथितम् । अत्र सगण—भगण—द्विजगणातिरिक्तो गणो (न) भवतीति, एते एव च स(म)स्ता व्यस्ता वा पततीति नियमस्तथाच यदि सगणत्रयानंतरं भगणत्रयानंतरं द्विजगणत्रयानंतरं वा एको गुरुः स्थाप्यते प्रतिचरणं, तथापि हाकलीवृत्तं भवति । अथ एकस्मिंश्चरणे सगणत्रयानंतरमेकं गुरुं (स) स्थाप्य तदितरचरणेषु भगणत्रयानंतरं द्विजगणत्रयानंतरं परस्परसंछैतद्वयानंतरं द्विजगणत्रयानंतरं वा एकं गुरुं स्थाप्य तदितरेषु परस्परसंछैतत्त्रयानंतरं गुरुं स्थाप्यते तत्राप्येतद्वृत्तं भवतीति न विभावनीयम् ॥

१७३ अथ नियमातरमगीकृत्य पुनर्हाकलीवृत्तं लक्षयति, मत्त चउद्दहेति । पढम दल—प्रथमदले पूर्वार्द्धं इति यावत् प्रतिचरणमिति शेषः, क्वचित् पञ्च पञ्च इति पाठस्तत्र पादे पादे अर्थात्पूर्वार्द्धस्य, उत्तरदले इत्यग्रे उक्तत्वादिति बोध्यम्, एगारह वणणेहि—एकादशवर्णं कृत्वा मत्त चउद्दह—मात्राश्चतुर्दश उत्तर दलहि—उत्तरदले उत्तरार्द्धे इत्यर्थः, प्रतिचरणम् इत्यनुपगः, दश अकलर—दशाक्षरैश्चतुर्दशमात्राः इत्यनुपगं यत्र पततीति शेषः, तत् हाकलि लुद कहेहि—हाकलीनामकं लुदं कथय ॥ अत्र च प्रथमद्वितीयचरणयोर्द्विजगणैरेव एव, अन्यथा एकादशाक्षरोक्त्यसंभवापत्तिः । तृतीयचतुर्थयोश्च द्विजगणे नैव देयः अन्यथा दशाक्षरोक्त्यसंभवापत्तिः, इति नियमे तात्पर्यमुनीयते । तथापि

अदृष्टं कृत्वा—बोद्धव्यकर्णौ रगवागुदहमात्मकगणौ उभेदु—स्वापस्य ॥ उता गमा—
गायपाः अत—अन्त्यम् अद्या—अद्यम् उतयद्यमित्यर्थः देह—दत्ता, मातापुत्रः
पदेदु—कथयत ॥ अत्र देह इत्येकरो द्वस्ये कथं । अत्र प्रथमचररो नवमज्जे
ध्यात्मकगण—रगण्य—गुदहमात्मकगणा पतति द्वितीयार्थं च गायोत्तरार्थस्वस्य
भवति, तन्मात्रानामकं वृत्तमिति फलितायाः ॥

१६६ मातामुदाहरति वरिष्ठेति । पण—पना मेघ गमन—गमने मम—
अमति, कल—कलं वरित—वर्षति मगहरन—मनोहरा विभक्त—शीतला
पकल—पवनः पाताः वातीति शेषः कथम पिच्छरि—कनकपीता किचुरि—किचुरि
मचह—वृत्तिरिति शिवा—नीपाः कम्मा कुत्सिभ्य—पुष्पिभ्यः । फलर किचर
दिभ्या—प्रस्तुत्येकस्त्रीज्जद्वयः पिठया—प्रिया मिमल—निकटे ए अचर—
नापाति ॥

१६७ अथ बुद्धिभ्यस्तानामकं वृत्तं लक्षयति, बुद्धिमातेति । रोहा कथं
रोहोपरि रोहावामिति यावत् मच्छति पंचह—मात्रा पंच यदि देह—दोक्ते, उता
बुद्धिमाता कह (१) बुद्धिमाता कथय । मच (बु) बोधायां चि प्रविचरो
उत प्रविदले वा देवाः पंचमात्रा इत्यत आह पम पम उच्येते, पदशेषरि
अत्र पदशब्दो हलवाची उदाहरणानुशेषात् तथा च एकैकदले इत्यर्था,
छंठपद—उत्थापयत पंचमात्रा इत्यनुपंगः ॥ मनु सर्वलपुण्या उत गुप्तलपुण्या
येति कीदृश एवैकल्लेखे आशौ ना स्थाप्या इत्यत आह, तुदेति—शुद्ध
कुसुमगण आशी एवमेकपुस्तत एको गुदस्ततो कपुद्वयमेतादृशः त्व इत्यर्थः ।
अतह—अतै दिभ्यह—दीयते ॥ एवं च बोधाया एकदलमि यदि पंचमात्रा
कुसुमगणत्वकपा दीयते, तथा बुद्धिमातानामकं वृत्तं मचतीति फलितायाः ॥

१६८ अमेनमेकार्यं बोधावृत्तेन पुनराह बोहालकल्लेखेति । आशौ बोहा
लकल्लेख—बोहालकल्लेखम् उच्यते—उपरि तदनंतरमित्यर्थः पंचह मच—पंचैव मात्राः ।
छंठपद—(छं) स्वापस्य एवं अदृष्टपुष्परि वीरगुह—अद्यावदोपरि विरति
इमेन मात्राणामिति शेषः, अत्रपंचाद्यमात्राणामित्यर्थः बुद्धिमाता अस्ति—
उच्यते । क्वचिद्बोहाल्लेख छंठपद इति पाठस्तत्र आशौ बोहाल्लेख—बोहाल्लेखया
बोहामात्राछंठमात्राणामिति यावत् इति व्याख्येयम् ॥

१६९ बुद्धिमातामुदाहरति राधा शुद्धेति । एता सुख्या, तमात्रः लला,
वपुः कलहकारिणी शेषको पूर्यः । अता अह—यदि बहुगुणस्तदा—बहुगुणमुत्तमपि
बहुमिः श्रीरामप्रियाप्रसन्नौर्दुया सहितमपीत्यर्थः जीवता (जन) अथ च पुने
वाहति—वाहति, तह—तदा अर—एव परितः—त्यमेत्यर्थः ॥

१७० अथ सौराष्ट्रनामकं वृत्तं लक्षयति सो सोगृह्य इति । ज—यत्
दोहा विवरीश्र टिअ—दोहाविपरीतस्थितिः दोहातो विपरीता स्थितिश्चरणानां
स्थापनं यस्य तादृशमित्यर्थः, सो—तत् सोगृह्य—सौराष्ट्रं सौराष्ट्रनामकं वृत्तं
जाणु—जानीहि, तत्र च पञ्च पञ्च—पादे पादे प्रतिचरणमित्यर्थः जमक
चत्वारण्य—यमकं श्लाघय इति शाअराअ पिंगल—नागराजपिंगलः भणइ—
भणति । अयं भावः—दोहायाः प्रथमतृतीयचरणयोस्त्रयोदशमात्राः द्वितीयचतुर्थ-
चरणयोस्त्रयोदशमात्राः प्रथमतृतीययोश्चैकादशमात्रा देया इति ।

१७१ अथ सौराष्ट्रमुदाहरति सो माणिअ इति । स मान्यः पुण्यः गुण-
वत्—गुणवान् यस्य भक्तः पंडित(स्त)नयः, यस्य गृहिणी गुणवती, मे
वि—अस्यापि पुह्वि—पृथ्वी सगह णिलअ—स्वर्गनिलयः स्वर्गवास इत्यर्थः ॥

१७२ अथ हाकलीनामकं वृत्तं लक्षयति सगणेति । जहा—यत्र सगणा—
सगणो गुर्वतश्चतुष्कन इत्यर्थः, भगणा—भगणो गुर्वादिश्चतुष्कल इत्यर्थः,
टिअगण—द्विजगणश्चतुर्लघ्वात्मको गण इत्यर्थः, ई—एते गणा इत्यर्थः, अथ
च मत्त चउद्दह—मात्राश्चतुर्दश पञ्च पलई—पादे पतति पाठते चेति शेषः,
वको—वक्रमेकं गुरु सटइ—सस्थाप्य, विरइ—विरतिर्भवति, अतिमगुरोः प्रागेव
विरतिरित्यर्थः । एहु—एतत् हाकलिरुअह—हाकलीरूपं हाकलीनामकवृत्तस्य
स्वरूपमित्यर्थः कहा—कथितम् । अत्र सगण—भगण—द्विजगणातिरिक्तो गणो
(न) भवतीति, एते एव च स(म)स्ता व्यस्ता वा पततीति नियमस्त-
थाच यदि सगणत्रयानंतरं भगणत्रयानंतरं द्विजगणत्रयानंतरं वा एको गुरुः
स्थाप्यते प्रतिचरणं, तथापि हाकलीवृत्तं भवति । अथ एकस्मिंश्चरणे सगणत्रया-
नंतरमेकं गुरुं (स) स्थाप्य तदितरचरणेषु भगणत्रयानंतरं द्विजगणत्रयानंतरं
परस्परसंस्पृष्टतद्ब्रयानंतरं द्विजगणत्रयानंतरं वा एकं गुरुं सस्थाप्य तदितरेषु परस्परं
संस्पृष्टैत्रयानंतरं गुरुं स्थाप्यते तत्राप्येतद्वृत्तं भवतीति न विभावनीयम् ॥

१७३ अथ नियमांतरमङ्गीकृत्य पुनर्हाकलीवृत्तं लक्षयति, मत्त चउद्दहेति ।
पढम दल—प्रथमदले पूर्वार्द्धं इति यावत् प्रतिचरणमिति शेषः, क्वचित्तु
पञ्चह पञ्च इति पाठस्तत्र पादे पादे अर्थात्पूर्वार्द्धस्य, उत्तरदले इत्यग्रे उक्तत्वादिति
बोध्यम्, एगारह वण्णेहि—एकादशवर्णं कृत्वा मत्त चउद्दह—मात्राश्चतुर्दश,
उत्तर दलहि—उत्तरदले उत्तरार्द्धं इत्यर्थः प्रतिचरणम् इत्यनुपगः, दह
अकलर—दशाक्षरैश्चतुर्दशमात्रा इत्यनुपगं यत्र पतनीति शेषः, तत् हाकलि
हृद कहेहि—हाकलीनामकं हृदं कथय ॥ अत्र च प्रथमद्वितीयचरणयोर्द्विज-
गणैर्देय एव, अन्यथा एकादशाक्षरोक्त्यसंभवापत्तिः । तृतीयचतुर्थयोश्च द्विजगणे-
नैव देय अन्यथा दशाक्षरोक्त्यसंभवापत्तिः, इति नियमे तात्पर्यमुन्नीयते । तथाहि

क्रमेण विवर्येण वा सगणमगणौ भवता सगणद्वयमेव भगणद्वयमेव वा (तं)
 म्नाप्य यदि द्विजगणो दीयते अथेव गुह्ययिते तत्रैकाक्षरपदं सगणमगण
 योरक्षरपदद्वयं च द्विजग(ण)स्य एकमक्षरं च गुह्येरेवमेकाक्षराक्षराणि पृथग्
 प्रतिभरणं पठति उत्तराद्धेऽपि चत्वे द्विजगणं स्थाप्यते तत्राप्येकाक्षराक्षराणि
 स्युः, तस्मादुत्तराद्धे सगणत्रयोत्तरं भगणत्रयानंतरं वा परस्परसंयुक्तत्रयानंतरं
 वा गुह्यं प्रतिभरणं स्थाप्यते तत्रैकोत्तराद्धे एकाक्षराणि पठति एवं च प्रथम
 द्वितीयत्रयोर्द्विजगणदानमगणद्वयपूर्वं लक्षणवृत्ता,*** तदनगणिकारेण चैत-
 स्लक्षणादित्यस्मत्तन्त्रचरणोदितं पद्याः सुधीभिर्बिम्बायाः ॥

१७४ अथोत्तरलक्षणाभिप्रायेण शक्योमुदाहरति उच्येति । यत्तु उच्यमाना
 णि विमलं एहं तदगो विनयरा एहिशी कता विचरुर्धु मुद्रापदं कै(को)
 यमांडमित्यर्थः, तस्य कर्णसमया सुलक्षरा ॥

१७५ अथ मधुमारनामकं वृत्तं लक्षयति वस्तु पठति । वस्तु—यस्य परयो
 इति शेषः वज्रमय वेदि—अनुमानिको द्वौ पठतः, वेत्त—शेषे पाठति इत्यर्थः
 एवम्—एकः अनुमानिक इत्यर्थः (पल)६—पठति कर्तव्ययोर्द्वौ अनुमानिकयो
 र्वादिमधुमारनामिको जगन्मय एव पठतीत्यर्थः, एहि—एतत्, मधुमारनामक
 मेतद्ब्रह्ममित्यर्थः ॥

१७६ मधुमारमुदाहरति । अरि-ति । यत्तु शीर्षं चंद्रा पिबन् दिक् । उ रेक
 शम्भु मर्धं मुने ददातु ॥

१७७ अथामीरनामकं वृत्तं लक्षयति गच्छेति । यत्र गच्छ मत्—एकक्षर
 मात्रा क्रियते, पयोधरा दीयते कर्तव्यास्तैकक्षरमात्रास्तु अतिममात्रास्तद्वयं मात्र-
 स्वरूपमेव स्थाप्यते इत्यर्थः (पल)६—एतत् आमीर मुच्छेत्—आमीरा मुच्छेत्
 इति पितृशरीरा कल्पति ॥

१७८ आमीरमुदाहरति । यस्याः पीनपयोधरभारे मोक्षिकः क्षारा लोच्य—
 मुच्छति शीर्षविद्यालोकना वा मुच्छती गुर्व(री) नारी ॥

१७९ अथ दंडकलं लक्षयति कुंतलक इति । कुंतलपरा वस्तुभेदा इत्यत्र
 गच्छरा एतन्मत्तमत्तवत्तुभेदं, तत् कलकल—कलकला, एतत्तु गुह्यवत्तु—गुह्य
 संयुक्तम् अतस्मिन्तैकगुह्यमित्यत्रा विधि पाठक—पठति इत्यर्थः अतस्मिन्मत्तमित्यर्थः,
 एवं इत्ये—पूर्वाद्धे उत्तराद्धे चैत्यर्थः, कलीस मत्तह—आविशन्मात्राः पद्य—पारै
 पठति प्रत्येकमिति शेषः संयुक्त(त) चरणयुक्तवत्तु इत्यर्थः अतस्मिन्मत्त(त)—
 अतस्मिन्मत्तमित्यत्रा लड कल—राते कला मयति तत् रूप लक्ष्य—सुमीलक पठि
 भासिम कलड—पठिमाभितरुणं शुभमौ—शुभने दंडकल विचरत—दंडकल

निरुक्तः इति पैंगलिका मनसि जल्पति हे बुधजनाः यूय हिअवतले—हृदयतले
जाणहु—जानीत । यत्र प्रथमं चतुष्कलचतुष्टयं तत एकः पट्कलः ततश्च
पुनश्चतुष्कलद्वयं तत एको गुरुः प्रतिचरणं पतति, तद्दंडकलनामकं वृत्तमिति
फलितार्थः ॥

१८० दंडकलमुदाहरति राअह इति । इअ गअ घर घरिणी—हयगज(गृह)
गृहिणीः परिहरि—परित्यज्य भगता—पलायमानाः केचन राअह—राजानः दिअ
लगाता—दिक्षु लग्नाः दिगन्त गता इत्यर्थः, तेषां चेति शेषः लोरहि—अश्रुभिः
भरु सरवरु—भृताः सरोवराः, कश्चिच्च पथ परु परिकरु—पाटपतितनिगडः
धरणी—घरण्या लोहृइ—विचेष्टते, तनु शरीरं च पिट्टइ—ताडयति, कर दतगुलि—
कृतदतागुलिः सन् पुण उट्टइ सभलि—पुनरुत्तिष्ठते सावधानीभूय, बाल तणअ फर
जमलकरे—बालतनयकरेण नमस्कारं कारयति । इदं च जातिवर्णनं । तथावस्थ
च दृष्ट्वा तं रोहलु काआ—स्नेहकायः कासीसर राआ—काशीश्वरराजः
माआ—माया दया करि—कृत्वा पुनः यप्पि धरे—संस्थाप्य धृतवान् स्वराज्ये
रक्षितवानित्यर्थः ॥

१८१ अयं दीपकनामकं वृत्तं लक्षयति सिरं देहेति । सिर—शिखि आदा-
वित्यर्थः चउ मत्त—चतुर्मात्रिकं गणं देह—स्थापय, अत—अतः पादाते लहु
एक्क—लघुमेकं कद—कुरु, तसु—तयोः चतुर्मात्रिकैकलघुकगणयोरित्यर्थः मज्झ-
—मध्ये कुतेक्क—कुतमेकं पञ्चकलमेकमित्यर्थः कुरु इति पश्चात्तनेनान्वयः, दीपक
सोउ वुज्झ—दीपकनामकं (तत्) वृत्तं जानीहीत्यर्थः । यत्र प्रथमं चतुष्कलस्ततः
पञ्चकलस्तत एको लघुः प्रतिचरणं पतति, तद्दीपकनामकं वृत्तमिति फलितार्थः ।
क्वचित् कुतच्चि तसु मज्झेति पाठस्तत्र अते दलते एकं लघुं कुरु, कुंतति—
कुतत्रयं तसु—तयोश्चतुर्मात्रिकैकलघुकगणयोः मज्झ—मध्ये कुरु इत्यर्थः । इदं
च एकैकदलामिप्रायेण, अन्यथैकैकपादे चतुष्कलत्रयस्याभावादसमवापत्तिरिति
दृष्टव्यं । प्रथमं यत्र चतुर्मात्रिकस्ततः पञ्चकलत्रयं ततो लघुः प्रतिदलं पतति, तदा
(टी) पकं वाळु इति द्वितीयपाठे निर्गलितार्थः ॥

१८२ अयं दीपकमुदाहरति जसु इत्यर्थः इति । विपक्ख कुलकाल—विपक्ष-
कुलकालं करवाल खड्डः जसु इत्यर्थः—याय इस्ते, सोह—शोभते, यस्य सिर—
(शिर) सि वर छत्त—वरच्छत्रं, सपूर्णशशिवत्, अथवा संपूर्णशशिमात्रं
पौरिणमचद्रमङ्गलप्रमाणमित्यर्थः शोभते इति पूर्वगैवान्वयः ॥

१८३ अयं सिंहावलोकनामकं वृत्तं लक्षयति गणं विष्पेति । पअइ पअ—
पादे पादे गणं विष्पं सगण—विप्रगणसगणौ घरि—घृत्वा, छुदवर—छुदः श्रेष्ठ

सिंहस्य लोभः—विहावलोभं गण, तदु—तस्मिन्, म बगणा न मगना न
 कर्मगणः । बगणो मध्यगुर्गणा, मगणो गुर्गादिगणा, बर्गो गुरुहस्तमन्त्रो
 गणः एते तत्र न पततीत्यर्थः, इति ख्याम मग—नाग भवति । हे गुमि मग—
 गुमिचनाः पूर्यमिति (शेष) मग बुभुक्ष—मनसि बुभुक्षम् ॥ अथ विप्र-
 गणयोः क्रमिकयोः समुदितयोर्वा आपने न नियमा, किंतु एताभ्यामेव व्यस्ततम-
 स्ताभ्यां पादे योदशकृताः पूरणीयाः, एताभ्यामतिरिक्तस्य गणो न देवः । अतए-
 वोहादयो प्रथमपादे न (स) गणश्चतुष्टयेनैव योदशमात्राः पूरिताः द्वितीयचरसे
 च प्रथमविप्रहसमन्तरं सगणद्वयमित्युमाभ्यामेव योदशकृताः पूरिताः तृतीये च
 पुनः सगणद्वयचतुष्टयेनैव पूरिताः * * * न त्वन्तो गणो इत्यं, न त्वेतावेव
 क्रमिकसमुदितविति ब्रह्मण्यम् ॥

१८४ अथैनमशर्ये विशदीकृत्य द्विपरिक्रपाह विष्य स्यायेति । विष्य ध्वज
 पत्र देयि गत्र—विप्रसगणौ पादे द्वावेव गणौ कृत—कृतं पादस्ते हार—हारं गुरुं
 विस्मयद्दि—विस्मयं, पादांत सगलान्ताः पक्षितं गुरुं विस्मयं न त्वम्यमित्यर्थः तथा
 च पादस्ते सगण एव देय इति नियमो ज्ञम्यते इति । हेरि—निरीक्ष्य विमाम्,
 पञ्चा—परचात् सोलह कृत पचार योदशकृतास्तारं योदशकृताः प्रस्ताप्येति
 अरिमन्नेतादृष्टमित्यर्था कश्च—कश्चित् कुरु, एतस्तत्त्वार्थं विमाम् परन्वादेतच्छ्रुत्वा
 कश्चित् कुरु इत्यर्थः ॥

१८५ अथ विश्वलोकमुत्तरयति इत्यु इति । इत्येवमस्तगुर्गणयदृष्ट
 दरदक्षितवासितमहाराजकलाः कलमोदितमालवराकुलाः, एमादृष्टा
 कुल उदक—उदककुलाः, कल्पति (कल्प)—कल्पितवशोद्भव कर्म
 कुल—सुखति ॥

१८६ अथ सर्वगमना (म) क इति लक्षयति कवेति । कल्प—यत्र पद्म
 —प्रथम पादाद्वित्यर्थः कृअ मत्त—पञ्चाशत्त पञ्चशत—पादे पा (हे)
 दिव्यद—दीयते, उत्तम्य अठमस गण—चतुर्माशस्य गणा दिव्यद—दीयते
 इति पूर्वैषीवान्वयः, पंचमस—पंचमाशाकगणो णदि दिव्यद—न क्रियते ।
 पद्मस्तनवरं चतुर्माशाकगणेनैव पादपूर्व कर्त्तव्यं न ह पंचमाशाकगणेनेत्यर्थः ।
 अने—पारात इत्यर्थं धमति—उत्तम्य एकक—एकैकं लघु गुरु—लघुगुरुं
 आदय—आदेदस्ते पादस्ते लघुगुरु अरपकमेव स्थावनीयमित्यर्था हे मुदि—
 मुदे तर् सर्वगमपक्षो विलक्षणं शोभते ॥ अथ पद्मस्तोत्तरं यचारमर्ष
 वरितैश्चतुर्माशानैः न तु पंचमाशानैः पादस्ते अरपकपदेवैषां च लघुगुरुना
 प्रतिचरणमैवविशक्तिः ज्ञाता पूरणीया इति धर्मशुभाः ॥ तथाच प्रथममेकः

पदकलस्ततश्चतुष्कलत्रय ततो लघ्वादिस्त्रिकलः यत्र प्रतिचरण पतति, तत् स्रवग
(म) नामक वृत्तमिति फलितार्थः ॥

१८७ * * * * *

१८८. अथ स्रवंगममुदाहरति, हे सहि—सखि, यत् चंचल विज्जुलिआ—
चंचला विद्युत् णच्चद्—नृत्यति, एत (अतो) मम्मद्—मन्मथः जलहर साणए—
जलधरशाणके मेघस्वरूपशस्त्रोल्लेखने यत्रे इत्यर्थः खाग किणीसद्—प (ख)
ङ्ग लीक्षयति इति आणए—जायते । फुल्ल कटवञ्च—पुष्पिताः कटम्बकाः,
अंबराड्जर. दृश्यते, घनाघन. वरीसए—वर्पति, अतः हे सुमुखि पाउस पाउ—
प्रावृट् प्राप्ता न तु कात इति भावः ॥

१८९. अथ लीलावतीनामक वृत्त लक्षयति गुरु लहु इति । जहि—यत्र
गुरु लहु णहि णिम्म—गुरोर्लघोर्नास्ति नियम एतावतो गुरव एतावतो
लघवश्च यत्र पततीति नियमो नास्तीत्यर्थः, अक्खर—अक्षरेऽपि णिम्म
णहि—नियमो नास्ति, एतावत्यक्षराणि पततीत्यपि यत्र न नियम इत्यर्थः,
विस्म सम—विषमे (समे) पयोधरः जगण. पलइ—पतति इत्यपि कहु णहि
णिम्म—कुत्रापि चरणे नास्ति नियमः, किन्तु गण पच चउक्कल—गणाः
पच चतुष्कलाः चतुष्कलभेदात्मकाः पचगणा इत्यर्थः, प्रस्तारक्रियया चतुष्कलस्य
पच भेदा ये भवती ते सर्वेऽपि व्यस्ता समस्ता विपर्यस्ता इति हृदय । ते कियतः
पतति इत्यत्र हेतुः कल वत्तीसेति, तथा च द्वात्रिंशन्मात्राः पूरका अष्टौ चतुष्कलभेदा
इति भावः, निरतरमितरगणातराव्यवहितमित्यर्थः पलइ पतति, अतः—अतै
पादाते इत्यर्थः, कत गण कातगण सगण इत्यर्थः, ध्रुव निश्चित पत (ती) ति
पूर्वेणान्वयः, यच्च छुदः जेम यथा तरल तुरञ्च—तरलतुरगः, तथा विदिशि दिशि
अगम गम—अगम्ये गम्ये पसरइ—प्रसरति सुपरि—पादे (१) परिलील—
परित. लीलया, परिचलइ—परिचलति, सा लीलावती तत् लीलावतीनामक वृत्त,
कल वत्तीस—कलासु द्वात्रिंशन्तु विसाम करे—विश्राम करोति इति योजना ॥
यत्र सप्तचतुष्कलानंतर सगणः प्रतिचरण पतति, सा लीलावतीति फलितार्थः ॥

१९०. अथ लीलावतीमुदाहरति, सव अरि धरेति । जखण वीर हमीर
चले—यस्मिन् क्षणे वीरहम्मीरश्चलित, तस्मिन् क्षणे इति शेषः सर्व (व)
अरि धर—सर्वारिग्रहेषु अग्नि—अग्निः धह धहेत्यज (नु) करण (कइ—) कुत्वा
जलइ—ज्वलति, दिग मग णह पह—दिग्भागं नभःपथ अणलमरे—अनलभृतः
अग्निना परिपूर्ण इत्यर्थः जात इति शेषः, घण थण हर जवग देआव करे—
धनिस्तनभरजघनदत्तकर वनिनीनाम् अरिविज्जाना स्तनभरे जघणे च दत्त करो
येन स तादृश इत्यर्थः पाइक्क—पदातिः सव दीस पसरि—सर्वदिक्षु प्रसृत्य

पट्कलस्ततश्चतुष्कलत्रय ततो लघ्वादिस्विकलः यत्र प्रतिचरण पतति, तत् लघव
(म) नामक वृत्तमिति फलितार्थः ॥

१८७ * * * * *

१८८. अथ लघ्वगममुदाहरति, हे सहि—सखि, यत् चचल विज्जुलिश्रा—
चचला विद्युत् णच्चह—नृत्यति, एत (अतो) मम्मह—मन्मथः जलहर साणए—
जलघरशाणके मेघस्वरूपशस्त्रोल्लेखने यत्रे इत्यर्थः खग किणीसइ—प (ख)
ङ्ग तीक्ष्णयति इति जाणए—जायते । फुल्ल कटवन्न—पुष्पिताः कटम्बकाः,
अबराहवरः दृश्यते, घनाघनः घरीसए—वर्पति, अतः हे सुमुखि पाउस पाउ—
प्रावृट् प्राप्ता न तु कात इति भावः ॥

१८९. अथ लीलावतीनामक वृत्त लक्षयति गुरु लहु इति । जहि—यत्र
गुरु लहु णहि णिम्म—गुरोर्लघोर्नास्ति नियमः एतावतो गुरु एतावतो
लघवश्च यत्र पततीति नियमो नास्तीत्यर्थः, अक्खर—अक्षरेऽपि णिम्म
णहि—नियमो नास्ति, एतावत्यक्षराणि पततीत्यपि यत्र न नियम इत्यर्थः,
विसम सम—विपमे (समे) पयोधरः जगण पलइ—पतति इत्यपि कहु णहि
णिम्म—कुत्रापि चरणे नास्ति नियमः, किन्तु गण पच चउक्कल—गणाः
‘पच चतुष्कला’ चतुष्कलभेदात्मकाः पचगणा इत्यर्थः, प्रस्तारक्रियया चतुष्कलस्य
‘पच भेदाः ये भवती ते सर्वेऽपि व्यस्ताः समस्ता विपर्यस्ता इति हृदय । ते कियतः
पतति इत्यत्र हेतुः कल वतीसेति, तथा च द्वात्रिंशन्मात्राः पूरका अष्टौ चतुष्कलभेदा
इति भावः, निरतरमितरगणातराव्यवहितमित्यर्थः पलइ पतति, अत—अतै
पादाते इत्यर्थः, कत गण कातगण सगण इत्यर्थः, ध्रुव निश्चित पत (ती) ति
पूर्वेणान्वयः, यच्च छुदः जेम यथा तरल तुरअ—तरलतुरगः, तथा विदिशि दिशि
अगम गम—अगम्ये गम्ये पसरइ—प्रसरति सुपरि—पादे (१) परिलील—
परित लीलया, परिचलइ—परिचलति, सा लीलावती तत् लीलावतीनामक वृत्त,
कल वतीस—कलासु द्वात्रिंशत्सु विसाम करे—विश्राम करोति इति योजना ॥
यत्र सतचतुष्कलानतर सगणः प्रतिचरणं पतति, सा लीलावतीति फलितार्थः ॥

१९०. अथ लीलावतीमुदाहरति, सव अरि घरेति । जखण वीर हमीर
चले—यस्मिन् क्षणे वीरहमीरश्चलितः, तस्मिन् क्षणे इति शेषः सर्व (व)
अरि घर—सर्वारिगृहेषु अगि—अग्निः घह घहेत्यज (तु) करण (कइ—) कुत्वा
जलइ—ज्वलति, दिग मग णह पह—दिग्मार्गः नमःपथ अणलमरे—अनलभृतः
अग्निना परिपूर्ण इत्यर्थः जात इति शेषः, घण थण हर जघण देआव करे—
धनित्तनभरणनदत्तकरः धनिनीनाम् अरिविराडाना स्तनपरे जघणे च दत्तः करो
येन स तादृश इत्यर्थः पाइक्क—पटातिः सव दीस पसरि—सर्वदित्तु प्रसृत्य

विहस्य लोहर—विहायस्तोत्रं मय, तसु—तस्मिन्, न भगवः न भगवः न भगवः न भगवः । भगवो मय्यगुरुगणः, भगवो गुर्वादिगणः नर्त्तं गुरुद्वयभक्तौ गणा, एते सप्त न पतंतीत्यथा, इति यावत् मया—नाम भवति । हे गुणिभ्यः—गुणिभ्यः यूपमिति (योपा) मया हुसमम्—मनसि हुसपत्नम् ॥ अत्र विपक्षगणयोः क्रमिकयोः समुद्दिष्टयोर्वा स्थापने न नियमा, किंतु एताभ्यामेव प्रकृतमस्त्याम् पादे षोडशकलाः पूरणीयाः एताभ्यामतिरिक्तं गणो न देयः । अतएव बोधादहयो प्रथमपादे न (छ) गण्यन्तुद्वयेनैव षोडशमात्राः पूरिताः द्वितीयकरो च प्रथमविपक्षपदमन्तरं सगण्यन्तुद्वयेनैव षोडशकलाः पूरिताः तृतीये च पुनः सगण्यन्तुद्वयेनैव पूरिताः * * * न तन्मो गण्यो दसः, न तैत्रयेन क्रमिकसमुद्दिष्टाविति द्रष्टव्यम् ॥

१८४ अथैतमेवार्थं विराहीकृत्य द्विपदिकमाह विप्य सगदेति । विप्य सगदं यत्र वेति गम—विप्यसगदे पादे द्वावेव गण्यौ अंत—अंत पादोऽस्ति द्वार—द्वारं गुदं विस्तरयति—विस्तरं, पादांत सगजान्तः पतितं गुदं विस्तरं न तन्मयमित्यर्थः, तथा च पादोऽस्ति सगदः एव देव इति नियमो सम्भवे इति । हेरि—निरीक्य विमाम्, पञ्च—पञ्चाद् लोहाद् कल पदार्थं षोडशकलास्तारं षोडशकलाः प्रस्ताप्ये अस्मिन्नेतादृशमित्यथा कइत्—कश्चित् कुब, एतत्सगदं विमाम् पञ्चादेत्यर्थः दस कश्चित् कुब इत्यर्थः ॥

१८५ अथ विहायस्तोत्रमुदाहरति इयु इति । इत्येवस्तोत्रमुदाहरत्य, इदंस्तोत्रं चास्मिन्नेतादृशं कलमोदितमालावराकुलाः एतादृशं कुलं उच्यते—उच्यते कुलः, कइत्ति (कम्)—कइत्तिवशोद्भवः कम् कुरा—कुरति ॥

१८६ अथ प्रवर्गमना (म) कं कृतं लक्षयति कथेति । अय—अय पद्यम्—प्रथमं पादाशक्तित्वार्थः कम् मत्—पञ्चमात्रायां पञ्चमपद्य—पादे पा (हे) दिवद—दीयते, ततश्च अतमस गणा—अतमसायां गणा दिवद—दीयते इति पूर्वैर्गणान्तरा पञ्चमस—पञ्चमात्रायां गणि दिवद—म क्रियते । पदकल नतरं अतमसायां गण्येनैव पादपूर्व कर्त्तव्यं न तु पञ्चमात्रायां गण्येनैव । अते—पादाऽ इत्यर्थः संभति—तस्मिन् एककल—एकैकं लक्षं गुद—समुद्गुदं वाह—अपेक्षयते पादो लक्षगुरु अस्मिन्नेतादृशं स्थापनीयमित्यर्थः हे सुद्धि—गुद्धे तन् प्रवर्गमपत्तुपो विस्तृतं शोभते ॥ अत्र पदकलांतरं वयार्थमर्थं पतितैश्चतुर्मात्रादेः न तु पञ्चमात्रादेः पादो अस्मिन्नेतादृशं स्थापनीयं लक्षगुरुमां प्रतिचरन्नेकविंशति कलाः पूरणीया इति उच्यते ॥ तथाच प्रथममेव

पट्कलस्ततश्चतुष्कलत्रय ततो लघ्वादिस्त्रिकलः यत्र प्रतिचरण पतति, तत् स्रवण
(म) नामक वृत्तमिति फलितार्थः ॥

१८७ * * * * *

१८८ अथ स्रवंगममुदाहरति, हे सहि—सखि, यत् चचल विञ्जुलिश्चा—
चचला विद्युत् णच्चइ—नृत्यति, एत (अतो) मम्मइ—मन्मथः जलहर साणए—
जलघरशाणके मेघस्वरूपशस्त्रोल्लेखने यत्रे इत्यर्थः खगग किणीसइ—प (ख)
ङ्ग तीक्ष्णयति इति जाणए—जायते । फुल्ल कटवन्न—पुष्पिता. कदम्बका,
अंबराडवरः दृश्यते, घनाघन. बरीसए—वर्षति, अतः हे सुमुखि पाउस पाउ—
प्रावृट् प्राप्ता न तु कात इति भावः ॥

१८९ अथ लीलावतीनामक वृत्त लक्षयति गुरु लहु इति । जहि—यत्र
गुरु लहु णहि णिम्म—गुरोर्लघोर्नास्ति नियम एतावतो गुरव एतावतो
लघवश्च यत्र पततीति नियमो नास्तीत्यर्थः, अक्खर—अक्षरेऽपि णिम्म
अहि—नियमो नास्ति, एतावत्पक्षराणि पततीत्यपि यत्र न नियम इत्यर्थः,
विसम सम—विषमे (समे) पयोधरः जगण पलइ—पतति इत्यपि कहु णहि
णिम्म—कुत्रापि चरणे नास्ति नियमः, किन्तु गण पच चउक्कल—गणाः
पच चतुष्कला चतुष्कलभेदात्मकाः पचगणा इत्यर्थः, प्रस्तारक्रियया चतुष्कलस्य
पच भेदा ये भवती ते सर्वेऽपि व्यस्ता. समस्ता विपर्यस्ता इति हृदय । ते कियतः
पतति इत्यत्र हेतु. कल बत्तीसेति, तथा च द्वात्रिंशन्मात्रा. पूरका अप्यौ चतुष्कलभेदा
इति भावः, निरतरमितरगणातराव्यवहितमित्यर्थः पलइ पतति, अत—अतै
पादाते इत्यर्थः, कत गण कातगण सगण इत्यर्थः, ध्रुव निश्चित पत(ती)ति
पूर्वेणान्वयः, यच्च छुदः जेम यथा तरल तुरअ—तरलतुरगः, तथा विदिशि दिशि
अगम गम—अगम्ये गम्ये पसरइ—प्रसरति सुपरि—पादे (?) परिलील—
परित. लीलया, परिचलइ—परिचलति, सा लीलावती तत् लीलावतीनामक वृत्त,
कल बत्तीस—कलासु द्वात्रिंशत्सु विसाम करे—विश्राम करोति इति योजना ॥
यत्र सतचतुष्कलानंतर सगणः प्रतिचरण पतति, सा लीलावतीति फलितार्थः ॥

१९० अथ लीलावतीमुदाहरति, सव अरि घरेति । जखण वीर हमीर
चले—यस्मिन् क्षणे वीरहमीरश्चलित, तस्मिन् क्षणे इति शेष सर्व(व)
अरि घर—सर्वारिगृहेषु अग्नि—अग्नि. धह धहेत्यल(तु) करण (कइ—) कृत्वा
जलइ—ज्वलति, दिग मग गह पह—दिङ्मार्गं. नभःपथ अणलभरे—अनलभृत
अग्निना परिपूर्ण इत्यर्थः जात इति शेष, घण थण हर जघग देआव करे—
धनिस्तनभरजघनदत्तकर धनिनीनाम् अरिविबद्धाना स्तनभरे जघने च दत्त करे
येन स तादृश इत्यर्थः पाइक्क—पदातिः सव दीस पसरि—सर्वदिक्षु प्रसृत

विष्णु लाघव—विष्णुलोचनं मय, तमु—तस्मिन्, न ह्य—न भवत्य
 कथम् । अतो मय्युत्तरं मयो गुणवर्धनं, यत्तु गुणवर्धनं
 गण, एते तत्र म पर्वतीत्यर्थः, इति यावत् मय—जाग मयति । हे गुणमा-
 गुणिवना यूपमिति (शेष) मय कुमभय—मनति गुणवर्धन ॥ अथ विष्णु-
 गमयोः क्रमिकतोः समुत्तिषोर्बा स्थाने न नियमः, किं एवमन्ते मय-
 मययो पाते योऽवकाशा पूरणीयाः, एताभ्यामतिरिक्तं यदो न देव । अथ
 योऽवकाशं प्रथमपादे न (स) मयचतुष्टयेनैव योऽवकाशा पूरिता द्वितीयाव-
 च प्रथमविष्णुमन्तरं सगमयमिच्छुममममेव योऽवकाशा पूरिता, तृतीये च
 पुनः सगमयचतुष्टयेनैव पूरिता * * * न तस्य गतो दत्तः, न तेषां
 क्रमिकसमुत्तिषविति दृष्टव्यम् ॥

१८४ अथैतमेवार्थं विवक्षीकृत्य द्विपक्षिपादं विन सगमेति । विन सगम
 पत्र द्वेवि गव—विप्रसगमे पादे ह्येव गमो अत—अतः पारति हार—हर्तुं
 विप्रसगहि—विप्रसग, पादोऽतः सगमन्तः पतिव गुणं विप्रसगर न तस्यमित्यर्थः, तत्र
 च पादति सगम एव देव इति नियमो लभ्यते इति । हेरि—निरीक्ष विमम्
 पञ्चा—परचात् सोलह कल पञ्चाय योऽवकाशस्तारं योऽवकाशः प्रस्ताप्यते
 अस्मिन्नेतादृशमित्यर्थः कहच—कवित्वं कुच एतत्तत्तत्तत् विमाम् परचादेवचरत्
 कवित्वं कुच इत्यर्थः ॥

१८५ अथ विष्णुलोचनमुदाहरति इत्यु इति । ह्येवमन्तगुणवर्धनं,
 दरदसितचासितमहाराजकलाः कलमोरितमालपरामकुलः, एतादृशः
 कुल उच्यते—उच्यते कुलः कचुति (कच)—कचुतिर्लोचनम् कच
 कुल—कचुति ॥

१८६ अथ पूर्वगमना (म) क इत्तं लघ्वरति कथेति । अथ—पत्र पत्रम्
 —प्रथमं यथाशक्तिपूर्वः कथं मय—पञ्चाभाका पञ्चपञ्च—पादे पा (१)
 विप्रसग—दीवते तत्र च तमत्त गता—चतुर्मात्राया गता विप्रसग—दीवते
 इति पूर्वैवैवान्वयाः पञ्चमत्त—पञ्चमाभाकगणः नहि विप्रसग—म क्रियते ।
 पदकलान्तरं चतुर्मात्राकगण्येनैव पादपूर्व कर्तव्यं न तु पञ्चमाभाकगण्येनैव ।
 अने—पादोऽत इत्यर्थः संमलि—सम्पुन्य एकक—एकेकाः सप्त गुण—सप्तगुण-
 चादय—अपेक्षते पादति सप्तगुण अथयकमेव स्थायीपादित्यर्थः हे मुनि—
 मुने तत् प्रथममन्त्रो विलक्षणं योग्यते ॥ अथ पदकलोत्तरं यथाशक्ति
 पठितैश्चतुर्मात्राः म तु पञ्चमाभाकः पादति अथवापेक्षार्थं वाच्यं च सप्तगुणम्
 मतिपरममेव विवक्षितः कलाः पूरणीया इति व्यपश्या ॥ तथाच प्रथममेव

पट्कलस्ततश्चतुष्कलत्रय ततो लघ्वादिस्त्रिकलः यत्र प्रतिचरण पतति, तत् स्रवग
(म) नामक वृत्तमिति फलितार्थः ॥

१८७ * * * * *

१८८, अथ स्रवगममुदाहरति, हे सहि—सखि, यत् चचल विञ्जुलित्रा—
चंचला विद्युत् णच्चइ—नृत्यति, एत (अतो) मम्मइ—मन्मथः जलहर साणए—
जलधरशाणके मेघस्वरूपशस्त्रोल्लेखने यत्रे इत्यर्थः खग्ग किणीसइ—प (ख)
ङ्ग तीक्ष्णयति इति जाणए—जायते । फुल्ल कटवअ—पुष्पिताः कटम्बकाः,
अंबराडरः दृश्यते, घनावन. वरीसए—वर्षति, अत. हे सुमुखि पाउस पाउ—
प्रावृट् प्राप्ता न तु कात इति भावः ॥

१८९, अथ लीलावतीनामक वृत्त लक्षयति गुरु लहु इति । जहि—यत्र
गुरु लहु णहि णिम्म—गुरोर्लघ्वोर्नास्ति नियम एतावतो गुरव एतावतो
लघवश्च यत्र पततीति नियमो नास्तीत्यर्थः, अक्खर—अक्षरेऽपि णिम्म
अहि—नियमो नास्ति, एतावत्यक्षराणि पततीत्यपि यत्र न नियम इत्यर्थः,
विसम सम—विपमे (समे) पयोधरः जगण पलइ—पतति इत्यपि बहु णहि
णिम्म—कुत्रापि चरणे नास्ति नियमः, किन्तु गण पच चउक्कल—गणा.
पच चतुष्कला चतुष्कलभेदात्मकाः पंचगणा इत्यर्थः, प्रस्तारक्रियया चतुष्कलस्य
पच भेदाः ये भवती ते सर्वेऽपि व्यस्ताः समस्ता विपर्यस्ता इति हृदय । ते कियतः
पतति इत्यत्र हेतुः कल वत्तीसेति, तथा च द्वात्रिंशन्मात्रा पूरका अष्टौ चतुष्कलभेदा
इति भावः, निरतरमितरगणातराव्यवहितमित्यर्थः पलइ पतति, अत—अतै
पादाने इत्यर्थः, कत गण कातगण सगण इत्यर्थः, ध्रुव निश्चित पत (ती) ति
पूर्वेणान्वयः, यच्च छुदः जेम यथा तरल तुरअ—तरलतुरगः, तथा विदिशि दिशि
अगम गम—अगम्ये गम्ये पसरइ—प्रसरति सुपरि—पादे (१) परिलील—
परित. लीलाया, परिचलइ—परिचलति, सा लीलावती तत् लीलावतीनामक वृत्त,
कल वत्तीस—कलासु द्वात्रिंशन्तु विसाम करे—विश्राम करोति इति योजना ॥
यत्र सतचतुष्कलानंतर सगणः प्रतिचरण पतति, सा लीलावतीति फलितार्थः ॥

१९०. अथ लीलावतीमुदाहरति, सव अरि घरेति । जखण वीर हमीर
चले—यस्मिन् क्षणे वीरहम्मीरश्चलितः, तस्मिन् क्षणे इति शेष सर्व (व)
अरि घर—सर्वारिग्घेषु अग्नि—अग्निः घह घटेल्यन (नु) करण (कइ—) कृत्वा
जलइ—ज्वलति, दिग मग गाह पह—दिग्मागं नभःपथ अगलभरे—अनलभृतः
अग्निना परिपूर्ण इत्यर्थः जात इति शेष, घण थण हर जघग देआव करे—
घनिन्ननभरवभनदत्तः घनिनीनान् अरिविद्यद्वाना स्तनभरे जघणे च दत्त करो
येन स तादृश इत्यर्थः पाइक्क—पदातिः सप्त दीप्त पसरि—सर्वदिक्षु प्रसृतः

गुरुर—मलति, भेरिभ भेरिभ सद पले—भैरवमेपीशब्दः पतति, मभ लुकिभ—
मर्धनशीनस्पतिः भेरि तरुणि भग—यैरितरुणीभना महि गुरुर—मह्यं विवेरते,
पिहुर—साहयति रोदस्पतीति भावः, रिठ तिर दुष्टिभ—रिपुधिरति युति ॥

१६१ अथ हरिगीतनामकं वृत्तं लक्षयति, गण चारि (री) ति । पम
पम्भदि (इ)—पादे पादे प्रतिघरणमित्यर्थः प्रथमं गण चारि—गणभतुरा
पंचकलान् ठविरुभन्तु—स्थापयत, बीम ठामदि—द्वितीये स्थाने प्रथमपंचकलानां
नंतरमिति पावत् लक्षकलो—पद्व्यन् स्थापयतेति पूर्वोक्तान्वाया, तपाच कर्त्तमेतु
चतुःपंचकलेषु प्रथमपंचकलानंतरमेकं पद्वलं संस्थाप्य अनंतरमुर्वीरिवाभ्य
पंचकला गणः कथं इति पयवसिद्धेयः । अंतहि अते पदसि इत्यं गुड करिभन्तु—
गुडमेकं कुडव, इह चारि गुड इह इह—इह कतस्तः द्वे इह द्वे एवं मत्त
अहाराकमे—मात्रा अष्टाविंशतिः पमाग्रह—प्रमाणस्य पिगलेन पम्भदिभ्ये—
पिगलेन प्रकशितं, कण्ठयोगे सुष्ठ्वन्तो—कर्मनेन सुष्ठ्वन्तं सुतरां कर्त्ता समीचीन
मित्यर्थः पठिद—प्रच्छिदं हरिगीतं लुद—हरिगीतं लुदः बाणहु—अनीति ।
प्रथममेकः पंचकलस्तत एकः पद्वलस्ततस्याः पंचकलास्तत एकं गुडः न
पतति उद्वाविंशतिमात्राकचरणं हरिगीतनामकं वृत्तमिति कलत्तयः ।

१६२ अथैनमेवार्थं दोहावृत्तेनाह, पीए लक्षक इति । अथ हरिगीतार्थ-
इतीत्याह्वारमीयं, चारि पंचकल—चतुरः पंचकलान् देहु—इत । पीए—
द्वितीये स्थाने प्रथमपंचकलानंतरमित्यर्थः लक्षक एकं कहु—पद्वलमेकं
कयवत अते—पादसि मावत्—मानसमकं गुरमित्यर्थः ठवैनु—स्थापयत, कारर
ठवर—आदयोचरा मत्त सत—मात्रा शतं चतुरश्रकलमुद्रिता अनीतेति दोषा ॥

१६३ अथ हरिगीतमुदाहरति यम गणहीति । गण गवैः स्रु बुकिभ—
लौकिका मुद्रार्थं मिश्रिता इत्यर्थः, गुरभ गुरभदि—गुरगास्तुरगैः सह बुमिभ्रमा—
अयुष्मन् (न्त), यर रहदि—रथा रवैः सह मीलिभ—संयुक्ता मुद्राय मिलित्य
इत्यर्थः चरणि पीलिभ—चरणिः पीडिता, सरभि—सरणिः पूर्वः लुकिभ—
लुकिभन्ता इत्यगणशोदसंपूक्तिमिरिति भावा, अतएव अत्र पर—अतधीया
परभ्रमा इति न मि (ने) क आसीदित्यर्थः, बल—बलानि तेनानि
मिलिभ—एभ्रमूव आपद—आगतानि पति—पतन (य) बाएठ—बाकिता,
गिरिबर सीहृपि गिरिबरशिलराणि कप—कफितामि, लाकर—लापराः लक्ष्मिभ—
लक्ष्मिलिगा, कभर—कभरा एगमीरयो वा इत्यर्थः बीन—वीना कथ्य इति
दोषा, ईममप्रिभा इत्यर्थः, बीहरा—दीर्घं वेर बहिभ—वेरं वर्द्धितं, कमे
मुष्ममाने कवी (नि) दोषा ॥

१९४ अथ त्रिभगीनामक वृत्त लक्षयति पदममिति । पदम—प्रथममाटौ
द्व—दशसु मात्रास्त्रितिशेषः, अग्रेऽपि यथायोग्य योजनीय, रहण—विश्रामः,
ततः अष्टद्व—अष्टसु मात्रास्त्रित्यर्थः विश्रामः, ततः रसरहण—रसेषु षट्सु तथाच
रसरहणोपलक्षितासु षट्सु मात्रासु इत्यर्थः रहण—विश्रामः, एव द्वात्रिंशन्मात्राः
प्रतिचरण पतती (ति) शेषः, अत्रे—पदाते गुह. सोहद्व—शोभते, कर्त्तव्यासु
द्वात्रिंशन्मात्रासु अतिममात्राद्वयमेकगुरुस्वरूप कार्यमित्यर्थः, तत् तिम्भ-
गीछद—त्रिभगीच्छदः तिहुवण मोहद्व—त्रिभुवन मोहयति, महिश्चल
इति पाठे महीतलमित्यर्थः, अस्मै सिद्ध. वरतरुण—तरुणवरः लोकश्चेत्यर्थः
सराहद्व—श्लाघते । अत्र यदि पश्चोद्व—पयोधरः मध्यगुरुजंगणइत्यर्थः पलद्व—
पतति, तदा किमद्व मनोहद्व—किमपि मनोहर न भवतीति शेषः, किंतु येन
तच्छ्रुदसा कवित्व क्रियते तासु कई—तस्य कवेः कलेवरं शरीरं हणद्व—
हंति, इति विमलमई—विमलमति, जणिश्चाणद्व—जनितानंदः, क्वचित्सुक्लाणद्व
इति पाठः सुखी आनदीत्यर्थः, फणिदो—फणींद्रः पिंगलः मणद्व—मणति ।
अत्र चतुर्मात्रका अष्टौ गणाः प्रतिचरण देयाः, तेष्वेवातिमो गणो गुर्वेत कर्त्तव्य,
पूर्वोक्तमात्रासु विश्राम कर्त्तव्य इति फलितार्थः ।

१९५ अथ त्रिभगीमुदाहरति सिर किञ्जिअ इति । शिरःकृतगग
गौर्यद्वौग हतानग त्रि (?) पुर) द) हन कृतफणिपतिहारं त्रिभुवनसार वदित-
मस्मान रिपुप्र (?) मयन । सुरसेवितचरण मुनिगणशरण भवमयहर त्रिभु
(श्रु) लघर, सानदितवदन सुदरनयन गिरिवरशयन नमत हरम् ॥

१९६. अथ दुर्मिला लक्षयति, तीस दुइ मच्च इति । हे नराः एतत्
तीस दुइ मत्ते—द्वात्रिंशन्मात्राभिः परिस्रुते—परिस्रुक्ते यत्र च एरिस
मात्राहि—एतादृशभागैः एतादृशैः अनुपदमे (व) वक्ष्यमाणैः भागैः कलाप्रैरि-
त्यर्थः, तिश्च ठामहि—त्रिषु स्थानेषु विसर्ग—विश्रामः दीसद्व—दृश्यते, यत्र च पअ
पअ—पाटे पाटे वण्ण धरा—कर्णगृह कर्णौ द्विगुरुको गणस्तस्य गृह स्थापन
मित्यर्थः, दृश्यते इति पूर्वेणान्वयः । कुत्र स्थानत्रये विश्रामो दृश्यते इत्यत
आह पदममिति । यत्र च पदम—प्रथम दद्व—दशसु मात्रास्त्रित्यर्थः
णिलत्रो—निलय विश्राम इति यावत् किञ्च—कुरुत इद
चाग्रेऽपि योज्य, वे—द्वितीय. अद्व द्वात्र—अष्टमस्थाने अष्टसु मात्रास्त्रित्यर्थः
निलय. कृत इति पूर्वानुपग, तीअ—तृतीयः चउद्व—चतुर्दशसु मात्रास्त्रित्यर्थः
निलयः कृत, जो एरिस छदे—यत् एतादृश छदस्त्रिभुवनवद्य तत् न बना.
जा(नी)त दुर्मिलकम् इति बुधजनरान. पिंगलः मणति—मणति ॥

१६७ अथैनमेवार्थे बोहाहृतेन स्पष्टयति ददेति । दशसु वसु—असु चतुर्दश
मात्रास्त्विति शेषा विरह कव—विरति कव विराम—विषमे स्थाने कस्य गण देह—
कर्णगणं देहि । पदमध्ये विषमे स्थानं वयाशक्यं द्विगुणं गणं देहीत्यर्थः । अन्त—
मध्ये विष्य पदक—विषं चतुर्धनुषं गणं पदाति सामान्यचतुष्कलं मन्त्रं दुर्मि
ताप्युदः कस्य ॥ अत्र प्रतिशरणं विषमस्थाने ययाशक्यं प्राप्नुयेव कस्य देवा तमे
वेत्यतएव तदा न वाचकमिति ब्रह्मम् ॥

१६८ अथ दुर्मिनामुदाहरति ये किञ्चिन्न इति । केन कृता वायि पाकि
किन्नी—माता कीर्ति स कश्यपराजा न कन—यस्मिन् क्षणे किता नेपालाः
मोक्षता स्वदेहं ताडयन्त्यक्षिताः दर्पहीना चीनाः मन्नीकृताः लोहाक्लेशमकल्पन्तु
पतिताः । मोक्ष्वाक्ताः क्षत्रियं प्राप्तिः कोशु, मोक्षं मातृकपञ्चकुलं कैलासा
पञ्चाक्षराः परावृत्त नागताः ॥

१६९ अथ हीरनामकवृत्तं लक्षयति नाठ पश्येति । हे सुमित्र शिष्य अहो
विमि लुप्त—वीन् क्षणान् पदक्षणात्मित्वार्थं वसु—असु कवकेयर्था
अते—कदम्बवृत्ति बोहल—बोहार गन्धमिति वायव्य करि—कुरव्य, विमि
परहि मे वि करहि—वीन् स्थापय हो कुरव्य एवं पश्यहि—पाठेषु मत्त—मात्रा
लोकनय—लेख्य, अक्षरानां नामले गणा वीन् हो मिक्षिता वयोविशतिर्मात्रा
प्रति शरणं स्थापयेत्यर्थः । एताः (१) द्वार उक्त्वा विष्य त(प)रि लब्धं—
द्वारं गुहं संस्थाप्य विप्रगणैश्चतुर्लघुकाणैः लब्धं प्रचुरं हीर—हीरं वेत्तव्य—
प्रेक्ष्य, एवं तत् सुकविः इत्येव (मन्त्र) ति एतत् कस्य कवह—कः जानाति न
कोऽपीत्यर्थः, इति नागा प्रमथति । अत्र वीन् पदक्षान् देहिदुक्त्या पदक्षस्य
वयोदद्यापि भेदा प्राप्ता, तत्र द्वादशतम एव भेदो वारज्यं देही (मे) नम्ब
इति आपत्तिरु द्वारं संस्थाप्य, विप्रगणैः लब्धमिति लुबोविरोधमिति ब्रह्मम् ।
उक्तविषयपदक्षान्तरं न क्व रगणा प्रतिशरणं पठति तत् हीरनामकं वृत्तमिति
प्रतिपाद्यते ।

२ अथैनमेवार्थे बोहाहृतेन प्रकटयति ददेति । हे सुमित्र शिष्य पूर्वं
द्वारं गुहं तदा विप्रगण—विप्रगणं चतुर्लघुं गणं मन्त्रं कस्य एवं तिम विव—
वारज्यविधानेनेत्यर्थः मिम्व सरीर—मिन्नसरीरं मिम्वम् अन्वच्छन्दोम्यो विलक्षणं
सरीरं वस्य तदित्यर्थः अति पादति बोहल—रगणं संतपन्—स्थापय एवं धेह
मत्त—त्रयोविशतिमात्रां हीरं हीरनामकं वृत्तं मपतीति शेषः ॥

३ अथ हीरमुदाहरति विवद्व दक्षयेति । इहं चतुर्गणतिविशेषात्
करणं तया न विवद्व दक्षव योग दक्षनेत्यनुवृत्त्य रग—रगं संप्रप्ते पलाति

रिंगओ—खुरलीं कुर्वत, तुरगाः । धूलि धवलाः सवलशब्दाः प्रवलाः पत्तयः
प्रेक्ष्यते, यदा कर्णश्चलित तदा कर्मः लल(य)ति भूमिर्मरति कीर्त्या ॥

२०२. अथ जलहरणनामक वृत्त लक्षयति किञ्च पदमेति । जहि—यत्र
सर्व पञ्च—सर्वपादेषु पदम—प्रथमादौ किञ्च—कृताः मुणि दिग्गण—मुनिदि-
जगणाः मुनयः सप्त तत्सख्याताः चतुर्लङ्घुकगणा इत्यर्थः पलइ—पतति, परहि—
अनतर सप्तद्विजगणोत्तरमिति यावत् दिग्ग सगण—देहि सगण, एव दह वसु
पुण रस—दशसु मात्रासु वसुषु अष्टसु मात्रासु पुन. रसेषु षट्सु मात्रासु इत्यर्थः
पुनर्वसुषु इति शेषः, अन्यथा द्वात्रिंशन्मात्रानुपलब्धिः, विरइ करे—विरतिं कुरु ।
दह तिगुण—दश त्रिगुणिताः त्रिंशदित्यर्थः कल—कला करहि—कुरुष्व,
पुणवि—पुनरपि ठव जुअल—स्थापय युगल कलाया इति शेषः तथाच द्वात्रि-
शन्मात्राः स्थापयेत्यर्थः । एम परि—एव परि एव परिपाटया ठवहु चठ चरणा—
स्थापय चतुश्चरणान्, अत्र च जह—यदि, पलइ कवहु गुरु—पतति कदापि
गुरुः यदि सगणान्तर्गतगुर्वतिरिक्तोऽपि गुरुः पतति, सगणाति(रि)क्तोऽपि गुर्वादि-
र्म यगुरुर्वा गणः पततीति यावत्, त (दा) कवहु ण परिइरु—कदाचिदपि मा
परिहर, तदा तमपि दत्वा द्वात्रिंशन्मात्रा प्रतिचरण देयाइत्यर्थः । एव च द्विजगण-
पट्का(ट्कत्या)दौ मध्ये अते वा गुर्वादिं मध्यगुरु वा एक गण दत्वा अते च
सगण दत्वा द्वात्रिंशन्मात्राः प्रतिचरण देया इत्यर्थः । इतीदानीमुक्त भवति पूर्वं
च सप्तद्विजगणानतर सगणमिति लक्षणद्वय बोध्य । हे कमलमुखि (वि)बुधजन-
मनोहरण मुणहि—जानीहि इति श्रीकण्ठपतिः सुकविवरः मणति इति योजना ।
सप्तद्विजगणानतर सगण यत्र प्रतिचरण पतति, अथवा षट् द्विजगणाः एकः
कश्चित् मध्यगुरुर्गुर्वादिर्वा गणः पतति अते च सगण एव यत्र पतति (त) त् मनो
(जल) हरणमिति फलितार्थः ॥

२०३ अथैनमेवार्थं गाहूच्यदसा स्पष्टयति वचीसेति । मनो(जल)हरणच्छं-
दसात्यध्याहारः । वचीस होह मत्ता—द्वात्रिंशद्भवति मात्रा, अते सगणइ ठावेह
(हि)—अते सगण स्थापय, कर्त्तव्यासु द्वात्रिंशन्मात्रासु अतिम मात्राचतुष्टयं
सगणस्वरूप कार्यमित्यर्थः, पाएहि—पादेषु आदौ सव्व लहु—सर्वे लघवो भवति
यदि चेदेकः गुरु वेवि—द्वौ वा गुरु भवतस्तदा न दोष इत्यर्थः, तथाच सप्त-
द्विजगणानतर यगणः कार्यः, अथवा पट् द्विजगणा, तेषामादौ अते मध्ये वा एकः
गुर्वादिर्मध्यगुरुर्वा गणः कार्यः, सर्वेषामते च सगणो देय इति फलितार्थः !
अतएव उदाहरणे चतुर्ध्वरयो रचोरेति पण्डो जगणो दत्त इति द्रष्टव्यम् ।

२०४. अथ मनो (जल)हरणमुदाहरति खुर इति । खुर—खुरैः महि—
महीं खुदि—क्षोभयित्वा, खुल्लुकि ण ण ग यदि इत्यनुकृत्य, घवर रव कलहि—

धर्मेति रत्नं कृत्वा हेतो विधाकेत्यर्थः रणदि—रथो संग्रामे दुराग्रं बले—दुराग्रप-
 क्षिताः ठठरुदीप्तगुह्यस्य दृष्टु—टापा अरवपादापादादित्यर्थं पतद्—पतति,
 सेन च धरन्निव धरणीपद्म(वपु)—पृष्ठीशरीरं पतद्—प्रकलति, बहु
 विधि—अतिरिक्तं चमले—चामराणि चक्रमाक कन्द—कुर्वन्ति चाक्रदित्त्वतोभा-
 मुत्पादयन्तीत्यर्थः । वस्तु—इत्थं तेनैव दमकि दमकि—अहमहमिकत्वा वापु—चलितं,
 चलति पदातिवलां मुष्टु(की)भवतु कृत्य करिवराभक्षिता, वर मनुस्वर—
 सत्युत्तरं वरः वरद विपला हिमम्भ कल—करोति विपद्यद्ददन्ते शस्त्रं, इमिरवीर—
 हम्मीरवीरः यश्च च रणे चलिता ॥

२ ५ अप मदनशूनामर्कं वृत्तं लक्षयति पिम्भ भणति । हे सुहृन् सुहृद-
 सुमगत्स्वभाव पिम्भ—मित्रं शिष्यं च—यदि रात्र—रागा पठितुं वा इच्छां
 विवक्षित—विवर्तते विरोपेयं वस्तु इत्यर्थः, तथा लक्षिभ—क्षत्रियं प्रसारं
 अनुगति—अनुसृत्य क्षत्रिय इति प्रसारणं पूर्वाचार्योनां पञ्चोद—पञ्चोदरं
 मन्मथुदं भगणं वेत्ति—वेत्तिना प्रसारानुगारेण भगणमेतत्पदं वृत्तिरूपेण,
 वनं कान्यो न देव इति भावः । अहं—इदं वृत्तं अहिक्यं यदि—
 निष्कारयित्वा यदि अर्थात् प्रसारयिदं वृत्तं पृथक्कृत्येवर्षं कनकं कले—
 क्षत्रमर्दयन् वा मयो मनः स्मिन् कुव, वर—यदा वि वि उत्स—हो उत्स्ये हे
 मात्रे ते च लघुद्वयकृते एकगुह्यकृते वाच नम्यद्, यद्यपि उत्स्यशब्दा लघुवाची
 तथाप्यत्र सामान्यमात्रापयं क्षेप्यं उदाहरणे प्रथमद्वितीयचरणयोर्लक्ष्येऽप्युप-
 चतुर्थयोश्च गुपेर्दर्शनात्, अनुपदं वीर्याकृतं लक्ष्ये ये वि मतेति वक्ष्यमानत्वावति
 प्येव, पहिस्तिभ—प्रथमं पदं विना पादादौ हो लघु स्थापकित्येवर्षा लक्ष्यकृ-
 त्त्वोद्भूतं गुह्य—गुह्यं पहिस्तिभ—पहिस्ति विना पहिः पादादे, तस्य चरवाते गुह्यं
 स्थापकित्येवर्षा दुराग्रं गता रथा एते दद गन्—इदं गन्ता पद्म—पादे चर—
 घृता पतत—प्रेर(य)ति । दुराग्रं यद्वापुष्मन्तदस्य मनश्चान्तोन्नतं भुपनि-
 ब्रता । एवं च वीर्यमानेषु दराचतुष्पक्षेषु भाषो मायाद्वयं लघुद्वयकृपमकं
 गुह्यकृत्वा वा वृत्ते वीर्यगुह्यकृत्वं इयं न तु दरागणातिरिक्तमिति भावः । एवं च
 पाक्षिभ—वत्पारिशम्भावा इति शेषा भव—पक्षिणाः मुसेठ—उत्पति, दराचतु-
 ष्पक्ष्यानां प्रतिपदं वत्पारिशम्भावाः पततीत्यर्थः, तद्—तदा अगि गिरिच-
 त्तगरां कृत्वा निवृत्तं, आगरजमत्र तावन्नतोपलक्ष्यार्थं, तथा च सावधानतया
 विगतेन निदत्तमिष्यं मन्मथहरा—मदनशूनामर्कं वृत्तं भगु—यत् एवमेतत्
 क्षेम—यथा रक्षिभ रित्ये—रत्नवद्वजं तथा मकोद—मनोहरं मुष्टे—अनीदि,
 वक्षोपाधिकगुणा(मु)देवीमन्त्रविक्षाद्वारकं भवति तथा अस्मापमेतत्पदं
 मन्मथः इति मन्त्र—प्रकति. अत्रात विगत इति माचवीजना ॥

२०६ अथैनमेवार्थं निःकृष्य दोहावृत्तेनाह वेचि मत्तेति । द्वे अपि मात्रे शिरसि आदौ ठावि कइ—स्थापयित्वा, अते वलआ—वलय गुरु कुरुत । मभक्त—मध्ये द्विमात्रागुर्वोरतराले इत्यर्थः नव चतुष्कलगणान् धरि स्थापयित्वा मदनगृह कथयत ॥

२०७. अथ मदनगृहमुदाहरति, जिणीत । येन कसो विनाशितः कीर्त्तिः प्रकाशिता रिष्टकमुष्टिकयो. दैत्ययोः विनाशः कृत गिरिर्गोवर्द्धनो हस्ते धृतः यमलार्जुनो वृत्तौ (लौ) भग्नौ पादभरगजितकालियकुलस्य सहारः कृतः, यस्य यशसा भुवन भूत । चाणूरो नाम दैत्य. विपादितः, निनकुल मडित, राधामुख-मधुपानं कृतं यथा भ्रमरवर । भ्रमरो यथा कमलमकरटपान करोतीत्यर्थः ॥ स नारायण. विप्रपरायणः भवभीतिहरः चित्तचितित वर ददातु ॥

२०८ अथ महाराष्ट्रनामक वृत्त लक्षयति, एहु छदेति । यत्र आदौ दह अक्खरदशाक्षरेषु, अत्राक्षरशब्देन मात्रा उच्यते, तथाच दशसु मात्रास्वित्यर्थः विसमह—विश्राम्यति यति प्राप्नोतीत्यर्थं, पुणु अष्टक्खर—पुन. अष्टाक्षरेषु अष्टसु मात्रास्वित्यर्थं, पुणुवि एवारह ठाउ—पुनरपि एकादशस्थाने एकादशसु मात्रास्वित्यर्थं. विश्राम्यतीति पूर्वणान्वयः । यत्र च सोलह अगल—षोडशाधिकाः सउ—शत मत्त—मात्रा, समात्रा. (?) समगल—स(म) आश्वरणचतुष्टयस्था इत्यर्थः, यत्र च आइहि—आदौ छक्कलु—पट्कल गण, ततः पच चतुष्कलान्, अते—पादाते गुरुलहु—गुरुलवृक्क्रमेणेत्यर्थः देहु—ददत एहु छद—एतत् छद. सुलक्खण—सुलक्षण सर्वेषु वृत्तेषु समीचीनमित्यर्थः मरहडा—महाराष्ट्र भणहि—कथय, एहु—एतत् विचक्षण. पिंगलनाग. जल्पति ॥

२०९ अथ महाराष्ट्रमुदाहरति जईति । यत्रपि मित्र धनेश्वर. श्वशुरो गिरीशः, तथापि यस्य खलु पिघन दिशः, यत्रपि अमृतकद. निकटे चद्रः, तथापि यस्य भाजन विष । यत्रपि कनकसुरगा गौरी अर्द्धांगे, तथापि यस्य डाकिन्य. सरो, यः यशः दापयति यश्च देवस्वभावस्तस्य भगः कदापि न भवति ॥

इति लि(ली) लावति(ती) प्रकरणम् ॥

अस्ति श्रीखेखसीति त्रिभुवनवल्ल्यातनाम्नी पुरी या तस्याश्चन्द्राकराख्य समभवदधिप. क्षोणिदेवाग्रगण्यः । तद्वशे कृष्णदेवः समजनि तनयस्तस्य वशीधराख्यो जातस्तन्निर्मितेय जगति सुविमला टिप्पनी पिंगलस्य ॥

इति श्रीपिंगलप्रकाशे मात्रावृत्तप्रकरणम् ॥

द्वितीय परिच्छेदः

अभ्यस्तवर्तिनीक्षपुतिमग्निकरप्रस्फुरद्गिरिमवाता
भिष्मस्तद्योरतिपुलुतिस्तदमहाकान्तकपप्रमोर्मि ।
नित्येन्द्रास्तानकनभिमुक्कननकं निर्दिष्टारस्वकर्म
नित्यानन्दं मनेऽर्धं निबद्धदयगतं मङ्गल एवामिधानम् ॥१॥

बंशीघरेण कविना रघुवीर्यमेत
ध्यात्वादरात् पवनवर्गमिमुगं च नरात् ।
व्याध्यायते गच्छपति बहुधा प्रपन्न
भीरोपपिगच्छाभिनिर्मितवर्षावृत्तम् ॥२॥

१-२ अथैकाक्षरचरकवृत्तमारम्भ्य यदिर्ब्रह्मक्षरपर्यंतं यथायक्यं लक्षणीयेतु
वृत्तेषु प्रस्ताविक्याभावेमेव ब्रह्मक्षरचरकवृत्तस्य प्रथममेवं भीनामकं वृत्तं ल(ब)
वृत्तिं ली क्षमिति । ब—यत्र एकक्षरपादे वृत्ते गो—गुणः प्रतिचरनं मन्वीति
शेषा, एकमप्रेऽपि अप्याहारो बोध्या, ता भी—तत् भीनामकं वृत्तमित्यर्थः ॥
भिममुदाहरति । कहा—यथा उवाहिवते इत्यर्थः, एकमप्रेऽपि बोध्यम् । गोरीति ।
गोरी पार्श्वती रक्त्वो—रक्षतु मामिति शेषः । आधोऽर्धं मेदा उक्ता । द्वितीयस्तु
यिब ववेति ब्रह्म्या । भीनिवृत्ता ।

३-४ अथ द्व्यक्षरचरकवृत्तस्य क्त्वाद्ये मेदाः प्रस्ताविक्यभा मर्षति, तत्राद्यं
मेदं क्त्वात्क्यं वृत्तं लक्षयति, शीरेति । भीहा—ही शीहा—हीर्षो यत्र द्व्यक्षरचरणे
वृत्ते मन्ताः च यमाः शुद्धा (कमा) क्त्वात्क्यं वृत्तमित्यर्थः ॥ अत्र रामर्षं पाद
पूरणार्थमेवेति मन्तव्यम् । काममुदाहरति शुभमे इति । शुभमे—शुभे शुभं शुभं
देव—इदम् ॥ भीरामचन्द्र इति शेषः ॥

५-६ द्व्यक्षरचरणस्य वृत्तत्वान्तिमं मेदं मधुनामकं वृत्तं लक्षयति लक्षिति ।
लक्षु शुभ—लक्षुशुगं यत्र द्व्यक्षरचरणे वृत्ते पठति । तत् लक्षु—मधु लक्षु—
मन्ति । मधुनामकं तद्वृत्तमित्यर्थः । मधूदाहरति, इरेति । इ इर मम लक्षु—
मन्तं पापं हर क्षपय ॥ मधु निवृत्तम् ॥

७-८ द्व्यक्षरपादस्य वृत्तस्य द्वितीयं मेदं महीनामकं वृत्तं लक्षयति लगा
विति । कही—यत्र द्व्यक्षरचरणे वृत्ते लगो (गो)—लघुगुणः क्रमेण मन्त । ता
मरी कही—कपिता ॥ तन्महीनामकं वृत्तमित्यर्थः । कहा (यथा) रति ।

सई—सती पतिव्रतेति यावत् उमा पार्वती । तुमा—त्वा रक्खो—रक्षतु ॥
मही निवृत्ता ॥

६-१० द्व्यक्षरपादवृत्तस्य तृतीय भेद सारुनामकं वृत्तं लक्षयति, सार्धिति ।
यत्र द्व्यक्षरचरणे वृत्ते पूर्वं गो—गुरुस्तदनन्तरं रेह—रेखा लघुरित्यर्थः पतति,
एह—एतत्सारु सारुनामकं वृत्तमित्यर्थः ॥ विशब्दोऽप्यर्थकोऽत्र पाठपूर्णार्थमेव ।
अथवा गो—गुरु रेह—रेखा एव 'प्रकारेण यत्र वि—अक्षरद्वयात्मक पठ
भवति इह—एतत्सारुनामकं वृत्तमिति व्याख्येयम् । सारुदाहरति, सम्भिति ।
एठ—देवः सभु—शभुः शिवः । सुम्भ—शुभं देउ—दटातु इति शेषः ॥
सारु निवृत्तम् । द्व्यक्षरवृत्तं गतम् ॥

११-१२. अथ त्र्यक्षरचरणस्य वृत्तस्य प्रस्तारक्रियया अष्टौ भेदा भवति,
तत्राद्य भेद तालीनामकं वृत्तं लक्षयति, तालीति । यत्र त्र्यक्षरपादे वृत्ते पूर्वं
गो—गुरुस्तदनन्तरं कण्णो—कर्णं. गुरुद्वयात्मको गणो भवति, सा ए—इयं
ताली जाणीए—जायते, तत्तालीनामकं वृत्तमित्यर्थः । कीदृशो ती वण्णो—त्रिवर्णो
त्यर्थः । यद्वा गो—गुरु. कण्णो—गुरुद्वयात्मको गण एव प्रकारेण यत्र प्रति-
चरण ती वण्णो—त्रयो वर्णा भवन्ति, ए—इय ताली जाणीए—जायते ॥ अथ
ती वण्णो—त्रिवर्णैः गो कण्णो—गुरुकर्णरूपैः तालीए—तालीय जाणीए—जायत
इति व्याख्येयम् । तालीमुदाहरति, त्विति । सो—सः चंडेसो—चंडीश तुम्हाण-
युस्मान् अम्हाण—अस्मान् रक्खे—रक्षत्वित्यर्थः ॥ ताली निवृत्ता ॥

१३-१४ अथ त्र्यक्षरपादस्य वृत्तस्य तृतीय भेद प्रियानामकं वृत्तं लक्षयति,
हे पिए इति । तिणिणि—त्रीणि रे—राणि मध्यलघुरगणात्मकानि अक्खरे—अक्ष-
राणि यत्र त्र्यक्षरचरणे वृत्ते लेक्खिए—लिख्यंते, हे—इय पिए—प्रिया
प्रियानामैतद्वृत्तमित्यर्थः ॥ केचित्तु हे पिए इति प्रियासन्निधनपरतया व्याकृष्यंते ।
प्रियामुदाहरति, सकरविति । पाउणो—पावनं सकरो—शिवकर. संकरो—
महादेवः णो—नः अस्मानिति यावत् पाउ—पातु रक्षत्वित्यर्थः ॥ प्रिया निवृत्ता ॥

१५-१६ अथ त्र्यक्षरचरणवृत्तस्य द्वितीय भेद शशिनामकं वृत्तं लक्षयति,
ससीति । यत्र त्र्यक्षरपादे वृत्ते च य—आदिलघुर्यगणः जणीओ—जनित. वृत्त
इति यावत् सः फण्णिदे—फणीन्द्रेण शेषेण—शशी भ (णी) ओ—भणितस्तत्
शशिनामकं वृत्तमित्यर्थः ॥ अथवा भवतीत्यध्याहृत्य शशी जणीओ—ज्ञातव्यमि
(इ) त्यर्थः इति योजनीयं । शशिनमुदाहरति, भवाणीति । दुरिण—दुरित
हरन्ती हसती—हसमाना (१) भवानी मा पाविति शेषः ॥ शशी निवृत्ता ॥

१७-१८ अथ त्र्यक्षरप्रस्तारस्य चतुर्थभेद रमणनामकं वृत्तं लक्षयति
सगणेति । सगण. गुर्वंतगणो यत्र त्र्यक्षरचरणे वृत्ते सहिओ—साधितः निर्दिष्ट

विद्वीत्यर्थः। कीदृशा. हारा. अष्टा काला—अष्टौ कला येषां ते अष्टकला इत्यर्थः।
अत्र चारी हारा अष्टा कालेति वृत्तपूर्णार्थमेव। यत्र प्रतिचरण कर्णौ गुरुद्वयात्मकौ
गणौ भवतः सा तीर्थेति निष्कर्षः। क्वचिन् इडाङ्गारा इति पाठस्तत्र इष्टः
पाठपूर्णार्थमपेक्षित इति यावत् आकार स्यापन येषां ते तादृशा इत्यर्थः।
तीर्णमुदाहरति, जाआ इति। जाया वधू। (माआ)—माया मायावतीत्यर्थः,
पुत्तो धुतो—पुत्रो धूर्तः। इणे—एतत् जाणी—जात्वा जुत्तो—युक्त किञ्चे—
क्रियताम्॥ कस्यचिदुपदेष्टुं ससारासक्तं प्रतिवचनमिदम्॥

२६-३०. अथ चतुरक्षरचरणवृत्तस्यैकादश भेद घारीनामक वृत्त लक्षयति,
वण्ण चारीति। अवहट्टभा(पा)या पूर्वनिपातानियमादन्यथानुपपत्त्या स-
शब्दस्य हार—शब्दस्य च पूर्वनि(पा)त विधाय योजनीय, तथाच यत्र चतुर-
क्षरचरणे वृत्ते स दो सारि—सद्विस (ग) र हारि त्रिणि—हारद्वयम्। हारो
गुरु तद्वयमित्यर्थः। एव प्रकारेण वण्ण चारि—वर्णचतुष्टय भवति, हे मुदि—हे
मुग्धे सा घारि—तद्वारीनामकं वृत्तमित्यर्थः। अयमर्थः शरशब्दो लघुवाची
हारशब्दश्च गुरुवाची, तथा च शरद्वयसहित हारद्वय यत्र भवत्येतस्याय भावः—
प्रथम गुरुस्तदनन्तरं लघु. पुनः गुरुः पुनस्तदनन्तरं लघु. कर्तव्य एवप्रकारेण
चत्वार्यक्षराणि घारीच्छन्दसि प्रतिचरण कर्तव्यानि, रगणान्तरं लघुः कर्तव्य इति
तु परमार्थ इत्यस्मत्तातचरणोपदिष्ट. पन्था। घारीमुदाहरति, देविति। जासु—यस्य
सीस—शीर्षे चन्द्र—चन्द्रः दीस—दृश्यते देउ (देउ)—देवदेवः शम्भुरिति शेषः
सुम्भ—शुभ देउ—ददातु मह्यमिति शेषः। घारी निवृत्ता॥

३१-३२ अथ चतुरक्षरप्रस्ता(र)स्य पष्ठभेद नगाणिकानामक वृत्तं
लक्षयति, पओहरेति। गुरुचरो—गुरुत्तर. गुरुः उत्तर अग्रे स्थितो यस्यैतादृशः
पयोधरो मध्यगुरुर्जगणं यत्र चतुरक्षरचरणे वृत्ते पतति। स—सा नगा-
णिध्रा—नगाणिका जाणिआ—जातव्या॥ तत् नगाणिकानामक वृत्तं ज्ञातव्य-
मित्यर्थः। नगाणिकामुदाहरति, सरस्सईति। सरस्सई—स(र)स्वती पसण्ण
हो—प्रसन्ना यदि भवति। कइत्तआ—कवित्वानि फुर—स्फुरति तन्ना—
तदा॥ नगाणिका निवृत्ता॥

३३-३४ अथ पञ्चाक्षरस्य प्रस्तारक्रियया द्वार्त्रिशब्दभेद भवति, तत्राय भेद
समोहानामक वृत्त लक्षयति, समोहेति। वे कण्ण हारा—द्विकर्णहारो यत्र पञ्चा-
क्षरचरणे वृत्ते पतत, कर्णौ गुरुद्वयात्मकौ गण, हारो गुरुस्तथा पञ्चगुरवो यत्र
भवतीति भावः, भूर्वता सारा—भुवनसार, तो—तत् भूअ—भूमौ समो(हा)—
रश्च—सम्मोहास्वरूप दिहो—दृष्ट॥ सत्समोहानामक वृत्तमित्यर्थः॥ सम्मोहामुदा-

हरति उहरेति । बुरिवा लंडी—बुरितलंडिनी उहरे—उहमथ मरिपामुग-
रिक्वेनेति मयः पंडी—बण्डिक्क । तेषो(सो) का तोल—वेतोस्सकुलं
मोक्क—मोळ वेतोक्कमुक्करूपमोक्षमित्यर्थः मे—महं देक इरात्तु ॥ केचित्तु वेतो-
क्केति पठ्यन्तं पदं कृत्वा वेतोक्कस्य कुलं च पुनः मे महं दयातिति व्याकुर्वते ।
संमोहा निवृत्ता ॥

१५-१६ अथ पंचाक्षरस्य पंचमं मेहं हारीतनामकं वृत्तं लक्षयति,
अहरेति । आहरेति—आरो अति—चरणसमाप्तौ च कण्ठं लुठते—कर्णतंतुके गुह-
हयमुच्छमित्यर्थः । मममेकक गंधो—मय्येक्यर्थं मध्ये कर्मह्वयमध्ये एकं यथा
लघुपञ्च लाहयमित्यर्थः, तत् हारीत लंडो—हारीतपञ्चदा विंगल्लेन क्वचित्मिति
शेषः । यत्र प्रतिचरणं यच्चमतो गुहहयं तत् एको लघुस्तत्परं गुहहयं भवति
तत् हपी(त) नामकं वृत्तमिति निष्कृष्टार्थः । कुत्रचित् द्वारे लुठते इति यत्तत्तत्र
हायन्तां संयुक्तमिति व्याख्येयम् । हारीतपुराहरति, च भवतीति । च मयि मयावां
मत्तु मया यममेकक विद्या—यम्येकविद्या—वा मारी लवी यन्म विद्यारी—
यन्मप्रिया यन्मपुरयस्व प्रिया रुदिरास्वया होह भवति ॥ केचित्तु यच्छति मित्रं
पदं कृत्वा वा नारी यन्म प्रिया च मत्तुरिति शेषः भवतीति व्योच्यते । हारं तं
निवृत्तम् ।

१७-१८ अथ पंचाक्षरस्य प्रसारस्य सप्तमं मेहं ईक्षनामकं वृत्तं लक्षयति
विंगल्लेति । म—आदिगुहमेकस्य इति कण्ठं कण्ठं वि—कर्णतंतुं गुहहयत्तमध्ये गयो
ऽपि यत्र पञ्चाक्षरपरयो वृत्ते रिक्वे—रीक्ते विंगल्ल रिक्ते—विंगल्लद्वया रिक्ते—
सुद्धा विंगल्लेनेति भावः, वा ईस—ईता दुपिक्वे—यक्ते ॥ वदीयचरणे मय्यो
परं गुहहयं भवति तत् ईक्षनामकं वृत्तमिति निष्कृष्टार्थः । अथ इह इति देकारस्य
ये ओ ह्रस्वा च यन्म मिथिया वि लङ् पूर्वेष्टत्वाद् इत्यन्तम् विंगल्ल दिरदो सिद्धं
इति पदद्वयं पाठपुराणमिति ब्रह्मम् ॥ ईक्षगुहाहरति, खे महेति । खे—तः
मह—मम कंठ—कोठा यन् इत्यर्थः वूर (रियंता) वूरे (विगल्ले) गतोऽस्तं वि
शेषः । अथ पाठस—प्राहद् कान्ते—आवाति, खेठ—खेता यन्ते—पालयति
व्याकुल्यस्तीत्यर्थः ॥ अथा किमाक्षरणीयं त्वं मे शिष्येति गृह्यमिमावाया प्रोक्षित
भर्तृकणायाः प्रियतुह्यपी प्रति वक्तव्यमिदम् । ईक्षे निवृत्तः ॥

१९-४ अथ पंचाक्षरप्रसारस्य अष्टमं मेहं यमकनामकं वृत्तं लक्षयति
मुनीति । हे मुगुल कोमनगुणविशिष्ट शिष्य यत्र पंचाक्षरपरयो वृत्ते सरह गल—
रक्षापरगले अमरगरीष्वा रक्षाप्यक्षित्यर्थः मुपिष गन्—मुपिषाये रिक्कनुको
यन्मक्षित्यर्थः तत्तद्वच सर—सारा लक्ष्यत्तमध्ये गन्तः प्रवृत्ति, तत् यमकं यम

पठेत्यर्थः ॥ पञ्च लघवो यत्र प्रतिचरणं भवति तत् यमकमिति पिंडार्थः, सरह गणेति तु पद पद्यपूरणार्थमेव । यमकमुदाहरति, पवणेति । पवण—पवनः वह—वाति, अत इति शेषः सरिर—शरीर दह—दह्यते । मधण—मदनः हण—हति, अत इति शेषः मण—मनः तवद्—तपति । सर्वे भेदा वक्तुमशक्या अतः कियतो भेदा. प्रदर्शिताः शेषभेदास्तु सुधीतिः (भिः) एवमूहनीयाः ॥

४१-४२. अथ पडक्षरचरणस्य पत्रस्य प्रस्तारक्रियया चतुःपष्टि भेदा भवति, तत्राय भेद शेषराजनामक वृत्त लक्षयति, वाराहेति । वाराहामत्ता—द्वादशमात्रकाः द्वादश मात्रा येषामेतादृशा इत्यर्थः, तिण्ण—त्रयः कण्णा—कर्णा गुरुद्वयात्मकागणा. जं—यत्र षडक्ष(२)चरणे वृत्ते होत्त—भवति । हारा छक्का वधो—हारषट्क्वद्व गुरुषट्क्युक्तमित्यर्थः, तत् सेसा राव्या छदो—शेषराजच्छन्दः ॥ तत् शेषराजनामक वृत्तमित्यर्थः । अन्ये तु द्वादश मात्राः त्रयः कर्णा यत्र भवतीति पृथगेव पद, हारा छक्का वधो इति च पद, पत्रपूरणार्थमेव । यत्र कर्णत्रयं प्रतिचरण पतति तत् शेषराजनामकं वृत्तमिति त्वलम् । शेषराजमुदाहरति, जुम्भतीति । उद्दामे—उद्दामे सग्रामे—सग्रामे, जुम्भती—युद्धं कुर्वती गन्धर्वी—नृत्यन्ती कालिका—कालिका हम्मारे—अस्माक दूरिचा—दुरितानि सहारो—सहरतु ॥ शेषराजो निवृत्तः ॥

४३-४४ अथ पडक्षरचरणस्य वृत्तस्थाष्टाविंशतितम भेद तिल्लनामकं वृत्त लक्षयति, पिअ इति । यस्य पओ—पदे छअ वण्ण—षड्वर्णाः कल अट्ट—कलाः अष्टौ धओ—धृता, सगणेण—गुर्वन्तगणेन जुअ—युत, तत् हे प्रियं ध्रुवं विनिश्चितं तिल्ल—तिल्लं तिल्लनामक वृत्तमित्यर्थः ॥ छअ वण्णेत्यनेन सगणद्वय युक्तं भवतीत्युक्तं भवति, मात्राकथनं तु पादपूरणार्थमेव । तिल्लमुदाहरति, पिअ इति । पिअ भत्ति—प्रियमक्ता पतिव्रतेति यावत् पिआ—प्रिया गृहिणीत्यर्थः गुणवत्—गुणवान् सुआ—सुतः । धणमत—धनवत् घरा—गृहम् एतत्सर्वमिति शेष बहुसुखकरा—बहुसुखकरम् ॥ तिल्लच्छन्दो निवृत्तम् ॥

४५-४६ अथ पडक्षरचरणवृत्तस्यैकोनविंशति(त)म भेद विज्जोहानामकं वृत्त लक्षयति, अक्खरेति । ज यत्र पाअ पाअ—पादे पादे छआ—पट् अक्खरा—अक्खरा—अक्षराणि ठिआ स्थितानि । पचा दुण्ण—पञ्च द्विगुणिता दशेत्यर्थः मत्तमात्रा यत्र पादे पादे स्थिता इति पूर्वणान्वय, अवहट्ठभाषाया लिगादिव्यत्यासे टोपाभावात् । अथ गणनियममाह, विणीति । विणिण द्वौ जोहा गणा—योद्धृगणौ मध्यलक्षुरगणावित्यर्थः पादे पादे स्थिताविति पूर्वणान्वयः, तत् विज्जोहाख्य वृत्तमिति (ति) गणनामैव छन्दोनामकथनं बोध्यमिति सप्रदायः । विज्जोहामुदाहरति,

कथेति । कथंहरणः पक्षिचरणः गच्छगामीत्यर्थः ॥ देवर्षिर्हिमन्त्रा—देवर्षी-
हिमन्त्र मे—मन्त्रं विगमयन्—निर्मयं देव—ददातु ॥ विज्योहा निवृत्त ॥

४७-४८ अथ पञ्चदशपरणस्य वृत्तस्य योद्धरुत्तमं मेरुं चतुरस्रनामकं वृत्तं
लक्षयति । विजयर कण्ठो—विजयरकण्ठो विजयरचतुर्लक्षमको गणः,
कर्म गुह्यव्यात्मको गणस्तावित्वर्थः यत्र प्रतिचरणं पठत इति शेषः, पुनरस्य कण्ठे-
स्तुत्तरकण्ठं प्रकृत्यद्वयमिति भावः कथिचह भाषा—कथिचतिमाप्तिं वा
चतुरस्रचतुरस्रं ठठ—स्वात्म ॥ चतुरस्रनामकमेतद्वृत्तं विज्ञीत्वर्थः ।
चतुरस्रमुदाहरति गवरिम इति । अमिनठ ठठा—अमिनकमन्त्रः, अमिनकमन्त्रा
हवचेष्टाविशेषः गवरिम कंठा—गौरीकन्ठः । चह—(यत्र) परतन्त्र—प्रसन्ना,
तथेति शेषः महि—महं घण्टा—वनं दिव—ददातु ॥ अथवा अमिनठ—अमिनवे
कन्ठा—कन्ठं वर्तमान इत्यर्थः चह परतन्त्र यस्य प्रसन्ना, स इति शेषः दिव महि
घण्टा—घावापुयिष्योः यस्य स्तस्ताडनान्वितः शिखोऽप्येवमपि ददातीति लोक
महि(दिव)रितिभाव इति वा व्याख्येयम् । द्वितीयम् उदाहरणं । इतोक्तु निगदेनैव
व्याख्यातम् । चतुरस्रं निवृत्तम् ।

५०-५१ अथ पञ्चदशपरणस्य वृत्तस्य उत्तमं मेरुं मन्थाननामकं वृत्तं
लक्षयति, अमेति । अमानचचारस्त—अमानचचारस्य तगणचतुष्टयनिर्मितद्वयत्वा
चरचरणस्य तारंगस्यअपरजान्मइत्यर्थः अमेन पापन—अमेन पापेन अन्तस्तुतगण
इत्येतेत्यर्थः । सुहृद् दहा मन्त्रा—सुहृद् दहा मन्त्रा यत्र पञ्चदशपरणो वृत्तः प्रतिचरणं
पठति, सो—सो मन्थान—मन्थानः सुमन्त्र—आत्मन् ॥ अथवा अमहद्वयमन्त्रा
लिंगविमलितचक्रमन्त्रात्ते दोषामावात् । सो—सो मन्थान—मन्थानं सुमन्त्र—
विज्ञीति वा व्याख्येयं, तगणचरचरणो मन्थान इति तु निष्कृद्वाक्ये । नपेवृत्ते चान्न
मानाकमन्त्रं पञ्चदशपरणमेव । मन्थानमुदाहरति राक्षस इति । यत्र यत्र राक्षस—राक्षस
सुहृद्द्वया पञ्चीक—हे पण्डित मुह—मुग्धा हो—मन । हो इति देशीयं अनेत्यर्थ-
प्रतिष्ठा । किन्ती कीर्ति करे रक्ता रक्षस, सो चह (तं वाच) त्वेकम्—अपेक्षर ॥ यत्र
राक्षस रूपवत्तत्र विप ईत(इमान्) कनदुपेक्ष पण्डितेनापि त्वच्च निवर्त्तयितुमिच्छता
मूर्खेषु मन्त्रित्वमिति कल्पयित् पण्डितं मत्पुत्रैराः । मन्थानो निवृत्तः ॥

५२-५३ अथ पञ्चदशपरणस्य वृत्तस्य उत्तमं मेरुं शलनापीनामकं वृत्तं
लक्षयति, लहेति । लहा कण्ठ कञ्ठो—पञ्चदशपरणं शुभगा पञ्चमी—शुभगा-
पञ्चम्याह । पञ्चा—पञ्चा अविज्ञानुवृत्तिनिर्मितैकचरणोत्थया, पाप चापी-
पापचतुष्टया शलनापी नही—कथिता ॥ अथ नाम चापीति परं पञ्चदशपरणमप्यपि
योद्धरु-नरस्यपि शुभंयपञ्चात्तस्य कल्पमापञ्चात्तस्य चरणविशेषार्थमिति ब्रह्मम् ।

आदि लघुयगणद्वयचरणा शरनारीति तु समुदायार्थः । शरनारीमुदाहरति,
गुणेति । अस्य—यस्य गुणाः (शुद्धाः) दोषावलिताः बहू—बधूः रुच्यमुद्धा—
रूपमुग्धा अतिसुदरीति यावत् । घरे—गृहे वित्त—विन धनमिति यावत् जग्गा—
जाग्रत् सदा परिपूर्णमिति यावत्, तामु—तस्य मही पृथ्वी सग्गा—स्वर्गः ॥
यस्यैतत्सर्वं स भूमावपि स्वर्गमुखमनुभवतीत्यर्थः । घरा वित्त जग्गेति
क्वचित्पाठः, तत्र गृहा जाग्रद्वित्ता इति प्राकृते पूर्वानिपातानियमाद्व्याख्येयम् ।
शरनारी निवृत्ता ।

५४-५५ अथ षडक्षरचरणवृत्तस्य षट्चत्वारिंशत्तम भेट मालतीनामकं
वृत्तं लक्षयति, धम्ममिति । यत्र षडक्षरचरणे वृत्ते प्रथम धञ्ज—ध्वजं लघ्वादि-
स्त्रिकलो गण इत्यर्थः द्वितीयस्थाने च सर वीञ्ज—शरद्वय लघुद्वयमित्यर्थः तीव्र—
तृतीये स्थाने इति शेषः लहु अत—लघ्वतः लघुरते यस्य तादृश इत्यर्थः
मणीगुण—मणीगुणः हागे गुरुरित्यर्थः, इई—दीयते, इदं च यथायथ योजनीय,
सा कत—काता सुदरीति यावत् मालइ—मालती ॥ तन्मालतीनामकं वृत्तमित्यर्थः ।
कैश्चित् कत इति कातासचोघनपरतया व्याख्यायते । मालतीमुदाहरति, करेति ।
सहि—हे सखि बहु गुणवंत—प्रासादाद्वादकत्वान्नेकगुणयुक्ता इत्यर्थः करा—
किरणाः पसरत—प्रसरति, कुंद—कुंदाः प्रफुल्लित—प्रफुल्लिताः यतः, अतः
चद्र—चन्द्र. उगो—उदित इति शायतइति शेषः ॥ मालती निवृत्ता ।

५६-५७ अथ षडक्षरचरणवृत्तस्य चतुःषष्टितममतिम भेट दमनकनामकं वृत्तं
लक्षयति । दिक्षवर—द्विनवर चतुर्लङ्घ्यात्मकं गणमिति यावत् किञ्च—कृत्वा,
सू(सु)पिञ्ज—सुप्रिय लघुद्वयात्मकं गणमिति यावत् भणहि—कथय । दमणव्य
गुणि—दमनक गुणय जानोहीति यावत् इति फणिवह—फणिपतिः भणि—भणति ॥
न(गण)द्वययुक्तं दमनकनामकं वृत्तमिति फलितार्थः । दमनकमुदाहरति, कम-
लेति । कमल णञ्जणि—कमलनयना अमिञ्ज वञ्जणि—अमृतवचना । तरुणि—
तरुणी धरणि—गृहिणी भार्येति यावत् सू(सु) पुणि—सुपुण्येन मिलइ—मिलति ॥
मिलइ न पुणीति क्वचित्पाठस्तत्र मिलति यदि पुनरित्यन्तरं तदा ता विहाय
कुत्रापि न गमिष्यामीत्यध्याहृत्य व्याख्येयम् । दमनको निवृत्तः । इति
षडक्षरं वृत्तम् ॥

५८-५९ अथ सप्ताक्षरचरणवृत्तस्याष्टाविंशत्यधिकशत भेदाः भवति, तत्र
त्रिचत्वारिंशत्तम भेट समानिकानामकं वृत्तं लक्षयति, चारीति । यत्र सप्ताक्षरवृत्ते
हार चारि—हारचतुष्टय गुरुचतुष्टयमिति यावत् किञ्जि(ही)—क्रियते तिणि—प्रय-
यध—गध लघव इति यावत् दिञ्जिहि(ही)—दीयते । अतः अन्तरे शेति

शेषः । एवं विधिना सप्त अक्षराणि—सप्ताक्षराणि षट्—स्वितानि, सा सप्त
 शिष्टा—समानिष्ट पिष्टा—मिया पिङ्गलस्येति शेषः ॥ प्रथमं गुरुल्लो सप्त
 नपुगुरु पुनर्ल्लोरेण क्रमेण नव प्रतिचरन् सप्ताक्षराणि स्थाप्यते स्र समानिष्टेति
 समुदायायः । केचित् पिष्टा इति पदं मियासंबोधनपरतया कर्त्तुं समा-
 निकानुदाहरति, कुञ्जरा इति । पम्बल्ल—पम्बल्लान् फलल्लम्—मेरुल्ल कुञ्जरा—
 इति (ना) बलल्लम्—बलति । कुम्भ पिष्टि—कुम्भपिष्टं कपए—कपते घृष्टि—
 घृष्टा स्र—सूर्यः कपए—भाष्यप्रापते ॥ श्रीरामचन्द्रे प्रपन्नति लीति शेषः ।
 समानिष्ट निष्ठा ।

६०-६१ अथ सप्ताक्षरपरब्रह्मस्यैकशीत्युत्तरं (ब्रह्म सप्तश्लोकर)
 शततमं (११२) मेवं मुवाचकृष्णामर्षं ब्रह्मं ब्रह्मस्यैकं, भवोति । यत्र ब्रह्म मत्तह—
 चक्षस्त मात्राः चतुरे कश्चु इत्यर्थः । अत्र मात्राशब्दो बहुपरः । रह—रच
 यित्वा अन्तः—अन्ते कश्चुत्पत्त्ये इत्यर्थः, म—मगणा आदिगुणानि इति भावः
 सहर—सम्पत्ते, सहर (सु) कितेसठ—सप्तविंशतिं तं सप्तश्लोकर—(३)वाचकं
 मपठ—मपठ ॥ सु (सु) वाचकनामकं तद्ब्रह्ममित्यर्थः । अत्र सहर (सु) किते
 सठ इदं विशेषेण प्रथमस्यापितब्रह्मस्यैकत्वात् सप्तश्लोकानामप्येति बोध्यम् । किञ्च
 अरमगन्धचित्तरसं मुवाचकमिति पक्षितार्थः । सु (सु) वाचकमुदाहरति
 गुर्निति । शुद्धम् मत्तठ—शुद्धमप्यं गुणरहितं—गुणरहितं अस्—स्तं बहु—
 कश्चु माप्येति वाक्च विष्णु पुत्तठ—वीजसुता उह—उ एव पुष्पंठ(ठ)—पुष्प
 धनु ॥ इति शेषः । सप्तश्लोकं निबृहम् ।

६१-६३ अथ समाधिराख्यहस्तस्य कल्पवृत्तम् मेदं कर्षणनामकं वृत्तं
 सप्तमिंशत् करयेति । पदम्—प्रथमे करये विष्णु—विष्णुं चतुर्दशममिति
 वाक्त्वं गन्—गन्तुं लङ्—पृथीत्यर्थं कल्प—लक्षणवत् । उक्तु—उक्तं विप्रयत्नमेवेति
 वाक्त्वं कर्त्त—कर्त्तुं लङ्—अथैव गणक—मध्यगुणं कल्प इति पूर्वोक्तमर्थं कर्षणं कर (हस्तम्)
 एवम् मुह्यन्—मानीत ॥ कर्षणनामकमेतद्ब्रह्मविष्णुर्वा । अथ प्रथमे इति द्वितीयोऽपि
 नामुपलक्ष्यकम् । कर्षणमुदाहरति, निषेति । पद—पदं मेद—मेदं गद—गत्वा
 कर्ष—वदि लब्ध—लब्धमिति निषेध—वीक्षामि तदेति शेषा, कर्ष—वदि रम्य—
 मर्षं च एव होह मवति विरह—विषेगः कर्षु—मा भवति इति शेषा ।
 विरहानलदग्धशरीरव्याग एव भयं अह इति गूढमिमांसायाः कस्यचिन्मृतमनु कस्या
 उद्गमनं कृतमुद्यत्यया श्रीसुनाभं मति प्रार्थनायाश्चनमिदम् सा चोत्तराद्धेन
 प्रकथिता । कर्षणे निषेधः ।

१४-१५. अथ सप्तारपरवहृत्तय अतिमं (पारं) भेदं स्वीकृत्यनामकं
वृत्तं लक्षयति, एतेति । आदौ कला ती—अर्धेन गृह्यतामप्यन् गणान् भोन्

तरं गो—गुरु माणेही—मानय, एवप्रकारेण चाउद्वाहा मत्तणा—चतुर्दश
 ऋः सप्त दीहा—सप्त दीर्घान् सीसारुआ छुदाणा—शीर्षरूपकच्छुन्दसि जाणेही
 जानीहि ॥ दीर्घसप्तकरचित्तचरणं शीर्षरूपकमिति फलितार्थः शीर्षरूप-
 मुदाहरति, चदेति । चद्रः कुटः काशाः ए—एते हारः मौक्तिकदाम इति
 वावत् हारा—हीरक मणिभेदः हसा—हसः ए—एते । जे जे सेता
 ण्णा—ये ये श्वेता वर्णिताः ते ते इति शेषः, तुम्ह किंती जिणीआ—युष्मत्की-
 र्यां जिताः ॥ कचिद्राजान प्रति कस्यचित्कवेरियमुक्तिः । शीर्षरूपक
 निवृत्तम् ।

६६-६७. अथाष्टाक्षरचरणवृत्तस्य प्रस्तारक्रियया षट्पचाशदधिकशतद्वय
 भेदा भवन्ति, तत्राद्य भेद विन्नुमालानामक वृत्त लक्षयति, विज्जियति । यत्र
 प (ल) ची—क्षत्रिये प्रस्तारे इत्यर्थः, पूर्वाचार्याणा क्षत्रिय इति प्रस्तारसज्ञा,
 सोला मत्ता—षोडशमात्राकाः चारी—चत्वारः कर्णाः गुरुद्वयात्मका गणाः पाए—
 पादे लोला—लुठति, एअ रुअ—एवरूपेण चारी पाया—चतुःपादिका विज्जू-
 माला—याआराआ—नागराजेनेत्यर्थं भरी—भण्यते ॥ पसी—क्षत्रिया जातिरिति
 कश्चित् । अत्र मात्राकथनमनतिप्रयोजक पादपूरणार्थमेवेति बोध्यम् । विन्नुमाला—
 मुदाहरति, उन्मसेति । उन्मत्ता—उन्मत्ताः दुक्कता—दौर्गमनाः परस्पर मिलता
 इति यावत् विपक्खा मभभे लुक्कता—विपक्षमध्ये लीनाः, णिक्कता—निष्क्राता
 विपक्षान् हत्वैत्यर्थः, य (ज) ता—यातः प्रतिपक्षैर्न्य प्रतीति भावः धावता इत-
 स्ततो धावन कुर्वत जोहा—योद्धारः णिम्भती—निर्भ्रान्ता नितरां त्रैलोक्यभ्रमण-
 शीलामिति यावत् किती—कीर्तिं पावता—प्रप्नुवन्ति ॥ केनचिद्वन्दिना श्रीराम-
 चन्द्रसग्रामवर्णनपरत्तयेद कृतम् ।

६८-६९. अथाष्टाक्षरचरणवृत्तस्य पञ्चशीतितम भेद प्रमाणिकानामक वृत्त
 लक्षयति, लहु इति । लहु गुरु गिरतरा—लघुगुरुनिरतराणि अठक्खरा—
 अष्टाक्षराणि यत्र प्रतिचरणं पततीति शेषः सा प्रमाणिआ—प्रमाणिका तत्प्रमा-
 णिकानामक वृत्तमित्यर्थः । लहु गुरु गिरतरेत्यनेन प्रथममेको लघुस्तदनन्तरं गुरुः
 पुनर्लघु पुनर्गुरुवैवप्रकारेणाष्टाक्षराणि कर्त्तव्यानीति सूच्यते । प्रसगान्तराचननामक
 षोडशाक्षरचरण वृत्त लक्षयति, प्रमाणीति । प्रमाणि—प्रमाणो प्रमाणिकेत्यर्थः ।
 नामैकदेशादपि सत्येत्यादौ नामप्रतीतेः, दूण—द्विगुणा लघुगुरुनिरतराष्टोडशा-
 क्षरेण यावत् किज्जिए—क्रियते यदेति शेषः, सो—सः णराड—नाराचः
 मणिज्जिए—मण्यते प्रमाणिकामुदाहरति, णिसुमेति । णि (नि) शुभ
 शुभलङ्घिनी गिरीस (श) गेहमङ्घिनी महादेवगृह भूपवित्रीत्यर्थः । पय्द मुद

शेषः । एवं विधिना सप्त अक्षराणि—सप्ताक्षराणि ठिम्भ—स्थितानि सा समा-
 शिष्वा—समानिष्वा पिम्भा—मिषा पिगलस्येति शेषः ॥ प्रथमं गुहस्तुते सप्तः
 नपुगुंर पुनर्लभुरेव क्रमेण यत्र प्रतिपद्यते सप्ताक्षराणि स्वाप्स्यते स समानिष्वेति
 समुदायायः । केचित्तु पिम्भा इति पदं मिषासंशोधनपरत्वात् कर्त्तुं समा-
 निकाशुदाहरति, कुञ्जरा इति । पञ्चम्भ—पञ्चत्वात् पञ्चत्वा—मेरयंत् कुञ्जरा—
 इति (नः) पञ्चत्वा—चक्षति । कुम्भ पिष्टि—कुम्भगुच्छं कपय—कपते धूमि—
 धूया सूर—सूर्यः कपय—आप्लावये ॥ श्रीगणेशे प्रणम्यति स्वीति शेषः ।
 समानिष्वा निवृत्ता ।

३-३१ अथ सप्ताक्षरचरणवृत्तल्यैकशीलुत्तर (वृत्तस्य इत्युत्तर)
 सप्ततमं (१११) मेरं मुवाचक्ष्णामकं वृत्तं कथयति, भवेति । यत्र चठ मच्छ—
 चकृत्ता मात्रा चतुरो लघून् इत्यर्थः । अत्र मात्रायाश्चो लघुपरा । रर—रच-
 दिवा अंतर्—अन्ते ककुत्तप्यते इत्यर्थः, म—मगत्वा आदिगुहगव इति यत्कर्
 लहर—लम्ब्यते, लहर् (सु) क्लिप्तः—लघुविशिष्टं तं सुवाचकम्—(सु) वाचकं
 भगव—भगवत् ॥ सु (सु) वाचक्ष्णामकं वृत्तमित्यर्थः । अत्र लहर् (सु) क्लि-
 प्त इदं विशेषेण प्रथमस्यापितचतुर्मात्रायां लघुपराक्ष्णामायेति बोध्यम् । द्वि-
 त्तरमन्तरचित्तरचं मुवाचक्ष्मिति पक्षितार्थः । सु (सु) चकृत्तमुदाहरति
 गुर्निति । गुहकम मच्छ—गुहकममच्छ गुहकृत्त—गुहकृत्त चट्—पस्य बहु—
 कपू माप्येति याक्त् विष्वा पुचट—वीवत्युवा चट्—त एव पुचट(ठ)—पुच-
 वान् ॥ इति शेषः । मुवाचक निवृत्तम् ।

३२-३३ अथ सप्ताक्षरचरणवृत्तस्य पञ्चवर्तितमं मेरं करदक्ष्णामकं वृत्तं
 सप्ततमं चरयेति । पठम—प्रथमे चरणे विष्य—विष्य चतुर्त्रिंशाम्भमिति
 वाक्त् गल—गलं लह—लहीत्या वप्य—स्वापवत् । तनु—तल विप्रगयवेति
 वाक्त् अंत—अन्ते कगवा—मध्यगुहं वप्य इति पूर्वेषाम्भवा करदं चर (रं चम्)
 एवं मुहम—मनीत् ॥ करदक्ष्णामकमेतद्वृत्तमित्यर्थः । अत्र प्रथमे इति द्वितीयरी
 मानुषतयम् । करदक्ष्मुदाहरति, विशेषेति । एर—एतं देह—देहं गर—गवा
 चट्—चदि तवट—त्ययामि विचट—भीयामि तदेति शेषः, चट्—चदि रमन—
 मच्छ त एव होह भगति, विरह—विषेगा चरु—मा भवतिरिति शेषः ।
 विरहान्तश्चरुपीत्याग एव मम अह इति गूणमिषायाया वप्य भिन्नुनमर्तुवाया
 नगमन चतुस्रपया भवत्युनायं प्रति प्रार्थनावाचनमिदम् सा चोवागर्देन
 प्रवर्तिता । वरदयो निवृत्ता ।

३४ ३५ अथ नवाक्षरचरणवृत्तस्य त्रिंशत् (त्रिंशत्) मेरं लो- र्भक्ष्णामकं
 वृत्तं कथयति, भवेति । आशी चला ली—च लो गुहक्ष्णामकम् र्भक्ष्णामकं

नतर् गो—गुरु माणेही—मानय, एवप्रकारेण चाउदाहा मत्ताणा—चतुर्दश
मात्राः सत्त दीहा—सत्त दीर्घान् सीसारुआ छदाणा—शीर्षरूपकच्छन्दसि जाणेही
—जानीहि ॥ दीर्घस्तकरचितचरण शीर्षरूपकमिति फलितार्थः शीर्षरूप-
कमुदाहरति, चदेति । चद्रः कुटः काशाः ए—एते हारः मौक्तिकदाम इति
यावत् हारा—हीरक मणिभेद. हसा—हसः ए—एते । जे जे सेत्ता
चण्णआ—ये ये श्वेता वर्णिताः ते ते इति शेषः तुम्ह किती जिणीआ—युष्मत्की-
त्यां जिताः ॥ कचिद्राजान प्रति कस्यचित्क्वेरियमुक्तिः । शीर्षरूपक
निवृत्तम् ।

६६-६७. अथाष्टाक्षरचरणवृत्तस्य प्रस्तारक्रियया षट्पञ्चाशदधिवशतद्वय
भेदा भवन्ति, तत्राद्य भेट विगुन्मालानामक वृत्त लक्षयति, विज्ज्वति । यत्र
प (ख) ती—क्षत्रिये प्रस्तारे इत्यर्थः, पूर्वाचार्याणा क्षत्रिय इति प्रस्तारसज्ञा,
सोला मत्ता—षोडशमात्राका चारी—चत्वारः कर्णाः गुरुद्वयात्मका गणाः पाए—
पादे लोला—लुठति, एअर रुअर—एवरूपेण चारी पाआ—चतुःपादिका विज्ज-
माला—यात्रारात्रा—नागराजेनेत्यर्थं मत्ती—मण्यते ॥ पत्ती—क्षत्रिया जातिरिति
करिचत् । अत्र मात्राकथनमनतिप्रयोजक पादपूरणार्थमेवेति बोध्यम् । विगुन्माला-
मुदाहरति, उन्मचेति । उन्मच—उन्मताः दुक्कता—दौकमानाः परस्पर मिलता
इति यावत् विपक्खा मभमे लुक्कता—विपक्षमध्ये लीनाः, णिक्कता—निष्काता
विपक्षान् हत्वैत्यर्थं, य (न) ता—यातः प्रतिपक्षैव प्रतीति भावः धावता इत-
स्ततो धावन कुर्वत जोहा—योद्धारः णिम्मती—निर्भ्रान्ता नितरा त्रैलोक्यभ्रमण-
शीलामिति यावत् किती—कीर्ति पावता—प्रप्नुवन्ति ॥ केनचिद्वन्दिना श्रीराम-
चन्द्रसंग्रामवर्णनपरतयेद कुतम् ।

६८-६९ अथाष्टाक्षरचरणवृत्तस्य षडशीतितम भेद प्रमाणिकानामक वृत्त
लक्षयति, लहु इति । लहु गुरु णिरतरा—लघुगुरुनिरतराणि अठक्खरा—
अष्टावक्षराणि यत्र प्रतिचरणं पतंतीति शेषः सा प्रमाणिआ—प्रमाणिका तत्प्रमा-
णिकानामक वृत्तमित्यर्थः । लहु गुरु णिरतरेत्यनेन प्रथममेको लघुस्तदनन्तरं गुरु.
पुनर्लघु पुनर्गुरुरेवप्रकारेणाष्टावक्षराणि कर्तव्यानीति सूच्यते । प्रसगान्नाराचनामक
षोडशाक्षरचरण वृत्त लक्षयति, प्रमाणीति । प्रमाणि—प्रमाणी प्रमाणिक्त्वर्थः.
नामैकदेशादपि सत्येत्यादौ नामप्रतीतेः, दूण—द्विगुणा लघुगुरुनिरतरषोडशा-
क्षरेण यावत् किज्जिए—क्रियते यदेति शेषः, सो—स. णराठ—नाराच
मणिज्जिए—मण्यते प्रमाणिकामुदाहरति, णिसुमेति । णि (नि) शुभ
शुभलडिनी गिरीस (श) गेहमडिनी महादेवग्रह भूपतित्रीत्यर्थः । पत्रड मुड

गदिष्ठा—प्रथममुद्रादिरी (नी) पञ्च द्वात्रिंशत् सदिष्ठा—प्रथमा मातृ
सदिष्ठा ॥ प्रथमदिक्षा निरूपण ।

७-७१ अथाष्टापरपरगृहस्य द्वि(एक)ममर्चयितव्यम् मेरु
मस्तिष्का नामकं बृहत् सप्तर्षिः, इति । दार गंधर्बपुराण—हा । गुह्य गंधो
स्तुत्यायां ब्रह्मेण—मनोहरत द्वि अह चतुर्गण—दशाष्टोमे दक्षिणा
पञ्चराशि यत्र साहस्येनैत्यर्थं चरत्येति शेषः । चारदार—द्वारद्वयं मात्रा यत्र
प्रायः—नापो तत्र मस्तिष्कानुष्णम् मस्तिष्कादर्थं मुन्दरं बृहत्सिन्धुः
मान (मान)—मान् ॥ प्रयोगिनामस्तिष्कपार-पैतृपानेन मेरुः पञ्चमायिकायां
स्तुतुष्टममययययि चरत्ये दीपो, मस्तिष्कायां गुह्यस्तुष्टममयययि चरत्ये
मस्तिष्कापुष्टादयि । जेत—येन जिय—जियाः स्तिष्ठि ब्रह्म—ब्रह्मिण्यर्थः परशुत्तम
रुपण्येवम, रिद्धिबुद्धि वेति ब्रह्म—रिद्धिः बुद्धिः वेद्यी ब्रह्मः येन जिय इति
पूर्वेण्यर्थः । पाण पाणि—पाण्यमुपायय चरत्येवम इत्यर्थः (जेत)—येन
कण्ठ—कणिना, ओड—ओ-वं तुम्—बुध्म्यं स्तुता—स्तुति वेत्त—द्वारद्वय ।
मस्तिष्का निरुद्ध ।

७२-३३ अथाज्ञाद्वयधरमनुवाच कनुपवष्टितमभेर्दं तुंगनामकं वृत्तं लक्ष्मणं
 वरलेति । पदम्—प्रथममाशयित्ति वापत् एत ए(तु) रंगो—रत्नैर्लक्ष्मि व
 (तु) रंगो—सुन्दर इत्यर्थः, किञ्चित्तुल्यमित्यपेक्षायां हेतुगभाविरूपमाद
 नगजति । पदम् पु(तु) क्त कटो—मग (व) तुगलकटो नगधत्तिलज्वात्मको
 गता भवे इति शेषा गुफा पु(तु) भ(व) ल वतिदो—गुह्यगुह्यप्रतिदः
 गुह्यप्रतिदं नगप्रद्वानी वनेषाद्वयमित्यर्थः वरलक्ष्मि—इ वरलक्ष्मिने व
 तुंगो—तुंगा तत्पु गायत्रं वृत्तमित्यर्थः ॥ नगप्रद्वयान्तरं गुह्यदे वन प्रतिवरत्नं
 पयति ॥ तुंगनामकं वृत्तमिति क्लृप्तार्थः । अत्र पदम् एत ए(तु) रंगो इति
 पदं पदपूर्वार्थमेवेति बोध्यम् । तुंगमुदाहरति कमलेति । कमल ममल
 लीको—कमलधमरत्नका कमलविष्पातिगो इ धमरत्नयो बन्धनमोचनात्
 वनद्वयेपर्यां अत्र तुम्(व) न वीको—तत्पुगुह्यनवीका मध्यगुह्यादिमात्र ।
 इतिम तिभिरुक्तिभो—इतिवृत्तिमित्येवम् किमस्त्युपलब्ध प्रोक्ता इति देशो-
 क्त्याः एतादृशस्त्युक्तिभिर्यत्नं त्वरेण्यः तत्र—अवेति ॥ तुंगां निरूप्यः ।

७४-७५. अथ चरचरनृत्तस्य पञ्चवर्णितं भेदं कमलनामकं वृत्तं
 तद्वदति फट्ठेति । अथ च विष्णुः—विष्णुः चतुर्वर्णितमको गण इति वाक्यं
 फट्ठम—प्रथमः गणः शुद्धः अष्टिमा—शुद्धवर्णितः। तद्वदति शुद्धवर्णित इत्यर्थः
 करिद—नरेन्द्रः मध्यगुह्यगण इति वाक्यं विह—वित्तिका गण पूर्वपञ्चमः एव
 भवितुम्—एवंप्रकारेण कमलनामकं वृत्तं मन्त्रार्थः ॥ अथा अथवदनाथः

लिंगविभक्तिवचनव्यत्यासे दोषाभावात् । गुरु सहिअ अतिणा—गुरुसहितातम्
इति वृत्तविशेषण वाच्यम् । कमलमुदाहरति, सेति । (असु)रकुल मद्गणा—
दैत्यवशमर्दन. गरुड वर बाहणा—गरुडः वर श्रेष्ठ बाहन यस्य तादृश इत्यर्थः
बलि भुवण चाहणा—बलिभुवन बलिराज्य जिवृत्तुरित्यर्थः सः कणहणा—जनार्दन.
जअइ जयति ॥ कमल निवृत्तम् ॥

७६ अथ प्रस्तारक्रियया नवान्तरस्य द्वादशाधिक पचशत भेदा भवन्ति,
तत्राष्ट (सप्त) चत्वारिंशाधिकशततम भेद महालक्ष्मीनामक वृत्त लक्षयति, दिट्ठेति ।
जा—वे रगणा शाधराएण—नागराजेन पिंगलेनेति यावत् विणिग्गिआ—विजाता
वर्णिता वा, मास अद्वेण—मासाद्धेन मासाद्धपरिमिताभि पचदशभिर्मात्राभिरि-
त्यर्थ. दिट्ठ—दृष्टा उपलक्षिता इति यावत् ते एतादृशाः तिणिग्गिआ—त्रयः जोहा
गणा—योद्धृगणा मध्यलवुरगणा इति यावत् यत्र पाअ—पादे द्विअ—स्थिता. ।
ता महालक्ष्मिअ—महालक्ष्मी जाण—जानीहीति । अत्र मात्राकथन श्लोकपूरणार्थ
मेव । रगणत्रयरचितचरणा महालक्ष्मीरिति तु निष्कृष्टार्थः ।

७७ महालक्ष्मीमुदाहरति, मुडेति । मुडमाला गला कटिआ—मुडमालैव
गलकटिका कठभूमेति यावत् यस्यास्तादृशीत्यर्थ. सठिअ णाअरआ भु(आ)—
संस्थितनागराजमुजा । प्राकृते पूर्वनिपातानियमादग्रे वक्तुमानस्यापि सठिअ-
शब्दस्य पूर्वनिपातः । वध्वञ्जाला किआ वासणा—व्याघ्रचर्मकृतवसना सिंहासणा—
सिंहारूढा चडिअ—चडिका पाउ—पादु ॥ महालक्ष्मीनिवृत्ता ॥

७८ अथ नवान्तरचरणस्य वृत्तस्य चतुश्चत्वारिंशा (अष्टा)धिकद्विशत-
तम (२०८) भेद सारगिकानामक वृत्त लक्षयति, दिअररेति । सहि—हे सखि
पअ पअ—पदे पदे दिअवर कण्णो सअण—द्विजवरकर्णसगणैः, द्विजवरश्चतुर्लक्षा-
त्मको गणः, कर्णो गुरुद्वयात्मको गणः, सगणोऽनगुरुगणस्तैरित्यर्थः मत्ता गणण—
मात्राग(ण)न यत्र क्रियत इति शेष, सर मुणि मत्ता लहिअ—शरमुनिमात्राश्ला-
घिता, शराः पच, मुनयः सप्त, तथाच प्रतिचरण द्वादशमात्रायुक्तेत्यर्थः, सा
सारगिका—सारगिका कहिअ—कथिता ॥ वचनलिंगव्यत्यासस्तु प्राकृते न
दोषायेति पूर्वमेवोक्तम् । कियतीना मात्राणा गणन विधेयमित्यत्र हेतुगर्भे श(स)र
मुणीति वृत्तविशेषणम् । केचित्तु दिअवर कण्णो—द्विजवरकर्णौ सअण—सगण. एव
प्रकारेण यत्रेति शेष मत्ता गणण—मात्रागणन क्रियत इति शेष, कियत्यो मात्रा
गणनीया इत्यपेक्षायामाह, सेरति, सर मुणि मत्ता—शरमुनिमात्रा, शराः पच
मुनयः सप्त मिलित्वा द्वादशेत्यर्थ. लहिअ—लभ्यन्ते यत्र, सा सहि—हे सखि
सारगिका कहिअ—कथ्यतामिति योजनिकामाहुः । अत्र वर्णवृत्ते मात्राकथन पाद-
पूरणार्थमेव । द्विजवरकर्णसगणरचितचरणा सारगिकेति निष्कृष्टार्थः ॥

७६ शरगिषामुदाहरति । हरिण्टदृशमरणा कमलदृशमरणा । सुवचनपित-
हरणे वरणी द प्रियवलि इत्या ॥ वस्यादिष्वस्यवा वृद्धिनिबन्धनार्थं प्रति वचन
निश्चयः । शरगिषा निवृत्ता ।

८ अथ नवाक्षरपरणस्य वृत्तस्यैकवन्तार्थोत्तरद्विचलनं मेरं परिवा
नामकं वृत्तं लक्षयति, मुन्तीपुत्रेति । वन्—यत्र प्रथमं मुन्तीपुत्रा शुभं लक्षि—
मुन्तीपुत्रस्य लक्ष्यं प्राप्तामिति वाच्यं मुन्तीपुत्रस्य वन्तस्य गुणद्वयान्वयकमर्यादेति
वाच्यं युगं गुणद्वयप्रथमित्यर्थः, टीप्—तृतीये रमाने वरद्वयान्वयकमर्यादेति
विशेषः—पितृवत्तुल्यमप्यमको गन्धं भुञ्जं निश्चितं कर्हिम्—वयित । अस्मै विमान्ते
हारा एकगुणान्वयो गन्धः अगिषा—वयित रथापि इति वाच्यं, व—वां अग्नि
मन्त्रि—वयिमणितो पश्य—परिवा विज्ञोति शेषः ॥ गुणद्वयप्रथमे वरद्वयान्वय
पुत्रास्तरस्यापि वैकगुणचित्तवरणा वयिषेति तु निष्प्रकार्यः ।

८१ पाइत्या (परिवा) मुराहरति कुल्लेति । मम ममय—ममद्वयमरा
ममता ममरा येन सादृशा इत्यर्थः खोवा—जीवा वन्वा इति वाच्यं कुल्लता
पुष्पिता, वज्र समता—वज्ररयामला मेहा—मेहाः रिद्धा—(इत्या) रिद्धा—
रिद्धा वप्वे—वृत्तपति अत्र दे निम लक्षि—दे प्रियवलि के वन्वा—वन्वा
कर्हिम्—वन्वा अवे—वाच्यरयति वरमनेति शेषः कहु—कथय ॥ इदं च
प्रोपि तन्मृ कथा कर्हिभिन्नवपत्तां प्रति वचनम् । परिवा निवृत्ता ।

८२ अथ नवाक्षरपरणस्य वृत्तस्य पद्वन्वाद्यद्विकर्हिचलनं मेरं कमला
नामकं वृत्तं लक्षयति वरतेति । गय वरस—गयवेष्ट रमन्मन्त्र—रमन्मन्त्र
विभक्त कुम्भ—विभक्तमुत्तं विभक्तवन्वाकुल—वन्वाकुल गयस्यस्य मुन्तं वन्वा
लक्ष्मिपति परमाया पल्लव—दत्ता । गुणरेका ५ (३) पञ्चे—प्रतिपादं वन्वा
वरिम्—वन्वा प्रिकटे वा दह कलम्—वन्वाकलम् कलं कमलम्—कमलम्
कलमलनामकं वृत्तमित्यर्थः ॥ अथ वान्वायाम्बवागुरपत्ता वृत्तस्य गय वरस
पूरितस्य निपातस्य वीपापदान नाशकनीयमम् (इ इमापायां वस्व निवमाभ्याम् ।
वरद्वयस्य रमन्मन्त्र इति च पद्वन्वा पद्वानुरपत्तायेति वृद्धयम् ।

८३ क शामुगाहरति वलौति । रग्यार्थमन्त्रम् ।

८४ अथ नवाक्षरपरणस्य (वृत्तस्य) पञ्चमवृत्तिर्नाम मेरं विवनामकं वृत्तं
लक्षयति रग्यति । विरहि—वि(रि)रति वान्वावृत्तिरिति वाच्यं दिम—दिम
रवन्तुल्यवन्वाकुल गय इत्यर्थः ममक—मम्य राओ—रावा मम्यगुणद्वय इत्यर्थः
यत्र वरणीति शेषः गुण कुम्भ लक्ष्यं वीषे—गुणयुगलवन्वाकुलं गुणद्वयं सर्वेषां पाशानां
शेवे अस्मै यस्य सादृशमित्यर्थः वरत्तं विव—विव विवनामकं वृत्तमिति वाच्यं

गुणिण—गुणिन गुणवतः पुरुषस्य सहाओ—सहायः गुणोपदेष्टृत्वाद्गुण
चपुरुषस्य सहायभूत इति यावत् फणि—फणि विंगल. रवइ—रचयति, गुणइ—
गुणयत हे वृषजना इति शेष. ॥ द्वौ गुरु यत्र प्रतिचरण क्रमेण पततस्तद्विजनामक
वृत्तमिति फलितार्थ । अथवा सर्वशेषे पादान्ते गुरुगुणल सि (श')रसि द्विज.,
विप्रगुरुद्वयमध्ये राजा जगण इत्यर्थ. यत्र भवतीति शेषः, फणि रइअ—फणि-
रचितम् एसो—एतत् विं च हे गुणि—हे गुणिनः शिष्या. सहाओ—स्वभावादेव
गुणइ—गुणयत इति भिन्न भिन्न योजनीय । परे तु गुणिण सहाओ—हे गुणिनः
सखाय इत्यर्थ कृत्वा सखिसबोधन समेत्यदमिति वदति ।

८५. विवमुदाहरति, चलइति । एतत् चल—चलमाशुगतवरमिति यावत्
वित्त—वित्त चलइ—चलति नश्यतीत्यर्थ, तरुणत्वेसो—तरुणत्ववेपन्तारुणावस्थेति
यावत् नस(ङ्)—नश्यति । सुपुरिष गुणेण वद्धा—सुपुरुषगुणेन वद्धा शुद्धा
स्वच्छा किञ्चित्—कीर्ति. थिर—स्थिर रइइ—तिष्ठति ॥ तस्मात्सर्वमनित्य मत्वा
गुणाना लत्रे पुरुषैरासमुद्रातव्यापिनी कर्तिर्भवति इति कस्य(चित्) परमातस्य
किञ्चिन्मित्र प्रत्युपदेश. । विव निवृत्तम् ।

८६ अथ नवाक्षरचरणस्य वृत्तस्य चतु.षष्ठ्युत्तरविंशततम भेद तोमरनामकं
वृत्त लक्षयति, जरयति । जस्(सु)—यत्र (आइ)—आदौ इत्थ—इस्तः सुर्वत.
सगण इति यावत् विधाण—विजात. विशायते वा, तह—ततस्तथा वा वे पओहर—
द्वौ पयोधरौ मय्यगुरुकौ जगणावित्यर्थ. जाण—ज्ञयेते ज्ञातौ वा तत् तोमर छुद—
तोमरनाम माणु—मानय, एम—एव णाउ णरेद—(नाग) नरेन्द्रः पभणेइ—
प्रभणति । यत्र प्रथम सगणस्तदनंतर च जगणद्वय प्रतिचरण पत्)ति
ततोमरनामक वृत्तमित्यर्थ ।

८७. तोमरमुदाहरति, चलीति । कोइल साव—कोकिलशावकाः चूअ—
चूने सहकारवृक्षे चलि—गत्वा मह्यमास—मधुमासे वसनसमये पचम—पचम स्वर-
भेद गात्र—गायति । अत इति शेष मभक्त—मम मण—मन. वम्मइ—
मन्मथ ताव—तापयति, अज्जवि—अद्यापि कत—कात. ण हु—न खलु आव—
आगतः ॥ एतादृशोऽपि कातो नायातोऽतः किमाचरणीय मया तत्त्वमेवादिशेति
नृदामिप्रायाया कस्याश्चित् प्रोपितमर्तृकाया प्रियसखीं प्रति वाक्यमिदम् ।
तोमर निवृत्तम् ।

८८ अथ नवाक्षरचरणस्य वृत्तस्य प्रथम भेद रूपमालानामक वृत्त लक्षयति,
णाआरावा इति । चारी कणा चन्वार. कर्णा गुरुद्वयात्मका गणा इति यावत् श्रते—
कर्णचतुष्टयाते हाराए—हार गुरुरित्यर्थः । एव—प्रकारेण पात्राए—पादे अट्टा-

द्वयमित्यर्थः, (ए) गुरु जुता—एकगुरुयुक्तः, कुन्तिश्च पुत्ताए(?)—कुतीपुत्रः
कर्णः गुरुद्वयात्मको गण इति यावत् ठवीजे—स्थाप्यते । ततः हस्थ—हस्तः
गुर्वन्तः सगण इति यावत् करीजे—क्रियते, ततश्च हार—एकगुरुः ठवीजे—
स्थाप्यते, तत् चम्पअमाला छुद—चपकमालाच्छुद कहीजे—कथ्यते पिंगलै-
नेति शेष ॥

६३ चपकमालामुदाहरति, ओगरेति । दुग्ध सजुत्ता—दुग्ध सयुक्तम् ओगर
भक्ता—ओगरभक्तम्, ओगरो धान्यविशेषस्तदोदनमित्यर्थः, गाइक धित्ता—गोघृत
मोइणि मच्छा—मद्गुरमत्स्यः, ना(णा)लिच गच्छा—नालीचवृक्षः, नालीचो
गौडदेशे अनेनैव नाम्ना प्रसिद्धः शाकवृक्षविशेष इत्यर्थः, रभअ पत्ता—रभापात्रे
कता—कातया दिज्जे(ज्जह)—दीयते, पुणवता—पुण्यवान् खा—खादति ।
कस्यचिद्विदूषकस्य निजप्रियवयस्य प्रति वाक्यमिदम् । चपकमाला निवृत्ता ।

६४ अथ दशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यैकोनचत्वारिंशाधिकचतुःशतत्रय ४३६
भेद सारवतीनामक वृत्त लक्षयति, दीहेति । यत्र प्रथम दीह—दीर्घं गुरुमिति
यावत् तदनन्तर लहु (ह) जुअ—लघुयुग ततोऽप्यनन्तर दीह लहू—दीर्घलघू इति
यावत्, अत्ते—अत्ते दीर्घलघ्वोरनन्तरमिति यावत् पओहर—पयोधर मध्यगुरु
जगणमिति यावत् ठाइ—स्थापयित्वा (घ)आ—अञ्ज. लघ्वादितिक्कलो गण
इति यावत् स्थाप्यत इति शेष, कहा चउदह मत्त विराम—कथितः चतुर्दशमात्रा-
विरामः, सारवई—सारवतीनामक छुद—छन्द. धुअ—ध्रुव कहु (हू)—कथ्यताम् ।
प्राकृतभाषाया पूर्वनिपातानियमात् कहा-शब्दस्य पूर्वनिपातकरणे न दोष इति
मंतव्यम् ।

६५ सारा(र)वतीमुदाहरति, पुत्तेति । (पवित्र)—पवित्राः पितृभक्ता
इति यावत् अथवा पवेः वज्रात् त्रायत इति पवित्रा. वज्रादपि रत्नका इत्यर्थः
पुत्राः बहुत घणा—बहुतर धन भक्ति—भक्ता प्रियभजनपरेति यावत् (सुद्ध
मणा.)—शुद्धमना. अकुटिलान.करणा कुटुम्बिणी—वधू यदि एतत्सर्वं भवतीति
शेषः । मिच्च गणा—भृत्यगण इक्क—इक्केन शब्दव्यापारमात्रेणेति यावत्
तरासइ—व्रस्यति, तदा वो—क. वव्वर—वर्वरः सगा—स्वर्गो मणा—मनः
कर—करोति न कोऽपीत्यर्थः ।

६६ अथ दशा (क्ष)रचरणस्य वृत्तस्य सप्तनवत्यधिकत्रिशततम भेद सू(सु)
स(घ)मानामक वृत्त लक्षयति, कण्णो इति । पदमो—प्रथमः कणो—कर्णः
गुरुद्वयात्मको गण इति यावत् जुअलो—द्वितीय इत्यो—हस्त. गुर्वन्तः सगण
इत्यर्थः, तिअलो—तृतीय कण्णो—कर्ण पुन गुरुद्वयात्मक एव गण इति यावत्,

चठथो—चतुर्था इत्यो—इत्ता पुनः सगम इत्यनं यत्र भवतीति प्रतियोगान्तरं
मध्याह्नस्य बोधनीयम् । सोला कलभा—पौडराकलाका पौडरा कला मा
वस्यां ता तादृशीत्यथा कृष्णा कलभा—पङ्कजलया पद् कलभा गुरवो वस्यां ता
तादृशीत्यथा पङ्कगुरुमुकेति यावत् एता—एता असुलमा प्राप्तमा सुलमा—
सुपमा विद्या—इहा विगलेनेति शेषः । सुपमानामपमेतृवृत्तं विगलेन
प्रकथितमित्यथा । अत्र कलाकापङ्कं च पदं पद्यपूरणार्थमेव, क्वंहा पु मात्रा-
कम्पनस्यानतिप्रयोजनकतया (सप्त)गुरुपङ्कत्याप्नोति मतम् । कश्चित्तु इवो
पत्रलो इति पाठश्चन इत्ता प्रकट इति व्याख्येयम् ।

१० सुपमाशुशहरति, मो इति । यस्याः भूः कविता—कविता ललाट
(१) उष्मा—उष्मा(च) केता पु(ह)मरा—जैत्रमुल्लं ममम्भ
पिभला—मण्वीतं मातृशौरनवनसदृशमित्यर्थः । वरणा—वदनं वस्त्रा—रुई
हंता विरलाः छाद्य—तस्याः पिभला—प्रिया कै(के)ते—कथं विविधा—
वीरति । परमकृतिवत्कया यस्य कला स कथं प्राधान्यारवति इति वक्ता
व्यवरमण्योवर्कताकस्य कस्यचिदुक्तार्थं प्रति वक्ष्यमिदम् ।

१८ अत्र दशाक्षरचरस्य वृत्तस्य परवत्त्वविकचतु-शततम भेदम् अमृत
गतिनामकं वृत्तं लक्षयति विप्रश्नेति । विप्रश्नर हार पञ्चलक्ष्या—द्विक्वद्वार
प्रकटिता द्विक्वद्वारधनुर्लक्ष्यत्पको यत्र हारो गुदरशाभ्यां प्रकटितेर्ध्या अयम्
प्राकृतमायायां पूर्वनिपातं कृत्वा बोधनीयं पुनरपि तद्विप्रश्न—तत्रैव
संस्थान्य द्विक्वद्वाराये इत्येति यावत् करिष्या—कृत्वा । अयम् पूर्वोक्तप्रकारेण
चरिष्या—शब्दस्य पूर्वनिपातं कृत्वा पुनरपि करिष्या तद्विप्रश्न—पुनरपि कृतव्य
रिष्यति कृत्वा तस्या तेन प्रकरेण द्विक्वद्वारधारणप्रकारेणैति यावत् रिष्यतिर्दत्ताः
ता तादृशीति बोधनीयम् । वतु सतु वे १ गुद सद्विष्या—वसुक्तपुष्टिगुक्तद्विता
वतवोऽप्यौ तथाचाष्टयवकायैलपुमिर्गुद्वेन च पुष्टेत्पर्क अमिभगद—अमृतगतिः
पुष्ट—भुवं कद्विप्रश्न—कविता । तदमृतगतिनामकं वृत्तं कथ्यमित्यथा । अत्र
सप्तगुरुकापङ्क चरलो—नतिप्रयोजनस्य च पद्यपूरणमित्येति मतस्य प्रथमं सप्तगुरुद्वये
तदनन्तरमेवो गुदः पुनस्तप्तपुष्टं पुनरेवो हार एते गणाः अनेन वस्य चरणे
पतति तदमृतगतिनामकं वृत्तमिति निष्प्रश्नम् ।

१९ अमृतगतिमुशहरति शरेति । तस्य मुशार वरणा—शारदमुशार
पदना किञ्च सगोह वरणा—विद्वज्जनयोदहनपत्ना । यत्र गत कुंभर गमनी—
मरकटाकुंभरगमना तदप्ये दे वि य)तपि दिहा—एता ॥ कथं विवि-
धुषा रत वध्यतेति पद्यस्य च विविधस्य प्रारम्भ मुशारत इव वक्ता वरणा ता
बोधितमुशारवचना इति व्याख्येयम् । अमृतगतिर्निर्गुह्यम् ।

१००. अथैकादशान्तरचरणस्य वृत्तस्याष्टचत्वारिंशोत्तरं सप्तसद्वय भेदा भवति, तत्रैकोनचत्वारिंशोत्तरचतुःशततम४३९ भेदः वधुनामक वृत्तः लक्षयति, णं लेति ।
 लय—यत्र पाञ्च—पादे तिणिग—त्रय भग्ना गण—भगणाः भगीजे—भग्नन्ते—
 अतदि—अते भगणत्रयाते पादाते वेत्यर्थः. दुग्गुरु—द्विगुरुः करीजे—क्रियते,
 सोलह मरुह—षोडश मात्राश्च ठयीजे—स्थाप्यन्ते, एह—एतत् शील सिरो
 रुह—नीलशिरोरुहेण पिंगलेनेति यावत् वधु—वधुनामक वृत्तः करीजे—कथ्यते ॥
 यद्वा णीज सरुभ्रह—नीलस्वरूपापरनामकमिति यावत् वधु—वधुनामक वृत्तः
 कथ्यत इति व्याख्येयम् । अत्र मात्राज्ञापकचरणमनतिप्रयोजनकत्वात् पञ्च-
 पूरणार्थमेवेति मतव्य, भगणत्रयानन्तरं गुरुद्वयं यत्र प्रतिचरणं पतति तद्वधुनामक
 वृत्तमिति फलितार्थः ।

१०१ वधुमुदाहरति, पण्डवेति । पण्डव वसहि—पाटववशो पांडोरय—
 पाण्ड (व) पाण्डवचासौ वस (श) श्चेति पाण्डवव (श) स्तस्मिन्नित्यर्थः यस्येति
 (शेषः) जग्म—जन्म क्रियते विधात्रेति भावः, अजिञ्च—अज्जयित्वा सपञ्च—
 सप्त घम्मके—घम्मांश्च दिज्जे—दीयते तेनेति शेषः । सोड—सोऽपि जुहुट्टिर—
 युधिष्ठिरः सकट—सकटं पाश्चा—प्राप्तः, अत टै (टे) चक—देवस्य विधेरिति
 यावत् लेक्खिअ—लिखित केण—केन मेयावा—विलुप्यते ॥ न केनापीति भावः.
 वधुर्निवृत्तः । एतस्यैवान्यत्र दोषकसता ।

१०२ अथैकादशान्तरचरणस्य वृत्तस्याशीत्यधिक्रमष्टशततम भेदः ८८० सुमुखी-
 नामक वृत्तः लक्षयति, दिअवररेति । दिअवर—द्विजवरश्चतुर्लङ्घ्यात्मको गण
 ततो हार—हारो गुरुरिति यावत्, ततो लहू जुअला—लघुयुगल, ततश्च वलअ—
 वलयो गुरुः, ततश्च इत्य अला—इस्ततल गुर्वतः सगण इति यावत्, एव
 प्रकारेण यत्र चउदह (१) कल—चतुर्दश कलाः पञ्च—पादे परिट्ठिअ—
 परिस्थिता, सो—सा (सु)मुही—सुमुखी जाणह—जायता तत्सुमुखीनामक
 वृत्तः जेयमित्यर्थः, इति कहवर—कविवरः अही—अहिः पिंगल इति यावत्
 षपह (१)—जल्पति ।

१०३ सुमुखीमुदाहरति, अर्हति । जोव्वण देह धणा—यौवनदेहधनानि
 अइचअ—अतिचलानि, सोअर—सोदरा भ्रातर—इति यावत् वधु जणा—अन्ये
 वृद्धा इत्यर्थः. सिव्वणअ—स्वप्नवत् स्वप्नेन तुल्यम् इति यावत् । यद्वा वधुजना-
 सिव्विणअ सोअर—स्वप्नसोदरा स्वप्नतुल्या इत्यर्थः । काल पुरी गमणा—
 यमपुरीगमनम् अवस (ठ)—अवश्यम् अतो हेतोः हे बट्टं मणा—मनः पाप—
 पापात् परिहर ॥ कंचिन्महापापकम्मसिक्तं प्रति कस्यचिन्मित्रस्योपदेशवाक्यमेतत् ।
 सुमुखी निवृत्ता ।

मञ्ज—मन्त्रं विजिज्ञए—पीयते, मस अ(आ)—मास च सञ्जए—सायते ।
 निमक्खा—भिक्खा भोज्ज—भोज्य चर्मखट च सेज्जा—गय्या । एतादृशः कोलो—
 कौल. वशपरपरिप्राप्तः शाक्ततत्रविशेषोक्त इति यावत् धम्मो—धर्मः कस्स—
 कस्य रम्मो—रम्भो नो भाति ॥ अपि तु सर्वस्यापीत्यर्थः । कर्पूरमजरीसाटकस्थ
 कापालिभैरवानन्दस्य राजान प्रति वाक्यमिदम् । शालिनी निवृत्ता ।

१०८ अयैकादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य चतुर्विंशत्युत्तरसप्ततम भेद दमनक-
 वृत्त लक्षयति, दिअररेति । दिअरर जुअ—द्विजवरयुगल चतुर्ल्लव्यामकगण-
 द्वयमिति यावत् लहु जुअल—लघुयुगल त्रयश्च—त्रयय गुरुरिति यावत् यत्र पअ
 पअ—पादे पादे प्रतिचरणमिति यावत् पअलि—प्रकटित । चउ पअ—चतुः
 पादेषु चउ त्रसु फलश्च चतुर्वसुकलाक दक्षिणगत्यैवाकस्थापनेन ४८ चतुर्वसुशब्दे-
 नाष्टचत्वारिंशन्मात्रा लभ्यते, तथा चतुर्ष्वपि पादेषु मिलित्वाष्टचत्वारिंशन्मात्राक-
 मिति तत्त्व, दमणअ—दमनक फणी ललिअ—ललितं यथा स्यात्तथा भण—
 भणति ॥ लघुदशकोत्तरगुरुरचितचरणो दमनक इति फलितार्थः ।

१०९ दमनकमुदाहरति, परिणअ इति । परिणअ (ससहर वअण)—परिणत-
 अशधरवशन विमलकमलदलनयन । विहितासुर(कुल) दमन महुमहण—
 मधुमथन श्रीकृष्ण (सिर—शिरसा) पणमह—प्रणमत ॥ दमनको निवृत्तः ।

११० अयैकादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य त्र्यशीत्युत्तरपट्शततम ६८३ भेद
 सेनिकानामक वृत्त लक्षयति, तालेति । आदौ ताल णदए—तालनन्दाभ्या ततः
 समुद् त् आ—समुद्रतूर्या(भ्या) गुर्वादित्रिकलग्नाभ्यामित्यर्थः. ततश्च
 जोइलेन मध्यलघुकेन रगणेनेति यावत् एह—एतत् सेणिआ—सेनिकानामकं
 छद—वृत्त पूरआ—पूर्यता । अत्र च प्रतिपद गारहा (६) अकखराइ—एका-
 दशाक्षराणि जाणिआ—ज्ञातव्यानि, एअ—एतत् शाअ राअ—नाग राज जं पि
 (प)—जल्पति ॥ यद्वा एकादशाक्षरज्ञातेत्येक पद कृत्वा वृत्तविशेषणपरतया
 गारहाइ इति चरणो जो(यो)जनीयः । अत्राक्षरकथनमनति प्रयोजनकतया
 पद्यपूर्णायेति बोध्यम् । गुरुत्तरैः पञ्चभिर्गुर्वादित्रिकलग्नै रचितचरणा सेनिकेति
 निष्कृत्यार्थः ॥

१११ सेनिकामुदाहरति, भत्तीति । भत्ति—भटिति पत्ति पाअ पदातिपादै.
 भूमि—भूमि कपिआ—कंपिता, टप्पु खुदि खेह—टापोत्खातलेदृश्चलदश्च-
 खुरोद्धतरेणुमिरिति परमार्थ सू—सूर्य भपिआ—आच्छादित । गौड़ राअ
 जिणि—गौडराज जित्वा माण मोडि(लि)आ—मानमोडिता कामरूअ राअ
 अदि छोलिआ—का (म) रूपराजवदी मोचिता । सेनिका निवृत्ता ॥

११२ अयेकदशाक्षरचरकस्य वृत्तस्य प्रथमे मेरं मालतीनामकं वृत्तं लक्ष्यते, कुंतीति । यत्र पादस्य (पादा) — पादे पादे प्रतिपादमिति यावत् दिव्या — दद्यात् वचं कुंतीपुत्रा कर्ता गुरुद्वयसमक गण्य इति यावत् चाप्रीत्य — स्वर्गते, कृते — कल्पयकति पादति वा कृता — कृता एवम् — एका इत्या — इतरा गुरुद्विति यावत् म. लीत्या — मान्यते । पाईता — प्राद्विद्यतिः मघा — मात्रा दिठठ — दद्यात् वच पादे पादे इति पूर्वेष्वन्वया, तत् मालती लुंदा — मालतीलुन्दः द्याएता — जालेता जेपता — जल्पति ॥ अत्र कर्तव्यं मायाद्वयक च पद्यपूरणमिति मन्वन्, एकादशगुणवित्ता मालतीति निष्कृष्टोर्थः ।

११३ मालतीमुदाहरति ठामेति । मेरं सिगा — मेरु न यथेति रोपा कीदृश मेदा — नीला मेघा पेक्सीका — प्रेक्षये, ठामा ठामा — स्थाने स्थाने इत्यौ मृदा — इतिपूयानि (तये) ति रोपा देवलीमा — इत्येति । नीला मेदा ममने — नीलमेवमने यथेति रोपा विदुत् भवन्ती — इत्येति, वीर्य (का) इत्य् अयो — वीर्यस्त्वामे तयेति रोपा अम्या — अङ्गा राक्षसा — इत्येति ॥ वैनविहन्दिना कृतं व्रामवर्चमेतत् । मालती निवृत्ता ।

११४ अयेकदशाक्षरचरकस्य वृत्तस्य सप्तपञ्चाशदक्षरविशतमं मेरं १५७ इन्द्रवज्रनामकं वृत्तं लक्ष्यति दिव्ये इति । यत्राग्रे लक्ष्यस्य बुभुक्षा — लक्षार मुगल लब्धं लम्पद्वमित्यथा कृते — लम्पद्वति गुरु बुभुक्षेत् — गुरुबुगरोपः गुरुद्वयं रोयेत्ये इत्य लक्षरा इति यावत् कर्ते — नरेभ्यो मन्मगुरुवैगथ इति यावत् पयसु (लू) — पत्रेषु दिव्ये — वीर्यते । ता मता वहा अहं तमा मुगल्य — सुल्लवतमाहावराभावाका सुल्लव्याः सुल्लवित्ताः समाः परकद्वये स्पृताक्षरेषा अहादरा माया मर्या तेति यावत् ईद्वय्य — ईद्वय्य इति पुनः — पुनः पक्षि — पक्षीका लये — लयति ॥ सुल्लव्य — सोमनीइत्य स्वाप्तिः समा — परकद्वये समाना इहा अहं — अहादरा मया — मात्रा यत्र पयसु (लू) — पत्रेषु पठ्येति रोप इति मन्मनैव योजनोर्थः । अत्र मायाकपते पद्यपूरणार्थमेव अत्रद्वयमापो पूर्वनिपातानियमात् पूषापरम्यातस्तु म रोपामेति ध्येयं लम्पद्वयानंतरागण्यनंतर गुरुद्वपरचित्तराया ईद्वय्येति फलितार्थः ।

११५ इन्द्रवज्रामुदाहति, मंतमिति । मंतं — मंतं ततं — तथं यद् — तत्तु निरवयेति यावत् किरि — किरिणि व — न चाये — चानामि, मय्यं च — ध्यनं च किरि — किरिणि यो — न चाने इति पूर्वेष्वन्वया, किं मय्यं विद्यामो — मयं विद्यामः मरिण रमायो — मरिणा रमामहे गुरुद्वयलो — गुरुद्वयारात् कुल मया लम्प — बुल्लमार्गलम्पना मोहलं — धीर्ल वद्यमो — वद्यमा ॥ अन्तरतयेपुनमप

पानाग्नेककुलपरपरागमनकुर्मर्त्यासक्ता अपि वयं गुरुप्रसादान्मोक्षं प्राप्नुम
इति कापालिकमैश्वानन्दस्य राजानं प्रति वाक्यमिदं कर्णूरमजरीमाटकस्थम् ।
इन्द्रवज्रा निवृत्ता ।

११६ अयैकादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्याष्टपचाशदुत्तरत्रिंशततम ३५८ भेदम्
उपेन्द्रवज्रानामक वृत्तं लक्षयति, एरिंदेति । यत्र प्रथम एक्का—एक. एरिंद—
नरेन्द्र. मध्यगुरुर्जगण इति यावत् ततः तअणा—तगणोऽतलवुर्गण इत्यर्थः.
सुसज्जा—सू(सु) सज्ज. शोभनीकृत्य स्थापित इति यावत्, ततश्च पञ्चोद्गा—
पयोधरो मध्य गुरुर्जगण इत्यर्थः कण गणा—कर्णगणो गुरुद्वयमिति यावत्
मुणिज्जा—ज्ञातः ता फणिरात्र दिट्ठा—फणिराजदृष्टा पिंगलोपदिष्टा उपेन्द्रवज्रा
छेआ—छइल्ला विदग्धा इति यावत् पठति—पठति ॥ अथवा नरेन्द्रैकनगण
सुसज्जापयोधरकर्णगणा. मुणिज्जा—ज्ञायते यत्र प्रतिचरणमिति शेषः इत्येवमेव
पदं कृत्वा योजनीयम् । अत्र (सुसज्जमिति) शुभवर्णसृष्ट्यामिति च पः
पत्रप्रणार्थमेवेति मतव्यम् ॥

११७. उपेन्द्रवज्रामुदाहरति, सुधम्ममेति । सुधम्म चित्ता—सुधर्मचित्तं गुणमत
पुत्ता—गुणवत्पुत्रं सुधम्म रत्ता—सुकर्मरतं पत्यादिशुश्रूषाकर्मण्यासक्तमिति यावत्
विणआ—विनीतं धलत्ता—कलत्र । विसुद्ध देहा—रोगादिरहित. देहं धणमत—
धनवत् देहा—गेहं, एतत्सर्वं यदि भवतीति शेषः तदा के बच्चरा—वर्धराः सग
गेहा—स्वर्गस्नेहं कुणति—कुर्वति, अपि तु न कोऽपीत्यर्थः ॥ सर्वपदार्थविकल्क-
(स्य) कस्यचिदिदं वाक्यम् । उपेन्द्रवज्रा निवृत्ता ॥

११८ अयैन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्राभ्यां पादेन पादाभ्यां पादैश्च मिलिताभ्यामुपजाति
चक्रन्दो भवति तच्च (च)तुर्दशविधमित्याह, इदेति । इदं उच्यते—इन्द्रोपेन्द्रयो-
नामैकदेशेनापि नामग्रहणाद्रिन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोरित्यर्थः एकक—एकयं करिज्जमु
कुरुष्व, चउ अगल दह णाम—चतुरधिकदशनामानि मुणिज्जमु—जानाहि ।
सम अक्खर—मामान्यक्षराणि दिज्जमु—ददस्व, सम जाहहि—समजातिभि
तुल्याक्षरचरणजातीयैर्दृष्टैरिति यावत् उपजाहहि—उपजातिं किज्जमु—कुरुष्व इति
पिंगल—पिंगलो नागं भणति । इदं तु बोध्यं समाक्षराणि दत्त्वा समजातीयैर्दृष्टै-
रुपजातिं कुरुष्वेत्यनेन विप्रमाक्षरचरणजातीयैर्दृष्टैर्नोपजातिरित्युक्तं भवति, तथाचैन्द्र-
वज्रोपेन्द्रवज्राभ्यां न त्विन्द्र(वज्रेन्द्र) वशाभ्यामिन्द्रवशावशस्याभ्यां चातोर्मीशालिनीभ्यां
न मालिनीशालिनाभ्यामुपजातिर्भवति इति परमार्थ इति ।

११९ अथावा चतुर्दशभेदानयनप्रकारमाह, चउ अक्खर-
रवे—चतुरक्षराणां पत्थर—प्रस्तारं किज्जमु—कुरुष्व, इदं उच्यते—इन्द्रोपेन्द्रयोः-

गुरु लङ्—गुरुलङ् इन्द्रब्रह्माणी गुरुमुपेन्द्रब्रह्माणी लघुमित्यर्थः कुमभन्तु—कुम्भस्त ।
 ममभन्तु—गम्य सवगुरु—स्यगगुप्रस्तारयोपिति यावत् चउरह—चउरय उप-
 चउह—उपगतया हो—भवंति इति विधि वैयाह—वेदिकातयोपिति मित्राः वार—
 वारयति ॥ अथैः तर्ष—चतुरद्वारस्य प्रस्तारकिश्या चोदय मेदा भवति, त-
 न्चगुर्गुका प्रथम स चोदयब्रह्मापादचतुष्टयस्यप्रकटन प्रतिचरय प्रथमगुपेकपादनात्
 तमेकेको गुरुर्द्वयब्रह्मा एकेकचरण्यप्रकट इति दृश्य । चतुर्संमुखचरितम् च
 चोदयब्रह्मापादचतुष्टयब्रह्मापादस्तमे(के) को लघुमुपेन्द्रब्रह्मा एकेकचरण्यप्रकट
 इति सद्दयैकगम्योर्भस्तत्र प्रतिचरय प्रथमलघोकेपादनात् । एवं चारुचिध्या मने
 चतुश्चमेऽस्तनुसागम्य चतुर्गोपजातयो भवति । तथाहि चतुरद्वारस्य द्वितीय-
 प्रस्तारे प्रथममेको लघुस्तदनन्तरं च त्रयो गुरवो भवन्ति, तथा चोदयब्रह्मायां प्रथम
 चरणा न्यउचोदयब्रह्मायां एवं मिलित्वा प्रथमो मेवः । चतुरद्वारस्य तृतीयप्रस्तारे
 प्रथममेको (गुरुस्त एको) लघुस्तदनन्तरं गुरुद्वयं तथा चोदयब्रह्मायां प्रथम
 चरणयो द्वितीयचरणोदयब्रह्मायां तृतीयचतुर्थो च पुनर्द्वयब्रह्मायां मिलित्वा द्वितीयो
 मेवः । चतुरद्वारस्य चतुर्थप्रस्तारे प्रथमं लघुद्वयं तदनन्तरं गुरुद्वयं भवति, तथाच
 प्रथमद्वितीये चरणौ चोदयब्रह्मायां तृतीयचतुर्थो चोदयब्रह्मायां एवं मिलित्वा तृतीयो
 मेवः । एवमप्रेषि सुधीमिरवधेयमित्स्मृतावचरणोपरिष्ठं पंथाः ।

११ उपजातिमुदाहरति, यथा इति । कुमारः कर्षिकेका यथाः च हनुं
 चारी च च चतुर्द्वारणी उपाठ हीन्—अन्वर्तनापत्यविरला एक—एक अथ
 भवताया चारी—रथी इह—अन्वर्त मित्रा (ला) री—मिदुक्ततम् अन्वर्तितं पितं
 लाहि—विपं मद्यवति, यथा ह्मारी—अस्मदीया च गतिरवस्था किं निरवधेन
 भविषी । यद्गुण्यचारिणो यत्तस्य चतुर्गोपजातयवर्गं च मन्त्रमयोदयमई च
 निस्तृष्टाय अन्वर्तनासमर्थं स्त्री त्वं चोदयवर्गं विषम्येकमेवैव स्वस्य सुतिप्रत्यय-
 स्ततोऽस्मदीया च गतिर्भविष्यति तन्न जाने इति महारथं प्रति पार्श्वीकान्तम् ।
 पूर्णार्थे इन्द्रब्रह्मा चउराई चोदयब्रह्मायां लघुचरणात्तमापत्वा दादौपमुपचरति ।

१२१ अथासौ नामाग्याह, किञ्चीति । निगदैनैव यथा । अयत्तामस्मत्ताव-
 चरणनिर्मितानि क्रमेणोदाहरणानि यथा—

इह चतुर्गोपकरो ब्रह्मानो नामे चारं स्वर्गैर्विचित्रपुलं ।

पृष्ठप्रदेशेऽद्यपि तृणसुप्तं विप्रस्य रामा शरणं ममास्तु ॥१॥

यन्मनुजस्यापुतद्विषयम्—अथासौमेचित एव लोका ।

सर्वाण्यपि तपति प्रतूष श्रीरामचन्द्र शरणं ममास्तु ॥२॥

वदीक्यावाक्यपरामप्यातात् शिलावती गौतमयोपिदाशु ।

कामकिञ्चोऽपि लृष्टव्यं(य)स्य लोमे च रामा शरणं ममास्तु ॥३॥

सुग्रीवजातात्मजमुख्यकीशै-वृद्धाजलीकैरुपेक्ष्यमानः ।
 सुवर्णसिंहासनसंस्थितः स श्रीरामचन्द्रः शरणं ममास्तु ॥४॥
 त्रिलोकसपालनत्रयसधः कारुण्यपीयूषमहाबुराशिः ।
 स्वभक्तदुःखोद्धरणैकवेरः श्रीरामचन्द्रः शरणं ममास्तु ॥५॥
 आजानुवाहुद्वितयं प्रचक्षयमासनस्थो वृतपीतवामाः ।
 प्रकुल्लराजोवपलाशनेत्रः श्रीरामचन्द्रः शरणं ममास्तु ॥६॥
 समस्तपृथ्वीपतिमौलिरत्न-प्रभाभिनीराजितपादपद्म ।
 अशेषग्रीवार्णगणप्रगीताकीर्तिं तमीशं प्रणतोऽस्मि राम ॥७॥
 नानाविभूषामणिरश्मिजालं प्रच्छन्ननीलाश्रमसमानगात्र ।
 सौन्दर्यसनाशितकामार्गवं स रामचन्द्रः शरणं ममास्तु ॥८॥
 अरातिनारीहृदयं प्रविष्टस्तत्र स्थितान्दग्धुमिवारिवर्गान् ।
 यस्य प्रतापप्रबलानलस्तु स रामचन्द्रः शरणं ममास्तु ॥९॥
 स्वाकप्रसुता धृतकाचनाब्जं समीक्ष्य सीतां कनकप्रभागी ।
 आनदितातःकरणं स पायादपायतो मां स्खुवशकेतु ॥१०॥
 अनन्यसाभारणकीर्तिचक्रकरावधूताष्टदिगवकार ।
 पौलस्त्यवशद्रुमकालवह्निं स जानकीशः शरणं ममास्तु ॥११॥
 मत्वा भवतः त्रिजगद्विपत्तिसनाशकं देवगणान् विहाय ।
 भवत्पदाब्जं शरणं गतोऽस्मि प्रसीद राम त्वमतोऽतिशीघ्रम् ॥१२॥
 भवत्समानोऽपि यदा नरेन्द्रः श्रीरामः कार्पण्यमुरीकरोति ।
 तदाश्रयेत् खलु दातृभावमतस्त्वमीशं त्यजन् निष्ठुरत्वं ॥१३॥
 वीरासनाध्यासित उग्रवीर्यो नवाम्बुदश्यामरुचिर्जितारि ।
 समस्तविग्राम्बुधिपारगश्च स रामचन्द्रः शरणं ममास्तु ॥१४॥

१२२. अथ द्वादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य पण्णवत्युत्तरं सहस्रचतुष्टयं भेदाः
 ४०९६ भवति, तत्रायं भेदः विद्याधरनामकं वृत्तं लक्षयति, चारीति । यत्र पाद—
 पादे सञ्चा सारा—सर्वसारान् सर्वसारं वा चारी कण्ठा—चतुरः कर्णान् कर्णचतुष्टयं
 वा गुरुद्वयात्मकगणचतुष्टयमिति यावत् दिण्णा—दत्त्वा, पाद्या श्रुते—पादाते कता—
 काताः चारी द्वारा—चत्वारो द्वारा गुरुवः दिग्जे—दीयते । तं लृण्णावेआ मत्ता
 पत्ता चारी पाश्रा—पण्णवतिमात्राप्राप्तचतुष्पाद प्रतिपाद चतुर्विंशतिमात्राणां
 विद्यमानत्वात् पण्णवतिमात्रा प्राप्ताश्चत्वार पादा यस्य तत्तादृशमिति यावत्
 सारा—द्वादशाक्षरचरणवृत्तमध्ये आदिभूतत्वात् सा(२)भूत श्रेष्ठमिति यावत्
 तं विज्जाहारा—विद्याधरं विद्याधरनामकं वृत्तं पाद्या राश्रा—नागराजं रूपे
 जल्पति ॥ अत्र वर्णवृत्ते मात्राकथनस्यानतिप्रयोजनकत्वाम्नात्राज्ञापकश्चरणः सञ्चा-

गारेति कन(वि)रुपयं (य) पयपूरणाभ्यर्चयति मंतव्यं शाश्वतगुणवित्तवत्त्वं
विनाशर इति पक्षितार्थः ।

१११ पिताभरमुदाहरति, प्याय इति । आत्—म(म)स्य कटा—कटे
मंसा—विनं दीक्षा—हरयते शीता—शीर्षे गंगा हरयते अंगा—अंगं अङ्गमि
इति मायत् गौरी—गौरी पावतीत्यर्थः हरयते येन नाम्नायम्—नामनायः शतः
कञ्भूय विभजे—विभजे कृतो वा । गते—गात्र कामा—कामं वरिष्ठिर्गति
मायत् पृतमिति शेषा देन च कामा—कामं माय—मायतिष्ठा इत्येति वक्तुं
किञ्ची—कीर्तिः सिद्धये—एदीता योह—स एष देवो—देवा शक्तिवत्तामय
इत्यर्थः भसी—भक्त्या तुम्हा—मुष्मन्मुष्मन्—मुष्मन् निरतिशयानन्दमिति शक्त
अधो—ददातु । विद्यापरो निवृत्तः ।

११४ अर्थका (यज्ञा) दद्यात्तत्पराणस्य वृत्तस्य पदशक्तिमुत्तरपंचशतकम् ५८९
भेदं मुञ्जगप्रवातनामकं वृत्तं लक्षयति, पञ्चे इति । हे मुञ्ज—हे मुञ्जे यत्र पञ्चे—
पञ्चे लक्ष्यादिभिन्नस्य कामरो—कामरं गुण एव चङ—चत्पारा कर्मभ्यो—
कर्मभ्यः गत्या इति मायत् पय—पदे प्रविचरन्मित्रवर्गः किञ्चै—किञ्चै तस्यै
इत्यनुपबन्धीयं पीत रेह—विशतिरेखं विशतिः रेतः माया यत्र तादृशमित्यर्थः
शुद्धदेहं मुञ्जगप्रवातं—मुञ्जगप्रवातं लक्ष—लक्ष्म्या सेत—शोभे विप्लवेन कल्प—
यथा हारो—हारा मुक्तावाम तथा—तथा कञ्चै—कटे ठय—रवाप्यते ।
वञ्चितु पञ्चो—पञ्चः लक्ष्यादिभिन्नस्य इति मायत् ततः कामरो—कामरं गुण
रिति मायत् कर्मभ्यो—एव कवेण चङ—चतुर्भिर्गौरीयेन चरण इति शेषा हारो—
हारा भेद इति मायत् सेत—शेषा तत्पूर्व इत्यर्थः तथा—तथा विभजे—विभजे
पूर्वते इति अयत्, पय बीत रेह—यदै विशतिरेखं शुद्धदेहं पृष्टवनिष्ठा समी
कृतगम्य तत मुञ्जगप्रवातं—मुञ्जगप्रवातं लक्ष्म्या तथा कर्ममिवाह ठय इति
कल्प—मया मुञ्जय—मुञ्ज(वा) कटय—कटे हारा मुक्तमस्मि ठय—रवाप्यते
इत्याहुः । अत्र ठय इति द्वितीयचरणः मायाकर्मन् च पयपूरणाभ्यर्चयति मंतव्यं,
यग(य)प्युहपरन्तिचरन् मुञ्जगप्रवातमिति पक्षितोऽर्थः ॥

११५ अथास्यैव प्रकारांतरं गाव्या वदति, अहिगम्येति पठित्वा—उर्वत्र
लक्ष्म्ये प्रविष्टाः पारि—पत्नारः अहिगम्य—अहिगम्याः पादकलाः यस्या इति
मायत् यत्र प्रविचरन्ते पतंतीति शेषा बीतगम्य—विशत्यधिकानि पीति तम—
पीति शक्तानि समगार्ह—तमया मया संखा—मानासंख्या यत्र भवतीति शेषा
विगम्यो—विगम्य इति मयह—मणति ॥ रत्नोक्तपुष्पवत्स्यैकः रत्नोक्तः कर्तव्य
इति पक्षितार्थः ।

१२६ भुगगप्रयातमुदाहरति, महामत्तेति । यस्या. पाए—पाडे महामत्त-
मातग. टयीआ—स्थापितः, तदा—तथा यस्या. कढक्खे—कथन्ते तिक्ष्व
चाणा—तीक्ष्णज्ञाणाः धरीआ—धृताः । यस्याः भुआ—भुजयोः फास—पाशो
धृत इति पूर्वणान्वयः, यथा च भोहा—भुत्रोः वणूआ—धनु धृतमिति पूर्वणान्वय
सेय नागरी अहो इत्याश्चर्यं कामगश्चस्र—कामनृपते. (समाणा)—समाना
त्रिभुवनविजयेनातिगर्विता सेणा—सेनैव सेनेति भावः ॥ यद्वा पादस्थापितमहा-
मातगा कदादा एव धृतास्तीक्ष्णज्ञाणा यथा वेत्यर्थः. भुजपाशा भुजैव पाशो यस्याः
सेत्यर्थः, धनु समानभ्रूका नागरी कामनृपते सेनेव यातीति शेषः इति योजनीय ।
पूर्वापरशब्दव्यत्यासस्तु प्राकृतभाषाया न दोषायेति मतव्यम् । भुजगप्रयात
निवृत्तम् ।

१२७ अथ द्वादशाक्षर(चर)णवृत्तस्यैकसप्तत्युत्तरैकादशशततम ११७१ भेद
लक्ष्मीधरनामक वृत्त लक्षयति, हार गवेति । हार गवा—हारगधौ गुरुलघू इति
यावत् तदा कण्ण गधा—तथा कर्णगन्धौ कर्णौ गुरुद्वयात्मको गण. गधो लघुस्ता-
प्रित्यर्थ उणो—पुन. कण्ण सदा—कर्णशब्दौ गुरुद्वयात्मकगणलघू इति यावत्
तदा तो—तथा तो तलधुस्तगण इत्यर्थः गुरुआ गणो—गुरुकगण. । हए रूपण—
एव रूपेण एतावदुपादानविधिनेति यावत् चारि जोहा गणा—चत्वारो योद्धृगणा
रगणा इति यावत् यत्र प्रतिचरण पततीति शेषः, सो—स. लच्छीहरो—लक्ष्मीधरः
मुणो—जातव्यः, इति गाश्चराआ—नागराजा पिंगल इति यावत् भणो—भणति ॥
रगणचतुष्टयरचितचरण लक्ष्मीधरनामक वृत्त ज्ञ तद्व्यमिति फलितार्थः । अत्र रगण
चतुष्टयोद्वयनिराप्रकारः पूर्वाद्धेणोक्तमिति ध्येयम् ।

१२८ लक्ष्मीधरमुदाहरति, भजिआ इति । मालवा—मालवदेशाधिपतयो
राजान भजिआ—भजिता भग्ना इति यावत् कण्णला—कर्णाटा. कर्णाटदेशीया
राजान इति यावत् गंजिआ—गजिता मारिता इति यावत्, लुठिआ कुजरा—
लुठितकुञ्जरा लुण्ठिता बलादगृहीताः कुञ्जरा हस्तिनो येषां तादृशा इत्यर्थः
गुजरा—गुर्जरदेशीया राजानो जिणिणआ—जिता । वगला—वगा भगला—
पलायिता, ओड्डिआ—ओड्डदेशीया राजान. मोड्डिआ—मोडिता मेच्चआ—
म्लेच्छा कपिआ—कपिता, किच्चिआ—कीर्त्तय थप्पिआ—स्थापिता ॥ स रामो
जयतीति प्रववेन युज्यते । लक्ष्मीधरो निवृत्तः ॥

१२९ अथ द्वादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य पच(पट्)पचाशदधिकसप्तदशशततम
(१७५६) भेद लोदकनामक वृत्त लक्षयति सगणेति । जही—यत्र चारि चत्वारि
सगणा गुर्वतगणा ध्रुव—ध्रुव पलति—पतति, सोलह मत्त विराम कही—घोड-

यमात्राकथितविरामं प्लेढयमात्रासु कथितो विरामो विच्छेदो यस्मिन्सदित्वा ।
 तद्—तया रहस्यं—रहितं पिगलोनेति यावत् छंद नर—छंदभेद इम—एतत्
 छोटम्—छोटम् मज—कथय इति पिगलित्वा—पिगलीये पिगल्यमुक्तप्लेढयमात्रा-
 मिश्रैरिति यावत्, उचितं—कथितं भविष्य—भविष्यत् ॥

१३ छोटकमुदाहरति, चलेति । हे कम्पर—कम्पर गुग्गुलु—गुग्गुलीपिठ
 तुम्—तव बीज(न)य—बीजनं मन्त्रु—अथ याही—नयति, अथा कुम्भर—
 कुम्भगन् मही—मही तैजि—त्यक्त्वा चले—गच्छत् त्वमिति शेषः । कथं बीजनं
 नास्तीत्यत आह चरति । कथय नरेव वय—कर्षनरैश्चरा बह—वदि कुम्भिभ—
 कुम्भितस्तदेति शेषः एष—एवो को हर—को हर हरि को—हरि कः वज्रहर—
 वज्रधरा ॥ गुग्गुलुकाद्यर्थं प्रवातकर्षनरपतिप्रतिबुद्धाय समुपस्थितं गुग्गुलुदेष्टव्यमिति
 प्रति कस्याचिद्विद्वानस्यैव हचनम् । छोटकं निवृत्तम् ।

२११ अथ द्वाव्याचरचरम्भस्य वृत्तस्य एकस्मिन्निर्णयोत्तरत्रयोविंशतिशतम्
२१४१ मेरु सारंगरूपकनामकं वृत्तं लक्षयति वा जायति । अथ चारि तद्वत्
संभवेन ठक्किदृष्ट—चतुस्तकारसंयोगोक्तं चतुस्तकारायां चतुर्धर्मस्तत्तुतगगानां
या संभेदः संभाव्यतेनोक्तं तु भाग्यवाङ्मूर्च्छावृत्तमिष्यते, अथ पाण्डि—पाण्डेय वीम
वीधाम संवृत्त—सुदीपविभामसंवृत्तं तत्र सुदीपाद्वारे पठित्वाहयामि-वर्षाः अन्धोऽस्य
भयं—अन्धोऽस्य भाग्यैः परस्परविच्छेदेरिति वाक्त्वं मस्येति शेषः अस्ति—अस्ति
न सत्यते, सो—तत् किंल्लो दिदृष्ट—किंल्लो हर्षं सारंगरूपक—सारंगरूपकं
तत्सारंगरूपकनामकं वृत्तमित्यर्थः । अथ चतुर्धरचरम्भः पञ्चपुरपाद्यमेवेति मन्त्रमम् ।

११२ चारंगकपम्पुसहरति, १ गोष्ठेति । २ गोष्ठ—१ गोष्ठदेवाधीनं वै
 इति ब्रूयात्—इतिम्पुसहानि(!) यत्कति—आम्यति, अत इति यथा वादक
 ब्रूयात्—परातिम्पुसहानि पत्न्यति—परापुत्र्य इत्यर्कद्वि—पुत्र्यत्(तम्) माम
 तयातीति यथा अतीतं यत्तु सदातर आगे—अतोदपरराधराऽऽतामे दिवो
 वातवायवायमे इति पाठ्यत् न—ननु निदधवेन की इति—कि इतिमिः की
 पति—(किं) पतिमिः की कीर नमो—किं कीरवर्गेन ॥

१११ अथ द्वाष्टाक्षरध्वनय वृत्तस्य पङ्क्तिष्वत्युत्तरेऽनेन त्रिंशत्तत्त्वम्
१११६ भेदं मौक्तिकं (दाम्) नामकं वृत्तं लक्षयति, यमोदरेति । मन्मथे ति
तेरह मत्तह—विजयोदयमात्राभिः षोडशमिमात्राभिरिति यावत् उपलक्षिता
प्यारि—बालारः पञ्चोदरः—पञ्चोदरा मन्मथगुरुकाः बाला इति बाला प्रथिता
मन्मथीति शेषः यम च अर्धत—अर्धं पादाभ्यां इत्यर्थः पुनर्हि—पूर्वं पादादभिव्यर्थः
दार—द्वारो गुहा न दिक्ष्वे—न दीपते निहृत्तम अग्राज कम्पन मीत—क्षिपता

धिकष्टपचाशन्मात्राक तत् मोत्तिश्रदाम—मौक्तिकदामनामक वृत्तमित्यर्थः ॥
ननु यत्र पयोधरचतुष्टय पततीत्युक्त्यैव पादाग्रतयोर्गुणदानाप्रसक्तेः कथं पुच्छी-
त्यनेन तत्र तत्प्रतिषेधः साधु सगच्छत इति चेत्, यत्र एवं चत्वारो जगणाः
पततीत्यत एव पूर्वम् अते वा द्वारो न दीयत इति पूर्वोक्तस्यैव विवर्णमेतदित्याहुः ।
षट्पचाशदुत्तरशतद्वयमात्राकथन षोडशचरणाभिप्रायेण, जगणमात्राज्ञापक तद्वि-
शेषणपद पादपूरणार्थमेवेति मतव्यम् ॥

१३४ मौक्तिकदामोदाहरति । गरास—ग्रास भोजनमिति यावत् तेज्जि—
त्यक्त्वा कग्रा—कायः दुब्बरि—दुर्वलः भउ—जातः, खणे खणे (ण)—क्षणे
क्षणे अच्छ—स्वच्छः गिसास—निश्वासः रोदनकालीनश्वास इत्यर्थः जाणिअ—
ज्ञायते । तार—तारेण कुहू रब—कोकिलारावेण दुरतः दुष्टः मरणादिजनक
अतो यस्य तादृशो वसतनामा ऋतुः, तस्मत् किं निद्वअ काम—किं निर्दय.
कामः किं निद्वअ कन—किं निर्दय. कातः ॥ एतादृशेऽपि समयेन आगतः स.
प्रियो निर्दय, प्राणेश्वरप्राणा मा ज्ञात्वा येऽतिदुःख प्रयच्छति स कामो वा
निर्दय इति कस्याश्चित्प्रोषितपतिकायाः सखी प्रति वचनमेतत् । मौक्तिक-
दाम निवृत्तम् ।

१३५ अथ द्वादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यैकादशोत्तरपञ्चत्रिंशत्शततम ३५११
भेद मोदकनामक वृत्त लक्षयति, तोलेति । तोलअ छुद—तोटकच्छुदः विरीअ—
विपरीत ठञ्जिजसु—स्थापयस्व, अतएव चारि गणा—चत्वारो गणाः भअणा—
भगणा आदिगुरुकाः गणा इति यावत् सुप्रसिद्धउ—सुप्रसिद्धा यत्र प्रतिचरण
पततीति शेषः, तस्य छुदह—छुदस मोदअ—मोदक नाम अभिधान करिजसु—
कुरुष्व इति कित्तिहि लुद्धउ—कीर्तिलुब्धः पिंगलः जपह—जल्पति ॥ इदमत्र
तत्त्व, चतुर्भिर्गुर्वतगणैस्तोटकच्छुदो भवति तद्विपरीतस्थापनेनादिगुरुकैश्चतुर्भिर्गणैर्भो-
दक भवति । वक्रोक्तिस्तु पद्यपूरणयेति मतव्यम् ।

१३६. मोदकमुदाहरति । गज्जेति । मेह—मेघः गजउ—गज्जंतु, कि—किंवा
अंवर—अग्रम् आकाशमिति यावत् सावर—श्यामल भवत्विति शेष. जीव—
नीप. कदम्ब. फुल्लउ—विकसतु, कि—किंवा भम्मर—अमराः बुल्लउ—गुजतु
अम्मह—अहमाक पराहिण—पराधीनमन्यायत्तमिति यावत् एक्कउ—एकमेव
जीव किंवा पाउस—प्रावृट् लेउ—गृह्णातु ॥ अत्र लेउ इति एकारो ह्रस्वो बोध्य ।
वर्णगमेऽप्यनागत विदेशिन पतिं ज्ञात्वा अतिकामार्तायाः कस्याश्चित्प्रोषित-
मर्तृकाया काचित्प्रियसखी प्रति वचनमेतत् । मोदकवृत्त निवृत्तम् ।

१३७. अथ द्वादशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यातिर्म भेद तरलनयनानामकं वृत्त
लक्षयति, णगणेति । हे कमलसुखि णगण—प्रथम नगणः सर्वलज्वात्मको गणः पुनः

नगणं च एव, एवंप्रकारेण चण्ड गण—प्रसूरा गणान् नगणवत्पुण्यमित्यर्थः
 कइ—कृत्वा सय—सर्धान् द्वादशापि पाठस्थान् वणान् लङ्—कम्पू कुड, वण्ड—
 यावन्तः सव गुरु—सर्वगुरवो गुरुमुच्य यावतो द्वादशाक्षरमेव इत्यर्थः तत्रैव इति
 शेषा मिहिरि—निराकृत्य मिन्नीकृत्येति यावत् उत्तरलक्षणमिति—उत्तरनमना एत
 न्नामकं वृत्तमित्यर्थः कइ—कथय इति सूकइ—सुप्रसिद्धः कवि—कवी विष्णुः
 मण—मन्वति ॥ अथ गुरुमुच्ययावत्मे (६) कथनं पद्यपूरणमस्यैति मन्त्रं मन्त्र
 चतुष्टयपरिचयपरण उत्तरनमनेति निहृत्थोर्थः ॥

११८ उत्तरनमनामुवाहरति कमलैति । कमल वक्ष्यते—कमलकला
 तिलाग्र म)—विनयनः गिरि वर सम्भव—गिरिकरावना विद्रुतचर—विद्रु
 लचरा । उत्तर तिष्ठति—राशचरतिष्ठति गता गरल—कटास्तविषा हर—
 हरः महारोषा म्—महं वीर्यमय वर—समीहितवर् वितरह—विस्तृत ॥ उत्तर
 नमना निहृता ॥

११९ अथ द्वादशाक्षरपरणस्य वृत्तस्य चतुष्टयमुत्तरशतचतुष्टयाधिक-
 चरसद्वया(वर्णा)त्मकं मेदं (१४५४) सुंदरीनामकं वृत्तं वक्ष्यति, कथ्येति ।
 हे सुमुखि वर पूर्वं व्याप्त चामर गंधस्तथा—नगणचामरगंधमुमानि नगणचित्त
 व्याप्तमप्ये गणः चामरम् एकोगुणं गंधस्तथा—गंधपुरां लघुद्वयमिति कथं
 वनीत्यर्थः ठवे—स्थाप्यते तदा चइ—यदि चामरम् एको गुणं उत्त
 र्गुणा—राशमुपयं राशो लघुस्तद्वयमित्यर्थः समये—समवति । परमं व) हे—
 पद्मान्ते एकइ—एकः रण्य—मन्त्रापुराणां लैकिकवृत्त—लिखिता छा विस्त
 र्गणिता विस्तरेण उपवर्णितेति यावत् सुंदरी सुंदरीनामकं चतुष्टयं पिंगलनोपदिष्ट
 मित्यर्थः ॥ तस्यैव अर्थादरे वृत्तविश्विन्नी(वमि)ति नाम, अथएव वृत्तविलम्बितमप्य
 मपौ मराविति लक्षणमपि तत्रैव वृत्तमिति ॥

१४ सुंदरीमुदाहरति । कश्चित्तली वरहाक्षरिणां महामानवर्ती कश्चिन्ना-
 यिकामाह, वरुति । हे सुन्दरि तर्पणमकरमखीये माहव तंमवा—माधवे कर्त
 तत्तत्रोत्तरन इत्यर्थः लीकला—शीतः दक्षिण माधव—दक्षिणमाधवः वइ—
 वाति, कीदृशा—कोकिलः पंचम कोमल—पंचम कोमलं तथा व्यातवा गवर—
 गावति । महु पात बहु तय—मधुपानवदुत्तरं मधु मकरदन्तस्य पानेनाति
 गन्धैरस्वरा इत्यर्थः महुप्रय—मधुप्रय भ्रमरा यमइ—भ्रमति ॥ अतस्त्वमपि
 म नं विहाय कौटुम्भितरेखाशयः । सुमुखी (सुंदरी) मिहृता ।

१४१ अथ चतुष्टयाक्षरपरणस्य वृत्तस्य द्विनक्षत्रपुत्रेण शतं नगपयवदने
 ॥ ११ मेव भवति तत्र द्वाद (१४) विष्टोत्तरणोदय (शत) तमं १)

माथानामक वृत्त लक्षयति, कणोति । ज—यत्र पूर्वं कणा दुणा—कर्णद्वय गुरुद्वया-
त्मकगणयुगमिति यावत्, ततः चामर—चामर गुरुस्ततश्च सल्ल जुअला—
शल्ययुगल शल्यो लघुस्तद्द्वयमित्यर्थः, ततोऽपि वीहा दीहा—द्वौ दीर्घौ गुरुद्वयमिति
यावत्, ततश्च गधअ जुगा—गधयुग गधो लघुस्तद्द्वयमित्यर्थः, अन्ते लघुद्व-
यान्ते पादाते वा कता—कांतौ चामर द्वारा—गुरुद्वयमित्यर्थः, एते गणा इति शेषः
पञ्चला—प्रकटिताः, त—ता सू (सु) हकाआ—शुभकाया बार्हसा मत्ता—द्वाविं-
शतिमात्राका गुणजुना—गुणयुक्ता मात्रा—माया भणू—कथय ॥ वेचित्तु
शुभकायाः शुद्धशरीराः गुणजुता—गुणयुक्ता, द्वाविंशतिमात्राश्च पततीति मात्रा-
विशेषणतया पदद्वयं योजयति । मात्राकथनं सुद्धकाआ गुणजुतेति च पदद्वयमत्र
पादपूरणार्थमेवेति ध्येयम् ॥

१४२. मायामुदाहरति । ए—एतत् शरीरा—शरीर अथीरा—अस्थिरं
देखु—पश्य, वर जाव्वा विता पुत्ता सोअर मित्ता—एदजायाविचिपुत्रसोदरमित्राणि
एतत्सर्वं माया मिथ्याभूतमित्यर्थः । अतः हे वन्वर—वन्वर काहे लागी—किमर्थं
सुद्धके—विमुक्त्य त्रेनावसि—विलम्बयसि नह सुभक्के—यदि जानासि, तदा जुत्ती—
युक्ता किती—क्रीत्सि किज्जहि कुरु । अतिससारासक्त कुष्मिण कचित्प्रति कस्य-
चिन्मित्रस्योपदेशवाक्यमेतत् । माया निवृत्ता ॥

१४३. अथ त्रयोदशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य पङ्क्चाशदुत्तरसप्तदशशततम भेद
(१७५६) तारकनामक वृत्त लक्षयति, ठईति । यत्र पाअ—पादे आह—आदौ—
लहू जुअ—लघुद्वय ठई—स्थापयित्वा गुरु सल्ल जुआ—गुरुशल्ययुगे
करीजे—क्रियेते एको गुरुः लघुद्वयं च क्रियते इत्यर्थः, ततो मअणा जुअ—
भगणो गुर्नादिर्गणस्तद्युग दीजे—दीयते । पअ अतह पाइ गुरु जुअ—पादातः-
पातिगुरुयुग किज्जे—क्रियते, सहि—हे सखि तस्य छंदह—छंदसः तारअ—
तारकम्—इति नाम—अभिधान भणिज्जे—भण्यते ॥ सगणचतुष्टयोत्तर-
गुररचितचरण तारकमिति फलितार्थः ॥

१४४. तारकमुदाहरति, णवेति । चूअगाळे—चूतवृक्षेण णव—नवा
मजरि—मजरि लिज्जिअ—एदीता, वेसू (सु) णआ ञण—किंशुकनूतनवन
आळे सम्यक् यथा स्थातथा परिफुल्लिअ—परिपुष्पित । नह—यदि एत्थि—अत्र
चमनसमये इत्यर्थं कना—कातः दिगतर—दिगंतर जाइहि—यास्यति, तदा
क्रिय—किं वप्मइ—वप्मय णत्थि—नास्ति, कि—किंवा नास्ति वसंतः ॥ कातं
देशांतरजिगमिषु जाल्वा विमनायमाना काचिन्नायिका (प्र) ति—यद्यस्मिन्नपि
कान्तो रमिष्यति तदा तस्य निवारकं वामं वसंतो नास्ति किंतु विप्रत एवेति
त्व मा त्रिपीदेति गूढाभिप्रायाया कस्याञ्चित् सख्या वाक्यमेतत् । तारक निवृत्तम् ।

१५०, अथ चतुर्दशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य चतुरशीत्यधिकशतत्रयोत्तरषोडश-
सहस्र भेदा भवति, तत्रैक(अ त्रय.)त्रिंशोत्तरन(व)शताधिकाद्विसहस्रतम
भेद (२९३२) वसततिलकानामक वृत्त लक्ष्यति, कणविति । पदमे—प्रथमे
स्थाने कणो—कणः गुरुद्वयात्मको गण इति यावत् अ—च पुनः द्वीए—द्वितीये
स्थाने जगणो—जगणो मध्यगुरुगणः, अते—जगणाते तुरग—तुरगश्चतुर्मात्राकः
सगण इति यावत्, ततश्च सगणो—पुनः सगण एव गुर्वेत इति यावत् । कचिच्च
दुश्रमि सतणो इति पाठस्तत्र दु(श्र)मि सगणो—सगणद्वयमपि गुर्वेतगण-
द्वयमिति यावदित्यर्थः वक्तव्यः, अवदृष्टमात्राया पूर्वापरव्यत्यासे दोषाभावात् अ—
च पुनः पाअ गणो—लघ्वादिगण इत्यर्थः जत्य—यत्र पाए—पादे ठत्रिज्ज—
स्थापत इति यथायथ योज्यताम् । फणिणा—पिंगलेन उक्ता—उक्ता उकिष्टा—
उत्कृष्टा सु कइद दिठ्ठा—सुतरा कवीन्द्रदृष्टा सरसा—प्रेमाविष्टा. छेआ—
विदग्धा. वसततिलका—वसततिलका पठति ॥ तगणभगणगुरुद्वयोत्तरय(ज)
गणद्वयरचितचरणा वसततिलकेति फलिताय ।

१५१ वसततिलकामुदाहरति । (जे—) ये लोकाः तीव्य—तस्या तिकल
चल चकलुतिह्र दिष्टा—तीक्ष्णचलचक्षुस्त्रिमागदृष्टा, ते काम चद महु पचम
मारणिज्जा—कामचद्रमधुपचममारणीया जाता इति शेषः । जेसु—येषु उखो—
पुनः तस्या (स)अला वि दिष्टी—सकनापि दृष्टिः नित्रिडिआ—निपतिता,
ते तिल जलोजलि दाण जोगा—तिलजलाजलिदानयोग्याः चिठ्ठति—तिष्ठति ।
कर्णूमजजीवर्णनपर विदूषक प्रति राजो वाक्यमेतत् । वसततिलका निवृत्ता ॥

१५२ अथ चतुर्दशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यैक(नवत्युत्तरैक)शताधिकाष्टसहस्रतम
२१६१ भेद चक्रपदनामक वृत्त लक्ष्यति, समणिअ इति । मुहो—मुखे प्रथममिति
यावत् पलिअ—पतित चरणगण गुर्वादिभगणमित्यर्थः सभणिअ—सभण्य, पुणत्रि—
पुनरपि दिशत्रा जुमलो—द्विजवरजुगल चतुर्लघ्वात्मकगणद्वयमिति यावत्
सगत्रिअ—सस्याप्य । ज—यत्र पअ पअ—पादे पादे प्रतिचरणमिति यावत्
करअल गण—करतलगण गुर्वेत सगण इति यावत् मुणिओ—जात, तत् फणिअइ
भणिओ—फणिपतिभणित चक्रपअ—चक्रपद प्रभण ॥

१५३ चक्रपदमुदाहरति, खजणेति । अत्रावदृष्टमात्राया पूर्वनिपातानियमात्
उरमा शब्दस्य पूर्वनिपात कृत्वा योजनीय, तथाच खजनजु(यु) गलोपमनयनवरा
खजनयुगलस्य उपमा ययोः तादृशे अपि नयने ताभ्या वरा रमणीत्येत्यर्थः, चारु
कणश्च लइ भुअजुश्च सु(सु)समा—चारुकनकलताभुजयुगसुपमा चार्द्धी
कनकनताया इव भुजयुगस्य सुपमा यस्यास्तादृशेत्यर्थः, फुल्ल कमल मुहि—

पुरस्तदमलमुष्नी गम्भवर गम्भी—गम्भवरगमना रमणी ललना वस्तु (३)
 विध पक्ष—कस्य गुरुत्वज्ञेन विधिना गतु—सुखा ॥ एतादृशी वक्ष्य
 अस्तिभायिता कस्य पुत्रकेन ब्रह्मणोर्न निर्मितैत्यर्थः ॥ अक्षपद् निवृत्त ॥

१५४ अथ पंचदशाक्षरचरन्त्याष्टपदमुत्तरतत्तायताधिक्यानिशब्दार्थम् १९०१८
 भेदा भवति तत्र चर(चतु)भ्रत्यशितोत्तरचतुश्चतुस्तमं (१४०४४) मेदं
 अमरावलीनामकं वृत्तं लक्षयति । यत्र पठित्य—प्रतिज्ञैः पंच—पंचमि कर—
 करैः गुणैवत्वागैरिति यावत् विलङ्घ्यं वरं—विलङ्घ्य(ध्व)वरमस्तिरमणीयमिति अक्ष-
 रचरं—रचनं किञ्च—कृतं गुण पंच—पंच गुरवा दहा लार—दश लक्ष-
 पठित्य—प्रतिज्ञास्तत् मचौदर—मनोदरं छंदवरं—छन्दाभेदं रम्यं—रमं
 रत्नप्राप्तमिति यावत् रद्वयं—रचितं छंदश्च—स्थापितं विप्लवेनेति माय,
 एतद्विधं—एतादृशं अमरावलि छंद—अमरावलीच्छन्दोऽयं पमन्ति—प्रमन्ति
 पंडिता इति शेषः ॥ अत्र छन्दोविशेषं मिश्रतया लघुगुरुकर्मणं च पदपूरणार्थमिति
 मंतव्यं, सगम्पंचवरचितचरणा अमरावलीति फलितार्थः ।

१५५. अमरावलीमुदाहरति, तुल्यं वेधेति । हे अत्र कस्तामरस्य देव दुरित मन्ता
 दुरता—दुरितदशाहरणे तुल्यं—उभ चरणी चर—यदि चरन्ता—चरन्ते पावड
 प्राप्नोमि तयो (वा) (लो)भमच—लोभे मना मन्त्रं—मन्त्रं च तैजस—
 तत्त्वा परिपूज्य—परिपूजयामि हे लोक विधात मन्ता—विभुवनतन्त्रादिभ्यश्च
 शोकनिवारणमना इत्यर्थः, हे समन्ता—हे यमन मद्—मह्यं धृक्—सुखं
 स्वयंश्वराधनोद्भूतनिष्पन्नं इमिति यावत् वे—वेदि ॥ कस्यचिदुपलब्धं महादेव
 प्रायनावाप्तमिति । अमरावली निवृत्ता ।

१५६ अथ पंचदशाक्षरचरन्त्या वृत्तस्य प्रथमं मेदं चारंगिकानामकं वृत्तं
 लक्षयति कथ्येति । तस्या कल्या—स्त कर्मा गुणद्वयारमका मन्ता इति यावत्
 दिव्या—दीर्घे इत्या इत्या वैलम्ब्यः अथे—स्तकर्मते एका इत्या—एभे इत्या
 गुरुरित्यर्थः मानिषा—मान्यते धर्मप्रकारेण यत्र पाए—पादे पञ्चाराहा—पंचदश
 हार—गुरवा मन्ता—मायाश्च तीता—विद्यत् पन्ता—प्राप्ता चान्नीमा—आर्पते
 यत्र लूनी—भुजा मन्ता—मस्तकं कर्पता—कर्पते इकापते इति माय, एत्
 चारंगिका छंदो र्गङ्गापञ्चमा इति मोई रागा—भोगिगता विताः कर्पते—
 कल्पति किं च एतत् छंदो—छंदः विज्ञे—विद्यते विष्ठी—वीरिः विज्ञे—
 एतदे ॥ अथ मायाकर्म चतुर्थ्यवरन्त्य पदपूरणार्थमिति ज्ञेयं, पंचदशगुण
 चरितचरणा चारंगिकेति निष्कृत्येव ॥

१५७ चारंगिकामुदाहरति । अन्ता—स्तकर्मते, अन्त्य, अन्वी, अन्वीप्रा—
 अहमहमिका र्गङ्गा चो ज्येष्ठा—वर्जितवीणा येतादृशा मन्ता—रोता

रक्तसर्वगात्राः जोहा—योद्धारः शाताः, सत्ता—शल्यानि भल्लाश्च आयुधविशेषाः
उठ्ठीआ—उत्थिताः । हत्थी जूझा—हस्तियूथानि सज्जा—सज्जितानि हूआ—
जातानि, तेपा पाए—पादैः भूमी—भूमिः कपता—रूपिता, लेही—रूपाण देदि—
दे (हि) लुड्डो—त्यज ओड्डो—प्रतीक्षध्वमिति सज्जा सारा—सर्वे शराः जपता—
जल्पति यत्र सग्रामे इति शेषः यथायथ योजनीयः । सागगिका निवृत्ता ।

१५८ अथ पचदशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यैक (स्य त्रयो) विंशत्युत्तरनवशताधि-
कदशसहस्रतम (१०६२३) भेद चामरनामक वृत्तं लक्षयति, चामरस्वेति । हे
कामिनि ठाह ठाह—स्थाने स्थाने अतरेति यावत् गिम्मला—निर्मलाः अट्ठ
हार—अष्टौ हारा गुरवः सत्त सा (२)—सत्त सारा लघव, एवप्रकारेण दहाह
पच—दशपच पचदशेत्यर्थः अक्खरा—अक्षराणि तीणि मत्त अगला—त्रिमात्रा-
धिकाः त्रीस मत्त—विंशतिर्मात्राश्च चामरस्स—चामरस्स चामराख्यवृत्तस्येति
यावत् पादे पततीति शेषः, आह अत—आद्यतयोः पादाद्यतयोरित्यर्थः हारो गुरुः
सारः श्रेष्ठः मुणिज्जए—मन्यते, पादादौ अते च गुन्देय इति भावः, इति पिंगले
भणिज्जए—पिंगलेन भण्यते ॥ अथमाशयः—प्रथमं गुरुस्तदनन्तरं लघुः पुनः
गुरुः पुनस्तदनन्तरं लघुरेवप्रकारेण पचदशा (क्षरा) णि कर्त्तव्यानि, तथा च
रगण जगण रगण जगण-रगण-रचितचरण चामरमिति फलितार्थः ।

१५९ चामरमुदाहरति, भूतीति । त खणा—न (त्) क्षणे वज्ज—
वाद्यानि डिडिमप्रभृतीनि गज्ज—गर्जेति, हक्क—हक्का सिंहनादमिति यावत्
दिज्ज—दशति, चलतओ—चलति च, वीर पाअ—वीरपादैः भूतलतगा—भूतला
तर्गतः णाअराअ—नागराजः शेषः कप—कपते जे जोह—हे योधः भूति—
भूतिरिति सज्ज—सज्जिताः कृतसज्जाहा इत्यर्थः होह—भवत ॥ दैत्यसेनाजयाय प्रस्थितस्य
शक्रस्य देवान् प्रति वाक्यमेतत् । चामर निवृत्तम् ॥

१६० अथ पचदशाक्षरचरणस्य (वृत्तस्य) पचदशोत्तरनवशताधिकैकदश
(पचदशोत्तरद्वादश) (१२०१५) सहस्रतम भेद निशिपालनामक वृत्तं लक्षयति,
हाविति । हारु—हारः गुरुः इत्यर्थः तिणिण सरु—त्रयः शरा लघव इत्यर्थः हित्थि
परि—अनया परिपाट्या तिग्गणा—त्रिगणान् धरु—स्थापय त्रीन् गुर्वादीन्
पचरुलान् गणान् स्थापयेत्यर्थः, (अ) ते गणत्रयाते रग्गणा—रगण मध्यलघु
गणमित्यर्थः करु—कुरु, एव प्रकारेण यत्र पदे इति शेषः पच गुरु—पच गुरवः
दुण्ण लहु—द्विगुणिता लघव पच द्विगुणिता दश लघव इति भावः त्रीस लहु—
विंशतिलघव मात्रा इति यावत् आणआ—आनीताः आनीयते वा, हे चदमुदि
सहि—हे चन्द्रमुखि सखि एत्थ—एतत् निशिपालआ—निशिपालक छंदः इति
कचवर—काव्यवरः काव्ये लोकोत्तरवर्णनानिपुणे कविकर्मणि वरः श्रेष्ठ इत्यर्थः ।

मर-सर्प विगता मरु—भमति ॥ अथ पूषच्छब्द गुदलपुच्छपत्न मावाङ्मर्त व
पत्रपूरणाप । मगम जगण सगण-नगण-रगण-रविषपरर्थ निशिपालनामर्त इति
मिति कलिवाचं इति ध्येयं ।

१९१ निशिपालमुदाहरति, कुम्भमेति । कुम्भक—पुच्छे भूमि—भूमौ पद्—
पणिनाः पुच्छ—पुनः इदित्—ठञ्चय लमिभ्य—जग्याः पुद्वायेति मासः स्य
मग—स्वामिनः मर—मर्याः सगग इण—कृत्स्न ई(प्)ति तथापि कोइ मर—
कोइपि नहि मगिभ्या—भनः । तिस्रः—सीष्णः बीठ—विशतिः सर—सरा
कण्ठ—कर्णेन गुप अणिभ्या—गुणार्पिताः प्रत्यक्षा(प्रतिष्ठा) मुक्ता इति वाक्
कर—कृतां तद्—उपा परथ—गर्वेन दह—दश बाधान् इति शेषः बीति—
योत्रयेत्या वाड सह—जायेन सह कविभ्या—कविता कर्त्तव्या इति मासः ॥
निशिपालो निवृत्ता ॥

१९२ अथ पंश्रयाक्षरपरमस्य (अष्टा) विद्यामुत्तरपुच्छाधिकैश्चरय
सहस्रतमं (१९९९८) मेवं मनोईतनामर्त कृत् लक्षयति, कर्त्तृति । अरि मर
इय—मर आदौ इत्याः गुर्वता सगण इत्यर्था अरि विष्णवि—नरेन्द्रायमपि
मग्यगुदजगणहवमनीत्यर्थः विविध—क्रिये । अंतहि—अंते कपुहयति इत्यर्थः
गुद गाह—गुम्भुभ्यर्त्य गेय अ हार—गंगा कपुभ पुनः हाये गुद मणिभ्य—
स्वापिणं तद् विगल अपिभ्या—पिशङ्गविष्णं पतिह—प्रतिह मणहं छंद—
मनोईत (पञ्चम्) ॥

१९३ मनोईतमुदाहरति कर्त्तृति । अरि—यत्र संज्ञता—(संज्ञता) नि
केषु अ वेभ्य-अरम किमु अशोकचंपकानि पुच्छ—पुष्पितानि, मम्मग—ममया
तद्कारकेशरगपञ्चका वाता इति शेषः । माणह मंजन्—मानस्य मंजना
आएव वक्त—वक्ता मानिनीमानमंजने इति शेषः इक्षितल वाड—इक्षितल
व—अरि वा लोभ लोभल रंजना—लोभलोभरंजने मनुमा(व —मनुमावः
वर्तततर्चनी मास इत्यर्थः आभिभ—आगत ॥ मनोईतो निवृत्ता ॥

१९४ अथ पंश्रयाक्षरपरमस्य कृत्स्न विष्णुमुत्तरपुच्छाधिकैश्चरयसहस्रतमं
(४९७९) मेवं मासिमीनाम कृत् लक्षयति पठमेति । कर् पठम—प्रथमं रस
पदित्—रसहितं रसाग्नां सहितमित्यर्थः मावा रस वाङ्मर्त नारीभर कुत्त
म भिमिर्त्त । तिस्रु गणरस कदशये इत्यर्थः विगता मगह । इति पूर्व रसस्य
विलपुनामसुगत्वाद्गच्छद्विषयलपुच्छाधिकैश्चरय (बीभ ठाणे—द्वितीयस्थाने चरमे
(चमर) तिम निवर्त्त—चमरवचनिवर्त्त अमरी गुदत्रयेण मगयेनेति वाक्
निवर्त्त यत्र चेति शेषः अंत—अंते मगयति इत्यर्थः सर—सराः कपुः पुच्छभ—
गुम्भुगं गेय—गंगा कपुः कपुभ—कर्क विगुदको गंगा निवर्त्त—निवर्त्त तद्

र्वचित्त मभक्ते निश्चितं—चित्तमन्ये निहित पसिद्ध—प्रसिद्ध मालिणी णाम वृत्त—
मालिनीनाम वृत्त शतव्यमिति शेषः, इति सरस वन्त्रो—सरसकाव्यः सरसं काव्य
यन्य स तादृश. विंगल इत्यर्थः भणइ—भणति ॥

१६५ मालिनीमुदाहरति, ब्रह्मइति । हे हजे—चेष्टिके मलञ्च वात्रा—मल-
यवातः ब्रह्म—(ब्रह्म)ति, हत इति खेदे, काव्या—कायः कपत—कपते, कोइला-
लाय वधा—कोकिलालापवयः सवण रधा—श्रवणरध्रं दणइ—(—ट)ति । भिंग
झकार भारा—भृगभकारसमूहाः दह दिहासु—दशदिक्षु सुणिअ—श्रूयते, चड
चडाल मारा—चड. चडालमारा चडो महाक्रोधी चडालहव चडालस्तद्वन्नि
धुगः मार. काम. हणिअ—हत मल्लक्षण जन दणइ—हति ॥ मलयवाता-
दिभिर्हता मा यदय कामो हति कोऽयमस्य पुरुषार्थं, मत्प्रिय हत्वा मद्वश यदि
नयति तदैव परमपुरुषार्थिन मन्ये इति गूढाभिप्रायाया. कस्याश्चिद्वाक्यमेतत् ।
मालिनी निवृत्ता ।

१६६ अय पञ्चदशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य चतुरशीत्युत्तरद्वि(त्रि)शताधिकप्रो-
दशसहस्रतम (१६३८४) भेद सरभनामक वृत्त लक्षयति, भणिअ इति । यत्रादौ
सर लह सहिओ—सरलघुसहित सर—सरः एकलघ्वात्मको गणः अथच लघु-
स्ताभ्या युक्तमित्यर्थ सू(सु) पिअ गण सुप्रियगण सुप्रियो द्विलघ्वात्मको गणस्त-
मित्यर्थ भणिअ—भणित्वा, दिअवर जुअ (करअ)ल—द्विजवरयुगकरतलौ
द्विजवरश्चतुलघ्वात्मको गणस्त्युग करतलो गुर्वन्तसगणस्तमित्यर्थ. लहिओ—
लघ्वौ, एवप्रकारेणेति शेष. जह—यत्र चउ चउकल गण—चत्वारश्चतु'कला
गणाः पअ पअ—पाडे पाडे प्रतिपादमिति यावत् सुणिओ—ज्ञाता हे सुपिअ—सुप्रिय
शिष्य तत् फणिवइ भणिओ—फणिपनिभणित सरभ—सरभ कह—कथय सरभ-
नामक तद्वृत्तमित्यर्थ ॥ अत्र पुनश्चतु'कल-चतुष्टयकयन पद्यपूर्णार्थमेव,
नगणचतुष्टयोत्तरसगणरचितचरण सरभनामक वृत्तमिति फलितार्थ इति ध्येयम् ॥

१६७ सरभमुदाहरति, तरलेति । तरल कमलदल सरि जुअणअणा—तरलकमल
दलसदृशनयनयुगा, सरअ समअ ससि सू(सु)सरिसन्नअणा—शरत्समयशशि-
सुसदृशवदना मअ गअ गल करिवर सअलसगमणी—मटकलकरिवरसालसगमना
एतादृशी रमणी कमण सू(सु) किअ फल—येन सुकृतफलेन विहि—विधिना
चष्टेति यावत् गठु—निर्मिता । सरभो निवृत्त ।

१६८ अय षोडशाक्षरचरणस्य वृत्तस्य षट्त्रिंशदुत्तरपञ्चशताधिकपञ्चप्रष्टिसहस्र
(६५५३६) भेदा भवति, तत्र षट्चत्वारिंशोत्तरा(ष्टगता) धिकैकविंशतिसहस्रतम
(२१८३६) भेद नाराचनामकं वृत्त लक्षयति, णरिंदेति । इत्य—यत्र

१७१. नीलमुदाहरति, सज्जिञ्च इति । विवट्टिञ्च कोह—विवट्टितकोधाः
घणू—घनूपि चलाउ—चालयतः घनुर्यो वाणान् क्षिपत इति भावः जोह—
योधाः सज्जिताः कृतसन्नाहाः जाताः, पुरत तणू—पुरत्तनुः सण्णाह—रणनाथः
सेनापतिरित्यर्थः पक्खर बाह—कवचिताश्वेन चलितः, करे पाणौ कुतान् पाशान्
धरि—धृत्वा सुखगद्गरा—सत्सरकराः पत्ति—पत्तयः चलत—चलिताः, एव-
क्रमेण कण्ण णरेद—कर्णनरेन्द्रे सज्जितवृन्दे सति धरा पृथ्वी चलत—चलिता ।
नीलो निवृत्तः ॥

१७२ अथ षोडशाक्षरचरणस्य वृत्तस्यैकनवत्युत्तरषट्शताधिकत्रिचत्वारिंशत्-
सहस्रतम ४३६९१ भेद चचलानामक वृत्त लक्षयति, दिज्जिण—दीयते तो—
ततः एक—एकः पओहराइ—पयोधरः मध्यगुरुर्जगण इति यावत् दीयते इत्यनेन
पूर्वेणान्वयः, हिण्णि रूअ—अनेन रूपेण मणोहराइ—मनोहराणि सव्वलो—सव-
लानि पच चक्क—चक्राणि गणा इत्यर्थः क्रियतइति शेषः । अत्र चक्रशब्दो
गणवाची, तथा च रगण—जगण—रगणाः अनेन रूपेण पचगणाः कर्त्तव्याः
इत्यर्थः । अत—अते पदाते गणपचकाते वा बहु—बहुः निर्वाहकत्वात् गधः
लघुरिति यावत् दिज्ज—दीयते, यत्र च सोलहाइ अक्खराइ—षोडश अक्षराणि
पादे पततीति शेषः, फण्णिद—फणीन्द्रेण पिंगलेनेति यावत् विणिम्मिञ्चा—विनिर्मिता
बल्लहाइ—बल्लभा पिंगलस्येति भावः, एउ—एषा चचला—तच्चचलानामक
वृत्तमन्यर्थः ॥

१७३ चचलामुदाहरति । कण पत्थ—कर्णपार्थो राधेयफाल्गुनाविति यावत्
लुक्कु—युद्धार्थं मिलितौ, वाण सहएण—वाणसधेन सूर—सूर्यः लुक्कु—निलीनः,
वासु—यस्य घाउ—घातः प्रहारनिपातजात इति शेषः तासु तस्य अधिकारजाल-
प्रविष्ट इव जात इति भावः, एत्थ—एतस्मिन्नवसरे इत्यर्थः कण धूरि—कर्ण
पूरयित्वा आकर्णपर्यन्तमाकृष्येति यावत् पत्थ—पार्थेन छुट्टएण—मुक्तान् सट्टि-
वाण—पट्टिवाणान् पेक्खि—प्रेक्ष्य कित्ति धएण—कीर्तिधनेन कएण—कर्णन सव्व
वाण—सर्वे वाणा कट्टिएण—कर्त्तिता ॥ चचला निवृत्ता ॥

१७४ अथ षोडशाक्षरचरणवृत्तस्य प्रथम भेद ब्रह्मरूपकनाम वृत्तं लक्षयति,
जो लोआणमिति । जो—यत् लोआण—लोकानां विवुट्टे—विबोधे विज्जुट्ट-
वित्रुत्स्थाने वित्रुत्साम्यतया वित्रुत्पदेन टता लक्षयते, तथाच टतस्या(न) इत्यर्थः,
णाव ट्टाणे—नासिकास्थाने वट्टे—वसन्ते, यच्च बुत्तो—वृत्त छुट्ट ग्गाश्रतो—
छन्दोगायदिभ सव्वे—सर्वे समानीओ—समानित, सो—तत् कतो—यात हस
ट्टाणो—हसस्थान हसस्येव स्थान स्थितिर्गतित्यस्य तत्तादृशमित्यर्थः ब्रह्माण-
रूपकं छुट्टो—(ब्राह्मरूपकं) छुट्ट कएणट्टे—वर्णाष्टकेन गुरुद्वयात्मकगणाष्टकेन

गुणगणे जाभो—गुणना ताग विगस्य ब्रह्म—डागावचति, एतो—तां तुमे—
 १६ : लोभये—लोभानां निवृत्ते मदति यथा ब्रह्मणीसो—ब्रह्मचरिन् ॥
 यत्र ते दद्यात्पुनः शिववर्णं प्रदत्तवदनामकं पूजयितुं व्रतितार्यं ॥

१७५ मद्रक्तवद्वाराणि ब्रह्मवर्ति । उक्तं कोरा—उक्तं योराः उक्तं
 उक्तानां भगवत् भगवत्—आमानमात्मनं पारशमियथा मद्रक्ता रमा दद—
 दत्तवर्णं भगवत् रमा—मात्रं बुभुक्षन्ता—बुभुक्षन्ताः पारशमिदं हिने (एते)
 ब्रह्मा—पारशः यद्विभुक्षन्ता मद्रक्ता निद्रुती वेत्ता—मद्रक्तानि वृष्टं वक्तव्यं
 श्रोतुं श्रोतुं—डागावचति बुभुक्षन्ता—गुणमात्रं न स्यात् मद्रक्त
 पद—मनु निभवेनेयथा रम्यमय गम्यतां तुष्टा—तुष्टाः मेदका द्रव्य-
 यमिति भावा कोरा—योदात्तं दद्यात्—ममे उक्तं कद्रव्यं ददता—अनिष्टं
 मेदकादिगुणमित्यथा ॥

१७६ अथ मद्रक्तवद्वाराणि नृपराजं द्विजस्यपुत्रैश्चरितव्यं तदेतत्
 १११ ७२ मेता मद्रक्ति, तत्र पंचाशदधिकशतशतपिचद्वयं (यत्र) विद्वत्समं
 (१-५५) मेदं वृष्णीनामकं नृपं कपयति, पञ्चोदयेति । यत्र मद्र—मुने प्राप्तिवि-
 त्पारं पञ्चोद—पञ्चोदरा मद्रक्तवद्वाराणि इति यत्र टिप्पणा—मित्रा, तद्वत्—
 तद्वत् पद—यत्र इत्य—इत्यो गुणतां वक्तव्यार्थः रिक्ता—रक्ता पुत्रोद-
 पुनरपि तद्वत् वृद्धि—तथा वृद्धि पुनरपि व(य)व तगम्ये कर्मव्यक्तिर्मा-
 यद्वत्—तथा व र्ण—गंधा लघु लघु क्रिया—उपरीकृता । उक्तं—पुनः कस्तथा
 पुनः विमल तद्वत् ददा—वक्तव्यगुणविमलतद्वत्तारा वक्तव्ये गुणस्तद्वत् शब्दोक्तगु-
 दारो गुणोदये इत्यर्थः फलति—पतति पश्यात्तद्वत्—वक्तव्यमात्रं वक्तव्यमात्रं—विद्यति
 भावा इति यथा पतति पुनर्वक्तव्यं तत् पुनरपि नाम वक्तव्यं—वृष्णीनामकं
 मुने—वृष्णीनाम् । अत्र मात्रावचनं पारशमिदमेव वक्तव्य-वक्तव्य-वक्तव्य वक्तव्य
 लघुगुणवितं वृष्णीनाम् इति निरुद्धोक्तः ।

१७७ वृष्णीमुशहयति मद्रक्तवृक्षिण इति । मद्रक्तवृक्षिणोद—(मद्र)
 मद्रक्तवृक्षिणं मद्रक्तवृक्षिणं रवं कुर्वन्पुण्यं भूयस्व यत्न तदाद्यमित्यर्थः रजरत्नं
 कावी गुणं—अतिगंभीरव्यापमाना कावीगुणो कस्य तद्वित्यर्थः तदाद्यं मुद्र-
 पं क्रमं—तदाद्यं मुक्तमेव पं क्रमं यत्न तदाद्यमित्यर्थः, अगुद भूम भूपुरम्—
 अगुदभूपुरोक्तम् । कस्तथा मद्रि दीपकं—वक्तव्यमभिधीयते वक्तव्येदीप्यमानं
 भूयस्वमिति दीपकं यत्र तदाद्यमित्यर्थः, मद्रक्त वेत्ति कस्तथा—मद्रक्तवेत्ति
 कस्तथा वेत्ति मद्रक्त—वक्तव्यमात्रं वक्तव्यमात्रं मद्रक्तमित्यर्थः, मद्रक्त मद्रक्त—
 वक्तव्यमात्रं मद्रक्तं यत्न तदाद्यमित्यर्थः । वृष्णी निरुद्धा ॥

१८०—अथाष्टशान्तरचरणस्य वृत्तस्य चतुश्चत्वारिंशोत्तरैकशताधिकद्विषष्टि-
सहस्रोत्तरलक्षद्वय २६२१४४ भेदा भवन्ति, तत्र द्वि (त्रि) सतत्युत्तरपट्शताधि-
कद्वादशसहस्रतम (१२६७३) भेद मजीरनामक वृत्त लक्षयति, कुतीपुत्तेति ।
यत्र गथा—मस्तके प्रथममिति यावत् तिण्णा—त्रीन् कुतीपुत्रान् गुरुद्वयात्मकान्
गणानिति यावत् दिण्णउ—दत्वा एक्का—एक. पाए—पादः गुर्वादिर्भगगमि(इ)
त्यर्थः सठवि—सस्थाप्यते, ततश्च एक्का द्वारा—एकोहाराः गुरुः कवण दुज्जे—
कणद्वयय गुरुद्वमिति यावत्, श्रवहृद्भापाया पूर्वव्यत्यासदोषाभावात् दुज्जे
इत्यस्य व्यत्यासे अपि न दोषः, गघा—गघस्य लघोरित्यर्थः जुगगाए—जुगलं
सठवि—सस्थाप्यते । पाश्चा अन्ते(—पादाते) भव्या कारउ—भव्याकारा. चारी
द्वारा—चत्वारो द्वारा गुरवः सज्जीआए—सज्जिताः, ए—एतत् मजीरा—मजीर-
नामक वृत्तमिति यावत्, इति सुद्धकाअउ—सुद्धकायः शुद्धो निष्फलकः
कायो यस्य स तादृश इत्यर्थः सप्पा गआ—सर्पराज. पिगल जप—जलति ॥

१८१ मजीरमुदाहरति, (णीला कारउ)—नीलाकारा मेहा—मेघाः गज्जे-
गर्जति उच्चा रावा—उच्चस्वराः मोरउ—मयूरा सहे—शब्दायन्ते, ठामा ठामा—
स्थाने स्थाने पिंगा देहउ—पिंगदेहा पीतवर्णेति यावत् बिज्जू—विद्युत् रेहइ—
राजते हाराश्च किज्जे—क्रियते मेघैरिति भावः । कुल्ला णीवा—पुष्पितान्
नीपान् कदम्बपुष्पाणि भम्मरु—भ्रमरा पीवे—पिबति, दक्खा—दक्ष. मानिनीमान-
भजने इति भावः मारुअ—मारुत. वीअताए—वीजयति, हहो हजे—चेटिके
वाहा किज्जउ—किं क्रियता किं विधीयतामिति यावत्, कीलताए—क्रीडती
पाउम—प्रावृट् आओ—आगता ॥ मान त्यक्त्वा कातमुपगच्छेति चेटीमुखा-
न्निष्कासयितु कस्याश्चिन्मानिन्या. प्रावृडागमनात् किं विधीयतामिति चेटी प्रति
वाक्य । मजीरो निवृत्त ॥

१८२ अथाष्टशान्तरचरणस्य वृत्तस्यैक(भ्य) पचाशदुत्तरशतत्रयमा (चतु)शताः
धिकपञ्चविंशसहस्रतम भेद (३७४५०) क्रीडाचक्रनामक वृत्त लक्षयति, न इदा-
सणेति । न इदासणा—यत्र इद्रासन लव्वादिर्गण इति यावत् तदग्रे एवकार-
पूणीयन्तथा—चैद्रासनमेवेत्यर्थः, एक्क—एक. नान्यगणमिलित इति यावत्
गणा—गणः पाएदि पाए—पादे पादे सू(सु) हावेइ—शोभते यत्र पादे यगणा-
तिरिक्तो गण न पततीत्यर्थः, सुदडा—सु शोभना दडा लघवो ज(य) गणा
दिभूता इति भावः येषु तादृशा इत्यर्थः दहा अट्ट—अष्टादश वण्णा—
वर्णा यत्र सटाए—सुस्थाने शिबद्धा—निबद्धा सोहे—शोभते,
जहा—यत्र दहा तिणिण गुणा—दश त्रिगुणिता त्रिगदिति यावत् मत्ता—मात्राः
मुसाए—मुपादे षट्त्रा—संख्याताः होति—भवति, तत् किलाचक्छदा—

श्रीवाचकं त्वं वाच—वाचते इति कर्मिणः—इत्यर्थः विप्लवः मन्त्रा—मन्त्रेति ॥
मय्यन्यद्विजितवर्या श्रीवाचकमिति कलितार्थः ।

१८३ श्रीवाचकमुदाहरति, अथा इति । अथा—यद्य कर्मणा—कर्मणा
वाच—मय्यपित्वा भूत वेताल—भूता वेतालः अन्वत गुरु—वृत्तिं यन्त्र,
विद्या पार देवद्वार इत्या रथं—विद्याः स्थाप्येन्द्राद्वार इत्या कर्म रथा
कुत्रे—कर्मोपेक्षं कुरुते । कथा दृष्ट—अवस्तुमिति, मथा—मन्त्रां कुत्रे—कुरुते,
कर्मणा कर्मण इत्यंता—(कर्मण) वृत्तिं इत्येति अथा—तत्र संगम मन्त्रे—
संगममन्त्रे वीर—इत्योः गुलंता त्वरिता अन् वृत्तं—गुप्ते ॥
श्रीवाचकं निवृत्तं ॥

१८४ अथाष्टादशाक्षरपरमस्य वृत्तस्यैकोनविंशत्यक्षरपरमस्य (११ ११)
अथ मेदं कश्चरीनामकं वृत्तं लक्षयति आरति । अथा—आरो रम्य—(रय)
यो मन्त्रस्तुमेव इत्ययं वाच—वाचो गुर्वदिक्षिक्त इति वाचत् दिक्क—
दीक्षा मन्त्रा—मन्त्रे एतदनन्तरमित्ययं सह हार—शब्दहारयोः लक्ष्म्युद्धारेति
यत्तु विप्लवि—इयमपि पक्षं—पक्षेति यन्त्रहारो वाच्यं (प) क्तः, वेपि
कर्मण—इत्यपि अहं लक्ष हार—हार गुर्वमित्यर्थः पूर—पूर्य कर्मण
ओह्य—योमने संल कर्मण—शब्दकर्मणो लक्ष्म्युद्धार (गुर्व) इति वाचत् पूरयेति
पूर्वैवान्वयः, हे मुदरि अथ लोभहि कुम्भमा—कर्मलोपैर्दुष्टा मोहना—मोहिनी
चित्तस्येति भावः कश्चरी मन्त्र—कर्मण इति वाच्य राभ—नागराः विप्लवः
मन्त्रं—मन्त्रेति । रम्य संगम-अन्वय मन्त्र (रम्य) रचितवरणा चचरीति
कलितार्थः ।

१८५ कश्चरीमुदाहरति पाञ्च शोठरेति । इति वर वृत्तेहना—इति वरवत्
कुशोमनं शोठर—नूपुरं वत् इति योपा यन्त्रावयं वेदनीयाः पाञ्च—पाञ्चो
मन्त्रमन्त्रा—मन्त्रमन्त्राये वीर अन्वय—विप्लवित्तनमे वृत्तत्वं मन्त्रे—
मन्त्रेति मोक्षिदाम—मोक्षिकश्च यन्त्र—वृत्तिं, विप्लवित्तन कर्मण—
वीर्यजनकमन्त्राः नाम दाहिता—यामद्विषययोग्यवोपेति भावः ॥

१८६ मयैकोनविंशत्यक्षरपरमस्य वृत्तस्य पञ्चदश कश्चरीति वरसमवा
शीत्युत्तरं शतं ५२४१८८ मेदं मन्त्रेति तत्र सप्तविंशोदरशतं (५) यन्त्रिणैकोन
पञ्चाशत्तद्विंशत्यक्षरपरम (१४६११७) मेदं चार्द्धकविप्लवित् (१) नामकं
१५ लक्षयति मन्त्रेति । अ—पयैकोनविंशत्यक्षरपरमो वृत्ते प्रथमं मो—
मन्त्राविविगुरुर्गण—वत् लो—सगद्यो लक्ष्म्युद्धार—वत् लो—प्रथमः
मन्त्रगुरु—तत्र लक्ष्म्युद्धार—लक्ष्म्युद्धारो गुरुर्गणो लक्ष्म्युद्धारो लक्ष्म्युद्धारो—लक्ष्म्युद्धारो
संगम संगम संगम इत्यर्थः लक्ष्म्युद्धारो लक्ष्म्युद्धारो लक्ष्म्युद्धारो पुनश्च संगम इत्ययः

एवप्रकारेण पादे एऊण विंसा वणो—एकोनविंशतिर्वर्णाः पतति, यत्र च चउ पओ—
चतुःपादे पिंडीअ—पिण्डीभूताः पुना. वत्तीस रेहे—द्वाविंशद्रेखाः लघव इत्यर्थः,
अट्ठासि नोणी—अष्टाशीतियोनयः अष्टाशीतिमात्राणा कारणानीति यावत् चौ(चो)
आली (सह) हार—चतुश्चत्वारिंशत् हारा गुरवः येषामष्टाशीतिमात्रा भवति
तादृशाश्चतुश्चत्वारिंशद्गुरव इत्यर्थः, एवप्रकारेण छेहत्तरि वण्णओ—पट्
(सततिवर्णा) प्रतिचरण सउ बीस मत्त—विंशत्यधिकशतमात्राश्च भणिअ—
भणिताः, तत् सदूलसट्ठा—शादूँलसट्क मुणो—जानीत इति पिंगल भणे—
पिंगलो भणति ।

१८७ शादूँलसट्कमुदाहरति, जे लवेति । जे—ये लका गिरि मेहलाहि—
लकागिरिमेखलाया त्रिकूटाचलकटकादित्यर्थः. खलिआ—खलिताः ततश्च
सभोगखिन्नोरगीस्फारोत्फुल्लफणावलीकवलनेन दग्धित्व—दग्धित्व पत्ता—
प्राप्ताः । ते इण्ह—इदानीं मलयानिलाः विरहिणीनिःश्वाससपर्विक्रणः सतः
शिशुत्वेऽपि तारुण्यपूर्णा इव ब्रह्मा जाता । कर्पूरमजरीसाटके देवीनियुक्तविचक्षणायाः
चाक्यमेतत् ॥

१८८ पुनरपि शादूँलविक्रीडित प्रकारातरेण लक्षयति, पथारे इति । जह—
यत्र पथारे—प्रस्तारे वण्णगुज्जल—वर्णोज्ज्वलानि तिण्ण चामर वरे—त्रीणि
चामरवराणि गुरुणि दीसति—दृश्यते, ततश्च उक्किट्ठ—उत्कृष्ट लह त्रिणि—
लघुद्वय चामर—चमर गुरुरित्यर्थः तहा—तथा गधग्गुरो—गधो लघुः गुरुश्च
उट्ठोअ—उत्थापितः दत्त इत्यर्थः । तहा—तथा तिणो त्रयस्त्रीणि वा सू (सु) गध-
सुगधा शोभना लघव इत्यर्थः चामर—चामराणि गुरवः दिउ—दीयते, ततश्च
गधा—गधो लघुः जुआ चामर—द्वे चामरे गुरु अत—अते पादाते चामरद्वयाते
चेत्यर्थः रेहतो—राजमान धअपट्ट—ध्वजपटो लव्वादिस्त्रिकल इति यावत्
कहिअ—कथित तत्सदूँलविक्रीडितं—शादूँलविक्रीडित ॥

१८९ शादूँलविक्रीडितमुदाहरति, जमिति । ज धोअजण लोल लोअण जुअ—
यस्मात् धौतान्नलोललोचनयुग धौतमजन यस्य त दृश लोचनयुग यस्मिन्स्त तादृ-
मित्यर्थः. लत्राल भग्ग—लत्रालकाग्र लत्रान्यलकान्यग्रे यस्य तत्तादृशं मुहं—
मुखमियर्थः तथा ज—यत इत्यालविअ केष पल्लव चए—हस्तालवितकेशप-
ल्लवचरे त्रिदुणो—त्रिद्वयो घोणति—घूर्णति परितो भ्रमतीति । यावत् । तथा ज—
यस्मात् एक सित्तअचल णिअसिअ—एक सिचयाचल निवसित ण्हाणकेलिट्ठिअ
त—तस्मात् हेनो स्नानकेलिस्थिता अभ्रमेकक जणणी—अद्भुतैकजननी
आश्चर्यमुखोत्पत्तिभूमिगिति यावत् इअ—इय कर्पूरमजरी अमुना जोईसरेण—
योगोश्वरेण कापालिकमैरजानेन आशीदा—आनीता । यनो नेत्रयोरजन धौत

हि—कथ्यते इति सुगुणबुद्धि—सुगुणयुक्तः विमलमह—विमलमतिः फणिपतिः
गलः सही सत्य मणति ॥ यत्राष्टादशलधुरनतरमेको गुरुः पतति तत् धवलनामक
त्तमिति फलितार्थः ।

१६३. धवलमुदाहति, तरुणेति । तरुण तरणि—तरुणः माध्याह्निकः तरणिः
पूर्यः तवह धरणि—तापयति धरणी, पवण वह खरा—पवनो वाति खरः, लग
णहि जल—निकटे नास्ति जल, जण निअण हरा—जनजीवनहर बड मरुथल—
महत् मरुस्थल विद्यते इति शेषः । दिसइ चलइ—त्विषोऽपि चलति तरुणतरणि-
किरणा अक्कंत्विषोऽपि चलतीवेत्यर्थः, हिअअ डुलइ—हृदय वपते, हम इकलि
वहू—अहमे (क)ला वधूः घर णहि पिअ—गृहे नास्ति पति, सुणहि पहिअ—शृणु
हे पथिक कहू—कुत्रापि तव मनः स्यादिति शेषः इच्छइ—इच्छति ॥ कस्या-
श्चिद्वाग्विदग्धाया इद वाक्यम्, अत्र पथिकउद निवासस्थलकथनार्हत्वं मार्ग-
प्रातग्रामवासयोग्यत्व च व्यजयति, तरुणतरणिपदाम्या चडाशुकिरणभीत्या निखिल-
पथिकसंचारश्च (शू)न्यतयाग्रिममार्गस्यातिदुर्गमत्व व्यज्यते, एकलेति पदमन्यज
नावलोकनीयतया यथेच्छक्रीडाकारित्व व्यनयति, सर्वथात्रैव त्वया स्थेयमिति
व्यनयति । धवले निवृत्तः ।

१६४. अथैकोनविंशति(त्यक्षर)चरणस्य वृत्तस्य द्विसप्तत्यधिकैकशताधिकत्रि-
सहस्रतमं भेद शमुनामक वृत्त लक्षयति, अवलोआअमिति । सुच्छद—सुच्छदः
एतदिति शेषः (भणि—) भणित्वा (मण) मणभे—मनोमध्ये सुक्ख—सुख
सवुत्त—सवृत्त त्वम् अवलोआअं—अवलोक्य कुतीपुत्ते सवुत्त—कुतीपुत्रेण
सयुक्तम् अग्रस्थितगुरुद्वयात्मकगणयुक्तमिति यावत् हत्था—हस्त गुर्वतसगणमिति
तावत् दिज्जसु—ददस्व अग्रे—अग्रे कर्णाग्रे इति यावत् एव(अ) गण
दिज्जसु—एव प्रकारेण गण ददस्व, पुनरपि सगणकर्णां देहीत्यर्थः, अते—सगण-
कर्णान्ते सुपिअ—सुप्रिय लघुद्वयात्मक गण ठवि—स्थापयित्वा अते—पादाते सत्ता
हारा—सप्त हारान् गुरुन् किज्जसु—कुरुष्व इअ—इति प्रकारेणेति भावः
वत्तीसा णिश्र मत्ता—द्वात्रिंशन्निषमात्राः ज—यत्र पाअइ—पादेषु पततीति
शेषः सभू णामाअ—शमुनाम्ना छदो—छद जानीहीति शेषः ।

१९५ शमुमुदाहरति, सिअ विठ्ठीति । सिअ विठ्ठी—शीतवृष्टिः किजइ—
प्रियते जीआ लिजइ—जीवो गृह्यते देवेनेति शेषः, गला बुद्धा—गला वृद्धा
वपता—वपते पच्छा वाहअ—परिचमवाता. वह—वाति, वाअइ—वाते लागे—
लगति, सच्चा दीसा—सर्वा दिशः रूपता—प्राच्छन्ना भवतीत्यर्थः । जइ वट्ठा
रोसइ—उडि शीतं गृह्यति, तदा चित्ता हासइ—चित्त हसति, पेडे—उदरे

अग्नी—अग्निः अग्नीम्—आप्ते, कर पाप्मं च (मरि) अपारो तथेय
मिच्छि—मध्ये किञ्चि—क्रियते अप्पा अग्नी—आत्मा आरामि लुक्प्रोम्—
गाम्ते । अस्मिन्निहिरित्येतद्वाक्यं । अमुनिर्वा ॥

१२९ अथ विश्वस्यद्वारपरमस्य वृत्तस्य पदस्यस्युत्तरपंचशठाधिकशतपरि
शतस्यसोत्तरं दश लक्षं भेदं भवति, तन्नाद्योत्तरशठाधिकं (पदस्यस्यस्य) द्विष्ट
तिष्ठसोत्तरशतस्य (१०९ ७६) भेदं गीतानामकं वृत्तं लक्षपति, अतीति ।
हे मुनि—मुने अहि—यत्र अह—आहो इत्य—इत्ताः गुर्वताः सगल इति वाक्य
कौट विष्णवि—नरेन्द्रवमपि मध्यगुरुवगवमपीति वाक्य , उता पाप्म—पाप्म
आदिगुरुवगल इत्यर्थः, पंचम—पंचमा ओहलो—मध्यगुरुग (व) इति वाक्य
अहि यत्र कुट्टहि—पठे ठार—त्य(र्वा) ने इत्य—इत्ताः गुर्वताः उम्हाः अंतर्हि—
अंते समागन्ते पादति वा उहल—उत्तं लक्षु बोद्धये—मुपुरं गुहा दीतर्हि—
हरकते । इदं च क्रियापदं सर्वे प्रथमस्तिर्नवाक्यैः पदैः सह बोध्यते । ओह—
उहल नीमड—समीचीनं सत्य लोचरि वायिम्नो—सर्वलोकेष्वंतं वैज्ञान्यप्रति
मिति याका, अवि सिट्ठि सिट्ठ—अक्सिपृष्ठा सृष्टं दिदृह दिदृठ—इह
इह पिंगलैव वलाभिभ्यो—पिंगलेन विपक्षपितं गीम लृट्—उद्गीतानामकं वृत्त
मित्यथा । वृत्तविशेषानि पञ्चपुरम्येति मंतव्यं ॥

१३० वीतानुहाहरति, अनेति । अह—अह केभार वाक्यं यपम वृत्तं मन्थरी
बहुला—केचिन्नाहकपकभूतमकरीकुलानि (केतवी) वाक्यि चपकानि यपक
पुष्पानि नृत्तस्य मन्थर्या मन्थर्यावानि बहुजानि कैतानीत्यर्थः पुनरु—पुनर्यानि
विपक्षितानीति वाक्य , केतु कान्य—केतुवचननं एव दीत दीतर्हि—सर्वता
विशि हरयते, मन्थर—मन्थरा पाप्म वाडम(क)—पाप्मवाकुता मन्थरानुचम
मन्थर इत्यर्थः वाता इति शेषः । पम्प वंय विवंधु—पञ्चवंधविकेयुः क (॥) लघे-
रमस्य विविष्टो वधुरित्यर्थः, वधुरा विपक्षयो मानिनीपातमकने इति याका ।
महं महं—मन्थर्या समीरणा—समीरणा वाता मह—वाति, उहलीकना विम
येति ओ (ओ) लृट् लाल लंगिम लंगिम—निष्क्रेति ओतुक्तास्वकगमनायाः ॥

१३१ अथ विश्वस्यद्वारपरमस्य वृत्तस्यैकशठाधिकशतपरि
(पद) लक्षतमं (६६९ ५९) भेदं वृत्तं (क) नामकं वृत्तं लक्षपति रम्ययेति ।
रमाप्म—उत्तं मध्यगुरुग इति वाक्य पञ्चतमा—पठति पुनः कंतमा—कंत
करंद—नरेन्द्रो मध्यगुरुवगल इति वाक्य पठतीति पूर्ववाक्या एवं सुवक्तव्यम्—
स्वराद्यथा निष्ककविषयमर्थेन लुक्प्रत्यय—लुक्प्रत्येन मज गणपदेनेत्यर्थः सह
एव—एव हार—हारं गुहं मंतवी—आमंयवत्य वापकलेवर्ग, वाय अंतरी—

पादाते सुसह—सुशब्दः शोभनो लघुर्देय इति शेषः । यत्र सख—सख्याया
वीसए—विंशतिः सुवण्ण—सुवर्णाः तीस मत्त—त्रिंशन्मात्राः पाअ पत्त—पादे
प्राप्ताः तीअ भाअएण—तृतीयभागेन त्रिंशत्तृतीयभागो दश (त)सख्येति यावत्
हार (गुरुः) स दश लघुः आउ—आयाति पततीति यावत्, ए—एन गडआ—
गडकं गणोह—गणयस्व बुध्यस्वेत्यर्थः, इति फणिंद—फणींद्रः गाउ—गायति ॥
प्रथम गुरुस्तदनंतर लघुरेवक्रमेण यत्र विंशत्यक्षराणि चरणे पतति तद्वद्गडकनामकं
वृत्तमिति फलितायः ।

१६६. गडकमुदाहरति, तावेति । जाव—यावत् हत्थ—हस्ते विज्जु रेह रंग
णाह—विद्युद्वेखारंगवत् अतिचंचलमिति भावः एकक—एक दब्ब—द्रव्य णब्ब—
चृत्यति, ताव बुद्धि—तावद्बुद्धिः तावत् शुद्धिः तावत् मानः तावत् दानं तावत्
गर्वः । एत्थ अत—एतदन्ते सोह—तत् द्रव्य अप्प दोस—आत्मदोषेण देव
रोस—दैवरोपेण यदीति शेषः णह—नष्ट होह—भवति तदेति शेषः, कोह
बुद्धि—(कुत्र बुद्धिः) कुत्र शुद्धिः कुत्र मानः कुत्र दानं कुत्र गर्वः ॥

२००. अथैकविंशत्यक्षरचरणस्य वृत्तस्य त्रि(द्वि)पचाशदक्षरैकशताधिक-
सप्तनवतिसहस्रोत्तर विंशतिर्लक्षं भेदा (भ)वति, तत्र पञ्चोत्तरशतत्रयाधिकन-
वाधिकनवतिसहस्रोत्तरैकलक्षतमं (त्रिनवत्युत्तरनवशताधिकद्विसहस्रोत्तरत्रिलक्षतमं
३०२६६३) भेदं स्वर्धरानामकं वृत्तं लक्षयति, वे कण्णेति । यत्र प्रथम वे
कण्णा—द्वौ कर्णौ गुरुद्वयात्मकगणवित्यर्थः, ततो गघ हारा—गघहारौ लघुगुरु
इति यावत्, ततश्च वलअ दिअगणा—वलयद्विजगणौ गुरुलघुचतुष्टयात्मक-
गणाविति यावत्, ततः इत्थ हारा—हस्तहारौ सगणगुरुकावित्यर्थः यत्र पलता—
पततः, ततश्च एककल्ला—एकल शल्य लघुः कण्णा—कर्णौ गुरुद्वयात्मको गण
इत्यर्थः अत—अते कर्णगणाग्रे इत्यर्थः घअपश्च सहिआ—ध्वजपटसहितः लध्वा-
दिभ्रिकलगणसहित इत्यर्थः कता—कातः ककणा—ककण गुरुरित्यर्थः यत्र पततीति
शेषः । ल—यत्र एककगला—एकाधिका वीसा—विंशतिः एकविंशतिरिति यावत्
लहु गुरु—लघुगुरुवः पलह—पतति वारहा—द्वादश दीहा—दीर्घाः होहि—भवति,
पिंढा—पिंडिताः वत्तीस अग्गा सउ—द्वात्रिंशदधिकशत मात्रा इति शेषः यत्र
भवतीति पूर्वोक्तान्वयः, सा फणि भणिआ—फणिमणिता मुद्धा—मुग्धा मनोज्ञेति
यावत् सद्धरा—स्वर्धरा होह—भवति ॥ स्वर्धरानामकं तद्वृत्तं भवतीत्यर्थः ॥

२०१ स्वर्धरामुदाहरति, ईसेति । ईसा रोस प्पसाद प्पणटिसु—ईर्ष्यारोष
(प्र)सादप्रणतिपु ईपया यो रोपस्तन्निवृत्तये यः प्रसादस्तन्निमित्तं याः प्रणतय-
स्तास्वित्यर्थः बहुशो सग्ग गगा जलेहिं—बहुशः स्वर्गगगानलैः आमूल पूरिताए—

अमूलं पुरिताया हरिण कर कला रूप तिप्पीय—सुदिनकरकलारीयमुक्त
गी(गिरि)मुभ्य पात्र पंकेदहस्य—गिरिसुता(पाद)पंकेदहस्योः रोहि—हाम्ना
बद मौ(मठ)ति विदिताग्य हत्येहि रोहि—नवमौलिनिदिताग्रहस्तागना हाम्ना
धोमो(र्हा)मोहाहनिष्ठ—म्योस्त्रानुक्त (मुक्त) पञ्चमुक्तम् अर्थ तिप
देसो व(अर्थे शीर्ष) दहसिप रहो—रहा बमह—बवति ॥ सम्पद्य निहृय ॥

२ २ अथेकविंशत्यक्षरपञ्चमस्य वृत्तस्य विंशत्यक्षरपञ्चमस्य भिन्नकृतारिष
(एकोनविंशत्यक्षरपञ्चमस्य भिन्नकृतारिषा (रा)सहस्रोत्तरपञ्चमस्य (५५ ५१६)
मेई नरेन्द्रनामकं वृत्तं लक्षयति, आहृति । अथ—यत्र आहृति—अथो पात्र
गय—पादगयो गुर्वादिर्मगया इति यावत् पञ्चलिख—प्रकटितः अंत—अंते
मगमावसाने इति यावत् ओहस—ओहसो मय्यस्युरग्य इत्यर्थः घरीये—प्रिकटे
स्नाप्यत इति यावत्, ततः आहस सद र्गय—आहसस्यभंगयाः एकलपय
इत्यर्थः हस—एते सुखि गण—सुनियमाः सत गया इति यावत् र्गय इति रोपा,
तथाच रगजन्तर् सत लपका र्थाया इति भावाः तद्—ततः सतलप्यन्तर्गमिति
यावत् कंकम—कंकमं गुवरित्यर्थः क्रीये—क्रियते । ततश्च एकमेरी (रि)—
एकमेरी लपुनित्यर्थः तद्—सम्भाक्ते स्वाप्यत इत्यर्थः गरबह—नरयतिर्मय
गुर्वर्गयाः पत्र—पत्रति तिष्ठतीत्यर्थः सुभगा—सुभगा संल—सम्भाप्यमेतका
कुक्कह—कुक्कियते उच्यते इत्यर्थः बह—यत्र अंत—अंते पादास्ते चामर कुय—
चामरयुगं गुर्वहपमित्यर्थः, पञ्चलिख—प्रकटितम् पद्—एतत् वरिदठ सं—
नरेन्द्रपद्मः ॥

२ ३ नरेन्द्रमुहाहृति, कुलिख इति । केसु—किंशुकं कुलिख—पुष्पितं
तद्—तथा अंत—अन्तः पञ्चलिख—प्रकटितः ॥

×

×

×

२११ अथ तच्छ (२) नामकं वृत्तं लक्षयति, कथ्येकैति । यत्र पदम—
प्रथमं दिख—इत्ता स्थापित इति यावत् पञ्चदि—पादेषु कथ्ये(क) —कर्म
पञ्च पत्रह—पत्रति, विज्ञाप—विज्ञापे पादप्री इति यावत् करमल—करतलं
गुर्वता सगल इति यावत् दिख—इत्ता, तद् मह—तन्मध्ये गुर्वहवतमङ्गल सगल
योर्मध्ये इति यावत् मल्ल वप्य गुव (लि) अ—मात्रावर्गमुल्लिखिताः अह चठसकल
पद्वप्य(कला) किम—कृताः एवं य पञ्च—पदे पञ्चलिख (क) —प्रकटिता
वली(ठ)ह कल—आत्रिगमायाः ठवह—स्थापय है मय्यहृति—मनोहरमि
रहमिपहुनमयि—(२)वनीममुनयने कमलदलनवने सरत सपम—सरतनुपदं
रतेः लपुमिः उल्लिखितानि शोभयामि पञ्चनी यस्य तच्छा तद् तच्छा वर तन्मह

यथा स्यात्तथा ठइअ—स्य पित तत् पुअ—ध्रुव निश्चित वर—वृत्तश्रेष्ठ सालूर—
सालूरनामक वृत्त भण—कथय इति नद दिणश्रर—कविदिनकरः भुअ पए—
भुजगपतिः भण्णि—भणति ॥ कर्णान्त(२५) द्चलु. कलोत्तमगणश्चित्तचरणः
सालूर इति फलितार्थः ॥

२१३. शालूरमुदाहरति जमिति । ज—यत् यस्मात् पुल्लु—(पुष्पित)
कमलवन वहइ लहु पण—वाति मन्दपवनं सप्त दिसि विटिस—सर्वत्र टिल्लु
निदिनु भमरकुल—भ्रमरकुलस्य ऋकारः पतति वण रवइ कोइलगण—वने रौति
कोइजगण. विरहि हिअ अ—विरहिहृदय दर्शिरस—भयविगतरस हश्र—जात ।
उलसि उठिअ मण—उल्लसामोदितमना. मरस णलिणिदल किअ सश्रणा—
सरसनलिगोदलकृतशयन. आणदिअ—आनन्दितः, पल्लट्ट—प्रत्यावृत्त. निवृत्त
इति यावत् विसिर रिउ—शिशिरश्रुतु., दिअस दिहर भउ—दिवसा दीर्घाः
जाताः, अतो हेता कुसुम समअ अवतरि (अ) वणा—कुसुमसमय. वसतकाल
इति यावत् अवतीर्णो वने ॥ शालूरो निवृत्त. ॥

२१५. त्रिभगीमुदाहरति । चलइअ विसहर—चल(यि)तवि(प)धरः
तिलइअ सुदर चट—तिलकितसुन्दरचन्द्रः मुणि आणट—मुन्यानदं मुन्यानद-
स्वरूप. लज्जकेवैत्यर्थं जण कद—जनकट त्रैलोक्यमूलमिति यावत् चरदगमणक
(र)—वृषभगमनकर. तिसुन डमर धर—त्रिशूलडमरधर. णश्रणहि डाह अणग-
नयनाम्या दग्धानग. सिरगग—शिरोगग. गोश्रिवग—गोर्ध्वद्वागः हर—हरः
जअइ जअइ—जगति जयति । भुनयुगधृतगिरि. दहमुह कस विणासा—दशमुख-
कशविनाश. पिअ वासा—पीतवासाः सुदर हासा—सुभगहास्यः, बलि छलि—
बलिं छनयित्वा (महि हरु—) महीहरः—पृथ्वीहारक इति यावत्, अमुरविलयकरः
मुणिजण माणसहसा—मुनिजनमानसहस्र, अवहट्टभाषाया व्यत्यासे दोषाभावात्
सूह भाषा—सुभाष. मधुरवचन इति यावत् उत्तमवश. हरिः श्रीकृष्णः जअइ—
जगति जअइ—जयति ॥ त्रिभगी निवृत्ता ॥

क्षौणीपालकमौलिरत्नकिरणस्फूर्जत्प्रभाराजिताम्,

अम्भोजद्वितय. परास्तगणनान्तेवासिससेधितः ।

सद्विद्याकवितालताश्रयतरुस्तेजस्विनामग्रणी-

र्ज्जित. श्रीनगदीश इत्यभिहितो नाम्ना तदीयः सुत. ॥११॥

स्फूर्जद्द्राक्षाण्यतेजकरनिकरसमुद्भूतदिग्जालपूज्यः

श्रीकृष्ण (?) जपनियमविधिध्वसिताशेषपापः ।

आयुर्वेदार्थदीक्षागुरुतिसुमति शब्दविद्यानुरक्तो,

जातः पुत्रस्तदीयो विमलतरयशाः कृष्णदेवाभिधानः ॥१२॥

छादिस्थाभ्योधिपारेगतविमलमतिगन्धनशीशङ्गिप्रियम् ,
 ध्यानासक्तप्रान्तरसमा यमनिबन्धमुत्पन्नविद्यानुरक्तम् ।
 जातो वंशीपरायण्यद्विमुक्तविशक्तकीर्तिचन्द्रस्य वस्य,
 स्वीयमोदप्रतापानलकिरणमुत्पादितारेस्तनूतः ॥११॥
 वरे मन्दनबनुषम्भ (१९६६) मिलिते व्यापान्मासे सिद्धे,
 पक्षे चन्द्रदिने तिथौ प्रतिपदि श्रीचन्द्रमौलिः पुरे ।
 छायास्वप्नगभीरस्य तेन रक्षिता सेव्यं प्रकृत्यामिषा,
 व्यापा विगलटिप्यनी रघुवतेभ्यनाह समाप्तिं गता ॥१४॥
 बाब्रामेति नाम प्रभवति जगतां कारणे जीहन्म
 प्लित्ते भक्तिरस्य बाब्रप्रपतिचरणाम्भोजमुमे ददाति ।
 बाब्रत् कूर्मस्य वृष्टे निवसति पृथिवी उत्तगोचादियुज्य,
 छायासीयागमम् × × × कृतिरिबं दिप्यनी विमलस्य ॥१५॥

(इति वंशीपरकृतविगलटिप्यनी समाप्ता ॥)

पद्यानुक्रमणिका

अइचल जोवणदेहधणा	२.१०३	उद्दिट्ठा हरि अका थप्पट्ट	१.४८
अकलर उपपरि दुण्णा	१.४२	उद्दिट्ठा सरि अका दिज्जनु	१.४५
अकलर सरे कोट कर	१.४४	उम्मत्ता जोहा दुक्कता	२.६७
अकलरा जे छ्वा पावपाव		उम्मत्ता जोहा उट्टे	२.१७५
	टिआ २.४५	ए अत्थीरा देखु सरीरा	२.१४२
अजअ वेआसी अकलरठ	१.१२१	एक्के जे कुलमती	१.६३
अजअ विजउ बलिकण	१.१२२	एहु छद सुलक्खण आणइ	१.२०८
अनुह बुद्धाणं मज्जे	१.११	ओग्गरभत्ता रमअपत्ता	२.६३
अमिअकर किरण धर फुल्लु	२.१६१	कस सहारणा पक्खिसचारणा	२.४६
अरेरे वाइहि कान्ह	१.६	कथा मठ दुव्वरि तेज्जि	२.१३४
अवल्लोआण भणि सुच्छद मण	२.१६४	कण चलते कुम्म चलइ	१.९६
अहि ललइ महि चलइ गिरि	१.१६०	कण पथ दुक्क कुक्क सूर	२.१७३
अहिगण चारि पसिद्धा	२.१२५	कणा दिण्णा अते एकका	२.१५६
आइ अत दुहु छक्कलउ	१.१०६	कणा दुण्णा चामर सल्ला	२.१४१
आइक्ख उक्कच्छ किउ	१.८८	कण्णक पदम दिअ सरस	२.२१२
आइहि सगणा वेवि गण	२.२०६ क	कणा दुण्णा हार एक्को	२.१०६
आइहि जत्थ पाअगण		कण्णो पइज्ज पदमे जगणो	२.१५०
	पवलिअ २.२०२	कण्णो पदमो हत्थो नुअल्लो	२.६६
आइ रगण हत्थ काइल ताल	२.१८४	कत्थवि सजुत्तपरो	१.४
आइग इहु जत्थ हो पदमहि	१.१५२	कमलणअणि अमिअवअणि	२.५७
आइहि अते हारे सजुत्ते	२.३५	कमल पभण	२.२५
इद उविदा एकक करिज्जनु	२.११८	कमलममरजीवो	२.७३
इंदासण अर सरो	१.१६	कमलवअण तिणअण	२.१३८
इहिकारा विंदुजुआ	१.५	कर पच पसिद्ध विलद्धवर	२.१५४
ईसागेसप्पसादप्पणदिसु बहुसो	२.२०१	करपाणिकमलहत्थ	१.२४
उआसीण जइ मित्त कज्ज	१.३८	करही णदा मोहिणी चारुसेणि	१.१३६
उच्चउ छाअण विमल घरा	१-१७४	तह मइ	१.१३६
उद्दडा चडी दूरित्ताखंडी	२-३४	करा पसरत बहु गुणवत	२.५५

फरिष बहू गुण बुध	२ १६२	यत्र गुग्गर कुंवर तेजि	२ ११
अमावस्यारेण पाएव	२ ५०	चलंत कोह मत्त कोह	२ १५६
किती वासी माता छाता	२ १२१	चउ लहु कयवि वसर बहू	१ ७९
किती सिद्धी मापी रामा	१ ३१	चउमसा अङ्गणा	१ ७९
कुंभरा कलंतमा	२ ५६	चउमसा करह गणा	१ १२५
कुंतमर पाणुकर हभनर	१ १७३	चउनरमा कुंरा भनर फणिदा	१ ६७
कुंती पुठा बुध लहिमं	२ ८	अङ्गालित गुह कयके	१ १२
कुंतीपुता विष्णु विष्णु मंथा	२ १८	चउ अगल बानीस गुह	१ ११०
कुंतीपुता पंथा विष्णु	२ ११९	चल कमतायमणिमा	२ ८३
कुंद करमरा मेरुताळक	१ ६१	चलि बुध कोहलताय	२ ८७
लहाकण बहो मुधगापअओ	२ ३२	चामर काहल बुग ठवीमे	२ १ ४
लंक्कुमुमत्र मममवर	२ १५३	चारि हार किङ्करी विष्णु गंध	२ ५८
लूर बुदि बुदि	१ २ ४	चारी हाय अङ्गा कला	२ २७
गम गमहि बुद्धिकम तरणि	१ १६३	चारी कणा पाए दिहवा	२ १२२
गारह मत्त करीय अंत	१ १७७	चामर फटमहि पार गयो	२ १४८
गठरिअङ्गता अभिनउ संता	२ ४८	चामरल बीस मत्त तीखि	२ १५८
गम्मे मेहा बीजाकारठ सहे	२ १८१	चारि पाभ मत्त कयके	१ १ ८ क
गमउउ मेह कि अंकर वावर	२ १३६	चुलिआला बह देह किमु	१ १५७
गख चारि पंचरत्न	१ ६१	चेठ चहम पुहु चंचला	१ ७
गय निर सयम	१ १८३	छरफु आहिं संतवहु	१ १ १
गुबहुम कण्ठे गुह	१ १७	छरफु चरफु विष्णु कट	१ ८६
गुहबमत्त उ बहू गुम्मुतउ	२ ६१	छरफु सुह संजानि	१ १५४
गुह लहु बहि विष्णु किम	१ १८६	छरफु लंद छरफु सुमहु	१ १ ५
गुगा बल सुदा बहू कभ सुदा	२ ५३	छम्बीससर ममर हो	१ ८१
गोरी	२ २	छम्बीठा लयवसा तह	१ ५
पर लगाइ अग्नि अज्ञह	१ १६	अं अं आधोह गिरि	१ ७४
अंदा कुंदा ए कणा	२ ५६	अं गन्धे निम्न मेईपारा	२ ८६
अंदा कुंदा अगा हाय	१ ७७	अं फुल्ल अगलवन महर लहु	२ २११
अंरो अंदा हाये लय अ	१ ५३	अं चोअंअमपोललोअमउअं	२ १८६
अं अं अं पंथर किङ्करी	२ १२९	अंअं अमह हर वराह	२ ११५
अंअं गम कि पडम लह अण	२ ६२	अं ईदवता एवक गणा	२ १८२
अंअं अं कि एलो	२ ८६	अं ईदो वि अ गणी	१ ८

जत्ते सवहि होइ लहु	१.१२४	जुज्जती उदामे कालिका	२.४२
ज थ ज थ पाविज्जइ भाग	१ ४१	जुज्ज भड भूमि पल उट्टि	२ १६१
जय पदम कुअ मत्त	१.१८६	जुज्जे तुज्जे	२.४
जत्ता पदमहिं तीए	१.८४	जेइ किज्जिय धाला जिण्णु	१.१६८
जसु आइ हत्थ विआण तह	२.८६	जे गज्जि गोडाहि वइ राउ	१.१२६
जसु आइ हत्थ विआणिओ	२.६०	जेण जिण्णु खत्ति वस	२.७१
जसु कर फणित्रइ वल्लअ	१.१११	जेण विणा न जिविज्जइ	१.५५
जसु चइ सीस पिधगइ दीस	१.१७६	जे तीअ तिकखचलचक्खु	२.१५१
जसु पलइ सेक्ख	१.१७५	जेम ण सदइ कणअणुला	१.१०
जसु मिव घणोसा ससुर गिरीसा	१ २०६	जे लकागिरिमेइलाहि खलिया	२.१८७
जसु सीसहि गंगा गोरि अघगा	१.६८	जो जण जणमउ सो	२.१४६
जसु हत्थ करवाल	१ १८२	जो लोआण वट्टे विज्जुट्टे	२.१७४
जइ जइ वलआ वडिइइइ	१.११२	जो वदिअ सिर गग हणिअ	
जइ फुल्ल केअइ चारु चपअ	२ १६७	अणंग १ १०४	
जइ भूत वेताल णच्चत	२.१८३	जो विविहमत्तसाअर	१.१
जइ सरअ ससि विंव जइ	१.१०८	भणज्जणिअणोउर रणरणंत	२.१७७
जहि आइ हत्थ णरेंद विण वि	२ १६२	भत्ति जोइ सज्ज होइ	२.१५९
जहि आइ हत्थ णरेंद विण वि	२ १९६	भत्ति पत्तिपाअ	२.१११
जहि आइहि हत्था करअल तत्था	२.२०६	टट्टडाणइ मज्जे	१.१२
जहि फुल्ल केसु अजोअ चपअ	२ १६३	टगणो तेरहमेओ	१.१३
जा अदंगे पज्जई	१ ८२	ठइ आइ लहु जुअ पाअ	२.१४३
जाआ जा अदंग सीस	१ ११९	ठइवि टिअवरज्जुअल मज्ज	२.१६०
जाआ माआ पुत्तो धुत्तो	२ २८	ठउ चउरंसा फणिवइ भासा	२.४७
जा चारि तक्कार सभेअ	१.१३१	ठावहु आइहि सककगगा तह	२ २१०
जा पदम तीअ पचम	१ ६५	ठामा ठामा हत्थी जइ	२ ११३
जा भत्तिमत्ता धम्मैकचित्ता	२.३६	ढोल्ला मारिअ ढिल्लि मई	१ १४७
जासू कडा वीसा दीसा	२.१२३	णदउ भइउ सेस सरग	१.७५
जिग वेअ धरिज्जे मइअज		णच्चइ चचल विज्जुलिया	१.१८८
लिज्जे	२.२०७	णरेंद ठवेहु	२.२१
जिणि आसवरि देसा दिण्हउ	१ १२८	णरेंद एकका तअण्णा सुसज्जा	२.११६
जिणि कस विगासिअ कित्ति	१ २०७	णगण णगण कइ चउगण	१३७
जिवउ जइ एइ तजउ गइ देइ	२ ६३	णगण चामर गधजुआ	२.१३९

गव मंथरि लिखितं चूम्न	२ १४४	छोट्य छुं विरीम ठविमसु	२ ११५
न रे कंठ जायेहि	२ १४७	बह वसु चठबह विरह	१ ११७
नरेह कल्प सम्भसो सुपण	२ १४८	बहसत वण्य फणम पम	१ १५४
नडे धंके भाग करिणसु	१ ४३	बह सतसवर संठवहु	१ १६३
नडे सम्भकशा करिणसु	१ ४	वाणव देव ने वि दुक्कठ	१ ५५
नाम पमय विविह क्षण	१ १६६	विम्वर किम मयाहि सुपिअ	२ ५६
नाम्वरमा धि साध ए	१ ८८	विह बोहा गमा विम्विमा	२ ७६
विम्वमसुमसंविपी	२ ६९	विम्वर कण्यो समवा	२ ७८
विम्वमि परमह सुपिए	१ २९	विम्वर हार पञ्चविमा	२ ६८
नीस ससुमह एह करीये	२ १	विम्वर हार सह सुमला	२ १ २
नीस ससुम विम्वानु मचह	२ १७	विम्वर सुम सह सुमल	२ १ ८
नेवाकंदा उमो पंदा मक	२ २ ५	विम्वे सप्पार सुमला पपु	२ ११४
खेठररसुममरा	१, २१	विम्विए सुमवा आह एक	२ १७१
सप्पारसुमवि सुगो	२ ७२	विम्वरगण विर सुमस	१ ८६
सप्पार व दिद	२ १६	वीहा वीहा	२ ३
ससुम कमलसुम ठरित	२ १६७	वीह सह सुम वीह सह	२ १३
ससुम सपिह सवह वरवि		वीहो संठुपयो	१ ९
	पम २ १९३	सुरंत वरंत	२ २२
साव मंथर सुमुहवज्ज	२ ११	सुमिलाह पञ्चासक कण्य	
सावी ए कण्विए	२ ११		विम्वेह २ २०८
साव सुमि साव सुमि साव राज	२ १६३	सुह सुह बोहा विरि सिह	१ ४६
सा उक्कये संमो सुये धंको	१ ११३	सुह सुह सुम सुह	२ ३
सावकंवारसोठरकेठरको	१ ३१	सुह सुमगम कण सह	२ १४६
सिक्कह पठकसा पंथकसा	१ १८७८	सोहा सक्कया पवम पवि	१ १४६
सिप्पि सुमगम सिमल सह	१ ११८	सोहा संला संठवहु	१ १६८
सीस सुह मचह एरि सेंहुच	१ १९६	समं तर वीम मवीगुल सीम	२ ५४
सीससुमराहि सप्पि उमो	१ ५६	सम विम्व विर विराजव	१ १८
सुह जाहि सुमरि कण्यया	२ ६१	समा सु हाये पुणे सु	२ १४५
सुमाय समहाय	२ १२	समो नामरो कण्यो	२ १२४
सुम देव सुचित्तगहाहरवा	२ १५५	सिक्कदलाय सौमदलाय	१ १ १
सुह सहसा विपी	१ ६४	सुम विरि विम्वर	१ १५८
सुह मया फम पम	१ ७८	सुमवंतवि कण्य करीये	२ १ १

पदम दह दिजिआ पुण	१.१५६	पत्थारे जह तिणि चामरवर	२.१८८
पदमहि चक्कलु होइ गण	१.१५०	पहु दिजिअ वज्जअ सिजअ	
पअ पअ ठवहु जाणि	१.१४६	टोप्पर	२.२०६
पदमहि दोहा चारि पअ	१.१४८	परिहर माणिणि माण	१.६७
पदम तीअ पचम पअह मत्ता सोलह		पदम होइ चउवीस मत्त	१.६१
जासु	१.१४३	पदम गुरु हेठठाणे	१.१४
पदम तीअ पचम पअह मत्त पण्णारह		पदम वी हसपअ वीए	१.६२
जासु	१.१४२	पदम बारह मत्ता वीए	१.५५
पदम तीअ पचम पअह मत्ता दह		पदम दह बीसामो	१.१००
पचाइ	१.१४१	पदम एरिसि विप्पो	१.१७
पदम तीअ पचम पअह मत्त पण्णारह		पचतालीसह वत्थुआ	१.११५
जासु	१.१४०	पअह असुद्धउ पगु हीण	१.११६
पदम तीअ पचम पअह शव दह मत्ता		पअमरु दरमरु धरणि	१.६२
जासु	१.१३६	पअपाअचरणजुअल	१.२६
पदम तीअ पचम पअह तेरह मत्ता		पअ पअ तलठ णिवद्ध मत्त	१.१०७
जासु	१.१३७	पाअर शेउर अभाणक्कह	२.१८५
पदम तीअ पचम पअह मत्त होइ दह		पकिळविराडमइदह	१.२६
चारि	१.१३८	पिअ भणमि मणोहर	१.२०५
पदम विरमइ मत्त दह पच,	१.१३३	पिंग जटावलि ठाविअ गगा	२.१०५
पदम चरण ससिवअणि	१.१६४	पिंगल कह दिट्ठउ छुद उकिठउ	१.६६
पदम होइ शव विप्प गण	१.१६५	पिंगल दिट्ठो भ इइ सिट्ठो	२.३७
पअ पअ आइहि गुरुआ	१.१८७	पिधठ दिठ सण्णाह वाह उप्पर	१.१०६
पदम दह रहण अठ वि रहण	१.१६४	पिअ तिल्ल धुअ सगणेण जुअ	२.४३
पअ पदम पलइ जहि सुणहि	१.२०२	पियभत्ति पिआ गुणवत्त सुआ	२.४४
पअओहरो गुरुत्तरो	२.३१	पुत्त पवित्त बहुत्तघणा	२.६३
पवण वह सगिर दह	२.४०	पुहवीजलसिहिकालो	१.३४
पदम गण विप्पओ	२.७४	पुव्वद्वे उत्तद्वे सत्तगल	१.५२
परिणअससहरवअण	२.१०६	पुव्वद्वे उत्तद्वे मत्ता	१.६८
पअओहर चारि पसिद्ध	२.१३३	पुव्वद्व तीस मत्ता	१.७०
पदम रससहित्त मालिणी गाम	२.१६४	पुव्व जुअल सरि अका	१.३९
पदम टिअ विप्पआ तहअ भूवईर	१.७८	पुच्छल छुद कला कई	१.४६
पअओहर मुह टिअ तहअ	२.१७६	फुल्ला खीवा भम भमरा	२.८१

पुष्टिपद्य मद्रु ममर यद्रु	१ १६३	माइ रूप देसो	१ १
पुष्टिपद्य केमु मप राह पद्यलिम	१ १ ३	मात्रिणि मायाहिं बाहे	१ १
यस्तेन होइ गद्या	१ १ ३	मिध मिध दे रिद्धि मुद्धि	१ १०
यद्रुभिदिहपदरयोहिं	१ १	मुन्वहि मुन्वरि पाभ	१ ०१
बारह लद्रुमा विन्नी	१ ८१	मुन्वमाला गजा कठिमा	१ ०३
बारदा मद्या म कण्या	१ ४१	मेव मद्यम ममर सिद्धि	१ १११
यलो कुगाये ॥ द्रुमुन्पायो	१ १९०	मो विगुरु मो विगुरु	१ ११
विद्रु द्रु नर पल विगगया	१ १९९	मो लो लो सत्ती सत्त	१ १८६
वीर द्रुद्रु मारि कद्रु	१ १६२	रंदा रंदा विगगया वमरगु	१ १ ७
ये कल्या गंधारा कल्या	१ १	रमाइ कलि विव एमो	१ ८६
मन्त्रिभ मन्त्रिभ चोसपह	१ १९१	रगया पलतम पुणे नरेइ	१ १६८
मन्त्रिमा मालमा गन्त्रिमा	१ १९८	रगयस्त वस्तहगु विग	
मन्त्र मन्त्रिभ रंगा मंगु		कुसुमचरु	१ १ १
कस्तिगा १ १४५		रमय गमय	१ १६
मगठ सुबासठ लद्रु सुविठेठ	१ ६	रमा बहा लुद्र पंशोम लो मुद्र	१ ५१
मन्त्रिभ सुपिद्यमय हर	१ १६६	रमाइ मगोता विग लगोता	१ १८०
मल्ल पठमावली ठाने ठाने	१ १४४	रमा लुद्र लमाय लता	१ १६६
ममइ मद्रुभर कुल मारविह	१ १३५	रे गोड लकड्यु रे हसि	१ १६२
ममर ममर हरद्रु लेशम	१ ८	रे कलि मलमद्यगमगमिनि	१ १९९
मगणी हर्षी	१ १६	शयो लो	१ ७
मावा रत्ताडवर्ष	१ १	लकड्यु रिद्धि मुद्धि लकड्यु	१ ६
मुद्रमद्यमरे तिद्रुमद्यमरे	१ ४६	लद्रु लुद्र निरंवर पमापिमा	१ १८
मुद्रमद्यमद्यमद्यमद्यम	१ १६	लद्रु लुद्र एव विगमय पाहि	
मो कलि लो लो	१ १६	कदा	१ १२६
मोहा कलिता ठप्पा विगगया	१ १७	लद्रु लुद्र	१ ५
मन्त्र न तंत बाद्रु किति पायो	१ ११५	लोहगिनि लुद्र लुद्र	१ १
मगय मगय लुद्र मिगय हो	१ ३५	लोहगिनि हरीम	१ ८६
मगय रिद्धि विगगय	१ ३६	कदा कलिमय मापय	१ १६
मद्य मद्यमद्य पठमे	१ १६७	कदा मलमद्यमद्य इव कर्ष	१ १६५
मद्य कदाइ कदा	१ १७६	कदा मलमद्यमद्य विगगया	१ १७६
मद्या मोहा कदा मोहा	१ १५७	विगगया पठम कदा	१ १६
मद्यमद्य मद्यमद्य पद्य	१ १२६	कदा कलि मुद्धि मारि	१ २६

वप्पह उक्कि सिरे जिणि लिज्जिअ २.२११	ससी यो जणीयो २.१५
वरिसइ कणअह विट्ठि १.७२	सहस मअमत्त गअ १.१५७
वरिस जल भमइ घण १.१६६	सरु एह १.९
विज्जमाला आई पाए तिअ २.२०४	सिअविट्ठो किजइ बीआ २.१६५
विज्जमाला मत्ता सोला २.६६	
विप्प सगण पअर वे वि १.१८४	सिर अके तसु सिर पर अके १.४७
विप्प होइ वत्तोस खत्ति १.११७	सिर किज्जिअ गग गोरि अअधग १.१९५
विमुख चलिअ रण अचलु १.८७	सिर देह चउ मत्त, १.१६१
विस्म तिकल सठवहु तिणिण २	सी (थ्री) सो २.१
पाइक्क करहु लह १.१३४	सुरम्म चित्ता गुणमत्त पुत्ता २.११७
सकरो सकरो २.१४	सुपिअगण सरस गुण २.३६
सभणिअ चरण गण पलिअ २.१५२	सुदरि गुज्जरि णारि १.१७८
समु एउ २.१०	सुणरिंद अहि अ कुनर १.२८
समोहारुअ दिट्ठो सो भूअ २.३३	सुरअरु सुरही परसमणि १.७६
सई उमा २.८	सुअलअ गुरुजुअल १.२३
सगया धुअ चारि पलति २.१२६	सुरवइ पटव्व ताला १.१९
सगणा भगणा दिअगणइ १.१७२	सेर एक जइ पावउँ चित्ता १.१३०
सगणो रमणो २.१७	सोऊण जस्स णाम १.६६
स जअइ जणहणा २.७५	सो वत्तइ कुलसारु किति १.१०२
सज्जिअ जोह विवद्धिअ कोह २.१७१	
सत्तगणा दीइता १.५६	सो देउ सुक्खाइ २.२०
सत्ताईसा हारा सल्ला १.५८	सोलह मत्तइ वे वि पमाणहु, १.१३६
सत्ता दीहा जाणेही कण्णा २.६४	सोलह मत्ता पाउ अलिल्लइ १.१२७
सरसगणरमणिआ दिअवर २.८२	सो मह कत्ता दूर दिगता २.३८
सरअसुधाअरवअण्णा २.६६	सो माणिअ पुणवत्त १.१७१
सरस्सई पसण हो २.३२	सो सोरहउ जाण १.१७०
सव पअहि पदम भण दहअ २.२१४	सो हर तोहर २.२४
सव्वाए गाहाए सत्तावण्णाइ १.५७	हणु उज्जर गुज्जर राअअल १.१८५
सरसइ लइअ पठाउ १.१५३	हर ससि सूरु सक्को १.१५
ससिणा रअणी २.१८	हर हर २.६
ससिअणि गअगमणि १.१६१	हरिणसरिस्सा णअगा २.७६

हार गंजबपुरेव दिह
 हार गंधा तहा कय्या
 हार ठपीने काहला कुण्णे

१ ७	हार सुपिअ मय विप्यगस	१ १०
२ १२७	हार नद तिदिवा सर इदिवा	२ ११
२ २९	हे पिण् सैविसण	१ १२

अभिधान (शब्दकोष)

अभिधान

अ

अंक (अक्रा) १ ३६, १.४५, १.४६,
१ ४९ (अनेकशः) 'अक'
अंग १ १२३ अग, शरीर
अगुली २ २१० अँगुली
अत १ १७, १ ८५, १ ६९, अतए
१ १६४, अतिणा २ ७४. अतहि
२.१०० (अनेकशः) आखीर
या आखीर में
अतर १ ६७, १ १९७ मध्य में
अध १.११५ अन्धा
अधम (अधक) १.१०१ दैत्य का
नाम
अधार (अधकार) १ १४७ अँधेरा.
अधकार २ १७३ अँधेरा
*अंधो (अन्धः) १.११४ वस्तु छंद
का भेद
अंबर १ १८८, २ १३६ आकाश
असू (अश्रु) १ ६६ हि० राज० 'आँसू'
अ (च) १ २, १ ३, १ ७, (अनेकशः)
और
अहचल (अतिचलानि) २ १०३
अत्यंत चंचल
अकटअ (अकटक) २ २११ निष्कटक,
निर्विघ्न
अक्षर (अक्षर) वज्र, अव०, रा०
'आखर' १ १२, १ ४२, १ १७३
१.१८६, (अनेकशः)

अगम १.१८६ अगम्य.

अगुरु २.१७७ सुगंधित द्रव्य
अग (अग्र) १.१३३, २ ११३,
२.१३२, २.१६४ अगला.
अगल (अग्रल) १.५१, १.११०,
२.१३३ अगला, अधिक
अगरा २.१६६ अगले
अगी (अग्नि) १.५५, २ १६५,
आग, आगि
अगव (अर्घ्य) २.२०१
अचल (अचलः) १.८७ पहाड़ी राजा
अच्छ २.१३४ स्वच्छ
*अजअ (अजय) १ १२१ छुप्य का
भेद
✓अज (✓अर्ज) अर्जित करना
अजिअ २ १०१
अज (अय) २ ८७ अजु २.१३० आज
अठ (अष्ट) (अठगल १.१७६ आठ
अधिक) 'आठ'
अठतालिस (अष्टचत्वारिंशत्) १.११७
अठतालीस (रा० अठतालीस)
अठ (अष्ट अष्टौ) १ १३, १ ३४,
२ २१० तथा अनेकशः, हि० रा०
गु० 'आठ'
अठारह (अष्टादश) १ ५४, १ ६४,
२ ८८. अठारह.
*अडिल्ला १.११७ अडिल्ला छंद
अणग (अनग) १ १०४, २ १६५,
२.२१५, कामदेव

आर्जह १ ४६ आर्जह	१ ७१ अधिमा १ १११ अधिमा
अथक (अनल) १ १८, १ १९ अग्नि	१ १२८
अथहा (अन्यथा) १ १ ५	अथार (अथार) १ १ २ अथविष
अथु + √ नी (अथु + √ नी) कृपा	√ अथकाक (अथ + √ एकाक) 'हिला
करना अथुणिषह (कर्म वर्त	देना', अथकाकठ (आकाकथमि)
म ए) १ ५५	वर्त उत्तम ए १ १ ९
अथु + √ सर (अथु + √ सर)	अथुह (अथुह) १ ११ मूल
अथुसर करना पीडा करना	अथव १ १११ निर्मव
अथुसर १ १ ५	अथिवह २ ४८ अथिनय
अथेय (अनेक) १ १९, २ ९ ८	अथिवह २ ११८ ईष्टि,
अथक (अन्यः) १ ९ १ ११, २ ९ ८	* अथव १ १२३ अथव छंद अथ मेद
तथा अनेकथा	अथिव १ १७, १ २ ६, २ १८
अथबोधन १ ५१ २ १११ अन्योन्य	२ १९१ अमृत
अथुह १ १११ अथुपम	अथिव १ ११५ कमल
अथ (अर्थ) १ ११५ अर्थ	अथि १ १५ अथु
अथीर (अथीर) २ १४९ अथव	अथिह १ २ ७ अथिष्ट नामक दैव
अथव २ १११ अथार्थ उपपाति अथ	अथ (अथर) १ १६ १ १७ १ ७६
अथ मेद	१ १४२, दि ओर अथ (अथ
अथग (अथग) १ १८, २ ११५,	प्रयोग) अथ अथ अथ अथ
'अथग'	(अथेय १५)
अथव १ ८२ अथग	अथे (अथेयने) १ ९
अथ (अर्थ) अथवअथेय (अथार्थेन)	अथ + अथ (अथ + √ अथ (अथ -)
१ १ दि अथवा अथ रा	अथना' अथवअथ (अथवीर्य)
'अथी (उ अथी)	१ ११३
अथ (अथ) 'अथव' १ ११५ 'अथ'	अथवअथ (अथवअथ) १ १ 'अथ
अथ (अथम) १ १४ १ ५३	नी गद्यवदी'
१ १६६ (अनेकथा) अथमा	अथवअथ (अथीमा) १ ११३
१ ११ अथवअथी १ १५७	अथर (अथर) १ १३ १ ४३, १ ११४
१ १६५ अथने अथ	अथरा
√ अथ (√ अथ) देन अथार्थ	अथराह (अथराह) १ ५५
(अथ) (अथग म ए)	अथव (अथर) १ ४६ ओर
	अथव १ १८ 'अथि अथ

अवसुत २ १०३ अवश्य
 अवसुट (अव-√शिप्) 'वचा हुआ'
 अवसिटुट (अव-गिष्ट) १ ३५,
 अवसिट्टे १ ४६
 असह (असती) १ ८३ कुलटा
 असरणा (अशरण) १ ६६ निराश्रित
 अति (अशीति) १ ६७ 'अस्ती'
 असी (अशीति) २ १४५ अस्ती
 अय (अय्य) १.२५ घोड़ा
 असुर १ १०१, २.७५, २.२१५ दैत्य
 असुद्ध (अशुद्धः) १.११६ अशुद्ध,
 दुष्ट
 अवेस (अशेष) १.५, १.३२ 'अशेष,'
 असोम (अशोक) २.१६३ 'वृक्षनाम'
 अस्मत् 'मैं, हम'
 मद् १ १०६ हउ २ १२६
 अम्मह २ १३६, हम २ १९३,
 मे २ ४६, मम २ ७, हमारी
 २ १२० हम्मारो २ ४२ अम्हाण
 २ १२
 अह (अय) १.२२, १.५७ (अनेकशः)
 इसके बाद
 अहणिम (अहर्निश) २.१२० रात
 दिन
 * अहि (अहि) १ १५ 'षट्कल' गण
 का नाम'
 * अहिगण १ १६ पचकल गण के एक
 भेद का नाम (3111)
 अहिम (अहित) १ २८ आदिलघु पच-
 कल (155)
 अहिवर-लुकिअ (अहिवरलुलित) १
 ६२ 'सौंप की लीला या गति'

* अहिवर (अहिवरः) १.८० 'दोहा
 छंद का भेद'
 अही (अहिः) २.१०२ 'सौंप, पिंगल
 की उपाधि
 * अहीर (आभीर) १ १७७ आभीर,
 छंद का नाम
 * अहो (अह, अहन्) १ ११४ 'काव्य
 छंद का भेद
 अहो २ १२६ आश्चर्यव्यक्त अन्यथ
 आ

✓ आ आना
 आह १.४१. आ २.८६, आत्र
 २.८७, आवे २ ३८, २.८१,
 आठ २.१६८, २.२०३. आविअ
 २ ६१, २ १६३,
 आआ (आया) १.५८ प्रथम, आय
 (स्त्री०)
 आगति (आयति) १.३७
 आह (आदि) १.१७, १ ८८ (आइहि
 १.४६, १.१०७, १८७, २ ३५).
 (आइग १.१५२) आदि
 आ + √ वृज् (आ + √ वृज्) इकट्ठा
 करना, आवज्जिअ १.१२८
 आ + √ अछ् (आ + √ अच्च्) १
 होना, आछे २ १४४.
 * आणंद (आनद.) १ १६ अतलघु
 त्रिकुट का नाम (31)
 आणद (आनद) २ १४७
 आणदिअ (आनदित) २ २१३
 आ + √ णी (आ + √ नी) 'लाना'
 आणेइ १ ७४. आणहु १.४८,

१ १६. आणिकसु १ ४७ आणिका

२ १६ आणु १ १४७, अण्वीदा

२ १८८

*आमाप १ २१ प्रथम शिकल गण

(५) का नाम

आमूक २ २ १

आमाप (आमाप) २ १६५ शम्भु

✓आम आना

आम २ ८७ आरेह १ १६६

आपे २ १८ २ ८८१, अविह २

६१ आविह २ १६६

आसा (म्यासा) सभासा (सर्वासा)

१ ११६, २ २ ५, दिशा सम

दिशावे

आसावरि १ ११८ देव का नाम

इ

*इह २ ११८ इहकमा नामक लुट

*इहकमा २ ११४ इहकमा लुट

१६ १ ७१ इह

*इहासम (इहासनं) १ १६ पञ्चम

गण का नाम (१५५)

*इहु १ ६९ रोसा लुट का मेह

इहु १ १२४ १ १६९ अग्रमा वद

कल गण का नाम

इ २ ६१ नह

इक (इद) १ ९ १ ६६ १ १४४

'नह'

इकरा (इतरा) १ ८६ आम्ब

इकापिस १ १६६ इकासील

इकलि (इकला) १ १६९ अरेली

इम्यारह (पलादरा) १ ६९

✓इक (✓इकम्) पाहना

इकह २ १६२

इकवेवो (इकदेव) १ १४

इक्वि २ १६ नह

इक्वे २ २८ ये

इलि (अल) १ ६, १ १ ५ 'नह'

इम २ ७४ नह ऐहा ऐहे

इह (एतल) १ ८९ 'नह'

इहवह (एकान्त, < *इमह) १ ८९

ग्यारह

इहिकमा (इहिकमा) १ ५

ई

ईसा (ईर्था) २ २ १

उ

*उहुर (उहुर) १ ८ 'रोहा लुट

का मेह

उकमार २ १४६ उपकार

उक (उर + गम्) उगना

उकह २ १७

उकासीन (उकासीन) १ १५

उकासे (उपाठ) १ १७

*उकास (उककम्मा उकम्मा) १ ८८

उतिक लुट का लुट नाम

उ + कहु (कट) (उर + ✓कम्)

निकलना, कालना; उकिरुट

१ १६, २ १९ १ १८८, उकिरु

२ १५, उकिरुमा १ १४४

उकि (उकि) २ १११ 'नहन

उकिरु (उकिरु) १ १६८ उकाहुमा

आसा हुमा

√ उग (उत् + √ गम्) उगना
उगो २ २०५ उगो २ ५५

* उगाह (उद्गाथा) उगाह १.५७
उगाहो (उद्गाथा) १.६८, मात्रिक-
छन्द

उच्च उच्चा २ ६७ उच्च १ १७४
ऊँचा, बड़ा

उच्चिन्न (उचित) २.१२६ योग्य

उच्छन्न (उत् + √ छल्) उच्छन्न १.१६३. उच्छलना

उच्छन्न (उत्सव) १ ११९ उत्सव

उज्ज १.१८५ उज्ज्वल

उज्जल १ १८५ उज्ज्वल

उद्धृण १ ११६ छदों की उद्धर्तनी

उद्ध (उत् + √ स्था) 'उठना', उद्ध १ १६०, उद्धत १.१५५, उद्धि २ २१३, उद्धी २ १५७,

उद्धी २.१८८ उद्धि २.१६१

√ उद्ध 'उठना', उद्ध ३ (वर्त० उत्तम० ए०) १ १०६ उद्धाविध (गिजत रूप) १ ११८.

उण (पुन) १ ७ तु० पुण, पुण्य, पुणि (प्रा० अप०) राज० गु०, म० 'पण'

उणो (पुन) २ १५, १ १२७ (अने कथ.) फिर

उत्त (उक्त) (√ वच् + भूत० कर्म० कृदन्त) 'कहा गया', उत्ते १६१ उत्ता २ १५०

उत्तद (उत्तरार्ध) १ ५२,

उत्तम १ १५६, २ २१५ उत्तम, अच्छा

उत्तरद १ ७३ उत्तरार्ध

* उत्तेजो (उत्तेजाः) १.११३ काव्य छन्द का भेद

उद्ध १.१२६ उद्धा (स्त्री०) २ ३४ प्रबल

* उद्धमो (उद्धमः) १.११४ 'काव्य छन्द का भेद'

उद्धम २.४२

उद्धिठ (उद्धिष्ट) १ ३६, १ ४१, १.४४, १४७

उपमा २.१५३

उपर (उपरि) १ १०६ 'ऊपर'

उपरि १.४२ 'ऊपर'

उपाय (उपाय) २.१२० साधन

उ + पेक्ख (उत् + प्र + √ ईक्ष्) 'उपेक्षा करना', उपेक्ख २ ५७.

उमा २ ८ पार्वती

उमत्त (उन्मत्त) २.६७ मत्त

उरश्च २ १६० सौम, मुनि पिगल की उपाधि

उ + लस् (उत् + √ लस्) 'प्रसन्न होना', उलसु (उलसित) २.२१३

* उल्लाल १.१०५ १ १३६ उल्लाला छन्द

* उवजाह २.११८ १ ११ उपजातिछन्द उवरि (उपरि) १.८७ 'ऊपर'

उवरल (उपरि + ल, उद्धृ + ल) १ ३६ ऊपर के, उद्धृत्त

* उविदवज्जा १.११६ उपेद्रवज्जा छन्द उविदा २.११८ उपेद्रवज्जा छन्द

उव्वरिश्च (उद्धृत्त) उव्वरिश्च १.१४

उ + व्वास (उद्धृ + √ वस + गिजत)

उभ्यासह १ १४४ देश निजाला
देना, उद्भासित करना

✓ उद्भास (उद् + ✓ लाप्) उद्भासत
(कर्तृ कृत्) १ ७ हि
हुलसना, रा हुलसणो-बो

ए

ए २ ११, २ १५ २.८८ 'यह'

ए २ २५ यह

ए २ २५ (एकादश) १ ८९ 'म्यारह'

ए २ २५ (एकदशति) ए २ २५ 'सहि'

(एकदशतिमि) करण व व

हि इककीस, राव इककीस,

अककीस

ए २ २५ (एकादश) १ ७८, १ १७९

(अनेकथा) म्यारह

ए २ २५ 'यह'

ए २ २५ (एकदशतिमि) २ १८९

उन्नीस

ए २ २५ (एक) १ १, १ ८, एक (कृत्)

१ ८५, एक १ १७ एककठ

२ ११९ एकके १ ११ एककेव

१ ४२ (अनेकथा) एक

ए २ २४०

ए २ २४० (एकदशतिमि) १ ८८ इककीस

ए २ २४० १ २ ८

ए २ २४० (एकदशतिमि) १ ११ हि

'म्यारह' रा 'म्यारह' गु अग्यार'

ए २ २४० (अव) २ ११, २ १ १ एतिव

२ १४४ यहाँ

ए २ २४०, १ १ ४, इव, ऐव

ए २ २४० (ऐवपति) १ २८ अग्यार

पंचकल (LSS)

ए २ २४० (एतादृश) १ ११९, एतिव

१ १४४ एतिविस १ १५४, एति

सही २ १७ ऐव

ए २ २४० इव तरह

ए २ २४० (एपा) २ ८४ एता (की)

२ १४४ 'यह'

ए २ २४० (एतादृश) १ ११ १ ७८ हि 'यह',

अव 'यह' गु ए २ २४० (सदिय ११),

ए २ २४० (सदिय २ ४),

ए २ २४० (एकदशतिमि) १ ११७ १ ११,

१ ११९, इककीस (रा इककीस)

ए २ २४० इव

ए २ २४०, १ ४१ १ १७ (अने

कथा) यह

ओ

ओ (एतादृश) १ ७८ 'यह'

ओ २ २४० एक म्यार का बाकल

ओ २ २४० (ओठ) २ ११८ ओठ

ओ २ २४० ओठ १ १४५ ठठ ठठ

ओ २ २४० ओठ १ ११८ ओठ १ ११८

२ ११८, ओठ ११८ ओठ ११८

ओ २ २४० मुठठठठठ ठठठठ

ओ २ २४० मुठठठठठ ठठठठ

ओ २ २४० मुठठठठठ ठठठठ

क

क २ २४० २ २ २ २ २

२ २ २ हाव का अग्यार, गु २

वर्ग (-)

क २ २४० (वाकल) २ २ २. गु २

कठ १६८ २१२३, २.१२४,
२१२६, गला

कत (वातः) १६ 'हि० रा० गु०
कत, कत (सदेश० ७६). कता
१६८ 'पति'

*कति (वाति) १६० गाथा का भेद

कद १.९८, २१४७, मूल

कंदु (कंद छुट) २१४५

✓कप (✓कप्) कप २१५६,
२२०३, कपह ११४७, कपए
२५६ कपा १.४५. कपत २.
१६५ कपता २८९, कपिआ १.
१५५, कपिआ २.१११ कपले
१११६,

*कवि (कविनी, कपी) १८६ रसिका
छुट का भेद

कंस २७१ २१४७ (अनेकशः)
'गजा का नाम'

कआ (काय) २.६४, २.१३४, शरीर

कइ (कवि.) १.२० कइ (—ग्रो)

१२० (कविवर.) कइ (—

दिट्ठ) ११२२ कइवर २.१०२.

कइअण २.१५३, कइसा (कवीश)

२१४५ (अनेकशः)

कइत्त (कवित्त) ११५२ ११८४,
२३२ कविता, पत्र

कई (कति) १६६ 'कितना कितनी'

कए (कृते) परसर्ग १७ 'लिये'

*कच्छ (कच्छपः) १८० 'दोहा छुट
का भेद'

कज्ज (कार्य) १३६, १३७, हि०
रा० 'काज'

कज्जबंध (कार्य-बंध) १.३७

कट दिंग दुकट १.२०१ ध्वन्यनुकरण

✓कट (✓कर्त्) काटना

कटिअ १.१३४

✓कट्ठ (✓कर्प्) काटना, निकालना

कटिठएउ २७१ कटिठ १.२०५

कट्ठ (कट) १६२, १.१४५ कट,
दुःख

कठिण (कठिन) १.७६. कठोर

कटवल (कटावल) १४, २.१२६,
'कटावल'

कणअ (कनक) ११०, १७२,

११६६, २.१५३ हि० 'कनक',

'खोना'

*कणअ (कनक) १२१. प्रथम द्विकल
गण (ऽ) का नाम

*कणउ (कनक) १.१३३ छापय छुट
का भेद

*कण्ण (कर्ण) ११७. द्विगुरु चतुष्कल

गण का नाम (ऽऽ) २८८

(अनेकशः)

कण्ण (कर्ण) १६६ राजा का नाम

कण्णला २.१२८ कर्णाट देश के लोग

कण्हो (कृष्णः) २.४६

कथ (कुत्र) १.४. 'कहीं-कहाँ'

कथवि (कुत्रापि) १७६ 'कहीं भी'

✓कप्प (✓कल्प्) 'कल्पित करना,

काटना' कप्पे २२०७, कप्पे

२.२०७, कप्पिआ २.१६१,

कप्पि १७१

कवध २१८३, २.२११ कवध, कवध
नामक दैत्य

कमर १ ११ 'कलुष'
 कमर २ २१, २ १६७ 'कीन'
 कमर १ ८२ कमल
 *कमर १ १५ 'पद्मक गण का नाम'
 *कमलाग्र १ १२३ कृष्ण खंड का
 मेर
 *कमल (कमल) १ १२ 'रोमा खंड
 का मेर
 कम (कर्म) २ ११६ 'काम'
 *कराग्र (कराग्र) १ १७ अंतगुह
 चतुष्पत्ति (II)
 कर १ ७४ २ ५५, २ ११ हाथ, किरण
 काग्र (कराग्र) २ १५२
 *कराग्र १ ६३ 'रोमा खंड का मेर'
 करग्र १ १४४ गुर्वंत चतुष्पत्ति, लग्न
 (S)
 *कराग्र १ १२३ कृष्ण खंड का मेर
 करताग्र (करताग्र) १ १६ अंतगुह
 भिन्न का नाम (S)
 करवाग्र १ १ १, १ १८२ तलवार
 ✓ कर (✓ क) दि 'करना, रा
 'करवो-वो' ॥ करवुं
 करि १ २५ कर १ ४३ करे
 १ २७ करिग्रह १ ४३ करिह
 १ १२५, करहु १ १३४, करहु
 १ २३ करिह (किहो) १ ३
 करिग्रह १ २३ किहो १ २८
 करिग्रह १ १७७ करिग्रह १ २ २ किहो
 १ १७ किहो १ ५८, किहो
 १ १६५, किहो १ १६२ कारि
 १ ४ किह १ १४४, किह १
 ८ किह १ १२९, करिग्रह १ १२९,
 करि १ २४

*कराग्र (कराग्र खंड) १ ६२
 *कराही १ १३५ गुहाग्र का मेर
 *कराग्र (कराग्र) १ ८८ 'रोमा खंड
 का मेर
 करवग्र (करवग्र) १ १८८ कर
 के कृत
 कर (कर) १ १६ करग्र १ १६
 माया'
 करचुकि १ १८३ करचुरि वंश का
 रागा
 करच (करच) १ ११७ 'क्री
 *करचरणी (काचरणी) १ ८८
 रतिग्र खंड का मेर
 *कराग्र (कराग्र) १ ७५ 'कराग्र
 का मेर'
 करवागिनि (करवागिनि) १ ११६
 कर १ १९ 'माया'
 करवाग्र १ १५५ करमा
 करिगा १ १४५ 'करिग्रह'
 *करि १ १५ 'पद्मक गण का नाम
 (S)
 करिग्रह १ १ १ 'रागि'
 करग्र १ २ २ 'कर'
 करग्र (करग्र) १ ११, १ १ ८ (कर
 करा), करिग्र
 करग्र (करग्र) १ ११ अंतगुह
 करिग्र (करिग्र) १ १२ करिग्र, प
 करिग्र (करिग्र) १ १७ ग्रा
 कर (कर) करग्र १ १६ 'क्री
 ✓ कर (✓ क) दि 'करना, रा
 'करवो-वो, रा' करवुं;

कह १.१५९, २.१६६ कहइ
(वर्त० प्र० ए०) १.२०, १.४१,
कहेहि १.१७३, कहा (आजा)
१.१११, कहु २.१३७, कहू
२.६४, कहेहु १.१६७, कहीजे
२.६१, कहिजइ १.१४६, कहिअ
२.८१, कहिओ (भूत० कर्म०
हुदत) १.१६, २.१७, कहिअउ
१.११६, कहिया २.८१, कही
२.७, २.४२, २.१२९,
कहुँ १.१८६ कहाँ
का २.१२० सबबबोधक परसर्ग
काबर (कातर) १.१५७, दीन,
१.१६३ कायर
काआ १.१८१
काइ (किं = कानि) १.६, १.१३२,
काई (सदेश १.२४), रा० 'काई'
गु० 'काँ काँइ'
काती १.६० गाथा छंद का भेद
काण्य (कानन) १.१३५ 'वन, उपवन'
काणा (काण) १.११६ काना (रा०
काणू)
कान्ह (कृष्ण) १.६, हि० कान्ह, रा०
कान्हू (उ० कानूँ)
✓ काम (स० कामय्) कामती (वर्त०
कर्तृ० कु० स्त्री०) (कामयती) १.३
कांम २.३ छन्द का नाम
काम (काम) १.६७, २.१२२ 'कामदेव'
कामराज (कामराज) २.१२६
कामरूप (कामरूप) २.१११
कांमावतार (कामावतार नामक छन्द)
२.५०

✓ काम (✓ काम्) 'इच्छा करना'
कामंत १.३
कामिणी (कामिनी) २.१५८ स्त्री
कालजर १.१२८ वालिजर, देश का
नाम.
कालपुरी २.१०३
काला २.२७ कला, मात्रा
कालिभ्र १.२०७ 'कालिय नाग'
कालिका २.४२ कालिका
कांली १.१९ रसिका छंद का भेद
कालो (कालः) १.३४.
कास (काशः) १.७७, २.६४,
२.२०४ 'काशपुष्प'
कासीस (काशीश) १.७७, २.१३१
कासीसर (काशीश्वर) १.१४५
काल १.३१, १.३२, २.६२, २.२०६
लघु (।)
काहे २.४२ क्यों, किस लिये
किं (किं) १.६ की २.१३२ के २
१.१७ केण २.१०१, कस्स २.
१०७
किंपि (किमपि) १.१०५ २.११५
कुछ भी
किञ्चु (कश्चित्) १.३८ हि० 'कुछ'
✓ किणीस तीक्ष्ण करना
किणीसइ १.१८८
किति (कीर्ति) १.२०१, १.२०७
२.११६, १.१३५, २.१७३
(अनेकश) यश
किम १.१३५ केवे
किर (किल) १.६७ 'निश्चयार्थक'

किरल १ १६

किञ्च २ १२० निरुपपायक कश्चय

किञ्चल (कृत्वा) २ १६६ लङ्

*किञ्चल १ १२३ लृपय लृङ् का मेर

किञ्ची (कीर्तिः) १ ५३, १ ७७ २ ६७
२ १४९ (क्नेक्याः) 'कीर्ति, यश'

*किञ्चाचक (क्नेडाचक) २ १८२ लृङ्
का नाम

✓कीञ्च (✓कीञ्च) लेखना

कीलसि कर्त्त० म० य) १ ७,

कीलड २ १३६, कीलता २ १८१

कुञ्ज १ १५१, २ ५६, २ १२८, २
१३, हाथी

*कुञ्ज १ १२२ लृपय लृङ् का मेर

*कुञ्ज १ २१ प्रथम द्विकल गल (ऽ)
का नाम

*कुञ्जहिमा १ १४६ 'कुञ्ज' का नाम

कुञ्ज २ १७१ गाला

*कुञ्जमल १ १७६ लृपय लृङ् का मेर
नाम

*कुञ्जपुत्र २ ८ २ ११२, २ १८

शिरुव लृपय लृङ् का मेर

कुञ्ज (कुञ्ज) १ ७७ २ ६५ कुञ्ज पुत्र

*कुञ्ज १ १३३ रोसा लृङ् का मेर,
१ १२२ लृपय लृङ् का मेर

*कुञ्ज १ ७५ 'रुञ्ज' का मेर

कुञ्ज १ ६ 'कुञ्ज' का नाम

कुञ्जिनि (कुञ्जिनी) १ ६५ फली

✓कुञ्ज (तं ✓कु-पञ्चम यथा) करना
कुञ्ज (कर्त्त० म० य) (क्नेक्याः)

१ १ ११४ कुञ्जि २ १२७

कुञ्जि (क्नेक्या म० य) (क्नेक्याः)

*कुञ्जि, १ ६३ कुञ्ज (क्नेक्या
म० य) (क्नेक्याः) १ २, १ ५६-

कुञ्ज (क्नेक्या म० य) १ ६४-

कुञ्ज १ १४८

✓कुञ्ज (कुञ्ज) नायक होना
कुञ्जि २ ११

कुञ्ज २ ११ स्वामिकर्त्तिम

कुञ्ज (कुञ्ज) २ २ ५ कुञ्जिनी

कुञ्ज (कुञ्ज) २ ५६ 'कुञ्ज'

*कुञ्ज १ ६२ गाथा का मेर

कुञ्ज १ १८२, २ २ ७ बंध

कुञ्ज (कुञ्ज) २ १२५

कुञ्जिनी (कुञ्जिनी) १ ६३ लृ पञ्च

'कुञ्जिनी', 'कुञ्जिनी, पञ्जिनी'

कुञ्जिनी (कुञ्जिनी) १ १ १ 'मे'

*कुञ्जिनी (कुञ्जिनी) १ १६ पञ्चक मर

के मेर का नाम (ऽ।।)

कुञ्ज १ ६७ क्नेक्या कुञ्ज

*कुञ्जिनी (कुञ्जिनी) १ १२६

लृपय लृङ् का मेर

कुञ्ज १ १२५ गुण

कुञ्ज (-र) २ ११४ क्नेक्या की क्नेक्या

कुञ्ज (क्नेक्या) २ १७ २ १६७

२ २ ३ पुत्रविशेष

कुञ्ज (कुञ्ज) १ १२ वीर्य क्नेक्या (ऽ)

कुञ्ज (क्नेक्या) २ ७१

कुञ्ज २ १२३ 'पञ्च'

कुञ्ज २ ७१ क्नेक्या नामक देव

कुञ्ज (कुञ्ज) १ १२५, २ १२४

२ १६७ २ २ ३ देव के कुञ्ज

कुञ्ज १ ६७ क्नेक्याविशेष कुञ्ज

कोइल (कोकिला) २ ८७ २ १४०,
२.१६५, कोयल

*कोइल (कोकिल) १ ६३ 'रोला छद
का भेद'

कोट्ट (कोष्ठ) १ ४४, १ ४५, १ ४६,
हि० कोठा, रा० कोठो

कोडी (कोटि-का) १.५० (करोड)

कोमल २ १४०

कोल (कौल) २ १०७ वराहावतार,
सूत्रर

कोह (क्रोध) १ ६२, १ १०६ गुस्सा
ख

खजण (खजन) १ १३२, २.१५३
'पक्षी विशेष'

*खजा १ १५८, १ १५९, छन्द का
नाम

खड १ १०८ २ १०७, डुकड़ा

✓खड 'डुकड़ेकरना' खडिआ २ ७९

खडी (खडिनी) २ ३४ खडन करनेवाली

खडिनी (खडिनी) २ ६९ खडन करने
वाली

*खध (स्कधक) १ ५१ खधआ
(स्त्रीलिंग) १.७३ खधाण १ ७५
छन्द का नाम

खगा (खड़ा) १ ११, १ ७१, १ १०६,
१ १८८, २ १६१ खाँडा, खड्ग

खडा (पट्) २ ५१ छद

खणा (जण) १ २०४, २, १४४,
२ १५९

खत्ति (क्षत्रिय) १ ११७, २ ७१ क्षत्रिय

खत्तीम २ २०७ खत्तिउ १.२०५ क्षत्रिय

खत्ति (क्षत्रिया) २ ६६

खत्तिणी (क्षत्रिया) १ ६४, १ ८३,

*खमा (क्षमा) १ ६० गाथा वा भेद

खर १ ३६, १ ६७ २ १९३ कठोर,
तीक्ष्ण

*खर १ १२२ छप्पय छद का भेद

✓खल (✓खल्) खिसकना,
खलित होना, खलइ १ १६०

खलिअ २ ८३ खलिआ २ १८७

खल १ १६९ दुष्ट

✓खल 'खिसकना', गिरना'

खस १ ३८ खसइ १ १६०

✓खा (✓खाद्) खाना

खा २ ६३, खाए २ १८३ खाहि
२ १२० खज्जए १ ०७.

*खीर (क्षीर) १ ७५ स्कधक छद का
भेद'

✓खुड (स०✓क्षुट्) 'खण्डित
होना, चोट पहुँचना'

खुडिअ (भूत० कर्म कृ०) १ ११,

✓खुड 'खुँदना' खुदि २ १११

✓खुड (खुद्) 'खोदना'

खुदि, १ २०४

खुर १ २०४ 'घोड़े के खुर'

खुरासाण १ १५१ 'देश का नाम'

खुरासाण १ १५१ खुरासान, देश
का नाम

खुल्लणा (देशी, क्षुद्र) १ ७ रा०
'खोल्हो', 'दुष्ट'

✓खुड (✓क्षुभू) क्षुब्ध होना
खुडिअ १ १५१

✓खेल, खेलना, खेलत १ १५७

सोह २ १११ धृज

सोहड (देरी) १ ११६ लेंगडा (रा०
लोह्यो)

श

शंघा १ ८२ गंगा नदी

✓ शंख 'हरा देना' शंखिघ १ १२६,
शंखिघा २ १२८

शंड १ २७ आदि शुभ चतुष्पल (५॥)

* शंडका (शंडका) १ १६८ छंद का
नाम

* शंडो (गण्ड) १ ११३ 'काम्य छंद
का मेर

शंघ १ १९, २ १४१ २२ (अने
कथा) लघुवर्ण (१)

शंघ (गंध) १ १ १ 'शिव का नाम'
* शंघावा (शंघावा) १ १४ १ १५,
'मासिक छंद का नाम'

शंघिवा (प्रथिवा) १ ७७ गौठ

शंघि (प्रथि) १ १ ७ 'गौठ, प्रथ
(पुलक)'

* शंघीरा १ ८२ शिख छंद का मेर

शंघ (गण) १ ११९ १ १६९, २ ११४
(अनेकथा) हाथी

शंघर (गणधूय) १ ११

शंघर (गणन) १ १४, १ २८ आवाश,
आदिलगु पंचपल (५५)

* शंघर (गणन) १ ७९ 'शंघर का
मेर

* शंघर (गणन) १ १५ एक
मासिक छंद का नाम

शंघर (गौठी) १ ४८ पांठी

शंघ १ ११, पेड़

शंघ (गण) १ ११ बरा, गति

✓ शंघ (✓ गण) गणन करना
गण, गण १ १८१ गण
१ १ १,

शंघ १ १२, १ १६, (अनेकथा)
शंघिवा या मासिक गण

✓ शंघ (✓ गण) गिनना १ १६८
गणिका १ १ ७, गणिका १ १०९

* शंघर (गणर) १ ११ रोला छंद
का मेर

शंघ (गण) १ ११३, शरीर

✓ शंघ (✓ गण) गणना बनाना
गण १ १६७ गण १ १५३

✓ शंघ (✓ गण) 'अना'
गणिका १ १६१

शंघर (गणन) १ १६, १ १ ३
१ ११५ गणिका १ ८६, १ ११४

गणिका १ ११९ गणिका काल

शंघर १ ११८ किर किर

शंघर १ ११४ निवाला कौर

शंघर १ ७९ विष्णु का वाहन, गण्ड
पत्नी

* शंघर १ ११३ काल छंद का मेर

शंघ १ १११, १ ७७ १ ११८, मल
गण (गण) १ ११६ गणिका (गणिका)

१ १५७ शंघ पंचक

शंघर (गणिका) (गणिका) * गणिका
१ ११ गणिका (गणिका) (गणिका)
१ १६) शंघ गौठी (गणिका)
गौठी) शंघ गौठी 'गणिका'
'गणिका' शंघ

गात्र (गात) २ ८६ शरीर	√गुग (√गण्) 'गिनना' गुणह
गाह (गौ) २.९१ गाय	(गणयत) (आजा म० पु० व०
गाछ २.१४४ पेड़	व०) १ १०७ २ ८४ गुणि (पूर्व०
गाह (एकदश) १ १७७, २ ११०	क्रि०) २ २१४
२ २२०, ग्यारह	गुरु (गुरुः) १ २, १ १४, १ ७६,
√गा 'गाना' गाव (वर्त० प्र० ए०)	१ ८०, १ ८१, १ ६१, २.२१५,
१ ४८ २ ८७, गाउ २ १६८,	तथा अनेकश. 'गुरु' (ऽ)
गाह २ १६२	*गुरुजुषल (गुरुयुगल) द्विगुरु चतु-
*गाहा (गाथा) १ ५७, १ ५८, १ ६५,	षल (ऽऽ) का नाम
१ १६४ (अनेकशः), छुद का	गुरुश्च (गुरुक) १ २१
नाम	गुरुता १ ४१
*गाहिणी (गाहिनी) १ ५१, १ ६१,	गुर्विणि (गुर्विणी) १ ६५, गर्भवती स्त्री
१ ७०, गाथा का भेद	√गेण्ड (√ग्रह्) गेण्ड (गुह्याति)
*गाहू १ ५१ १ ५२ मात्रिक छुद	(वर्त० प्र० ए०) १ ६७ गेण्डु
का नाम	(भूत० कर्म० कृ०) २.१४७.
गिदू १ १५७ 'गेंद'	गेह २ ६९ घर
गिरि १ ७४, १.१५५, १ १६३,	गोमाल (गोपाल) १ २५ मध्यगुरु
२ २०१, २.२१४ 'पहाड़'	चतुष्कल (।ऽ।)
गिरीश (गिरीश) १ २०६, २ ६६	गोड २.१३२ 'गौड देश का राजा'
हिमालय, शिव	गोडराज (गोडराज) २ १११ गौड देश
गिव (ग्रीवा) १ ६८ गला	का राजा
*गीअठ (गीता) २ १६६ छुद का	गोडाहिबह १ १२६ गौडाधिपति
नाम	गो (गः) २ १ गुरु वर्ण (ऽ)
गुज्जर (गुर्जर) १ १५१ गुर्जर देश का	गोत्त (गोत्र) १ ३७ गोत्त-त्रयव
राजा, गुजरात के निवासी, गुर्जर	(गोत्र-त्रायव) १ ३७
जाति	गोरि (गौरी) २ २१५ पार्वती
गुडिआ (गुटिका) १ ६७, गोली,	गोरी (गौरी) १ ३ हि० रा० गु०
गुलेल	'गोरी' (पार्वती)
गुण १ ६५ (अनेकशः), गुण, अच्छाई	*गोरी (गौरी) १ ६० गाथा का भेद
गुणमत २ १४९ (अनेकशः), गुणवान्	घ
गुणवत् २ ४४, गुणवान्	घघर १ २०४ 'शब्दानुकृति, धर्घर'
गुणवति १.१७१, गुणवती	

✓ भट्ट धाना कम होना

भट्ट (भट्ट म ए) १ ८८
१ १११

भज (भज) १ १११, बादल

भजान (भजाना) १ १८८, बादल

भजत (भजत) १ १११, भजत (भजत)

भजत ए १ १ २, भजत नामक

मात्रिक भज

भजता १ १ छंद नाम

भजतार्थ १ १ ३ छंद का नाम

भर (भर) १ ८८, १ ११ २ १११

भर १ १७४ २ ७४ भर १ १४९,

भर २ ५३ भर, मछन

भारि (भारि) १ ३८, १ १७१

भरपी १ १७४ फली

✓ भक्त भक्त (भक्त म ए)

१ ७ राव भालको-ओ गु

भालको गु भक्त (भक्त)

११) भक्ति (भक्ति) ५

२)

भार (भार) १ १५५ भार १ १७१

भोट भार भार

भारी १ २१ छंद नाम

भिरा (भिरा) १ ११ २ १११

✓ भुम भुमना भुम १ ११

भुक्ति १ १ ४ शशी के भक्तनेका शब्द

✓ भोज (भोज) १ १८८

भक्तार देना

भ

भक्त १ ७ १ १११ १ ८८

भक्तता १ १७२ भक्ति भक्त का

नाम

भक्त १ १११ भक्त स्वभाव का

भक्त (भक्त) १ ७४, १ १४१,
२ १५५

भक्त १ १ ७ भक्ति को मानव

भक्तता (भक्ति) १ ११ २ ७४
पावती

भक्तो (भक्ति) १ १२ मारादे

भक्तिरत्न (भक्तिरत्न) १ ५१

१ १ ८ भक्तिरत्न नाम

भक्त (भक्त) १ ११ १ ७४, १ १७१

२ ५५ २ १ ५ (भक्ति)

भक्तता

भक्तता (भक्ति) १ १४

भक्त (भक्ति) १ ५१

भक्त १ १११ भक्त का भक्त

भक्त (भक्ति) १ १११, १ ११

भक्त (भक्ति) १ ११ भक्ति

भक्त का नाम

भक्त (भक्ति) १ १५ पदकत य

का नाम

भक्त (भक्ति) १ १११ भुक्तिरत्न

भक्त (भक्ति) १ १११ भुक्ति

भक्त (भक्ति) १ ११ १ १ 'भक्त' इ

हि य को (भक्ति) को (भक्ति)

भक्ति (भक्ति) १ ११

भक्त (भक्ति) १ ५७

भक्ति भक्ति

भक्त (भक्ति) १ १११ भक्ति

भक्ति (भक्ति) १ १११ भक्ति

भक्ति (भक्ति) १ १११ भक्ति

भक्ति (भक्ति) १ १११ भक्ति

भक्ति (भक्ति) १ १११ भक्ति

चटयो (चतुर्थः) २६६ हि० चौथा
रा० चौथा

चटपट्टा १ ९७ चौपैया, मात्रिक छुट

चक्षु (चक्षुस्) २.१५१ आँख

*चटघोल १ १३१ 'चौबोला छुट'

चक (चक्र) २ १५८ चार

चक्रमक १ २०४ चमक, चाकचक्य

चक्र (चक्र) १ ६६, २ १७२ पहिया,

*चक्रपद्म (चक्रपद) २.१५२ वर्णिक

छन्द नाम

चक्रछु १ ८३, १.१५० चतुष्कल गण

चक्रवह (चक्रपति) १ २५, १ ६६

चक्रवर्ती राजा, मध्यगुरु चतु-

ष्कल जगण (।।।)

*चक्की (चकी) १६१ गाथा छन्द

का भेद

*चर्चरी (चर्चरी) २ १८४ चर्चरी

वर्णिक छन्द नाम

चमर (चामर) २.१३६, २ १६४,

२ १७८ चवैर, गुरु अक्षर (ऽ)

चमल (चामर) १ २०४ चवैर

चम्म (चर्म) २ १०७, २ १२३ चमड़ा

चरण १.२, १ ६, १ १७, १ ६५,

१ १३४, १ १६४, (अनेकशः)

पैर, छन्द का चरण, आदिगुरु

चतुष्कल, भगण (।।।)

चरित (चरित्र) १ १४४ स्वभाव

✓चल (✓चल्) चलना

चल २ ८३, चलह २ ८६, २.१९३

चलति २.१७१, चलउ १ १०६,

चलव २ १०१, चलवण २ १०१

चलते १९६, चलाउ २.१७१,

चलावह १.३८, चलावे २.३८,

चलि २.८७, चलिअ १.१४७,

चलिया २.२०४, चल्नु २ २०२,

चलू २ १७१, चले १ १४५, १.२०४

चाउ (चाप) २ १६१ धनुष

*चाभो (चापः) १.१६ पचकल गण

का नाम (।।।।)

चाणू १ ३०७ टैल्य का नाम

*चामर १ २१ प्रथम द्विकल गण (ऽ)

का नाम

चारि (चतुर) १ ४७, १.१०७,

१०८ क, १ १२५, १ १९१,

(अनेकशः) 'चार'

चारिह १.३१ 'चौदह'

चारिम १.१३३ चौथा

चारी (चत्वारि) २ २७, २ ५२ २ ६६,

२ ८८ (अनेकशः)

चारु २ १५३, २ १६८ सुन्दर

*चारुसेनि १ १३६ खुडा छन्द का भेद

चाव (चाप) २ १६९ धनुष

चालिस (चत्वारिंशत्) २ २१४ चालीस

चालीस (चत्वारिंशत्) १ ११०,

१.२०५ चालीस

✓चाह हि० चाहना, रा० 'चाह्यो-

वो' दु० 'चाह' (उक्ति० १२-

२६) चाहहि (आज्ञा० म० ए०)

१ ६, चाहति १ १६६, चाहए

१ ८६

चाहणा २.७५ इच्छा करने वाला

✓चित (चित्) चिंता करना, सोचना

✓चिह्न (✓चिह्न) उहरना
 चिह्नन्ति २१५१
 चित (चित) २४० २२ ७ दि
 'चित' ग 'चित' फल, पु
 'चित' (संज्ञा १८५)
 चितहरो (चितहरो) २१४ 'चित'
 को होने वाला
 *चिर २१८ आदिलसु चिकल गल
 का नाम (१५)
 *चिराहम (चिराहम) २१८ आदि
 लसु चिकल गल का नाम (५)
 चिरह (चिरह) २१८ आदिलसु चिकल
 गल का नाम (१५)
 चीन (चीन) २१८ देश नाम
 *चुबमाका (चुबमाका) २१८ आदि
 लसु चिकल का नाम (५)
 *चुबमा (चुबमा) २१ गाथा का
 मेर
 *चुबिमाका २१८ मासिक लुम्ब
 का नाम
 चुल (चुल) २१४, २२ २ आम
 का पेड़
 चेहल २१६ 'चेहल'ि
 चेह (चेह) २० २१८ चित पु
 रा सेतो
 चो (चो) २१४ चार
 चोपासीन (चोपासीन) २१८
 पचासीत
 चोबह (चोबह) २१ २ चोबह
 चोबह (चोबह) २१५१
 च विह (चविह) २२१ चोरीत

छ
 छंद (छंद) २१, २१०
 २१ ५, (अनेक्यः)
 *छंद (छंद) २१६ अंतलसु चिकल
 का नाम (५) तथा लुम्ब
 लुम्बो २११
 छंदम २१४ छंद
 छ (छ) दि छद य पु छ
 छ (-मचल) २१५
 छम २४३ २४३ छद
 छहल (छहल) २१ १ छेडा
 रसिक
 छद (छद) २४३ छद
 छहल २८५ पदल गल
 छहल (छद) २४०, २६३ छद
 छहल २१५, २१६१ पदल गल
 छद (छद) २५६ छटा छहल
 छदम २५६
 छहलमेला (छहलमेला) २१२१ छानके
 छह (छह) २१८२
 *छहल (छहल) २१२५ छह नाम
 छहल (छहल) २१३३ छहल
 छहल (छहल) २५ १८१
 'छहल'
 छहलकारी (छहलकारी) २१२०
 स्वामी कार्तिकेय
 छह (छह) २१८ छह य छ'
 छह २२ ७ कपड
 ✓छह ललमा छह २२५
 छहल (छहल) २१०४ छहल
 *छहल (छहल) २१६ गाथा का
 मेर

आणवद् (पणवते) १ ११७ छानवै,

रा० छनमै'

छार (चार) १ १९५ भस्म

छाल २ ७७ छाल, चर्म

✓ छिज्ज (क्षीयते) छीजना

छिज्जइ १ ३७

छेभ्र (छेरु) १.११६ 'विदग्ध,

रसिक'

✓ छोड 'छोड़ना' छड्डए २ १७३

छोडो २ १५७ छोडिआ २ २११

छोडि (छुद्रा) १ ६ हि० रा० 'छोटो'

ज

*जगम १ १२२ छणय छन्द का मेद

जघ (जघा) १ २६ जाँघ

✓ जप (✓ जल्प) बोलना

जपइ (वर्तमान० प्र० ए०) १ ४३,

जपे २ १८०, जप २ १६८,

जपीए २ ८८, जपत १ १७६,

जपता २ १५६, जपिअ १ ६६,

जपेज्ज २ १४५, जपु १ १६६

ज (यत्) जो १ १, १ ६, १ ११

जे १ १२६, ज १ ७४, १ १२०,

१ ७४, जेग १ ५५, जस्स २ ५३,

जसु (यस्य) १ ८७, जस्सा

(यस्या) १ ८४ जस्सम्मि (यस्या,

यस्मिन्) १ ५८, जेस २ १५१,

जसु २ १५१ जहि १ ७६, जहि

२ २३, जही २ ७, जेहा १ १२६,

जेत्ता १ ७७

जक्ख (यत्) १ २६ मध्यलघु पञ्च-

कल गण, रगण (SIS)

जअ (जय) १ ३७

✓ जअ (स० ✓ जि), जीतना, जय

होना जअइ (जयति) १.१,

२.४६, २.७५,

जइ (यदि) १.६, १ ७, १ ३७, जो

जक्खण १ १६० जिस तण

*जगण १.३६ (अनेकज.) मध्यगुरु

वर्णिकगण (ISA)

✓ जगा (जाए) 'जगना', जगती

वर्त० कृदत्त० १ ७२, जग्गा

२ ५३, जगि १.२०५

जज्जवत्त १ १०६, १ १४७ हम्मीर के

मन्त्री का नाम

जटावलि २ १०५

जड्डा (जाड्य) २.१६५ जाड़ा

जण (जन) १ ४७, १ ६४ रा० 'जणू'

हि० जने (सदा बहु० व०)

✓ जण (✓ जन्) जन्म लेना

जणीयो २ १५, जणिअ २ ८०

जण्णि (जननी) २ १४६ माँ

जण्णणा (जनार्दन) २ ७५ विष्णु

✓ जणम जन्म लेना जणमठ २.१४९

जत्त (यावत्) १ ४१ 'जितना'

जत्ते १ १२४ 'जितने'

जरथ (यत्र) १ ४१, १ १८२, २.१२५

'जहाँ'

*जमअ (यमक नामक छंद) २ ३६

जमअ (यमक) १ ६४, १.९५, यमक,

तुक

जमक्क (यमक) १ १२७ यमक, तुक

जमल (यमल) १ १८० दो

अमरमृग (अमरावत) १२०७

अर्जुन के दो पेड़ नलकूपर

अम्म (अम्म) २११

✓अळ (✓अळ) अळना

अळर ११६, अळर ११६,

अळर ११७७

अळ ११४, २८१

अळर (अळर) ११८८ अळर

अळर १२ २ मात्रिक अळर नाम

अळ १२ ४ अळर ११३७ अळ

अळ (अळ) १८७, १२१

अळि

अळर (अळर) ११६० अळर अळ

अळर भाव

अळ (अळ) अळ (अळ) ११४

अळ (अळ) १४ ११ ८, ११४७,

अळ

अळर (अळर) अळर भाव समाव

११६

अळी १११६ अळी

✓अ (✓अ) अना

अळ ११७४, अळ १११,

अळर ११४४ अळ १११९,

अळ ११७ अळर ११६३

✓अ 'पैरा होना'

अळ (अळ) भूत कर्म कर्तव्य

११६ 'हुई पैरा हुई'

अळ (अळ) ११११ अळर भाव

अळ

अळ (अळ) १११६ ११८ पळी

✓अळ (✓अळ) अळ अळना रा

अळर-अळ गु 'अळर'

अळर ११७, अळर (अळ) १

१११, अळर ११६

१७४, १७, अळरी ११४

अळर ११४६ अळर (अळर)

अळ ११६, अळर (अळर)

अळ ११८, ११८, अळर

१११, अळर ११११, अळर

११४६, अळरी ११८, अळर

१४६ अळर ११४ अळरी

११४६ अळर १४६

अळ (अळ) १११६ अळर, अळ

अळ (अळ) १११

✓अळ (✓अळ) अळर

अळर ११४७ अळर १११६,

अळर १११८ अळरी

११४, अळर १११८, १७१

अळर ११११

अळर ११७ अळर

अळर (अळर) ११७ 'अळर'

(अळर ११४) अळर (अळर)

११४ रा 'अळर' गु 'अळर'

अळर (अळर) ११८ अळर

अळर ११७ अळर

✓अळ अळर अळर ११२ अळर

११६ अळर ११७ अळर

११६ अळर ११४

अळर (अळर) १११६ १११६

अळर ११४६

अळर ११४६ १११

अळर अळर ११८ अळर अळर

अळ (अळ)

अळर

जुघ (युग) १.१७, २.५, 'दो'
जुश्र (युत) १२, १.६४, २.७६
युक्त
जुप्रह (युवती) २ १७७
जुप्रजण (युव-जन) २.७६, २ २१३
नवान लोग
जुघल (युगल) १.३६, १.५२
२.६६ (अनेकशः) दो, जोड़ा
✓ जुज्ज (युज्) 'युक्त होना'
जुज्जह (युज्यते) वर्त० प्र० ए०
१.६१
जुज्म (युद्ध) १.३७, १ १२६, २.७
✓ जुज्म (✓ युध्) लड़ना
जुज्मतु २.१३२, जुज्मता २.१७५
जुज्मती २.४२ जुज्मिआ १ १९३
जुत्तठ (युक्त) १ १६६
जुलिअ (✓ जुड-) १ १३५ जुडगये,
युक्त हो गये,
जुवण (यौवन) १ १३२
जुहिट्ठि (युधिष्ठिर) २ १०१
जूह (यूथ) २.११३, २ १३२ झुण्ड
जे (यदि) १ ६ 'अगर' हि० 'जो',
रा० 'ज्यो'
जेम (यथा) १.१०, तु० 'जिम (सदे०
६१), जेम (सदेश० २२३)
ब्रज, अरव० 'जिमि', गु० 'जेम'
जोई (योगी) १ १०४, २ १८१
जोगा (योग्य) २ १५१
जोण्हा (जोत्सना) २ २०१ चाँदनी
जोवण (यौवन) २.१०३
'जोह (योध) २ १५६, २.१६६,
२ १७१ योद्धा

जोहल १.१५६, २.११० (अनेकशः)
रगण (SS)
जोह (योध) २.४५, २ १५७,
२.१७५

झ

झकार २.१६५ शब्द
झंझगधक झणझण शब्द करना
झंझगधक २.१८५
✓ झप ढँकना, झोंप देना
झपट १ १४७, झपट २ ५६,
झपटा २.१६५, झपिआ १ १५५
झपिआ २.१११, झपा १ १४५
झत्ति (झटिति) २ १११, २ १६६
झटपट
झलवज्जिअ १ ११६ झल प्रत्याहार
रहित
✓ झल 'जड़ देना', झालना', झललउ
वर्त० उत्तम० ए० १ १०६
झाण० (ध्यान०) ३ ११५
* झुझणा १.१५६ 'झूलना, छंद का
नाम

ट

टकु (टक) १ १३०
टगण १ १३ षट्कल गण
टटटिदि १ २०४ 'शब्दानुवृत्ति'
टपु १ २०४ 'घोड़े की टाप'
टप्पु २ १११ घोड़े की टाप
टरपर 'तड़कना, फटना' टरपरिअ (भूत,
कर्म, कृतः) १.१२
✓ टुट (✓ तुट्) 'टटना' टुटह
(तुटति) वर्त प्र ए १.७६,

१८, १८१, १९१, उह
२.१८१

ठ

ठगध ११३ पञ्चकल गध

ठग १९ ८ स्थान

ठह (स्थान) ११३३ 'ठावें में'

ठाम (स्थान) ११३१, ११३३
१९ ८ गगह

ठाव (स्थान) ११५, ११५४
११५४

✓ ठग (ठगना) ठगि (पूर्वकालिक
रूप) ११३

ठाव (अष्टविंशत्) ११९१
अष्टविंश

✓ ठ (✓स्था-) ठगना

✓ ठग (✓स्था-) ठगना

ठग १.१३१, ठगे १.१३६,

ठगे १.१३१ ठग १.१३४ ठग

१.४० ठगि १.१३४ ठगि

१.१५ ठगि १.८५, १.१३४

१.१३४ ठगि १.१३१ ठग

१.१३४ ठगि १.१३६ ठग

१.१८, १.१० ठगि १.५८,

१.१० ठगि १.१३३, ठगी

१.६९ ठगि १.१३३, १.१३३,

१.१३५. ठगि १.१३०

ठ

ठग १.१० १.१८८, ठगि,
ठग

ठग १.१३ ठगि १.१३

ठगि १.१३, ठगि १.१३, ठगि
ठगि

ठाव १.१३ ठगि १.१३

ठागि (ठागि) १.१३ ठगि

✓ ठग ठगि गगि, ठग
१.१३

ठग १.१३ ठगि, ठग

ठगि १.१३ ठगि

✓ ठग (✓स्था-) ठगि
ठग १.१३

ठग (ठगी) १.१३ ठगी
ठा (ठाग ठगी)

ठ

ठग १.१३ ठगि

ठगि (ठगी) १.१३ 'नगर का
नाम'

✓ ठग मिठगि पिठ पठग

ठगि १.१३ ठगि १.१३

ठगि १.१३ ठगि १.१३

ठगि १.१३ ठगि, ठगि

ठ

ठगि १.१३ 'ठगि'

ठगि (ठगी) १.१३ ठगि का
मेठ

ठगि (ठगी) १.१३ ठगि
ठागि

ठा (ठागि) ठगि

१.१३ १.१३ ठगि

ठाग (ठाग) १.१३ ठगि

ठाग (ठाग) १.१३ ठगि (ठागि
ठाग) ठगि १.१३ ठगि

ठाग (ठाग) १.१३

*जशरु (नगर) १.७५ 'स्कंधक का भेद'

*जगण (नगण) १.३५ सर्वलघु वर्णिक (III)

*जगणिभा (नगणिभा) २.३१ छुद का नाम

✓णच्च (✓नृत्य) णच्च (नृत्यति) चर्त. पु ए १ ११६ णच्चइ १.१६६, णच्चइ १ १८८, णच्चे २ ८१, २ ८६. णच्चन २ १८२, णच्चनी २ ४२ णच्चता १ ११६

णट्ट (नष्ट) १ ४०, १ ४३

णणगिद्धि १ २०४ 'शब्दशुक्रति'

णदि (नदी) १ ६

✓णम (स ✓नम्) हि० 'नमना नव्वेना', रा० 'नम्बो नव्वेवो, नमबो-नम्बो' णमइ (चर्त पु ए) (नमति) १ ६ णमह १ १६६

णरवइ (नरपति) १ ८७, २ २०२

जगण (I. 5), राजा,

णर (नर) १ १६६ मनुष्य

*जराश्र (नाराच) २ ६८ वर्णिक छुद का नाम

*जराठ (नाराच) २ १६८ वर्णिक छुद का नाम

णराश्रण (नारायण) १ २०७ विष्णु शरिंद १ १३४, ७४ गला

*जरु (नर) १.७५ 'स्कंधक का भेद'

*जरु १ १२३ छुप्पय छुद का भेद

जरेंद (नरेन्द्र) १ २५, २ २७, मध्य सुद २ १३० २ १६२ २ १६६,

चतुष्कल, जगण (अनेकशः) (I. 5), राजा,

*जलो (नलः) १ ७४ स्कंधक का भेद

जव (नव) १ १३५ नया, नवीन

*जवरंग १ १२३ छुप्पय छुद का भेद

✓णस्—(नश्यते) १ ३७, २.८५ णसता (णिजत) १.११९ नष्ट होना

जह (नमस्) १ १०६, १ १६० १ १४७ 'आकाश'

जहि—(नहि) १ ३७ 'नहीं'

जा (न) २ ८६ नहीं

जाश्र (नाग) १ ६१ (अनेकशः)

जाओ १ १ जाआ १ ११९ जाउ १ २०८ जाआराअ १ ६३, १. १०२, जाएसा २ ११२ पिंगल की उपाधि.

जाअकक—(नायक) १ ३८ १.६३ (अनेकशः) जाअक १ ६, ३

जाप्ररि (नागरी) २.१०५, २.१२६ स्त्री

जाश्रर (नागर) २.१८५ सभ्य व्यक्ति, चतुर

जाम (नाम) १.२०, १ ६६ १.७६, १ ८०, १ ८१, १ ८८, १.८६, (अनेकशः)

जारि (नारी) १.१०१ स्त्री

जारी (नारी) २ ३६ स्त्री

*जारी १.२०. सर्वलघु त्रिकल गण (III) का नाम जारोश्र (नारी-णा) १ २०. समय व व

नाखिच (नाखिच) २.६३ 'एक
प्रकार की हरी घास'

पाव (नौ) १.६ दि० य गु
'नाव'

विघ्न (निघ्न) २.१७० २.१६७

विघ्नकृत् (निघ्नकृत्) १.९ ७

*विघ्नविघ्न (निघ्नविघ्न) १.९९

द्विगुणविघ्न (॥) का नाम

विघ्नन (निघ्नन) १.१९६

विघ्नन (निघ्नन) १.१९३ २.६७
समीप

वि + √ कम् (निघ्न + कम्)

विघ्नकृत् २.१७ निघ्नकृत्

विघ्न (निघ्न) १.१५

विघ्न (निघ्न) १.१३

√ वि + ब्रू (नि + ब्रू) 'दिलाला'

विघ्नैर् १.५३

विघ्न (निघ्न) १.१३४

*विघ्न (निघ्न) १.७५ 'विघ्नक का
मे'

विघ्नैर् (निघ्नैर्) १.१३६

वि + √ ब्रू (नि + √ कम्) विघ्न

(भूत कर्मवाच्य कृ १.१ ७

२.१६४ (विघ्नैर्)

विघ्नैर् (निघ्नैर्) १.१ ५

विघ्नैर् (निघ्नैर्) १.७५ २.६७

विघ्नैर् (निघ्नैर्) १.१७ २.४६

विघ्न (निघ्न) १.१७६

विघ्न (निघ्न) १.१७७

विघ्न (निघ्न) १.१७८

विघ्न (निघ्न) १.१७९ १.१८०

विघ्न (निघ्न) १.१९९ २.४

वि + √ ब्रू (नि + √ ब्रू) 'रत्ना'
विघ्नैर् १.१११ विघ्नैर्

२.१७६

विघ्नैर् (निघ्नैर्) १.७७ मलप्रतिघ्न

(मलप्रतिघ्न)

वि + √ ब्रू (नि + √ ब्रू) विघ्न

विघ्नैर् २.१५१

विघ्नैर् (निघ्नैर्) १.१६७ 'राजा'

वि + √ ब्रू (नि + ब्रू) विघ्न

(सं विघ्न) १.४, विघ्न

१.१७७ १.१८० वि 'निघ्नैर्'

(नि + ब्रू, *विघ्नैर्) य

निघ्नैर्—निघ्नैर्

*विघ्नैर् (निघ्नैर्) १.१६ अंशतः

विघ्नैर् का नाम (॥)

विघ्नैर् (निघ्नैर्) १.४४

विघ्नैर् (निघ्नैर्) २.१७७ रात्रि

विघ्नैर् (निघ्नैर्) २.१६४

*विघ्नैर् (निघ्नैर्) (निघ्नैर्) २.१६

विघ्नैर् (निघ्नैर्) २.६९ विघ्नैर् का

नाम

विघ्नैर् (निघ्नैर्) १.४६

विघ्नैर् (निघ्नैर्) २.१६४

विघ्नैर् (निघ्नैर्) १.१ ७ गुणवाच्य

विघ्नैर् (निघ्नैर्) २.७९ विघ्नैर् का पूरा

विघ्नैर् १.६७ २.१६९ विघ्नैर् का पूरा

विघ्नैर् (निघ्नैर्) २.१ २.१६९

विघ्नैर् (निघ्नैर्)

*विघ्नैर् २.१७७ विघ्नैर् का नाम

विघ्नैर् (निघ्नैर्) १.४७

*विघ्नैर् (निघ्नैर्) १.७५ 'विघ्नैर् का
मे'

*गेठर (नूपुर) १ २१. प्रथम द्विकल
गण (S) का नाम, तु० रा०
'नेवरी' (पैर का भूषण)

गेत (नेत्र) २ ९७, २ २०५ आँख
गेह (न + इह) १ ५६ 'यहाँ नहीं'
गेह (स्नेह) २.११७ प्रेम

*गेहलु (स्नेहलः) १ ७५ 'स्कन्धक
का भेद'

गेहलु १ १८० प्रेम, स्नेह

गोक्ष्मा २ १०५ अच्छी

गहाण (स्नान) २ १८९

त

तत्त (तत्र) २.१११

त (तत्) १.१०५ 'तत्र'

त- (तत्) अन्य पुरुषवाचक सर्वनाम
स सा त १ ७४, तै १ ३९ तेण
तण्हि १.१६१, ता ताका २ ६७,
से (तस्य) १ ६६, तासु १ ८२,
तासु २ १२१ तहि १ ४३, ताम
२ १३३

तझार (तकार) २ ११४, २ १४५
तगण

तक्क १ २०६ 'शब्दानुकृति'

तक्कार (तकार) २.१६, २.१३१
तगण

✓तज (✓त्यज्) छोड़ना

तजठ २ ६३, तेज्जइ २ २०३,

तज्जि १ १०६ तेज्जि २ १३०,

तेज्जिअ २ १५५, २.२११

तण्य (तनय) १ १७१

तणु (तनु) १ १११, १ १४६ शरीर

तत्त (तावत्) १.४१ 'उतना'

तत्थ (तत्र) १.१०८, २ १५०

✓तप्प (तप्) तपना तप्पइ १.७२,
तप्पे २.२०७

तरडो (देशी रूप) १ १ 'नाव'

✓तर (✓तृ) तरना, पार करना
तरइ १ ३६

तरणि १.६२ 'सूर्य'

तरुणत्त (तरुणत्व) -त्रेसो २ ८५

तरुण १.१८६

*तरुणअग्नि २ १३७ एक वर्णिक छद्

✓तरासइ (✓त्रस + णिच्) डराना
तरासइ २ १५

तरुणि (तरुणी) १.४

✓तलप्फ 'कॉपना, तडफना' तलप्फइ
वर्त० प्र० ए० १.१०८

✓तव (✓तप्) तपना, तवइ
२ ४०, २.१६३

तह (तथा) १.५०, १ ८३, १.६४,
२ १२४ वैसे

तहँ (< तस्मिन्, तत्र) १ ११८ वहाँ

तवत् (युष्मत्-) मध्यम पुरुष वाचक
सर्वनाम तहँ १ ६, तुहँ १.७.

तुहु तुमा २ ८, तुज्जे २ ४,

तुम्ह, १ ६७, १ ६८, तुम्हा

२ १२३, तुम्हाण १ ११६ तुह

१ १६६, २ ९१, तुअ २ १५५

तोहर २.२४

*तांडव १ २० सर्वलघु त्रिकल गण
(III) का नाम

ताअ (तात) १ २६ आदि गुरु चतु-
ष्कल गण (SII)

*तारम (तारक छंद) २ १४३ एक
वर्जिक छंद

*तार्कक (टार्कक) १ ७५ 'लक्षक
का मे' १

*तार्किक (टार्किकी) १ ८६ 'रसिक
छंद का मे' १

*ताख (ताल) १ १९ अंतस्तथु
निकल का नाम (अ)

ताख १ ११५, २ ११ ताल

*ताली २ १७ एक वर्जिक छंद

ताव (ताल) १ ४६ २, ८० 'कृता

तावन्त (तावन्त) २ १८० चोका

ति (ति) १ १२ १ २ २ २३३

आदि, दि य गु तीन

ति (ति) १ २२ अन्वय

तिमल (तिमल) १ ११८, २ २६,

विमात्रिक

तिमल (तिमल) १ १३४

तिमल २ १६

तिमल (ति) १ १३ १ ८६ 'तीन'

तिमल (तीमल) २ १२६

तिमल (तिमल) १ २ २ तिमुना

तिमल (तिमल) २ १३८ शिव

तिमि (तीमि) १ ४८ तीन

तिमि (तीमि) १ ८, १ ५८ तीन

तिमि (तीमि) २ ७६ तीन

*तिमि ती (तिमिती) १ १६४ छंद

का नाम

तिमि २ ७६ अंतकार

तिम १ १ तिमिती का दाना

तिमल (तिमल) (तिमलतीमि) २

१५१

तिमल (तिमल) २ ११८

तिमल (तिमल) (तिमलतीमि) १ ७७ 'शिव

*तिमल (तिमल नामक छंद) १ ४३

एक वर्जिक छंद का नाम

तिमल (तिमल) (तिमल) १ ११

तिमल (तिमल) (तिमल) १ १३८ शिव

तिमल (तिमल) १ १५१ तीमल

तिमल

तिमल (तिमल) १ ८० १ ६६

१ १६५

ती (ति) २ ६४ तीन

ताम (तीमल) १ ५४ १ ६ १ ६५,

१ ८४ १ १ तीमल

तीमि (तीमि) १ १२५ तीन

तीमि (तीमि) १ ५७ १ ६८ तीम

तीमल (तीमल) १ ४८

तीमल (तीमल) (तीमलतीमि) १ ५६

'तीमल तीमल तीमल

*तीमल २ ७२ एक वर्जिक छंद

तीमल (तीमल) १ १८ आदि तीमल

तिमल गव का नाम (५)

तीमल (तीमल) १ ८६ १ ६३ चोका

*तीमल (तीमल) १ ११४ अन्वय छंद

का मे' १

तीमल (तीमल) १ ८ दि य

'तीमल'

✓ तीमल (तीमल) दि तीमल

य तीमल (तीमल), तीमल (तीमल)

१ १ (तीमल कर्म ह)

१ १

तीमल १ १ 'तीमल'

तीमल (तीमल) १ १५७

तुहिण (तुहिन) त्रफ तुहिणवर (चन्द्रमा)
२२०१

चूर (तूर्य) २.११०, २.१४५

*तूर (तूर्य) १.१६ अतलतु त्रिकल
का नाम (SI)

तेम (तथा) १.१०. ब्रज अवधी
'तिमि', गु० 'तेम' तु० तिम
(सदेश० १०३), तेम (सदेश २२३)

तेहस (त्रयोविंशत्) १.२००

तेत्ता (तावत्) १.७७ 'उतना'

तेरह (त्रयोदश) १.१३, १.१५ हि०
तेरह. रा० तेरा, गु० तेर, तु० तेरह
(वर्ण० २८ ख) तेरहश्रो (१६क)

तेलग (तैलग) १.१४५ 'तैलग'

तेल्लोक्का (त्रिलोका) त्रैलोक्य २.३३

*तोडप्र (टोटक छन्द) २.१२६ एक
वर्णिक छंद

*तोमर १.१८ आदिलघु त्रिकलगण
का नाम (IS)

*तोमर २.८६ एक वर्णिक छंद

✓ तोल तोलना तोलती १.११६

थ

✓ थह (स्तम्) थंहिअ (स्तमित)
१.७४

✓ थक हि० थकना थकह २.१४६,
२.२०१, थकति २.१३२ थकके
२.२०४, थकउ २. थक्किअ
१.१६० ठहरना

थण (स्तन) २.१६०, २.८३

✓ थप्प (स्थाप्, स्था+णिच्) थप्प
१.६२, थप्पहु १.४८, थप्पि १
१५७, १.१८०, थप्पिअ १.१२८
थप्पिआ २.१६२, २.१७८ थप्पिओ

२.६०. थप्पीआ २.१६५ स्थापित
करना

थप्पगा २.९७ स्थापित करने वाला

थिर (खिर) १.३६, १.९०१, २.८५

थूर (स्थूल) २.१८५

थोगदलण १.२०१ 'शब्दानुकृति'

थोर (स्थूल) २.१८५

द

*दढअल १.१७६ मात्रिक छंद का
नाम

दत १.१८०, २.६७ २.१६८ दौत

*दमो (दमः) १.११४ 'काव्य छंद
का भेद'

दसण (दर्शन) १.४. तु० राज०
'दरसन' 'दर्शन'

दख (दत्त) २.१६२ 'चतुर'

दखहणु (दत्तइन्ता) १.१०१ 'दत्त
को मारने वाले'

दखिण (दक्षिण) २.१६३ 'दिशा-
विशेष'

दप्प (दर्प) १.१६८ 'घमड'

*दप्पो (दर्पः) १.११३ 'काव्य छंद
का भेद'

*दमणअ (दमनक) २.५६ एक
वर्णिक छंद

✓ दम दमाना दमसि १.१४७

दमण (दमन) १.१११

✓ दलमल 'दत्ता देना, दल देना' दर-
मर (दलमलिता) (भूत० कर्म०
कृत वी०) १.६२ दरमरि १.१४७

*दरिओ (दत्त) १.११४ 'काव्य
छंद का भेद'

वज्र १ १६१ कापौली छंद का वज्र
माता

✓ वज्र वलना, मखलना, वशिष्ठ
१ ७१

वह (वय) १ ५४, १ ८८२, १ १५४,
१ १५८ आदि वय

वान (वान) १ १५१

वानव (वानव) १ १५१, १ १५६
'दैत्य जाति विशेष'

वाता १ १ ७ स्त्री

विष (विष) १ १ ५ (देहि, वयः)

१ १ २ १ ४८, १ २१२

(विष्णु) १ १६१, (विष्णु)

१ ८८४, (वीरता वयः) १ १७८

विष्णु १ १२

विष्णु १ १ ४

विष्णु १ ४८ पञ्चमहात्म्य

विष्णुवर्णन (विष्णुवर्णन) १ ८६

विष्णुवर्णन (विष्णुवर्णन) १ ७२ भक्ति
राज

विष्णुवर्णन (विष्णुवर्णन) १ १ ७

विष्णु (विष्णु) १ १४७ विष्णु

विष्णुवर्णन १ १४५ विष्णुवर्णन का मध्य

विष्णुवर्णन (विष्णुवर्णन) १ १४८ वर्णन
पञ्चमहात्म्य

विष्णु (✓ वय + वय, वय) १ २२
१ ७

विष्णुवर्णन (वय) १ २२

विष्णु (वय) १ १ ५ १ १४५
'मज्झिम'

विष्णु (विष्णु) १ १४५

विष्णुवर्णन १ १८१ एक मासिक वय का
नाम

विष्णु (वय) १ ७१ विष्णु

✓ विष्णु (✓ वय + वय) १ ७१
१ १७५, १ २ २ विष्णु १ १८८

विष्णु (विष्णु) १ २८

विष्णुवर्णन (विष्णुवर्णन) १ ५४

विष्णुवर्णन (वय) १ १२१

विष्णु (वय) १ १

विष्णु (वय) १ २, १ ७,

वु- (वि-) वि-य वु-गो वु-र

वु- (मय) १ २, १ १२,

१ १७

वु- (वय) १ १५ 'वो

वु- (वय-वय) १ १५ 'वो'

वु- (वि-वय) १ १ ७ विष्णुवर्णन

वु- (वय) १ ११६, १ २

वु- १ २२

वु- (वय) १ २७

वु- (वय) १ ११६ वु-

वु- (विष्णु) १ ४२ वि वु-वय,
य वु-

वु- १ १ ५

वु- १ १

वु- (वय) १ १२१

वु- (वय) १ २२ वु-

वु- १ १२५ १ १२७ 'वय'
का नाम

वु- १ १५ १ ११ १ ११४ 'वय',
वु-

वु- (वय) १ १ ४ १ १६,
१ १५५ 'वय', वु-

दुब्बल (दुर्बल) १ ११६
 दुब्बरि (दुर्बल) २ १३४
 दुहु (द्रौ) १ १०६ 'दो'
 दूण (द्विगुणित) २.६८ दुगना
 √दे (स० √दा) हि० देना,
 रा० देवो वो, दे (वर्त० प्र० ए०)
 १.३७ देहि (आज्ञा० म० ए०)
 १ ६, देही २ १५७, देहु (आज्ञा०
 म० पु० व० व०) १ १४, देह
 १ ७८, १ १८१, देऊ २ ४, देउ
 १ २०७, दिज्जसु (विधि म०
 ए०) १.३६, दिज्जे २ १०१,
 दिज्जउ २.१०५, दिज्जहु १ ४२,
 दिज्जही २ ५८, दिज्जह (कर्म-
 वाच्य वर्त० प्र० ए०) (दीयते)
 १.३६ दिज्ज २ १५९, देइ
 (पूर्वकालिक रूप) १ ६, १.४२,
 टइ १.६४, दिण्ड १ १२८,
 दिण्णा २ १५६, २.११२,
 दिज्जिआ २ १६२

दैअ (देव) १.८२, २.१२३

दैओ (देवः) १ ३

√देक्ख (√*दृच्च्) 'देखना देक्ख
 १.१०६, देक्खु २.१४२, देक्खिअ
 १ ३८, देक्खीआ २ ११३ दिखा-
 वइ १.३८

देव १ १५५, २.१०१ देवता

देव्ह (देवकी) २ ४६ २ १४७

देस १ ११८ देश

*देही (देवी) १ ६० गाथा का मेद

दो (द्रौ) १ ८, २.२६ दो

*दोअइ १ १५३ छंद का नाम

*दोअअ (दोधक छंद) २ १०४ एक

वर्णिक छंद का नाम

दोस (दोष) १ ६५, १.८४

दोसहीण (दोष हीन) १ १३४

*दोहा १.७८, १.१३३ मात्रिक छंद
 का नाम

घ

*घअ (घञ्ज) १.१८ आदिलघु

त्रिकल गण का नाम (१५)

तु० राज० 'घज', 'घजा', 'झडा'

घण (घन) १.३८ घणु १.३७

आदि, घणमत २ ११७

घणु (घनुष्) घनुष

घणु १ ६७, घणू २.१०६,

घणूहा १.१२६, घणुद्धर १ १७६

घणुहरं १ १५७

घणेसा (घनेश) १ २०६ कुत्रे

घण (घन्य) २ ३६

घम्म (घर्म) १ १२८, २ ३६, २ १०१,-
 २ १०७

*घम्मो (घर्म) १ १५ पट्कल गण
 का नाम

√घर (√घृ-) रखना, घरना

घरइ २ १९१, घरि (आज्ञा म०

ए०) १ ९६, घर २ १६०,

घरहि १ १६६, घरिज्जे २ २०७,

घरीजे २.१०१, घरिअ २ ८१,

घरीआ २ १२६, घरे १ १८०,

घारिअ २ १०४, घरि (पूर्व०)

१.८६, घारे २ २०७

घरणि (घरणी) १ ६२, १ २०४-

पृथ्वी

परबी (परबी) ११८ पृष्ठी
 ✓ चर (✓ चू) चरण ११०४ चरण
 करनेवाला
 मंजव ११२३ छप्पय छम्प का मेर
 चय २२ ५ छन्द
 मंजवक (चयलक) ११६२ एक
 बर्षिक छंद
 ✓ चय चैठना, प्रवेश करना
 चय ११६ १२४ चयड
 ११६
 चय चय ११६ अग्नि के जलने की
 आवाज
 मंजवई (चाबी) ११ गाथा का मेर
 ✓ चाब (✓ चाबू) बीकना
 चाब २१८३ भावठा २३७,
 चार २१५६
 चमा २८६ नगरी का नाम
 चाका ११८ चारा नगरी
 चिन्मन्त्र १२०१ 'चम्पानुक्ति'
 चिम्प (चैम्प) १४ हि रा चीरक
 चिद (चुट) ११४५
 चीर २१६६
 चुच (चुच) ११६ १३६ १७१
 (चम्प) निरुक्त ही
 मंजुच (चुच) ११५ परकता
 गल का नाम (।।।।)
 मंजुच चुच ११२६ छप्पय छम्प
 का मेर
 चुत (चुत) ११६६, २२८
 चुत (चुली) १६२ 'चुल'
 चुति ११४० ११५५, १२१
 १५६ 'चुल'

चोच (चोच) चुला चुला, चोचंन
 (चोचंन) ११८९
 च
 मंजुचवाचिच (चंकावली छंद)
 २१४८
 चंगु १११६ (रा पॉम्प्लो)
 चंच (चंच) ११२ हि रा गु
 'चोच' गु पाच्य (चंर २४
 क) चंच (—को) ११७ चंचा
 २४५ चंचड २१७
 चंचम २८७ चोचवाँ
 चंचा २१९
 चंचव (चंचव) २१ ७
 चंचव (चंचव) ११४
 चंचुका (चंचुका) २८६
 चंचि (चंचिच) ११४ हि चोच
 चोचि रा चंगन, चोच
 मंजुचंगम (चंचंगम) ११८९ माचिक
 छंद का नाम
 चंचव (चंचव) २११९
 चंचव (चंचव) २३६
 ✓ चंच (चंच) 'गिमा' चंचि
 (चंचि) चंच म च १८५
 चंच १७ १५२ १६२ १११६
 ११३७ आदि चंचि (चंचि)
 १८५ चंचु १११४ चंच
 चंचव (चंचव) ११७५
 चंचव (चंच) १८५ चंचि ११६१,
 चंचला २१४१
 चंचिच (चंचिच) २६८
 चंचु (चंचु) ११७६
 चंचा ११२, ११६८

पञ्चाणा (प्रयाण) १ १४५ 'सेना-
प्रदान'

√ पभास (प्र + √ काश्) 'प्रका-
शित करना' पञ्चासद् १ ६७ पञ्चा-
सति १ ५३, पञ्चासत् २ २०८,
पञ्चासद् २ २१०, पञ्चासिअ
२ १७०, पञ्चासिओ १ १९१,
१ १४६, पञ्चासेइ (प्रकाशयति)
१ ६५, १ ८४

पइ (प्रति) पइ (—गण) १ २२

पइपओ (प्रतिपद) २ ८२

पइक् १.२०४ 'पदाति सेना'

पइक्क १ १६७, २ १६८, 'पायक,
पैदल सेना

पइज्ज (पतित, प्राप्त) २ १५०
पाया हुआ

पइ २ १८ स्वामी, पति

*पडमावत्ती (पद्मावती) १.१४४
छद का नाम

*पओहर (पयोधर) १ १७, २ ३१,
१ १४४ मध्यगुरु चतुष्कल गण
(।।।)

*पओहर (पयोधर) १.८० 'दोहा
छद का भेद'

पाअ (पाद) पाअ (पाद) कर्म ए०
१ १७१ 'चरण'

√ पकाव (√ पाच्य्) पकावउँ
१ १३० पकाना, पकवाना
पक्खर १ १०६ पाखर घोड़े की मूल,
पक्खरिअ १ १५७ मूत्रवाले, सजे हुए
पक्खि (पक्खी) १ २०१
पक्खिम (पश्चिम) १ ६६ 'दूसरा'

*पज्जडिअ १.११५ पज्जडिवा छद

*पटठव (पटहः) १ १९ अतललु
त्रिकल का नाम (।।)

√ पड (स √ पत् = *पट्) हि०
'पडना' गु० पडवुँ रा० 'पडवो—
पडवो' पडु (भू० कर्म कृ० ए०
व०) १ ६, पाडिओ (भू०
कर्म० कृ०) १ २

*पडिववत्तो (प्रतिपक्ष) १ ११३
'काअ छद का भेद'

√ पड (√ पट्) हि० 'पडना', रा०
'पडवो—वो' गु० 'पडवुँ', पडइ
(वर्त० प्र० ए०) १ ८, १.११,
पडति २ ११६, पड १ १६१
(तुरिअ—) पडिओ (भूत०
कर्म० कृ०) १ ८, पडि (पूर्वका०)
क्रि०) १.१४६

पडम (प्रथम) १ १, १ १४, १ ८४,
१ ६१ अनेकश. 'पडला'

√ पणम (प्र + √ नम्) पणमह
(प्रणमत) २ १०६ प्रणाम
करना

पणगरह (पचदश) १ १०५, १ १४०,
२ १५६ पन्द्रह

पताका १ ५५ वर्णपताका, मात्रापताका,
*पत्त (पत्र) १ १८ आदि लु
त्रिकलगण का नाम (।।)
(तु० हि० पत्ता—पात, राज०
पत्तो)

पत्तो (प्रातः) १ १. पत्ता (प्राताः)
१ ९३

पत्ति (पक्ति) २ १३२

पलति २ १२६, पलत २ १६८,
 पलतआ २ ५६, पलता २ २००,
 पलिअ २ १५२, पलिआ २.८२,
 (स+पल) सपलइ १ ३६,
 पले १.१४५
 पलट 'पलटना, लौटना', पलटए
 (वर्त० प्र० ए०) १ ५१,
 पलट्टि २ १३२, पलट्टि १ ५१
 पलाठ (पलायित०) १.१२६ भग
 गया
 पवगम (पवगम) १ १८७ वर्णिक
 छन्द का नाम
 पवण (पवन) १ १३५ वायु, हवा
 पव्वअ (पव्वत) १ १०६, १ १४५,
 २ ५९, पहाइ
 पव्वई (पार्वती) १ ८१
 पवित्त (पवित्र) २ ६५
 ✓ पसर (प्र+✓स) 'कैलना'
 पसरइ २ २०३, पसर (प्रसरति)
 १ ७६, पसरत १ २१५, पसरि
 १ १९०
 पसरण (प्रसन्न) २ ३२, २ ६६
 पसाअ (प्रसाद) १ १०८, २ ११५
 प्रसन्नता
 पसु (पशु) १ ७६
 पइ (पथ १ ११६० मार्ग, रास्ता
 पहार (प्रहार) २ १६६
 ✓ पहिर (परि+✓घा) १ ६८
 'पहना', पहिरिअ (परि+हित
 भूत० कर्म० कृदत
 पहिरिअ १ २०५ 'पहला'
 पइ (प्रभु) १ १६३

पाअ (पाद) १.१४७, २.८८,
 २ १२२ आदि; पाई १.१२५
 पाएण १ ८४, २ ५०. छंद का
 चरण, पैर

*पाआकुलअ १ १२६ पादाकुलक छंद

पाआ (प्राप्त) १.१३० पाथा

पाइअ १ १३४ पायक, पैदल

*पाइत्ता २.८० छंद का नाम

✓ पा पाउ (पातु) २.१४ रत्ना करना

पाउस (प्राकृष्) १ १८८, २ ३८,

२ १३६ वर्षाश्रुतु

पाणि २ ७७ हाथ

पाप २.१०३

*पापगणो (पापगणः) १ १६, पच-
 कल गण के एक भेद का नाम
 (॥ ॥)

✓ पाव (स०✓प्राप्) पावइ (वर्त०
 प्र० ए०) १ ४८ पावउ १ १३०
 पाविज्जइ १ १४१, पाविज्जे
 १ ११६, पावता २ ६७, पावा
 २ १०१, पावल १ ४५, 'पाना'

पास (पार्श्व) २.१२६

पासाण (पाषाण) १ ७६ 'पत्थर'

पिंग २ १०५ पीला

पिंगल ११ तथा अनेकशः,

छन्दःशास्त्र के प्रवर्तक मुनि पिंगल

✓ पिंघ (अपि+✓घा) पिंघउ उत्तम
 पु० ए० १ १०६, 'पहनना'

पिंघण (पिघान) १.६८, १ १७६,
 १ १०६ 'वस्त्र'

पि (अपि) १ १६४ भी

✓ पिघ (✓ पिन्) पिघइ (पिघति)
 कर्त म ए १८७ पिघामो
 २ ११५ पिघइए (पीपते) २ १ ७
 पिघ (पिय) १ १ ८, १ १४६,
 २ ७६ २ ९६ कनेकथा
 पिघका (पिय+क) १ १६६, २ ६७
 प्याय
 पिघर १ १४४ 'पिठर, पूवव, मत्वा
 पित्य'
 पिघरि (पीठ+र+ई) १ १६६
 पीली
 पिघारी (पिया) २ ६६
 पिघा (पिया) पिघ (पिये धंयो)
 २ १६
 पिघ १ १३२ कोमल
 ✓ पिघ पिघइ १ १८, १ १६
 पिघ्ठ १ १६८, पीरमा
 पिघ (पूठ) १ ६२ हि 'पीठ' कय
 राव 'पूठ'
 ✓ पीठ पीठइ १ १४४ पीठिक्कइ
 (पीठपठे) १ ६७ 'पीठित करना
 कुल देना'
 पीन (पीन) १ १७८ पुठ
 पुण्ड १ ४६ मिला
 पुण्ड (पूठ) १ ४ पूका कुआ'
 पुण (पुण) व १ ९९ पुणे (पुने)
 कथा म पुणे २ ९८ पुणउ
 २ ६१ मेरा', पु 'पूण'
 पुण (पुना) १ ४६ २ १४६ फिर
 पुनवंत (पुणवन्त) पुनर्वत २ ६१
 पुनवंता २ ९९ १ १७१
 पुण (पुना) १ ६७ १ ७६ फिर

पुण्ड (पुनरपि) १ ६६
 पुणी, पुना) २ १४५ फिर
 ✓ पूर (त पूर-) 'मरना, पूरा करना'
 पूरहु (अ म न) १ ४७
 पूर १ १९५ त्रिपुरापुर
 पूर (पुरा) १ १४७ अगे
 पुण्य (पूर्व) १ १६, २ १६६
 पुनह (पूणह) १५२, १६७
 पूर्वाय
 पुण्डी (पूणी) १ ६४
 ✓ पूर पूरहु (✓ पूर-) १ १६६
 पूरति १ ११६ पूरल १ १७४
 पूरमा २ ११ मरना पूरा करना
 ✓ वेण (म+✓ ईण) वेणामि
 (वेणामि) कर्त व ए १ ६६
 वेणल १ १६६, वेणहि १ ६७
 वेणिल १ ११६ वेणिलीमा
 २ ११६ वेणिल २ १७३ देलना
 ✓ वेण (✓ म+✓ ईण) वेणइ
 (वेणते) कर्त म ए १ ७१
 देलना'
 वेठ २ १६५ ठहर, वेठ
 *वेणमा २ १२१ कर्तिक छंद का नाम
 वेण वेणना वेणिल १ १ ५ वेणिलम
 १ १६५, वेणिलमा २ १७६
 *वेणमावह (वधावती) २ २ ६ म, म
 योगम (पय) २ १६७ कमल
 प
 ✓ पण १ १ ८ 'पिणना
 *कजि १ ९१ २ १५ आदि प्रथम
 द्विपलमय (-) का नाम मिल

फणिद (फणीन्द्र) १ ६७, १.१२६
१ १६८, २ १५, २ १७२,
२ १९८, मुनि पिंगल की उपाधि
फणिवह (फणिवति) १.१५८, २ ४७,
२ ५६, २ १५२, मुनि पिंगल की
उपाधि

फणिराज (फणिराज) १ २२
फणीमरु (फणीश्वर) १ ६३ 'पिंगल
का नाम और उपाधि

फल १ ३६, १.३८, २ १५३

फार (स्फार) २ १८३

✓ फुक्क फुक्कह २ २०२ फूंकना

✓ फुट्ट (स्फुट्) फुट्टेइ २ १८३
फटना

फु १ ४१ 'सच'

✓ फुर (स्फुर) फुरइ १.३६, फुरत
२ २०२, फुरता १ ६८, फुरतआ
२ ३२, फुरिआ १.८७ चमकना,
फड़कना

✓ फुल्ल फुल्लउ २ १३६ फुल्ल
१ १०८, फुल्ला २ ८१ फुल्लिआ
१ ८७ फुल्लिआ १ १६६ फुल्लु
२ १६१ २.१६३ 'फुलना'

फुल्लरस २ ४७

व

* वम (स० ब्रह्मन्) १.१५ 'षट्कल
गण का नाम'

* वम (ब्रह्मा) १ ७५ 'स्कधक का
भेद'

वधु (वध) १ १४६

* वंधु (वधु नामक छंद) २ १००

बंधुर २.७०

* वधो १ ११३ वस्तु छंद का भेद
वत्तीस (द्वाविंशत्) १ ८३, १ ११७,
१ १८६ आदि, वत्तिम २.२१०
वत्तीसा १७१, २ १६४, वत्तीसह
१ १७९, हि० राज० 'वत्तीस'

वद्ध २ ८५, २ ७२ बाँधा हुआ

वप्यश्च २ २११ बाप, पिता

वटपर २.६५ नाम

दल १ १८५ सेना, शक्ति

वज्रि २.७५

* वलहदो (वलभद्र) १ ११४ 'काव्य
छंद का भेद'

वल्लु १ २०४. वन

* वल्लु (वज्र०) १ ८० 'वोहा छंद
का भेद'

वहिर (बधिर) १.११६ बहरा (रा०
ब'रो)

बहु १ १६३ बहुत

बहुसभेआ (बहुसभेदा) १ ७३

बहुत (बहुत्व) २ ६५ हि० बहुत

बाआलीस (द्वाचविंशत्) १ ५०
'बयालीस'

बाईस (द्वाविंशति) बाइसही २ १७०

बाईसा २ ११२, १४१. १.८३
'बाईस'

बाण २ १२६ तीर

बावण (द्वापञ्चाशत्) १ १०७,
२ १७० 'बावन'

बारहा (द्वादश) बारहा २.२००,

बाराहा २ ४१०, बारहाइ २.७०
२ ७० बारह

बाह्य ११८, ११४७, ११६५,
बाह्यक

संवासा ११२१ अपवाति छंद का
मेर

बाह्य ११११ यानराज बाह्य

संवासा १११४ बरु छंद का मेर

बाह्य (बाह्य) १५१, १६६
बाह्य

विदु (विदु) दि य गु पूर्व,
१२, १५

विदु (विदु) (विदु) कम ए
१७१ विदु १७१

वि- (वि-) विदु १८१, विदु
१६४, विदु १२५, विदु
१२६, १११७ विदु ११
११४१ विदु १७४, विदु
१५४ ११५ को

बाह्य ११६ बाह्य ११४ बाह्य
बाह्य (बाह्य) (॥५)

✓ सुम (सुम) सुम ११६,
११८१ सुम ११६६,
सुम १११९ सुम १४७
सुम १४६ सुम १७५,
सुम ११६६ ११८४
सुम ११८४

सुम ११४ ११११ सुम
सुम ११४ (११४)

सुम ११४ ११११ ११११
सुम ११४ सुम ११४ सुम ११४
का एक मेर

✓ सुम सुम ११११ सुम ११११

सुम (१११) सुम (१११) (१११)
१११ ५११

सुम (सुम) ११४१ सुम
सुम (१११) १११ १४१ सुम (१११)
सुम (१११) (१११) ११ १११
(११ १११)

सुम (१११) (१११) १११
सुम (१११) (१११)

म

म (१११) (१११) (१११) (१११)
(१११) ११

म (१११) १११ १११

म (१११) म

म (१११) (१११) (१११) (१११)
१११, म (१११) १११ म
म १११

म १११ म

म (म) १११

म (म) १११ म

म १११ सुम

संवासा ११५ बाह्य (१११)
म (१११)

✓ सुम सुम सुम १११
म (१११) १११

म (१११) १११ सुम

म (१११) १११ सुम

✓ सुम (१११) सुम (१११) सुम
(१११) १११ १११,

म (१११) १११, सुम १११,

म (१११) सुम १११ सुम

म (१११), सुम १११

म (१११) सुम १११

भणिञ्च २ १६६, भणिञ्च २ ८०,
भणिञ्चो २ १५, भणिञ्चा १ ८३
भक्ति (भक्ति) २ ३६, २ ६५
भक्ता (भक्ता) २.३६, २.६३ पति
भक्त (भक्त) १.१७१
भक्तु (भक्ता) २.६१ पति
भक्ती (भक्ति) २.१२३
भद्र (भद्रा) १.१३६ रड्डा छंद
का भेद
भद्र (भद्र) १ ७५ स्कन्धक का
भेद
भमर (भ्रमरः) १ ८०, १ ८१,
'दोहा छन्द का भेद'
भद्रा (भद्रा) २ १२१ उपजाति छंद
का भेद
भ्रमर (भ्रमर) २ १३६, २ १६३
'मौरा'
भ्रमर (भ्रमर) १.२०७ मौरा
भ्रमरावली (भ्रमरावली छन्द)
२ १५४
✓ भर भरना भर (आज्ञा म० ए०)
१ ४४, भरे (भूत० कर्म० कृ०
व०) १ १६०, १ २०७
भरुता २ १५७ भाला
भवण २ १५५ होनेवाला, भवन
भवानी (भवानी) १.९८, २ १६
भसल १ १२२ छप्पय छन्द का भेद
भास (भाग) भासि १ १६६
भासु (भाग) १.१४६
✓ भा सुशोभित होना, भाति २ १०७
आग—(सम) भागिहूँ (समभागैः)
करण व० व० १ ४३

भामर (भ्रमरः) १ ८० 'दोहा छंद
का भेद
भाव १ २० सर्वलघु त्रिकुज (।।।)
गण का नाम
भाविनि १ २० सर्वलघु त्रिकलगण
(।।) का नाम, भाविणिञ्च
(सवध० व० व०) १ २० (भामि-
नीनाम्)
भास (भाषा) १ १
✓ भास सुशोभित होना, भासता वर्त०
कृत० व० व० १ ११६
भिग (भृङ्ग) २ १६५ 'मौरा'
भिग (भृग) १ ११२ काव्य छन्द
का भेद
भिलारी २ १२०
भिकला (भिला) २ १०७
भित्त (भृत्य) १ ३५ 'नौकर'
भियग १ २०० 'भिन्न', दूय हुआ
भियगमरदो (भिन्नमहाराष्ट्र) १.११३
काव्य छंद का भेद
भीमहरा (भीतहरा) १ २०७
भीषण (भीषण) २ १५६ भयानक
भुञ्जगम (भुजगम) १ ६ साँप
भुञ्जगापचात्र (भुजगप्रयात छंद)
२ १२४
भूयतासारा (भुवनात सार) २.३३
भुञ्जग (भुवन) भुञ्जो (भुवने)
अधिकरण ए० १ ७२
भुञ्ज (भुज) २.७७, २ १२६,
भुम्भि (भूमि) १.२०१
भूञ्ज (भूत) २ ३३ हुआ

भूषाग (भुषाग) १११ 'हाय का
भगता हिरा'

भूतचतुष्टय (भूतचतुष्टय) ११५६

भूमि १११२ १११३ पृथ्वी

भूमि १११६ ११५७ पृथ्वी

भेद (भेद) भेदो १११३, (गम-)

भेदा १११३ १११३

भेदिक (भेदिका भेदी) ११६

पृथ्वी

भो ११३३ संवत्सरचक्र

भोक्ता (भोक्ता) ११२६

*भोक्ता (भोक्ता) १०५ 'स्वप्नचक्र'

का भेद

भोईराग (भोगिराग) ११५३ मुनि

पिंगल की उगाधि

भोवत्र (भोवत्र) ११० लाय फायर

भोवता (भोवता) ११६८ भोवदेश

भोहा १६७ ११२३ भोही

म

मंदा ११३ भोनी रोटी

मंदिम (मंदिम) ११० सुप्रोमित

मंदिनी ११६ सचनेवल्ली

*मंदिन १८ 'रोहा छंद का भेद'

मद (मद) १११३

मद (मादा) १११८

मदि (मंदि) बरमंदि (बरमंदि)

११८ मंदिनर (मंदिनर)

१११५ मंदिनी में भेद

*मंदिना १५ मंदिन छंद

मंदर ११२ मदराग

मंदा ११८ १८६

*मंदर ११३ छंद का नाम

मंद (मंद) ११०

मंदाग (मंदाग) ११३२ हाथी

मम (मम) ११२३

ममग (ममग) ११६ हाथी

प्राची हि मैगल

ममगल (ममगल) १०५ 'स्वप्नचक्र'

का भेद

*ममग (ममग) ११२९ कामरेव,

स्वप्न छंद का भेद

*ममल (ममल) १११३ 'काम'

छंद का भेद

*ममल (ममल) १११६ 'काम'

छंद का भेद

मम (मम) ११ बुद्धि

*ममल (ममल) १११३ 'काम'

छंद का भेद

*ममल (ममल) १८ 'रोहा'

छंद का भेद

मम (मम) ११३० रस्ता

ममल ११३ छंदगुण वर्तिक मम

(SS)

मम (मम) १११५

*ममल (ममल) १८० 'रोहा छंद'

का भेद

ममल (ममल) ११३ ममली

ममल (मम) ११० राग

ममल (ममल) हि ममल (गु-)

ममली ११०

ममले (ममले) १११ ११२ मम,

का ममल, गु ममल (बकि

११३) ममल (बकि ११

१०)

मञ्जुट्टिष्ठ (मन्त्रस्थित) १.१०५

मण (मनस्) २ १५५

मणोभव (मनोभव) १.१३५ कामदेव

मणोहर (मनोहर) १ १४४ सुन्दर

*मणहम (मनोहम छंद) २.१६२

*मणहाण (मनहरण छंद) १.१६६

मण्ड (मनस्) १.१२३ मन

मणोहन् (मनोहर) १ ११३

मत्तंगो (मात्राग) १ ६८

मत्त (मात्रा) १ १, १, १ ११

(छ-) मत्तणं १ ११

मत्ताई (मात्राः) १ ५७ 'मात्रा'

मथा (मत्तक) २ १५६ 'माथा, सिर'

मदना (मदन) २ ७५ मर्दित करने वाला

ममह (मन्मथ) १ १८८ कामदेव

*ममहट्टो (महागाष्ट्र) १ ११३ 'काव्य छंद का भेद'

मरण १ ३६ 'मृत्यु'

मरहट्टा १ १४५

*मरालु (मराल) १ ८० 'ढोहा छंद का भेद'

मल २ ६ पाप

मलघ (मलय) १ १३५, २ १६५ मलय पर्वत

मल्लिआ (मल्लिका) २ ७०

मह (मध्ये, *मध्य) अधिकरण-परसर्ग १ ८८, १.१०६ २ ३८, २ १५५ 'मं'

मह १ १४७ 'मं'

महण (मयन) २ १६५, २ १०९

*महामाई (महामाया) १ ६० गाथा का भेद

*महालच्छिष्ट (महालक्ष्मी) २ ७६

छंद का नाम

महो (मरी) १.६६ पृथ्वी

महिजा महिल (महिला) २.११५ स्त्री

महिहर (महीधर) १.६६ 'पर्वत'

*महु (मयु नामक छंद) २.५

महु (मधूक) १.१६३

महुयर (मधुकर) १.१३५ भौरा

महुघ्राण (मधुगान) १ २०७

*महुभार (मधुभार) १.१७५ छंद का नाम

माश्रग (मातग) २ ११६ हाथी

*माश्रा (माया) २.२८ छंद नाम

माभा (माया) १.१८० दया

माई (माता, मात) हिं २० 'माई' १ ३.

माण (मान) १ ६७, २ ७० २ १६३

*माणल (मानल) १.२१. प्रथम द्विकलगण (ऽ) का नाम

माणिणि (मानिनी) १ ६, १ ६७ 'मानयुक्त नायिका'

मानिघ मानिआ २ १५६ १ १७१ माना हुआ

*माणी (मानिनी) १ ६१ गाथा का भेद

✓ मार मार १ १४७, २ १२३ मार-णिज (मारणीय) २.१५१ मारना

मालव १.१५१ 'मालवा, देश विशेष'

*मालिणी (मालिनी छंद) २ १६४

*मालह (मालती) २ ५४ छंद का भेद

मार २ १६५ 'कामदेव'

*मालत्ती (मालती छंद) २ ११२

माहव (माहव) १ १४ बर्तव
मिध (मुग) १ १६४
मिधबधनि (मुगनपनि) १ ८६
१ १७

*मिध्व (मुग्ध) १ २१ छंद का नाम
✓ मिध + पिबंत मिधव (बर्त म
ए) १ १६ मिधवा २ १ १,
मिधवदि १४ 'मिधना'
✓ मिध (मिध) १ १५ दि रा०
भील

✓ मिध—(पिबंत) मिधव (बर्त
म ए) १ ४८ 'मिधाना'

✓ मिध मिधह १ ५० मिलव
(शत्रुवत वत कर्तव) १ ४६
मिधवा १ ५८ व दि मिधना
य मिधरो-महायो, गु मळु.

✓ मुध (✓ मुध्) मुधदि (मुध्)
आशा म ए १ ७१ 'मोडना'

मुध १ १६

मुधव (मुध) १ १६ मरे हुए

मुधव (मुध्) १ १६९

मुधव (मुध्) १ १६९ आमुधविरोध

✓ मुध (✓ मुध्) मुधि
(मुध्) पूर्यका कप १ ६२
मुधिम १ १४७ 'मुधित होना'

मुधि (मुधि) १ ७१

मुधि (मुधि) १ २ ७ देव का नाम

✓ मुध् मुध् (आशा म व) मुधो
१ ७५ १ १२७ मुधेडु १ ४९

मुधिवो १ १७ मुधिवह १ १७

मुधिवो १ १ ६ मुधिवसु

१ ४३, मुधिवसु १ १३६, मुधि
१ १७ ध्यानना

मुधवरा (मुधवरा) १ १७४ धर का
लक्षणा

मुध (मुध्) १ २१ प्रथम विफल (५)
गण का नाम

मुधि १ ११४ १ १८६ प्रवर्ध
१ ११४, मुधना नाविका

मुधिनि (* मुधिनी) १ ७ नाविका

मुध (मुध्) १ १६, २ १५९ ध्वनि

मुध ✓ मुधिम १ १५९ मोहित होना

मेधनि (मेधनि) १ ४७ पूर्यका बर्तन

मेध (मेध्) मेध शरीर (मेध्)

शरीर १ १४७ २ ११८ १ ७१,

मेधवह १ १९ ध्वन

मेधिवसु (विधि म ए) १ १६

'मिधामो'

मेध १ ४४ १ ११६ मुधेड पर्वत बर्तन

* मेध (मेध) १ ६९ रोला छंद का मेध

* मेधवध (मेधवध) १ १२३ ध्वन

छंद का मेध

मेध १ ८१, २ ८६ मेध वर्त

मोधवि १ ३ मधुसू विरोध

मोधवा (मोध) १ ११६, १ १४

मोधिध (मोधिध) १ १७८ मोती

* मोधिधवाम (मोधिधवाम) १ १२३

छंद विरोध

* मोधव (मोधव) २ ११५ छंद नाम

मोर (मयूर) १ ८६ मोर

* मोरो (मयूर) १ १२३ काध छंद

का मेध'

मोलिध्र (मोटिन) मोलिआ २.१११.

१ १८५

*मोहो (मोहः) १ ११४ काव्य छंद
का भेदः

✓मोह मोहए १ १५८ मोहित होना

*मोहिणी (मोहिनी) १.१३६ रड्डा
छंद का भेद

य

यो २. १५ यगण

*यगण १ ३५ आदिलघु वर्णिक गण
(ISS)

र

रंग १ २०१ 'युद्धभूमि'

रंजन २ १६३ 'खुशकरनेवाला'

रंजण १ १२३ खुश करने वाला

रड १ ६३ 'विधवा'

रध (रंघ्र) २ १६५ 'छिद्र'

रमअ २ ६३ कदली, रभा

✓रअ (✓रच्) रएइ (रचयति)

वर्त प्र० ए० १ ७४ रअइ २ ८४

रइअं २ १६, २ १५४

रअण २ १५४ रचना

रअणि (रजनि) १ ८६, १ १५८
'रात'

रअणी (रजनि का) २ १८ रात

*रअण (रत्न) १ १२३ छप्पय छंद
का भेद

रइ (रवि) १ ७४ रइरइचक्क (रवि-
रयचक्क) १ ७४ 'सूर्य'

✓रक्ख (रत्न) रक्खे २ १२ रक्खो
१ २, रक्खो २ ८ 'रत्नाकरना'

*रगग १.३६. मध्यलघु वर्णिक गण
(५५)

रगण २.१६० 'रगण' (SIS)

✓रच रवि (पूर्वकालिक रू.) २ ६०
रचना, इनाना

*रड्ड १ १३३ रड्डा छंद

रण १.१०१ युद्ध

रण (रण) २ १६६ युद्ध

रत्त (रक्त) २ १५६ 'लालरग का'

रम्मो (रम्य) २ १०७ सुंदर

रमणिआ (रमणिका) २ ८८ त्ते

✓रम रमामो २ ११५ रमना

रव १ २०४ शब्द, आवाज

रवि १ १२१ 'वारह'

*रस (रस) १ १८. आदिलघु त्रिकल
का नाम (५)

*रस १.२० सर्वलघु त्रिकल गण का
नाम (III)

रस १ १६४, २ १६४ आदि, 'छह'

रस २ ७२

*रसना (रशना) १ २१ प्रथम
द्विकल गण (५) का नाम

*रसिअउ (रसिका) १ ८६ 'मात्रिक
छंद का नाम'

रहण १ १६४ यति, विश्राम

रह (रय) (रहरह) १ ७४ १ ६२

✓रह (घर) रहिआ भूत० कर्म०
कूदत स्त्री० १ ८४ रहहि १ १६३
'रहना'

रहिअठ (रहित) १ ११६

राअ (राजन्) १.१८० राजा

*रात्रसेव (रात्रसेना) १ १३३ यशु
का मेद

*रात्रो (रात्र) १ ११४ रात्र्य छंद
का मेद

रात्रा (रात्र) १ १३०

✓रात्र रात्र्या २ ११३ सुयोमित होना

*रात्रा १ १३१ रात्र्या का मेद

*रात्रा २ १२१ उपजाति छंद का मेद

रात्रो (रात्रा) २ १

रात्र १ १३५ रात्र्य

रात्रा (रात्रा) १ २ ७

✓सिंग १ २ १ 'सिंगना' 'सिंगना'

रिड (रिडु) १ २०३ १ १५१

१ १६ रात्रु

रिडि २ ७१ अरिष्ट नामक दोष

रिड (रिडु) १ २ ५

रिडि (रिडि) १ ३३ तु रा 'रथ

रथ' (रिडि रिडि)

*रिडो (रिडि) २ १२१ उपजाति

छंद का मेद

✓रथ (✓रथ्) रथति (रथति)

वर्त प्र व १ ३६ 'थेकना'

रथ्य (रथ्य) १ १ ८ 'थोदी

रथ (रथ) १ ३ १५३ २ ३३

२ ५३ २ ३३ आदि रूप्य

२ १२७ रुद्राक्षो २ १२४ रौन्य

रथ (रथ) १ १७२ १ १७६

*रथ्यामात्रा (रथ्यामात्रा) २ ८८

रथ नाम

रथ (रथ) २ ६७

रथ (रथ) २ ६, २ १२४

रथ (रथ) रथार्थ १ ५८ २ १०३

*रथ (रथ) १ ८६ 'रथि' 'रथि'

का मेद

*रथो १ ६१ एक मात्रिक छंद का

नाम

रथ (रथ) १ १५७ २ १५९ रथ

रथि (रथि) (रथि) १ १ ८

'रथि' 'रथि'

रथ

रथ (रथ) (रथ) १ ११३

✓रथ रथि १ १५१ रथि

रथ (रथ) १ १५३

रथ (रथ) १ ५० रथ

रथ (रथ) (रथ) १ ११ १ ८८

रथ (रथ) (रथ) १ ११ १

रथ

✓रथ (✓रथ्) रथति १ १८०

रथि १ १५५, रथि

२ १६१ रथ १ ११ रथ

२ ११५, 'रथि'

रथ (रथ) १ ५८

*रथि (रथि) (रथि) १ १२७

*रथि १ ३ रात्र्या का मेद

✓रथ रथि १ १६ रथि

१ २ ४ रथि

✓रथ (✓रथ्) रथि २ ७८

रथि २ १६३ पाना प्राप्त

रथि

रथ (रथ) १ १ १४ १ ८, रथ

(रथ) १ ८ रथ (रथ) १ ५, रथ (१) रथ

लहुअ (लघु) १ ५६ लहुआ (व०
व०) १ १४, लहुएहि (लघु-
कैः) १ १७, 'लघु', 'छोटा'

लाख 'लक्ष' १ १५७

लागी २ १३२ सम्प्रदान का परसर्ग,
लिये

✓ लिख् लेखए १ १६६, लेखिए
२ २३, लेखहु (विधि म० व०)
१ ४१ लेखिए (भूत० कर्म०
कृत) १ ३८ लेखिल (पूर्व-
कालिक) १ ३० लिखना

*लेलावह (लीलावती) १.१८६
एक मात्रिक छट

✓ लिह (✓ लिख्) लिहहु (आज्ञा
म० व०) १ ४६ 'लिखना'

लील (लीला) १ १८९

लीला लीलाइ (लीलाया) करण ए०
१ ७४

✓ लुक्क लुक्कता २ ६७, लुक्किअ
१ १६०, १ १५१, छिपना

✓ लुप् (✓ लुप्) लुप्हु १ ४८
लोपि (पूर्व० क्रि०) १ ४० लोपना

लुद (लुब्ध) १ १६६ लोमी

लुदअ (लुब्धक) २ १३५ लोमी

✓ लुत्त (✓ लुल्) लुत्तनुकरणात्मक
निया, लुलिअ (लुलित) भूत०
कर्म० कृत १ ८७ 'हिलना,
भागना'

लुनिअ (गजबलुलित) २ ६२
'हाथी की लीला या गति'

✓ ले लेदि १ ६, लेदी २ १५७
लि-हु १ १३४, लविज्जइ

(कर्मवा०) १ ६७, ले (पूर्व-
कालिक) १ ४१, लेइ १ ४१.
लिएहउ (भूत० कर्म० कृत)
१ १२८, 'लेना'

लोअ (लोक) १ १६३

लोअण (लोचन) २ १६३ नेत्र

*लोअणि (°लोचना) १ १३२ छी
का विशेषण

लोम २ १५५

✓ लोट लोटइ १.१८० लोटना

लोर १ १८० आँख

✓ लोल लोलइ १ १७८ लोलती
१ १६६ हिलना, लोटना

*लोहगिणी (लोहगिनी) १ ८८,
१ ८६, १ ६० रसिका छइ का
भेट

व

*वक (वक्र) १ २१ प्रथम द्विकल
गण (५) का नाम

वंक (वक्र) १ २ हि० बाँका, रा०
बाँको-बाँको, गु० बाँको

वजण (व्यञ्जन) १ ५

वजुज २ १६३ 'वैत की लता'

वगा १ १४५ 'वगाल'

वम्भउ (वम्भ्या) २.१४६ बाँझ,
निपूती

वटण १ ४३ हि० 'बाँटना'

✓ वंइ (✓ वद्) वदिअ (वदित)
१ ६८, वदति १ ५६ वटे १ ८२
वदि २ १११ 'वदना करना'

वम (वश) २ १०१, २ १४७ कुज

वयम (वदन) १ १६५ २ १६७
 वयमाह (वयनानि) २ ७१
 वयसि (वयने) १ १६४ मुँह
 वयसि (येति) १ १७
 वयसि (येति) १ १८
 वय (वय) १ ५२ उरमावाचक राज्य
 वयकक (वयकक) १ ७६ वेङ्ग की
 छात्र वा लक्ष्मी
 वात (वग) २ १३२ समूह
 वय (वय) १ ७७
 वय (वय) १ ८ 'शेहा लुं व'
 का भेद
 ✓ वय (✓ वय) काना वयामो
 २ ११५
 वय (वय) २ १५६ हीण, वय
 वयहर (वयहर) २ १३ इन्द्र
 ✓ वय (✓ वय) होना वय (वयते)
 २ १६८
 ✓ वय (✓ वय) 'वयना वय'
 (वयते) वय म ए वय
 १ १२१, १ ७६, १ ८ १ ८१,
 १ ८३ वय २ १५७ वय
 (वयते) वय म ए १ ८८,
 १ ८१ वयहर १ ११२ वय
 १ ११३
 वय (वय) २ १५४
 वय (वय) १ ४ १ ८ १ ४६
 वय (वय वय) वय (वय)
 ४५)
 वय (वय) १ १६१
 ✓ वय (✓ वय) वय करना
 वय (वय) १ ६५

वय (वय) १ १ ७ वय वय
 वय (वय, वय) १ ११४
 'शेहा, वय या वय वय'
 वय २ ६१ वय
 वय (वय) २ ८३, १ ११६
 वय
 वय २ ७६ वय
 वय (वय) १ ८३
 वय १ ७५ वय का भेद
 ✓ वय (✓ वय) 'वयना
 वय (वय) वय म ए
 १ ७२ वय १ १८८
 वय (वय) १ १७४
 ✓ वय (वय वय) वय 'वय';
 वय वय (वय वय)
 १ ७
 वय (वय) १ २१ १ २ ७
 २ ६६ वय वय वय
 (वय) का नाम
 वय (वय) १ १११ २ १ १
 'वय, वय'
 वय (वय) १ १८ वय वय
 वय (वय) (वय)
 वय (वय) १ १५, १ ८२
 'वय'
 वय (वय) १ ११५ वय
 वय (वय) (वय) १ १५
 वय का नाम
 वय (वय) १ ८३
 वय
 वय १ १९४ 'वय'
 वय (वय) १ १७ वय
 वय वय (वय) (वय)

✓ वह, वह २४०, २१६३ 'ब्रह्मा,
हवा का चलना', वह १.१३१,
२१६५,

✓ वहिल्ल वहिल्लिअ १.२०५ बाहर
निकालना
वह्लिअ (वहूटिका) २८३ 'बहु,
पत्नी

वहू (वहू) २५३

✓ वाअ चलना, ब्रह्मा, वाअता २८६
वाअ (वात) २८६, २१६५ पवन
वाठलठ (वाठलक) १११६ पागल,
बावला, रा० बावलो

वाठ (वायु) २१६३ पवन

*वाणरु (वानरः) १८० दोहा छंद
का भेद

वाणी २१२१

वाइ २५१ वाद विवाद

वाम १७४ 'वायों'

वामावत्ते (वामावत्ते) १४८

वार २१६६

*वारग १७५ 'कथक का भेद

✓ वार (✓ वारय्—) वारिहउ
(✓ वार—) १.१३५ रोकना

*वासतो (वसतः) २११३ 'काव्य
छंद का भेद'

*वास (वास) ११८ आठिलवु
त्रिकल का नाम (15)

वासण (वसन) २.७७ वस्त्र

वासा (वास) २.११ वस्त्र

✓ वाइ (✓ वाइ) ग० 'मात्रो'
'चलाना, खेना' वाइहि (आज्ञा,
म० ए०) १६.

वाह ११०६ 'घोड़ा'

वाहण (वाहन) २७५ सवारी

विह (वृन्द) २१४७ समूह

धि (अरि) हि० 'भी', रा० 'भी'
(उ० 'बी०') ११, १४, १८,
१२१३, १४६, २६ आदि

विअअ (विजय) २६६

विअअण (विचक्षण) १.१८६

✓ विअअ (वि+✓कम्) विअअत
२६७ विकसित होना

वि+✓अम (वि+✓जृम्)
विअम (विजृमति) वर्त० प्र०
व० व० १११५ 'प्रसार पाना'

वि+✓आण (वि+✓जा)
विआण (विजानीहि) आज्ञा म०
ए० १७६, १८०, २८६
विआणहु ११६६, विआणहु
१.७३, २१७० विआणिओ
२६०

वि+✓आर (वि+✓चार)
विआरि (विचारय) आज्ञा म०
ए० १८१ विआर (विचारय)
आज्ञा म० ए० १८८, १.१५०
'विचरना, समझना'

विअकम (विक्रम) १६२, ११२६
'परक्रम'

विअलाअ (विख्यात) १५६

*विगगाह (विगाथा) १५१ विगगाहा
(विगाथा) १६६ मात्रिक छंद

*विगगाहा (विगाथा) १.६६ 'मात्रिक
छंद'

*विजय (विजय) ११२२ छप्प
एक का मे

अभिप्रेत (विषयः) ११११ अथ
सुद का मे

॥ विष्णुसाहाय (विद्याधर) २१२२
छंद का नाम

*विजया (विद्या) २५ गायिका
भेड़

दिग्गजहर (दिग्गजहर) १ १४५ बधि
अ नाम

विद्युत् विज्ञान १ १८८ विज्ञान

बिहुरि १ ६६ बिजली

बिग्डू (बिगुट) प ८१ बिजली

० पिण्डमाता (विद्युन्माता) १३३
छंद का नाम

विद्धि (वृद्धि) विद्धि (वृद्धि) कर्म
ए १ ७२ वरिष्ठ

बिब (बिना) ₹ ५५

विनाश (विनाश) १ १ १ अक्षय
गंध विनाश कर (अक्षयगंध)

विनाशकरा)

बिस्म (बिना) १ १११

ना + ✓ नास दिशास्थि १ २ ७
विनाश करना

विषय (विनय) ११७४ नमस्ते
 (विनय) ११७४ नमस्ते

नि. १ : $\sqrt{2}$ का विपरीत B. ३३८ दिना

ਸਿਲਾਬ (ਪਿਛਾਤਾ) : ੩ : ੩੩੩

मि. १ : १९४४ एन

वि.सं. (वि.सं.)

विपक्ष (विपक्ष) १ २ ४ ५

विषय (विषय) १ १४० पृष्ठ

विष्णु (पिप्र) *विष्णुगण्ड (वप्रमप)
१ १ ६ आर लाम

विष्णुसहस्रनाम (विमल) १ १८२, २६७
यात्रा

बिपरी (विपरी) १ ४४ १ ८१ मासकी
बिमण (विमण) १ १ १ १७४,

*विमह (विमति) १७५ 'लक्षक
का भेद'

विद्युत् (विमुक्त) १ ८७
विद्युत् २ ९३

बि + √ रम विरमह १ १११ खाँ
होना

बिराई (बिराई) ११ 'बिदि,
बिराम

*बिराड (बिबाण) १.८ रोडा
छंद का मेद

बि + √ ब्रूया (बि + √ ब्रू) बि
बिभ्रूया (बिभ्रूया २ ७६ व्याना)

विहीन (विहीन) १ १५५ अक्षर
विहीन (विहीन) १ १५६

बि + √ लट् (बि + √ लट्) बिब
लट् (बिबलटि) बब म ए

१९९९ 'सुसोमिव हना'
वेचिह (विचिह) १९,
१९९९ (विचिह) १९,

सिद्ध १२ ५ होना

पुस्तक (विष) २ १९ पृष्ठ
पुस्तक (विष) २ ४९

रसगण (वि-✓ लङ्-सुम्) विरचयार
१ ३५ विरचये २ १ ५ कोचना

सामग्र्य (विभागाकर) १ १८६

वि+√हड (वि+√खड्) विह-
डिअ १ २०७ दुकड़े करना

विहास (विभाषा) (स-) विहास
(सविभाष) १ ५ 'विकल्प'

विहि (विधि) १ ८६, २ १५३

विहिअ (विहित) २ १०६

विहसिआ (विभूषित) १ १४६

विहु (द्वि) १ २०६ दो

वि+हा (वि+√धा) विहु (विधेहि)
आजा म० ए० १ ८३ 'करना'

विहूण (विहीन) १.११, (लक्षण-)
विहूण १ ११

विहूसिआ (विभूषिता) १ ५४

वीर १ १२२, २ १३२, पराक्रमी

वीरेण १ ७६ 'किसी राजा का नाम'

वीस (विंशति-) १.१३० बीस

बीसा (विष) १.६८ 'ज.र'

बीसामो (विश्रामः) १ १०० 'विराम,
यति

बीसाई (विंशति) १ ५२ 'बीस'

बुत्तो (वृत्त) १ ६८ 'छंद'

बुद्धओ (बुद्ध-कः) १.३. हि० बुद्धा-
बूढा, रा० गु० बूढा

√बुल्ल बुल्लिअ (√बुल्ल-)
१ १३५ हि० बोलना

बुल्ल (देशी) १ ११६ (रा० बूझो)
गूंगा

बूह (व्यूह) २.१३२

वेघाल (वेताल) १ ११६ भूत, वेताल

√वेलाव (√वेलापय्) वेलावधि
२ १४२ विलंब करना

वेसी (वैश्या) १ ६४ १८३ 'वैश्य
की स्त्री'

वेसा (वैश्या) १.६३

√वोल वोलाइ २ ११ बोलना
स

सकट २.२४, २ १०१ विपत्ति

सकर (शकरः) १.१०१ महादेव

सकरो (शकर) २ १४ महादेव

सकाइर (शकाहरः) १ १०४ शका
हरने वाला

सख (सख्या) जहसख (यथासख्य)
१ १२,

सखा (सख्या) १ १६८

*सखणारी २ ५१ वर्णिक छंद का नाम

सगहिणी (सग्रहिणी) १ ६३ पुनर्भू,
जो एक पति को छोड़कर अन्य
ग्रहण कर लेती है

सं+√घार (स+√ह) सघारि
२.२० सहार करना, भरना

सचारण २.४६

स+√चार सचारि (सचार्य) (पूर्व-
कालिक) १ ४७ घूमना, फिरना

सजुत्त (सयुक्त) १ २ (सजुत्तपरो
१ २, १४)

सजोए (सयोगे) (अधिकरण ए०
ब०) १ ५ 'सयोग में' हि० रा०
'सजोग'

स+√ठव (स+√स्थापय्) सठवहु
(आश म० ब०) (सस्थापयत्)
१ ६५, १ १३४, सठविअ
२ १५१, सठिआ २ ७७.
'स्थापित करना'

सँठार (संठार) १ ६
 सं+√ठार (भिन्नत) सं+√घृ ()
 संठारिम (संठारिजः) १ ३८
 'पार लगाया'
 सं+√ठास (सं+√त्रास) संठा
 स्र १ १४४ 'त्रास देना, डराव
 देना, डराना-समझाना'
 संराघ (सम्पत्) १ ३९, १ ६८
 २ १ १
 संपुडो (संपुटः) २ ६१
 संपुडबड (संपुडः) १ १७६ पूरा
 संमव २ १४ 'सकल होना'
 सं+√मम संमगिघा (संमगिघा)
 मूत कम कूटित को १ ३८
 संमगिघ २ १५२ 'भ्रमना'
 सं+√मस संमसि १ १८ संमसना
 *संमु (यमु) १ ९३ 'रोला कूद का
 भेद'
 संमेस (समेस) २ १२१ प्रकार, भेद
 *संमोहा २ ३३ 'वर्षिक कूद नाम'
 सं+√हार संहर २ १४ 'संहार
 करना'
 संहार १ २ ७ नाश
 संहरया २ ४९ 'नाश करनेवाला'
 सघ (सठ) १ ९७ लो
 सघम (यमन) २ १३८, २ १५
 सघम (सघम) १ ८७ 'सारा'
 सघमम (सघम) २ १९७ 'अल
 याया'
 सइ (स एव) २ ९ 'वही'
 सई (सदी) १ ८ 'पारंदी'

सडें (समे) करण-भयायान भ्र परक्य
 'से' १ १२२, संमुदि ठडें (संमुना
 कावना संमोः समे)
 सड (सड) १ ४९ 'लो'
 सडबोस १ १७६ एक लो बीठ
 *सडको (सडका) १ १५ 'पुष्पकयव
 का नाम'
 सगय (स्वग) २ ५३ २ ६४, २ १३१
 सयना १ ९ ३ अंतगुह वर्षिक मय
 (॥ ५)
 सग्य (सत्य) १ ७
 सडुच (संपुक्त) २ ९३
 सगड लखि १ २२५ 'समाना'
 सगा २ १५७ 'सुवर्णवत'
 सडुकि (पडि) १ ५१ 'काठ'
 सगबाह (सगबाह) १ १ ३ 'कवच'
 सगधीस (सगधीस) १ १५६ 'लैलीठ'
 सगसना (सगसत) १ ५ 'काठ लो'
 सगसयक (सगसना) १ ५२ 'काठ
 अर्थिक'
 सगा (सत) २ १५६ 'काठ'
 सगाईय (सगधीस) १ ५१, १ ५४
 'सगधीस'
 सगारह (सगदय) १ ५ 'हि 'कठार'
 य सतरा गु सतर
 सगावनी (सगधीस) १ ५१
 सगावन
 सगावनाह (सगधीस) १ ५७
 सगावन
 सगु (यमु) १ ३७
 सइ (सड) १ १२३, २ १२७

✓सद् (✓शब्द) शब्द करना सद्दे
२ ८६

*सद्दूल (शार्दूल) १ ८० 'दोहा छन्द
का भेद

*सद्दूल १ १०२ छप्पय छन्द का
भेद

सप्प (सर्प) २ १६० 'पिंगल नाग
की उपाधि' सप्पाराष्ट्र २ १०६

*सप्प (सर्प) १ ८० 'दोहा छन्द का
भेद

समग्रा (समय) १.१४७

समगल (समग्रला.) १ १३१ सारे
समगाह (समप्राणि) १.५० 'सब
कुल'

समणा (जमनः) ३ १५५ शान्त
कानेवाला

स+✓मद (मर्द) समदि (समर्थ)
पूर्वकालिक १ १०६ 'मर्दित करके'

सम समान समा २ ११४

समरूप (समरूप) १ ७३, १ ११६
समान

समला (श्यामला) २.८१

समाज २ १६६

समाय (समान) १ ७६ समाणा
२ १६

*समाणिआ (समानिका छन्द) २ ८

*समुद (समुद्र) १ १६ अन्तलघु
त्रिकल का नाम (ऽ)

*सराग (सारंग) १ ७५ 'स्कन्धक
का भेद'

सार (शर) २ १६६ पाँच

*सरगिक्का (सारगिका) २.७८ वर्गिक
छन्द का नाम

सरणा (शरण) २ १५५

सरस्सई (सरस्वती) २.३२

सरह (शरभ) २.३९ छन्द नाम

*सरहु (शरभ) १ ७५ 'स्कन्धक का
भेद

सरासार (शरासार) २.१३२ बाणवृष्टि

सरि (सटक्) १ ३६ 'समान'

*सरि (सरित्) १ ७५ 'स्कन्धक का
भेद'

सरिस (सटशः) 'समान' सरिसा
(स्त्री) १ १४ रा० सरीसो,
सगीसी (स्त्री०)

सरिर (शरीर) २.४०

सरीर (शरीर) १ १४७

सरिस्ता (सटश) १ ७६ समान

*सरु (शर) १ ७५ 'स्कन्धक का भेद'

सरुअ (स्वरूप) २ १७० सरुअह
२ १०० समान

सरोरुह २ ९९ कमल

✓सलहिज्ज (✓शलाघय्) सल-
हिज्जइ १ १४६ सलहिज्जमु
१ ११७ प्रशसा करना

सल (शल्य) १ २०४ 'काँटा, दुःख
भाला

सल्ल (शल्य) १, ५८, १.१२३,
१ २०५, २.१०६, २ १५७,
'भाला, दुःख'

सव (सर्व) २.३७ सब

सवण (अवण) १.१०, २.१६५
'कान'

सम्य (सर्ग) १ १८ गु सार	सहस्र (सहस्र) १ ५ 'हजार'
(संदेह १८५) सग (सगर)	सहायो (सहाय) १ ८४
सद (सद) १ १५ (सदिक ५.२५)	सहावा (सहावा) १ १ ९
समोहि (सर्ग) करण ० य	सहि (सहि) १ १६३ २ १३ २ ५५
य १ १७ सम्राट् (सम्राट्)	सामर (सामर) मन्त्रकाशीन हिन्दी
१ १७ हि ग 'सह'	'सामर' १ १, १ १५१ समुद्र
सम्यकज्ञा (सम्यकज्ञा) १ ४	✓साव (✓सग्न) 'सवन्न, सव
सम्यग (सवाग) १ ११६	कर सवि १ १५७
सम्यक् (सम्यक्) १ ११६ २ ११८	सारंगदम (सारंगदम) १ ११५
'सह'	*साव (रघु) १ ११९ सुप्रसन्न
समहर (समहर) १ ७५, १ १ ९	का मेर
अन्त्रमा	साव (साव) १ १८८ साव, साव
*ससि १ ७३ 'सर्वक का मेर'	देव करने का मन्त्र
*ससि (साधिन) १ १५ 'पदकलाप	सामि (सामी-सामिन्) १ १ ६ ठ
का नाम	हि 'सह' य 'सामी (वति)
ससि (साधिन) अन्त्रमा सवित्र	*सारंग १ ११९ सुप्रसन्न सुप्र का मेर
१ १८	*सारंगदम (सारंगदम) १ ११६
समुद्र (रघु) १ १ १	सुप्र का नाम
✓सह (स ✓सह) हि सवना	*सारंगदम (सारंगदम) १ ११६
रा 'सहयो बो (ठ सवो) गु	सुप्र का नाम
'सहो' सह (वर्त प्र ए)	*सारंग १ ११९ सुप्र का नाम
१ १ ; सह १ १६१ सहिम	*सारंग (सारंग) १ ११ माक
१ १६१, २ ७४ सहिम १ १ ७	का मेर
सहिमो २ १७ २ १६६, सह	सार १ ८८, २ ११९
१ १६६	*साव (साव नामक सुप्र) १ ६
सहम १ ६ सहमे (सहमे) १ ६	*सावित्री (सावित्री) १ १५
'सहमे ही	पदकलाप का नाम
सहमार (सहमार) २ १६१ 'आम	*सावित्री १ १ ६ सुप्र का नाम
का मेर'	साव (साव) १ ८८ साव सोना
*सहस्रको (सहस्रको) १ ११६	सावर (रघु) १ ११६ ठीक
'आम सुप्र का मेर'	सावको (सावको) १ ७२
*सहस्रको (सहस्रको) १ १६ सोना	साहि १ १५७ साव, साव
सुप्र का मेर	

सिंग (शृङ्ग) २.११३ सींग, पहाड़
की चोटी
सिंह (सिंह) १.१८३ शेर
सिंहासन (सिंहासन) २.७७
*सिंहिणी (सिंहिनी) १.५१, १.७०
मात्रिक छन्द का नाम
सिम्भ (सित) १.१०८ सफेद
सिम्बल (शीतल) १.१३५ ठंडा
*सिक्ख (शिखा) १.१६१ मात्रिक छन्द
का नाम
सिद्ध (शिष्ट) २.३७, २.११६ बचा
हुआ
सिर (शिरस्) १.३६, २.८४
सिरिखट (श्रीखट) १.१०८ चदन
*सिव (शिव) १.७५ स्कन्ध का
भेद
सिविग्रह (स्वप्न) २.१०३
सिहर (शिखर) १.१५५
सिहि (शिखिन्) १.३४ अग्नि
*सिही (सिही) १.६१ गाय का भेद
*सी (श्री) २.०१ वर्णिक छन्द का भेद
सीध (शीत) २.८६
सीस (शीर्ष) १.११, १.८१, २.१२३
हि० रा० 'सीस', सिर
*सीसारूओ (शीर्षरूपक) २.६४
वर्णिक छन्द
सीह (सिंह) सीहस्य (सिंहस्य) सत्रध
ए० व० १.६२
सुदरि (सुन्दरी, सुदरि) सुंदरि
(-हृदहिं) १.७ सुन्दरि (सदेश०)
हि० रा० 'सुदर-सुदरि', 'सुंदर'
(राज० लोकगीत 'कौ चाली ए

सुंदर कौ चाली ए')
सुंभ (शुभ) २.६६ दैत्य का नाम
सुभ्र (सुत) २.४४ पुत्र
सुभण (सुभन) सुभणा (सुभनाः)
स० व० व० १.९४
सुकई (सु-कवि) १.१२६, १.१४६,
१.२०२, २.१३७, सुकईद
(सुकवींद्र) २.१५०
सुकम्म (सुकर्म) २.११७ 'पुण्य,
अब्धा कर्म'
सुकिम्भ (सुकृत) २.१५३
सुक्ल (सुख) १.११६, १.१७४,
२.२०
सुखंद २.७०
✓सुज्ज (✓शुब्ध-) सुक्ता
सुज्जे २.१४२
✓सुण (✓श्रू) 'सुनना'
सुणेइ १.७०, सुणिजे २.१०६,
सोऊण १.६६ सूणी २.१५६,
*सुणह (शुनक) १.८० 'दोहा छंद
का भेद'
सुणफल (शल्यफल) १.३८
सुत्थिर (सुत्थिर) १.१२८
सुदड (शुद्रकः) १.११७ शुद्र
सुहिणी (शुद्रा) १.६४, १.८३
सुधाअर (सुधाकर) २.६९ चन्द्रमा
*सुद (शुद्ध) १.७५ 'स्कन्ध का
का भेद'
सुद (शुद्धः) १.२ सुदा (व० व०)
१.५, सुदमण २.६५
*सुभिअ (सुभिय) १.२२ दिससु
दिकल (II) का नाम

शुनिष (शुनिष) १ १२७, २ ३६
२ १६६ मिष,

शुम्भ (शुम्भ) २ २७६, २ ४

शुमुदि (शुमुदी) १ ३९, १ १८८
नायिका

शुमुदी (शुमुदी) २ १ २ नायिका

शुर १ १६५, 'दिक्क', शुरका (शुर
का) १ २६

शुराव (शुराव) १ ७९ 'अपराध'

*शुरावका (शुरावका) अशुराव
गण का नाम, शुरावका (शुरा
का) १ २६

शुराग २, ७२ शुराग

*शुराव (शुराव) १ १२ अशुराव
मिष का नाम (अ)

शुराव (शुराव) १ १११ 'श्या'

शुरादी (शुरादी) १ ७२ 'अमभेनु'

शुरावका (शुरावका) १ २ ८

शुरावका (शुरावका) १ १ ६ श्यावका

शुरावका २ १ श्यावका

शुरावका (शुरावका) २ ६

शुरावका २ ११४ शुरावका

*शुरावका २ ९६ श्यावका का नाम

शुरावका (शुरावका) १ ८८ श्यावका

*शुरावका १ १११ श्यावका का
मेद

शुर (शुर) १ १६, २ १६५

✓शुर (✓शुर) 'शुरावका श्यावका'

शुर (श्यावका) कर्त म ए
१ ८८

शुराव (श्यावका) १ ९८ श्यावका

शुराव १ २ ५, १ ११६

शुराव १ २ ५

शुरा (श्यावका) १ ४४ हि श्यावका

शुर (श्यावका) १ १४७

*शुरा (श्यावका) १ १५ श्यावका का नाम

शुरा (श्यावका) १ १६, १ १४ श्यावका का नाम (श्यावका)

शुरावका १ ११५ श्यावका श्यावका श्यावका

श्यावका (श्यावका) १ ४

श्यावका (श्यावका) १ १७५

श्यावका (श्यावका) २ १ ७

श्यावका (श्यावका) २ १६६

श्यावका (श्यावका) २ १६६

*श्यावका (श्यावका) २ ११० श्यावका का नाम

श्यावका (श्यावका) १ ७५, २ ६५ श्यावका

श्यावका (श्यावका) १ ११ श्यावका श्यावका

श्यावका १ ११ श्यावका

श्यावका १ १६९ श्यावका

*श्यावका (श्यावका) १ ८८ श्यावका का
मेद

✓श्यावका श्यावका, श्यावका (श्यावका)
१ ११६

*श्यावका (श्यावका) १ ७५ श्यावका का
एक मेद

श्यावका (श्यावका) १ १६ १ ११ श्यावका का
नाम श्यावका श्यावका

*श्यावका (श्यावका) १ १६ श्यावका का
नाम

*श्यावका (श्यावका) १ ७५ श्यावका का
मेद

सेहरो (शेखरः) १.१६ पञ्चकल्याण का
का नाम (HSA) (साथ ही तु०
हि० राज० 'सेहरा'—सिर का
मौर)

सोभर (सोदर) २.१०३, २.१४२,
सगा भाई

सोक (शोक) २.५५

सोखल (सुख) २.३४

*सोरठा १.१४५ सोरठा, छुद का नाम

सोला (षोडश) २.६६, २.९६
सोलह

सोलह (षोडश) १.१३१

✓सोह सोह १.१८२ सुशोभित होना

सोहा (शोभा) १.१४६

ह

हजे २.१६५ 'सखी का सबोधन'

हत २.१६५ 'दुःखव्यंजनक विस्मयादि-
बोधक अव्यय'

हसपञ्च (हसपद) १.६२ 'हस की
गति'

*हसीमा (हसिका, हसी) १.६६
'रसिका छुद का भेद'

*हसीमा (हसिका) १.६२ गायका
का भेद

हय १.८७ घोड़ा

हठ (अह) १.१३० मै

हक्क १.२०१ २.६५, २.१५९ 'हाँक,
हाट'

हट्ट (हठ) १.११६

हनुमा (हनुमान्) १.७४

✓हण हण २.१६१ हणह १.१३५,

२.१६५, हणिअ १.१०४,

१.१६५हणु १.१८५, मारना

हत्ति (हत इति) २.१४७

हत्थ (हस्त) १.१८२ हाथ

हत्थभल (हस्ततल) २.१०२

हरिथ (हस्तिन्) २.१३२ हाथी

हत्थी (हस्तिन्) २.११३ हाथी

हमिर १.२०४ हम्मीर, नाम

हम्मीर (हम्मीरः) १.७१ हम्मीर, नाम

हयवर (हयवर) १.१७९ घोड़ा

✓हर (✓हृ-) हर २.६ 'हरना,

अहरण क(ना)', हरे १.१४५

हरंती २.१६

हर १.१९५ महादेव

हरणा २.१५५ हरण करने वाला

*हर (सं० हरः) १.१५ पट्कल्याण
का नाम

*हरिगीत (हरिगीता) १.१६१ छुद
का नाम

*हरिणी (हरिणः) १.११ काव्य
छन्द का भेद

*हरिणी (हरिणी) १.६१ गायका
का भेद

हरिवंश (हरिवंश) १.१०८ कवि का
नाम

✓हलहल (स्वन्यनुकरणात्मक क्रिया)
'हिलना, काँपना', हलहलिअ
भूत० कर्म० कृदन्त० १.८७

✓हस (✓हस्) 'हँसना', हसह
२.८३, हसिऊण (हसित्वा) पूर्व-
कालिक रूप १.७१, हसतउ
२.१४६, हसती २.१६

धार्मिक (दायका) १ १७, १ २२
 दादाभर
 *दायक १ १७२ धर्म का नाम
 दार (दार) १ ५३, १ ७७ दार
 *दास (दास) १ ५८, १ १५,
 २ १३३ 'गुरु' (ऽ)
 दार १ १५१ दादाभर
 *दादायक १ ११ प्रथम दिकता मय
 (ऽ) का नाम
 *दासी (दासी नामक स्त्री) २ १५
 ✓ दास (द्वय-शिक्षण) 'दास करना,
 कम करना' दास १ ५६
 दिव १ १५७
 दिवस (दिवस-) १ १७६, १ २ ४,
 दिवसा (*दिवस-सर्क) १ १५५ दिवस
 दीन (दीन) १ १६८ दिव, दीन
 दिवो (दीन) 'निवृत्त' १ ३
 *दीर (दीर नामक स्त्री) १ १६८
 दीरा (दीरका) १ ७७ दीरा

*दीर १ १२३ क्षय्य धर्म का मेर
 *दीरो (दीरा) १ १६ पंचकल गण
 का नाम (ऽऽ)
 दो २ १३ संशोधनवाचक शब्द
 दोनो (दोना) १ ३ 'दोना'
 दोड़ (अप) १ १४ मीने
 ✓ दो (तं ✓ दू) दि० 'दोना'
 या 'दोना', दो (कर्त प्र० ए०)
 (मवति) १ १४, दोर (कर्त प्र०
 ए०) (मवति) १ २, १ ४ १ ५,
 १ ८, १ ६१, दोरि (कर्त प्र०
 ए०) (मवति) १ १२, १ १३
 दोड़ २ ३६ दो-ते कर्त कर्तव्य
 करण ए० १ ६१, दोर २ ४१,
 दूना २ १५७
 दूर (तं दूर) दि० या 'दूर'
 (या उच्चा 'दूर' (तं०))
 दूरि (दूर) १ ७

शुद्धिपत्र

पृष्ठ-पंक्ति

११-१६

१३-६

१४-१७

३६-२२

६४-२६

६८-७

७१-१८

७७-१६

७७-१६

८१-१२

८२-१८

१०३-२१

१०४-२३

१०८-२६

११०-१४

१२३-१२४ के
पत्र १३७-१४० }
१२४-२२
१२८-१५
१२८-१६
१३२-८
१३३-७
१४३-१५

अशुद्ध

देह

कारण

वाच्य°

उद्दिष्टा

°शरीर

शिव

वीरेश

°बल्लु

नरचइ

बीसामो

कुलसार

बलहदो

पगुहीण

सन्वाहा

वेआमी

एगाहरहि°

पजत्थ

दिद्वंधु

भूपण

णिपलिअ

तिणि

घरि

शुद्ध

दइ

कारक

वाक्य°

उद्दिष्टा

°मरीर

सिव

बीरेस

°बल्लु

शरवइ

बीसामो

कुलसार

बलहदो

पगु हीण

सन्वासा

वेआमी

एगाहरहि

जत्थ

दिद्वंधु

भूसण

णिचलिअ

तिरिण

घरि

शुभ-पक्षि	आशुभ	शुभ
१४३-१६	खण	खण
१४७-१६	संठु	संठवहु
१५०-६	गुह	गुह
१७४-३	बद	वर
१८३-२ ७,१ पक्षि	मात्रावृत्तम्	बर्वावृत्तम्
२११-५	लिक्खण	लिक्खण
२६१-११	छंद पूरणा	छंद एतु पूरणा
२४०-२३	खेरा	गेरा
२६८-६	मंजुला	मंजुला
२६८-१२	मंजुला	मंजुला
३ -३	हंसा	हंसा
३ ६-१ पक्षि	३ १७५	२,२१५
३१०-३११	२ १८४ को हरा हैं	

